हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—४

अरिस्तू की राजनीति

(अरिस्तू-कृत पौलिटिक्स और अथनइयोन् पौलितेइया का मूल ग्रीक से अनुवाद)

अनुवादक

श्री भोलानाथ शर्मा

हिन्दी समिति

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

लखनऊ

द्वितीय आवृत्ति

१९६[illegible]

मूल्य

रु० १०.००
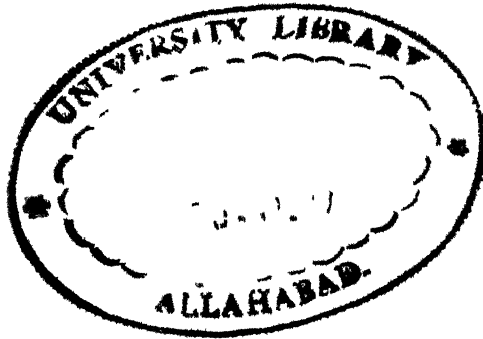
मुद्रक—छोटे लाल भार्गव, जी० डब्ल्यू लॉरी ऐण्ड कं०, लखनऊ

प्रकाशकीय

अरिस्तू की गणना ससार के महान् विचारकों एव राजनीतिवेत्ताओ मे की जाती है। वे एक ऐसे प्रकाश-स्तम्भ थे, जिससे तत्कालीन ग्रीस ही नही, अपितु आसपास के समस्त सभ्य देश आलोकित हुए थे। पश्चिम के परवर्ती राजनीति-शास्त्रियो एव विचारको ने बहुधा उनके सिद्धान्तो से प्रेरणा लेकर ही अपनी-अपनी विचार-धाराओ को प्रवाहित किया है। प्रस्तुत पुस्तक मे अरिस्तू के राजनीतिक सिद्धातो से सम्बन्धित ग्रीक भाषा मे उपलब्ध मूल सामग्री को हिन्दी मे रूपान्तरित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया गया है। रूपान्तरकार श्री भोलानाथ शर्मा ने जिन विदेशी ग्रन्थकारो की रचनाओ से सहारा लेकर यह कार्य किया था, उनके प्रति आभार प्रकट करना वे नही भूले। ऐसे सच्चे विद्वान का असामयिक निधन हो जाने पर हमे भारी आघात लगा है, फिर भी हमे विश्वास है, विद्यार्थियो को, जिनके वे सदैव हितचिन्तक रहे, ज्ञानर्जन मे उनकी कृतियो से सहायता मिलती रहेगी।

अरिस्तू की राजनीति समझने मे हिन्दी-माध्यम से अध्ययन करने वाले विद्यार्थियो के लिए उनकी यह पुस्तक विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुई है और इसकी पहली आवृत्ति समाप्त हो जाने के बाद हम इसे दूसरी बार प्रकाशित कर रहे हैं।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'
सचिव, हिन्दी समिति

निवेदन

प्लातोन की पौलितेइया के हिन्दी अनुवाद "आदर्श नगर-व्यवस्था" की प्रस्तावना लिखते समय मैंने अरिस्तू की राजनीति के हिन्दी अनुवाद को आरम्भ करने की सूचना दी थी। हर्ष है कि अब इस ग्रन्थ के भी प्रकाशन का अवसर प्राप्त हुआ है। राजनीति के विषय पर अरिस्तू की दो पुस्तकें उपलब्ध हैं— "राजनीति" और "अथेन्स का सविधान"। इन दोनो ही रचनाओ का अनुवाद हिन्दी-प्रेमियों के लिए प्रस्तुत कर दिया गया है। अरिस्तू के कुछ राजनीति-सबधी विचार उसके सदाचार शास्त्र और भाषण-कला सबधी ग्रन्थो में भी यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं परन्तु उनको यहाँ सगृहीत नही किया गया है क्योकि एक तो वे सब विचार उपर्युक्त ग्रन्थो में प्रतिपादित विचारो की प्रतिध्वनि मात्र है और दूसरे यथावसर इन दोनो ग्रन्थों का भी पूरा अनुवाद भविष्य में करने का विचार है। आशा है कि इस पुस्तक में पाठको को अरिस्तू के राजनीतिक विचारो का पूरा परिचय मिल जायगा।

मैंने अपने पौलितेइया अथवा रिपब्लिक के हिन्दी अनुवाद को एक "धृष्टता" कहा था। प्रस्तुत अनुवाद उस धृष्टता की पुनरावृत्ति है। अनुवाद का कार्य आज से लगभग ८ वर्ष पूर्व साहित्य-सम्मेलन के द्वारा प्रेषित एक प्रकार के "नस्तालीक" ग्रीक टाइप में १६०५ ई० में छपी मूल पुस्तक से आरभ किया गया था। यदि पिछली शताब्दी के एक ग्रीक व्याकरण में इस टाइप की कुञ्जी न मिल जाती तो अनुवाद-कार्य आरभ नही हो सकता था क्योंकि इधर हाल में प्रकाशित ग्रीक भाषा के मेरे देखे हुए व्याकरणों में उस 'टाइप' का परिचय नहीं मिला। यह भी एक प्रकार से अनायास और अकस्मात् लाभ ही हुआ। फिर आगे चलकर तो बरेली कालेज के तत्कालीन प्रिंसिपल सुधांशुभूषण बनर्जी की कृपा से अरिस्तू की राजनीति का न्यूमैनवाला अधिक कीमती सस्करण भी प्राप्त हो गया और अनुवाद-कार्य में उसका पूरा पूरा उपयोग किया गया।

यद्यपि यूनानी अथवा ग्रीक भाषा आर्य परिवार की भाषा है और सस्कृत भाषा के साथ इसका निकट सबंध है तथापि यह एक कठिन भाषा है। मेरा इस भाषा

से जो परिचय है वह किसी भी अर्थ में पूर्ण नही है। अतएव इस अनुवाद में मुझे कितनी कठिनाई का सामना करना पड़ा है और इसमें कितनी त्रुटियाँ हैं इसे जितना मै जानता हूँ उतना सभवतया अन्य लोग कम जान सकेंगे। फिर भी मैंने यह धृष्टता की ही है और वह इसलिए कि एक तो ऐसे कार्य द्वारा ही मुझे अपने ग्रीक भाषा के ज्ञान को बढ़ाने और परिमार्जित करने की प्रेरणा और गति मिलती है और दूसरे मै समझता हूँ कि मेरी इस धृष्टता से खीजकर, संभव है, कोई सचमुच योग्य व्यक्ति इस आवश्यक कार्य को अपना लें। ग्रीक भाषा के कुछ चोटी के अमर-अमूल्य ग्रन्थों का हिन्दी भाषा में अनुवाद करना ऐसा कार्य है जिसे हमारे प्रथम श्रेणी के विद्वानों को हाथ में लेना चाहिए। मेरी आकाक्षा इससे अधिक नही है कि मेरी लेखनी की कृतियाँ इस क्षेत्र में आगे चलकर प्रवेश करनेवाली प्रतिभाओं के लिए "पायंदाज" बनें।

चतुर पाठक देखेंगे कि प्रस्तुत अनुवाद में एक कमी है। अनुवादक संस्कृत भाषा का अध्यापक है और उसको भली भाँति विदित है कि संस्कृत भाषा में अरिस्तू के समकालीन कौटिल्य की अर्थशास्त्र नामक रचना विद्यमान है। फिर भी अनुवादक ने कही भी इन दोनों ग्रन्थों की तुलना नही की है। सच तो यह है कि मैंने अरिस्तू की राजनीति की अपेक्षा अर्थशास्त्र का अध्ययन अधिक किया है और एक समय मेरा विचार अरिस्तू की राजनीति और अर्थशास्त्र की तुलना करते हुए "डाक्टरेट" का निबन्ध लिखने का था। इतना सब कुछ होते हुए भी जो मैंने प्रस्तुत अनुवाद मे दोनो ग्रन्थों की तुलना नही की हैं उसके दो कारण हैं, एक तो यह कि टिप्पणियो मे यत्र-तत्र तुलनात्मक विचार प्रस्तुत करने पर इन दोनों महान् लेखकों और उनकी कृतियो के प्रति पूर्ण न्याय होना सभव नही था, दूसरे यदि भूमिका में यह विषय उठाया जाता तो उसका कलेवर इतना बढ़ जाता कि अनुचित प्रतीत होता।

अरिस्तू और उसके गुरु प्लातोन के विचारो की तुलना भी एक महत्त्वपूर्ण विषय है। यदि सभव होता तो उपर्युक्त कारणो से इनकी तुलना को भी बचा जाता, क्योंकि थोड़े से स्थान में इन दोनों की तुलना भी कठिन है। पर अरिस्तू की राजनीति के अनुवाद और उसकी भूमिका में प्लातोन की चर्चा और अरिस्तू के साथ उसकी तुलना न करना संभव नही था। तथापि जान-बूझकर इस दिशा में अनिवार्य अल्पतम विषयों की ओर संकेत किया गया है। भूमिका और टिप्पणियों में ऐसी सामग्री का समावेश किया गया है जो राजनीति की पृष्ठभूमि और तत्कालीन वातावरण को समझने में सहायक होगी।

ग्रीक भाषा के ग्रन्थों के अनुवाद के सबध में एक कठिन समस्या नामों और शब्दों के उच्चारण की है। इस समस्या का मेरा अध्ययन आज भी चल रहा है। कठिनाई यह है कि ग्रीक वर्णमाला इतनी अपूर्ण है कि उसमें उच्चारण झमेला बन ही जाना चाहिए था, फिर कोढ में खाज यह कि ग्रीक शब्दो का उच्चारण अनेक युगो में बदलता रहा है। प्राचीन ग्रीक भाषा का उच्चारण आज एक पहेली है। प्रो० स्टूर्टेबाण्ट इत्यादि विद्वानो की रचनाओ से इस पहेली की जटिलता का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। नग्न सत्य है यह कि प्राचीन उच्चारण का वास्तविक ज्ञान लुप्त हो चुका है और आजकल के भिन्न-भिन्न देशो के विद्वानों के व्यवहार में भी एकता नही है। यह स्थिति देखकर देवनागरी वर्णमाला के प्रति मस्तक झुक जाता है जिसकी कृपा से ऋग्वेद के समय से लेकर आज तक के भारतीय साहित्य का उच्चारण "अधिकतम" निर्भ्रान्ति बना हुआ है। सबसे अधिक जटिल समस्या प्राचीन ग्रीक भाषा के स्वरों के उच्चारण की है। प्रस्तुत लेखक का विचार अरिस्तू के काव्यशास्त्र का एक ऐसा सस्करण प्रस्तुत करने का है जिसमे इस पुस्तक का ग्रीक वर्णमाला का पाठ, नागरी लिपि में प्रत्यक्षरीकृत पाठ, तथा सस्कृत एव हिन्दी अनुवाद, सम्मिलित हो। इसके लिए मै ग्रीक वर्णमाला की सभी सभव ध्वनियो का नागरी रूपान्तर प्रस्तुत करने में लगा हुआ हूँ। पर इस समय तो मै पाठको से प्रस्तुत अनुवाद में आये हुए नामो और शब्दो के नागरी-रूपान्तरो के लिए क्षमा-याचना ही कर सकता हूँ।

इस अनुवाद-कार्य में मुझे पग पग पर अनेको ग्रन्थो और ग्रन्थकारो से सहायता मिली है। इस सबध में प्रयुक्त ग्रन्थो की तालिका अन्यत्र दे दी गयी है। यहाँ मैं उन सब महानुभावो का आभार सहर्ष और सधन्यवाद स्वीकार करता हूँ। पर कुछ ग्रन्थकारो एव विद्वानो की रचनाओ से मुझे अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई है। इन महानुभावों में प्रो० न्यूमैन, सर डेविड रॉस, जौवेट, सर.अर्नेस्ट बार्कर, डा० याएगर, डा० जैलर, डा० टेलर, म्यूर एवं लियो रोबिन का नाम उल्लेखनीय है। अरिस्तू के अध्ययन के लिए इन विद्वानो का आभार मानना एक हर्षप्रद कर्तव्य का पालन करना है।

निवेदक

माघ शुक्ला एकादशी, २०१२

भोलानाथ शर्मा

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

भूमिका

प्रथम पुस्तक

विषय पृष्ठ

द्वितीय पुस्तक

तृतीय पुस्तक

विषय पृष्ठ

चतुर्थ पुस्तक

पंचम पुस्तक

षष्ठ पुस्तक

सप्तम पुस्तक

अष्टम पुस्तक

परिशिष्ट

(अरिस्तू के अथेनाइयोन् पौलितेइया (अथेन्स का संविधान) का हिन्दी अनुवाद)

भूमिका

यूनानी चिन्तन की धारा में अरिस्तू का महत्त्व

ग्रीक दर्शन के किसी भी इतिहास को पढने पर यह पता चल सकता है कि यूनानी चिन्तन की धारा में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान सॉक्रातेस, प्लातोन और अरिस्तू की गुरु-शिष्य-परम्परा का है। एक भारतीय लेखक ने तो यहाँ तक कह डाला है कि इस प्रकार के श्रेष्ठ चिन्तकों की तीन पीढियाँ अन्यत्र सारे संसार मे कही नहीं मिलतीं। संभवतया वह पराशर, व्यास और शुकदेव की परम भागवती वाली पिता, पुत्र, पौत्र की तीन पीढियो से अपरिचित हैं, अन्यथा ऐसा न लिखते। तथापि इसमें कुछ भी सन्देह नही कि यदि यूनानी दर्शन में से सॉक्रातेस, प्लातोन और अरिस्तू को निकाल दिया जाय तो कुछ भी शेष नहीं रह जाता। सॉक्रातेस से पूर्व का चिन्तन यूनानी दर्शन की पूर्व-पीठिका है और अरिस्तू के पश्चात् का चिन्तन निर्वाण की ओर अग्रसर होते हुए दीपक की टिमटिमाहट है जो प्लोतिनस की रचनाओं में निर्वाण के पूर्व अन्तिम बार भडककर बुझ जाती है।

फिर भी इन तीन गुरु-शिष्यो से ससार को जो प्रकाश मिला है वह मानव की अमूल्य निधि है। इनमे से सॉक्रातेस ने तो कुछ लिखा नही। उसकी तुलना तो कबीरदास से की जा सकती है जिन्होने कहा था कि "मसि कागद छूवो नही कलम गह्यो नहि हाथ"। पर इसमें भी कोई सन्देह नही कि एक समय समग्र अथेन्स नगर उसके वार्तालापो से आन्दोलित हो उठा था। अपनी अन्तरात्मा की पुकार का अनुसरण करते हुए उसने अन्य सब व्यवसायों को लात मार सत्य, सदाचार और न्याय इत्यादि की खोज को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। इस खोज में उसने निर्ममतापूर्वक बडे बडो की धारणाओ का खोखलापन उद्घाटित किया। अन्त में उसको अपने विचार-स्वातंत्र्य का मूल्य चुकाना पडा। अथेन्स ने अपने आलोचक को क्षमा नहीं किया। लोक न्यायालय ने सॉक्रातेस के शरीर को विष का प्याला पिलाकर मिटा दिया पर उसके सत्यान्वेषण ने उसको अमरता प्रदान की। मनुस्मृति में ब्राह्मण के लिए जो आदेश निम्नलिखित श्लोक में मिलता है वह सॉक्रातेस के जीवन में अक्षरशः चरितार्थ हुआ।

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेद्विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाक्षेदवमानस्य सर्वदा ।।

सॉक्रातेस का शिष्य प्लातोन यह सब देखकर कितना विषण्ण हुआ होगा, यह कल्पना करने का विषय है। पर जिस लोक-विक्षोभ ने सत्यान्वेषक सॉक्रातेस के प्राण ले लिये, वह क्या प्लातोन और सॉक्रातेस के घनिष्ठ सबध से परिचित नही था ? अतएव कुछ समय तक प्लातोन को अपने प्राणो की रक्षा के लिए अथेन्स को त्यागना पडा। उसने अपना जीवन अपने गुरु के उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्सर्ग कर दिया। उसने कहा कि जब तक नगरों के शासक विचारवान् दार्शनिक नही होंगे तब तक अन्याय का अन्त और शान्ति की प्राप्ति नही हो सकती। इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के लिए उसने क्या क्या कष्ट नही सहे। वह अथेन्स के सम्भ्रान्त परिवारों से सबद्ध था एव उसके सबधियो का नगर की राजनीति में पर्याप्त प्राबल्य था। यदि वह चाहता तो राजनीति में सक्रिय भाग लेकर उच्च पद पर आरूढ हो सकता था। पर उसने यह सब महत्त्वाकाक्षाएँ त्यागकर शिक्षक और लेखक के जीवन को वरण किया। परन्तु जब उसको ऐसा अवसर प्राप्त होता प्रतीत हुआ कि वह ग्रीक जगत् की राजनीति को अपने आदर्शों की दिशा में मोड सकेगा तो उसने दो बार सिराकूज के शासको को आदर्श शासक बनाने का प्रयत्न भी किया। उसको इस उच्चाकांक्षा का महँगा मूल्य चुकाना पडा—दास के रूप में बिकना पड़ा। एक प्रकार से हरिश्चन्द्र की कथा की पुनरावृत्ति उसके जीवन में हुई। किंबहुना जब उसने देखा कि समय इतना विपरीत है कि उसके विचारों को वास्तविक राजनीति में कार्यान्वित करना सभव नही है तो उसने यूरोप के प्रथम विश्वविद्यालय—अकादेमी—की स्थापना की और अपने राजनीतिक आदर्शों को अनिन्द्य गद्य-रचनाओं के रूप में अमर रूप प्रदान किया।

जब प्लातोन अपने विद्यालय से दूसरी बार आदर्श राजा के निर्माण की अभिलाषा हृदय मे लेकर सिराकूज गया हुआ था तो उसकी अनुपस्थिति में अरिस्तू ने अकादेमी में विद्यार्थी के रूप में प्रवेश किया। और वह लगभग २० वर्ष अकादेमी में ज्ञान-सचय करता रहा। प्लातोन इस शिष्य की प्रतिभा और परिश्रम से अत्यन्त प्रभावित था। अरिस्तू विद्यालय का "मस्तिष्क" था और पुस्तकों का प्रेमी। अपने गुरु के प्रति उसके हृदय में अगाध श्रद्धा थी पर जैसे जैसे अरिस्तू की प्रतिभा परिपक्वता की ओर बढ़ती गयी वैसे वैसे दोनों के दार्शनिक विचारों का भेद भी स्पष्ट होता गया।

तथापि यह बात निर्विवाद थी कि अरिस्तू भी अपने गुरु और दादागुरु की भाँति विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति था।

यूनानी राजनीति और दर्शन की किसी पुस्तक को उठाकर देखिये तो जहाँ आरभ मे भूमिका भाग मे इन पुस्तको के विद्वान् लेखक यूनान की प्रतिभा की तुलना प्राच्य देशो की प्रतिभा से करते पाये जायँगे वहाँ यही कहते मिलेंगे कि यूनानी मस्तिष्क अथवा बुद्धि की विशेषता उसकी युक्तियुक्तता अथवा विवेकपरायणता है। अर्थात् यूनानी बुद्धि लौजिकल हैं, रैशनल है। पर जब हम उसी यूनानी मस्तिष्क के व्यवहार को देखते है तो हमको इन मनीषियो का दावा निराधार प्रतीत होता है। सॉक्रातेस को अथेन्स के न्यायालय द्वारा विषपान द्वारा प्राणदण्ड दिया जाना, प्लातोन को दासरूप मे बेचना और अरिस्तू जैसे प्रकाण्ड एव प्रतिभाशाली विद्वान् को अकादेमी का प्रधान न बनाकर स्प्यूसिप्पस् जैसे साधारण व्यक्ति को यह पद देना, अलैक्ज़ाण्डर का विश्वविजय की महत्त्वाकाक्षा धारण करके अपने पर भी सयम न रख सकना एव इसी कारण अकाल कालकवलित होना—इत्यादि कितने ही प्रमाण यूनान के इतिहास में से ऐसे प्रस्तुत किये जा सकते है जो यह स्पष्ट सिद्ध करते है कि व्यक्तियो की बात दूसरी है, सामूहिक रूप से यूनानी प्रतिभा विवेकशील नही थी। तभी तो अरिस्तू को अलैक्ज़ाण्डर की मृत्यु के पश्चात् (अथेन्सवासी कही फिलासफी, दर्शन, के प्रति दूसरी बार अपराध न कर बैठे इसलिए) अथेन्स को त्याग देना पडा।

यद्यपि अरिस्तू को अपने विद्यामातृमन्दिर—अकादेमी—मे अभीष्ट सम्मान प्राप्त नही हुआ, उसने अपने अध्यवसाय से तथा अपने शिष्य अलैक्ज़ाण्डर और मित्रो की सहायता से एक दूसरा विद्यालय स्थापित किया और वहाँ पर एक नवीन वैज्ञानिक शोध की प्रक्रिया आरंभ की। जीवन के अन्तिम २० वर्षों मे उसने अपने विविध विषयो के ग्रन्थो के रूप मे प्रथम ज्ञानकोष का निर्माण किया। इस समग्र उद्योग से उसके द्वारा वह ज्ञानज्योति जगाई गई जो सहस्रो वर्षों तक पाश्चात्य देशो मे मानव के जीवन-पथ को आलोकित करती रही।

पाश्चात्य जगत् मे आज जिस सभ्यता का बोलबाला है उसकी जडें प्राचीन यूनान की सभ्यता मे निहित हैं। यह यूनानी सभ्यता अरिस्तू की प्रतिभा में अधिकतम आत्मचेतना को प्राप्त हुई। अतएव आज के पाश्चात्य जगत् को (रूस के सहित) समझने के लिए अरिस्तू को समधिक मात्रा मे समझना आवश्यक है। आज का युग

विज्ञान का युग है और अरिस्तू ने ससार को सबसे प्रथम वैज्ञानिक भाषा दी थी। यूरोप का कोई नवीन और प्राचीन दर्शन-प्रस्थान ऐसा नही जो बिना अरिस्तू के सदर्भ के भली भाँति समझा जा सके। चाहे डाइलैक्टिकल मैटीरियलिज्म (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) हो चाहे फिलॉसफी आफ और्गैनिज्म (अवयवी दर्शन) हो, सबके कल्पना-भवन की नीव अरिस्तू के विचार में है—वे मब उसी वाणी का उपयोग करते है जो अरिस्तू ने उन्हें सिखाई है।

अनेको शताब्दियो तक ईसाई धर्म को सबसे समर्थ समर्थन अरिस्तू के तर्कशास्त्र और परा विद्या से ही मिला। यदि ईसाई धर्म को यह बल न मिला होता तो इस धर्म पर क्या बीती होती, यह कहना कठिन है। ईसाइयो के धर्म-विज्ञान का नाम "थियोलॉजी" सीधे अरिस्तू की भाषा में से ही उठा लिया गया है। यही बात "एक्लेलीसिया" (कलीसा, चर्च) के विषय मे भी कही जा सकती है। इतना ही नही, ईसाई धर्म अपने अनेक सिद्धान्तो के लिए भी अरिस्तू का ऋणी है। ईसाइयो के सभी प्रसिद्ध दार्शनिक विचारक अरिस्तू के सिष्य थे। दूसरी ओर यदि इस्लाम के विकास पर दृष्टिपात करें तो वहाँ पर भी बहुत कुछ इसी प्रकार की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। अरब और स्पेन मे इस्लाम के स्वर्णयुग में मुसलमान विद्वानों द्वारा अरिस्तू के दर्शन का व्यापक अध्ययन किया गया। अरबी भाषा में अरिस्तू की बहुत सी रचनाओ का अनुवाद हुआ। आजकल यह अनुवाद अरिस्तू के सम्पादको के लिए पाठ-निर्धारण के साधक बन रहे है। सूद को अग्राह्य मानने का सिद्धान्त इस्लाम को अरिस्तू से ही मिला प्रतीत होता है।

राजनीति और समाजनीति के क्षेत्र में भी अरिस्तू ने समग्र यूरोप का पथ-प्रदर्शन किया है। इतिहास के अध्ययन को वैज्ञातिक रूप देते में उसने पर्याप्त योगदान दिया था। अथेन्स के सविधान के रूप में उसने हमको विश्व के प्रथम संविधान की रूपरेखा प्रदान की है। काव्यकला के क्षेत्र में उसका काव्यशास्त्र यूरोप के आलोचना-साहित्य में सबसे अधिक व्यापक प्रभाववाला ग्रन्थ रहा है। यह छोटा सा अधूरा ग्रंथ सर्वथा विलक्षण है। अरिस्तू की प्रतिभा के आलोक की चमक और उसके विचारों का चक्रव्यूह हजारो वर्ष तक पश्चिम के देशों के मनीषियों के चिन्तन को बन्दी बनाकर अभिभूत किये रहा। आज भी उसका आकर्षण और उपयोगिता बिलकुल समाप्त हो गई है, ऐसा नही कहा जा सकता। दान्ते के अमर शब्दों में, अरिस्तू ज्ञानवानों का गुरु ((ई)ल् माएस्त्रो दी कोलोर के साप्नो = विद्यावतां गुरुः) है।

अरिस्तू का जीवनचरित

अरिस्तू का जन्म ई० पू० ३६५-६४ मे हुआ था और वह ६२ वर्ष तक जीवित रहा। भारतीय इतिहास मे इस समय नन्द राजाओ का शासन-काल था। उसका जन्मस्थान स्तागिरा (स्तागिरस्) नामक नगर था जो खाल्किदिक प्रायद्वीप मे स्थित था और आजकल स्तावो कहलाता है। यह नगर एक सामान्य सा छोटा नगर है। कुछ लोगो ने अरिस्तू को इस उत्तरी नगर का निवासी होने के कारण पूर्णतया ग्रीक चरित्र से युक्त नही माना है। पर उनकी यह धारणा ठीक नही है। स्तागिरा के निवासी शत-प्रतिशत सच्चे ग्रीक थे और वे यवन भाषा की एक उपभाषा बोलते थे। उसके पिता का नाम निकोमारवस् था और वह वैद्यो की पचायत का सदस्य था। पिता के वशधर मेसेनिया से ई० पू० ८वी अथवा ७वी शताब्दी में स्तागिरा मे आ बसे थे। अरिस्तू की माता का नाम फ्रैस्तिस् था और उसके पूर्वज यूबोइया प्रदेश की खाल्किस् नगरी से आये थे। जीवन के अन्त में अरिस्तू ने इसी नगरी मे अपना निवासस्थान बना लिया था और यही उसका शरीर छूटा।

अरिस्तू का पिता निकोमाखस् मकैदोनिया के राजा अमिन्तास् द्वितीय का राजवैद्य और मित्र था। ऐसा अनुमान करना असभव नही है कि अरिस्तू का लड़कपन मकैदोनिया की राजधानी पैल्लास मे व्यतीत हुआ होगा। अरिस्तू ने जो अपने वैज्ञानिक जीवन मे भौतिक विज्ञान और जीवविज्ञान के क्षेत्र मे अधिक रुचि प्रदर्शित की इसका मूल इसी वैद्यकुल मे जन्म होने और बाल्यकाल मे एक विख्यात वैद्य-पिता के प्रभाव में रहने में छिपा हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि इन वैद्यो के परिवारो मे लडको को जर्राही का काम बालकपन से ही सिखाने की परम्परा थी। सभव है,अरिस्तू ने इस दिशा मे अपने पिता की यदा-कदा सहायता भी की हो। दुर्भाग्यवश अरिस्तू के लड़कपन में ही उसके माता-पिता दोनो का ही शरीरान्त हो गया। पर ऐसा प्रतीत होता है कि उसके माता-पिता ने उसके लिए पर्याप्त सम्पत्ति छोड़ी थी। इस दुर्घटना के पश्चात् उसका एक सबधी प्रौक्षेनस् उसका सरक्षक बना। प्रौक्षेनस् ने उसको १८ वर्ष की अवस्था में शिक्षा प्राप्त करने के लिए अथेन्स भेज दिया जो उस समय सारे ग्रीक जगत् मे शिक्षा और विद्या का श्रेष्ठ केन्द्रस्थान था। अरिस्तू ई० पू० ३६७-६६ में अथेन्स मे आया।

अथेन्स में अरिस्तू ने प्लातोन की अकादेमी नामक शिक्षा-संस्था मे प्रवेश किया। लगभग १९ या २० वर्ष तक, प्लातोन की मृत्यु के समय तक, अरिस्तू अकादेमी का

सदस्य रहा। जिस समय वह अकादेमी मे प्रविष्ट हुआ प्लातोन सिराकूज गया हुआ था। क्योकि अकादेमी उस समय की सबसे श्रेष्ठ शिक्षा-सस्था थी अतएव अरिस्तू उसमें प्रविष्ट हुआ। जब गुरु और शिष्य का परिचय बढा तो प्लातोन ने अरिस्तू के गुणो को पहिचाना। वह इस होनहार शिष्य को "सर्वोत्तम पढ़नेवाला" और "विद्यालय का मस्तिष्क" कहा करता था। अरिस्तू ने इसी समय से अपने पुस्तकालय का सग्रह आरभ कर दिया था। इतना ही क्यो, क्या अरिस्तू जैसा व्यक्ति ३८ वर्ष की अवस्था तक कोरा समित्पाणि शिष्य ही बना रह सकता था ? उसने अपने गुरु की शैली का अनुसरण करते हुए अनेकों सवादो की रचना की। संभवतया इन सवादो का विषय अपने गुरु के विचारों की व्याख्या करना था। पर दुर्भाग्यवश यह सब सवाद, जिनकी शैली अत्यन्त हृदयहारिणी थी, अब विलुप्त हो गये हैं। याएगर इत्यादि विद्वानो ने बडी खोज से उनके कुछ वाक्यो और उनमें वर्णित सिद्धान्तो को एकत्रित करने का प्रयास किया है।

आरभिक विद्यार्थी जीवन में अरिस्तू पूर्णतया प्लातोन के प्रभाव से अभिभूत था। पर धीरे धीरे जैसे जैसे उसका अपना विचार परिपक्वता को प्राप्त हुआ वैसे वैसे उसका अपने गुरु से मतभेद प्रकट होने लगा। कहते तो यहाँ तक हैं कि मतभेद के कारण दोनो के सबंध भी पूर्ववत् अच्छे नही रहे। कुछ भी हो अरिस्तू की समग्र रचनाओं के प्रत्येक पृष्ठ पर प्लातोन के प्रभाव की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। फिर मतभेद हो जाने पर भी अरिस्तू ने अपने गुरु के जीवन-काल में "गुरुकुल" को नहीं छोड़ा और आजीवन वह प्लातोन के प्रति श्रद्धावान् ही बना रहा। इस विद्यार्थी-जीवन के अनेको मित्र उसके अभिन्न सखा बने रहे। अकादेमी कोई आजकल के ढंग की शिक्षा की सस्था नही थी। वह स्वतंत्र प्रकार से ज्ञान की खोज करनेवाले जिज्ञासुओं का समाज था। किसी विशेष प्रकार की विचार-पद्धति का कठोर नियंत्रण उसमें नही चलता था। ऐसे उत्तम वातावरण में जिस प्रथम कोटि के कुशाग्र बुद्धिवाले अध्ययनशील व्यक्ति ने अपने जीवन के श्रेष्ठ वर्ष "नून तेल लकडी" की चिन्ता से मुक्त रहकर केवल ज्ञानार्जन और सत्सस्कारों की उपलब्धि के निमित्त व्यतीत किये हों उसकी मानसिक कमाई का क्या कहना ? यह आशा करना ही व्यर्थ था कि "विद्यालय का मस्तिष्क" अन्त तक गुरु के विचारों का दर्पण-मात्र बना रहेगा। यदि ऐसा होता तो यह कहने की नौबत आती कि या तो अकादेमी की शिक्षा कोरी तोतारटन्त है अथवा अरिस्तू की प्रतिभा ही मौलिकताशून्य है। पर यह दोनो ही बातें ऐसी नहीं थी। अरिस्तू का अपना मौलिक विकास अकादेमी के समय से ही आरभ हो गया।

पर अपने नये मार्ग पर चल पड़ने पर भी अरिस्तू कृतघ्न नही था। अपने गुरु के विषय मे उसने एक सुन्दर कविता लिखी थी। उस कविता के रहते हुए कोई व्यक्ति अरिस्तू को गुरुद्रोही सिद्ध नही कर सकता। उस कविता की कतिपय पक्तियो का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है :—

"वह नर था, दुर्जन को करना जिसका नामोच्चार नही,
और प्रशसा का भी जिसकी है उनको अधिकार नही।
वाचा और कर्मणा जिसने प्रथम व्यक्त यह किया विचार,
जो है साधु सुखी है सोई, और सभी निष्फल नि सार।
हाय नही कोई हममे है उसकी समता करने योग्य।"

अकादेमी को छोडने के पूर्व सभवत्या अरिस्तू ने प्राकृतिक विज्ञान का अत्यन्त गभीर अध्ययन स्वय आत्मप्रेरणा से किया था। स्यात् उसने कुछ शिक्षण कार्य भी आरभ कर दिया था, पर उसके भाषण "रेतोरिक्" के विषय पर थे जिनमे उसने इसॉक्रातीस् के इस विषय के विचारो का खडन किया था। तथापि वह स्वय इसॉक्रातीस् की पद्धति से बहुत प्रभावित था। ऐसा भी सभव है कि उसके अकादेमी के निवासकाल की समाप्ति के आसपास उसके उपलब्ध ग्रथो मे से कुछ की रचना आरभ हो गई थी। इन सब तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्लातोन के शरीरान्त के समय अकादेमी मे अरिस्तू से अधिक योग्य व्यक्ति कोई नही था।

पर ३४८-४७ ई० पू० में प्लातोन की मृत्यु के पश्चात् प्लातोन के उत्तराधिकारी के पद पर स्प्यूसिप्पस् नियुक्त हुआ जो दर्शनशास्त्र को गणित में रूपान्तरित करने के लिए तुला रहता था। अरिस्तू इस प्रवृत्ति का विरोधी था। फिर अथेन्स का राजनीतिक वातावरण भी परदेशियो के लिए—विशेषकर मकैदौनिया से सबध रखनेवाले व्यक्तियो के लिए—कुछ विक्षुब्ध हो उठा था। अतएव अरिस्तू को अकादेमी में बने रहना रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। वह अपने एक सहाध्यायी खैनोक्रातीस् के साथ अथेन्स से अस्सौस् नामक नगर को चला गया। वहाँ पर अकादेमी की एक शाखा स्थापित थी। यहाँ आने के लिए उसको अतार्नेयस् के शासक हर्मेइयस् ने आमन्त्रित किया था जो स्वयं एक समय अकादेमी में शिक्षार्थी के रूप में रह चुका था। हर्मेइयस जन्म से एक दास था पर अपनी योग्यता और कर्मठता के आधार पर उन्नति करते करते अतार्नेयस का राजा बन गया था। अस्सौस् की

विद्वन्मण्डली इसी की सरक्षता मे एकत्रित हुई थी। अपने मित्रो के प्रभाव से हर्मेइयस् दर्शनप्रेमी अथवा दार्शनिक बन गया। इस अनुकूल वातावरण मे अरिस्तू ने लगभग ३ वर्ष व्यतीत किये। इन्ही दिनो हर्मेइयस् की भानजी और गोद ली हुई पुत्री पीथियास् के साथ अरिस्तू का विवाह भी हो गया। इस सबध से अरिस्तू की पुत्री का जन्म हुआ जिसका नाम माता के नाम पर पीथियास् ही रखा गया। अरिस्तू की प्रथम पत्नी का देहान्त थोड़े समय पश्चात् हो गया। तदुपरान्त उसने स्तागिरा की एक स्त्री हैर्पीलिस को बिना विधिवत् विवाह के अपनी जीवन-सहचरी बना लिया। हैर्पीलिस् से एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम निकोमाखस् था।

अस्सौस् से अरिस्तू लैस्बौस् द्वीप के नगर मितीलेन को चला गया। सभव है कि उसके अकादेमी के सहाध्यायी थियौफ़ास्तस् ने अरिस्तू के लिए मितीलेन में अच्छे निवासस्थान की व्यवस्था कर दी हो। एक दूसरा कारण यह हो सकता है कि इसी समय के लगभग अरिस्तू की रुचि जलचर जीवो के अध्ययन की ओर थी अतएव उसने चारो ओर समुद्र से घिरे हुए द्वीप को अपना निवासस्थान बनाना अधिक अच्छा समझा हो। उसके प्राणिविद्या सबधी ग्रंथों में इस समय के निरीक्षण-परीक्षण का परिणाम भले प्रकार दृष्टिगोचर होता है। इसी समय के आसपास अरिस्तू के तत्त्वदर्शन और भौतिक विज्ञान के ग्रंथो की रूपरेखा प्रस्तुत की गई होगी, इस प्रकार का निष्कर्ष आधुनिक शोध के आधार पर निष्पन्न हुआ है।

ई० पू० ३४३ में अरिस्तू का जीवन एक नवीन दिशा में मुड़ा। मकैदोनिया के राजा फ़िलिप के निमन्त्रण पर वह राजकुमार अलैक्ज़ाण्डर के गुरुपद पर नियुक्त हुआ। राजभवन पैल्ला नामक स्थान पर था। इस समय राजकुमार की अवस्था केवल १३ वर्ष की थी। इस पद की उपलब्धि से अरिस्तू के सम्मान और प्रभाव में वृद्धि अवश्य हुई होगी। फिलिप तो सभवतया अरिस्तू को बाल्यकाल से ही राजवैद्य निकोमाखस् के पुत्ररूप में जानता था और आगे चलकर सभवतया उसने उसके विशाल और विलक्षण ज्ञानार्जन की कथा भी सुनी होगी। अतएव अपने पुत्र के लिए उसने अरिस्तू को श्रेष्ठ अध्यापक समझकर अपने यहाँ बुलाया होगा। अरिस्तू ने भी अपने प्रभाव का उपयोग अपने जन्मस्थान स्तागिरा, अपने गुरुकुल अथेन्स और अपने मित्र थियौफ़ास्तस् के जन्मस्थान एरेसस् की ओर से फिलिप के रोष को निवारण करने के लिए किया। कहते हैं उसका मित्र थियोफ़ास्तस् भी उसके साथ पैल्ला को गया था।

पर इस बात का कोई स्पष्ट वर्णन नही मिलता कि अरिस्तू का प्रभाव अलैक्ज़ाण्डर के जीवन पर कितना और कैसा पडा। सभवतया उसने अपने शिष्य को होमर के काव्य और नाटककारों की रचनाएँ मुख्यरूपेण पढाई होंगी। उस समय की शिक्षा मे इन्ही ग्रथो को सर्वोपरि स्थान प्राप्त था। परम्परागत किंवदन्ती है कि अरिस्तू ने अपने शिष्य के लिए होमर के इलियाद् नामक महाकाव्य का सम्पादन किया था और "एकराट्तत्र" एव "उपनिवेश" नामक दो ग्रंथों की रचना की थी। सभव है कि पैल्ला के दरबार और मियेज़ा के कोट में निवास करते हुए अरिस्तू के मन मे धीरे धीरे राजनीति के अध्ययन का बीज आरोपित हुआ हो तथा उसने सभी उपलब्ध राज्य-व्यवस्थाओ के सग्रह और अध्ययन की योजना बनाई हो। पर यह सब कल्पना की बाते है। वास्तविकता यह है कि अरिस्तू और अलैक्जाण्डर के इस समय के सबध के विषय मे निर्भ्रान्त रूप से कुछ भी पता हमको नहीं है। सभव है कि दोनो के मध्य मे घनिष्ठता का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। ई० पू० ३४० में अलैक्ज़ाण्डर अपने पिता के स्थान पर शासक नियुक्त हुआ और उसकी शिक्षा की समाप्ति हो गई। अरिस्तू को यहाँ रहने से जो सबसे ठोस लाभ हुआ वह था अन्तिपातेर नामक सरदार की मित्रता। जब अलैक्ज़ाण्डर अपने एशिया की विजय के अभियान पर गया तो वह यूनान में अन्तिपातेर को अपना स्थानापन्न शासक नियुक्त कर गया और उस समय वह समग्र यूनान मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हो गया।

ई० पू० ३४० में अरिस्तू अपने जन्मस्थान मे आकर बस गया। कुछ समय पश्चात् ई० पू० ३३५-३४ में फिलिप की मृत्यु के पश्चात् अरिस्तू पुन अथेन्स को लौट आया। इस समय से उसके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग आरंभ हुआ। एक ओर उसके शिष्य ने अपने पिता के सिंहासन को प्राप्त किया, दूसरी ओर अलैक्जाण्डर के गुरु ने ज्ञानाराधन आरंभ किया।

शीघ्र ही अलैक्ज़ाण्डर विश्वविजय की ओर बढ़ा और उसका गुरु ज्ञानविजय की ओर। एक बार पुनः अकादेमी के मुख्याधिष्ठाता का पद रिक्त हुआ। पर अकादेमी ने अरिस्तू की ओर दृष्टिपात न करके उसके साथी क्सैनोक्रातेस् को मुख्याधिष्ठाता चुना। यद्यपि अरिस्तू ने इतने पर भी अकादेमी से अपना सबध नही तोडा तथापि उसने अपने स्वतन्त्र विद्यालय की ई० पू० ३३५ में स्थापना कर दी। अथेन्स नगर के उत्तर-पूर्व की ओर के उपनगर अपोलो में लीकेयस् का मन्दिर था। यही उसने अपना विद्यालय आरंभ किया। मन्दिर के नाम पर इसका नाम भी लीकेयस्

पडा। सस्कृत मे इसको वृकेश्वर विद्यालय कह सकते है क्योकि लीकेयस् सस्कृत के वृक शब्द का सजातीय है। सॉक्रातेस किसी समय इस स्थान पर प्राय घूमने-फिरने आया करता था। परदेशियो को अथेन्स मे अचल सम्पत्ति खरीदने का अधिकार नही था अतएव अरिस्तू ने यहाँ कुछ मकान किराये पर ले लिये और अपने विद्यालय की स्थापना कर दी। इस पर अकादेमी के कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध व्यक्ति भी उससे आ मिले। शिक्षण-पद्धति यह थी कि प्रातकाल वह अपने शिष्यो के साथ घूमते-टहलते हुए दर्शनशास्त्र की जटिल समस्याओ का विवेचन किया करता था। इस कारण उसके दर्शन-प्रस्थान का नाम पैरीपैटेटिक (=पर्यटक) पड गया। सायकाल को वह अपेक्षाकृत कम जटिल विषयो पर बहुसख्यक श्रोताओ के समक्ष व्याख्यान दिया करता था। इस प्रकार उसके कुछ प्रवचन अन्तरग और सूक्ष्मेक्षिका से युक्त होते थे और कुछ बहिरग तथा सुबोध होते थे। इसका आशय यह नही है कि उसके अन्तरग प्रवचनो मे कोई गूढ छिपा हुआ रहस्य था। वास्तविक बात यह है कि कुछ विषय—जैसे कि तर्कशास्त्र, भौतिकी और पराविद्या—ऐसे है जो अधिक गभीर अध्ययन की अपेक्षा करते है और मुट्ठी भर विद्यार्थियो को आकृष्ट करते है। साहित्यशास्त्र और राजनीति इत्यादि विषय ऐसे है जो अधिक जनप्रिय है और जनता अधिक सख्या मे इनकी ओर आकृष्ट होती है और इनको समझने मे अधिक माथापच्ची नही करनी पडती।

इस विद्यालय मे अरिस्तू ने अपने जीवन के लगभग १२ वर्ष व्यतीत कर अनेको महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण किये। उसने सैकडो हस्तलिखित पुस्तकें एकत्रित करके प्रथम पुस्तकालय स्थापित किया जो आगे चलकर अलक्जाण्ड्रिया और पर्गामॉन् के विशाल पुस्तकालयो के लिये आदर्श बना। इसी प्रकार उसने अनेको मानचित्रो और अद्भुत वस्तुओ का प्रथम सग्रहालय अथवा म्यूज़ियम भी स्थापित किया। कहते है, उसके शिष्य अलैक्ज़ाण्डर ने उसको प्रभूत आर्थिक सहायता प्रदान की, एव शिकारियो, बहेलियो और मछुओ को यह निर्देश किया कि यदि उनको अपने क्षेत्र मे कोई अद्भुत अथवा वैज्ञानिक महत्त्व का जीव-जन्तु अथवा वस्तु प्राप्त हो तो वे शीघ्रातिशीघ्र उसकी सूचना अरिस्तू को दे। विद्यालय मे उसने उस समय की सभी विद्याओ और कलाओ के अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध किया। विद्यालय के सचालन के नियम भी अरिस्तू ने बनाये थे। इन नियमो के अनुसार विद्यालय के प्रत्येक सदस्य को बारी बारी से १० दिन सस्था का शासन कार्य करना पडता था। सभव है कि इसका आशय यह भी रहा हो कि इस दस दिन के शासक को दस दिन तक किसी

सिद्धान्त का समर्थन और मण्डन भी करना होता था। सब सदस्य एक साथ भोजन करते थे और महीने मे एक बार सम्भोज (सिम्पोजियम) होता था जिसके नियम अरिस्तू ने निश्चित कर दिये थे। अनेको बातो मे अरिस्तू का विद्यालय अकादेमी की सन्तान था पर कुछ अन्तर भी दोनो मे अवश्य था। अकादेमी का झुकाव गणित की ओर अधिक था पर लीकैयम् ने जीव-विज्ञान और इतिहास के विकास मे अधिक योगदान दिया।

पर जिन बारह या तेरह वर्षो मे अरिस्तू लीकैयम् का अधिष्ठाता रहा उनका सर्वोपरि कार्य था उन व्याख्यानो की रचना जिनकी सूत्ररूप टिप्पणियो को आजकल अरिस्तू के ग्रथ कहा जाता है। इस विशाल ज्ञानयज्ञ मे उसके सहयोगियो और शिष्यो ने भी अरिस्तू की सहायता की थी परन्तु इस सहायता की मात्रा बहुत अधिक नही थी। इस समग्र रचना-कार्य के लिए जिस मानसिक शक्ति और सलग्नता की अभिव्यक्ति अरिस्तू ने की वह अनन्यसामान्य थी। उसने विभिन्न विज्ञानो का जो विभाजन प्रस्तुत किया, यूरोप आज तक उसको मानता चला आ रहा है। अनेको विज्ञानो के क्षेत्र का उसने पूर्वापेक्षा बहुत अधिक विकास और विस्तार किया एव तर्कशास्त्र का तो वह आद्य प्रवर्तक और शताब्दियो तक एकच्छत्र नियन्ता बना रहा। व्यावहारिक क्षेत्र मे भी अरिस्तू के विद्यालय ने राजनीति और सदाचारशास्त्र की विवेचना के कारण तात्कालिक राजनीति और समाज पर अकादेमी की अपेक्षा अधिक प्रभाव डाला। अकादेमी के मुख्याधिष्ठाता का पद उसे भले ही नही मिला पर जो प्रभाव और प्रतिष्ठा सॉक्रातेस और प्लातोन को अपने समय मे प्राप्त थी वह इस समय अरिस्तू को प्राप्त थी और उसके प्रतिद्वन्द्वी अकादेमी के मुख्याधिष्ठाता की प्रतिष्ठा उसकी अपेक्षा बहुत कम थी।

पर अलैक्जाण्डर के साथ अरिस्तू का सबध अन्त तक अच्छा नही रह सका। जब वह एशिया की विजय के लिए निकला था तब उसके साथ अरिस्तू का एक सबधी, जिसका नाम कल्लिस्थेनेस् था, इतिहास-लेखक के रूप मे गया था। उस युवा ने सम्राट् के व्यवहार की आलोचना करके उसको रुष्ट कर दिया। अलैक्जाण्डर ने उस पर यह दोषारोपण किया कि उसने सम्राट् की हत्या के षड्यन्त्र को भडकाया था। इस आरोप के परिणाम-स्वरूप कल्लिस्थेनेस् को फ़ॉसी दे दी गई। इसके पश्चात् उसने अरिस्तू को भी अपने सबधी के दुष्कर्मो के लिए उत्तरदायी ठहराया। पर इसी समय वह भारतीय अभियान मे ऐसा उलझा कि उसको अरिस्तू के लिए दण्ड निर्धारण करने का अवकाश ही नही मिला। तो भी क्या हुआ, अरिस्तू के सौभाग्य

का नक्षत्र तो मानो अस्त हो चुका था। ई० पू० ३२३ मे अलैक्जाण्डर की मृत्यु हो गयी। ज्यो ही यह समाचार अथेन्स पहुँचा वहाँ मकैदौनिया के शासन के विरुद्ध विद्रोह उठ खडा हुआ। यद्यपि अरिस्तू को फिलिप और फिलिप के पुत्र सम्राट् अलैक्जाण्डर की साम्राज्यवादी नीति के साथ कोई सहानुभूति नही थी, अथेन्स में यह तो सभी को विदित था कि अरिस्तू का मकैदौनिया के राजकुल से पुराना सबध था और अलैक्जाण्डर का स्थानापन्न शासक अन्तियातेर उसका घनिष्ठ मित्र था। पर क्योकि अरिस्तू को सीधे यो ही दण्ड नही दिया जा सकता था अतएव उसके विरुद्ध यह आरोप लगाया गया कि उसने देवापमान किया था। इस आरोप का आधार यह था कि अरिस्तू ने अतार्नेयस् के राजा हर्मेइयास् की ई० पू० ३४२-३४१ मे हत्या के उपरान्त उसकी प्रशसा में एक कविता लिखी थी और इस कविता में अरिस्तू ने अपने मित्र पर प्राय देवत्व का आरोप किया था। यह लगभग २० वर्ष पूर्व की बात थी पर तो भी इसको पर्याप्त दोष समझा गया। अरिस्तू ने अपनी दूरदृष्टि से वातावरण को भली भाँति समझ लिया और समय रहते हुए अपने कुछ शिष्यो को साथ लेकर अथेन्स का परित्याग कर दिया और (इ)यु बोइया प्रदेश की खाल्किस् नामक नगरी मे शरण ली। उसका जन्मस्थान स्तागिरा इसी नगरी का उपनिवेश था। यहाँ पहुँचने के अगले वर्ष ई० पू० ३२२ मे ६२ वर्ष की अवस्था में अरिस्तू ने शरीरत्याग किया। अथेन्स को त्यागते समय उसने कहा था कि मै अथेन्सवासियो को दर्शनशास्त्र के विरुद्ध दूसरी बार अपराध न करने देने के लिए दृढसकल्प हूँ।

यूनानी दार्शनिकों के जीवन की कहानियाँ लिखनेवाले दियोगेनेस् लाएर्तियस् ने अरिस्तू की जीवनी मे उसके वसीयतनामे को उद्धृत किया है। इसके अनुसार अरिस्तू ने अपनी द्वितीय सहचरी हैर्पीलिस् की भलमनसाहत का उल्लेख कर उसके शेष जीवन के लिए आर्थिक प्रबन्ध किया था। पर वह अपनी प्रथम पत्नी पीथियास् और उसके प्रणय को भी नही भुला सका था अतएव उसने लिखा कि उसके अवशेष अरिस्तू की ही कब्र में रखे जायँ। उसने अपने दासो के लिए भी कुछ धन दिया था और ऐसा निर्णय किया था कि उनको बेचा न जाय। अनेक दासों को उसने स्वतत्र कर दिया था। इससे यह स्पष्ट है कि अरिस्तू कोरा बुद्धिवादी ही नही था प्रत्युत उसका स्वभाव अत्यन्त स्निग्ध और कृतज्ञतापूर्ण था।

अरिस्तू की आकृति और वेशभूषा के विषय मे निश्चयपूर्वक कुछ भी ज्ञात नही, यद्यपि इस दिशा मे अटकलबाजियाँ बहुत कुछ की जाती है। कहते है कि वह खल्वाट

हो गया था। उसकी वाणी में हल्की तुतलाहट थी और उसको अच्छे वस्त्र धारण करने का शौक था। यह भी कहा जाता है कि उसकी आँखें छोटी छोटी थी और पैर पतले थे। रहन-सहन मे वह अति सयमी नही था। बातचीत करने मे उसका मखौल करने का स्वभाव था एव दियोगेनेस् ने उसकी वाक्पटुता के उदाहरणो का सग्रह प्रस्तुत किया है।

उसके जीवन की गतिविधि और उसके वसीयतनामे से पता चलता है कि अरिस्तू की आर्थिक स्थिति आजीवन अच्छी रही। जब तक उसकी अपने शिष्य से अनबन नही हुई थी तब तक अलैक्ज़ाण्डर ने उसकी पर्याप्त सहायता की थी। जब वह अपने गुरु से रुष्ट हुआ उसके थोडे समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई। यूनान का स्थानापन्न शासक अन्तिपातेर उसका मित्र था। राजाओ के क्रीडा-सहचर, सम्राट् के गुरु और शासको के मित्र अरिस्तू की आर्थिक स्थिति अच्छी होनी ही चाहिये थी।

अरिस्तू की रचनाएँ

प्राचीन काल मे अरिस्तू की रचनाओ के सबध मे बडी अनोखी कहानियाँ प्रचलित थी। उसकी रचनाओ की तीन पुरानी सूचियाँ मिलती है। पर इन सूचियो पर विचार करने के पूर्व अरिस्तू के ग्रथो की रक्षा की विचित्र कहानी जान लेना आवश्यक है। उसने अपनी समग्र रचनाओ को अपने विद्यालय मे अपने उत्तराधिकारी और मित्र थियौफ्रास्तस् को सौंप दिया था। थियौफ्रास्तस् ने उनको नेलेयस् को दे दिया। नेलेयस् उनको स्रोआद् मे अपने घर पर ले गया। यहाँ वे बहुत समय तक उसके वशधरो के पास पडी रहीं। इन लोगो का विद्या और विज्ञान तथा दर्शन से कोई सबध नही था। अतएव यह सब ज्ञान एक प्रकार से बाह्य जगत् के लिए अज्ञात ही पडा रहा। पर इन पुस्तको के स्वामी यह अवश्य जानते थे कि यह ग्रथ बहुमूल्य सम्पत्ति है। उस समय पर्गामम् के राजा पुस्तको को एकत्रित करने पर जुटे हुए थे अतएव अपनी पुस्तको को उनके हाथ में पडने से बचाने के लिए नेलेयस् के वशधरो ने उनको भूमिगृह मे बन्द कर दिया। वहाँ सीलन और कीटो ने इन ग्रथो को पर्याप्त हानि पहुँचाई होगी। अन्त मे इस सग्रह को अथेन्स के एक पुस्तक-प्रेमी ने मूल्य देकर ले लिया। इस सज्जन का नाम अपैलिकन् था। अपैलिकन् का पुस्तक-भण्डार एक युद्ध में रोमन अधिनायक सुल्ला को लूट के भाग के रूप में प्राप्त हुआ। यह घटना ई० पू० ८६ की है। वह इस सग्रह को रोम लाया। अन्ततोगत्वा पैरेपैतेतिक

विद्यालय के ११वे प्रधान आन्द्रोनिकस् रोद्स ने इन ग्रथो का सम्पादन करके सिसरो के जीवनकाल मे इनको प्रकाशित कराया। लेखक की मृत्यु के लगभग २५० वर्ष पश्चात् उसकी रचनाएँ प्रकाश मे आई । यह कथा स्त्राबो नामक विद्वान् के कथन पर आश्रित है । कुछ आलोचको को इसकी सत्यता पर सन्देह है पर अधिकाश विद्वान् इसको ठीक समझते है ।

अरिस्तू की रचनाओं की पुरानी सूचियो मे उसकी पुस्तको की सख्या ४०० बतलाई गई है । एक सूची दार्शनिको के जीवनचरित लिखनेवाले दियोगेनेस् लार्एतियस् ने अरिस्तू के जीवनचरित के साथ दी है । एक दूसरी सूची आन्द्रोनिकस् ने प्रस्तुत की है। इन दोनो सूचियो मे पूर्ण साम्य नही है। एक तीसरी सूची हर्मिप्पस् नामक विद्वान् ने लगभग ई० पू० २०० मे बनाई थी एव ऐसा ख्याल किया जाता है कि दियोगेनेस् लार्एतियस् की सूची हर्मिप्पस् की सूची के आधार पर प्रस्तुत की गई थी । इन सूचियो की परस्पर तुलना करने से यह निश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है कि अरिस्तू की बहुत सी रचनाएँ लुप्त भी हो गई है। प्लातोन और अरिस्तू दोनो ही लेखक भी थे और मौखिक भाषण द्वारा शिक्षा देनेवाले गुरु भी थे । पर विधि की विडम्बना से अरिस्तू के लिखित ग्रथ लुप्त हो गये । उसके भाषणो की टिप्पणियाँ जो उसके शिष्यो इत्यादि के द्वारा सगृहीत और सम्पादित होकर बच गई है आज अरिस्तू की रचनाएँ कहलाती है। इसके विपरीत प्लातोन के लिखित ग्रथ उपलब्ध होते है पर उसके भाषणों में क्या था और उसका विषय क्या था, इसका कुछ पता नही चलता ।

अरिस्तू की आरभिक रचनाएँ तो प्लातोन के सवादो के समान वार्तालाप की शैली पर लिखी गई थी। उनमे अरिस्तू ने अपने गुरु का अनुकरण करते हुए भाषा और शैली को साहित्यिक दृष्टि से अधिक प्रभावोत्पादक बनाने का प्रयत्न किया था। चाहे उनमे उसके गुरु के सवादो के समान अत्यधिक नाटकीय तत्त्व न रहा हो तथापि उनमें पर्याप्त मर्मस्पर्शिता रही होगी तभी सिसरो और क्विन्तीलियन् सरीखे विद्वानो ने उनकी मुक्त कठ से प्रशसा की है। सभवतया यह रचनाएँ उस समय की थी जब वह प्लातोन की अकादेमी का सदस्य था। उसके कुछ सवादो के नाम तक वही है जो प्लातोन के सवादो के थे--जैसे पॉलितिकस्, सौफिस्तैस्, मैनेक्षैनस्, सीपौसियॉन्, ग्रील्लस् इत्यादि। स्यात्, प्रोत्रैप्तीकस् नामक सवाद, जो याएगर की दृष्टि मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, लगभग इसी समय लिखा गया था। यह कीप्रस् द्वीप के राजा थैमिसो

के लिये लिखा गया था। यह प्राचीन काल मे अत्यन्त लोकप्रिय पुस्तक समझी जाती थी और इयाम्ब्लिखस् और सिसरो ने इसको आधार और आदर्श मानकर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थी। इसके कुछ समय पश्चात् स्यात् (पैरी फिलोसौफियास्) दर्शनशास्त्र, (अलैक्षान्द्रस्) अलैक्जाण्डर, (पैरी दिकाइयोन्) न्याय, (पैरी पोइएतोन्) कवि, (पैरी प्लुतू) धन-सम्पत्ति, (पैरी यूगैनैइयास्) सुकुल मे जन्म, (पैरी यूरवेस्) प्रार्थना, (पैरी पाइद्युसेओस्) शिक्षा, नेरिन्थस् और एरोतिकस् इत्यादि लिखे गये होगे। इनमे से कुछ के विषय मे उनके नाम के अतिरिक्त और कुछ भी विदित नही है। इन ग्रंथो के अतिरिक्त अरिस्तू ने कुछ काव्य-रचना भी की थी। उसकी कविता के तीन उदाहरण अवशिष्ट है। इनमे कुछ काव्य-रचना सच्चे कवि-हृदय का परिचय देती है।

यह भी निश्चित रूप से ज्ञात है कि अरिस्तू के द्वारा वैज्ञानिक शोध के लिए और ग्रथ रचना के लिए बहुत सी सामग्री और टिप्पणियाँ एकत्रित की गई थी। यह सब सामग्री भी काल के गाल मे समा गई। पुरानी सूचियो मे अरिस्तू की उपलब्ध रचनाओ के भागो को भी स्वतत्र पुस्तको के रूप मे प्रकट किया गया है। विद्वानो ने परिश्रमपूर्वक अन्य लेखको की रचनाओ मे मिलनेवाले उद्धरणो को एकत्रित करके उसके लुप्त ग्रथों की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इन प्रयत्नो से अरिस्तू के उपलब्ध और लुप्त ग्रथो के संबध पर भी प्रकाश पडा है। फिर भी अरिस्तू के तत्त्वज्ञान की विश्वसनीय रूपरेखा तो उसके आजकल मिलनेवाले ग्रथों के आधार पर ही प्रस्तुत की जा सकती है।

प्रस्तुत ग्रथो का विवरण विषयानुसार सक्षेप मे निम्नलिखित है —

(१) तर्कशास्त्र सबधी ग्रथ। इस शास्त्र का नाम और्गानिन् है। इसके भाग है-(क) कैटेगोरीज (कातेगौरियाई), (ख) डी इण्टरप्रीटैशियौन् (पैरी हर्मेनेइथास्), (ग) प्रायर अनालीटिक्स (अनालीतिकाप्रौतैरा), (घ) पोस्टीरियर अनालीटिक्स (अनालीतिकाहयुस्तैरा), (च) टौपिक्स (तौपिका), (छ) सौफिस्टिक ऐलैंखी।

(२) भौतिक शास्त्र सबंधी ग्रथ। (क) फीजिक्स (फीसिका), (ख) डी कएलो (पैरी ऊरानू), (ग) डी गैनेरैशियोन् ऐट कर्रप्शियौन् (पैरी गैनैसेओस् कैफ्थोरास्), (घ) मेटिरियोलोगिका (मैटैओरोलौगिकोन्)।

(३) एक पुस्तक का नाम "डी मुण्डो" (पैरी कौस्मू) है। यह सामान्य दर्शनशास्त्र की पुस्तक है। अधिकाश विद्वानो ने इसको अरिस्तू की रचना नही माना है।

(४) मनोविज्ञान के विषय मे अरिस्तू के कई एक छोटे छोटे प्रामाणिक ग्रथ मिलते है। इनके नाम इस प्रकार है—(१) डी अनिमा (पैरी प्सीरवेस्), (२) पार्वा नातुरालिया (जिसके अन्तर्गत (क) डी सैन्सू ऐट सैसी बिलीबस (पैरी ऐस्थेसेओस् कै ऐस्थेतोन), (ख) डी मैमौरिया ऐट रिमिनी सैन्शिया (पैरी मूनेमेस क अनाम्नेसैओस), (ग) डी सौम्नो एट् विगिलिया (पैरी हिप्नूकै एग्रे गौरसेओस्), (घ) डी इन्सौम्नीस् (पैरी एनीप्नियोन्), (च) डी डिवीनीशियोन् (पैरी तेसकाथ हिपनौन् मन्तिकेस्, (छ) डी लौगीटीडचून ऐट ब्रीवीटेट् विताए (पैरी मात्रोबियौतेतस्), कै ब्रारवीबियौतेतस्, (ज) डी विटा एट् मौर्त (पैरी जोएस् कैथानातू), (झ) रैस्पि-रैशियोन् (पैरी अनापौनेस्)। डी विटा एट मौर्त के प्रथम दो अध्यायो का नाम डी जुवेटूट एट् सैनेक्टूट भी है। डी स्पिरेटु (पैरी प्नुमातस्) इस गुच्छक मे अन्तिम पुस्तक है परन्तु इसको अरिस्तू की रचना नही माना जाता क्योकि इसमे मानवीय शरीर के कुछ ऐसे तत्वो का उल्लेख है जो अरिस्तू के समय तक ज्ञात नही थे।

(५) प्राकृतिक विज्ञान (अर्थात् जीव-जगत् संबंधी विज्ञान) के क्षेत्र मे अरिस्तू की रचनाएँ हैं—हिस्टोरिया अनीमालियुम् (पैरी जोओन् इस्तौरियास्), डी पार्टी-बुस अनीमालियुम् (पैरी जोओन् मौरियोन्), डी मोटु अनीमालियुम् (पैरी किनेसै-ओस्), डी इनकैस्सु अनीमालियुम् (पैरी जोओन् पौरेइयास्), डी गेनेरेशियोने अनी-मालियुम् (पैरी जोओन् गैनेसैओस्)। अरिस्तू के ग्रन्थ-संग्रह मे इसी विषय से सबध रखनेवाली निम्नलिखित पुस्तके भी पाई जाती है पर उनकी प्रामाणिकता सदिग्ध है—डी कॉलॉरीबुस् (पैरी ख्रोमातोन्), फीजियोग्नोमोनिका („ „), डी प्लाण्टिस् (पैरीफू (फी)तोन्), डी मिराबिलीबुस् आउस्कुल्टाटियौनीबुस् (पैरी थाउमासियोन् अकूस्मातोन्), मेकानिका (मेखानिका)। डी प्लॉण्टिस् नाम की पुस्तक अरिस्तू ने लिखी अवश्य थी पर वह नष्ट हो गई। इस समय जो पुस्तक इस नाम से उपलब्ध होती है वह स्यात् दामस्कस् के निकोलाऊस् की रचना के अरबी अनुवाद के लैटिन अनुवाद का रूपान्तर है।

प्रौब्लैम्स् (समस्याएँ) नाम की पुस्तक निश्चय ही अरिस्तू की रचना नही है। शताब्दियो से प्रौब्लैम्स के जो सग्रह एकत्रित होते आ रहे थे उनमें से ही इसका सकलन किया गया था। सभवतया यह सकलन ५ वी अथवा ६ठी शताब्दी मे प्रस्तुत किया गया होगा। इनमें सबसे अधिक जनप्रिय है संगीत के प्रौब्लैम्स के दो सग्रह जो ई० पू० ३०० अथवा २०० सन् की रचना माने जाते है।

डी लीनेइस् इन्सैकाबिलीबुस् (पैरी अतौमोन् ग्राम्मोन्), डी सिग्निस् और इसी का एक भाग वेण्टोरुम् सिटुस् डी मैलिस्सो (प्रौस ता मैलिस्सू), खेनोफाने (पैरी क्षेनोफानूस्), गौर्गिया (पैरी गौर्गियू) यह सब रचनाएँ अरिस्तू के पश्चात्कालीन शिष्यो की रचनाएँ हो सकती है पर स्वय अरिस्तू की रचनाएँ नही है। कुछ अन्य व्यक्तियो के द्वारा किये हुए (अरिस्तू के ग्रंथो के) रूपान्तर भी हो सकते है।

(६) मेटाफीज़िक्स अरिस्तू की अत्यन्त प्रख्यात रचना है। परन्तु इसकी विभिन्न पुस्तको का इतिहास बडा उलझा हुआ है। इस छोटी सी भूमिका मे उस उलझन का विवरण उचित नही है।

(७) सदाचार के सबध मे अरिस्तू की रचनाएँ निम्नलिखित है—निकोमाखियन् ऐथिक्स (एथिकोन् निकोमाखैयोन्), यूदेमियन् ऐथिक्स (एथिकोन् यूदेमियोन्), माग्ना मौरालिया (एथिकोन् मैगालोन्), डी विर्टुटीबुस्एट विटाइस् (पैरी अरैतोन् कै काकियोन्)। कुछ आलोचक यूदेमियन् एथिक्स को अरिस्तू की रचना नही मानते थे। पर अब इस विषय मे कुछ मत-परिवर्तन हो गया है। फिर दोनो एथिक्स नामवाले ग्रन्थो का पारस्परिक सबध अभी तक एक समस्या बना हुआ है। शेष दोनो पुस्तके सभवतया अरिस्तू की रचनाएँ नही। उसके सम्प्रदाय की पश्चात्कालीन रचनाएँ हो सकती है।

(८) राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे अरिस्तू के निम्नलिखित ग्रथ आजकल उपलब्ध होते है—पौलिटिक्स (पौलितिकोन्), दी अथीनियन् कॉन्स्टीटयूशन (अथेनइयोन् पौलितेइया), औइकोनौमिका (औइकोनौमिकोन्)। इनमे से तीसरी पुस्तक मे तीन अध्याय है पर तीसरा अध्याय मूल ग्रीक भाषा मे नही मिलता, केवल लैटिन अनुवाद के रूप में मिलता है। वास्तव मे यह पुस्तक अरिस्तू की रचना है ही नही। कहते है अरिस्तू ने राजनीति के विस्तृत अध्ययन के लिए १५८ नगर-राष्ट्रो के सविधानो को एकत्रित किया था। पर वे सब विलुप्त हो गये। पर १८९१ में इन सविधानो मे से अथेन्स का सविधान उपलब्ध हो गया। यह छोटी पुस्तक भी अनेक दृष्टियो से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(९) भाषण-कला, लेखन-कला और काव्यकला पर अरिस्तू की तीन पुस्तके है—(१) रेटोरिक्स (तैक्ख्नेस् रेतौरिकेस्), (२) रेतोरिका आड् अलेक्ज़ाण्ड्रुम् (रेतोरिके प्रौस् अलेक्क्षान्द्रौन्) और (३) पैरी पोइतिकेस्। इनमे से दूसरी पुस्तक की

प्रामाणिकता सदिग्ध है। पैरी पोइतिकेस् खडित रूप मे उपलब्ध होती है और छोटी सी पुस्तक है। पर इस पुस्तक ने यूरोप के साहित्य पर हजारो वर्षों तक गभीर प्रभाव डाला है।

अरिस्तू ने उपर्युक्त ग्रथो के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ लिखा था। उदाहरणार्थ उसने नाटको के प्रदर्शन का पूरा इतिहास प्रस्तुत किया था, औलिम्पिक खेलो के विजेताओ की सूची प्रस्तुत की थी और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है १५८ नगर-राष्ट्रो के सविधान एकत्रित किये थे। पर आजकल उसकी रचनाओ के सग्रह मे यह सब कुछ नही मिलता। उसके ग्रथो की जो पुरानी सूचियाँ मिलती है उनमे से बहुत सी रचनाएँ भी अब नही मिलती। पर उन सूचियो के विषय मे भी यह विश्वासपूर्वक नही कहा जा सकता कि वे उसकी ही रचनाओ की सूचियाँ है। कई एक स्थलो पर तो ऐसा है कि प्रस्तुत रचनाओ के एक विभाग अथवा अध्याय को एक अलग पुस्तक का नाम देकर सूची मे सम्मिलित कर लिया गया है। फिर जब इस समय उपलब्ध एव अरिस्तू के नाम से सबद्ध अनेको ग्रथ उसके नही है तो जो उपलब्ध नही है उनके विषय मे तो यह जानने का कोई साधन ही नही है कि वे उसकी रचना थी अथवा नही। पर प्राचीन काल के विश्वास के योग्य विद्वानो के साक्ष्य पर यह कहा जा सकता है कि अरिस्तू का पर्याप्त साहित्य लुप्त अवश्य हो चुका है।

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के मुद्रणालय ने अरिस्तू के उपलब्ध ग्रथो को मूल ग्रीक भाषा और अग्रेजी अनुवाद मे प्रकाशित किया है। मूल और अनुवाद दोनो ही बारह बारह जिल्दो मे है और इन दोनो ही सस्करणो की पृष्ठ-सख्या लगभग ३५०० होगी। लोएब् क्लासिकल लाइब्रेरी मे अब तक अरिस्तू के ग्रथो की २२ जिल्दे प्रकाशित हो चुकी है और अभी कुछ और जिल्दे प्रकाशित होनी शेष है। प्राचीन काल की दन्तकथाओ मे तो यहाँ तक कहा जाता था कि अरिस्तू की रचनाएँ ऊँटो पर लदकर जाया करती थी। इसमे कोई सन्देह नही कि अरिस्तू के ग्रथो पर विविध भाषाओ मे विपुल साहित्य का निर्माण हुआ है और आज भी इस साहित्य का निर्माण चालू है।

अरिस्तू की शैली भी अपने ढग की अनोखी ही है। यो कहने को वह कवि भी था और प्राचीन काल मे उसकी कुछ ऐसी रचनाएँ भी मिलती थी जो अपनी शैली के सौष्ठव के कारण अनुकरणीय मानी जाती थी। पर इस समय उसकी जो गद्य-रचनाएँ उपलब्ध है उनकी शैली साहित्यिक नही वैज्ञानिक ढग की है। बहुत कम स्थल उसके ग्रंथो मे ऐसे मिलेंगे जिनको मनोरम कहा जा सके। परन्तु उसमे आकर्षक प्रकार

से लिखने और बोलने की क्षमता थी यह बात प्रस्तुत साहित्य के कुछ स्थलो और प्राचीन काल के विद्वानो के साक्ष्य के आधार पर निर्विवादरूपेण सिद्ध ठहरती है। उसके विद्यमान ग्रथो मे प्रतिसकेतो (Cross-references) की भरमार है। उसकी सभी रचनाओ से परिचित हुए बिना उसकी किसी भी रचना का मर्म भली भाँति समझ मे नही आ सकता। डी० एस० मार्गोलियूथ ने अपने अरिस्तू के काव्यशास्त्र के सस्करण की भूमिका मे २२ पृष्ठ पर अरिस्तू की शैली की तुलना पाणिनि की सूत्रात्मक शैली से की है और दोनो की समानता समधिक विस्तारपूर्वक समझाई है। इस शैली की विचित्रता का अनुमान कुछ इस बात से लगाया जा सकेगा कि न्यूमैन का पालिटिक्स का सस्करण मूल ग्रथ के २२४ पृष्ठो को २५०० पृष्ठो की चार जिल्दो मे समझाने का उद्योग करता है। इस प्रकार की शैली और इस प्रकार की विराट् व्याख्याएँ सस्कृत भाषा के ग्रथो मे ही मिल सकती है।

एक समय था जब यह समझा जाता था कि अरिस्तू की रचनाएँ विकास-क्रम की परिधि से परे की वस्तु है। लोग समझते कि अरिस्तू ने जो लिखा है वह परिपक्व बुद्धि की उपज है। परन्तु वह श्रद्धा का युग अब नही रहा। आलोचको ने, विशेषकर जर्मन विद्वान् याएगर (Jaeger) ने यह स्पष्ट सिद्ध करके दिखला दिया कि अरिस्तू भी अन्य मानवो के समान ही था। उसकी बुद्धि का विकास भी अन्य लोगो के समान हुआ था, एव उसकी रचनाओ मे भी विभिन्न कालो के विकास-क्रम द्वारा प्राप्त विभिन्न स्तर पाये जाते है। इस विकास की दिशा क्या थी ? इस प्रश्न का उत्तर विद्वानो ने यह दिया है कि उसने अपना विचारक और लेखक का जीवन अपने गुरु प्लातोन की प्रतिभा के जादू के प्रभाव की छाया मे आरम्भ किया, पर शनै शनै इस जादू का प्रभाव फीका पडता गया और अन्त मे जाकर उसने अपना पिड उस प्रभाव से पूर्णतया छुडा लिया और वह एक स्वतत्र विचारक बन गया। एक प्रकार से जो बात सॉक्रातेस और प्लातोन के सबध मे ठीक है वही प्लातोन और अरिस्तू के सबध मे भी सत्य है। किसी महान् व्यक्ति का प्रभाव जहाँ एक महान् प्रेरणा प्रदान करता है वहाँ चिरकाल तक हमारी श्रद्धा को भी बाँध रखना चाहता है। अतएव अरिस्तू को अपने गुरु के प्रभाव से मुक्त होने मे पर्याप्त समय लगा। तथापि यह नही कहा जा सकता कि वह पूर्णतया उस प्रभाव से मुक्त हो ही गया। बिल् डयूरैण्ट ने अपनी "ग्रीस का जीवन" (Life of Greece) नामक पुस्तक के ५२४ पृष्ठ पर लिखा है कि "उस (अरिस्तू) ने प्रत्येक मोड पर प्लातोन का खंडन किया है क्योकि वह अपनी रचनाओ के प्रत्येक पृष्ठ पर उसका ऋणी है।" इसी प्रकार

टेलर ने अपनी "अरिस्तू" नामक रचना के ९२ पृष्ठ पर चरितनायक की "पराविद्या' (मेताफीसिक्स) नामक कृति की आलोचना के अन्त मे यह बतलाया है कि यद्यपि इस ग्रथ के आरम्भ में अरिस्तू ने प्लातोन का खडन करने की प्रतिज्ञा की थी पर अन्त मे ईश्वर के स्वरूप का निर्धारण करते हुए उसको अपने गुरु की ही वाणी बोलनी पडी है। अस्तु, फिर भी दोनो के दृष्टिकोण मे पर्याप्त मतभेद है और यहाँ तक कहा जाता है कि दार्शनिक चिन्तन का समग्र क्षेत्र प्लातोन और अरिस्तू की विचार-पद्धतियो में बँटा हुआ है और जो कोई भी दार्शनिक चिन्तन की प्रवृत्ति रखता है वह या तो प्लातोन की पद्धति और दृष्टि को अपनाता है अथवा अरिस्तू की दृष्टि और पद्धति को।

अरिस्तू के दार्शनिक विचारों पर एक विहङ्गम-दृष्टि

जिस प्रकार भाषा का मुख व्याकरण है इसी प्रकार विचार का मुख तर्कशास्त्र है। सॉक्रातेस और प्लातोन ने जिस विचार-पद्धति का सूत्रपात किया था अरिस्तू ने उसको और परिष्कृत और व्यवस्थित करके एक नवीन शास्त्र का रूप दे दिया। उसने इसको "अनालीतिका" नाम दिया था, पर पश्चात्कालीन लेखको ने उसकी तर्कशास्त्र संबधी रचनाओ को "और्गानन्" नाम दिया। यूरोप मे यह ग्रथ २००० वर्ष तक तर्कशास्त्र की एकमेवाद्वितीय पाठ्य पुस्तक बना रहा। अरिस्तू के मत में ज्ञान का साधन ज्ञानेन्द्रियाँ है। इनसे जो प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है उसमे से एक ही प्रकार के प्रत्यक्षो से हमको जाति का ज्ञान होता है जो व्यक्ति या वस्तु नही होती। समग्र अनुभव को दस प्रकारो मे विभक्त किया गया है जो कैटैगरीज़ (कातागौरियाए) कहलाते है—(१) ऊसिया अथवा ती एस्ति = पदार्थ अथवा जो है, (२) पौसॉन् = कितना, मात्रा, (३) पौइयॉन् = कैसा, किस गुणवाला, (४) पौस् ति = सबध, (५) पू = कहाँ, स्थान, (६) पौतै = कब, समय, (७) कैइस्थाइ = स्थिति, (८) एखैइन् = अधिकार, रखना, (९) पौइऐइन् = कर्तृत्व, (१०) प्रोइस्टवैइन् = कर्मत्व।

प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान के आधार पर वाक्यो की रचना होती है। तर्क मे प्रयुक्त वाक्य प्रौतासिस् कहलाते है जो चार प्रकार के होते है—(१) सामान्य अथवा सार्विक, (२) विशेष, (३) विधिरूप, (४) निषेधरूप। इन वाक्यो मे कुछ परिभाषा-वाक्य होते हैं। अरिस्तू ने परिभाषा की परिभाषा को अत्यन्त परिष्कृत रूप प्रदान किया था। यदि किसी वस्तु की जाति (गैनॉस्) के कथन के साथ उस वस्तु

की उपजाति के भेदक गुण का कथन कर दिया जाय तो उस वस्तु की परिभाषा उपलब्ध हो जाती है। अनुमान-वाक्य को सिल्लौगिस्मस् कहते हैं। इसके तीन अवयव होते हैं, भारतीय अनुमान-वाक्य के समान पाँच अवयव नही होते। इसका उदाहरण है "सब मनुष्य मर्त्य है, सॉक्रातेस मनुष्य है, अतएव सॉक्रातेस मर्त्य है।" इस प्रकार का तर्क डिडक्टिव तर्क कहलाता है। पर अरिस्तू ने इण्डक्टिव तर्क का विवरण भी उपस्थित किया और व्यवहार मे भी उसका उपयोग किया है।

तर्कशास्त्र मे उसने हेत्वाभासो का भी वर्णन किया है और उनसे बचने के उपाय भी लिखे है और यह सब होते हुए स्वय अनेको हेत्वाभासो की सृष्टि भी की है। तथापि यह स्वीकार करना पडेगा कि वह विचार के नियमो और अनुमान की विधियो एव अन्य तार्किक पद्धतियो के आविष्कारक होने के नाते वैज्ञानिक पद्धति का जन्मदाता था एव उसने सर्वप्रथम वैज्ञानिक चिन्तन एव आविष्कार के निमित्त विद्वानो के सहयोग की प्रणाली का सूत्रपात किया।

अरिस्तू का तर्कशास्त्र और उसका अनुमान-वाक्य विचारो की व्याख्या और स्पष्टीकरण के सर्वोत्तम साधन है पर वे नवीन सत्य के आविष्कार के साधन नही है। नवीन आविष्कार के साधन के लिए पाश्चात्य जगत् के बेकन और गैलीलियो के समय तक प्रतीक्षा करनी पडी। फिर भी ईसाई धर्म और इस्लाम को अरिस्तू के तर्कशास्त्र से बहुत कुछ पथ-प्रदर्शन प्राप्त हुआ। स्वर्गीय म० म० डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण के मत में अरिस्तू के अनुमान का प्रभाव भारतीय अनुमान-वाक्य के विकास पर भी पडा है। यद्यपि उनके मत मे भारतीय न्याय दर्शन की उत्पत्ति अरिस्तू के समय से पूर्व हो चुकी थी पर भारतीय अनुमान-वाक्य आगे चलकर अरिस्तू के सिल्लौगिस्मस् के प्रभाव से विकसित हुआ। पर दोनो अनुमान-वाक्यो के अतर को देखते हुए यह मत समीचीन प्रतीत नही होता।

इस प्रकार वैज्ञानिक प्रक्रिया के मार्ग को प्रशस्त करके अरिस्तू ने विज्ञान के क्षेत्र में क्या सिद्धि प्राप्त की? यह प्रश्न स्वाभाविकतया पूछा जा सकता है। उस समय विज्ञान और दर्शन—साइन्स और फिलासफी—के क्षेत्र विभक्त नही हुए थे। अतएव अरिस्तू की विज्ञान सबधी गवेषणा की चर्चा भी उसके दार्शनिक विचारो के साथ करना अनुचित नही है। विज्ञान के क्षेत्र मे उसने खोज का सूत्र वहाँ से पकडा जहाँ देमौक्रीतस् ने उसको छोडा था। गणित के क्षेत्र मे अरिस्तू और उसके विद्यालय की रुचि और गति दोनों ही अधिक नहीं थीं। इस दिशा मे प्लातोन की अकादेमी

अधिक आगे बढी हुई थी। गणित के विषय मे अरिस्तू ने केवल प्रारम्भिक सिद्धान्तो की चर्चा की है। भौतिकी पर उसने एक बडे ग्रथ की रचना अवश्य की है पर इसमे उसने पदार्थ, मैटर, गति, स्थान, समय, सातत्य, असीम, भूमा, परिवर्तन, अन्त (उद्देश्य) इत्यादि शब्दो की स्पष्ट परिभाषाएँ निश्चित करने का प्रयत्न अपेक्षाकृत अधिक किया है। उसको स्थिति, गुरुत्वाकर्षण, गति, गतिवृद्धि, इत्यादि की समस्याओ का भान था पर वह इनका हल प्रस्तुत करने मे असफल रहा। वेग के समानान्तर चतुर्भुज का भी उसको कुछ आभास था। लीवर (टेक) सबधी नियम को उसने स्पष्ट वर्णित किया है।

चन्द्रग्रहण के निरीक्षण के आधार पर उसने यह निर्णय किया था कि आकाशीय पिण्ड—और पृथ्वी तो निश्चय ही—गोलाकार है। उसको यह भी पता था कि पृथ्वी की आयु विशाल है और इस पर अनेको युग-परिवर्तन हो चुके है। उसकी यह भी धारणा थी कि प्राय सभी कलाएँ और विज्ञान बार बार पूर्णता को पहुँचकर विनष्ट हो चुके है। भौमिक परिवर्तन का मुख्य कारण उसकी सम्मति मे ताप है। इसी प्रकार उसने मेघ, कुहरे, ओस, पाले, वर्षा, हिम, ओले, वायु, मेघ-गर्जन, बिजली, इन्द्रधनुप और उल्का इत्यादि अनेको भौतिक तथ्यो की व्याख्या का प्रयत्न किया है। यद्यपि आज के ज्ञान की दृष्टि से उसकी व्याख्याएँ विकट एव परिहास योग्य प्रतीत होती है तथापि उसकी विशेषता यह है कि उसने प्राकृतिक तथ्यो की व्याख्या प्राकृतिक हेतुओ से ही करने का प्रयत्न किया। किसी अति-प्राकृतिक हेतु को उसने स्वीकार नही किया है।

यह पहले कहा जा चुका है कि अपनी कुलक्रमागत शिक्षा के कारण अरिस्तू का झुकाव जीव-विज्ञान की ओर अधिक था। इस क्षेत्र मे उसने बहुत अधिक श्रम और खोज की थी। अपने सम्राट् शिष्य की आर्थिक सहायता, एव अन्य शिष्यो और सहयोगियो की व्यक्तिगत वैज्ञानिक सहायता से उसने ऐगियन् सागर के तटवर्ती प्रदेशो के पशु-पक्षियो एव लता-वृक्षो के सबध मे असख्य तथ्यो और नमूनो को एकत्रित किया। अलैक्जाण्डर की अपने बहेलियो, शिकारियो और मछुओ को यह आज्ञा थी कि अरिस्तू को जिस पदार्थ अथवा जीव के नमूनो की अथवा जानकारी की आवश्यकता हो वह उसको दी जाय। अरिस्तू का दृष्टिकोण इस प्रकार सतुलित था कि वह तथ्यो की विलक्षण विविधता और उनमे निहित आधारभूत नियम दोनो ही के पीछे समान रूप से पागल था। दोनो में से किसी की भी उपेक्षा करना उसको अभीष्ट

नही था। उसका विचार था कि सभी प्राकृतिक पदार्थों मे चमत्कारपूर्णता उपलब्ध होती है, अतएव जो निम्न कोटि के जीवो की उपेक्षा करता है वह स्वय अपनी उपेक्षा करता है।

जीवो को उसने सरक्त और अरक्त दो कोटियो मे बॉटा जो यद्यपि हमारे आज के मेरुदण्डवाले और बिना मेरुदण्डवाले जीव-विभाग से बिलकुल तो नही मिलता पर लगभग वैसा ही विभाजन माना जा सकता है। उसने प्राणियो के इन्द्रिय-संस्थानो का और प्रवृत्तियो का भी विस्तृत वर्णन किया है। पशु, पक्षी, मछली इत्यादि के विषय मे उनके रहने के स्थान, गर्भाधान के समय, स्थानान्तरगमन, उनके रोग इत्यादि सभी सभव तथ्यो का विवेचन किया है। उसने यह भी लिखा है कि कुछ नर प्राणी भी दूध देते है। प्रजनन-प्रक्रिया का उसने बडा सूक्ष्म अध्ययन किया था क्योकि इसी के द्वारा प्रकृति व्यक्तियो का सहार और जातियो का सरक्षण करती है। इस प्रजनन-विज्ञान के क्षेत्र मे १८वी शताब्दी के अन्त तक अरिस्तू की समता करनेवाला कोई अन्य वैज्ञानिक यूरोप मे नही हुआ। प्राणियो की प्रवृत्तियो के दो केन्द्र है भोजन करना और प्रजनन करना। सन्तान का लिंग क्या होगा इसके विषय में भी उसने विचार किया था। उसने जुडवॉं मानव सन्तानो के तथ्य का भी अध्ययन किया था और उसने बतलाया है कि अधिक से अधिक पाँच शिशुओ के एक साथ जन्म का उल्लेख इतिहास मे मिलता है। एक ऐसी माता का भी उल्लेख उसने किया है जिसने चार बार में २० बच्चो को उत्पन्न किया था। संभवतया उसको हमारे पौराणिक ४९ मरुद्गणो का पता नही था।

गर्भाधान और डिम्ब के विकास के सबध मे भी उसने बहुत कुछ लिखा है। मुर्गी के अण्डे मे चूजे का विकास-क्रम उसने एक प्रयोग द्वारा अत्यन्त रोचक प्रकार से वर्णन किया है। इसी के सादृश्य पर उसने मानवीय गर्भ के विकास का भी वर्णन प्रस्तुत किया है। उसको जीवो के अग-सादृश्य के आधार पर समग्र प्राणिजगत् की एकता का भान था। एकाध स्थल पर तो वह आधुनिक विकासवाद के अत्यन्त समीप पहुँचा जैसा प्रतीत होता है। उसका कहना था कि प्रकृति के सतत विकास मे कही स्पष्ट सीमाएँ नही बनी है। जड जगत् से वनस्पति जगत्, वनस्पति जगत् से प्राणि जगत् और प्राणि जगत् से मानव जगत् मे क्रमश परिवर्तन थोडा थोडा करके होता गया है। वह वानर अथवा वनमानुष को प्राणियो और मनुष्यो की मध्यवर्ती कडी मानता है। पर यह जो उत्क्रान्तिक्रम प्रकृति मे दृष्टिगोचर हो रहा है इसकी प्रेरणा

कही बाहर से नही किन्तु सर्वत्र एक आन्तरिक उद्देश्य की सत्ता मे मिल रही है जिसको अरिस्तू ने "ऐन्तैलैखी" कहा है।

यह तो नितान्त स्वाभाविक है कि अरिस्तू ने इस क्षेत्र मे बहुत सी विचित्र भूले भी की है। इन भूलो मे से कुछ उसके शिष्यो एव सहयोगियो की भूलें भी हो सकती है। उसका "पशुओ का इतिहास" नामक ग्रथ जहाँ एक ओर अरिस्तू के समय की दृष्टि से महान् वैज्ञानिक प्रगति का परिचायक है वहाँ आजकल की वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टि से भूलो का भडार भी है। क्योकि उस समय मानव-शरीर की चीरफाड को धार्मिक दृष्टि से गर्हणीय समझा जाता था अतएव मानव-शरीर की आन्तरिक गठन का उसका ज्ञान पशुओ की शारीरिक गठन के ज्ञान की अपेक्षा हीन कोटि का था। इसी कारण उसने कहा है कि मनुष्य की पसलियो की सख्या आठ है ; स्त्रियो के दाँत सख्या में पुरुषो के दाँतो से कम होते हैं , चेतना का स्थान मस्तिष्क नही हृदय है ; हृदय की धडकन का रोग मनुष्यो को ही होता है। पशुओ के विषय मे उसके कुछ भ्रान्त विचारों का नमूना यह है —चूहे ग्रीष्म ऋतु मे पानी पीने पर मर जाते है ; हाथियो को केवल दो रोग होते हैं--सरदी और अफरा। फिर भी बहुत सी बातो मे इस दिशा मे मनुष्य ने अभी हाल में ही अरिस्तू से आगे कुछ ज्ञान प्राप्त कर पाया है।

अरिस्तू की जिस रचना को आज "पराविद्या" (मेताफीसिक्स) नाम दिया जाता है अरिस्तू उसको प्रथम दर्शनशास्त्र (प्रोते फिलौसोफिया) अथवा देवविद्या (हे थियौलौगिके) कहता था। इसका विषय है मानव-विवेक की पहुँच की सीमा तक वास्तविक जगत् के मूल मे निहित कारणो और सिद्धान्तो की खोज करना। यही विद्या सर्वश्रेष्ठ विद्या है। शेष सब विद्याएँ मानवीय ज्ञान के विशेष विभागो से सबध रखती है अतएव एकदेशीय है परन्तु पराविद्या समग्र मानव के समूचे ज्ञानक्षेत्र को अपनाती है अतएव उसका महत्त्व अद्वितीय है। फिर अन्य सब विज्ञान कुछ आधारभूत सिद्धान्तो को मानकर उनके ऊपर अपना निर्माण करते है, जैसे भौतिकी गति के अस्तित्व को स्वीकार करके अपना कार्य आरभ करती है। परन्तु यह विज्ञान इन सिद्धान्तो की तथ्यता अथवा असत्यता के विषय मे कुछ विचार नही कर सकते। पराविद्या इन आधारभूत सिद्धान्तो का भी परीक्षण और स्थापन करती है। मुख्यतया पराविद्या मे (१) आदिकारणो, (२) सत्ता-तत्त्व एव (३) उस नित्य अशरीरी और गतिशून्य, का अनुसन्धान किया गया है जो जगत् की सब गतियो और आकृतियो का कारण है।

सत्ता के अनुसन्धान मे अरिस्तू ने पदार्थ को प्रधानता दी है। यह पदार्थ उसके मत मे पूर्णतया व्यक्तिगत तत्त्व है तथा यह सर्वदा उद्देश्य हो सकता है विधेय नही हो सकता। पदार्थ अपने सत्ताकाल में परिवर्तनो के होते रहने पर भी एकरूप रहता है। प्रश्न हो सकता है कि इस पदार्थ के विश्लेषण करने पर इसके घटक तत्त्वो के रूप मे हमको किन तत्त्वो की उपलब्धि हो सकती है तथा इसके विश्लेषण से इसका जो स्वरूप अथवा लक्षण हमको उपलब्ध होता है वह इसको किस प्रकार प्राप्त होता है ? उदाहरण के लिये किसी पदार्थ को ले सकते है, चाहे वह मनुष्य के द्वारा निर्मित हो चाहे प्रकृति द्वारा—जैसे एक ग्लास अथवा घोडा। प्रत्येक पदार्थ (ऊसिया) किसी भौतिक तत्त्व से निर्मित होता है तथा उसका कोई आकार होता है। जिस भौतिक तत्त्व से कोई पदार्थ बना होता है उसको अरिस्तू ने ही(ह्यु) ले(भौतिक तत्त्व, मैटर) कहा है। इस शब्द का अर्थ लकडी अथवा काष्ठ भी है। पदार्थ के रूप मे अथवा आकार के लिए अरिस्तू ने अइदॉस् (फॉर्म) शब्द का प्रयोग किया है। यह "मैटर" और फॉर्म का भेद ऐसा नही है जिसको हम किसी पदार्थ मे एक दूसरे से पृथक् करके देख सके , हाँ, बुद्धि के द्वारा हम उसका विवेक कर सकते है। अरिस्तू ने इस विश्लेषण को केवल मूर्त्त पदार्थों तक ही सीमित नही रखा है। उसने इसका विस्तार करके मानव-चरित्र जैसे अमूर्त्त तत्त्व के लिए भी इसको लागू किया है। एक सीमा तक इस विश्लेषण की तुलना हम साख्य दर्शन के प्रकृति-विकृति सबध से कर सकते है। पर अरिस्तू साख्य की मूल-प्रकृति को स्वीकार करने से हिचकिचाता है। अतएव वह वास्तविकता मे प्रकृति के मूलरूप चार तत्त्वो—पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि—को ही मानता है। यद्यपि उसका तर्क इन तत्त्वों को भी इनसे परे किसी सरलतर तत्त्व की विकृतियाँ मानने को विवश करता है तथापि वह किसी ऐसे तत्त्व की सत्ता को स्वीकार नही करना चाहता जो विकृति (विशेष आकृति) से सर्वथा शून्य हो।

किसी भी पदार्थ में प्रकृति और आकृति—मैटर और फॉर्म—का सबध कोई स्थिर अथवा स्थायी सबध नही है। प्रत्येक विकृति आगे विकसित होनेवाली विकृति (विशेष आकृति) के लिए प्रकृति हो जाती है। उदाहरण के लिए टकसाल मे जिस धातु के सिक्के बनने है वह प्रकृति अथवा मैटर कहलायेगी। पहले यह धातु छोटे गोल खडो मे विभक्त की जायगी। इन खडो की धातु इनकी प्रकृति होगी और इनकी मोटाई और गोलाई इनकी आकृति विशेष। अब इन्ही खडो मे ठप्पे के द्वारा मूर्त्ति और अन्य चिन्ह अकित किये जायँगे। इस प्रकार जो परिपूर्णता को पहुँचे

हुए सिक्के तैयार होगे उनकी दृष्टि से उनका पहले का गोल खडो वाला रूप उनकी प्रकृति था और उन पर अब अकित किये हुए चिन्ह उनकी आकृति—फॉर्म । इसी प्रकार रुई अथवा ऊन से लेकर सूट की निर्मिति तक अनेको प्रकृति-विकृतियो का सिलसिला होना सभव है । वनस्पति-जगत्, जीव-जगत् और मानव-जगत् मे भी यही प्रकृति-विकृति का सिलसिला चला करता है । वट-कणिका अकुरित होकर पादप का रूप ग्रहण करती है, पौदा बढकर फलच्छायासमन्वित महान् वट वृक्ष बन जाता है । जीव-जगत् मे भी छोटा शिशु युवा बनता है अथवा अडे मे से बच्चा निकलता है और कालान्तर मे पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है । इसी प्रकार का विकास क्रम मानव जगत् मे भी दृष्टिगोचर होता है । पर यह विकास-क्रम तभी तक चलता है जब तक प्रारभ की सभावना पूर्णतया अर्थवती नही हो जाती । वट-कणिका से पादप और उससे पूर्ण विकसित वट वृक्ष बस इससे आगे यह क्रम नही जाता । इसका आशय यह है कि वट-कणिका मे जो सभावना अर्थवती होने के लिए निहित थी उसकी क्षमता पूर्ण वट वृक्ष के रूप तक पहुँचने की थी । इसके उपरान्त वह स्वय वट कणिकाओ को उत्पन्न करने लगती है । यही बात अन्य क्षेत्रो मे भी चरितार्थ होती है । अरिस्तू ने सभावना को "दीनामिस्" और उसकी पूर्णता-प्राप्ति को "एनर्गेइया" कहा है ।

जगत् मे जो परिवर्त्तन चलता रहता है—वह चाहे प्रकृति-कृत हो चाहे मानव कृत—उसकी व्याख्या करने के लिए अरिस्तू ने अपना चार प्रकार के कारणो का सिद्धान्त निर्धारित किया । "किं कारणम् ?" यह प्रश्न अत्यन्त पुराना है । उपनिषदो की भाँति यह प्रश्न प्राचीन यूनानी दार्शनिको ने भी पूछा था और इसके विविध प्रकार के उत्तर दिये थे । अरिस्तू का विश्वास था कि इस जटिल प्रश्न का उत्तर यदि किसी ने सन्तोषप्रद प्रकार से दिया तो स्वय उसने ही । कारण के लिए ग्रीक भाषा मे "अइतिया" शब्द आता है । इसका अर्थ हेतु और निमित्त भी होता है । चार प्रकार के कारण अरिस्तू ने इस प्रकार गिनाये है—(१) मैटीरियल कॉज=समवायी कारण (तौ एक्ष् हू) वह पदार्थ जिससे कोई वस्तु निर्मित होती है, (२) फॉर्मल कॉज़ अर्थात् वह नियम जिसके अनुसार कोई वस्तु विकसित या निर्मित हुई है, (३) कर्ता अथवा वह शक्ति (एजेण्ट) जो परिवर्तन को गति प्रदान करता है (तौ हौथेन्) (जिसको एफीशिएण्ट कॉज कहा गया है), और (४) परम अथवा चरम कारण फाइनल कॉज़ जो इस समग्र प्रक्रिया का परिनिष्ठित परिणाम है (तौ हू हैनैका=जिसके लिये जो) । यह चार प्रकार के कारण प्राकृतिक और मानव दोनो

ही स्तरो पर निरन्तर काम करते रहते है। प्राकृतिक जगत् से यदि वट वृक्ष का उदाहरण ले तो वट-कणिका प्रथम कारण, वट के विकास का नियम द्वितीय कारण, जिस वट वृक्ष की कणिका से यह नया वृक्ष उगा वह तृतीय कारण और चरम विकास—अर्थात् उस अवस्था की प्राप्ति जब कि यह वट भी वट-कणिकाओ को उत्पन्न करने लगे तथा जिसके लिए यह सब प्रक्रिया चलती है—चतुर्थ कारण है। मानव जगत् मे कुम्हार के द्वारा बने हुए घट को उदाहरण-स्वरूप ले सकते है। इस प्रसग मे मिट्टी प्रथम कारण है, घट की विशिष्ट आकृति अथवा घट-निर्माण का नियम दूसरा कारण है, कुम्भकार जिसकी चेष्टा से घट बना तीसरा कारण है और वह उद्देश्य अथवा निमित्त जो घट के निर्माण से सिद्ध होता है, जिसके लिये घट बना वह चौथा कारण है। कही कही अरिस्तू ने "एफीशिएण्ट कॉज" के अन्तर्गत गीता के पचहेतुवाद के दैव अथवा यदृच्छा को भी गिनाया है। किसी समवायी कारण से कर्ता के द्वारा किसी अन्य वस्तु के निर्माण की प्रक्रिया मे गति (किनेसिस्) की आवश्यकता होती है। अरिस्तू के मत मे कार्य की उत्पत्ति के लिए समवायी कारण मे गति होना अनिवार्य है, कर्ता मे उसका होना सभव नही। कर्ता के लिये तो समवायी कारण मे गति को प्रेरित करना भर पर्याप्त है। सभी सकल्पित कार्यो मे मूलभूत निमित्त कारण तो कर्ता का सकल्पित उद्देश्य अथवा विचार होता है और यह विचार तो स्वय गतिमान होता नही। गतिरहित निमित्त कारण का पदार्थो मे गति को प्रेरणा देना अरिस्तू के धर्मदर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। अरिस्तू गति के अनको प्रकार मानता है जैसे (१) सभूति, (२) विनाश, (३) अन्यथाकरण, (४) वृद्धि, (५) हानि, (६) देशान्तरीकरण—(क) सरल, (ख) वर्त्तुल—इत्यादि। इसके अतिरिक्त वह गति को सतत और शाश्वत मानता है और इसी प्रकार सृष्टि को भी शाश्वत स्वीकार करता है।

गति-सातत्य के लिए गति को नित्य प्रेरणा देनेवाले तत्त्व एव ऐसे नित्य पदार्थ की आवश्यकता है जिसमे नित्य गति की सत्ता बनी रह सके। जिस पदार्थ मे नित्य गति की सत्ता रहती है मैटर है , इसी नित्यगति से मैटर मे उत्तरोत्तर विशिष्ट आकारो का प्रादुर्भाव हुआ करता है। तथा जो तत्त्व इस गति को प्रेरणा देता है वह है देव (थियौस्) अथवा ईश्वर। यही अप्रेरित आद्य प्रेरक है (हो ऊ किनूमेनॉन् किनेइ)। अरिस्तू ने मेताफीसिक्स की १२वी पुस्तक मे ईश्वर के स्वरूप का जो निरूपण किया है उसमे उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द तथा नित्यत्व आदि लक्षण तो मिलते है पर मुख्य भेद यह है कि अरिस्तू का ईश्वर जगत मे व्याप्त नही है, वह ससार

के ससरण अथवा प्रक्रिया से परे और नितान्त निर्लिप्त है। उसकी उत्कृष्ट सत्तामात्र में वह कमनीयता है कि (मैटीरियल=) भौतिक जगत् उससे प्रेरणा ग्रहण करके गतिमान बना रहता है और उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होता जाता है। पर ईश्वर शुद्ध सनातन तत्त्व है जिसका न इतिहास है न विकास। उसमें भौतिकता का लेश भी नही है। उसकी सत्ता जगत् के अस्तित्व के लिए अपरिहार्य है। प्रश्न हो सकता है कि यह ईश्वर, जो पूर्णतया निरजन है, क्या निष्क्रिय भी है? अरिस्तू का ईश्वर शुद्ध क्रिया है पर ऐसी क्रिया जो गतिरहित है। ईश्वर की क्रिया शुद्ध चिन्तन-स्वरूप है और इस चिन्तन का विषय वह स्वय अपने आप है। वह स्वय चिन्तन करता है और उसका चिन्तन चिन्तन के विषय मे है। क्योकि इस चिन्तन-क्रिया में किसी प्रकार की विघ्न-बाधा नही है अतएव यह निरन्तर चलनेवाला चिन्तन नित्य आनन्द से समन्वित रहता है। ईश्वर स्वय जगत् के विषय में निश्चिन्त ही नही बेसुध है पर उसकी सत्ता भौतिक जगत् में एक लालसा अथवा क्षुधा को जगाकर उसको निरन्तर गतिमान बनाये रहती है। जिस प्रकार ससार के अच्छे पदार्थ स्वय स्थिर रहते हुए भी दूसरो को अपनी अच्छाई से प्रेरित करके गतिमान करते है इसी प्रकार ईश्वर भी, जो कि सर्वोत्तम, शाश्वत, आनन्दमय सजीव चिन्मय सत्ता है, सारे विश्व को कितनी प्रबल प्रेरणा दे सकता है यह कल्पना से परे की बात है।

पर जिस १२वी पुस्तक में ईश्वर की उपर्युक्त उदात्त सत्ता का विवरण मिलता है वही लगभग खगोलो के समधिक ५० अन्य स्वतत्र प्रेरको का भी वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इन प्रेरको का और आद्य प्रेरक का परस्पर कोई सबध है भी या नही, इसकी चर्चा कही नही मिलती। जर्मन विद्वान् याएगर के मत में उपर्युक्त दो विभिन्न सिद्धान्त अरिस्तू के जीवन के विभिन्न समयो से सबध रखते हैं। इतना तो स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनो विचारो मे समन्वय करने का प्रयत्न नही किया गया। मध्यकालीन जिन ईसाई सन्त दार्शनिको ने अरिस्तू की देवविद्या को अपने धर्मशास्त्र का आधार बनाया उनको ईसाई ईश्वर और अरिस्तू के ईश्वर में समन्वय स्थापित करने में बडी कठिनाई का सामना करना पडा और फिर भी वे इस कार्य में पूर्णतया कृतकार्य नही हो सके।

अरिस्तू ने अपनी पराविद्या का आरभ अपने गुरु के सिद्धान्तो का खडन करने के लिये किया था। प्लातोन ने जो परिदृश्यमान जगत् से परे आकृति जगत् (World ideas) की सत्ता का प्रतिपादन किया था वह अरिस्तू को मान्य नही था। पर उसने जो ईश्वर के स्वरूप का निरूपण किया है उसके अनुसार वह शुद्ध आकृति

(Idea) के अतिरिक्त और कुछ नही ठहरता क्योकि उसमे भौतिकता का तो लेशमात्र भी नही है।

समग्र दार्शनिक-चिन्तन और ज्ञानप्राप्ति का उद्देश्य है मानव-जीवन की उन्नति—मनुष्य के सुख की वृद्धि। अतएव अरिस्तू ने मानव-जीवन के व्यावहारिक समुत्थान के विषय मे भी विस्तार से विचार किया एव सदाचार-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र में अनेको ग्रथो की रचना की। मनुष्य के कार्यों को अरिस्तू ने दो दृष्टिकोणो से देखा है—(१) व्यक्ति के कार्यों की दृष्टि से और (२) नागरिक समाज के सदस्य की दृष्टि से। पर यह तो दृष्टिकोण का भेद है और यह भेद मनुष्य के कार्यों को समझने की दृष्टि से किया गया है। व्यक्ति के कार्यों की नीति का विवेचन सदाचार-शास्त्र (ऐथिक्स) मे किया गया है और मानव के नागरिक रूप और तत्सबधी नागरिक व्यवस्था का विवेचन राजनीतिशास्त्र (पौलिटिक्स) मे किया गया है। पर उपर्युक्त दोनो विवेचन और दोनो ग्रथ एक दूसरे से बिलकुल पृथक् और अछूते हो, ऐसी बात नही है। दोनो ग्रथो मे बहुधा एक दूसरे की ओर सकेत किया गया है।

व्यावहारिक जगत् मे सर्वश्रेष्ठ कला राजनीति है क्योकि यह अपने उद्देश्यो की सिद्धि के लिए अन्य सब कलाओ द्वारा प्रस्तुत वस्तुओ का उपयोग करती है। अन्य सब कलाओ के लिए मार्ग-निर्देश भी राजनीति से ही प्राप्त होता है। पर राजनीति की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शाखा आचारशास्त्र है जिसमे नगर के प्रत्येक व्यक्ति के लिये श्रेष्ठ जीवन की खोज की जाती है। जहाँ तक श्रेष्ठ जीवन के सामान्य लक्षण का सबध है इसके विषय मे अरिस्तू और उसका गुरु प्लातोन दोनो का एक मत था कि सुखी जीवन श्रेष्ठ जीवन है। मानव के लिए सुखी जीवन की तीन शर्तें प्लातोन ने निर्धारित की थी—(१) ऐसा जीवन स्वत वाछनीय होना चाहिये, (२) स्वत पर्याप्त होना चाहिये और (३) एव बुद्धिमान् मनुष्य की दृष्टि मे अन्य सब प्रकार के जीवनो से वरेण्य होना चाहिये। इन तीन शर्तों को पूरा करनेवाले जीवन का लक्षण बतलाने के पूर्व हमको मनुष्य की वृत्ति को भी जान लेना आवश्यक है। किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति की वृत्ति से तात्पर्य उस विशेष कर्म से है जिसको वह वस्तु या व्यक्ति ही कर सकता है। जैसे नेत्र की वृत्ति देखना है। इसी प्रकार मनुष्य की वृत्ति जीवन का वह विशिष्ट प्रकार होगा जो मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी का—ईश्वर अथवा मनष्येतर प्राणी का—भागधेय नही है। इन सब बातो पर विचार करके

अरिस्तू इस निर्णय पर पहुँचता है कि मनुष्य के लिए सुखी जीवन वह होगा जो सक्रिय हो और परिपूर्णतया श्रेष्ठ अच्छाई के अनुसार व्यतीत किया गया हो। इस प्रकार के जीवन के लिए कुछ भौतिक सुविधाओ का सौभाग्य भी आवश्यक होता है। मित्रो का साहचर्य, पर्याप्त धन-सम्पत्ति और स्वास्थ्य यह सुखी जीवन के बाह्य साधन है।

सुखी जीवन श्रेष्ठ भलाई अथवा अच्छाई के अनुसार व्यतीत किया गया जीवन है। अतएव यह प्रश्न उठता है कि श्रेष्ठ भलाई क्या है। भलाई दो प्रकार की होती है, एक बुद्धि की भलाई और दूसरी चरित्र की भलाई। बुद्धि की भलाई अथवा सद्-बुद्धि हमको यह बतलाती है कि सुखी जीवन का नियम क्या है और चरित्र की भलाई अथवा सच्चरित्रता हमको उस नियम के अनुसार आचरण करने मे समर्थ बनाती है। इन दोनो की ही सहायता से मनुष्य आचारवान् मनुष्य बनता है। मनुष्य की शिक्षा मे सदनुशासन द्वारा चरित्र की भलाई बुद्धि की भलाई की अपेक्षा पहले सिखाई जानी चाहिए। जब हम मनोवेग एव कामनाओ आदि सहज प्रवृत्तियो पर सयम रखना सीख लेते है तब हमारी बद्धि को वह सौम्यावस्था प्राप्त होती है जिससे हम जीवन के सन्नियमो को समझ सकते है। सच्चरित्रता की उपलब्धि सत्कर्मो को बारबार करने से प्राप्त होती है।

सच्चरित्रता के लिए सत्कर्म का लक्षण जानना आवश्यक है। अरिस्तू ने सच्चरित्रता और सत्कर्म का निर्णय करने के लिये मध्यममार्ग (मैसॉतेस्) का निरूपण किया है। सच्चरित्रता हमारी सकल्पशक्ति की वह व्यवस्था है जो हमारे व्यक्तित्व की अपेक्षा मे मध्यममार्ग का अनुसरण करती है और मध्यममार्ग का निर्धारण विवेक द्वारा उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार कोई समझदार कर सकता है। इसका उदाहरण देने के लिये अरिस्तू ने अनेको सहज मानवीय प्रवृत्तियो का विवरण उपस्थित किया है। अपने विषय मे दूसरो को सूचना देना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है, इस आत्मप्रकाशन के तीन प्रकार हो सकते है—(१) गर्वोक्तियो द्वारा अपने को वास्तविकता से बढकर बतलाना, (२) आत्मावसादन द्वारा अपने को वास्तविकता से हीन बतलाना और (३) अपने विषय मे यथार्थ तथ्य कहना। इस प्रसग (१) और (२) मे अति का आश्रय लिया गया है और (३) मे मध्यममार्ग का। इसी प्रकार साहस, उदारता, सयम, सत्यपरायणता, स्वाभिमान इत्यादि सद्गुण, सत्कर्म अथवा सच्चरित्रता के अग दो अतिशयो के मध्यवर्ती गुण है। इस मध्यममार्ग को अपने सबध मे जानकर

उसका अनुसरण करना सच्चरित्रता है। इसके लिये (जैसा कि ऊपर कह आये हैं) सद्बुद्धि और सदाचरण के अभ्यास की आवश्यकता होती है। अरिस्तू को मनुष्य की इच्छा (सकल्प)-शक्ति की स्वतत्रता का सिद्धान्त मान्य है और वह मनुष्य को उसके कार्यों के लिये उत्तरदायी मानता है। उसके मत मे व्यावहारिक बुद्धिमत्ता का लक्षण है मानव के लिए श्रेष्ठ जीवन के सामान्य स्वरूप को जानते हुए उसके प्रकाश मे उन कार्यो को करना जो वास्तव मे मनुष्य के लिये भले हो।

पर सबसे अन्त मे अरिस्तू चिन्तन और मननपूर्ण जीवन को सर्वोच्च स्थान देता है। नागरिक जीवन के सब कार्य और सारी व्यवस्थाएँ है अवकाश की उपलब्धि के लिए। अवकाश-काल मे मनुष्य भौतिक जीवन के बाधा-बधनो से मुक्त होकर आत्मतत्रता की स्थिति को प्राप्त करता है। इसका उपयोग मनुष्य आत्मचिन्तन, ज्ञानचिन्तन और कलाचिन्तन मे करके मानवीय सीमाओ के भीतर ईश्वरीय अनुभव प्राप्त करता है। जो सुख ईश्वर को स्वत निरय उपलब्ध है उसको मनुष्य अवकाश के चिन्तनमय क्षणो मे उपभोग करके मानव के विकास के चरम शिखर पर आरूढ़ हो पाता है। अरिस्तू के मत मे इस प्रकार का जीवन मानव-जीवन मे निहित दिव्य-जीवन का अनुसरण करता है और इसके अनुसरण से मनुष्य को यथाशक्ति अपने को अमर बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार प्लातोन की प्रतिध्वनि अरिस्तू के चिन्तन मे पुन पुन हठात् फूट पडती हे।

सदाचार-शास्त्र के पूरक राजनीति-शास्त्र, गृह-प्रबन्ध-शास्त्र एव अथेन्स के सविधान में अरिस्तू ने अपने राजनीति और अर्थनीति सबधी विचारो को व्यक्त किया है। इस विषय पर हम अगले प्रकरण मे पृथक् से विचार करेगे। इस प्रकरण के शेष भाग मे काव्य-कला और भाषण-कला के सबध मे अरिस्तू के विचारो का अत्यन्त सक्षिप्त परिचय देकर इसको समाप्त करेगे।

अरिस्तू की राजनीति सबधी रचनाओ को पढने से पता चलता है कि यूनानी लोग पर्याप्त राजनीतिक चेतना से युक्त और व्यवहारप्रवण (मुकदमेबाज) थे। सॉक्रातेस से कुछ समय पहले से ही सौफिस्त नामक विदेशी आचार्य लोग अथेन्सवासियो को भाषण-कला एव श्रोताओ के विचारो के नेतृत्व करने की कला की शिक्षा देने लगे थे। इतना ही नही इस विषय पर कुछ पुस्तके भी लिखी जा चुकी थी। इसॉक्रातेस् का विद्यालय तो विशेष रूप से इसी कला की शिक्षा देता था। अरिस्तू की "रेतौरिका" नामक पुस्तक की विशेषता यह है कि पूर्ववर्ती लेखको की अपेक्षा उसने भाषण मे युक्ति-

युक्तता को अधिक महत्त्व प्रदान किया है जब कि पूर्ववर्ती विद्वानो ने श्रोताओ की भावुकता और मनोवेगो को उत्तेजित करने पर अधिक बल दिया था। अरिस्तू के अनुसार रेतौरिक मनुष्यो को किसी भी विषय पर अपने अनुकूल बनाने के सभव उपायो को देख पाने की शक्ति है। मनुष्यो को मना लेने के दो उपाय है–(१) बिना विशेष अध्ययन के साक्षियो, यत्रणा अथवा लिखित प्रमाणो द्वारा तथा (२) वक्ता के विशेषाध्ययन इत्यादि से प्रस्तुत भाषण द्वारा। इस द्वितीय के तीन प्रकार है—(१) वक्ता के चरित्र अथवा व्यक्तित्व से सबध रखनेवाला प्रकार, (२) श्रोताओ मे मनोवेगो को भडकानेवाला प्रकार और (३) केवल युक्तियो के बल पर उपपत्ति अथवा उसके आभास को उत्पन्न करनेवाला। युक्तियाँ भी दो प्रकार की होती हैं—विशेष और सामान्य।

भाषण-कला के तीन भेद है–(१) परामर्शदाता की वक्तृत्व कला किसी भावी कार्य-पद्धति की भलाई-बुराई को प्रदर्शित करती है, (२) समर्थक की वक्तृत्व-कला किसी भूतकालिक कर्म की वैधता अथवा अवैधता को सिद्ध करती है और (३) प्रदर्शनात्मक वक्तृत्व-कला किसी विद्यमान वस्तु अथवा व्यक्ति की उत्तमता अथवा नीचता को प्रदर्शित करती है। इसके अतिरिक्त अरिस्तू ने यह भी बतलाया है कि (क) राजनीतिक भाषणो मे, (ख) घोषणात्मक व्याख्यानो मे तथा (ग) न्याया-लयो की वक्तृताओ में किस प्रकार की युक्तियाँ उचित और उपयोगी होती है। "रेतौरिका" की अन्तिम पुस्तक मे अरिस्तू ने शैली का विस्तृत विवेचन किया है एव (१) स्पष्टता अथवा प्रसादगुण और (२) औचित्य, यह दो शैली के विशेष गुण माने है। इन गुणो की उपलब्धि के उपायो की चर्चा भी की गई है। भाषण की गद्यशैली मे प्रच्छन्न भाव से लय का भी उपयोग किया जाना चाहिये।

अरिस्तू के पूर्ववर्ती लेखको ने भाषण को अनेको भागो में विभक्त करने की योजनाएँ प्रस्तुत की थी। अरिस्तू ने इनका परिहास किया है। उसके मत मे किसी भी भाषण के केवल दो ही अग हो सकते हैं—(१) अपने पक्ष का कथन और (२) उसका उपपत्तिपूर्वक प्रतिपादन। इसके विपरीत इसॉक्रातेस् ने भाषण के चार अग गिनाये थे—(१) भूमिका, (२) अपने पक्ष का कथन, (३) उपपत्ति और (४) समा-रोप। अरिस्तू इन चार अगो को तो यथाकथचित् स्वीकार कर लेने को तैयार था पर इससे अधिक अगविभाग उसको कदापि मान्य नही था। प्राचीन काल मे इस विद्या का अधिक मान था पर आजकल इसकी उतनी प्रतिष्ठा

नही रही है। हाँ, हाल ही मे अमेरिका मे इसके प्रति आस्था का पुनरुत्थान घटित हुआ है।

अरिस्तू का काव्यशास्त्र (पैरी पोइतिकेस्) आकार मे अत्यन्त छोटी किन्तु महत्त्व मे अत्यन्त गौरवशाली पुस्तक है। इसका नामार्थ है काव्यरचना अथवा केवल रचनाशास्त्र। इस पुस्तक का यूरोप के साहित्य पर बडा गहरा प्रभाव पडा। इटली, फ्रास और स्पेन की नाट्य-रचनाओ का नियत्रण इस ग्रथ के द्वारा सुदीर्घ काल तक होता रहा। अरिस्तू ने इसका प्रणयन बडी तैयारी के उपरान्त किया था पर यह अत्यन्त खेद का विषय है कि यह ग्रथ अभी तक खडित रूप में ही मिलता है। कहते है कि इसकी एक पुस्तक और थी जो आजकल उपलब्ध नहीं होती।

प्लातोन ने अपनी कल्पना के आदर्श-नगर से कवियो को बहिष्कृत कर दिया था। उसके मत मे वास्तविक जगत् आदर्श जगत् की धुधली प्रतिकृति है और काव्य इस धुँधली प्रतिकृति की और भी धुँधली प्रतिकृति होने के कारण सत्य से दुगुनी दूरी पर है अतएव त्याज्य है। अरिस्तू ने इस सिद्धान्त का विरोध किया और काव्य एव उसकी विभिन्न शाखाओ के विषय मे एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए इस ग्रथ की रचना की। यह दुर्भाग्य ही माना जायगा कि इस पुस्तक का जो भाग उपलब्ध है उसमे सामान्य भूमिका के पश्चात् केवल नाटक और नाटक के क्षेत्र मे भी केवल गभीर प्रकृति के त्रागेदी (दु खान्त नाटक) का ही विशेष प्रतिपादन मिलता है। गीतिकाव्य, महाकाव्य इत्यादि अन्य काव्यागो के विषय का प्रतिपादन जिस भाग मे था वह या तो लिखा ही नही गया या सर्वदा के लिये खो गया है।

काव्य के विषय मे अरिस्तू के दृष्टिकोण मे किसी प्रकार की रहस्यात्मक भावना नही थी। इस विषय मे उसका दृष्टिकोण नितान्त व्यावहारिक और व्यक्तिनिरपेक्ष है। काव्य को अरिस्तू भी अपने गुरु के समान जीवन की अनुकृति (मीमेसिस्) मानता है। इस परिभाषा के विषय मे ग्रीक जगत् मे किसी को आपत्ति नही थी क्योकि उनकी कला सभी क्षेत्रो मे अनुकरणात्मक थी। पर इसका अर्थ यह नही समझा जाना चाहिये जो प्लातोन ने समझा था। कविता जीवन का अनुकरण है अतएव वह जीवन की निर्जीव छाया है, ऐसा समझना भारी भूल होगी। हम सोते-जागते सब समय जीवन और उसके अनुभवो से घिरे रहते है, यही दशा कवियो और कलाकारो की भी होती है। पर उनकी सहानुभूतिपूर्ण अनुभव करने की शक्ति——सवेदनशीलता——अन्य साधारण जनो की अपेक्षा अधिक समर्थ और सूक्ष्म होती है।

जब वे इस अनुभव का कलाकृतियो मे अनुकरण करते है तो वे उसके साथ मे अपने व्यक्तित्व और अपनी कल्पना का योग कर देते है जिसके कारण उनकी रचनाएँ न तो जीवन की फोटोग्राफ के सदृश शत-प्रतिशत (मक्षिकास्थाने मक्षिका) नकल होती है और न जीवन की निर्जीव धुँधली छाया । कल्पना का योग उनको अनुप्राणित करके आनन्दमय और आकर्षक बना देता है । काव्य और नाटक के क्षेत्र मे ग्रीक कलाकारो ने अपने देश की पौराणिक गाथाओ को बार बार ग्रहण किया है । यदि कविता और नाटक केवल अनुकृतिमात्र होते तो एक विषय पर विविध कवियो द्वारा रची गई कृतियाँ बिलकुल एक सी होती । पर वास्तविक स्थिति ऐसी नही है । एक ही कथावस्तु विभिन्न कलाकारो के व्यक्तित्व और कल्पना के रग से अनुरजित होकर हमारे सामने एक पृथक् कलाकृति के रूप मे आती है । प्रत्येक कवि की रचना एक ही कथावस्तु की अनुकृति भी है पर क्योकि उसके व्यक्तित्व ने उसकी अपनी सी व्याख्या प्रस्तुत की है अतएव वह अन्य कवियो की उसी विषय की अन्य प्रकार के व्यक्तित्व द्वारा की गई व्याख्या से पृथक् है । भारतवर्ष मे रामचरित को लेकर वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म-रामायण, कम्बरामायण, रामचरितमानस, रामचन्द्रिका, कृत्तिवासी रामायण एव पं० राधेश्याम की रामायण इत्यादि न जाने कितनी रचनाएँ प्रस्तुत की गई है । वे सभी रामचरित की अनुकृतियाँ है पर विभिन्न कवियो के व्यक्तित्व और कल्पना की अनिवार्य पृथक्ता के कारण वे सब एक दूसरे से भिन्न है ।

इसी सिद्धान्त से सबद्ध पर नाटक के (विशेषकर गभीर अथवा दु:खान्त नाटक के) सबध से उदाहृत अरिस्तू का काव्य की उपयोगिता का सिद्धान्त है । इसको भाव-विरेचन का (काथार्सिस् का) सिद्धान्त कहा जाता है । दैनिक जीवन मे हमको अनेको बार भावातिरेक का अनुभव करना पडता है । बहुत सी परिस्थितियो मे मन्युवेग (क्रोध अथवा शोक के वेग) के कटु घूँट को पीना पडता है । यह सब हमारे मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य और सतुलन के लिये खतरे की बात है । इसी प्रकार के मनोवेगो के प्रशमन के लिये अथेन्स मे एव अन्य स्थानो मे भी दियौनीसिया नामक उत्सव के समय नाटको का अभिनय किया जाता था । कवि अपनी कल्पना द्वारा प्राचीन यूनानी देवी-देवताओ और वीर पुरुषो तथा रमणियो के कार्यकलाप को अपनी नाट्य-कृति के रूप मे प्रस्तुत करता था । अभिनेता और नृत्यमडलियाँ उसी को रगमच पर प्रस्तुत करते थे और जनता अपनी कल्पना के द्वारा उसके साथ तन्मय होकर यथाशक्ति उनके प्रेम, शोक, क्रोध का अनुभव करते हुए इन भावो के अपने हृदय मे सचित अतिरेक की अभिव्यक्ति (परोक्षापरोक्ष-अभिव्यक्ति) द्वारा उससे मुक्त होकर पुन मानसिक

और शारीरिक सतुलन और स्वास्थ्य को प्राप्त कर लेती थी। यह तो हमको ज्ञात ही है कि अरिस्तू राजवैद्य का पुत्र था और उसको वैद्यकशास्त्र का अच्छा ज्ञान था। यह भाव-विरेचन का सिद्धान्त उसने इसी ज्ञान के सहारे प्रतिपादित किया था। पर इस सिद्धान्त मे आधुनिक मनोविज्ञान के अवचेतन मानस के सिद्धान्त का पूर्वाभास भी दृष्टिगोचर होता है। अरिस्तू के समय की जनता वर्ष भर मे दो बार इस भाव-विरेचन-योग को ग्रहण करती थी। आधुनिक जगत् के दैनिक नाटक और सिनेमा के तमाशो को तो अरिस्तू भावसग्रहणी का ही नाम देता एव मानव-चरित्र पर इन तमाशो का जो प्रभाव पड रहा है उसको देखते हुए उसका ऐसा कहना अनुचित भी नही होता। कला के रूप मे सार्विकता (Universality) रहती है, यह तथ्य अरिस्तू ने अपने गुरु से ग्रहण किया था पर कला का उद्देश्य जीवन की प्रत्यभिव्यक्ति के द्वारा एक विशिष्ट प्रकार का आनन्द-प्रदान हमारे जीवन मे भाव-सतुलन की स्थापना करना है, यह अरिस्तू की आलोचनाशास्त्र को अपनी देन थी। आदर्श नगर-व्यवस्था मे कवि की शिक्षक और भाव-सशोधक के रूप मे आवश्यकता रहती है।

जैसा कि कहा जा चुका है कि अरिस्तू ने इस ग्रथ मे विशेष रूप से त्रागेदी नामक नाटक का ही विवरण उपस्थित किया है। यह नाटक ऐसे कार्य की प्रत्यभिव्यक्ति है जो गभीर, पूर्ण और कुछ विशालता लिये हो। इसकी भाषा नाटक के विविध भागो मे प्राप्त होनेवाले कलात्मक अलकारो से सजी-बजी होनी चाहिये। प्रत्यभि-व्यक्ति क्रियात्मक होनी चाहिये, वर्णनात्मक नही। करुणा और भय को (दर्शको और पाठको मे) उत्पन्न करके नाटक को उनमे इन्ही तथा अन्य मनोवेगो का परिष्कार करने की क्षमता होनी चाहिये। त्रागेदी के ६ अग अथवा तत्त्व होते है—(१) दृश्यमान रूप (औप्सिस्), (२) गीति (मैलोपोइया), (३) शब्द-चयन (लैक्सिस्), (४) कथावस्तु (मीथॉस्), (५) चरित्र (एथॉस्) और (६) विचार (दियानोइया)। आधी से अधिक पुस्तक मे अरिस्तू ने इन्ही विषयो का विवेचन किया है। तदुपरात भाषा के सबध मे व्याकरण और अलकारो का भी थोडा विवेचन किया है। शेष पुस्तक मे महाकाव्य एव महाकाव्य और त्रागेदी के भेद का प्रतिपादन किया है। प्रस्तुत लेखक अरिस्तू के काव्यशास्त्र और भरत मुनि के नाटचशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन मे सलग्न है और इस विषय मे निकट भविष्य मे विस्तारपूर्वक लिखने का सकल्प किये है। इस समय इतना ही पर्याप्त है।

उपर्युक्त पृष्ठो मे अरिस्तू के विपुल साहित्य मे निहित विचारो का अत्यन्त सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का असभव प्रयत्न किया गया है। ऐसी आशा नही है कि इस

विवरण को सतोषप्रद समझा जाय। सस्कृत की पुरानी लोकोक्ति को कि अकरणान्मन्दकरण श्रेय अथवा अग्रेजो की उक्ति को कि Something is better than nothing दृष्टि मे रखकर यह धृष्टता की गई है। प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् लियाँ रोबिन् ने अपनी पुस्तक La Pensee Grecque = Greek Thought मे अरिस्तू के विषय मे सबसे लम्बा अध्याय लिखकर उसकी महत्ता का प्रतिपादन एक वाक्य मे इस प्रकार किया है—"He was a mighty encyclopaedist and a master teacher." "समर्थ विश्वज्ञ और सिद्ध शिक्षक" एव "ज्ञानिना गुरु" अरिस्तू दर्शन-जगत् मे सर्वदा के लिए अमर है। चिरकाल तक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति मे उसके विचार बाधक बने तो इसमे उसका दोष नही था। उसने कही भी सर्वज्ञता का दावा नही किया। गलती की तो उसके पश्चात् आनवाली पीढियो ने। दार्शनिको का सच्चा सत्कार है उनके विचारो की निर्मम आलोचना—जैसा कि स्वय अरिस्तू ने अपने गुरु के विषय मे किया। पर उसके शिष्यो ने उसकी आलोचना न करके उसको सर्वज्ञ मान लिया।

अरिस्तू की राजनीति (बहिरङ्ग)

अरिस्तू की राजनीति नामक पुस्तक उसकी सदाचार-शास्त्र नामक पुस्तक से घनिष्ठ सबध रखती है। वास्तव मे यह दोनो पुस्तके एक दूसरी की पूरक है। दोनो पुस्तको मे यत्र-तत्र एक दूसरी के प्रति सकेत मिलते है। पर कुछ समस्याएँ ऐसी है जो अरिस्तू की प्राय सभी रचनाओ के सबंध मे समान रूप से पाई जाती है। इन रचनाओ का वर्तमान रूप इनके सपादको के द्वारा दिया हुआ है जो आधुनिक सपादको के लिये कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। अनेको रचनाओ की अवान्तर पुस्तको का क्रम इतना उलझा हुआ है कि उसका सर्वसम्मत हल उपलब्ध हो ही नही सकता। विशेष रूप से यह कठिनाई मेताफीसिक्स (पराविद्या) और पौलिटिक्स (राजनीति) नामक रचनाओं के विषय मे सामने आती है। अनेको स्थानो पर लेखक ने प्रतिज्ञा की है कि वह अमुक विषय पर आगे चलकर विचार करेगा पर उसने ऐसा नही किया। एकाध बार जिस बात का उसने तत्काल आगे विचार करने का सकेत दिया है उसका विवेचन बहुत दूर आगे चलकर किया है। अनेको बार जो बात उसने एक स्थान पर कही है उसका अन्यत्र कही स्वय विरोध अथवा खडन किया है।

पुनरावृत्ति की तो कोई बात ही नही। ऐसी विचित्र स्थिति का कारण यह है कि अरिस्तू के प्रकाशित ग्रथ—वे ग्रथ जिनको उसने अतिम एव पूर्ण रूप देकर स्वय प्रकाशित किया था—सब लुप्त हो गये। जो रचनाएँ आज उसके नाम से हमको उपलब्ध है वे या तो स्वय उसके द्वारा अथवा उसके शिष्यो द्वारा प्रस्तुत किये उसके व्याख्यानो के सक्षिप्त स्मृति-सूत्र—नोट्स—है। इन्ही को उनके सपादको ने अपनी सूझ बूझ के अनुसार नाना ग्रथो के रूप मे ग्रथित कर दिया है। क्योकि सपादन का कार्य लेखक के जीवन-काल से सैकडो वर्ष पीछे हुआ अतएव उसके सम्प्रदाय के अन्य विद्वानो की कतिपय रचनाएँ भी विचार-साम्य के आधार पर अज्ञात भाव से अरिस्तू की रचना-राशि मे सम्मिलित हो गई। बहुत सी सामग्री स्वय अरिस्तू ने ही नोट्स के रूप मे जानकारी का सग्रह करने के लिये एकत्रित की थी, इसमे से बहुत कुछ नष्ट हो गई और कुछ उसकी रचनाओ मे सगृहीत हो गई।

इन्ही सब कारणो से अरिस्तू की राजनीति की पुस्तको का क्रम भी एक समस्या बन गया है। आधुनिक विद्वानो और सपादकों ने इस क्रम की बडी बारीकी के साथ आलोचना की है। प्राचीन ग्रीक ग्रथो मे पुस्तको के भागो की गणना वर्णमाला के अक्षरो द्वारा की जाती थी। ग्रथ का एक भाग पुस्तक कहलाता था और उसका सबध विषय विवेचन नही होता था। कारण यह था कि ग्रथ उस समय विशेष प्रकार से तैयार किये हुए चमडे पर लिखे जाते थे। ग्रथ का जितना भाग एक खाल पर आ जाता था एक पुस्तक कहलाता था। प्लातोन की रिपब्लिक मे १० और अरिस्तू की राजनीति मे ८ पुस्तके है। इसका अर्थ यह है कि प्रथम ग्रथ १० खालो पर लिखा जाता था और दूसरा ८ खालो पर। कॉर्नफोर्ड ने इसीलिए अपने रिपब्लिक के अनुवाद मे इस चर्म-बुद्धि का परित्याग कर विषय के प्रतिपादन की दृष्टि से अध्यायो की कल्पना की है।

इस विषय पर प्राय सभी सपादक एकमत है कि "राजनीति" एकीकृत अथवा समरस रचना नही है। यह परस्पर सबध रखनेवाले विविध निबधो का समूह है जो किसी आदर्श क्रम मे ग्रथित नही किये जा सके। यह भी सभव है कि यह सब निबध विभिन्न समय पर प्रस्तुत किये गये हो। जिन पृथक् पृथक् निबधो का सग्रह इस ग्रथ को बतलाया जाता है उनकी सख्या ५ अथवा ६ है। (१) प्रथम निबध मे गृहस्थी का वर्णन किया गया है जो नितान्त स्वाभाविक और आवश्यक है क्योकि गृहस्थियाँ ही क्रमश विकसित होकर कालान्तर मे नगर-राष्ट्र का रूप धारण कर लेती है।

यह निबध प्रस्तुत ग्रथ की प्रथम पुस्तक है। (२) दूसरा निबध आदर्श व्यवस्थाओ का वर्णन करता है। इसमे उन आदर्श व्यवस्थाओ का भी वर्णन है जिनका केवल सैद्धान्तिक रूप मे प्रस्ताव किया गया था और उन व्यवस्थाओ का भी वर्णन है जो अनेको राष्ट्रो मे व्यवहार मे आ रही थी और आदर्शरूप होने के कारण सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थी। राजनीति मे यह निबध दूसरी पुस्तक है। (३) तीसरे भाग मे (जो कि राजनीति की तीसरी पुस्तक है) राजनीतिक व्यवस्था के सामान्य सिद्धान्तो की चर्चा है—जैसे नागरिकता का स्वरूप, सविधानो अथवा व्यवस्थाओ के भेद, विविध व्यवस्थाओ मे न्याय-वितरण के सिद्धान्त एव राजपद के सिद्धान्त इत्यादि। (४) चौथे भाग मे जो कि राजनीति की दो (एव कुछ विद्वानो के मत मे तीन) पुस्तको मे फैला हुआ है क्रियात्मक एव वास्तविक राजनीति का वर्णन है। व्यवहार मे विविध प्रकार के सिद्धान्तो में किस प्रकार समझौता और सम्मिश्रण होता है और आदर्श सिद्धान्त किस प्रकार नीचे उतर आते हैं यह सब विषय इस भाग मे पाये जाते हैं एव राजनीति की चौथी और पाँचवी पुस्तके इसी विषय को समर्पित है। छठी पुस्तक को भी कुछ आलोचक इसी चौथे भाग के अन्तर्गत मानते हैं। कुछ अन्य विद्वान् इसको पाँचवाँ भाग मानते है। इस भाग मे उन विविध उपायो का वर्णन है जिनके द्वारा विविध प्रकार की व्यवस्थाओ को स्थायी बनाने मे सफलता मिलने की आशा की जा सकती है। शेष दो पुस्तको (सातवी और आठवी) मे राजनीति के अन्तिम (छठे) भाग का—राजनीतिक आदर्श और आदर्श व्यवस्था का—विवरण प्रस्तुत किया गया है। इन भागो को अरिस्तू ने मैथड्स कहा है जिसका अर्थ विभाग या व्यवस्था है।

कह नही सकते कि उपर्युक्त छ विभागों और आठ पुस्तको को यह परम्पराप्राप्त क्रम स्वय अरिस्तू ने दिया था अथवा उसकी रचनाओ के आरभिक सपादको ने। परन्तु आधुनिक विद्वानो ने इस क्रम को एक समस्या के रूप मे ही देखा है। इसका कारण यह है कि तृतीय पुस्तक के अन्तिम खड मे यह कहा गया है कि अब आदर्श अथवा श्रेष्ठ व्यवस्था का वर्णन आरभ होगा पर वास्तव में यह वर्णन सातवी पुस्तक मे आरभ हुआ है। इतना ही नही सातवी पुस्तक का प्रथम वाक्य कुछ त्रुटित रूप में तृतीय, पुस्तक के अन्तिम वाक्य के रूप मे विद्यमान है जिससे यह सूचित होता है कि अरिस्तू अथवा उसके प्रारभिक सपादक का उद्देश्य सातवी पुस्तक को तृतीय पुस्तक के उपरान्त रखने का था। इसके अतिरिक्त चौथी पुस्तक मे श्रेष्ठ व्यवस्था के वर्णन की ओर सकेत है पर सातवी आठवी पुस्तको मे चौथी, पाँचवी और छठी पुस्तको के प्रति कोई सकेत नही है। इससे भी यही सूचित होता है कि सातवी और आठवी पुस्तके तृतीय पुस्तक के तत्काल

पश्चात् आनी चाहिये थी और चौथी, पाँचवी तथा छठी उनके पश्चात् आनी चाहिये थी। इसी प्रकार चौथी, पाँचवी और छठी पुस्तको के क्रम के विषय मे यह आपत्ति है कि छठी पुस्तक मे चौथी पुस्तक की समाप्ति के विषय को चालू रखा गया है और पाँचवी पुस्तक का विषय इन दोनो के मध्य मे एक व्यवधान के रूप मे रख दिया गया है। अधिक अच्छा क्रम होता ४,६,५ पुस्तको का। इन्ही अडचनो को दृष्टि मे रखकर कुछ आलोचको और सपादको ने राजनीति की पुस्तको के नवीन क्रमो का प्रस्ताव किया है। न्यूमैन ने तो अपने सस्करण मे थोडा परिवर्तन कर भी दिया है।

पर अधिक विचार करने पर यही उचित प्रतीत होता है कि राजनीति की पुस्तको का परम्परागत क्रम ही अन्य प्रस्तावित क्रमो की अपेक्षा अधिक तर्कसम्मत है। यह जो कहा जाता है कि तृतीय पुस्तक के पश्चात् सातवी पुस्तक आनी चाहिये, तो यह बात भाषा के विचार से भले ठीक हो, तर्क की दृष्टि से ठीक नही है। आदर्श-व्यवस्था के विषय मे अपना विचार प्रस्तुत करने के पूर्व विद्यमान व्यवस्थाओ और प्रस्तावित व्यवस्थाओ के स्वरूप, उनकी त्रुटियो और उनकी आलोचना का ज्ञान आवश्यक है। इन्ही के आधार पर आदर्श-व्यवस्था के भवन का निर्माण हो सकता है। अतएव तृतीय पुस्तक के पश्चात् राजनीति की वास्तविकता का पर्यालोचन आवश्यक है। इसी प्रकार सभी प्रकार की व्यवस्थाओ को स्थायित्व प्रदान करनेवाले उपायो का विचार करने से पूर्व व्यवस्थाओ मे क्रान्ति और परिवर्तन होने के कारण जानना आवश्यक है अतएव पाँचवी पुस्तक का चतुर्थ पुस्तक के पश्चात् आना आवश्यक है। इन सब युक्तियो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि राजनीति की पुस्तको का परम्परागत क्रम भले ही नितान्त आदर्श न हो तथापि उनके जो नवीन क्रम प्रस्तावित किये गये हैं उनकी अपेक्षा अवश्य अधिक युक्तियुक्त है। आरभ मे समग्र सगठित समाज और राजनीति की जड गृहस्थी के स्वरूप का विवेचन करके तदुपरान्त मनीषियो द्वारा प्रकल्पित ग्रथगत आदर्श-व्यवस्थाओ एव सुशासित माने जानेवाले राष्ट्रो मे वास्तव मे व्यवहृत श्रेष्ठ सविधानो का विचार किया गया है। इसके उपरान्त राजनीति के स्वरूप का और सविधानो के सभाव्य प्रकारो की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। इसके पश्चात्, उपर्युक्त प्रकारो के विभिन्न प्रकार के मिश्रणो से जो वास्तविक सविधान उत्पन्न हुए है अथवा हो सकते है एव इन विभिन्न प्रकार के सविधानो की छत्रच्छाया मे किस प्रकार की मनोवृत्ति की जनता का विकास और किस प्रकार का न्याय सभव हो सकता है, इस समग्र उलझन को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। तदुपरान्त विभिन्न

प्रकार के संविधानों में किन कारणों से क्रान्तियाँ उत्पन्न होती है यह समझाया गया है । जिस प्रकार रोग हो जाने के पश्चात् उसका उपचार किया जाता है, इसी प्रकार क्रान्तियो के कारणो के पश्चात् सविधानो को क्रान्ति से बचाने और स्थायी बनाने के उपाय बतलाये गये है और अन्त मे अरिस्तू ने सारे अनुभव और ज्ञान के आधार पर समग्र अध्ययन के निचोड के रूप में आदर्श संविधान एव आदर्श शासन-व्यवस्था की अपनी कल्पना प्रस्तुत की है । अरिस्तू की रचनाएँ जिस रूप मे उपलब्ध होती है उसको देखते हुए यह क्रम युक्तियुक्तता की दृष्टि से अत्यन्त सतोषप्रद है ।

इसके आगे यह प्रश्न आता है कि इस ग्रंथ की रचना कब हुई ? इस प्रश्न का उत्तर कठिन इसलिए हो गया है क्योकि यह पता नही कि स्वयं अरिस्तू ने इस ग्रन्थ को किस रूप में छोडा । यदि यह माने कि अरिस्तू ने इस पुस्तक को विद्यमान क्रम दिया तब तो यही स्वीकार करना पडेगा कि इस ग्रथ को उसने किसी विशिष्ट अवसर पर और सीमित समय के भीतर प्रस्तुत रूप दिया होगा । यह बात दूसरी है कि इस ग्रंथ मे सम्मिलित सामग्री का संकलन उसने अलग अलग अवसरों और स्थानो पर किया हो । ऐसा तो सभी ग्रथकार करते है । पर अरिस्तू के ग्रथों की समस्या अन्य ग्रथकारो की समस्या से भिन्न है । उसके ग्रंथों की जो सूचियाँ उपलब्ध होती है उनमे से बहुत ग्रंथ सर्वदा के लिये विलुप्त हो गये है एव कुछ नाम उन सूचियो मे ऐसे मिलते है जो उसके कुछ उपलब्ध ग्रथों के भाग मात्र है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कभी उसके ग्रथो के अलग अलग भाग पृथक् पृथक् ग्रंथ माने जाते थे । सदाचार-शास्त्र के संबंध में जो दो ऐथिक्स नाम के ग्रंथ अरिस्तू-कृत माने जाते है उनके कुछ भाग बिलकुल एक समान और शेष भाग एक दूसरे से भिन्न है । अतएव यदि यह माना जाय कि अरिस्तू की रचनाओं का वर्तमान रूप उसके संपादको का दिया हुआ है तो ग्रंथो के समय की समस्या अत्यन्त जटिल हो उठती है । एक विकल्प यह भी हो सकता है कि कुछ ग्रंथो को अरिस्तू ने स्वय ग्रथित और प्रकाशित कर दिया हो और कुछ को उसके सपादकों ने सम्पादित करके प्रकाशित किया हो । इस अनिश्चित स्थिति के कारण आधुनिक विद्वानो ने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की है । जर्मन विद्वान् वैर्नर याएगर ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रथ Aristotele'sGrundlegung einerGeschisteseinerEntwicklung (अरिस्तू—उसके विकास के इतिहास का आधार) में बड़े परिश्रम से अरिस्तू की रचनाओ के विविध स्तरों को एक दूसरे से पृथक् किया है और उनके समय को निर्धारित करने का प्रयत्न किया है । परिणामतः याएगर ने बतलाया है कि राजनीति की अंतिम दो पुस्तके अरिस्तू की प्रारंभिक रचना हैं क्योकि उनमें उसके गुरु प्लातोन का प्रभाव

दृष्टिगोचर होता है और जिन रचनाओ अथवा रचनाशो मे इस प्रकार का प्रभाव पाया जाता है वे उस समय की रचनाएँ मानी जानी चाहिये जिस समय तक अरिस्तू प्लातोनके आदर्शवाद के प्रभाव से मुक्त नही हो पाया था। इसके विपरीत याएगर के अनुयायी प्रो० फॉन आर्निम् ने याएगर की पद्धति का अनुसरण करते हुए अपने Zur Entstehungsgeschiste der airastotelischen Poltik अरिस्तू की 'राजनीति' की उत्पत्ति का इतिहास नामक ग्रथ मे यह निष्कर्ष निकाला है कि दो अतिम पुस्तके सबसे पीछे की रचनाएँ है। रेव०वाकर ने अथेन्स के सविधान के सबध मे एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (११वाँ सस्करण) में लिखा है कि अथेन्स का सविधान पौलिटिक्स के पश्चात् काल की रचना है क्योकि उसमे सम्राट् फिलिप की मृत्यु (ई० पू० ३३६) के पीछे की किसी घटना का संकेत नही है। जब कि अथेन्स के सविधान में इसके पश्चात् ई०पू० ३२९ तक की घटनाओ का उल्लेख है। बार्कर का मत है कि पौलिटिक्स अरिस्तू के अथेन्स के द्वितीय निवासकाल की रचना है अर्थात् ई० पू० ३३५ से ई० पू० ३२२ के मध्य की रचना है। इसकी कुछ पुस्तको का दृष्टिकोण यथार्थवादी और कुछ का आदर्शवादी है जिसके कारण इसको विभिन्न समयों की रचना का संग्रह मात्र माना गया है। बार्कर के मत मे यह दलील नि सार है क्योकि कोई भी लेखक ऐसा करता। जहाँ वह यथार्थ स्थिति का वर्णन करता है उसका दृष्टिकोण यथार्थवादी है तथा जहाँ वह आदर्श सविधान की रूपरेखा प्रस्तुत करता है वहाँ उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी है। तथा जिन दोषो और खामियो के कारण इसपर असगति का अपराध लगाया जाता है वैसे दोष तो कुछ सीमा तक आजकल तक की रचनाओ मे पाये जाते है। अतएव पौलिटिक्स को अरिस्तू के जीवन के प्रौढतम भाग की—अर्थात् उस समय की जब कि वह "लीकेयम्" मे मुख्याधिष्ठाता था—रचना स्वीकार करना ठीक होगा, साथ ही यह भी स्वीकार करना ठीक होगा कि यह पुस्तक सामग्र्येण एक इकाई है और सुग्रथित है। प्राय सभी पुस्तको में आगे पीछे की पुस्तकों के प्रति सकेत मिलते है।

अरिस्तू की उपलब्ध रचनाओ और समग्र रचनाओ की पुरानी तालिकाओ को देखने से पता चलता है कि उसने अपने जीवन मे किसी समय ऐसा सकल्प अवश्य किया होगा कि मै समग्र ज्ञान को सगृहीत करके सग्रथित कर जाऊँगा। बहुत सभव है कि यह सकल्प उसने अकादेमी मे अध्ययन करते समय किया हो। इतना तो इस समय उपलब्ध होनेवाले यूनानी साहित्य से पता चलता है कि अन्य किसी ग्रीक लेखक की महत्त्वाकाक्षा इस प्रकार की नही थी। अपने इस सकल्प के अनुसार उसने तथ्यो का

सग्रह भी बहुत पहले से आरभ कर दिया था और होना भी ऐसा ही चाहिये था। पर इससे यह अनुमान तो नही निकाला जाना चाहिये कि उसकी सब रचनाएँ फुटकर असगत तथ्यो की गठरियाँ भर है। ऐसा कहना विश्व के एक महान् बुद्धिमान् के प्रति घोर अन्याय होगा। बीसवी शताब्दी जो अधिक अच्छा, अधिक स्पष्ट और अधिक दूर तक देख पाती है यह उसके कधो पर खडे होने के कारण है।

अरिस्तू की रचनाएँ, शैली की दृष्टि से तीन प्रकार की थी—(१) सवादात्मक रचनाएँ जो उसने अपने गुरु की शैलीके अनुकरण पर प्रस्तुत की थी परन्तु जो अब नही मिलती। प्राचीन काल मे इनकी पर्याप्त ख्याति थी और अनेको विद्वानो ने इनका अनुकरण किया था। इनके लुप्त हो जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि इस प्रकार की कला मे अरिस्तू केवल अनुकरण करनेवाला था अतएव उसकी रचनाएँ अपने गुरु की रचनाओ की तुलना मे अधिक समय तक नही टिक सकी। (२) दूसरे प्रकार की रचनाएँ अनेक प्रकार की सूचियाँ थी जिनको अरिस्तू, उसके सहयोगियो और शिष्यो ने परिश्रम और खोज से प्रस्तुत किया था तथा जिनका उपयोग शिक्षण और ग्रथ रचना मे किया गया था। अथेन्स का सविधान इस प्रकार की रचनाओ मे से बच रहा है और यह स्वय अरिस्तू की रचना माना जाता है। अरिस्तू निगमनात्मक (इन्डक्टिव) दार्शनिक था अतएव उसकी विचार-पद्धति और ग्रथ-रचना इस प्रकार की सूचियो के आधार पर ही चल सकती थी। अब इस प्रकार की सूचियाँ तो उपलब्ध नही होती पर इतना निश्चय है कि उनमे से बहुतो का निचोड उसकी विविध रचनाओ मे आ गया है।

अरिस्तू की (३) तीसरे प्रकार की रचनाएँ उसकी विविध विषयो की स्मृति-सहिताएँ है। आजकल अरिस्तू की यही रचनाएँ उपलब्ध है। अपने विद्यालय में विविध विषयो पर व्याख्यान देना अरिस्तू की पाठविधि का स्वरूप था। इन व्याख्यानो मे वह जिस विषय का प्रतिपादन करता था और अन्त मे जिस निष्कर्ष पर पहुँचता था उसको स्मृति की सहायता के लिए सूत्ररूप मे वह भी लिखता रहा होगा और उसके शिष्य भी। यही (लेक्चर नोट्स) व्याख्यानो के सूत्र अरिस्तू की उपलब्ध रचनाएँ हैं। इनको समधिक आठ भागो मे विभक्त किया जा सकता है—(१) अनुभव के विश्लेषण का शास्त्र अथवा तर्कशास्त्र, (२) भौतिकी विद्या, (३) पराविद्या, प्रथम दर्शन अथवा देवविद्या, (४) जीव-विज्ञान, (५) आत्म-विज्ञान या मनोविज्ञान, (६) सदाचारशास्त्र, (७) राजनीतिशास्त्र और (८) साहित्य और भाषण कला।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से इनमे से (१), (३), (५), (६) दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत आयेगे , (२) और (४) विज्ञान के अन्तर्गत, (६) और (७) सामाजिक विज्ञान के अन्तर्गत एव (८) आलोचना के अन्तर्गत गिने जायँगे। यदि भारतीय दृष्टि-कोण से इनका विभाजन किया जाय तो धर्म के अन्तर्गत (३) और (६) की गणना होगी, अर्थ के अन्तर्गत (७) की गणना होगी, काम के अन्तर्गत (८) और (४) के कुछ अशों की गणना होगी एव मोक्ष के अन्तर्गत पुन (३) की गणना होगी। शेष सब रचनाएँ बहुत कुछ अर्थ और धर्म के अन्तर्गत आ सकेगी।

इस प्रकार अरिस्तू की राजनीति उसकी राजनीति-शास्त्र सबधी रचनाओ मे से एक है। इसी प्रकार की अन्य उपलब्ध होनेवाली रचनाएँ अथेन्स का सविधान और "आइकोनोमिका" (गृह-प्रबन्ध-विद्या) है। लुप्त हुई रचनाओ मे प्रोट्रेप्टिकस्, राजविद्या और उपनिवेशिकी का नाम लिया जाता है। इनमे से प्रथम की रचना क्रीप्रस् द्वीप के किसी राजा को उपदेश देने के निमित्त की गई थी और शेष दो की रचना अलैक्जाण्डर को उपदेश देने के लिए। यह सभव है कि इन लुप्त हुए निबधो के विचार अरिस्तू की पॉलिटिक्स मे भी कही आ गये हो। ओइकोनोमिका अरिस्तू के उपलब्ध ग्रथो मे गिनी अवश्य जाती है पर सभी विद्वान् इसको पश्चात्कालीन रचना मानते है। अधिक सभावना यही है कि यह उसकी परम्परा के किसी विद्वान् के द्वारा बहुत वर्षो के पश्चात् लिखी गयी है। इसकी तीन पुस्तको मे से एक पुस्तक (अन्तिम पुस्तक) तो केवल लैटिन भाषा के अनुवाद मे मिलती है, मूल ग्रीक रूप मे नही मिलती।

पॉलिटिक्स का अन्तरङ्ग

पॉलिटिक्स के आरभ मे अरिस्तू ने यह सिद्ध किया है कि राज्य कोई कृत्रिम अथवा मनुष्य के ऊपर बाहर से लादी हुई सस्था नही है। इसका विकास मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव से हुआ है। उसके गुरु प्लातोन का मत था कि राज्य अथवा नगर-राज्य मानव का ही विकसित रूप है। इसी तथ्य की पुष्टि अरिस्तू ने भी की है। अरिस्तू का कहना है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है अर्थात् वह दूसरे मनुष्यो के साथ हिल-मिलकर रहता है और इसी सामाजिकता के द्वारा उसके स्वरूप की अधिकाधिक अभिव्यक्ति सभव हुई है। अरिस्तू ने जीव-विज्ञान का भी अत्यन्त गभीर और विस्तृत अध्ययन किया था। उसने यह भी देखा ही था कि यह साथ

मिल-जुलकर रहना केवल मनुष्यो मे ही नही मनुष्य से निचली योनियो के भी बहुत से प्राणियो मे पाया जाता है। पर मानव प्राणी मे अन्य प्राणियो की अपेक्षा यह विशेषता है कि वह विचारशील—विवेकशील प्राणी है अतएव उसकी सामाजिकता निम्न श्रेणी के पशुओ की सामाजिकता से उच्च कोटि की—सजग और आगा पीछा सोचनेवाली–सामाजिकता है।

यह विचारशील सामाजिक प्राणी जब अपनी अकुरित होती हुई विचारशीलता के आधार पर अन्य जीवधारियो मे पृथक् हुआ तो इसने किसी न किसी प्रकार की अपेक्षाकृत स्थायी विवाह-पद्धति द्वारा सबसे प्रथम सामाजिक संस्था को उत्पन्न किया। इस प्रकार कुटुम्ब की स्थापना हुई। कुछ अधिक बलशाली व्यक्तियो ने कुटुम्ब को अधिक सक्षम और समृद्ध बनाने के लिए अन्य किसी मनुष्य को दास भी बनाया। अरिस्तू ने इसी प्रकार के परिवार की कल्पना मे—जिसमे पति, पत्नी, सन्तान और दास घटक-रूप मे विद्यमान हो—नगर-राष्ट्र और उसकी शासन पद्धति का बीज देखा। इस कुटुम्ब का स्वामी इस बीजरूप राज्य का शासक है। पर उसका शासन इस राज्य के प्रत्येक घटक के प्रति पृथक् प्रकार का है। स्वामी का पत्नी के प्रति जो शासन का प्रकार है वह उस कोटि का है जो राजनयिक के अपने साथी नागरिको पर शासन की कोटि है। पिता का सन्तान के प्रति शासन उसी प्रकार का है जैसा किसी राजा का अपने प्रजाजनो के प्रति होता है। स्वामी का दास के प्रति शासन-सबध एक पूर्णतया स्वतत्र स्वच्छन्द शासक—कितु समझदार स्वच्छन्द शासक—के शासन के समान है।

पशु-जीवन को पार करके समुन्नत मानव ने जो प्रथम सामाजिक सस्था को—कुटुम्ब को—स्थापित किया तो इससे उसका जीवन पूर्वापेक्षा अधिक विकसित और विशाल बना ; उसमे मानवता का और अधिक प्रस्फुटन हुआ। मानव मे नवीन अच्छाइयाँ विकसित हुई—स्नेह, वात्सल्य और प्रबन्धक्षमता अकुरित हुई। पर इस विकास के लिये भौतिक आवश्यकताओ की पूर्त्ति भी आवश्यक है एव काम करनेवाले दासो की आवश्यकता भी है। अतएव प्रथम पुस्तक मे अरिस्तू ने दास-प्रथा और धनार्जन-कला का विशेष रूप से विवेचन किया है। इसका कारण यह है कि जीवन के सुख-सुविधामय होने के लिये भौतिक साधनो का होना आवश्यक है एव जीवन के अच्छाई की ओर अग्रसर होने के लिये अवकाश की अनिवार्य आवश्यकता है।

अरिस्तू के समकालीन ग्रीक जगत् मे तथा होमर के समय से आरभ होनेवाले ग्रीक इतिहास मे दास-प्रथा नागरिक जीवन का एक अविभाज्य अग थी। ग्रीक सभ्यता के भव्य भवन की नीव दासो के श्रम पर पडी थी। यह ठीक हो सकता है कि यूनानियो की दास-प्रथा उतनी नृशस नही थी जितनी रोमन लोगो की तथापि यह थी तो एक सामाजिक बुराई ही। विद्वान् व्यक्ति के लिये भी किसी समय-विशेष के वातावरण से ऊपर उठना कितना कठिन होता है, इसका उदाहरण अरिस्तू का दास-प्रथा का विवेचन है। उसके मत मे दास स्वतत्र नागरिक के जीवन-यापन करने का साधन है और उसकी सजीव सम्पत्ति है। दास मे शारीरिक शक्ति अधिक होती है पर बुद्धि केवल इतनी ही होती है कि वह अपने स्वामी की आज्ञाओ को समझ सके। उसका कार्य स्वामी के जीवन-यापन मे सहायक होना है। अरिस्तू के मत मे प्रकृति मे उत्तम और अधम की विरोधी कोटियाँ सर्वत्र पाई जाती है एव जहाँ इस प्रकार की कोटियाँ पाई जायँ वहाँ उत्तम शासन करे और अधम शासित हो यह दोनो पक्षो के लिये लाभ-दायक होता है। मनुष्यो मे भी प्रकृति ने इस प्रकार भेद उत्पन्न किया है। पर वास्तविकता ऐसी नही थी। बहुधा विजित लोगो को दास बना लिया जाता था। यहाँ तक कि एक बार तो प्लातोन तक को दास बनना पड चुका था। इस प्रकार की दासता अरिस्तू को मान्य नही थी। वह तो स्वाभाविक दास की दासता को ही स्वीकार करता है। साथ ही यह भी मानता था कि यह आवश्यक नही है कि दास का पुत्र भी दास हो, यह बिलकुल सभव है कि स्वाभाविक दास का पुत्र स्वतत्र नागरिक के समान विवेक-सपन्न हो। इस प्रकार स्वाभाविक दास और स्वाभाविक स्वतत्र नागरिक का अन्तर नितान्त स्पष्ट नही है।

अरिस्तू का कहना है कि ग्रीक लोगो को अपनी ही जाति (ग्रीक जाति) के लोगो को दास नही बनाना चाहिये। क्योकि युद्ध मे सर्वदा उत्तम पक्ष की ही नहीं उत्तम बल की विजय होती है और केवल बल की उत्तमता सब प्रकार की उत्तमताओ से अभिन्न नही है। अतएव ऐसा हो सकता है कि युद्ध मे विजित व्यक्ति उत्तमता मे विजेताओ से बढकर हो। ऐसी स्थिति में उनको दास बनाने मे कोई औचित्य नही है क्योंकि वे प्रकृत दास नही है। यह मानकर कि स्वामी और दास के हित एक समान है अरिस्तू ने स्वामियो को दासो के प्रति मित्रता और समझदारी का बर्ताव करने की सीख दी है और यह भी कहा है कि अच्छी सेवा करने पर दासो को मुक्ति की आशा बँधानी चाहिये। अपने दासो के प्रति बर्ताव मे उसने इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया था। तथापि वास्तविकता यह है कि मानव-जाति मे इस प्रकार स्वाभाविक विभाजन कही नही

पाया जाता कि कुछ व्यक्ति सर्वदा विवेकशील रहते हो और अन्य व्यक्ति सर्वदा विवेक-शून्य। कभी कभी मुनियो को भी मतिभ्रम हो जाता है और कभी कभी मूर्ख भी कालान्तर मे घोर परिश्रम करने के फल-स्वरूप कालिदास बन सकते है। अतएव स्वाभाविक स्वामी और स्वाभाविक दास का भेद प्रकृतिकृत नही है।

स्वतत्र नागरिक के लिये जीवन के सजीव साधन—दास—के अतिरिक्त और बहुत सी वस्तुएँ चाहिए। इसको धन-सम्पत्ति कहते है। इनको प्राप्त करने के तीन प्राकृतिक प्रकार है—(१) पशुचारण, (२) आखेट करना और (३) कृषि। द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत आखेट ही नही जल और स्थल पर दस्युकर्म और मछली मारना भी है। मनुष्य को भोजनाच्छादन के लिये जितनी आवश्यकता हो उसी सीमा तक इन वृत्तियो का अनुसरण करना चाहिये। यह गृहस्थी के प्रबध के लिये आवश्यक भी है। इन प्रकारो को सम्पत्ति प्राप्त करने का स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक उपाय इसलिए कहा है कि इनके द्वारा उपयोगी वस्तुओ की उपयोगी मात्रा मे प्राप्ति की जाती है। पर इन प्रकारो के अतिरिक्त धन-सम्पत्ति कमाने के अप्राकृतिक उपाय भी है जिनमे वस्तुओ की अदलाबदली साधन बनती है। इसके साथ वस्तुओ मे विनिमय-मूल्य का सिद्धान्त स्थापित होता है। प्रत्येक वस्तु का एक मूल्य उसकी प्रत्यक्ष उपयोगिता होती है जैसे लेखनी की स्वगत अथवा प्रत्यक्ष उपयोगिता लिखना है, इसके अतिरिक्त उसका दूसरा मूल्य उसकी विनिमय की उपयोगिता है। हम लेखनी को किसी अन्य वस्तु अथवा रुपये-पैसे से बदल सकते है। जहाँ तक वस्तुओ का वस्तुओ के साथ विनिमय किया जाता है यह एक सीमा तक स्वाभाविक है क्योकि इसके द्वारा एक सीमा तक अपने पास की अनुपयुक्त अधिक वस्तुओ को दूसरे को देकर उसके बदले उपयोगी वस्तुओ को प्राप्त किया जा सकता है। पर विनिमय का अप्राकृतिक स्वरूप तब प्राप्त होता है जब वस्तुओ का विनिमय धन (रुपये-पैसे) के साथ होने लगता है। धन (सिक्के) की विशेषताएँ दो है, एक तो ताँबे, चाँदी अथवा सोने के रूप मे यह स्वय उपयोगी होता है, तथा दूसरे इसका एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना वस्तुओ को ले जाने की अपेक्षा अधिक सरल काम होता है। अरिस्तू के मत मे विनिमय और व्यापार द्वारा अपरिमित धन एकत्रित करना अस्वाभाविक और नीति-विरुद्ध है। इसी प्रकार उसने चतुर मनुष्यो द्वारा हस्तगत किये व्यापार सबधी एकाधिकार का वर्णन तो किया है पर उसको नीति-विरुद्ध ही बतलाया है। ब्याज द्वारा धन की वृद्धि करना तो अरिस्तू के मत मे सबसे बुरी बात है। सभवतया उसकी दृष्टि मे अत्यधिक ब्याज लेने और उसके द्वारा होनेवाले ऋणियो के विनाश के उदाहरण रहे होगे।

वाणिज्य-व्यवसाय द्वारा एव बैको द्वारा सभ्यता के विकास मे जो सेवा की गई है वह उसकी समझ मे नही आई थी ।

इस प्रकार अरिस्तू ने, आरभिक वस्तुओ को आरभ मे वर्णन करने की अपनी पद्धति के अनुसार, राजनीति अथवा नगर-नीति के बीज गृहस्थ-जीवन का स्वरूप और धनार्जन का स्वरूप वर्णन किया । गृहस्थी मे गृहस्वामी दास पर, पत्नी पर और बच्चो पर जिस प्रकार के शासन चलाता है वही आगे चलकर वर्णित विविध प्रकार की शासन-पद्धतियो के बीज स्वरूप है । अनेक परिवार, गृहस्थियाँ अथवा कुटुम्ब मिलकर ग्रामो का निर्माण करते है और प्राय यह परिवार एक ही पुराने परिवार की शाखाएँ होते है । इन ग्रामो के मिलने से नगर, पुर अथवा पौलिस् बन जाते है । यह सामाजिक समुदाय मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये निर्मित होते है अतएव इनका विकास नितान्त स्वाभाविक है । परन्तु इनको स्वाभाविक कहने का यह आशय नही है कि इनके निर्माण मे मानव-सकल्प का योग नही होता और न इसका तात्पर्य यह है कि अन्त तक इन समुदायो का उद्देश्य केवल भौतिक आवश्यकताओ की पूर्तिमात्र बना रहता है । जैसे जैसे मानव-सस्कृति का विकास होता है और भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति से अवकाश मिलने लगता है वैसे वैसे मानव-जीवन अनेक प्रकार के अच्छे जीवन की कल्पना और प्राप्ति के प्रति प्रयत्नशील होता है । अतएव नागरिक जीवन का लक्ष्य भौतिक आवश्बकताओ की पूर्ति को अपने पेटे मे डालकर अधिक व्यापक और समुन्नत हो जाता है—अर्थात अच्छे जीवन की प्राप्ति हो जाता है ।

अच्छे जीवन की प्राप्ति नागरिक जीवन का लक्ष्य मान लेने पर अब यह देखना आवश्यक हो जाता है कि दार्शनिको के चिन्तन मे और राजनयिको के व्यवहार मे अच्छे जीवन की क्या क्या कल्पनाएँ है और उसकी प्राप्ति के लिये क्या क्या उपाय कहे और व्यवहार मे लाये गये है । विवेकशील प्राणी होने के कारण मनुष्य प्रथम तो अपनी योजना बनाता है और फिर उसको कार्यान्वित करता है । अतएव अरिस्तू ने नगर के विकास-क्रम का वर्णन करने के उपरान्त अपने समय तक की अच्छे जीवन को प्राप्त करने की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक नागरिक व्यवस्थाओका वर्णन और फिर उनका आलोचन किया है । इस दिशा मे सबसे पहले उसने अपने गुरु प्लातोन की राजनीति सबधी रचनाओ की ही ओर ध्यान दिया है । प्लातोन ने अपनी "पौलितेइया" अथवा आदर्श-नगर-व्यवस्था नामक पुस्तक मे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि "नागरिक जीवन मे जितनी अधिक एकता होगी उतना ही अच्छा नागरिक जीवन

होगा।" इस एकता के मार्ग मे सबसे बडी बाधा है कामिनी और काञ्चन का मोह। इसको दूर करने के लिये प्लातौन ने अपने "स्त्रियो और बच्चो के सबध मे सब के समानाधिकार" के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और सपत्ति के सबध में भी इसी प्रकार का लक्ष्य नागरिको के समक्ष रखा। अरिस्तू ने इस मत का खडन किया क्योकि उसने कहा कि नगर तो स्वरूपत अनेकता से समन्वित होता है उसमे एकता नही लाई जा सकती। पर प्लातोन को नगर की अनेकविधता का भान था और उसने स्वय नगर को तीन वर्गों मे विभक्त किया था। उसने स्त्रियो, बच्चों और सपत्ति के सबंध मे जो सब के समानाधिकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था वह केवल शासको और सैनिको के लिए किया था क्योकि इन्ही वर्गों मे कामिनी, काञ्चन और संपत्ति के संबंध मे जो विवाद उठ खड़े होते है वे नगर के लिए घातक सिद्ध होते है। इसके आगे अरिस्तू का कहना यह है कि यदि एकता के आदर्श को नगर के लिये सर्वोपरि आदर्श मान भी लिया जाय तो भी वह एकता प्लातोन के द्वारा बतलाये हुए मार्ग पर चलने से प्राप्त नही हो सकती। आदर्श नगर के बच्चो की दशा अनाथो की जैसी होगी। जो सब की सन्तान होगा उसके प्रति उसके अनगिनती माता-पिताओ का स्नेह गुणित नही हो सकेगा, बँटकर पतला अवश्य हो जायगा। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि उसके तीव्र से तीव्र मनोवेग व्यापक होकर विवर्ण हो जाते है और उनकी तीव्रता, सघनता और गभीरता औदासीन्य और उथलेपन मे बदल जाती हैं। आखिर, परमात्मा तक को विश्वव्यापित्व का मूल्य निराकारता के रूप मे चुकाना पड़ता है। परिणामत सामाजिक माता-पिता और सामाजिक पुत्र-पुत्रियो मे एक सार्वत्रिक उदासीनता के अतिरिक्त सच्चे वात्सल्य का दर्शन कही भी नही होगा। इसी प्रकार सब की सपत्ति की, जो किसी विशिष्ट व्यक्ति की अपनी सपत्ति नही होगी, ऐसी ही दशा होगी ; कोई उसकी सार-संभाल देख-भाल करने का दायित्व क्यो अपने ऊपर लेगा ?

सपत्ति के स्वामित्व और उपभोग के तीन सभव विकल्प हो सकते है—(१) स्वामित्व व्यक्तिगत, उपभोग सार्वजनिक, (२) स्वामित्व सार्वजनिक, उपभोग व्यक्तिगत, (३) स्वामित्व और उपभोग दोनो सार्वजनिक। इन तीनो विकल्पो में से अरिस्तू को प्रथम विकल्प मान्य है। अन्य विकल्पो के विषय मे उसने अनेको आपत्तियाँ उठाई है। सब मनुष्य न एक समान परिश्रमी होते है और न एक समान दायित्वपूर्ण अतएव यदि सपत्ति का स्वामित्व और उपभोग दोनो सार्वजनिक होगे तो वितरण किसी प्रकार भी सतोषप्रद नही हो सकेगा। यदि सार्वजनिक समानता का पालन किया जायगा तो जिन्होने अधिक परिश्रम किया है उनके प्रति अन्याय होगा और यदि वितरण

न्यायपूर्ण होगा तो समानाधिकार का सिद्धान्त नही निभ सकेगा। फिर जिस सपत्ति पर सबका समानाधिकार होता है उसके विषय मे अनन्त झगडे टटे नित्य उठा करते है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व से एक प्रकार की आत्मतृप्ति की ही प्राप्ति नही होती प्रत्युत उदारता दानशीलता इत्यादि सद्गुणो का भी विकास इसी से सभव होता है। यदि यह कहे कि प्लातोन ने इस साम्यवाद का प्रतिपादन केवल शासको और रक्षको के लिये किया है सब नागरिको के लिये नही तो प्रश्न यह उठता है कि यदि यह अच्छा आदर्श है तो इसको सीमित क्यो किया और यदि यह कष्टदायक है तो नागरिको मे से श्रेष्ठ व्यक्तियो ने क्या अपराध किया है कि वह कष्ट भोगे और अन्य लोग उनके बलिदान के आधार पर मौज उडाये। इन सब कारणो से अरिस्तू ने सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व और सार्वजनिक उपभोग का समर्थन किया है। यह सत्य है कि सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के कारण झगडे अवश्य होगे पर इसका कारण तो मनुष्य के स्वभाव की त्रुटि हो सकती है जो सम्पत्ति के स्वामित्व के दूर करने से दूर नही हो सकती प्रत्युत उचित प्रकार की शिक्षा-दीक्षा के दूर की जा सकती है। और फिर झगडे सम्पत्ति के स्वामित्व को सार्वजनिक बना देने पर भी शान्त तो क्या होगे घटेगे भी नही, बढ भले ही जायँ। प्लातोन और अरिस्तू दोनों का ही दृष्टिकोण आधुनिक अर्थविज्ञान के सिद्धान्तो से प्रभावित नही था। दोनो ही नगर के जीवन में से अच्छे जीवन की प्राप्ति मे आडे आनेवाली बाधाओ को दूर करना चाहते थे। अतएव जब अरिस्तू सम्पत्ति के सार्वजनिक स्वामित्व का विरोध करता है तो इसका अर्थ यह कदापि नही समझना चाहिये कि वह पूजीवाद का समर्थन करता है। अधिक सम्पत्ति के राशिकरण का उसने विरोध किया है। उसका दृष्टिकोण यह है कि सम्पत्ति और परिवार पर व्यक्तिगत अधिकार नागरिको के सुख और सद्वृत्तियो के विकास का आधार है अतएव इसको समाप्त नही करना चाहिये। अतिगामी एकता न सभव है न वाछनीय। अरिस्तू का मार्ग सर्वदा सम्यक् प्रकार का मध्यममार्ग है। सम्पत्ति की समानता और सार्वजनिकता पर उसने गभीरता के साथ विचार किया है। सम्पत्ति की समानता के मार्ग मे दो महान् बाधाएँ है-एक मनुष्यो की योग्यता और क्षमता की असमानता और दूसरे नागरिको की सख्या की अस्थिरता। अतएव सब बातो का विचार करके वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिये कि अच्छे आदमियो को अत्यधिक धन-दौलत की चाह न हो और बुरे आदमियो को प्राप्ति न हो।

इसके उपरान्त अरिस्तू ने स्पार्टा क्रेते (अथवा क्रीट) और कार्खी दौन् (अथवा कार्थेज) की शासन-पद्धतियो का विवरण उपस्थित किया है एव उनके गुण-दोषो का

विवेचन किया है। यह तो एक से अधिक बार बतलाया जा चुका है कि अरिस्तू ने १५८ सविधानो का सग्रह किया था। इसी ज्ञान का उसने यहाँ उपयोग किया है। इन तीनो नगर-राष्ट्रो के सविधानो का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् उसने अथेन्स के पुराने सविधान के सबध मे भी कुछ विवरण उपस्थित किया है जो सभवत प्रक्षिप्त है। इस भाग का महत्त्व ऐतिहासिक और विवरणात्मक है।

इस प्रकार आदर्श नगरो के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूपो का विवरण और आलोचना प्रस्तुत करने के पश्चात् अपनी निगमनात्मक (इण्डक्टिव) पद्धति के अनुसार अरिस्तू नगरराष्ट्र सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तो अथवा नियमो का स्वरूप निर्धारित करता है। उसकी सबसे मुख्य विशेषता है शुद्ध लक्षणो अथवा परिभाषाओ का प्रतिपादन। अतएव वह यह निश्चित करने का प्रयत्न करता है कि नागरिक और नगर-राष्ट्र और उसका सविधान किसको कहते है? शासन-व्यवस्थाओ के कितने प्रकार होते है? इत्यादि।

नगर और नागरिक सापेक्षिक शब्द है। ग्रीक नगरो का स्वरूप एक समान नही था। इनकी सख्या लगभग १६० थी और एक विद्वान् ने भूमध्यसागर के चारो ओर के तटो पर स्थित इन छोटे छोटे नगरो को परिहास मे एक सरोवर के किनारो पर बैठे हुए मेढको से उपमा दी है। इनमे से बडे से बडे नगर-राष्ट्र क्षेत्रफल मे लगभग १००० वर्गमील था और बहुत से नगरो का क्षेत्रफल १०० वर्गमील से भी कम था। एक भारतीय विद्वान् ने इनकी तुलना प्राचीन भारतीय जनपदो से की है। पर भारतीय जनपदो मे और इन यवन नगर-राष्ट्रो मे समानता की अपेक्षा विभिन्नता अधिक थी। भारत के सुदीर्घकालीन इतिहास मे जनपद एकाधिक बार राजनीतिक एकता मे आबद्ध हो सके पर यवन नगर-राष्ट्रो मे इस प्रकार की परिपूर्ण राजनीतिक एकता कभी स्थापित न हो सकी। भारतीय एव उनकी सस्कृति आज भी भारतीय सस्कृति के भडार मे सुरक्षित है पर ग्रीक नगरो की सस्कृति को आज ग्रीक प्रदेश के बाहर अधिक त्राण मिला है। भारतीय जनपदो मे क्षेत्रफल की अधिकता के कारण एकाधिक बडे नगर होना कोई असभव अथवा अनहोनी बात नही थी पर यूनानी नगर-राष्ट्रो मे एक राष्ट्र मे एक ही बडा नगर होता था—शेष सारे क्षेत्रफल मे कृषि इत्यादि कार्य करनेवाले ग्रामीण लोगो के ग्राम होते थे। इसके अतिरिक्त सास्कृतिक एकता की दृष्टि से यह नगर भी भारतीय जनपदो के समान एक भाषा (जिसकी उपभाषाएँ परस्पर समझी जा सकती थी)

बोलते थे और एक धर्म को मानते थे और उनकी शासन-व्यवस्थाएँ भी अधिकाश मे जन-तत्रात्मक अथवा धनिक-(अल्पजन-)तत्रात्मक थी। उनके धार्मिक विश्वास, देवी-देवता एव तीर्थस्थान भी एक थे। भारतीय जनपदो के शासको मे चक्रवर्तित्व का जो आदर्श परम्परा से चला आता था—सम्राट् बनने की जो महत्त्वाकाक्षा जाग उठती थी—उसने इस विशाल देश को अनेक बार एक बडी इकाई होने की ऐसी अमिट विशेषता प्रदान की जो ग्रीक नगरो के भाग्य मे नही बदी थी। यह भी स्वीकार करना होगा कि ग्रीक नगर-राष्ट्रो के नागरिको मे राजनीतिक चेतना भारतीय जनपदो के निवासियो की अपेक्षा अधिक थी, इसी कारण भारतीय इतिहास मे जनतत्र और गणतत्र की अपेक्षा राजतत्र अधिक फला-फूला—पर इस कथन का यह अर्थ नही है कि प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास मे जनतत्र और गणतत्र शासन-पद्धति का नितान्त अभाव था एव यूनानी नगर-राष्ट्रो मे राजतत्र नही था।

अरिस्तू को इन १५८ अथवा १६० नगरो के इतिहास एव राजनीतिक-व्यवस्थाओ एव अन्य परम्पराओ का अच्छा ज्ञान था एव वह यह भी जानता था कि शासन-पद्धति केवल बाहरी प्रभाव का नाम नही है, वह नागरिकों एव शासको की जीवन-पद्धति भी है अतएव उसको नगर और नागरिक की परिभाषा का निर्माण करने मे विशेष कठिनाई का अनुभव हुआ। इतिहास ने उसे यह भी बतलाया कि अनेक बार शासन-पद्धति मे क्रान्ति हो जाने पर नये शासको ने पुराने शासको के दायित्वो को निभाने से इन्कार कर दिया और कह दिया कि वह तो राष्ट्र का काम नही था। इसका अर्थ यह कि शासन-पद्धति बदली कि राष्ट्र बदला। १५ अगस्त १९४७ को दो नये राष्ट्र जिनका अस्तित्व पहले नही था उत्पन्न हुए। इन राष्ट्रो को थोडे से समय के जीवन मे ही नागरिकता के नियम को बनाना और बदलना पडा। अतएव नगर और नागरिकता की परिभाषा झमेले की बात है। यूनानी नगरो मे इसके साथ तुर्रा यह भी था कि नगर की भौगोलिक सीमा मे रहनेवाले सब लोग नागरिक नही होते थे। दासो को और शिल्पकारो को प्राय नागरिक नही माना जाता था। अतएव नागरिक की एक परिभाषा यह थी कि नागरिक वह है जो वय प्राप्त हो और जिसके माता-पिता दोनो नागरिक हो। इस परिभाषा की त्रुटि यह है कि यह किसी नगर के आरभिक नागरिको के सबध मे लागू नहीं होती। फिर ग्रीक नगरो मे बसे हुए विदेशी भी नागरिक नही माने जाते थे। नगरो की पारस्परिक सन्धियो के अनुसार यह विदेशी नागरिको के साथ विवाद-व्यवहार (मुकदमेबाजी) का और न्याय पाने का अधिकार रखते थे पर पूर्ण नागरिकता का अधिकार उनको नहीं मिलता था। इन कठिनाइयो को दृष्टि में रखते हुए अरिस्तू ने नागरिक का लक्षण यह बतलाया कि

जिस व्यक्ति को न्याय-कार्य मे शासन-ससद मे भाग प्राप्त है वह व्यक्ति नागरिक है। पर यह परिभाषा केवल प्रत्यक्ष जनतत्रात्मक शासन-पद्धति के नागरिको के लिए उपयुक्त है, अन्य पद्धतियो के लिये उपयुक्त नही। आधुनिक प्रतिनिध्यात्मक जनतत्र के नागरिक के सबध मे भी यह लक्षण घटित नही होगा, क्योकि आधुनिक जनतत्र मे प्रत्येक नागरिक को अपने प्रतिनिधि को चुनने का एव स्वय प्रतिनिधि चुने जाने का अधिकार होता है। इस प्रकार की प्रथा प्रत्यक्ष जनतत्रात्मक शासन-पद्धति मे नही थी। यह नागरिकता का अधिकार उपनिवेशों और अधीन नगरो के निवासियो को भी प्राप्त नही था।

नगर की परिभाषा के सबध मे अरिस्तू का विचार है कि नगर नागरिको के उस समुदाय को कहते है जो जीवन के (अथवा अच्छे जीवन के) उद्देश्यो अथवा प्रयोजनो के लिये पर्याप्त हो। नगर के सबध मे अरिस्तू ने इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर भी सूक्ष्मता से विचार किया है कि नगर की एकता और अभिन्नता किस तत्व पर निर्भर है। क्या इसके लिये नगर का एक ही स्थान पर बसा होना आवश्यक है? अरिस्तू भौगोलिक एकता को महत्त्व नही देता। उसका विचार है कि नगर की एकता एव अभिन्नता उसकी शासन पद्धति की एकता और अभिन्नता पर निर्भर है। इसी कारण तो शासन अपने से पूर्व वाले शासन के उत्तरदायित्व से मुख मोडने का उपक्रम करते देखे गये है। यद्यपि कोई ऐसा नियम नही है कि शासन-पद्धति बदल जाने पर पुरानी पद्धति के अन्तर्गत स्वीकार किये गये दायित्वो को त्याग देना चाहिये।

नागरिक के चरित्र के विषय मे भी अरिस्तू ने विभिन्न दृष्टिकोणो से विचार किया है। क्या उत्तम मनुष्य और उत्तम नागरिक के चरित्र एक और अभिन्न है? क्या शासक और शासको के चरित्र समान हो सकते है? श्रेष्ठ नागरिक का लक्षण क्या है? इत्यादि। क्योकि विभिन्न नागरिको को राष्ट्र के जीवन मे पृथक् पृथक् कर्तव्य पालन करने पडते है अतएव सब नागरिको की उत्तमता एकरूप नही हो सकती। पर नगर की रक्षा और उन्नति सब नागरिको का समान लक्ष्य है। अतएव जो नागरिक इस लक्ष्य को दृष्टि मे रखते हुए अपने कर्तव्य का पालन करता है वह उत्तम नागरिक है। पर उत्तम मनुष्य और उत्तम नागरिक सामान्यतया एक और अभिन्न नही हो सकते, इतना ही नही आदर्श नगर-व्यवस्था में भी ऐसा होना सभव नही है क्योकि नागरिको के कर्त्तव्यो की बहुविधता तो आदर्श व्यवस्था मे भी अनिवार्य है और भले आदमी का चरित्र सर्वथा एकविध होता है। केवल एक प्रकार का नागरिक ऐसा हो सकता है

जो एकपदे भला आदमी और भला नागरिक हो। आदर्श नगर-व्यवस्था मे वह अच्छा नागरिक, जिसको शासक के लिये अपेक्षित नैतिक बुद्धिमत्ता भी प्राप्त हो एव अच्छे शासित प्रजाजन के लिये अपेक्षित अन्य गुण भी प्राप्त हो, ऐसा विरल व्यक्ति होगा। अरिस्तू के मत मे स्वतत्र नागरिको पर स्वतन्त्र व्यक्ति के सदृश शासन करने की कला को स्वतंत्र नागरिक के समान स्वतंत्र व्यक्ति से शासित होकर सीखा जा सकता है जैसे कि सैनिक शिक्षण मे सैनिक अनुशासन मे रहकर ही उत्तरोत्तर सैनिक-शासन की कला को सीखा जाता है।

अरिस्तू ने समग्र नगर-वासियो को दो भागो में विभक्त कर दिया है-एक भाग नागरिको का है और दूसरा भाग शिल्पकारो, श्रमिको, कृषको, दासो इत्यादि का है जिनको वह नागरिक जीवन के लिये आवश्यक तो मानता है पर नागरिक जीवन का अग नही मानता। उसके मत मे अवकाश की कमी और शरीर-श्रम के कारण यह लोग राजनीतिक जीवन मे भागीदार होने की योग्यता नही रखते। पर यह तो मानव-स्वभाव का एक परम्परागत विकृत कल्पना के आधार पर विभाजन है जिसके अनुसार अकारण ही अधिकाश जनता नागरिकता के अधिकारों से वचित की जाती रही। पूर्णतया न्यायपूर्ण पद्धति इस प्रकार के विभेद को स्वीकार नही कर सकती। पर अरिस्तू को ही क्या दोष दिया जाय, शत-प्रतिशत न्यायपूर्ण शासन-पद्धति तो इस बीसवी शताब्दी मे भी वास्तविकता नही आदर्श ही है।

नगर और नागरिक की परिभाषा के अन्वेषण में शासन-पद्धति की चर्चा स्वय आ गई। प्रश्न होना स्वाभाविक है कि शासन-पद्धतियाँ कितने प्रकार की होती हैं और उनमे श्रेष्ठ पद्धति कौन-सी है? नगर नागरिको का समूह है और उसकी शासन-पद्धति नागरिको के सामूहिक जीवन का प्रबन्ध है। जब गृहस्थो का समूह अपने सामान्य हितो की प्रेरणा से एक स्थान पर बसता है तो नगर की स्वाभाविक उत्पत्ति होती है। जहाँ मनुष्यो का समूह बाधित किया जाकर एक जगह अनिच्छा से रहता हो तो उसको कारागार कहना चाहिये। इस दृष्टि से शासन-पद्धतियो के दो विभाग बनते हैं—(१) वे शासन-पद्धतियाँ जिनमे शासक अथवा शासक-वर्ग सार्वजनिक हितो को ही दृष्टि मे रखकर शासन-कार्य चलाते हैं—इनको हम प्रकृत शासन-पद्धतियाँ कह सकते है। (२) दूसरे वे शासन-पद्धतियाँ जिनमे शासक अथवा शासकवर्ग केवल अपने हित पर दृष्टि रखते है और सार्वजनिक हित की उपेक्षा अथवा विरोध करते हैं—इनको हम विकृत शासन-पद्धतियाँ कहेगे। यद्यपि शासन-पद्धतियो पर विचार करने पर शासक

और शासित उभय पक्षो पर निरन्तर दृष्टि रखनी पडती है तथापि इस विचार मे मुख्य रूप से शासक पक्ष पर ही ध्यान अधिक दिया जाता है अतएव अरिस्तू ने शासन-पद्धति की परिभाषा मे बतलाया है कि शासन-पद्धति अथवा सविधान अथवा व्यवस्था किसी राष्ट्र मे शासकपदो अथवा विशेष रूप से सर्वोच्च शासकपदो की व्यवस्था का ही नाम है। उपर्युक्त प्रकृत और विकृत शासन-पद्धतियो मे, अरिस्तू के मतानुसार, शासन-सत्ता एक व्यक्ति, अल्पसख्यक व्यक्तियो अथवा बहुसख्यक व्यक्तियो के हाथ मे रह सकती है। इस प्रकार से निम्नलिखित भेदो की उपलब्धि होती है—

प्रकृत पद्धतियाँ	विकृत पद्धतियाँ	सत्ता का स्थान
एकराट्तत्र (बसीलेइया)	तानाशाही (तिरान्नी)	एकजन
श्रेष्ठजनतत्र (अरिस्तौक्रातिया)	धनिकतत्र (ऑलिगार्किया)	अल्पजन
जनतत्रव्यवस्था (पौलितेइया)	प्रजातत्र (देमौक्रातिया)	बहुजन

अरिस्तू के इस विभाजन का आधार है उसके नागरिक समाज के विश्लेषण का परिणाम। उसने देखा कि प्राय नागरिक समाज मे एक ओर धनी-मानी लोग है तो दूसरी ओर निर्धन जनता है और कही-कही इन दोनो के मध्य मे एक मध्यवित्त लोगो का मध्यमवर्ग भी पाया जाता है। पर केवल सख्या को विभाजन का आधार बनाने मे एक कठिनाई उत्पन्न होती है जिसका विवेचन करके अरिस्तू इस निर्णय पर पहुँचता है कि यद्यपि "ऑलिगार्किया" का शब्दार्थ अल्प-जनतत्र है और देमौक्रातिया का अर्थ जनतत्र है तथापि व्यवहार मे "आलिगार्किया" धनिकतत्र है और देमोक्रातिया निर्धन लोगो का प्रजातत्र। अन्यत्र अरिस्तू ने संख्या और सम्पत्ति दोनो तत्त्वो को सयुक्त करके यह बतलाया है कि ऑलिगार्किया अल्पसख्यक-धनिक लोगो का शासन है और देमोक्रातिया बहुसख्यक निर्धन जनता का शासन।

उपर्युक्त शासन-पद्धतियो में शासकपदो का वितरण अथवा निर्धारण विभिन्न आधारो पर हुआ करता है। एकराटतत्र अथवा बसीलेइया मे राजा अपने सदाचारातिशय अथवा गुणातिशय के कारण सर्वोच्च शासन-सत्ता पर आरूढ होता है। श्रेष्ठ-जनतत्र मे अल्पसख्यक शासक वर्ग भी अन्य लोगो की अपेक्षा गुणो मे सज्जनता मे बढे-चढ़े होने के कारण अपने पदो को प्राप्त करता है। जनतत्र व्यवस्था मे पद-वितरण का आधार धन और जन का सम्मिलित तत्त्व रहता है अथवा सैनिक-सज्जा प्रस्तुत करने

की मामर्थ्य होता है। "देमोक्रातिया" मे पद-वितरण स्वतंत्र नागरिको की समानता के आधार पर होता है, "ऑलिगार्किया" मे लोगो की आर्थिक क्षमता के आधार पर और तानाशाही शासन-पद्धति का आधार तो छल-कपट एव धीगामुश्ती है।

एक अन्य दृष्टि से भी राष्ट्र-व्यवस्थाओ के विभाजन पर विचार किया जा सकता है। अरिस्तू ने नगर-राष्ट्रो की व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन करके यह देखा कि शासन-व्यवस्था को राष्ट्र के प्राय निम्नलिखित अगों का प्रबन्ध करना पडता है—भोजन-सामग्री उत्पन्न करनेवाला वर्ग, शिल्पकारो और श्रमिको का वर्ग, व्यवसायी-वर्ग, योद्धावर्ग, न्यायकर्ता-वर्ग, राष्ट्रीय पर्वों और उत्सवो के लिये व्यय करनेवाला धनिक-वर्ग, अधिकारीवर्ग और राष्ट्र का चिन्तन करनेवाला वर्ग। इन्ही वर्गों के द्वारा नगर-राष्ट्र का जीवन घटित और सचालित होता था। यद्यपि अरिस्तू ने उपर्युक्त राष्ट्राङ्गो का विवरण एकाधिक स्थानो पर प्रस्तुत किया है और उनके प्रबधक-पटलो की भी व्यवस्था का वर्णन किया है पर इनको उसने व्यवस्थाओ के विभाजन का आधार नही बनाया। सभव है कि उसको इन अगो के सार्वकालिक स्थायित्व का विश्वास न रहा हो और सभव है कि उसने यह भी देखा हो कि यह सब अग सब राष्ट्रो मे समान रूप से उपलब्ध भी नही होते। राजनीति-विज्ञान के विकास के साथ अरिस्तू के विभाजन की उपयोगिता उतनी नही रह गई है जितनी प्राचीन काल मे थी। उसके विभाजन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे थे केवल नगर-राष्ट्र और वह भी यूनान के। साम्राज्यो, और आधुनिक कालीन महान् राष्ट्रो के विषय मे एव उनसे उत्पन्न होनेवाली समस्याओ के विषय मे हम अरिस्तू की रचनाओ से अधिक पथप्रदर्शन नही पा सकते। पर इसका अर्थ यह भी नही है कि अरिस्तू का विभाजन आज पूर्णतया निकम्मा हो गया है। तानाशाही, देमौक्रेसी, एकराट्तत्र, धनिकतत्र, श्रेष्ठजनतत्र आज भी चल रहे है और अरिस्तू ने उनके विषय मे जो कहा था वह अब भी एक सीमा तक हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहा है। पर आज की राजनीति कुछ नवीन भाषा भी बोलती है—आज समाजवाद, साम्यवाद, न्यू देमौक्रेसी, वर्गविहीन समाज, पूंजीवाद, वर्गविहीन पूंजीवाद, विश्वशासन इत्यादि इतने अधिक नवीन शब्द राजनीति की भाषा का अग बन गये है और उनके ठीक-ठीक अर्थ के विषय मे इतना सचेत और अचेत मतभेद है कि अर्थ-विचार नामक भाषा-विज्ञान का अग आज राजनीतिक मनोविज्ञान का एक आवश्यक अध्याय बन गया है।

केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाय तो आचार्य विनोबा द्वारा "स्वराज्य-शास्त्र" मे दिया हुआ व्यवस्थाओ का विभाजन अधिक युक्तियुक्त और व्यापक प्रतीत होगा। इस छोटी-सी पुस्तक पर अभी तक राजनीति के अध्यापको और विद्यार्थियो द्वारा जो ध्यान दिया जाना चाहिये था वह नही दिया गया। आधुनिक समय मे यह छोटी-सी पुस्तक राजनीतिक चिन्तन मे भारतीय दृष्टिकोण की ओर से एक मौलिक देन है।

पर अरिस्तू ने इन नामरूपो की माया से परे भी राष्ट्र के रूप पर विचार किया था। उसने देखा था कि सभी मतो को माननेवाले न्याय की दुहाई देते हैं और उसी के आधार पर सत्ता को आत्मसात् करना चाहते हैं। पर यह न्याय है क्या वस्तु ? उत्तर मिला समानो के प्रति समानता और असमानो के प्रति असमानता अर्थात् जो जिस योग्य हो उसके प्रति वैसा ही बर्त्ताव करना। पर जब इस सिद्धान्त के व्यवहार की वेला आती है तब अरिस्तू ने देखा कि व्यवहार मे सब युक्तियुक्तता को तिलाजलि दे देते है। व्यावहारिक राजनीति यह है कि जनता की नाडी को परखकर बहुमत को प्रिय लगनेवाले नारो को खडा करना, तदुपरान्त शक्ति को हस्तगत करके मनमानी करना। अतएव अरिस्तू ने गहरे पैठकर देखा कि धनी-मानी लोग धन में अन्य लोगों से बढकर हैं तो इसके आधार पर वे अपने को सभी बातो मे बढकर समझने का दम भर रहे है और दूसरी ओर वे लोग है जो स्वतत्रजन्मा होने की समानता के आधार पर अपने को सभी बातो मे समान समझकर सब अधिकारो मे समानता की माँग कर रहे है। यदि धनिको के दावे को स्वीकार किया जाय तो बहुसख्यक लोगो का असन्तोष उत्पन्न होता है और यदि समानतावादियो की बात मानी जाय तो अधिक योग्यता और क्षमता वाले व्यक्तियो के प्रति अन्याय होता है। और फिर इन दोनो के कलह में राष्ट्र के लक्ष्य की क्या दशा होती है। यदि राष्ट्र का लक्ष्य केवल धनार्जन होता तो धनाधीश का दृष्टिकोण ही मान्य स्वीकार किया जा सकता और ऐसी स्थिति मे ऐसे कोई भी दो नगर जिनमे व्यापारिक सन्धियाँ हुई होती, एक नगर माने जाते। दूसरी ओर यदि राष्ट्र का लक्ष्य केवल अन्याय से रक्षा पाना होता और सबकी स्वतत्रता और समानता की रक्षा करना होता तो बहुसख्यक स्वतत्र नागरिको का ही पक्ष औचित्यपूर्ण होता। पर वास्तविकता यह है कि राष्ट्र का चरम लक्ष्य उपर्युक्त दोनो लक्ष्यो को अपनी नीव मे लेकर मानव की परिपूर्ण उत्तमता के शिखर तक पहुँचता है। मानवता के पूर्ण विकास के लिये भौतिक सम्पत्ति की आवश्यक मात्रा भी (ही नही) चाहिये और समान स्वतत्रता भी (ही नही)। यह दोनो ही मानवता के विकास के लिये आवश्यक शर्तें है, उसकी सीमाएँ नही है।

नगर मानव-कल्याण के निमित्त निर्मित समाज है जो आत्म-निर्भरता के लिये धन और सेना इत्यादि को भी साधन रूप मे सग्रह करता है पर जिसका अन्तिम साध्य परिपूर्ण मानव-जीवन है। स्थान की एकता, सुरक्षितता, विवाह-सबधी नियम, व्यापार सबधी सन्धियाँ, धनप्राप्ति इत्यादि आशिक लक्ष्य सब यथास्थान इस विशद एव व्यापक लक्ष्य मे समन्वित हो जाते है। यदि ऐसा है तो "कस्मै देवाय हविषा विधेम" किसको शासक के पद के लिये वरण करें ? धनवान् को ? स्वतत्र नागरिक को ? कुलपुत्र को ? नेति नेति ! केवल भले को यह शक्ति प्राप्त होनी चाहिये। मानव की श्रेष्ठता मानव मे निहित भलाई है और मानव की समानता भी यही भलाई है और इस भलाई की रक्षा के लिये ही स्वतत्रता का मूल्य है। पर सॉक्रातेस, प्लातोन और अरिस्तू के चिन्तन मे अच्छाई, भलाई, सद्गुण इत्यादि के अर्थों को पूर्णतया समझाने के लिये तो अलग स्वतत्र ग्रथ लिखे गये है। यहाँ तो उसकी ओर सकेतमात्र करना सभव हो सका है।

एक आलोचक ने कहा है कि इससे अधिक ऊँचे और अधिक सुविधायक राष्ट्रीय आदर्श की अभिव्यक्ति कभी नही हो सकी है। निश्चय ही (जैसा एक दूसरे विद्वान् ने कहा है) अरिस्तू का राजनीतिक आदर्श अल्पसख्यक श्रेष्ठ जनतत्र की कल्पना पर आश्रित है जिसके पास पर्याप्त अवकाश है, जिसके पास अत्यधिक धन नही है और जिसकी भौतिक सम्पत्ति मे द्वेष को उत्पन्न करनेवाली विषमता नही है, जो विक्रम-पराक्रम की भावना से मुक्त ज्ञान-विज्ञान और कला के अनुसन्धान मे निरत है, जिसकी भौतिक आवश्यकताएँ नागरिकता से वञ्चित नगर-निवासियो के श्रम द्वारा पूरी हो जाती है तथा जिनको इसके बदले मे केवल दयापूर्ण व्यवहार मिलता है। गेटे के तत्त्वावधान मे शासित वाईमार आधुनिक इतिहास मे इस आदर्श की मूर्त्त कल्पना हो सकता है। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के ग्रीक-जगत् और उसके पूर्व इतिहास के सदर्भ मे अरिस्तू का आदर्श अवश्य स्तुत्य है। इसी सबध मे पुन पाठको से आचार्य विनोबा के "स्वराज्य शास्त्र" के १५वे खण्ड को पढने का अनुरोध करेंगे। उपर्युक्त आदर्श की सिद्धि के लिये अरिस्तू सत्कर्मों के लिये राष्ट्र की ओर से पुरस्कार और दुष्कर्मो के लिये दण्ड की व्यवस्था द्वारा जनसाधारण को सत्कर्म-परायण बनाने का भी विधान करता है और व्यावहारिक दृष्टि से यह ठीक भी है।

पर मनुष्य की अच्छाई उसके मस्तक पर अकित नही होती। अतएव अरिस्तू ने नितान्त निष्पक्ष भाव से सब प्रकार की शासन-पद्धतियो का समीक्षण करके यह जानने

का प्रयत्न किया है कि उपर्युक्त शासन-पद्धतियो मे सर्वश्रेष्ठ कौन है। ऐसा लगता है कि अरिस्तू का झुकाव जनतन्त्रवाद की ओर अधिक है। थोडे से बहुत अच्छे मनुष्यो की अपेक्षा बहुत से साधारण मनुष्य भी सामूहिकरूप मे अधिक अच्छे होते है। चाहे चतुर व्यक्ति कुछ कहे पर यह व्यवहार का कसौटी पर कसा हुआ अनुभव है कि एक और एक दो नही, ११ होते है और पचो मे परमेश्वर बसता है। चतुर से चतुर व्यक्ति अथवा व्यक्तियो की योजनाएँ जब बहुत से साधारण व्यक्तियो की सम्मिलित आलोचना का विषय बनती है तो उनमें ऐसी त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती है जो चतुर-नेत्रो को नही सूझ सकी थी। फिर भी अरिस्तू इस तथ्य को शत-प्रतिशत व्यवहार मे लाने का आग्रह नही करता। उसका कहना यही है कि बहुसख्यको की सामूहिक बुद्धिमत्ता और अनुभव समाज मे सारवान् वस्तु है, उसका उपयोग होना चाहिये उपेक्षा नही। उसका आग्रह यह कदापि नही है कि सब कुछ उन्ही को सौप दिया जाय। यदि इस उपयोगी सामाजिक योग्यता को शासनाधिकार से पूर्णतया बहिष्कृत किया जाता है तो इससे विशाल एव व्यापक असन्तोष उत्पन्न होता है। शासक जो कार्य करते है उसका अच्छा या बुरा प्रभाव तो बहुसख्यक शासितो पर ही पडता है। शासक स्वय अपने कार्यों के विषय मे उसी कुँजडी के समान व्यवहार करता है जो अपने बेरो को कभी खट्टा नही बतलाती। उसके कार्यों का सच्चा मूल्याकन शासितो का समुदाय ही कर सकता है अतएव न्यायोचित व्यवहार यही है कि शासको की नियुक्ति अथवा पदच्युति इत्यादि बहुसख्यक शासितों की सम्मति के अनुसार होनी चाहिये। अरिस्तू के मतानुसार बहुसख्यक जनता व्यक्ति के समान भावाविष्ट भी नही होती। पर यह ठीक नही, जनता को उत्तेजित होने मे समय अवश्य लगता है पर उत्तेजित भीड़ की उत्तेजना के समक्ष व्यक्ति की उत्तेजना कुछ भी नही है।

पर क्या किसी राष्ट्र मे ऐसे पुरुष की उत्पत्ति कभी सभव नही है जो गुणातिशय के कारण शेष सब नागरिक समुदाय से व्यक्तिश नही समष्टित भी बढकर हो? इतिहास के मनन के आधार पर और गम्भीर चिन्तन के परिणाम-स्वरूप अरिस्तू यह जानता था कि ऐसा होने का दावा तो न जाने कितनो ने किया है (और आज भी ऐसा दावा करनेवाले विद्यमान है) पर तो भी ऐसे व्यक्ति का होना विरल हो सकता है, असभव नही है। यदि ऐसा व्यक्ति किसी राष्ट्र मे उत्पन्न हो जाय तो? अरिस्तू ने जिन इतिहास के पृष्ठो को पढा था उनमे ऐसे व्यक्तियो के लिये जनतान्त्रिक राष्ट्रो मे निर्वासन, हत्या, विष का प्याला इत्यादि पुरस्कार प्राप्त हुए थे। पर दार्शनिक अरिस्तू के मत में जनता के लिये कल्याणकारी एव उचित मार्ग खुशी से उनका अनुसरण

करना ही है। यह है पुरुषोत्तम (पूर्णपुरुष) का एकराट्तत्र। इससे बढकर अन्य कोई शासन-व्यवस्था नही हो सकती। पर इतिहास ने ऐसे पुरुषो को प्रथम सताकर मारा है और मृत्यु के पश्चात् उनकी पाषाण-प्रतिमाओ और समाधियों को पूजा है और कालान्तर मे उस पूजा को भी दूसरो को पीडित करने का साधन बनाया है। अरिस्तू को स्वय इसी प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होने पर अपने जीवन की सध्या मे अथेन्स से पलायन करना पडा था।

यह तो रही "मानव रूप मे देवता" के एक राट्तन्त्र की बात जिसको अरिस्तू सर्वश्रेष्ठ किन्तु असभवप्राय मानता है। अन्य प्रकार की व्यवस्थाओ के विषय मे अरिस्तू का विचार है कि हम उनकी भलाई और बुराई का विचार निरपेक्ष रूप से नही कर सकते। किन नागरिको के लिये किस प्रकार की व्यवस्था सर्वोत्तम है? इस प्रश्न का उत्तर तभी ठीक प्रकार से दिया जा सकता है जब यह पता चल जाये कि किन नागरिको का स्वरूप अथवा स्वभाव किस प्रकार का है "यथा प्रजा तथा व्यवस्था।" यदि कोई नागरिकजन ऐसे हो जिनके मध्य मे एक व्यक्ति अथवा एक परिवार सद्-गुणो मे सर्वोत्तम हो तो उनके लिये एकराट्तत्र सर्वोत्तम है। यदि नागरिकजन ऐसे हो कि स्वतत्र नागरिक होते हुए वे उत्तमता के कारण शासनादेश की क्षमता रखनेवाले मनुष्यो के शासन को सह सकते हो तो उनका श्रेष्ठ (उत्तम) जनतत्र सबसे अच्छा है। यदि नागरिक समुदाय मे प्रकृत्या ऐसे योद्धाओं का समूह है जो धनिको को उनकी योग्यतानुसार शासक बनाने वाले नियमानुसार पर्याय-क्रम से शासन करने और शासित होने की क्षमता रखता है तो उसके लिये "पौलितेइया" नाम की व्यवस्था ही ठीक है। और यदि नागरिक जन इन प्रकारो की अपेक्षा अधिक विकृत प्रकार के हो तो उनके लिये विकृत प्रकार की व्यवस्थाएँ ही सभव होगी।

यदि असभव स्थिति सभव न हो और पुरुषोत्तम का आविर्भाव न हो तो एक राट्तंत्र (मोनार्खिया) के अन्य प्रकार तो सभव होते ही है। स्पार्टा का राजतत्र एक प्रकार का है जहाँ दोनो राजकुल सीमित नेतृत्व से युक्त है। पर यह सच्चा राजतत्र नहीं है। सच्चा राजतत्र वहाँ होता है जहाँ राजसत्ता एक व्यक्ति के हाथ मे केन्द्रित होती है। पर यदि यह राजा पूर्ण पुरुषोत्तम न हो तो उस एक अच्छे के शासन की अपेक्षा अनेक (अल्प-सख्यक) अच्छो का शासन (अरिस्तोक्रातिया) ही अधिक अच्छा होगा। मान लिया जाय कि राजा पर्याप्तरूपेण अच्छा है तो भी यह तो उसकी हार्दिक इच्छा होगी ही कि उसके पश्चात् उसके वशधरो के हाथ मे शासन की बागडोर रहे। यह

वशधर भी उसी के समान भले होगे इसका क्या पता ? आचार्य विनोबा ने लिखा है "मूल सस्थापक को कमाई करनी होती है। इसलिये इच्छा हो न हो, उसे अनेको से सहयोग करना पडता है। बाद में आने वाले इस तरह की कोई जिम्मेदारी महसूस नही करते। इसलिये वे अधिक गैर जिम्मेदार बन सकते है। कहा भी है सूर्य उतना नही तपता, जितनी कि बालू तपती है।" (स्वराज्य-शास्त्र पृ० ९)। फिर यूनान देश के राजाओ के पास व्यक्तिगत रक्षक होते थे और वे चाहते तो इनका मनमाना उचितानुचित उपयोग कर सकते थे। अथेन्स के सविधान में अरिस्तू ने इनके दुरुपयोग के उदाहरण दिये है। पूर्ण पुरुषोत्तम के लिये तो अरिस्तू ने नियम-बधन को अनावश्यक माना था। पर अन्य राजा लोग तो वैसे पूर्ण होते नही अतएव इनके प्रसग मे अरिस्तू ने इस समस्या पर भी विचार किया है कि प्राधान्य नियम का होना चाहिये या राजा का। मानव मनोवेगों के वशीभूत होकर न जाने क्या कर बैठे अतएव राजा का प्राधान्य नही होना चाहिये; निरुद्वेग विवेक द्वारा निर्धारित नियम (कानून) को सर्वोपरिता प्राप्त होनी चाहिये। पर कठिनाई यह है कि नियम भी तो किसी शासन-व्यवस्था अथवा नियमनिर्माता या स्मृतिकार के द्वारा ही बनाया गया होगा और उसके निर्माता की अपूर्णता उसमे भी प्रतिफलित होगी ही। फिर नियम के तो आँखे होती नही। किस नियम का कहाँ उपयोग हो यह बात तो सर्वदा शासनसापेक्ष्य रहेगी। इसके अतिरिक्त त्रिकालोपयुक्त नियम है भी कहाँ ? पर अरिस्तू ने जो नियमो के प्रति पक्षपात दिखलाया है इसका कारण उसकी राजा अथवा शासको की स्वच्छन्द स्वेच्छा-चारिता का नियमन करने की इच्छा थी। वह कानूनो मे मौलिक परिवर्तन करने के लिये अत्यन्त सावधानी बरतने के पक्ष मे था। वह नियमो का स्थायित्व चाहता था। अरिस्तू हृदय से क्रान्तिकारी नहीं था अतएव वह नियमो के क्षेत्र में परिपूर्त्ति तो चाहता पर जडमूल से क्रान्ति नही।

जनतत्रो के विविध रूपो मे सबसे प्रथम अरिस्तू ने उस व्यवस्था का वर्णन किया है जिसमे निर्धन और धनवान् सबको एक समान माना जाता है। तदुपरान्त दूसरे नबर पर उस व्यवस्था को लिया है जिसमे शासको और अधिकारियो को निम्नकोटि की साम्पत्तिक योग्यता के आधार पर चुना जाता है। जिन लोगो में कृषि अथवा पशुचारण के व्यवसाय का प्राधान्य होता है उनमें इस प्रकार का जनतंत्र स्वाभाविकतया पाया जाता है और ऐसी जनता जनतत्र के लिये समुपयुक्त भी होती है। कारण यह है कि इस प्रकार की जनता को अपने व्यवसाय की विशिष्टता के कारण सुदूर स्थानो पर बिखरे हुए रहना पडता है और अवकाश भी कम मिलता है। अतएव वे आये दिन शासन के

साथ छेडछाड करने से विरत रहते है और शासन-कार्य को अपने से अच्छे व्यक्तियो को सौपकर अपने धधो मे लग जाते हैं। अच्छे प्रकार के लोग जनता द्वारा चुने जाकर शासन चलाया करते है और इस चुनाव के नियत्रण के अतिरिक्त उन पर अन्य कोई नियत्रण नही रहता। तृतीय प्रकार के जनतत्र मे निर्दोषजन्मा होने के आधार पर सब नागरिको को शासनकार्य में भाग प्राप्त होता है परन्तु अवकाश के अभाव मे उनका ऐसा करना व्यवहारतः सभव नही होता और परिणाम यही होता है कि शासनकार्य मे कानून को प्रधानता प्राप्त होती है। इसी से मिलती-जुलती स्थिति स्वतत्रजन्मा नागरिको के जनतत्र मे भी उपस्थित होती है। जिन नगरो मे जनसख्या पूर्वापेक्षा बहुत अधिक बढ जाती है और करवृद्धि के कारण कोश मे धन भी अधिक होता है तो वहाँ ऐसे जनतत्रो की उत्पत्ति होती है जिनमे सख्याधिक्य के कारण सबको अधिकार प्राप्त होता है और राष्ट्र के सार्वजनिक अनुदान के कारण सबको राज्यशासन में व्यवहारत भाग लेने का अवकाश भी सुलभ होता है। धनिक लोग प्राय अपने राजनीतिक कर्तव्यो के पालन से विमुख अथवा अनुपस्थित रहते है। परिणाम यह होता है कि नियमो के प्राधान्य के स्थान पर निर्धन लोगो के समूह का शासन कार्य मे प्राधान्य स्थापित हो जाता है। यह व्यवस्था तानाशाही से बहुत मिलती है एव इसको एक प्रकार से व्यवस्था का अभाव कहना चाहिये।

इसके उपरान्त अरिस्तूं पौलितेइया (पौलिटी) नामक व्यवस्था का वर्णन प्रस्तुत करता है। अरिस्तू के पूर्व के लेखको ने इस पद्धति की ओर ध्यान नही दिया था अतएव इसके लिये कोई विशेष नाम तक नही दिया गया। वास्तव मे यह पद्धति धनिकतत्र और जनतत्र के उस सम्मिश्रण का नाम है जिसका झुकाव जनतत्र की ओर होता है। यदि इस मिश्रण का झुकाव धनिकतत्र की ओर अधिक होता है तो इसको श्रेष्ठजनतत्र (अरिस्तौक्रातिया) कहते है। मिश्रण कई प्रकार से संभव है पर उन सबका उद्देश्य धनिकतत्र और जनतत्र के मैध्यवर्ती मार्ग पर चलना है। अतएव इस व्यवस्था मे न तो पदाधिकार की प्राप्ति के लिये उच्च साम्पत्तिक योग्यता की आवश्यकता होती है और न इसके विपरीत साम्पत्तिक योग्यता का नितान्त अभाव ही स्वीकार किया जाता है। परिणामत. इस व्यवस्था मे सत्ता मध्यमवर्ग के हाथ मे रहती है।

अरिस्तू के मत मे मध्यममार्ग का जीवन सर्वश्रेष्ठ है। जो लोग बहुत धनवान् होते है उनमे निरकुशता और हिसा का भाव रहता है और वे अनुशासन नही मानते।

दूसरी ओर जो निर्धन होते हैं उनको शासन करना नही आता। जिस समाज मे केवल यही दो वर्ग होते है वह स्वामी और दासो का नगर तिरस्कार और द्वेष की ज्वाला मे जला करता है। पर जिस नगर मे मध्यवित्तवाले मध्यमवर्ग का आधिक्य होता है वही नगर सुखी हो सकता है क्योकि इस वर्ग को दोनो ही शेषवर्ग (धनी और निर्धन) विश्वास की दृष्टि से देखते हैं। यदि इस वर्ग का अभाव हो तो शासनपद्धति बडी आसानी से धनिकतत्र अथवा जनतत्र को लाँघकर तानाशाही की अवस्था को प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार आदर्श-व्यवस्था के उपरान्त अरिस्तू के मत मे वास्तविक व्यवहार मे यही व्यवस्था नाम की (पौलितेइया) पद्धति सर्वोत्तम है। पर इसके उदाहरण-स्वरूप उसने किसी नगर की व्यवस्था का उल्लेख नही किया है। सभवतया स्पार्टा की व्यवस्था इस आदर्श के समीप पहुँचती है। अथवा यदि अथेंस के सविधान पर दृष्टिपात करे तो ई० पू० ४११ की थेरामेनेस् की व्यवस्था इस प्रकार की प्रतीत होगी।

विविध प्रकार की व्यवस्थाओ के विकास के ऐतिहासिक क्रम के विषय मे अरिस्तू का मत है कि वे प्राय एकराट्तत्र से श्रेष्ठजनतत्र, धनिकतत्र, और तानाशाही के रूपो को धारण करती हुई जनतत्र की अवस्था को प्राप्त हुआ करती है। पर यह सामान्य प्रवृत्ति का दिग्दर्शन है। इसी प्रकार जनतत्र की प्रवृत्ति भी सौम्य जनतत्र से अतिगामी जनतत्र की ओर जाने की रहती है। इसी प्रसग मे अरिस्तू ने धनिकतत्र के चार और तानाशाही के तीन भेद बतलाये हैं।

धनिकतत्र के प्रथम भेद मे पदाधिकार आर्थिक योग्यता के आधार पर प्राप्त होता है। दूसरे भेद मे नागरिको को पदाधिकार प्राप्ति के लिये और भी ऊँची आर्थिक-योग्यता की आवश्यकता होती है और पदाधिकारियो का चुनाव भी ऐसे नागरिको द्वारा किया जाता है जो उच्च आर्थिक-योग्यता से सपन्न होते हैं। धनिकतत्र के तीसरे भेद मे पदाधिकार कुलक्रमागत होता है। अन्तिम भेद मे कुलक्रमागत शासनपद्धति के साथ ही साथ शासनकार्य मे कानून के स्थान पर व्यक्ति का प्राधान्य होता है। ताना-शाही के तीन भेदो मे से प्रथम दो भेद तो अर्द्ध-एकराट्तत्र और अर्द्धतानाशाही तत्र कहे गये हैं। इनमे शासक चुनाव द्वारा शासक बनता है और उसका शासन नियमा-नुसार चलता है अतएव इस सीमा तक उसका शासन एकराट्तत्र पद्धति के तुल्य है पर क्योकि वह अपने को स्वामी समझ कर प्रजाओ पर दासो के समान शासन करता है अतएव उसका शासन एक सीमा तक तानाशाही प्रकार का होता है। पर तानाशाही

का असली रूप वह होता है जिसमे शासक प्रजाजनो पर एक मात्र अपने स्वार्थ की दृष्टि से शासन करता है।

राष्ट्रशासन के तीन अग है (१) विचारक (२) कार्यसचालक और (३) न्यायकर्तागण। इन सबकी नियुक्ति और सघटन के विषय मे भी अरिस्तू ने विस्तार से विचार किया है। परन्तु आजकल की शासन-पद्धतियो की तुलना मे उसके विचार प्रारभिक प्रकार के ही प्रतीत होगे। इन अगो की व्यवस्था विभिन्न शासन-पद्धतियों के अनुसार किस प्रकार होनी चाहिये इस पर विचार करते हुए उसने विचारकमडल के सबध मे एक महत्त्वपूर्ण सुझाव यह दिया है कि विचारकमडल मे नागरिको के विभिन्न वर्गों मे से समानसख्यक सदस्य चुनकर आने चाहिये। कार्यसचालक मडल के सबध मे नियुक्तियो की २७ प्रकार की सभावनाओ पर उसने विचार किया है और यह बतलाया है कि कौन प्रकार किस प्रकार की व्यवस्था के लिये उचित होगा। न्यायालयों के उसने आठ विभिन्न प्रकार गिनाये है और उनके सघटन की तीन पृथक्-पृथक् विधियाँ बतलाई है। यह विधियॉ क्रमश जनतत्र, धनिकतत्र और व्यवस्थातत्र पद्धतियो के अनुरूप होती है। इस प्रकार विविध व्यवस्थाओ का विवरण समाप्त हो जाता है।

व्यवस्थाओ के स्वरूप के अध्ययन के पश्चात् अरिस्तू उनमे होनेवाली क्रान्तियो के कारण एवं उनको दूर कर शान्ति स्थापित करने के उपायो की मीमासा करता है। मानव-शरीर की भाँति शासन-व्यवस्थाएँ भी रुग्णावस्था को प्राप्त हो सकती है और समुचित उपचार द्वारा उनके रोगो का भी निराकरण और उपशम सभव है। जनतत्रात्मक मनोवृत्तिवाला जनसमूह समानता का प्रबल समर्थक होता है, वह असमानता को नहीं सह सकता और उसको सभी क्षेत्रो से हटाने का प्रयत्न करता है। धनिकतत्र के प्रेमी धनसपत्ति की असमानता के आधार पर यह दावा करते है कि जो सम्पदा मे दूसरो से बड़े है वह सभी बातो मे अन्य लोगो से बढकर माने जाने चाहिये। यदि ऐसा नही होता तो वह समझते है कि न्याय नही हुआ। इसी प्रकार की मनोवत्तियो को क्रान्तिकारी मनोवृत्ति कहा जा सकता है। क्रान्ति के कारणो को पूर्णतया नही गिनाया जा सकता। प्रमुख कारण हैं, कुछ लोगो का लाभ और सम्मान को अत्यधिक प्राप्त कर लेना और अन्य लोगो को अन्यायपूर्वक उनसे वचित रखना, शासको की धृष्टता, कुछ व्यक्तियो को अतिशय महत्त्व की प्राप्ति, प्रजाजनो अथवा महत्त्वाकाक्षी प्रजाजनो का तिरस्कार, राष्ट्र के किसी अग की असतुलित वृद्धि, चुनावो में षड्यंत्र और चालबाजियाँ, अविश्वासपात्र लोगो को शासनाधिकार की प्राप्ति,

छोटे-छोटे परिवर्तनो के प्रति असावधानी इत्यादि। यदि इन कारणो को और सूक्ष्मता के साथ देखा जाय तो हमको गेटे की उक्ति से सहमत होना पडेगा कि क्रान्तियाँ सर्वदा शासको के दोषो के कारण उत्पन्न होती है, शासितो के दोषो के कारण नही। क्रान्तियो का प्रभाव एक-सा नही होता। कभी क्रान्तिकारी लोग समग्र व्यवस्था को बदल डालते है तो कभी वे सत्ता को हस्तगत करके ही सन्तुष्ट हो जाते है। कभी क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप जनतत्र अथवा धनिकतत्र का स्वरूप पहले की अपेक्षा अधिक गहरा हो जाता है तो कभी अधिक हलका हो जाता है। इसी प्रकार कभी-कभी क्रान्ति का लक्ष्य केवल किसी शासन की विशेष संस्था को ही बदल डालना होता है, एव कभी-कभी क्रान्ति का रोष किसी व्यक्तिविशेष को ही अपना लक्ष्य बनाता है।

क्रान्ति के सामान्य कारणो के अतिरिक्त पृथक्-पृथक् व्यवस्थाओ मे क्रान्ति के कुछ विशेष कारण भी होते है। उदाहरणार्थ जनतत्र में लोकनायको की अतिगामी प्रवृत्तियो के कारण धनिकवर्ग जनतत्र के विरुद्ध मोर्चा बनाकर उसको उखाड फेकता है और धनिकतत्र को स्थापित कर देता है अथवा कभी-कभी लोकनायक ही जनतत्र को समाप्त करके उसके स्थान पर तानाशाही की स्थापना कर देते हैं। धनिकतत्र के दु खदायी एवं पीडापूर्ण शासन के विरुद्ध कभी प्रजा विद्रोह खडा कर देती है और कभी धनिकतत्र के भीतर फूट पड जाती है, तब कोई धनी व्यक्ति लोकनायक बन जाता है। श्रेष्ठजन-तंत्र में क्रान्ति उत्पन्न होने का कारण होता है अत्यल्प सख्यक लोगो का सम्मानभाजन होना जिससे अन्य महत्वाकांक्षी लोगो की द्वेष-भावना भडकने लगती है। व्यवस्थातत्र में यदि जनतत्रात्मक और धनिकतंत्रात्मक तत्वों का सुसतुलित सम्मिश्रण नही हो पाता तो क्रान्ति हो जाया करती है। यह कह सकना सर्वदा सरल नही होता कि किस प्रकार की व्यवस्था का क्रान्ति के पश्चात् क्या रूपान्तर होगा। व्यवस्था-पद्धति प्राय जनतंत्र के रूप को ग्रहण कर लेती है पर कभी धनिकतत्र मे भी बदल सकती है, इसी प्रकार यद्यपि श्रेष्ठजनतत्र क्रान्ति द्वारा प्राय धनिकतत्र मे परिवर्त्तित हुआ करता है पर कभी जनतत्र भी उसका स्थान ग्रहण कर सकता है।

अरिस्तू ने इन सब प्रकार के परिवर्त्तनो से बचने और सब प्रकार की व्यवस्थाओं को स्थायित्व प्रदान करनेवाले उपाय भी बतलाये है। इन उपायो को देखकर कुछ आलोचको ने अरिस्तू को माकियावेली को स्फूर्ति देनेवाला कहा है। पर ऐसा कहना उचित नही, जो व्यक्ति परिपूर्ण पुरुषोत्तम के शासन को सर्वश्रेष्ठ मानता है उसका निकृष्ट पद्धतियो के स्थायित्व की विधि बतलाना केवल राजनीतिशास्त्र की पूर्ण

वैज्ञानिकता की दृष्टि के कारण है न कि कुटिलता के प्रचार के निमित्त। क्रान्तियो को रोकने के उपायो मे अरिस्तू के मत मे सर्वप्रथम है शासको के द्वारा कानून का पालन और रक्षण। यदि शासक छोटी-से-छोटी बातो मे भी नियमो का पालन करे एव मामूली से मामूली परिवर्त्तन की अवहेलना न करे तो उनका शासन उथल-पुथल से मुक्त रह सकता है। जनता के प्रति छल का व्यवहार भी नही किया जाना चाहिये क्योकि छल का भडाफोड अवश्यभावी है। अरिस्तू के मत मे शासन-पद्धति का नाम अथवा बाह्यरूप उसके स्थायित्व से विशेष सबध नही रखता। शासन-पद्धति किसी भी प्रकार की हो, यदि शासक जनता के प्रति समझदारी का बर्ताव करे, उसके प्रति अच्छे सबध बनाये रहे, महत्त्वाकाक्षी व्यक्तियो के सम्मान को ठेस न पहुँचाये, सामान्य जनता के धन का अपहरण न करे, यथा-सभव जनता को अथवा कम-से-कम उसमे से मुख्य-मुख्य व्यक्तियो को शासन-कार्य मे कुछ भाग प्रदान करे तो किसी भी नाम और प्रकारवाली पद्धति स्थायी हो सकती है। जनता के सम्मुख किसी प्रकार के भय को विशेषकर विदेशी शत्रुओ के आक्रमण के आतक को बनाये रखना भी लाभदायक होता है। शासक-दल के मध्य मे ठोस एकता रहनी परमावश्यक है। प्रजाओ के मध्य मे भेदनीति को इस सीमा तक बरतना चाहिये कि किसी भी एक दल को अत्यधिक सबल नही बन जाने देना चाहिये। यदि प्रजाजनो मे किसी कारण से सम्पत्ति के वितरण मे परिवर्त्तन उपस्थित हो तो इन परिवर्त्तनो का बडी सावधानी से निरीक्षण करना चाहिये क्योकि यदि कोई व्यक्ति एक साथ निर्धन से धनवान् अथवा धनवान् से निर्धन हो जाता है तो इसका प्रभाव राष्ट्र के लिये भयावह हो सकता है। सबसे अधिक क्रान्ति का भय कोश-सबधी गडबड से होता है अतएव राजकीय आय-व्यय का लेखा-जोखा बिलकुल ईमानदारी और स्पष्टता के साथ तैयार किया जाना चाहिये। यदि शासन-पद्धति धनिकतत्र हो तो उसको जनतत्रात्मक विचारवाली जनता के प्रति और यदि जनतत्र हो तो उसको धनिकतत्रात्मक विचारवाली जनता के प्रति द्वेषपूर्ण नही किन्तु न्यायपूर्ण व्यवहार करना चाहिये, क्योकि जो अपने विरोधियो को सन्तुष्ट कर सकता है वह सब भयो से मुक्त हो जाता है। उच्च पदो पर योग्य व्यक्तियो की नियुक्ति से भी जनता मे अशान्ति नही फैलती। प्रमुख शासको मे शासन-पद्धति के प्रति श्रद्धा, शासन-कार्य की क्षमता और प्रामाणिकता यह तीन गुण पाये जाने चाहिये। पर यदि तीनो गुण एक साथ न मिल सके तो दो मिले और यदि किसी पद के लिये विशिष्ट प्रकार की योग्यता एव क्षमता आवश्यक हो तो उस क्षमता का विशेष विचार किया जाना चाहिये, शेष दो गुणो का अधिक ख्याल नही किया जाना चाहिये। यो तो अरिस्तू प्राय सदाचार

अथवा सद्वृत्ति (अरैते) पर ही बल अधिक देता है पर वह अच्छे अर्थ मे यथार्थवादी है और सद्वृत्ति मे आचरण की और बुद्धि की दोनो ही की उत्तमता सम्मिलित है, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है अरिस्तू जनतत्र और धनिकतत्र का त्राण विरोधी-वाद के साथ समझौता करने मे ही समझता है। उसके अनुसार विशुद्ध प्रकार की व्यवस्थाओ की अपेक्षा मिश्रित व्यवस्थाएँ अधिक स्थायी हो सकती हैं। तानाशाही शासन को दो प्रकार से सुरक्षितता प्राप्त हो सकती है। बुरा उपाय तो यह होगा कि तानाशाह जनता को इतना दीन-हीन निर्धन और अपग बना दे कि वह सिर न उठा सके। यह वही उपाय है जिसका उपदेश गिरधर कविराय ने इस प्रकार दिया था "जाकी धन धरती हरी ताहि न लीजै सग । जो सँग राखे ही बने तो करि राखु अपग ।" अच्छा उपाय है यह कि तानाशाह केवल अपने स्वार्थ छोडकर राजा के समान प्रजा का हितैषी बन जाय।

राजनीति की अन्तिम दो पुस्तको मे अरिस्तू ने आदर्श नगर-व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पर वास्तव मे वह आदर्श व्यवस्था के सबध मे सामान्य विचारो को व्यक्त करके उसकी शिक्षा की रूपरेखा ही प्रस्तुत कर सका है। शासन-पद्धति केवल शासन-प्रबन्ध का ही नाम नही है वह एक जीवन-पद्धति भी होती है अतएव आदर्श शासन-पद्धति की रूपरेखा प्रस्तुत करने के पूर्व अरिस्तू ने वाछनीयतम जीवन की झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। सब प्रकार की सम्पदाएँ तीन भागो मे विभक्त की जा सकती है, बाह्य भौतिक सम्पदाएँ, शारीरिकसम्पदा (स्वास्थ्य इत्यादि), और आध्यात्मिक सम्पदा। अपने सदाचार-शास्त्र मे अरिस्तू ने अनुभव के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि यद्यपि इन सम्पदाओ मे से उपेक्षणीय कोई नही है तथापि उच्चकोटि की सद्वृत्ति के योग मे भौतिक सम्पदाओ की साधारण मात्रा की प्राप्ति से भी मनुष्य को उससे अधिक सुख प्राप्त होता है जो भौतिक सम्पदाओ की अत्यधिक मात्रा और थोडी-सी सद्वृत्ति के योग से उपलब्ध होता है। सच तो यह है कि भौतिक सम्पदाएँ एक सीमा तक ही सम्पदा रहती हैं पर सीमा का उल्लघन करने पर विपदा बन जाती है, पर सद्वृत्ति की मात्रा जितनी अधिक हो उतनी ही अच्छी, इस दिशा मे 'अति' वर्जित नही है। भौतिक और शारीरिक सम्पदाएँ आत्महित के लिये अभीष्ट है अन्यथा उनका कोई महत्त्व नही है। एव जो बात व्यक्ति के पक्ष मे ठीक है वही राष्ट्र के लिये भी ठीक है। पर राष्ट्रजीवन मे सद्वृत्ति के साथ-साथ भौतिक सम्पदाओ की भी पर्याप्त मात्रा होनी चाहिये जिससे सत्कर्मपरायण जीवन-पद्धति सभव हो सके। सद्वृत्तिमय जीवन को सर्वोत्तम मान लेने पर भी अरिस्तू व्यवसाय

और राजनीति मे सलग्न जीवन की अपेक्षा चिन्तन-एव मननपरायण जीवन को ही अधिक वरेण्य मानता है। उसके मत मे कर्मठता अनेक प्रकार की हो सकती है पर जो व्यक्ति दूसरों पर शासन करना और अधिक-से-अधिक राजनीतिक सत्ता को अपनी मुट्ठी मे रखना ही कर्मठता का आदर्श मानते है अरिस्तू उनसे सहमत नही। इसी प्रकार वह उनसे भी सहमत नही जो यह मानते है कि वैधानिक शासन भी व्यक्ति-कल्याण का विरोधी है। सर्वोपरि सत्ता तभी अच्छी होती है जब उसका व्यवहार निकृष्टकोटि के दासतुल्य जनो के प्रति किया जाता है अन्यथा वह बुराई मे परिणत हो जाती है, दूसरी ओर यद्यपि स्वतत्र जीवन परतत्र जीवन की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है पर सभी शासन-व्यवस्थाएँ प्रभुशासन-स्वरूप नही होती। एव कर्मठ जीवन का तात्पर्य केवल उस जीवन से नही है जिसमे इतरजनो का सम्पर्क अनिवार्य हो। स्वय विचार भी क्रिया है और साधारण क्रिया नही दिव्य-क्रिया है।

इस प्रकार अभीष्टतम जीवन के स्वरूप का निर्धारण करके अरिस्तू आदर्श-नगर के चित्र की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। ऐसे नगर की प्रथम शर्त है पर्याप्त जनसख्या जो न तो सुखी जीवन की आवश्यकताओ के लिये कम हो और न अत्यधिक। अरिस्तू ने कृषक, व्यवसायी, शिल्पी और श्रमिको के अतिरिक्त स्वतत्र नागरिको की जो न्यूनतम और अधिकतम सख्या का सकेत किया है वह उभय पक्ष मे अस्पष्ट है। अधिक से अधिक सख्या इतनी होनी चाहिये कि उसको एक नजर मे देखा जा सके और एक व्यक्ति की आवाज उन सबको सुनाई पड सके। अरिस्तू को विशाल-नगरो की कल्पना प्रिय नही थी। एव उसके शिष्य ने जो साम्राज्य निर्माण आरभ किया था उसके प्रति उसकी सहानुभूति नही थी। वह तो राजनीतिक चरम-विकास के रूप मे ऐसे नगर को ही देख रहा था जिसके स्वतत्र नागरिक एक दूसरे से परिचित हो। उसके मतानुसार जिस नगर के नागरिक परस्पर परिचित न हो, वहाँ श्रेष्ठशासन और निर्दोष न्याय सभव नही है। पर भविष्य ने उसकी इस प्रकार की आशकाओ को निर्मूल सिद्ध कर दिया।

राज्य की भूमि के विषय मे उसका मत यह था कि उसका क्षेत्रफल इतना होना चाहिये कि उसकी उपज से स्वतत्र एव सावकाश जीवन का पोषण सभव हो सके पर इतना अधिक नही होना चाहिये कि जिससे विलासिता का विकास सभव हो। युद्ध की सभावना को दृष्टि मे रखते हुए नगर का स्थान शत्रु के प्रवेश के लिये दुर्गम एव नगर-निवासियो के निर्गमन के लिये सुगम होना चाहिये। अच्छा हो यदि समग्र क्षेत्रफल

एक दृष्टिपात मे देख लिया जा सके। यदि स्थिति समुद्र के समीप हो तो युद्ध और जीवन की आवश्यकताओ की प्राप्ति के लिये सुविधा रहती है। फिर यह नगर व्यापार की मडी भी होना चाहिये जिससे नगर की आवश्यकताएँ अन्य स्थानो से पूर्ण की जा सके और अपनी आवश्यक वस्तुएँ दूसरे स्थानो को भेजी जा सके। पर व्यापार का उद्देश्य अमर्यादित धन कमाना नही होना चाहिये। ग्रीक जाति के चरित्र के विषय मे भी अरिस्तू की अपनी धारणा थी कि यह जाति उत्साह एव बुद्धिमत्ता दोनो से ही युक्त है और यदि यह किसी प्रकार से एक राष्ट्र मे सघटित हो सके तो सब ससार पर शासन कर सकती है।

शासन-व्यवस्था का विचार करने के पूर्व यह देख लेना आवश्यक है कि इस आदर्श नगर-राष्ट्र मे कितने प्रकार के कार्य मुख्यतया आवश्यक होगे और उनको पूर्ण करने के लिये किस-किस वर्ग के व्यक्तियो की आवश्यकता होगी। इस दृष्टि से नगर को निम्नलिखित वर्गो की आवश्यकता होगी —(१) कृषकवर्ग, (२) शिल्पकारवर्ग, (३) योद्धावर्ग, (४) धनिकवर्ग, (५) पुरोहितवर्ग, और (६) न्यायकर्त्तागण। इन वर्गो मे से कृषक अवकाश के अभाव के कारण एव शिल्पकार सद्वृत्ति के अभाव के कारण राजनीतिक जीवन मे भाग नही ले सकते। शेष वर्गो की व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिये कि जब वे युवा हो तो वे योद्धादल मे रहे, युवावस्था पार कर चुकने पर शासक बना दिये जाएँ और वृद्ध होने पर पुरोहित। स्थावर सम्पत्ति भी इन्ही लोगो के हाथ मे रहनी चाहिये, न कि कृषको के। इस प्रकार अरिस्तू के आदर्श नगर मे भी लगभग उसी प्रकार का सामाजिक भेद होगा जैसा कि भारतीय समाज मे द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) और द्विजेतर वर्गो मे था। यद्यपि अरिस्तू को भू-सम्पत्ति पर सबके समान अधिकार का सिद्धान्त मान्य नही था तथापि उसने सार्वजनिक पूजा-अर्चा के व्यय और सम्मिलित भोजो के व्यय के लिये भू-सम्पत्ति के एक भाग को सार्वजनिक सम्पत्ति बनाने का सुझाव अवश्य उपस्थित किया था। सम्मिलित भोज उसकी दृष्टि मे नागरिक एकता की वृद्धि मे सहायक होते है। शेष भू-सम्पत्ति पृथक्-पृथक् नागरिको की व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे इस प्रकार बँटी होनी चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को एक भूखड बस्ती के समीप और दूसरा सीमा के पास मिले जिससे विभाजन न्यायसगत हो और युद्ध उपस्थित होने पर सब उसको जीतने के लिये समानरूप से सन्नद्ध रहे।

इस प्रकार नगर के बस जाने पर यह प्रश्न सामने आता है कि नगरनिवासियो को सुखी होने का सबसे महान् अवसर किस प्रकार की शासन-व्यवस्था से उपलब्ध हो

सकता है ? यह तो पहले कहा जा चुका है कि सुख की उपलब्धि मुख्यतया सद्वृत्ति से एव गौणतया बाह्य भौतिक पदार्थो से होती है और सद्वृत्ति का सबध प्रकृति, आदत और युक्तिसिद्ध जीवन-नियम से है। अन्तिम दो उपाय शिक्षा से सबद्ध है। सर्वथा निर्दोष परिपूर्ण पुरुषोत्तमकी उत्पत्ति तो न मनुष्य के हाथ की बात है और न शिक्षा द्वारा ही उसका निर्माण सभव है। जब कोई एक नागरिक अथवा कुछ नागरिक इतने निर्विवादरूपेण उत्तम होगे ही नही तो उनके स्थायी शासक बनाने का प्रश्न भी नही उठ सकेगा। अतएव यही उपाय शेष रह जायगा कि नागरिको को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे वे आरभ मे आज्ञाकारी और अच्छे नागरिक बन सके और कालान्तर मे इस आज्ञाकारिता को सीखकर अच्छे शासक भी बन सके। इस प्रकार शासित होने मे कोई गिरावट की बात नही है क्योकि इसका उद्देश्य उत्तम है। स्वय मानव-जीवन का उद्देश्य है विवेक जो मानव-जीवन के नियमो का निर्माता है। यह विवेक भी व्यवहारात्मक और चिन्तनात्मक भेद से दो प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार के विवेक का सबध युद्ध और व्यवसाय से है और दूसरे का सबध शान्ति और अवकाश से है। दूसरे प्रकार का विवेक प्रथम प्रकार के व्यवसायात्मक विवेक से बढकर है, क्योकि व्यवसाय और युद्ध का भी प्रत्यक्ष उद्देश्य शान्ति और अवकाश को उपलब्ध करना ही तो है। अतएव युद्ध और अधिकार जमाने को ही राष्ट्रीय-सत्ता का चरम उद्देश्य मानने से बढकर और अधिक बडी भूल हो नही सकती। हमारे साहस और बल का प्रथम उपयोग यह होना चाहिये कि हमको कोई दास न बना सके, तदुपरान्त यदि जीतकर साम्राज्य की प्राप्ति कर सके तो हमारा शासन शासितो के हित के लिये होना चाहिये और प्रभुता तो हमको केवल उन लोगो पर चलानी चाहिये जो प्रकृत्या दास है। अरिस्तू के मत मे व्यक्ति और राष्ट्र दोनो के लिये सदाचार के नियम एक समान है। अतएव उसकी तुलना माकियावेली से कदापि नही की जानी चाहिये।

शिक्षा का उद्देश्य विवेक का साधन है पर विवेक की उपलब्धि वासनाओ पर सयम प्राप्त करके होती है और वासनाओ का सयम शरीर के सयम द्वारा उपलब्ध होता है और शरीर के सस्कार बहुत कुछ हमको माता-पिताओ से प्राप्त होते है। अतएव अरिस्तू ने शिक्षा के सबध मे व्यापक दृष्टि रखी है और सुप्रजनन एव विवाह इत्यादि के सबध मे और शरीर के विकास के सबध मे भी अच्छे सुझाव उपस्थित किये है। बच्चो के भोजन, व्यायाम और मनोरजन के विषय मे भी उसने उत्तम सीख दी है। आदर्श-व्यवस्था के नागरिको का आचरण भी आदर्श होना चाहिये और एक समान आदर्श होना चाहिये। ऐसा तभी सभव है जब बच्चो की शिक्षा व्यक्तिगत रूप मे उनके

माता-पिताओ के ऊपर न छोडी जाय प्रत्युत राष्ट्र ही सबको समान रूप से, अपना अग मानकर एक समान शिक्षा का सबके लिये प्रबन्ध करे। नगर की भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करनेवाले वर्ग तो नागरिक होते नही अतएव अरिस्तू ने शिक्षा का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उसमे उद्योग-धधो की शिक्षा के लिये कोई स्थान नही है। यह शिक्षा मुख्यतया सदाचार और सद्वृत्ति की शिक्षा है। शिशुओ के अग-सचालन से लेकर ५ वर्ष की अवस्था तक की शिक्षा मे शिशुओ के पोषण इत्यादि की चर्चा है और जब वे भाषा समझने लगे तो उनको सदाचारपरक कहानियाँ सुनाने और कुसगति से बचाने का विधान किया गया है। पाँच से सात वर्ष तक की अवस्था के मध्य मे बच्चो को दूसरे बडे बच्चो को उन कार्यो को करते हुए देखना चाहिये जो आगे चलकर उनको भी करने होगे। इसके उपरान्त पढने-लिखने, चित्राङ्कन करने, व्यायाम करने और सगीत का अभ्यास करने की शिक्षा का समय आता है जो २१ वर्ष की अवस्था तक चलता है। अरिस्तू अत्यधिक व्यायाम का भी समर्थन नही करता। सगीत-शिक्षा की विविध प्रकार की उपयोगिता का विचार करके अरिस्तू उसके आचार-सबधी महत्त्व पर ही बल देता है। पर सगीत की शिक्षा का उद्देश्य पेशेवर सगीतज्ञ बनाना नही, आत्मा को सस्कृत बनाना है।

राजनीति की समाप्ति एक समस्या है। आदर्श-व्यवस्था की चर्चा सगीत-शिक्षा के विवरण के साथ समाप्त हो जाती है। स्पष्ट ही पाठक यह सोचने के लिये विवश हो जाता है कि इस ग्रथ का कुछ भाग या तो नष्ट हो गया है अथवा लेखक उसको पूरा नही कर सका। आठवी पुस्तक के छोटे आकार से भी इस धारणा को बल मिलता है। पर यह भी सभव है कि अरिस्तू का ऐसा विचार रहा हो कि यदि शिक्षा ठीक प्रकार की हो तो और सब बाते स्वत ठीक हो जाती है। पर वास्तव मे शिक्षा का वर्णन भी तो पूरा नही हो पाया है। जिस प्रकार अन्य एकाधिक स्थलो पर अरिस्तू के विवेचन अचानक अधूरे रह गये है इसी प्रकार यहाँ भी हुआ है।

इस प्रकार यूनानी नगर-राष्ट्र की परम्परा के माध्यम से अरिस्तू ने अपने राजनीति सबधी विचारो को व्यक्त किया। यह परम्परा स्वतत्र नागरिको और दासो तथा कृषको के और यवन (ग्रीक) तथा बर्बर के भेद को मानकर चलती है। अरिस्तू ने अपने शिष्य अलैक्जाण्डर को इस भेद को बनाए रखने का उपदेश दिया पर उसने इस विषय मे अपने गुरु के उपदेश को न माना और ऐसे साम्राज्य की नीव डाली जिसमे उसने अपने को ग्रीक और पारसीक दोनो का समान रूप से प्रभु माना और अपने अधीन यवन

और पारसीक मे कोई भेद नही किया। इस प्रकार नगर-राष्ट्र की धारणा के साथ ही साथ विश्व-राष्ट्र की भावना का उदय हुआ। ग्रीक और बर्बर को और स्वतत्र नागरिक एव श्रमिको को एक समान समझने की भावना अकुरित हुई। यह भावना यूरोप मे ई० पू० ३०० से १५०० ई० तक बनी रही। इसके उपरान्त लूथर और माकियावेली के सिद्धान्तो के प्रसार के फलस्वरूप राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। इन अठारह शताब्दियों मे पश्चिम मे तीन साम्राज्यो—माकेदौनियन्, रोमन और शार्लमान के साम्राज्यो—का उत्थान और पतन हुआ। इसी काल मे ईसाइयत का जन्म और विकास हुआ जो कटु अनुभव के पश्चात् विश्वनागरिकता की पोषक बनी। पर इस विश्वनागरिकता के सिद्धान्त को पुष्ट करनेवाले ग्रथ की रचना दीर्घकाल तक नही हुई। ईसा की पॉचवी शताब्दी मे सन्त औगुस्तीन् ने "प्रभु का नगर" नामक पुस्तक मे इस सिद्धान्त का विस्तार के साथ प्रतिपादन किया। प्लातोन और अरिस्तू की राजनीतिक रचनाओ के पश्चात् यह यूरोप की राजनीति के सबध मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। "दे किविताते देइ" (प्रभु का नगर) की रचना के उपरान्त सन्त थौमस् अक्विनास् की राजनीतिक रचनाओ मे १३वी शताब्दी ईसवी मे अरिस्तू के विचारो ने पुन यूरोप की राजनीति मे प्रवेश किया। इस प्रकार अरिस्तू और औगुस्तीन् के विचारो का सम्मिश्रण थौमस् अक्विनास् ने प्रस्तुत किया और कैथोलिक ईसाइयो के विचार अब तक इसी मिश्रण से प्रभावित है। यूरोप के राजनीतिक चिन्तन पर और विशेषकर अग्रेज जाति के राजनीतिक चिन्तन पर अरिस्तू का प्रभाव कानून और सविधान को सर्वोपरि सत्ता मानने के रूप मे पडा है। इस विचार की परम्परा अरिस्तू से आरभ होकर सन्त थौमस्, हूकर, लॉक और बर्क मे होती हुई १८वी शताब्दी तक अपना प्रभाव फैलाती रही है।

अरिस्तू ने राजनीति को कभी सदाचार से पृथक् नही माना। पर यूरोप मे मध्य-काल की समाप्ति के पश्चात् ऐसे राजनीतिक विचारको की एक प्रबल परम्परा उत्पन्न हुई जिन्होने राजनीति को सदाचारशास्त्र से पूर्णतया स्वतत्र माना। इस विचार का कटु परिणाम आज भी ससार को भुगतना पड रहा है। महात्मा गॉधी ने इस जगत् मे पुन राजनीति, धर्म और सदाचार को एक साथ चलाया। पर अब देखना है कि हमारा सेक्यूलरवाद कौन-सा मार्ग ग्रहण करता है। भय है कि कही शब्दो की फैशनपरस्ती मे नीति-परायणता हमारे हाथो से न छूट जाय।

अथेन्स का सविधान

अथेन्स का सविधान अरिस्तू की रचनाओ मे एक महत्त्वपूर्ण छोटी पुस्तक है। अरिस्तू के सबध मे प्रचलित परम्परागत कथाओ मे यह बात प्रसिद्ध थी कि उसने ग्रीक जगत् के नगरो के १५८ सविधानो का सग्रह किया था। बहुत सभव है कि इनमे से अनेको सविधानो को उसके सहयोगियो और शिष्यो ने प्रस्तुत किया हो। इन्ही मे एक सविधान अथेन्स का भी था जिसको सभवतया स्वय अरिस्तू ने ही लिखा था। सातवी शताब्दी ईसवी तक अथेन्स के सविधान के अस्तित्व के प्रमाण मिलते थे। पर सातवी शताब्दी के कुछ समय पश्चात् यह लुप्त हो गया। १९वी शताब्दी के अन्त की ओर मिस्र देश मे इस पुस्तक की एक प्रति उपलब्ध हो गई। इसमे चार पृथक् पृथक् व्यक्तियो की लिखावट थी और सभवतया यह प्रति प्रथम शताब्दी ईसवी की थी। सम्पूर्ण रचना पापीरस् के चार बैठनो पर लिखी हुई थी। इसको ब्रिटिश म्यूजियम के ट्रस्टियो ने खरीद लिया और केन्यॉन् ने इसको प्रथम बार १८९१ के आरम्भमे प्रकाशित किया। बेर्लिन के मिस्रदेशीय म्यूजियम ने इससे कुछ पहले १८८० मे किसी एक अत्यन्त खडित प्रतिलिपि के कुछ भाग प्रकाशित किये थे। जिस प्रकार भारतवर्ष मे कौटिलीय अर्थ-शास्त्र और भास के नाटको का प्रकाशन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है उसी प्रकार इस ग्रथ का प्रकाशन ग्रीक साहित्य और इतिहास के सबध मे विशेष महत्त्व रखता है।

आरभ मे तो इसके रचना-काल और रचयिता के सबध मे पर्याप्त विवाद रहा। पर धीरे धीरे विद्वानो के परिश्रम के परिणाम-स्वरूप अब यह बात सिद्ध हो चुकी है कि यह सविधान अरिस्तू की ही रचना है और इसका रचना-काल भी अथेन्स मे अरिस्तू के द्वितीय निवास-काल की सीमाओ के भीतर निश्चित हो चुका है। जब टीकाकारो और वैयाकरणो के ग्रथो मे पाये जानेवाले अरिस्तू के लुप्त ग्रथो के उद्धरणो की तुलना इस पुस्तक मे की गई तो उनमें से बहुत बडी सख्या इस पुस्तक मे मिल गई। इसी प्रकार अरिस्तू के सविधान सबधी बहुत से विचार भी इसमे मिल गये। जो नही मिले उनके विषय मे यह अनुमान किया जाता है कि उनमे से कुछ इस रचना के आरभ मे रहे होगे जो ब्रिटिश म्यूजियमवाली प्रति मे नही है और कुछ अन्त मे रहे होगे जो उपलब्ध प्रति मे बुरी तरह खडित है। जिन सकेतो से इस पुस्तक का रचना-काल निर्धारित होता है उनकी ओर पाठको का ध्यान हमने अपनी टिप्पणियो मे आकर्षित किया है। इसमे अथेन्स की जिस व्यवस्था का वर्णन विद्यमान सविधान कहकर किया

है उसको जनतत्र कहा है । पर ई० पू० ३२२ मे अन्तिपातेर के शासन-काल मे जनतत्र को समाप्त कर दिया गया था । इस सविधान मे सामॉस् को अथेन्स के अधीन कहा गया है । यह तथ्य ई० पू० ३३८ की स्थिति की ओर सकेत करता है । ई० पू० ३२२ के लगभग सामॉस् अथेन्स के हाथ मे निकल गया था । नौसेना से सबध रखनेवाले कुछ सकेत ई० पू० ३३४ के बाद की घटनाओ की ओर सकेत करते है । एक घटना ऐसी भी वर्णित है जिसका सबध ई० पू० ३२९ से है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इसकी रचना ई० पू० ३२९ और ३२२ के मध्य हुई होगी । यह समय पॉलिटिक्स की रचना के पश्चात् का है क्योकि उसमे मकैदौनिया के फिलिप की मृत्यु (ई० पू० ३३६) के उपरान्त की किसी घटना का उल्लेख नही है ।

इस पुस्तक की शैली, एव अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यो के विषय मे इसका "राजनीति" से विरोध होने के कारण अनेको आलोचक एव सपादक आरभ मे इसको अरिस्तू की रचना नही मानते थे । उनका यह भी विचार था कि इस पुस्तक के लेखक को तथ्यो के महत्त्व के अनुपात का भान नही था, और ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि भी प्राप्त नही थी। बस कहानियाँ कहने की रुचि उसमे आवश्यकता से अधिक अवश्य थी । पर जैसे जैसे इसका अधिक सूक्ष्म अध्ययन किया गया विद्वानो की आस्था इसकी प्रामाणिकता के विषय मे अधिक दृढ होती गई । प्राचीन काल मे जहाँ भी इसका उल्लेख मिलता है इसको निरपवादरूपेण अरिस्तू की रचना बतलाया गया है । इसका रचनाकाल जो कि अन्त साक्ष्य से सिद्ध होता है वह भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है क्योकि वह समय अरिस्तू के दूसरे अथेन्स-निवास से अभिन्न है । जब इसकी तुलना "राजनीति" से करते है तो समता और विरोध दोनो ही दृष्टिगोचर होते है । इसका समाधान यह है कि अथेन्स का सविधान "राजनीति" के अनेको वर्ष पीछे प्रस्तुत किया गया था और कालान्तर मे अरिस्तू का मत अनेक विषयो मे बदल जाना सभव है । इसमे तो कोई सदेह नही कि अरिस्तू ने जो १५८ सविधानो का सग्रह किया था उसमे से अनेको सवि-धान उसके शिष्यो और सहयोगियो के द्वारा प्रस्तुत किये गये होगे । पर अथेन्स का सविधान उन सबमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था, अतएव अधिक सभावना इसी बात की है इसको स्वय उसी ने लिखा हो । इसकी शैली मे मिश्रण का आभास नही मिलता ।

अरिस्तू इतिहास के प्रति गभीर अभिरुचि रखता था । इस क्षेत्र मे स्वय भी उसने बहुत कुछ सामग्री का सग्रह किया था । इस सामग्री का उपयोग उसने अपनी रचनाओ मे यथास्थान समुचित प्रकार से किया है । प्रस्तुत पुस्तक मे उसने ऐतिहासिक सामग्री

को कहाँ से ग्रहण किया इसके विषय मे विद्वानो ने पर्याप्त परिश्रम किया है। अथेन्स के सविधान की सामग्री हेरोदोतस्, थूकीदिदेस्, क्षेनोफॉन् की ऐतिहासिक रचनाएँ और सौलॉन् की कविताएँ हैं। पर इन सब की अपेक्षा सभवतया अरिस्तू ने आन्द्राति-यौन् की पुस्तक "अत्थिस्" का प्रयोग अधिक किया था। इसके अतिरिक्त कुछ और ऐतिहासिक पुस्तको का उपयोग अरिस्तू ने इसको लिखने मे किया होगा, जैसे ऐफोरस्, क्लैदेमस् और फानोदेमस् की रचनाएँ।

अथेन्स का सविधान दो भागो मे विभक्त है। प्रथम भाग ऐतिहासिक विकास का विवरण उपस्थित करता है और आरभ से लेकर ४१वे खड के अत तक चलता है। इसमे अथेन्स के मौलिक सविधान और उसमे समय समय पर हुए परिवर्त्तनो का वर्णन है। पर प्रारभ का भाग खडित है अतएव यह कहना कठिन है कि अनुपलब्ध भाग मे क्या था। सभव है कि उसमे मौलिक सविधान का सक्षिप्त रूप और एक दो शासको द्वारा किये हुए परिवर्त्तनो का वर्णन रहा हो। शेष भाग मे ट्राको, सौलॉन्, पैइसिसत्रातस्, क्लैइस्थंनेस् क्षैरक्षस् का अभियान, अरियौपागस् की महत्ता और अफियाल्ते (ती) स् द्वारा उसकी महत्ता का अपहरण, पेरीक्ली (ले) स्, लोकनायको का उत्थान, ४०० की क्रान्ति एव ३० का शासन इत्यादि व्यक्तियो और विषयो का वर्णन है। दूसरे भाग मे अथेन्स के उस सविधान का विवरण दिया गया है जो इस पुस्तक की रचना के समय (ई० पू० ३२९–३२२) तक विद्यमान था। अथेन्स के नागरिक होने की शर्ते, नवयुवक नागरिको की शिक्षा-दीक्षा, ससद का स्वरूप और कार्य, शलाका द्वारा चुने जानेवाले पदाधिकारी, नौ आर्खन और उनके कार्य, मतदान से चुने जानेवाले सैनिक अधिकारी और न्याया-लयो के न्यायकर्ताओ की नियुक्ति और कर्त्तव्य इत्यादि विविध विषयो का वर्णन दूसरे भाग मे पाया जाता है। प्रारभिक भाग के समान पुस्तक का अतिम भाग भी बहुत कुछ खडित है। यह कहना कठिन है कि शेष भाग मे क्या था। इसके अतिरिक्त पाठक देखेगे कि अरिस्तू ने इस पुस्तक को अनेको कथाओ एव प्राचीन परम्पराओ की गाथाओ को इसमे सम्मिलित करके सर्वसाधारण की रुचि के योग्य बना दिया है।

"अथेन्स का सविधान" का महत्त्व अनेको दृष्टियो से आँका जा सकता है। प्रथम तो अरिस्तू के नाम से जिसका सबध हो ऐसी किसी भी रचना की पुनरुपलब्धि स्वत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। फिर अथेन्स के इतिहास के विषय मे—विशेषकर वैधानिक इतिहास के विषय मे—भी इसकी रचना का महत्त्व कम नही है। इस रचना

का वह भाग जो अरिस्तू के समय के सविधान का वर्णन करता है सर्वथा विश्वसनीय है क्योकि अरिस्तू की वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत किया हुआ विवरण सारवान् होना ही चाहिये । पर जो घटनाएँ अरिस्तू के लिये परोक्षभूतकाल की है उनका विवरण अरिस्तू के अपने अनुभव पर आश्रित नही है , वह तो तत्तत् समय के लेखको के साक्ष्य पर आश्रित है । उनमे भी कुछ लेखक ऐसे थे जो अत्यधिक विश्वास के योग्य थे और शेष लेखक उतने अधिक विश्वास योग्य नही थे । अतएव समग्र पुस्तक पूर्णतया विश्वसनीय है, ऐसा नही कह सकते ।

फिर, यद्यपि इसकी शैली सीधी-सादी और सरल है और ग्रथकार की आलोचनाएँ भी समझदारी की परिचायक है, तथापि यह कोई महान् रचना नही कही जा सकती । अरिस्तू का काव्यशास्त्र भी छोटे आकार की पुस्तक है पर वह महत्त्व मे "सविधान" की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है । पॉलिटिक्स की तुलना मे यह पुस्तक आकार मे ही नही प्रकार मे भी घटकर है । जो सूक्ष्म दार्शनिक अन्तर्दृष्टि "पॉलिटिक्स" मे बहुधा दृष्टि-गोचर होती है उसका इसमे सर्वथा अभाव है । अनेको स्थलो पर लेखक के कथनो मे भी पूर्वापर विरोध देखने मे आता है ।

इन सब दोषो के होते हुए भी "अथेन्स के सविधान" का महत्त्व असाधारण ही माना जाता है । पाश्चात्य देशो के इतिहास मे उपलब्ध होनेवाला यह सबसे पुराना सविधान है । जब से १८९१ ई० मे इसका पता चला है उससे पूर्व की अथेन्स के सविधान से सबध रखनेवाली सब रचनाएँ निकम्मी सिद्ध हो गई है । इस पुस्तक से इस विषय मे सर्वोत्तम कोटि का साक्ष्य हस्तगत हो गया है । पाश्चात्य जगत् के प्रमुख जनतत्र का सविधान समधिक पूर्ण रूप मे हमारे सामने आ गया है । अरिस्तू की "राजनीति" के अध्ययन के लिये भी यह पुस्तक बहुत सहायक हो सकती है । यह सभव है कि द्वितीय भाग की अपेक्षा प्रथम भाग कम विश्वास के योग्य है तथापि उससे भी जो जानकारी प्राप्त होती है वह भी उपेक्षणीय नही है ।

अथेन्स नगर के राजनीतिक इतिहास की रूप-रेखा तो पाठको को उसके सविधान के इतिहास के साथ ही साथ ज्ञात हो जायगी पर इस नगर का सामान्य वर्णन उसमे नही मिल सकेगा । अतएव यहाँ इस नगर का सक्षिप्त वर्णन दे देना उचित होगा । अथेन्स नगर यूरोप के दक्षिण मे अत्तिका प्रदेश मे स्थित है । समुद्र से इसकी कम से कम दूरी तीन मील है । नगर की चारदीवारी के भीतर तीन ऊँचे स्थान है——१ अक्रौपोलिस् जो अथेन्स का गढ अथवा किला था, नगर के मध्य भाग मे स्थित था , २ अरेयोपागस्

अक्रौपोलिस् से पश्चिम की ओर है, और ३ प्रीक्स जो अक्रोपोलिस् से उत्तर पश्चिम की दिशा मे है । नगर की मडी का नाम अगोरा था। यह नगर के कैरामिकस् भाग मे थी जो अक्रौपोलिस् और अरेयोपागस् से पश्चिम और उत्तरपश्चिम की ओर था । इसी के समीप दो पृथक् पृथक् स्तम्भाकित मार्ग थे । बाहरी कैरामिकस् चारदीवारी के बाहर था, इसमे नगर का श्मशान था । अक्रौपोलिस् के दक्षिणी ढाल की ओर दियौनीसियस् का रगस्थल (थ्येटर) था । दक्षिणपूर्व दिशा मे जिउस् (द्यौस) का मन्दिर था जो अपूर्ण पडा हुआ था । चारदीवारी मे यो तो अनेको द्वार थे पर मुख्य द्वार नगर के उत्तर पश्चिम मे था और दिपीलॉन् कहलाता था । यहॉ से कौलोनस् और प्लातोन के अकादेमी नामक महाविद्यालय की ओर सडके जाती थी । इसी द्वार के समीप् एक दूसरा द्वार था जो धर्मद्वार कहलाता था जिससे एल्युसिस् की ओर मार्ग जाता था । अन्य द्वारो से पिराएथस् (अथवा पिरेइथस्) फालेरम् और सूनियम् इत्यादि स्थानो को सडके जाती थी । सभवतया ई० पू० छठी शताब्दी मे, पिसिस्त्रातस् के शासनकाल मे सारे नगर का जलकष्ट निवारण करने के लिये एक जला-गार बनाया गया था । नगर-निवासियो के भवन धूप मे पकाई हुई ईंटो के बने होते थे और अक्रौपौलिस् के आसपास तग टेढी-मेढी गलियो के दोनो ओर बने रहे होगे । यह मकान देखने मे अच्छे नही लगते थे । नगर के पश्चिम मे कैफीसस् नामक नदी बहती थी एव इलीसस् नदी दक्षिण पूर्व और दक्षिण की ओर, पर यह नदी प्राय सूखी पडी रहती थी ।

अत्यन्त प्राचीन काल मे यहाँ ग्रीक जाति के लोग नही बसते थे । उस समय यहॉ की सभ्यता मीकेनाइ की सभ्यता थी । उसमे इयोनिया से ग्रीक लोगो ने आकर अपनी सभ्यता का मिश्रण आरभ कर दिया और कालान्तर मे पुरानी सभ्यता का अन्त हो गया । आठवी शताब्दी ई० पू० तक सारा नगर एक इकाई नही बना था । आठवी शताब्दी से विभिन्न बस्तियॉ मिलकर एक बडी नगरी बन गई । कहते है यह एकता थीसियस् के समय मे स्थापित हुई थी । अक्रौपोलिस् इस नगरी की राजधानी थी । नगर का नाम अथेना देवी के नाम पर पडा । कहते है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे अथेना देवी और पोसेइदन् नामक देवता के बीच मे अत्तिका प्रदेश पर आधिपत्य प्राप्त करने के लिये कलह छिड गया । अन्य देवताओ ने यह निश्चय किया कि कलह करनेवालो मे से जो भी अत्तिकावासियो के लिये अधिक उपयोगी वस्तु की भेट देगा उसी का अधिकार अत्तिका पर हो जायगा । पोसेइदन् ने अपने त्रिशूल को पृथ्वी पर पटक दिया जिससे एक घोडा (अथवा अन्य मतानुसार एक खारी जल का स्रोत) उत्पन्न हुआ पर अथेना

देवी ने जितून का वृक्ष उत्पन्न किया। देवताओ ने जितून के वृक्ष को अधिक उपयोगी समझकर विजयश्री अथेना को प्रदान की।

आरभ मे नगर का शासन राजाओ द्वारा होता था। तत्पश्चात् श्रेष्ठ जनतत्र की स्थापना हुई। तदनन्तर तीन आर्खनो का शासन आरभ हुआ। आरभ मे यह आर्खन दस बर्ष पश्चात् चुने जाते थे पर आगे चलकर प्रतिवर्ष चुने जाने लगे। यह तीन आर्खन थे (१) राजा आर्खन, (२) न्यायाधीश आर्खन और (३) सेनाध्यक्ष आर्खन। कुछ समय पश्चात् ६ आर्खन और बढा दिये गये। इस राजनीतिक विकास का विवरण सविधान के प्रथम भाग मे दिया हुआ है। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी मे अथेन्स मे २१००० स्वतत्र नागरिक, १०००० विदेशी और लगभग ४ लाख दास थे। अत्तिका की उपज से इस जनसख्या का भरण-पोषण होना सभव नही था अतएव अथेन्स मे बहुत बडी मात्रा मे भोजन की सामग्री एव अन्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ विदेशो से आती थी। अथेन्स के बदरगाह का नाम पिराएयस् था और यह बडा भारी व्यापार का केन्द्र था। यहाँ के जहाज विशालकाय होते थे वे किनारे किनारे चलनेवाले जहाज नही थे महासागरो को पार कर सकते थे और रात्रि मे भी यात्रा किया करते थे। स्थल पर सडको की दशा अच्छी नही थी।

साहित्य, कला, दर्शन और इतिहास इत्यादि के क्षेत्र मे अथेन्स नगर की देन अतुलनीय है। ई० पू० पॉचवी और चौथी शताब्दी मे इस नगर ने जो सर्वतोमुखी उन्नति की उसके कारण इसका नाम विश्व के इतिहास मे अमर हो गया है। राजनीति के क्षेत्र मे अथेन्स अधिक उन्नति नही कर सका। उसका साम्राज्य टिकाऊ नही रहा। पर सस्कृति के क्षेत्र मे उसको शाश्वत गौरव प्राप्त है। सारा यूरोप और अमेरिका सर्वदा अथेन्स के चरणो पर नतमस्तक है। पुरानी मूर्त्तियो के खड और पुरानी पुस्तको के पन्ने आज भी खोजे जा रहे है। सहृदयो के हृदय आज भी अथेन्स के नाम पर सरसता से भर जाते है। अथेन्स यूरोप की विश्वनाथपुरी काशी है।

प्रथम पुस्तक

१

समाज और राष्ट्र–अध्ययन की पद्धति

देखने मे आता है कि प्रत्येक राष्ट्र[१] (=नगर-राष्ट्र) एक प्रकार का समाज[२] होता है, तथा प्रत्येक समाज की स्थापना किसी भलाई[३] को प्राप्त करने के लिये हुआ करती है—क्योकि सभी मनुष्य सर्वदा सारे काम उसी वस्तु की प्राप्ति के लिये किया करते है जो उनके विचार मे अच्छी प्रतीत होती है। तब तो यह स्पष्ट ही है कि जब सब समाजो का लक्ष्य कुछ न कुछ भलाई ही है, तो वह समाज जो सबसे श्रेष्ठ है, तथा जिसमे अन्य सब प्रकार के समाज सन्निविष्ट रहते है, इस लक्ष्य का अनुसरण (भलाई को प्राप्त करने का अनुसरण) सबसे अधिक करेगा, तथा उसका उद्देश्य सर्वोत्तम भलाई को प्राप्त करना होगा। यही (सर्वश्रेष्ठ और सर्वव्यापी) समाज (नगर-) राष्ट्र अथवा नागरिक समाज कहलाता है।

कुछ लोगो[४] का विश्वास है कि राजनीतिज्ञ, राजा, गृहपति और प्रभु सब एक (समान) है, पर उनका यह कहना ठीक नही। जो व्यक्ति उपर्युक्त विश्वास रखते है उनकी धारणा यह है कि (राजनीतिज्ञ, राजा, गृहपति तथा प्रभु[५]) मे गुणगत वैशिष्टय के कारण अन्तर नही है, प्रत्युत यह सब लोग (अपने प्रजाजनो की) अधिक अथवा अल्प सख्या के कारण ही परस्पर भिन्न होते है। उदाहरण के लिये थोडे से व्यक्तियो का अधिपति 'प्रभु' कहलाता है, उससे अधिक का गृहपति और उससे भी अधिक का राजनीतिज्ञ अथवा राजा। मानो, जैसे इनके विचार मे बडी गृहस्थी और छोटे (नगर-) राष्ट्र मे कोई अन्तर ही न हो। राजनीतिज्ञ और राजा का अन्तर इन लोगो के मत मे केवल इतना ही है कि यदि शासक शासन कार्य मात्र मे अपने ऊपर निर्भर रहे (उस पर अन्य किसी का नियन्त्रण न हो) तो वह राजा कहलाता है, परन्तु जब वह राजनीति विज्ञान के नियमो के अनुसार शासन करता हो एव अपनी बारी के अनुसार शासक तथा शासित बनता हो तो राजनीतिज्ञ कहलाता है। पर यह विचार ठीक नही है। यदि इस विषय पर हमारी पूर्वानुसृत पद्धति (विश्लेषणात्मक पद्धति) के

अनुसार विचार किया जाय तो हमारा यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायगा (कि शासको और शासित समाजो मे गुणगत भेद होता है)।

जैसा कि (ज्ञान के) अन्य क्षेत्रो मे होता है वैसा ही राजनीति के क्षेत्र मे भी होना चाहिये, अर्थात् किसी भी मिश्रित वस्तु[६] (सघात) का उसके सघटक तत्त्वो मे तब तक विश्लेषण करते जाना चाहिये जब तक हमको उसके मूलभूत अविमिश्रित तत्त्वो की उपलब्धि न हो जाय, अर्थात् समग्र अवयवी को उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवो मे बाँट देना चाहिये। अतएव हमको राष्ट्र के घटक अवयवो का भी इसी विश्लेषणात्मक पद्धति[७] के अनुसार निरीक्षण करना चाहिये, जिससे हम यह भली प्रकार देख सके कि (उपर्युक्त शासक तथा उनके द्वारा शासित समाजो मे) परस्पर किस बात मे अन्तर है तथा यह भी पता लगा सके कि प्रकृत प्रश्नो मे से प्रत्येक के विषय में कोई सुव्यवस्थित (वैज्ञानिक) परिणाम प्राप्त कर लेना सभव है अथवा नही।

टिप्पणियाँ

१. राष्ट्र के लिये मूल पुस्तक में पौलिस् शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द संस्कृत के पुर शब्द का सजातीय है। अरिस्तू की राजनीति का संबंध प्रत्यक्षतया ग्रीक नगर-राष्ट्रों से है। बड़े राष्ट्रों और साम्राज्यो की राजनीति का अनुभव उसको नहीं था। उसके शिष्य अलैक्ज़ाण्डर ने जिस साम्राज्य का निर्माण किया वह अरिस्तू की रुचि के अनुकूल नहीं था। राजनीति के यथार्थ स्वरूप का अध्ययन करने के लिये उसने १५८ नगरो की शासन-व्यवस्थाओ (संविधानो) का संग्रह किया था। इनमें से केवल अथेंस का संविधान खंडित रूप में हाल में उपलब्ध हुआ है। अरिस्तू की राजनीति के सिद्धान्तो का अध्ययन करते समय यह बात सर्वदा दृष्टि में रखना आवश्यक है कि उनके व्यवहार का क्षेत्र ग्रीक नगर के स्वरूप से सीमित था।

२. समाज अथवा समुदाय के लिये मूल में 'कोइनौनिया' शब्द का प्रयोग हुआ है। अरिस्तू के मत में मैत्री, गृहस्थी, स्वामि-सेवक-संबंध, तथा राष्ट्र इन सब में ही समाज की भावना पाई जाती है। पर राष्ट्र ऐसा व्यापक समाज है कि अन्य सब समाज उसके अंगमात्र है।

३. भलाई के लिये अगाथॉस् शब्द का प्रयोग किया गया है। इसको सस्कृत सत् शब्द का पर्याय मान सकते है। सब समाज किसी भलाई की प्राप्ति के लिये निर्मित होते है।

४. अरिस्तू का सकेत प्लातोन की ओर है। प्रत्यक्षतयाउ सके पौलितिकस् नामक ग्रंथ (२५८ङ--२५९घ) की ओर है।

५. राजनीतिज्ञ, राजा, गृहपति तथा प्रभु के लिये मूल में पौलितिकस्, बसीलिकस्, औइकोनौमिकस् तथा दैस्पौतिकस् शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन शब्दो का प्रयोग आगे बहुत बार होगा। पौलितिकस् तो पॉलिटीशियन का ही ग्रीक रूप है। बसीलिकॅस् शब्द को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति नहीं मिली। औइकोनोमिकस् का अर्थ होता है गृह का प्रबन्ध करनेवाला। औइकॉस् नामक ग्रीक शब्द संस्कृत के विश् शब्द का सजातीय है। दैस्पौतिकस् दासो पर मनमाना शासन करनेवाले को कहते हैं। इन शब्दो का अर्थ आगे चलकर और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

६. अरिस्तू के मत में राष्ट्र एक मिश्र संघात है। इसके स्वरूप को समझने के लिए इसके अवयवो अथवा घटकों के स्वरूप को समझना आवश्यक है। संघात के लिए मूल में सिंथेतस् (सं० संस्थान) शब्द है।

७. विश्लेषणात्मक पद्धति का अनुसरण करना अरिस्तू के दर्शनशास्त्र की विशेषता है। पर अरिस्तू ने राष्ट्र के अवयवो का केवल विश्लेषण ही नहीं किया है, प्रत्युत उसने उनके विकास का भी अध्ययन प्रस्तुत किया है।

२

नगर-राष्ट्र का विकास

यदि इस प्रकार कोई भूयमान वस्तुओ पर उनके आरभ से ही दृष्टिपात करे तो अन्य ज्ञान के क्षेत्रो के समान इस राजनीति के क्षेत्र मे भी उसको स्पष्टतम दर्शन प्राप्त होगा। सबसे पहले तो उनका सयोग होना आवश्यक है जो एक दूसरे के बिना नही रह सकते। उदाहरणार्थ पुरुष और स्त्री का सयोग मनुष्य जाति की उत्पत्ति के लिये होना ही चाहिये (–तथापि यह सयोग किसी परिनिष्ठित उद्देश्य से नही होता प्रत्युत इसका कारण यह है कि जिस प्रकार सामान्यतया अन्य पशुओ और पौदो मे अपने पश्चात् अपने सदृश् अन्य प्राणियो को छोड जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है उसी प्रकार मनुष्य जाति मे भी उपलब्ध होती है।) और इसी प्रकार स्वाभाविक शासक और स्वाभाविक शासित तत्त्वो का भी सयोग घटित होना चाहिये, जिससे दोनो की रक्षा हो सके। जो अपनी बुद्धिमत्ता के द्वारा आगे देखने मे समर्थ है वह प्रकृत्या शासक है—स्वाभाविकतया प्रभु है, दूसरी ओर जो अपनी शारीरिक शक्ति से बुद्धि-

मान की योजना को कार्यान्वित कर सकता है वह प्रकृत्या शासित और दास है। अत प्रभु तथा दास दोनो परस्पर (एक दूसरे के पूरक होने के कारण) उपयोगी होते है। स्त्री और दास मे तो प्रकृति[१] से ही भेद पाया जाता है। प्रकृति ऐसे दारिद्रय की भावना से कुछ नही बनाती जैसे दारिद्रय की भावना से लुहार दैल्फी के चाकू[२] बनाते है कि एक ही चाकू के अनेको उपयोग हो सके , वह तो एक वस्तु को एक ही उद्देश्य की सिद्धि के लिये बनाती है। ऐसा (वह इसलिये करती है कि प्रत्येक वस्तु सर्वोत्तम निर्मित तभी होती है जब कि वह एक ही कार्य के लिये उपयोगी हो, अनेको के लिये नही। पर (असभ्य) बर्बरो मे तो स्त्री और दास दोनो का स्थान एक (अभिन्न) है। इसका कारण यह है कि उनके मध्य मे प्रकृत शासक कोई नही होता उनका समाज (सहवास) तो दासियो और दासो का ही समूह होता है। इसीलिये तो कवियो ने कहा है,

"यही उचित है, बर्बर पर शासक हो हैलैनेस्"[३]

मानो इन कवियो की दृष्टि मे बर्बर और दास एक समान प्रकृति के हो।

इन (स्त्री तथा पुरुष एव दास तथा प्रभु के) दोनो अनिवार्य प्रकृत सबधो से उत्पन्न होनेवाला प्रथम परिणाम है गृहस्थी अथवा घर। और हेसियद्[४] ने जो अपनी कविता मे यह कहा तो सच ही कहा कि,

"सबसे पहले घर, तब गृहिणी, खेत जोतने को तब बैल"

क्योकि निर्धन के घर के दास तो बैल ही होते है। इस प्रकार दिन प्रतिदिन की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये जो प्रथम समाज प्रकृति के द्वारा स्थापित किया जाता है वही कुटुम्ब (अथवा गृहस्थी) है, तथा खारोन्दास्[५] इसके सदस्यो को "भोजनभाण्ड-सहचर" का नाम देता है एव क्रेते-निवासी ऐपीमैनिदेस् उनको "नॉद के साथी" कहता है। और जब अनेक कुटुम्बो से मिलकर एक ऐसा प्राथमिक समाज बनता है जो दैनिक अथवा अल्पकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये नही (प्रत्युत अधिक व्यापक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये होता है) तो उसको गॉव कहते है। गाँव का भी सबसे अधिक स्वाभाविक स्वरूप वह प्रतीत होता है जो एक ही कुटुम्ब के उपनिवेश के रूप मे हो, तथा जिसके घटक एक ही दूध के पले हुए (अथवा) पुत्र एव पुत्रो के पुत्र कहलाते हो।[६] इसीलिये तो आरभ मे हैलैनेस् बस्तियाँ राजाओ द्वारा उसी प्रकार शासित होती थी जिस प्रकार कुछ जगली कबीलो का शासन अब तक होता है। यह नगर ऐसे

मनुष्यो के एकत्रित होने से बने थे जो कि राजकीय शासन में रह चुके होते थे (अर्थात् यह नगर कुटुम्बो और कुटुम्बो से बढकर बने हुए गॉवों से निर्मित होते थे तथा) प्रत्येक कुटुम्ब तो (उसी प्रकार) कुलज्येष्ठ के द्वारा राजावत् शासित होता ही हैं जिस प्रकार सगोत्रो के उपनिवेश रूप मे बसे हुए गॉवो मे भी समानरक्तता के आधार पर राजकीय पद्धति का शासन चलता है। (चक्राक्षो[४] का वर्णन करते हुए) होमर ने यही बात तो कही है,

"शासन करता है हर कोई पुत्रो और पत्नियो पर।"

क्योकि आरभिक काल की प्रथा के अनुसार लोग छितरे हुए पृथक् पृथक् बसे रहते थे और क्योकि कुछ मनुष्यो पर तो अभी तक राजाओ का शासन चल रहा है, तथा अन्य लोगो पर आरभिक काल मे इस प्रकार का शासन रह चुका है, अतएव हम लोग कहा करते है कि देवताओ पर भी इसी प्रकार राजा का शासन है (अथवा देवताओ का भी राजा होता है)। जिस प्रकार मनुष्य देवताओ के स्वरूप को अपने समान कल्पित किया करते है उसी प्रकार उनकी जीवन-पद्धति को भी।

बहुत से गॉवो के मिलने से अन्ततोगत्वा जो पूर्णता को पहुँचा हुआ समाज बनता है बस वही (नगर-) राष्ट्र है, जो अब सब वस्तुओ के विषय मे आत्मनिर्भरता की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ कहा जा सकता है, तथा जिसकी उत्पत्ति तो मात्र 'जीवन' की आवश्यकता के कारण हुई थी (अतएव जो विकास-काल मे पूर्ण आत्मनिर्भरता[५] की ओर अग्रसर हो रहा था) परन्तु (पूर्णता को पहुँचने पर) जिसकी सत्ता अच्छे जीवन[६] (की प्राप्ति) के लिये बनी रहती है। अतएव, यदि प्रारभिक समाज प्राकृतिक (स्वाभाविक) थे तो सब (नगर-) राष्ट्र भी प्राकृतिक हुए, क्योकि ये उन्ही का चरम-विकास तो हैं, किसी वस्तु का चरम-विकास ही उसका स्वभाव होता है। उदाहरण के लिये हम चाहे मनुष्य को ले, चाहे घोडे को अथवा कुटुम्ब को, पूर्णतया विकसित होकर किसी वस्तु का जो रूप निष्पन्न होता है वही उसका स्वाभाविक रूप (अथवा स्वरूप) कहलाता है। इसके अतिरिक्त, जिस लक्ष्य की सिद्धि के लिये वस्तुओ की सत्ता है वह तथा चरम विकसित रूप ही सर्वोत्तम होता है, तथा आत्मनिर्भरता (जो कि राष्ट्र की सत्ता का लक्ष्य है) ही (मानव-जीवन का परम) लक्ष्य है, अतएव सर्वोत्तम (स्थिति) है।

इन (उपर्युक्त विचारो) से यह स्पष्ट है कि (नगर-) राष्ट्र की सत्ता प्रकृति से

ही है तथा मनुष्य प्रकृत्या राजनीतिक (राष्ट्र मे रहनेवाला तथा उससे सबध रखन वाला) प्राणी है। और जो कोई मनुष्य, किसी आकस्मिक कारण से नही, प्रत्युत प्रकृति से ही अराजनीतिक (अर्थात् असामाजिक, या नगर बाह्य) है, वह या तो निरा निरर्थक जीव है या मनुष्य से बहुत ऊँचा उठा हुआ है[१०]। वह ऐसा व्यक्ति है जिसकी होमेर के द्वारा निम्नलिखित भर्त्सना की गई है,

"भ्रातृहीन, नियमहीन, गृहविहीन!"

जो मनुष्य इस प्रकार के स्वभाव का होता है वह अत्यन्त कलह-प्रवण भी होता है, उसकी दशा ऐसी होती है जैसी पैत्तेइया[११] के खेल मे छटक कर अलग अकेले पडे हुए पाँसे की।

मनुष्य मधुमक्खियो और अन्य सब मिलजुल कर रहनेवाले प्राणियो की अपेक्षा कही अधिक सामाजिक जीव क्यो हैं, यह बात स्पष्ट है। जैसा कि हमारा कहना है, प्रकृति किसी वस्तु को व्यर्थ नही बनाती, सब प्राणधारियो के मध्य मे केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसको भाषा का वरदान प्राप्त है। केवल शब्द (नाद) तो सुख-दुःख को सूचित करनेवाला सकेत है, अतएव अन्य प्राणियो मे भी पाया जाता है, उनकी प्रकृति उनको इसी योग्य बना सकती है कि वे सुख-दुःख की वेदना का अनुभव कर सके तथा उसको परस्पर एक दूसरे को (नादसकेत द्वारा) सूचित कर सके। पर भाषा तो उपादेय और हेय दोनो को ही स्पष्टतया व्यक्त करने का काम देती है अतएव वह यह भी स्पष्ट कर देती है कि क्या न्यायोचित है और क्या अनुचित। अन्य सब प्राणियो की तुलना मे केवल मनुष्य की ही यह विशेषता है कि उसको भले बुरे, उचित (न्याय्य) अनुचित एव इसी प्रकार की अन्य बातो का चेत होता है, और इन्ही गुणो मे साहचर्य होना कुटुम्ब और (नगर-) राष्ट्र का निर्माण करता है।

और इसके अतिरिक्त प्रकृति के क्रम मे राष्ट्र, कुटुम्ब और हम मे से प्रत्येक व्यक्ति की अपेक्षा प्राग्भावी[१२] है, (काल अथवा इतिहास की दृष्टि से चाहे यह उल्टा ही क्यो न हो)। इसका कारण यह है कि अवयवी (प्रकृति के क्रम मे) अवयव से अनिवार्यतया प्राग्भावी होता है। यदि समग्र शरीर (अवयवी) नष्ट हो जाये तो, नाममात्र की समानार्थकता के अतिरिक्त न पैर रहेगे, न हाथ, नाम के लिए (मृतक के हाथ को भी इसी प्रकार हाथ कहेगे) जिस प्रकार पत्थर के बने हाथ को हाथ कहते है, क्योकि (समग्र अवयवी के नष्ट हो जाने पर नष्ट हुआ हाथ) पत्थर के हाथ के

समान (निकम्मा) होता है। सभी वस्तुओ के स्वरूप का विनिश्चय उनके कार्य और शक्ति के द्वारा किया जाता है , इसलिये यदि किन्ही वस्तुओ मे अपना विशिष्ट कार्य करने की क्षमता न रहे तो हमको यह नही कहना चाहिये कि वही वस्तुएँ है, हाँ, नाममात्र की समानार्थकता के कारण हम यह कह सकते है कि वे उसी नामवाली वस्तुएँ है।

अतएव यह बात स्पष्ट है कि नगर की सत्ता प्रकृति से ही है तथा वह व्यक्ति से पूर्ववर्त्ती है। क्योकि अकेले पड जाने पर व्यक्ति आत्मनिर्भर नही रह जाते अतएव सभी व्यक्ति समान भाव से अवयवी (अर्थात् राष्ट्र) के साथ अशाशीभाव का सबध रखते है। जो व्यक्ति समाज से अलग है—चाहे तो इसलिए कि उसमे सामाजिक जीवन मे भागीदार बनने की क्षमता नही है अथवा इस कारण कि पूर्णतया आत्मनिर्भर (आत्मतृप्त) होने से उसको समाज की आवश्यकता ही नही है—वह या तो पशु है या देवता।[१३] अतएव इस प्रकार के समाज की ओर प्रेरित करनेवाली एक सहज प्रबल प्रवृत्ति स्वभावत. सब मनुष्यो के अन्त करण मे स्थित रहती है , तथापि वह व्यक्ति, जिसने सबसे पहले इस प्रकार के समाज (अर्थात् नगरराष्ट्र) की सस्थापना की वह मानव-जाति के लिये सबसे महान् उपकारक रहा होगा। जिस प्रकार, चरम-विकास को प्राप्त हुआ मनुष्य सब जीवो मे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार नियम और न्याय से विरहित होने पर वह प्राणिमात्र मे सब से बुरा भी हो जाता है। शस्त्रास्त्र से सज्जित हो जाने पर अनीति अत्यन्त भयावह हो जाती है , और मनुष्य तो जन्म मे (भाषा, बुद्धि इत्यादि) ऐसे शस्त्रास्त्रो से लैस रहता है जो शीलपूर्ण विवेक और साधुता के उद्देश्यो की सिद्धि के लिये निर्दिष्ट है, पर जिनका उपयोग विपरीत प्रकार के उद्देश्यो के लिये किया जा सकता है और उसे भी अधिक अच्छा समझते हुए। इसीलिए साधुता (सज्जनता) से रहित होने पर वह नितान्त दुष्ट और जगली हो जाता है तथा शिश्नोदरपरायणता मे सब से नीचे गिर जाता है। पर न्याय (जिसमे मानव-त्राण निहित है) (नगर-) राष्ट्र की वस्तु है—क्योकि न्याय[१४] ही तो, जो इस बात का निर्णय करता है कि क्या उचित है, नागरिक समाज मे सुव्यवस्था का मूलमत्र है।

टिप्पणियाँ

प्रथम पुस्तक का यह द्वितीय खण्ड अनेक दृष्टियो से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें अरिस्तू ने (नगर-) राष्ट्र के ऐतिहासिक विकास का वर्णन करते हुए उसके स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। प्रसंगतः इसमे हमको वस्तु के स्वरूप के संबध में उसके दार्शनिक विचारों की भी एक झलक मिलती है। एक ओर जहाँ हमको अरिस्तू की

सुलझी हुई विचारसरणी का दिग्दर्शन प्राप्त होता है, वहाँ दूसरी ओर उसके अनुभव की सीमा को भी हम पश्चात्कालीन सामाजिक विकास के प्रकाश मे भली भाँति देख पाते है। वह राष्ट्र को नगर के रूप में ही पूर्णता को पहुँचा हुआ मानता है। जातीय-राष्ट्र (नेशन स्टेट) और साम्राज्य उसकी कल्पना से परे है।

इस खण्ड मे अरिस्तू ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि (नगर–) राष्ट्र का विकास पूर्णतया स्वाभाविक तत्वो से हुआ है अतएव वह स्वाभाविक वस्तु है। मानव-समाज का पूर्णता को पहुँचा हुआ रूप (नगर–) राष्ट्र है। मानव और मानव के स्वाभाविक सामाजिक संयोग के मूल मे अरिस्तू ने दो सहज नैसर्गिक प्रवृत्तियो का व्यापार देखा है। इनमें से प्रथम सहज प्रवृत्ति पुरुष और स्त्री को परस्पर आकृष्ट कर प्रजनन व्यापार द्वारा मानवप्राणी की उत्पत्ति-शृखला को विच्छिन्न होने से बचाती है। दूसरी प्रवृत्ति प्रभु और दास को पारस्परिक सयोग मे आबद्ध कर मानवजाति के सामाजिक संस्थान को सुरक्षित रखती है। इन दोनो नैसर्गिक प्रवृत्तियो के फलस्वरूप कुटुम्ब की उत्पत्ति होती है। कुटुम्ब बढकर ग्राम के रूप को ग्रहण करता है और ग्रामो का समुदाय मिलकर (नगर–) राष्ट्र बन जाता है। ग्रीक-जाति मे स्त्री और दास पृथक् स्थिति रखते है पर असभ्य बर्बर जातियो मे स्त्रियो के प्रति भी दासो जैसा व्यवहार किया जाता है। इसी सामाजिक भेद के आधार पर अरिस्तू ग्रीक लोगो के बर्बर जातियो पर शासन के अधिकार का औचित्य प्रतिपादन करता है। अरिस्तू स्वयं जिस समाज मे उत्पन्न हुआ था उसमे दास-प्रथा प्रचलित थी, इसलिये उसने न केवल उसको स्वीकार किया, प्रत्युत उसकी स्वाभाविकता और उचितता का प्रतिपादन भी किया। इससे स्पष्ट है कि महान् से भी महान् विचारक अपने समय की परिस्थितियो से पूर्णतया ऊपर नहीं उठ पाते हैं। इस विषय मे अधिक चर्चा यथावसर आगे की जायेगी।

१. प्रकृति––अरिस्तू ने अपने अन्य वैज्ञानिक एव दार्शनिक ग्रथों में प्रकृति के स्वरूप का विशद विवेचन किया है। यहाँ तो वह इतना ही कहता है कि प्रकृति एक वस्तु को एक ही कार्य को करने के लिए बनाती है।

२. दैल्फी के चाकू––दैल्फी ग्रीस देश का एक सुविख्यात तीर्थ स्थान था। यहाँ सूर्यदेव का विशाल मन्दिर था। यहाँ के चाकू अथवा छुरे पशुओं की बलि देने तथा उनके चमड़े को उतारने और मास को काटने में (सभवतया) काम मे आते थे। एक विद्वान् का सुझाव यह भी है कि वे चाकू और चम्मच दोनो का काम देते थे।

३. बर्बर जातियो के सभी मनुष्य दास होते है तथा उन पर ग्रीक लोगो का शासन होना उचित है, यह दोनो विचार यूरीपिदेस के नाटको से लिये गये प्रतीत होते है।

४. हेसियद् प्राचीनता में ग्रीस देश के आदि कवि होमेर के पश्चात् है। प्रस्तुत उद्धरण उसके "कार्य और दिवस" नामक काव्य से लिया गया है।

५. खारोन्दास और ऐपीनैनिदेस (क्रेते द्वीप का निवासी) अत्यन्त प्राचीन महापुरुषो के नाम है जिनके विषय में अनेको चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रचलित थी।

६. इस प्रकार के वाक्यांश का प्रयोग प्लातोन ने अपने 'कानून' नामक ग्रंथ में तथा होमेर ने "इलियड" नामक काव्य में (पं० २०।३०८) किया है।

७. 'चक्राक्ष' के लिये मूल में 'किक्लौप्स' शब्द का प्रयोग हुआ है। चक्राक्ष इस शब्द का नपा-तुला रूपान्तर है। 'चक्राक्ष' नाम के प्राणी किसी वन्य द्वीप में रहते थे। देखने में यह मनुष्यो के ही समान होते थे पर इनकी आँखें दो नही होती थीं। एक गोल आँख इनके मस्तक के मध्य में होती थी। इस पंक्ति को प्लातोन ने भी अपनी "कानून" नामक पुस्तक में उद्धृत किया है।

यहाँ तक अरिस्तू यही सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है कि मानव समाज का विकास प्रकृति द्वारा गृहस्थी, गॉव इत्यादि के रूपो में होता हुआ नगर की स्थिति को पहुँचता है। अतएव (नगर–) राष्ट्र कोई कृत्रिम समाज नही है।

८. पूर्ण 'आत्मनिर्भरता' के लिए मूल मे "औतार्केइया" शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसकी परिभाषा अरिस्तू ने अपनी "आचारशास्त्र" नामक पुस्तक में इस प्रकार दी है कि आत्मनिर्भरता वह गुण है "जिसके द्वारा स्वतः जीवन वांछनीय बन जाता है तथा जिसमें कोई अभाव नही होता।" (पुस्तक १ खड ७।७)।

९. मानव समाज की उत्पत्ति जीवन को बनाये रखने और सुरक्षित रखने की भौतिक आवश्यकताओ से हुई तथा जब वह समाज विकसित होकर (नगर–) राष्ट्र के रूप को प्राप्त हुआ तो भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के आधार "अच्छे-जीवन" का भवन निर्मित हुआ। मूल में 'अच्छे जीवन' के लिए 'यु जेन्' शब्द का प्रयोग हुआ है जो "सुजीवन" का सजातीय है।

१०. तुलना कीजिये "नृपशुरथवायं पशुपतिः।"

११. पैत्तेइया का खेल = ड्राफ्ट का खेल।

१२. अशाशी अथवा अवयव और अवयवी के संबध में अशी अथवा अवयवी का प्रागभाव (पूर्वसत्ता) मानना ही पड़ेगा क्योकि अंश, अंग अथवा अवयव तभी होगा जब पहले अंशी, अंगी अथवा अवयवी की सत्ता हो।

१३. देखो टिप्पणी संख्या १०।

१४. न्याय के विवेचन के लिये ही प्लातोन ने अपनी पॉलितेइया नामक पुस्तक की रचना की। अरिस्तू ने भी इस ग्रंथ की रचना इसी के विवेचन के लिये की है।

(नगर–) राष्ट्र को अरिस्तू ने समाज का परम विकसित रूप माना है और इस संबंध में यह भी कहा है कि किसी भी वस्तु का चरम विकसित रूप ही उसका लक्षण-सूचक

स्वरूप होता है। अरिस्तू ने जीव-विज्ञान का गहरा अध्ययन किया था। जीवन निरन्तर विकासशील है। अतएव यह प्रश्न उठता है कि किसी जीव का वास्तविक स्वरूप क्या माना जाय। अरिस्तू ने इसका उत्तर यही दिया कि जब कोई वस्तु (या जीव) विकसित होकर चरमशक्ति को प्राप्त हो जाये तथा जिस कार्य के लिये प्रकृति ने उसका निर्माण किया है उसको भली प्रकार सम्पादन कर सके तो उस स्थिति अथवा अवस्था को उसका वास्तविक रूप मानना चाहिये। मानव-समाज (नगर-) राष्ट्र के रूप को प्राप्त करके इस अवस्था को प्राप्त करता है। समाज के इस विकासक्रम में किस स्थिति में किस उद्देश्य की पूर्ति होती है यह निम्नतालिका से स्पष्ट हो जायेगा तथा यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि उत्तरकालीन स्थिति में पूर्वकालिक उद्देश्य सिद्धि का अन्तर्भाव हो जाता है।

स्थिति	उद्देश्य
१. कुटुम्ब अथवा गृहस्थी	प्रजनन तथा अल्पतम भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति = क
२. ग्राम	क + (न्याय के लिये ग्रामपंचायत तथा धार्मिक उत्सव इत्यादि = ख)।
३. (नगर-) राष्ट्र	क + ख + (न्याय और सैनिक संरक्षण की पूर्ण प्रतिष्ठा तथा विद्या और कलाओ का विकास = ग)।

विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से ग्रीक नगरो के विकास में विद्वानो ने जिन भौगोलिक, आर्थिक, सैनिक, तथा राजनातिक-सामाजिक कारणो का उल्लेख किया है उनका विवरण अरिस्तू ने प्रस्तुत खड में तथा आगे चलकर ७ वीं पुस्तक के खण्ड ६ और ११ मे किया है।

३

गृहस्थी के तत्त्व

पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्टतया जान लेने पर कि (नगर-) राष्ट्र की स्थापना किन छोटे छोटे अशो के मिलने से होती है, अब हमको सबसे पहले गृहव्यवस्था के विषय मे कुछ कहना आवश्यक है, क्योकि सब नगर गृहस्थियो के समूह से निर्मित होते है। और गृहस्थी के अग तो वही होते हैं जिनके मिलने से गृहस्थी बनती है। पूर्णविकास को प्राप्त गृहस्थी के घटक होते है (कुछ) दास और (कुछ) स्वतत्र व्यक्ति। पर

प्रत्येक विषय के परीक्षण का आरभ उसके सरलतम घटको के विचार से होना चाहिये, तथा गृहस्थी के प्रारभिक और सरलतम घटक-तत्त्व है प्रभु और दास, पति[1] और पत्नी, पिता और सन्तति। अतएव अब हमको इन तीनो सबधो के स्वरूप को देखना चाहिये कि वह कैसा है और उसमे कौन से गुण होने चाहिए। यह सबध है—प्रथम स्वामित्व सबध, द्वितीय वैवाहिक सबध[2] (हमारी ग्रीक भाषा मे पत्नी और पति के सबध को ठीक प्रकार से व्यक्त करने के लिये कोई शब्द नही है) तथा तृतीय प्रजोत्पादन सबध (और इस सबध के लिये भी हमारी भाषा मे कोई पृथक् नाम नही है।) यही वह तीन सबध है जिनका विवरण हम उपस्थित कर रहे है। पर इन अगो के अतिरिक्त गृहस्थी का एक अग और भी है, जिसको कुछ लोग तो समग्र गृह-व्यवस्था से अभिन्न समझते है तथा कुछ अन्य लोग इसको गृह-व्यवस्था का सबसे प्रमुख अग मानते है। इसका स्वरूप कैसा है, इसका भी हमको विचार करना चाहिये। इस अग से हमारा तात्पर्य 'धनोपार्जन' कहलानेवाली कला से है।

सबसे पहले स्वामी और दास के सबध का ही कथन करे, जिससे कुछ तो हमको व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओ के सबध मे ज्ञान प्राप्त हो सके, तथा यदि सभव हो तो इस समय तक एक विषय मे जो सिद्धान्त उपलब्ध है हम उनसे अपेक्षाकृत कुछ अधिक अच्छे सिद्धान्त प्राप्त करने के योग्य हो सके। कुछ लोग यह मानते है कि दासो के ऊपर प्रभुत्व चलाना एक विद्या है। जैसा कि हमने आरभ मे ही कहा था, इन लोगो की ऐसी धारणा है कि गृह का प्रबन्ध, दासो पर प्रभुत्व, राजनीतिज्ञो का शासन (नगर की व्यवस्था) तथा एकराट्तत्र यह सब एक ही बात है। अन्य कुछ लोग ऐसे भी है जो यह समझते है कि प्रभु के द्वारा दासो पर अधिकार चलाया जाना प्रकृति[3] के प्रतिकूल है। विधि (कानून) मे दास और स्वतत्र के भेद को भले ही माना जाता हो, पर प्रकृत्या उनमे इस प्रकार का कोई भेद नही है। (केवल) बल पर आश्रित होने के कारण यह सबंध न्याय्य नही है।

टिप्पणियाँ

द्वितीय खड में मानव के सामाजिक विकास का ऐतिहासिक तथा दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करके अब अरिस्तू उस विकास क्रम की प्रथम कड़ी कुटुम्ब अथवा गृहस्थी के विवरण का उपक्रम करता है। गृहस्थी का विश्लेषण करने पर उसमें तीन अथवा चार अंग दृष्टिगोचर होते हैं। इस खंड के अन्त में गृहस्थी के एक संबंध--स्वामी और दास के संबंध--के वर्णन का सूत्रपात किया गया हैं।

१. पति के लिए मूल ग्रंथ में इसी शब्द का सगोत्र शब्द पौसिस् आया है।

२. वैवाहिक संबंध के लिये 'गामिके' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो संस्कृत का सजातीय है।

३. प्रकृति के लिये मूल में 'फौसिस्' शब्द आया है जो संस्कृत के 'भूति' शब्द का सजातीय है।

४

दासता

धनसपत्ति गृहस्थी का एक अग है और धनोपार्जन-कला गृहप्रबध का एक विभाग है, क्योकि (जीवन की) आवश्यकताओ (की पूर्ति) के बिना अच्छी प्रकार जीवन-यापन करना अथवा जीवित रहना तक सभव नही है। फिर, जिस प्रकार किसी सुनिर्धारित कार्य्र-क्षेत्रवाली कला के लिये, अपने कार्य को भली प्रकार सपादन करने के लिये, तदुपयोगी विशिष्ट उपकरण अनिवार्यतया आवश्यक होते है, उसी प्रकार की स्थिति गृहप्रबध कला की भी है। उपकरणो मे भी कुछ निर्जीव होते है, तथा कुछ सजीव, उदाहरण के (नौकासचालन की कला मे) नियत्रक[1] निर्जीव तथा पुरोदृष्टा[2] सजीव उपकरण का काम देता है (पुरोदृष्टा को उपकरण इसलिए कहा क्योकि कलाओ (अथवा व्यवसायो) मे अधियुक्तकर्मी उपकरण स्थानीय ही होते है)। बस इसी प्रकार सम्पत्ति (के सब अगोपाग) जीवन के लिये उपकरण स्वरूप है, सम्पत्ति वास्तव मे इन्ही अगोपागो का समूह ही है, दास सम्पदा के अन्तर्गत सजीव उपकरण है तथा जिस प्रकार कोई उपकरण अन्य उपकरणो मे अग्रणी होता है इसी प्रकार नौकर (अर्थात् सजीव उपकरण) अन्य (निर्जीव) उपकरणो की अपेक्षा अग्रगण्य होते है (अर्थात् निर्जीव उपकरणो से तभी काम लिया जा सकता है जब उनसे पहले सजीव उपकरण विद्यमान हो)। यदि प्रत्येक निर्जीव उपकरण (स्वामी की) आज्ञा मानकर अथवा इच्छा को जानकर इसी प्रकार अपना कार्य सपादन कर सकता, जिस प्रकार दायदालस्[3] की मूर्त्तियाँ और हिफाएस्तस्[3] के तिपाए करते थे (जिनके विषय मे कवि ने कहा है,

"स्वत प्रवेश किया देवमण्डली मे जा"),

इसी प्रकार यदि करघे की नली स्वय बुन लेती और कोण (मिजराब) स्वत सितार को स्पर्श कर लिया करता तो प्रमुख कारीगर को नौकरो की और (गृह-)स्वामी को दासो

की आवश्यकता भी न हुआ करती। यहाँ पर एक अन्तर और ध्यान देने योग्य है कि जिन उपकरणो की चर्चा हम कर चुके है (यथा करघे की नली इत्यादि) वे उत्पादन के उपकरण है, परन्तु गृहसम्पत्ति के उपकरण (यथा दास, शय्या, वाहन इत्यादि) कार्य-सपादन के उपकरण है[४]। जब नली को काम मे लाया जाता है तो उससे कुछ ऐसी वस्तु (अर्थात् कपडा) उत्पन्न होती है जो नली की क्रिया से भिन्न तथा पृथक् है, पर गृहसम्पत्ति के वस्त्र तथा शय्या इत्यादि उपकरणो मे केवल (जीवन के लक्ष्यसाधन कार्य की) उपयोगिता ही पाई जाती है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि, क्योकि उत्पादन और कार्य मे प्रकार-भेद है, तथा दोनो को ही अपने अपने लिये समुचित उपकरणो की आवश्यकता होती है, अतएव उनके इन उपकरणो मे भी अनुरूप भेद अवश्यमेव होना चाहिये। पर जीवन तो कार्य है, उत्पाद (निर्माण) नही है, इसलिए दास (जीवन के उद्देश्य की सिद्धि का उपकरण होने के कारण) कार्यार्थ उपयोग मे आनेवाला उपकरण है, (उत्पादन का उपकरण नही)।

फिर, सम्पत्ति शब्द का उपयोग अश अथवा भाग के अर्थ मे भी किया जाता है, और अश तो केवल किसी (अपने से भिन्न) अन्य वस्तु का भाग-मात्र नही होता, प्रत्युत पूर्णतया दूसरे के स्वत्व मे होता है, बिलकुल ऐसी ही बात सम्पत्ति के विषय मे भी लागू होती है। इसलिए स्वामी तो केवल दास का स्वामी मात्र होता है पर उसके स्वत्व मे नही रहता, इसके विपरीत दास केवल अपने स्वामी का दास ही नही होता, प्रत्युत पूर्णतया उसी के स्वत्वाधीन होता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि दास का स्वरूप और वृत्ति (अथवा क्षमता) क्या है, जो प्रकृत्या अपना (स्वामी) नही प्रत्युत दूसरे का आदमी है, वह प्रकृत्या दास होता है, तथा जो मनुष्य होते हुए भी किसी की सम्पत्ति मे अन्तर्भुक्त है वह दूसरे का आदमी है, एव सम्पदा का (अग) वह उपकरण होता है जो कार्यार्थ उपयोग में आता है तथा अपने स्वामी से पृथक् होता है[५]।

टिप्पणियाँ

१. नियंत्रक—वह यंत्र जिसके द्वारा नौका का संचालन होता है।

२. पुरोदष्टा—वह व्यक्ति जो नौका का पथप्रदर्शन करता है। इसको निर्याम अथवा निर्यामक भी कहते हैं।

३. दायदालस् और हिफाएस्तस् पौराणिक युग के यंत्र-निर्माता थे। हेफ़ाएस्तस पूर्वज है और दायदालस् उसके पश्चात् हुआ कहा जाता है। इन्होने अनेको चमत्कार-

मयी वस्तुओ का निर्माण किया था। हेफाएस्तस् जन्म से देवता था पर लँगड़ा होने के कारण इसकी माता हीरा ने इसको स्वर्ग से पृथ्वी पर फेंक दिया। पृथ्वी पर यह लौह-कारों का देवता बन गया और इसने अनेकों विचित्र वस्तुओ का निर्माण किया। दाय-दालस् ने भूलभुलइयो का निर्माण क्रेते द्वीप के राजा मिनौस् के लिये किया। स्वयं-चालित मूर्त्तियाँ बनाईं। एक बार यह और इसका पुत्र पंख लगाकर आकाश में उड़े भी।

४. अरिस्तू ने उपकरणो की दो श्रेणियाँ मानी हैं (१) उत्पादक-उपकरण जो किसी अन्यवस्तु के निर्माण में काम आते है--जैसे करघे की नली अथवा तुरी। (२) जीवनोपयोगी उपकरण--जो किसी वस्तु के उत्पादन में सहायक नहीं होते पर जीवन के किसी उद्देश्य के लिये उपयोगी होते हैं। इस दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत दास, वस्त्र, शय्या इत्यादि आते हैं। उत्पादन और कार्य के लिये मूल में 'पोइसिस्' और 'प्राक्षिस्' शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनका शब्दार्थ 'बनाना' और 'करना' है।

५. अन्तिम अनुच्छेद में अरिस्तू ने स्वामी (प्रभु) दास तथा सम्पत्ति की परि-भाषाएँ सार रूप में दे दी हैं।

५

दास का स्वरूप

इसके पश्चात् अब यह देखना चाहिये कि क्या प्रकृत्या कोई मनुष्य ऐसा (अर्थात् दास) होना इष्ट है अथवा नही, क्या किसी भी मनुष्य के लिये दासता करना अच्छा और उचित है अथवा नही , अथवा इसके विपरीत समग्र दासता प्रकृति-विरुद्ध है। विवेक की दृष्टि से देखने से अथवा वास्तविक तथ्यो पर विचार करने से, दोनो ही प्रकार से इस प्रश्न का उत्तर कठिन नही है। क्योकि (कुछ का) शासन करना और (अन्य कुछ का) शासित होना न केवल आवश्यक है प्रत्युत व्यवहारोपयोगी भी है , ऐसा लगता है कि सीधे जन्म से ही कुछ के भाग्य मे शासित होना तथा (अन्य) कुछ के भाग मे शासन करना नियत होता है। और शासक तथा शासितो के भी बहुत से प्रकार होते है , अतएव जो शासन अपेक्षाकृत अच्छे प्रकार के शासितो पर किया जाता है वह अच्छा शासन होता है, जैसे कि मनुष्य के ऊपर किया गया शासन पशु के ऊपर किये गये शासन से अपेक्षाकृत अच्छा होता है। कारण यह है कि जब कोई कार्य अच्छे तत्त्वो के द्वारा सपादित होता है तो वह अपेक्षाकृत अच्छा कार्य होता है, जहाँ कही कोई शासन करता है और दूसरा शासित होता है तो यह उन दोनो का (सम्मिलित) कार्य कहा जा सकता

है। जो भी वस्तुएँ अनेक भागो से मिलकर बनी होती है, तथा मिश्रित प्रकार की होती है, तो चाहे उनके अग परस्पर बिल्कुल मिले-जुले हो (जैसे कि शरीर के अवयव) अथवा स्पष्ट विभक्त हो (जैसे स्वामी और दास के सबध मे), उनमे शासक तत्त्व और शासित तत्त्वो (अशो) का भेद प्रकट हो ही जाता है। यह (शासक और शासित तत्त्वो की सत्ता) सजीव प्राणियो मे समग्र प्रकृति की सघटना से ही उत्पन्न होती है, क्योकि (प्रकृति मे) जो वस्तुएँ जीवधारी नही भी है उनमे भी एक शासक तत्त्व पाया जाता है, जैसे कि स्वरमण्डल मे (प्रधान स्वर होता है)। पर यह तो स्यात् प्रकृत् विषय से बहक जाना है। अतएव हम केवल जीवधारियो के विषय मे विचार करेगे जो कि आत्मा और शरीर के सयोग से बने है तथा इन दोनो मे एक (अर्थात् आत्मा) प्रकृत्या शासक और दूसरा (अर्थात् शरीर) शासित है। पर प्रकृति के उद्देश्य को जानने के लिये हमको उन्ही वस्तुओ पर दृष्टिपात करना चाहिये जो अपनी प्रकृति को अक्षुण्ण बनाएं हुए है, न कि उन पर जो प्रकृतिभ्रष्ट हो गई है। अतएव हमको ऐसे मनुष्य का अध्ययन करना चाहिये जिसका शरीर और आत्मा दोनो श्रेष्ठ अवस्था मे वर्त्तमान हो, जिसमे आत्मा का शरीर पर यह शासन स्पष्ट प्रतीत हो सके, क्योकि जो व्यक्ति (स्थायी रूप से) बुरे है अथवा (थोडे से समय के लिये) विकृत दशा मे है उनमे तो, उनके दोषपूर्ण और प्रकृतिविपरीत दशा मे स्थित होने के कारण, बहुधा शरीर आत्मा पर शासन करता प्रतीत होगा।

कुछ भी सही, जैसा कि हम ऊपर कह चुके है, जीवधारियो मे प्रथमत प्रभुशासन और विधिशासन दोनो ही प्रकार के शासनो को देख सकते है। आत्मा शरीर पर जो शासन करती है वह प्रभुशासन—अर्थात् प्रभु का दास पर शासन—है, जब कि बुद्धि कामनाओ (=एषणाओ) पर वैधशासन अथवा राजशासन करती है। (मानव के अन्तर्जगत् के) इस क्षेत्र मे शरीर पर आत्मा तथा आवेगात्मक अश पर बुद्धि और विवेकात्मक अश द्वारा शासन किया जाना स्वाभाविक और उपयोगी दोनो ही है, इसके विपरीत उपर्युक्त दोनो (शासक और शासित तत्त्वो) की समानता अथवा उनके सबध का विपर्यय सर्वदा हानिकर है। जो बात मनुष्य के आन्तरिक जीवन मे उसकी आत्मा और शरीर के सबध मे ठीक है वही मनुष्य और पशुओ के सबध मे भी सही है, क्योकि पालतू जानवर ज़गली पशुओ की अपेक्षा अच्छे स्वभाववाले होते है, एव मनुष्य के द्वारा शासित होने पर यह (पालतू) जानवर अधिक अच्छे रहते है, कारण कि मनुष्य के शासन मे उनको सुरक्षा की प्राप्ति हो जाती है। फिर, नर और (नारी) मादा का सबध प्रकृत्या उच्चतर और अवर का—शासक और शासित

का जैसा सबध है। यही सिद्धान्त अनिवार्यतया समग्र मानवजाति के विषय में भी लागू होता है (और इसी कारण स्वामी और दास के सबध मे भी ठीक है)।

अतएव जहाँ कही भी (मनुष्यो मे) ऐसा अन्तर पाया जाता है जैसा कि आत्मा और शरीर में तथा मनुष्य और पशुओ मे उपलब्ध होता है (-ऐसी ही स्थिति उन सब मनुष्यो की होती है जिनकी वृत्ति केवल शारीरिक सेवा करना है, तथा जिनसे प्राप्त होनेवाली सर्वोत्तम वस्तु यही है, इससे बढकर और कुछ नही–) तो वहाँ निम्नश्रेणी के मनुष्य प्रकृत्या दास होते हैं, तथा उसी सिद्धान्त के अनुसार जो अन्य प्रसगो मे (अर्थात् शरीर और पालतू पशुओ के प्रसग मे) उल्लिखित हो चुका है इनके लिये यही अधिक अच्छा है कि यह किसी स्वामी द्वारा शासित रहे। प्रकृति से ही दास वह होता है जो दूसरे का होने की योग्यता (सामर्थ्य) रखता है (तथा इसीलिए दूसरे का है भी) तथा जो वही तक विवेकभाजन है जहाँ तक कि वह दूसरे मे विवेक की सत्ता को ग्रहण कर सकता है पर जो स्वय उस से वञ्चित है। रही निम्नकोटि के प्राणियो की बात, सो वे दासो से इस बात मे भिन्न है कि वे तो विवेकतत्त्व की सूझबूझ से बिलकुल शून्य होते है, केवल अपनी सहज प्रवृत्तियो का ही अनुसरण करते है। इन दोनो—दास और पालतू पशुओ–का जो उपयोग किया जाता है वह एक दूसरे से थोडा ही हटता हुआ होता है, क्योकि दोनो ही अपने शरीरो के द्वारा (अपने स्वामी के) जीवन की आवश्यकताओ की पूर्त्ति मे सहायक होते है। (इस बौद्धिक अन्तर के अतिरिक्त) प्रकृति स्वतत्र पुरुष और दास के शरीरो मे भी भेद करना चाहती है, अत वह एक (अर्थात् दास) के शरीर को आवश्यक सेवाओ के लिये तगडा बनाती है तथा स्वतत्र पुरुष के शरीर को सरल अनवनत, और यद्यपि स्वतत्रपुरुष का शरीर टहल चाकरी के लिये उपयोगी नही होता तथापि उस नागरिक जीवन के लिये उपयुक्त होता है (जो अपने विकासक्रम मे सैनिक-सेवा तथा शान्तिकालीन व्यवसायो मे बँट जाया करता है)। पर प्राय प्रकृति के इस उद्देश्य का विपर्यय भी घटित हो जाता है—अर्थात् कुछ (दासो) को स्वतत्र पुरुषो का शरीर प्राप्त हो जाता है एव कुछ दूसरो को उनकी आत्मा।[१] यह तो स्पष्ट है कि यदि मनुष्यो के शरीर की आकृतियो मे परस्पर इतना अन्तर हुआ करता जितना कि देवताओ की मूर्त्तियो और मनुष्यो के शरीरो मे है तो सभी इस विषय मे एकमत हो जाते कि निम्नवर्ग के लोगो को उच्च वर्गवालो की दासता करनी चाहिये। और यदि यह बात शरीर के अन्तर के आधार पर इतनी सत्य है तो भला जब आत्मा के अन्तर का प्रसग हो तब तो इस बात को और भी अधिक औचित्य-पूर्ण सिद्ध किया जा सकता है, यद्यपि आत्मा के सौन्दर्य को देख सकना उतना सरल नही

है जितना कि शरीर के सौन्दर्य को। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि कुछ मनुष्य स्वभाव (प्रकृति) से स्वतत्र होते है और अन्य कुछ प्रकृत्या दास होते है, तथा इन (दास प्रकृति के) मनुष्यो के लिये दासता उपयोगी और उचित दोनो ही है[२]।

टिप्पणियाँ

इस खंड में अरिस्तू ने यह दिखलावे का प्रयत्न किया है कि शासक और शासित तत्त्व का भेद समग्र जड़ और चेतन प्रकृति में व्याप्त है। आत्मा और शरीर में भी यही अन्तर है। मनुष्य समाज में जो व्यक्ति विवेक-शक्ति से शून्य है तथा केवल शारीरिक शक्ति रखता है वह दास होता है तथा जो विवेक शक्ति सम्पन्न होता है वह स्वामी। अरिस्तू दास में विवेक की मात्रा इतनी ही मानता है जितनी से स्वामी की विवेकवता की स्वीकृति हो सके। पालतू पशुओ में दास के बराबर भी विवेक नहीं होता। दास अपने स्वल्पविवेक के सहारे एक तो अपने स्वामी में विवेक की सत्ता को ग्रहण कर सकता है तथा दूसरे उसकी आज्ञाओ को और निर्देशों को समझ सकता है। यद्यपि प्रकृति, स्वामी और दास के भेद को स्पष्ट करना चाहती है पर वह सर्वदा ऐसा करने मे कृतकार्य नही हो पाती।

१. इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार भी होना संभव है, "बहुधा ऐसा संयोग बन पड़ता है कि दासो को स्वतंत्र पुरुषो का शरीर प्राप्त हो जाता है, पर स्वतंत्र पुरुषो को केवल आत्मा ही मिल पाती है।"

२. इस अनुखंड में जहाँ हमको दास प्रथा के संबंध में अरिस्तू के विचारो का पता चलता है वहाँ अथेन्स के समाज की एक झलक भी मिलती है।

६

वैध और प्राकृतिक दासता

परन्तु यह देख सकना भी कठिन नही है कि जो व्यक्ति उपर्युक्त विचारों के विपरीत मत रखते है, एक प्रकार से वे भी ठीक ही कहते है। "दासता" और "दास" इन दोनो शब्दो का दो भिन्न अर्थों मे प्रयोग किया जाता है। (उपर्युक्त प्रकृत्यनुसारिणी दासता के अतिरिक्त) दासता और दास का एक प्रकार और भी है जो नियम अथवा सामाजिक रूढि पर आश्रित है। वह नियम जिसके अनुसार युद्ध मे विजितो पर विजेताओ का

अधिकार माना जाता है वास्तव मे एक रूढि ही है। पर बहुत से स्मृतिकार दासता के इस औचित्य-प्रतिपादन का इसी प्रकार विरोध करते है जिस प्रकार किसी सविधान-विरोधी वक्ता का—अर्थात् वे इस रूढि के विरुद्ध अवैधता का आरोप लगाते है। उनको यह विचार घृणोत्पादक प्रतीत होता है कि यदि कोई मनुष्य शक्ति से बलात्कार करता है और जो केवल बल मे दूसरो से बढकर है तो दूसरो को उसके बलप्रयोग से जबरदस्ती दास और शासित होना पडेगा। विद्वानो मे भी इस विषय पर विभिन्न मत है, कुछ इसका समर्थन करते है तो दूसरे विरोध। इस विषय मे मतविप्रतिपत्ति का हेतु और विभिन्न विरोधी दृष्टिकोणो के परस्पर अतिव्याप्त होकर उलझ जाने का कारण निम्नलिखित है। एक अर्थ मे, (भौतिक) साधनो से सम्पन्न होने पर, साधुता (दूसरो को) वश मे करने की सबसे बडी शक्ति रखती है, और (इसके विपरीत) विजेता किसी न किसी प्रकार की अच्छाई मे सदा प्रमुख होता ही है। यह जो साधुता अथवा किसी प्रकार की अच्छाई का शक्ति के साथ सबध है इससे यह विचार उत्पन्न होता है कि "शक्ति बिना साधुता के नही होती।"[१] पर (क्योकि दासतासबधी विवाद मे यह विचार दोनो पक्षो को मान्य रहता है) अत (अन्ततोगत्वा) उभय पक्षो का विवाद केवल न्याय-सबधी ठहरता है। इस (न्याय) के सबध मे एक पक्ष का मत यह है कि न्याय पारस्परिक सुहृदयता का नाता है (अतएव रूढि द्वारा आरोपित दासता का विरोधी है); दूसरे पक्ष का मत यह है कि अधिक शक्तिशाली का शासन स्वत एव स्वयमेव न्याय है (अतएव रूढि द्वारा अनुमोदित दासता उचित ही है)। (पर उपर्युक्त विचार की द्वयर्थकता, जिसका आधार दोनो पक्ष लेते है, वास्तविकता को स्पष्ट नही होने देती), किन्तु जब इन पृथक् पृथक् मतो को (सामान्य आधार को हटाकर) अलग अलग स्पष्ट अभिव्यक्त कर दिया जाता है तो इस मत के समक्ष कि 'जो साधुता मे बढकर है उसी को शासन करना और स्वामी होना चाहिये' उपर्युक्त दोनो ही विरोधी मतो मे न तो कोई बल ही रह जाता है और न किसी को आश्वस्त करने की क्षमता[२]।

एक और प्रकार से विचार करने पर भी यही परिणाम निकलता है। कुछ अन्य व्यक्ति, यह समझते हुए कि हम तो एक प्रकार के न्याय का ही पक्ष ग्रहण किये हुए है, (क्योकि नियम एक प्रकार का न्याय ही तो है) यह मान लेते है कि युद्ध की नीति के अनुसार दासता सर्वत्र और सर्वदा न्यायोचित है। पर इसके साथ ही साथ वे इस धारणा का प्रतिवाद भी करते है। क्योकि प्रथमत यह सभव है कि युद्ध का मूल कारण ही उचित न हो (तब तो इस प्रकार आरोपित दासता उचित नही होगी) और दूसरे जो व्यक्ति दास होने के योग्य नही है उनको तो कभी कोई यह नही कहेगा कि वह दास है[१]।

यदि ऐसा होता तो उच्च से भी उच्च कुल के लोग युद्ध मे बन्दी बनाकर बेच दिये जाने पर दास अथवा दासो की सन्तान हो जाते । यही कारण है कि हैलैनेस् (ग्रीक) लोग (युद्धजनित दासता के समर्थक होते हुए भी) इन अपनी ही जाति के बन्दियो को दास कहना नही चाहते प्रत्युत इस शब्द का प्रयोग असभ्य बर्बर लोगो तक सीमित रखते है। परन्तु इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करते समय (वह स्वय अपने कथन का प्रतिवाद करते है और) उनका उद्देश्य उस प्राकृतिक दास की ओर सकेत करने के अतिरिक्त और कुछ नही होता, जिसका वर्णन हम पहले ही कर चुके है, क्योकि यह तो अवश्य ही मानना पडता है कि कुछ लोग (अर्थात् बर्बर लोग) सर्वत्र और स्वत दास होते है तथा अन्य कुछ लोग (अर्थात् ग्रीक) सर्वत्र और स्वत. दास नही होते (स्वतत्र होते है) । कुलीनता (आभिजात्य) और दासता दोनो ही के सबध मे एक समान विचार-सरणी का अनुसरण किया जाता है । हैलैनेस् (ग्रीक) लोग अपने को केवल अपने देश मे ही कुलीन (=अभिजात) नही मानते, प्रत्युत सर्वत्र अपने को ऐसा ही समझते है, किन्तु बर्बर लोगो को वे तभी अभिजात मानते है जब वे अपने घर पर होते है, मानो वे इससे सूचित करते है कि एक प्रकार की कुलीनता और स्वतत्रता वह होती है जो निरपेक्ष है तथा दूसरी वह जो सापेक्ष होती है,[४] जैसा कि थियॉदैक्तेस् के नाटक मे हैलन्[५] ने कहा है,

> "दोनो (माता-पिता) की ओर से जो जन्मी देवकुल मे, मै
> चाकरनी कहे मुझे साहस है किसका ?"

जब वे लोग इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते है तो इसके अतिरिक्त इसका अन्य कोई अर्थ नही होता कि ग्रीक लोग दासता और स्वतत्रता तथा कुलीनता और अकुलीनता का भेद साधुता और असाधुता के तत्त्वो के आधार पर करते है । उनका विचार है कि जिस प्रकार मनुष्य से मनुष्य का जन्म होता है और पशु से पशु का इसी प्रकार भले (आदमी) से भले (आदमी) का जन्म होता है । परन्तु यह ऐसी बात है जिसको प्रकृति करना तो बहुधा चाहती है, किन्तु प्राय कर नही पाती ।

अतएव यह तो स्पष्ट है कि इस मतभेद के लिये कुछ सहेतुक आधार है तथा वे सब मनुष्य जो कि वास्तव मे दास है अथवा स्वतत्र है प्रकृत्या वैसे नही है । और यह भी स्पष्ट है कि कुछ स्थितियो में दोनो (प्रकृत्या दास और प्रकृत्या स्वतत्र-जन) मे स्पष्ट विभिन्नता मिलती है तथा ऐसी अवस्था में एक के लिये वास्तव मे दास तथा दूसरे के लिये शासक होना एव एक के लिये आज्ञा पालन करना और दूसरे के लिये प्रकृति द्वारा

निर्दिष्ट शासनाधिपत्य चलाना उपयोगी भी हो जाता है तथा न्यायोचित भी। पर इस (अधिकार) का दुरुपयोग दोनो ही पक्षो के लिये हानिकारक होता है, क्योकि अवयव और अवयवी, तथा शरीर और आत्मा दोनो के हित अभिन्न होने है, और दास तो स्वामी का अवयव—उसके शरीर-सस्थान से पृथक् किन्तु सजीव अवयव—ही है। अतएव जब स्वामी और दास[६] प्रकृति के अनुसार अपनी स्थिति के योग्य होते है तो उनके हित समान होते है और उनमे आपस मे मित्रता[७] होती है, परन्तु जहाँ ऐसी परिस्थिति नही होती किंतु उनका पारस्परिक सबध केवल नियम (कानून) और बलात्कार पर आश्रित होता है वहाँ परिणाम इसके विपरीत होता हे (अर्थात् दोनो के हितो मे विरोध रहता है, और मित्रता के स्थान पर पारस्परिक वैर-भावना रहती है)।

टिप्पणियाँ

१. इस खंड मे वैध दासता और प्राकृतिक दासता का अन्तर समझाया गया है। अरिस्तू की राजनीति के सम्पादक न्यूमैन ने इस खड पर बहुत विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। पिछले खड में प्राकृतिक दास का स्वरूप-निरूपण किया जा चुका है। ग्रीक जाति मे यह नियम अथवा रूढि चली आती थी कि बलवान् विजेता को विजितो को दास बना लेने का अधिकार है। अरिस्तू ने नियम के लिये "नौमस्" शब्द का प्रयोग किया है तथा रूढ़ि (कन्वेंशन) के लिये 'होमोलौगिया' का। पर अन्य स्मृति-कार इस नियम अथवा रूढ़ि को अवैध मानते हैं। विद्वानो में भी इस विषय पर पर्याप्त मतभेद है। मतभेद का मूल कारण यह है कि दोनो पक्षों के पोषक एक सामान्य सिद्धान्त को स्वीकार करके उसकी परस्पर विरोधी व्याख्याएँ करते है। वह सामान्य सिद्धान्त है "शक्ति बिना साधुता के नही होती" अथवा "शक्ति और साधुता का साथ है" "शक्ति-र्नास्ति साधुतां विना।" मूल ग्रीक वाक्य है 'मे अनिउ अरेतेस् ऐनाई तेन् बियान्" इसका शब्दशः अर्थ "नहीं बिना साधुता के होना शक्ति को" है (१) एक पक्ष इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है कि शक्ति में साधुता का अर्थ सन्निहित है अतः अपने मे निहित साधुता के आधार पर शक्ति शक्तिशाली पुरुष को अपने द्वारा विजित बन्दियो को दास बनाने का अधिकार प्रदान करती है। (२) दूसरे पक्ष का कहना है कि शक्ति के साथ साधुता अवश्य रहना चाहिये अर्थात् शक्ति के साथ साधुता का योग होना चाहिये जिसके शक्तिशाली में सुहृदयता का समावेश हो सके। शक्ति के द्वारा जो विजित हो उनको साधुताजन्य सुहृदयता के आधार पर विजेता अपना प्रकृत दास बना सकता है।

ऐसा होने पर ही स्वामी दास का सबंध उचित ठहराया जा सकता है, किसी नियम अथवा रूढ़ि के आधार पर ऐसा नही किया जा सकता।

२. यदि इन विरोधी पक्षो की युक्तियो में से उपर्युक्त सामान्य आधार को निकाल दिया जाय तो दोनो पक्षो का स्वरूप इस प्रकार प्रतीत होगा। (१) विजेता को विजितो को दास बनाने का अधिकार देनेवाली रूढ़ि उचित है। (२) यह रूढि उचित नही है। अरिस्तू इन दोनों पक्षो को अमान्य ठहराता है। उसका अपना मत यह है कि जो व्यक्ति उच्चकोटि की साधुता से युक्त है उसी का दासो का स्वामी होना उचित है। यदि विजेता मे यह गुण है तो उसका विजितो को दास बनाना उचित हो सकता है, अन्यथा नही।

३. ग्रीक जाति में एक नियम यह भी था किसी स्वतंत्र ग्रीक को युद्धबदी दास के रूप में खरीदा न जाय।

४. ग्रीक और बर्बर लोगों की तुलना तो अरिस्तू के जात्यभिमान को सूचित करती है। कहते है कि उसने अपने शिष्य सिकन्दर को भी यही उपदेश किया था कि तुम जिन ग्रीक राज्यो को विजय करो उनके प्रति एक प्रकार का (राजनीतिज्ञ का) शासन करना पर इतर जातियो पर प्रभु तुल्य राज्य करना।

५. हैलेन, जिउस् (द्यौस्) और लैदा की पुत्री थी। उसका विवाह मैनेलाउस् नामक राजा से हुआ था। त्रॉय के राजकुमार पारिस् न उसका हरण किया। इसी के कारण त्राय का युद्ध हुआ और त्राय नष्ट भ्रष्ट हो गया। इसी युद्ध की कथा का वर्णन होमेर के इलियड् नामक काव्य में हुआ है। यहाँ जिस नाटक से यह पंक्तियाँ उद्धृत की गयी है वह अब नहीं मिलता।

६. मूल मे दास और स्वामी के लिए 'दूलस्' तथा "देस्पौतेस्" शब्दों का प्रयोग हुआ है।

७. अरिस्तू ने अपनी "ऐथिक्स' नामक पुस्तक मे स्वामी और दास की मित्रता की संभावना का प्रतिपादन किया है। दास मे दासता के साथ ही मानवता भी एक सीमा तक होती है। यही स्वामी और दास की मित्रता का आधार है। अरिस्तू की "ऐथिक्स" (आचारशास्त्र) और "पॉलितिक्स" (राजनीति) दोनो परस्पर एक दूसरे की पूरक है।

७

दास और स्वामी की विद्याएँ

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि स्वामी का दास पर शासन[१] तथा वैध शासन[२] (= राजनीतिज्ञ का शासन) दोनो अभिन्न नही है, और न (जैसा कि कुछ लोगो का कहना है) अन्य प्रकार की शासन पद्धतियाँ ही परस्पर एक समान है। जो व्यक्ति प्रकृत्या स्वतत्र है उन पर एक (अर्थात् वैध-) प्रकार का शासन चलता है, जो लोग प्रकृति से दास है उन पर दूसरे प्रकार का (अर्थात् प्रभुशासन) चला करता है, और जो शासन-प्रणाली प्रायेण गृहस्थी मे चला करती है वह एकराजतत्र[३] प्रणाली है (क्योकि प्रत्येक कुटुम्ब मे मुखिया का शासन एकराजकीयतत्र के समान होता है) तथा विधि-विहित (वैधानिक) शासन वह होता है जो स्वतत्र और समान व्यक्तियो पर चलता है। (जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है) स्वामी इसलिए स्वामी नही कहलाता कि उसको कोई विशिष्ट विद्या[४] आती है, प्रत्युत इसलिए कि वह एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र से युक्त व्यक्ति होता है, यही बात प्रायेण दास और स्वतत्र व्यक्ति के विषय मे भी लागू होती है। तथापि विद्या तो स्वामी की भी हो सकती है (जो स्वामी को दास पर शासन करना सिखाये) और दास की भी (जो उसको सेवाविधि बतलाये)। यह दासवाली विद्या तो (कुछ) वैसी ही होगी जैसी सिराकूस्[५] का निवासी सिखलाता था, तथा जिसके द्वारा वह दासो को उनके साधारण कर्तव्यो के पालन करने की शिक्षा देकर उनसे पैसा कमाया करता था। इस प्रकार की शिक्षा का क्षेत्र और भी बढाया जा सकता है, उदाहरणार्थ इसमे सुपाकविद्या तथा इसी प्रकार की अन्य घरेलू टहल-चाकरियो को सम्मिलित कर लिया जा सकता है। कारण यह है कि कर्तव्यो मे भी परस्पर पृथकत्व (अर्थात् ऊँच-नीच) होता है, कुछ कर्तव्य अधिक आदर के योग्य होते है जबकि कुछ अन्य अपेक्षाकृत अधिक अनिवार्य होते है, जैसा कि इस लोकोक्ति मे कहा है,—

"दास के आगे दास और स्वामी के स्वामी"

परन्तु इस प्रकार की सब विद्याएँ चाकरी की विद्याएँ है। इसी प्रकार स्वामी की भी विद्या है जो दासो का उपयोग सिखलाती है, क्योकि स्वामित्व की विशेषता दासो की उपलब्धि मे नही प्रत्युत उनके उपयोग मे है। तथापि यह स्वामी की विद्या न तो महत्त्वपूर्ण है, न गुरुगभीर। कारण कि दास को जिस काम को करना जानना

आवश्यक होता है स्वामी के लिये उसका आदेश करना जानना पर्याप्त होता है। इसलिए जो लोग अपनी (आर्थिक-) स्थिति के कारण इस प्रकार के कष्ट से मुक्त रह सकते है वे दासो के प्रबध का कार्य गृहाध्यक्ष को सौप देते है (तथा इस प्रकार बचे हुए समय मे) या तो राजनीति के कार्यो को करते है अथवा दर्शनाभ्यास मे लगे रहते है।[६] परन्तु दासो को प्राप्त करने की कला—अर्थात् न्यायोचित कला-उपर्युक्त दोनो (स्वामी तथा दास की) विद्याओ से भिन्न है, क्योकि यह तो युद्ध अथवा आखेट कला का एक अग है। स्वामी और दास के पारस्परिक विभेद के विषय मे इतना ही पर्याप्त है।[७]

टिप्पणियाँ

१, २, ३. के लिए मूल मे "दैस्पौतेइया", "पौलितिके" तथा "मोनार्खिया" शब्दो का प्रयोग किया गया है। ग्रीक तथा यूरोपीय राजनीति में यह शब्द बहुधा आया करते है।

४. विद्या के लिये मूल ग्रीक में "ऐपिस्तेमे" शब्द आया है जो यूरोप की दार्शनिक शब्दावली में विशिष्ट स्थान रखता है।

५. सिराकूस नगर सिसिली (सिकैलिया) द्वीप के दक्षिण-पूर्व मे है।

६. इस वाक्य से यह पता चलता है कि यूनानी लोगों के आर्थिक और सामाजिक जीवन में दासो की क्या स्थिति थी। जिस अवकाश के आधार पर ग्रीक लोगों के साहित्य, कला, राजनीति का भव्य भवन निर्मित हुआ उसको देनेवाले यह दास ही थे। फिर यह भी नही कहा जा सकता कि यह दास लोग केवल शारीरिक श्रम ही किया करते थे, क्योकि पिछले दिनों में घरेलू वैद्य भी दास ही होते थे एवं कुछ दास तो वाणिज्य, दर्शन और शासन के क्षेत्र मे पर्याप्त उच्च स्थान प्राप्त कर सके थे।

७. इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग अरिस्तू ने अनेको प्रकरणों के अन्त मे किया है। इसकी तुलना संस्कृत ग्रंथो की पुष्पिका से की जा सकती है।

८

धनोपार्जन-कला

अब हम सामान्यरूपेण धन-सम्पत्ति के सब प्रकारो, तथा धनोपार्जन की कला[१] के विषय मे पूर्वानुसृत पद्धति—समग्र को उसके अवयवो, तथा पूर्ण विकसित रूप को आरभिक रूप के द्वारा समझने की पद्धति—द्वारा विचार करे, क्योकि यह तो हम देख

ही चुके है कि दास भी धन-सपत्ति का ही अग है। इस विषय मे प्रथम दुबिधाजनक कठिनाई यह है कि धनोपार्जन-कला गृहप्रबन्ध के साथ अभिन्न है, अथवा उसका एक अग है, या उसके लिये सहायक है, और यदि सहायक अथवा उपयोगी है तो क्या इस प्रकार जिस प्रकार नली (तुरी) बनाने की कला कपडा बुनने की कला के लिये उपयोगी होती है, अथवा इस प्रकार जिस प्रकार काँसा ढालने की कला मूर्त्ति-निर्माण कला के लिये उपयोगी होती है, (यह प्रश्न इसलिए महत्त्वपूर्ण है) क्योकि यह दोनो कलाएँ (प्रधान कलाओ के लिये) समान रूप से उपयोगी नही होती, किन्तु एक उपकरण प्रस्तुत करती है तो दूसरी उपादान[२]। उपादान से हमारा तात्पर्य उस आधारभूत द्रव्य से है जिससे कोई प्रस्तुत की गई वस्तु बनाई जाती है, उदाहरणार्थ बुननेवाले के लिये ऊन उपादान है तथा मूर्त्तिकार के लिये काँसा। यह तो स्पष्ट है कि गृह-प्रबध-विद्या धनोपार्जन-कला के साथ अभिन्न तो नही है, क्योकि इनमे से एक अर्थात् धनोपार्जन-कला का कार्य (उस उपकरण अथवा उपादान को) प्रस्तुत करना है जिसका उपयोग करना दूसरी (अर्थात् गृहप्रबध-विद्या) का कार्य है। क्या जो कला-घर के साधन सग्रह का उपयोग करती है वह गृहप्रबध-कला के अतिरिक्त और कुछ हो सकती है? फिर भी यह प्रश्न कि धनोपार्जन-कला गृहप्रबध-कला का एक अग है अथवा उससे बिलकुल भिन्न कला है, मतभेद का विषय बना हुआ है। यदि द्रव्योपार्जन करनेवाले व्यक्ति को यह देखना पडे कि धन और सपदा कहाँ कहाँ से प्राप्त की जा सकती है, तथा सपत्ति और धन के भी बहुत से अग हो (जो विभिन्न स्रोतो से प्राप्त होते हो) तो (धनप्राप्ति के विषय मे सामग्र्येण विचार करने से) पहले हमको (इन अगो के विषय मे) विचार करना होगा और सोचना होगा कि कृषि धनोपार्जन-कला का अग है अथवा किसी अन्य कला का, सच तो यह है कि हमको यह प्रश्न सामान्यतया उन सभी धनोपलब्धि के साधनो और वृत्तियो के विषय मे पूछना होगा जिनका सबध भोजन प्रस्तुत करने तथा उसकी देखभाल करने से है। इसके आगे चलकर यह तत्त्व दृष्टिगोचर होता है कि स्वय भोजन के बहुत से प्रकार होते है और इसी भोजन की बहुविधता के कारण पशुओ और मनुष्यो के जीवन भी विविध प्रकार के होते है। भोजन के बिना उनका जीवन नही चल सकता, परिणामत पशु-जगत् मे हम देख सकते है कि उनके भोजन के प्रकारो की भिन्नता ने उनके जीवन के प्रकारो को भी भिन्न कर दिया है। पशुओ मे कुछ तो ऐसे होते है जो इकट्ठे मिलकर रहते है और कुछ ऐसे होते है जो अलग अलग एकाकी रहते है—अर्थात् भोजन-प्राप्ति के लिये जिस प्रकार का जीवन उपयोगी (अथवा सुविधाजनक) होता है उसी प्रकार का जीवन व्यतीत करते है, क्योकि उनमे

से कुछ तो मासभक्षी होते है और कुछ तृण-भक्षी एव कुछ सर्वभक्षी। प्रकृति ने उनकी सुगमता तथा अपनी पसन्द के भोजन की प्राप्ति के निमित्त उनके जीवन की पद्धतियो को इस प्रकार विभाजित कर दिया है[3], और क्योकि एक ही वर्ग के उपवर्गो को प्रकृत्या एक ही प्रकार का भोजन प्रिय नही होता प्रत्युत विभिन्न उपवर्गो को विभिन्न प्रकार का भोजन अनुकूल पडता है, अतएव हम देखते है कि मासभक्षी और तृणभक्षी पशुओ के उपवर्गो मे भी परस्पर विभिन्न प्रकार की जीवनपद्धतियाँ पाई जाती है। यही बात मनुष्यो के विषय मे भी लागू होती है, उनके जीवन मे भी परस्पर बहुत अन्तर होता है। सबसे अधिक निठल्ले तो घुमक्कड गडरिये होते है, जो अपनी जीविका बिना कष्ट के यो ही अवकाश के समय मे पालतू जानवरो से प्राप्त कर लेते है, पर क्योकि उनकी भेडो के रेवडो को चारे की खोज मे घूमते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना पडता है अतएव मानो जीती-जागती खेती-बाडी करते हुए उनको भी विवश होकर अपने पशुओ का अनुसरण करना पडता है। अन्य कुछ लोग अपनी जीविका आखेट के द्वारा चलाते है, एव आखेट के विभिन्न प्रकारो के अनुसार इन लोगो का जीवन भी विविध प्रकार का होता है . उदाहरणार्थ कुछ लोग डाकेजनी[4] द्वारा अपना जीवन पालते है, कुछ लोग, जो ऐसी झीलो, दलदलो, नदियो अथवा समुद्रो के पास निवास करते है जिनमे मछलियाँ रहती है, अपना पालन मछली पकडकर करते है ; अन्य कुछ लोग चिडियो अथवा जगली पशुओ के आखेट से अपनी जीविका प्राप्त करते हैं। मनुष्यो की सबसे अधिक सख्या अपनी जीविका धरती मे से कृषि द्वारा तथा उत्पादित वृक्षो (पौदो) से प्राप्त करती है। जो लोग केवल अपने ही परिश्रम पर निर्भर रहनेवाले व्यवसायो को करते है, तथा जिनका भोजन विनिमय अथवा दूकानदारी के द्वारा प्राप्त नही किया जाता, उनके विभिन्न जीवन-प्रकार लगभग इन (पाँच) कोटियो मे आते है–घुमक्कड गडरिया, कृषक, डाकू, मछुवा और बहेलिया। कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जो उपर्युक्त व्यवसायो मे से दो प्रकार की वृत्तियो को मिलाकर एक से प्राप्त होनेवाली जीविका की कमी दूसरी से पूरा करते हुए एक स्वत पूर्ण जीविका प्राप्त कर लेते है , उदाहरणार्थ कुछ लोग गडरिये और डाकू की एव अन्य लोग कृषक और बहेलिये की वृत्तियो का योग कर लेते है। इसी प्रकार जीवन की अन्य वृत्तियाँ भी अभावो (आवश्यकताओ) की विवशता की प्रेरणा से उपर्युक्त प्रकार से मिश्रित की जा सकती है (एव मनुष्यो का जीवन भी वैसा ही बन सकता है)।

केवल इस प्रकार की सम्पत्ति (अर्थात् वह सम्पत्ति जिससे जीवन-पोषण हो सके) तो ऐसा प्रतीत होता है, जन्म से लेकर पूर्ण वृद्धि को पहुँचने तक के समय के लिये स्वय

प्रकृति के द्वारा सबको दी जाती है । कुछ जीवधारी तो अपने बच्चो के जन्म के साथ ही इतना भोजन भी उत्पन्न करते है जो उन बच्चोके लिये उस समयतक पर्याप्त होता है जब तक वे स्वय भोजन प्राप्त करने के योग्य नही हो जाते । इस तथ्य के उदाहरण कीटज और अण्डज जीव है । जरायुज जीवो के पास तो अपने बच्चो के लिये भोजन स्वय अपने (शरीर) मे ही कुछ समय तक विद्यमान रहता है जो दूध कहलानेवाले पदार्थ की प्रकृति का होता है । इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि हमको विश्वास करना चाहिये कि (प्रकृति-द्वारा) इसी प्रकार का प्रबन्ध जन्म के उपरान्त विकास को प्राप्त हुए जीवधारियो के लिये भी किया गया है । वृक्ष-वनस्पति की सत्ता पशुओ के भोजन के लिये है तथा अन्य जीवो की मनुष्य के पोषण के लिये ।——जो पालतू पशु है वे मनुष्यो के व्यवहारोपयोग एव भोजन के निमित्त है, एव वन्यपशु, यदि सब नही तो अधिकाश तो मनुष्य के भोजन ही नही प्रत्युत वस्त्र एव अन्य विविध उपकरणो एव सहायो के काम आते है । यदि (यह बात ठीक है) कि प्रकृति कोई भी वस्तु अपूर्ण और निरर्थक नही बनाती, तो अनिवार्यतया यह निष्कर्ष निकलेगा कि उसने इन सबको[५] (वृक्ष और पशुओ को——अथवा पशुओ को) मनुष्य के ही निमित्त बनाया है । अतएव किसी अर्थ मे युद्धकला अर्थोपलब्धि का एक प्राकृतिक उपाय है । मृगया भी उसी कला का एक अग है, और ऐसी कला है जिसका प्रयोग जगली जानवरो तथा ऐसे मनुष्यो के प्रति होना चाहिये जो प्रकृति द्वारा शासित होने के लिये निर्दिष्ट होने पर भी अधीन नही होना चाहते——क्योकि इस प्रकार का युद्ध प्रकृत्या न्यायोचित है ।[६]

अतएव धनोपार्जन-कला का एक प्रकार (=मृगया) ऐसा है जो प्रकृत्या गृह-प्रबध का अग है । क्योकि यह कला उन सब पदार्थो की उपलब्धि का आश्वासन दिलाती है जो नगर और गृहस्थी के जीवन के लिये आवश्यक तथा सघटन के लिये उपयोगी है एव जिनका सग्रह किया जा सकता है, अतएव इस धनोपार्जन कला को या तो गृहप्रबधक को प्रतिपादित हुआ प्राप्त करना चाहिये अथवा स्वय प्रस्तुत करना चाहिये ।[७] यही वह पदार्थ है जो सच्ची सम्पत्ति के घटक माने जा सकते है । अच्छे जीवन के लिये सम्पत्ति की जो मात्रा पर्याप्त होती है वह अपरिमेय नही होती, यद्यपि सौलोन् ने अपनी एक कविता मे कहा है,

"मानव के लिये नही सीमा है धन की"

परन्तु जिस प्रकार अन्य विद्याओ के लिये अभीष्ट साधनो की सीमा होती है इसी प्रकार इस क्षेत्र मे (गृह-प्रबन्ध के लिये आवश्यक सम्पत्ति की उपलब्धि के क्षेत्र मे) भी सीमा

है। किसी भी कला के लिये अभीष्ट उपकरण सख्या तथा आकार की दृष्टि से कभी सीमारहित नही होते, तथा धन-सम्पत्ति गृहस्थी अथवा राष्ट्र मे प्रयुक्त होनेवाले उपकरणो के समूह को ही तो कहते है।`

अत यह स्पष्ट हो गया कि धनोपार्जन की एक प्राकृतिक कला है जो गृहस्वामियो और राजनीतिज्ञो के लिये है तथा इसकी सत्ता के लिये जो कारण है (अर्थात् जो मानव के उपयोग के लिये प्रकृति द्वारा निर्दिष्ट है, उसको प्राप्त करना मनुष्य के लिये स्वाभाविक है) वह भी स्पष्ट हो गया।

टिप्पणियाँ

इस खंड में अरिस्तू ने धनोपार्जन के विषय में अपने विचार प्रकट किये है। दास को वह गृहस्थ की सम्पत्ति का सजीव अंग मानता है, अतएव एक अंग की चर्चा के उपरान्त वह सम्पत्ति के अन्य अंगो और उनकी प्राप्ति के प्रकारो का विचार करता है। यहाँ से लेकर ११ वें खंड तक हमको ग्रंथकार के आर्थिक विचारो का परिचय मिलता है। प्राचीनकाल में अर्थशास्त्र और राजनीति दोनो मिले-जुले रहते थे। अरिस्तू के समकालीन कौटिल्य ने अपनी राजनीति की पुस्तक का नाम 'अर्थशास्त्र' ही रक्खा है। अब से कुछ समय पूर्व तक 'अर्थशास्त्र' को अंग्रेजी "पोलिटिकल इकौनौमी" नाम दिया जाता था। यह सब तथ्य इस बात के सूचक है कि राजनीति और अर्थशास्त्र का संबंध अत्यन्त घनिष्ठ है।

१. मूल में धनोपार्जन-कला के लिये "ख्रेमातिस्तिके" तथा धन-संपत्ति के लिये "क्तेसिस्" शब्द का प्रयोग किया गया है।

२. उपादान शब्द अरिस्तू के दर्शनशास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है। उसने अपनी "परा विद्या" (मेताफीसिका) नामक पुस्तक में जिन चार महत्त्वपूर्ण कारणो का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, उनमें उपादान कारण अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उपादान के लिए अरिस्तू ने "ह्यली" अथवा "हुली" शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का अक्षरार्थ तो लकड़ी होता है पर दर्शनशास्त्र में इसका लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण किया गया है।

३. यहाँ संनिहित विचार यह प्रतीत होता है कि घास खानेवाले पशु तो इकट्ठे होकर रहते है तथा मांसभक्षी एकाकी जीवन बिताते है। इस विषय में हिन्दी की कहावत भी है "जैसा खाये अन्न वैसा बने मन; जैसा पिये पानी, वैसी बोले बानी"। जीवो के भोजन के अनुसार उनकी जीवनपद्धति होती है, यह एक अत्यन्त पुराना विचार है।

४. डाकेजनी एक समय स्वतन्त्र व्यवसाय माना जाता था। यह मनुष्य के सामाजिक विकास का एक विचित्र पहलू है।

५. "इन सबको" से क्या तात्पर्य है इस विषय में व्याख्याकारों मे मतभेद है। तीन अर्थ संभव हैं—(१) सब पौदे और पशु, (२) सब जंगली पशु और (३) सब पशु। पूर्वापर संबंध पर विचार करने से तीसरा अर्थ ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

६. अरिस्तू ने युद्ध के औचित्य का प्रतिपादन किया है, प्लातोन ने सामाजिक विकास-क्रम में तथा सम्मान की रक्षा के लिये युद्ध को आवश्यक माना है पर यूरीपिदेस नामक नाटककार ने अपने "ट्राय की रमणियाँ" नामक नाटक मे युद्ध की विनाशक विभीषिका का नग्न-चित्रण प्रस्तुत करके जातियो को युद्ध से विरत होने का उपदेश किया है।

७. यह एक जटिल वाक्य है और विभिन्न व्याख्याकारो ने इसकी व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है। इस अनुच्छेद के आरंभ में अरिस्तू केवल गृहप्रबन्ध की चर्चा करता है पर दूसरे वाक्य में नगर के जीवन और संघटन के लिये भी धनोपार्जन कला को आवश्यक और उपयोगी मानता है। कारण यह है कि नगर गृहस्थियो का समूह होता है अतएव धनोपार्जन केवल गृहस्थी के लिए आवश्यक और उपयोगी नही होता, नगर के लिये भी होता है।

८. सौलोन (ई० पू० ६४० से ई० पू० ५५८) एक शासक और स्मृतिकार हुआ है। इसके विषय में अधिक जानकारी के लिये "अथेंस का संविधान" देखो।

९. यह स्पष्ट है कि धन-सपत्ति का तात्पर्य रुपया-पैसा नहीं है।

९

दूसरे प्रकार की धनार्जन-कला

(सामान्य) धनार्जन-कला का एक दूसरा प्रकार है जो विशेषरूपेण एव उचित-रूपेण अर्थकरी विद्या कहलाता है। इसी की विशेषताओ के कारण यह मतवाद प्रचलित हुआ है कि धन और सपदा की कोई परिमिति नही है। पूर्वोक्त अर्जन-कला के साथ इसका अत्यन्त समीप का सबध होने के कारण बहुत से व्यक्ति इस दूसरे प्रकार को उससे अभिन्न मानते हैं। वास्तव मे यह प्रकार उस उपर्युक्त प्रकार के साथ अभिन्न नही है तो बहुत भिन्न भी नही है। वह (जिसका वर्णन हो चुका है) प्राकृतिक है, यह

दूसरा प्रकार प्राकृतिक नही है, इसकी उत्पत्ति अपेक्षाकृत कुछ अनुभव और कौशल से होती है।

इस विषय के विवेचन का आरभ हम निम्नलिखित प्रकार से करे। सपदा के अन्तर्गत परिगणित होनेवाली प्रत्येक वस्तु के दो उपयोग होते है, दोनों ही उस वस्तु से स्वरूपत सबद्ध है, पर यह न तो एक ही प्रकार से सबद्ध होते है और न एक ही मात्रा मे, क्योकि इनमे से एक तो उस वस्तु का स्वकीय और विशिष्ट उपयोग होता है, तथा दूसरा ऐसा नही होता। उदाहरणार्थ एक जूते को ले, यह पहनने के काम में भी आता है और विनिमय के काम मे भी। यह दोनो उपयोग जूते के ही होते है। जो मनुष्य धन अथवा भोजन के बदले मे जूते की आवश्यकता रखनेवाले व्यक्ति को जूता देता है, वह भी तो जूते का जूते के ही रूप मे उपयोग करता है, पर यह उसका अपना विशिष्ट उपयोग नही है, क्योकि जूता विनिमय के उद्देश्य से नहीं बनाया जाता। सम्पत्ति के अन्तर्गत गिनी जानेवाली अन्य सब वस्तुओ के विषय मे भी यही बात सत्य है। विनिमय उन सब का ही हो सकता है, तथा पहले पहल इसकी उत्पत्ति स्वाभाविकतया (प्रकृत्या) हुआ करती है—अर्थात् ऐसी परिस्थिति में होती है कि मनुष्यो की आवश्यकताओ के लिये जितनी वस्तुएँ पर्याप्त होती है किसी के पास तो उनसे अधिक होती है तथा किसी के पास कम। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि क्षुद्र व्यापार (जिसमे वस्तुओ का लाभार्थ क्रय-विक्रय होता है) प्रकृत्या धनार्जन-कला का अग नही है; यदि ऐसा होता तो उभय पक्षो की आवश्यकताओ के लिये जितना पर्याप्त है उतनी सीमा तक विनिमय का होना आवश्यक हुआ करता (न कि एक पक्ष के लाभार्थ दूसरे को हानि पहुँचाने की सीमा तक)।

समाज के आदिम स्वरूप, अर्थात् गृहस्थी मे, स्पष्ट ही इस (विनिमय) का कुछ भी काम नही है, पर जब समाज का क्षेत्र विस्तीर्ण हो जाता है (और ग्राम की सत्ता उपस्थित होती है) तब इसके उपयोग का उद्भव होता है। आरभ मे तो एक कुटुम्ब के सदस्यो मे सब सम्पत्ति पर सब का अधिकार होता था, पर जब कुटुम्ब आगे चलकर बहुत से भागो मे बँट गया (और इस प्रकार ग्राम की उत्पत्ति हुई) तो ग्राम के लोगो के पास बहुत सी विभिन्न वस्तुएँ ऐसी रही जो आवश्यकता पडने पर वे परस्पर अदल-बदल लेते थे—यह बहुत कुछ इसी प्रकार होता था जिस प्रकार बहुत सी बर्बर जातियाँ अभी तक करती है। इस विधि के अनुसार उपयोगी वस्तुएँ स्वत प्रत्यक्षरूपेण अन्य उपयोगी वस्तुओ से बदली जाती है, इसके आगे और कुछ नही होता (रुपयें-पैसे का झंझट पैदा

नही होता) ; उदाहरणार्थ अन्न के बदले में मदिरा का आदान-प्रदान एव इसी प्रकार की अन्य वस्तुओ का विनिमय इसी प्रकार से किया जाता है। इस प्रकार का आदान-प्रदान (अथवा विनिमय) प्रकृति-विरुद्ध नही है, और न (इस खड के आरभ मे वर्णित दूसरी प्रकार की) वित्तोपार्जन-कला का ही एक प्रकार है; प्रत्युत यह तो प्राकृतिक आवश्यकताओ के सबध मे मनुष्य की आत्म निर्भरता की पूर्ति के लिये उपयोगी है। तथापि इतना निश्चय है कि इस प्रथम प्रकार के (प्राकृतिक) विनिमय से ही, समझ मे आनेवाले एव प्रत्याशित ढग से, दूसरे प्रकार की वित्तोपार्जन कला उत्पन्न हुई। जब मनुष्य उन वस्तुओ का (विदेश से) आयात करने लगे जिनकी अपने यहाँ कमी थी तथा उनका निर्यात करने लगे जो अपने यहाँ अधिक थी तो उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति अधिकाधिक विदेशी सहायता पर निर्भर रहने लगी तथा परिणामस्वरूप अनिवार्यतया मुद्रा का[1] प्रचलन आरभ हो गया। प्राकृतिक आवश्यकताओ की प्रत्येक वस्तु को इधर-उधर ले जाना सरलता से नही हो सकता था इसलिए वे अपने परस्पर के लेन-देन मे किसी ऐसी वस्तु का व्यवहार करने के लिये सहमत हो गये जो स्वय उपयोगी हो, और जीवन की आवश्यकताओ को प्राप्त करने के लिये सरलता से व्यवहृत हो सके। ऐसी वस्तु लोहा, चाँदी एव इसी प्रकार की अन्य धातुएँ थी। आरभ मे इनका मूल्य इनके आकार और तौल से निर्धारित किया जाता था, पर अन्ततोगत्वा, तौल की कठिनाई से मुक्ति पाने के लिये तथा मूल्य का चिह्न सूचित करने के लिये इन धातुओ को मुद्राकित किया जाने लगा।

इस प्रकार जब मुद्रा का प्रचलन स्थापित हो गया तो आवश्यक वस्तुओ के विनिमय से वित्तार्जन की दूसरी कला का जन्म हुआ जिसको 'क्षुद्र[2] व्यापार' कहते है। आरभ मे तो यह बिलकुल सरल सी बात थी (लाभार्जन की भावना इसके साथ ग्रथित नही हुई थी) पर कुछ समय पश्चात् जब अनुभव से पता चल गया कि कहाँ से और किस प्रकार के विनिमयो से सबसे अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है, तब यह व्यापार अपेक्षाकृत अधिक चतुरता से किया जाने लगा। इसलिए यह माना जाने लगा है कि धनार्जन-कला मुद्रा (के प्रयोग) के साथ विशेष प्रकार से सबद्ध है, तथा इसका कार्य यह देख सकना समझा जाता है कि धन का भडार कहाँ से प्राप्त किया जा सकता है। (इसके समर्थन मे यह कहा जाता है कि) यह कला धन और रुपया-पैसा कमाने के निमित्त ही है। सच तो यह है कि वित्तार्जन-कला तथा क्षुद्र-व्यापार के मुद्रा के साथ सबद्ध होने के कारण बहुत से मनुष्य बहुधा मुद्राराशि को ही धन सपत्ति मानते है। इसके विपरीत कुछ लोगों की सम्मति में मुद्रा नितान्त तुच्छ वस्तु है तथा पूर्णतया व्यावहारिक

रूढि पर निर्भर है। प्रकृत्या इसमे कुछ भी अन्त सार नही है। क्योकि यदि इसका उपयोग करनेवाले एक मुद्रा को त्यागकर दूसरी को ग्रहण कर लेते है तो यह व्यर्थ है, और इसलिए भी निरर्थक है कि जीवन की आवश्यकताओ मे कुछ काम नही आती। ओर जो मुद्राधनी व्यक्ति है वह प्राय आवश्यक भोजन-सामग्री तक से विरहित हो सकता है। उस वस्तु को सपत्ति कहना निश्चय ही मूर्खता की बात है जिससे सम्पन्न व्यक्ति, पौराणिक कथा के मिदास[३] के समान, जिसकी लोलुप (अतृप्त) प्रार्थना की पूर्ति के कारण प्रत्येक सम्मुख प्रस्तुत हुई वस्तु सोना बन जाती थी, भूखो मर सकता है।

इन्ही युक्तियो के आधार पर यह लोग धन तथा धनार्जन की (इस मुद्रार्जन की अपेक्षा) अधिक अच्छी धारणा को खोजने का प्रयत्न करते है, और उनका ऐसा करना ठीक ही है। प्राकृतिक धनार्जन-कला और प्राकृतिक धनवस्तु ही दूसरी है, अपने सच्चे रूप मे वह गृहप्रबन्ध-कला है, जब कि दूसरी धनार्जन-कला का सबध क्षुद्र वाणिज्य से है, सब प्रकार के धनार्जन से नही तथा यह विनिमय के द्वारा धनराशि (मुद्रा) सचय करने की कला है।[४] ऐसा ख्याल किया जाता है कि इसका सबध मुद्रा से है, क्योकि विनिमय का आदि और अन्त सब मुद्रा ही है,। और इस दूसरी (अप्राकृत) वित्तार्जन कला से उपार्जित धन की कोई सीमा नही है। जिस प्रकार आयुर्वेद मे स्वास्थ्य के अनुसधान की सीमा नही होती, तथा जिस प्रकार प्रत्येक (अन्य) कला मे भी अपने अपने लक्ष्यानुसधान की सीमा नही है, (क्योकि अपने लक्ष्य की परा-काष्ठा को प्राप्त करना उनका इष्ट होता है) किन्तु लक्ष्य की सिद्धि के लिये जो साधन काम मे लाये जाते है वे असीम नही होते, क्योकि स्वय लक्ष्य ही उनकी सीमा होता है। इसी प्रकार पैसा कमाने की इस कला (अर्थात् क्षुद्र व्यापार) मे लक्ष्य की कोई सीमा नही है, तथा जिस लक्ष्य का अनुसधान यह कला करती है वह यही मुद्रारूपी धन और सपत्ति की प्राप्ति है। पर गृहप्रबन्ध-कला के द्वारा सम्पत्ति प्राप्त करने की सीमा है, तथा इस कला का काम अपरिमित धनराशि प्राप्त करना नही है। अतएव, इस दृष्टिकोण से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सब प्रकार की सम्पदाओ की सीमा अवश्य होनी चाहिये, तथापि वास्तविकता मे बिलकुल इसके विपरीत होता हुआ देखने मे आता है, वित्तार्जन मे सलग्न सब मनुष्य अपरिमित मुद्रासचय किया करते है।

इस विप्रतिपत्ति का कारण है इन दोनो धनोपार्जन-प्रकारो का निकट सबध। दोनो एक दूसरे को अतिव्याप्त करके इसलिए गड़बड पैदा कर देते है क्योकि दोनो समान उपकरणो को काम मे लाते है और एक ही क्षेत्र मे व्यापृत रहते है, तथापि उनकी क्रिया

की दिशा एक ही नही होती—(उनका लक्ष्य एक ही नही होता)—एक का लक्ष्य होता है केवल सचय तथा दूसरे का इससे नितान्त भिन्न । इसी अतिव्याप्ति के कारण कुछ लोगो का ऐसा विश्वास हो जाता है कि गृहप्रबन्ध-कला का काम केवल धन-सचय करना है एव उनके जीवन मे यह धारणा बद्धमूल हो जाती है कि या तो उनको अपने मुद्रारूपी धन को सुरक्षित बनाये रखना चाहिये या उसको अनन्त सीमा तक बढाते रहना चाहिये । इस प्रकार की मन स्थिति का मूल कारण यह है कि मनुष्य केवल जीविका के लिये चिन्तामग्न रहते है, न कि भले प्रकार से जीवित रहने के लिये, और, क्योकि जीविका के लिये उनकी इच्छाएँ अपरिमित होती है, अतएव वे उसको प्रदान करनेवाली वस्तुओ की भी अनन्त इच्छा किया करते है । तथा वे मनुष्य भी जो कि भले जीवन की ओर ध्यान देते है, केवल शारीरिक सुख के साधनो की खोज किया करते है, और क्योकि इन (सुखो) की उत्पत्ति भी धन से ही होती प्रतीत होती है अतएव उनका समग्र कालयापन धनार्जन के सबध मे ही होता है । दूसरे (अर्थात् हीन) प्रकार की धनार्जन-कला प्रचलित हो जाने का मुख्य कारण यही है । और क्योकि उनका सुखोपभोग अतिशयता[१] (धन की अत्यधिकता) पर निर्भर रहता है, अतएव वे उस कला की खोज करते है जो सुखोपभोग के लिये आवश्यक अतिशयता को उत्पन्न कर सके, तथा जब वे अपनी आवश्यकता की पूर्ति वित्तार्जन-कला द्वारा करने मे समर्थ नही होते, तब वे अन्य साधनो के द्वारा वैसा करने का उद्योग करते है, एव अपनी प्रत्येक शक्ति का प्रकृति के प्रतिकूल ढग से उपयोग करते है । उदाहरण के लिये साहस को ले, इसका मुख्य कार्य धनोपार्जन करना नही, प्रत्युत आत्मविश्वास (ढारस) उत्पन्न करना है, और न सेनाध्यक्ष अथवा वैद्य की कला का ही उद्देश्य यह (वित्तार्जन) है, प्रत्युत एक का उद्देश्य विजय है तथा दूसरी का स्वास्थ्य । फिर भी कुछ व्यक्ति (जिनकी हम ऊपर चर्चा कर चुके है) ऐसी सब योग्यताओ और कलाओ को धनोपार्जन का साधन बना डालते है, जैसे मानो धन कमाना ही (उनका) एकमात्र लक्ष्य हो, तथा इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये सबको सर्वथा योगदान देना आवश्यक हो ।

इस प्रकार हम अर्थार्जन की उस विधि का विचार कर चुके जो अनिवार्य नही है; हमने उसके स्वरूप का वर्णन कर दिया तथा उन कारणो को भी बतला दिया, जिनसे यह मनुष्यो के लिये आवश्यक प्रतीत होती है । हम धनार्जन-कला के अनिवार्य प्रकार का भी विवेचन कर चुके, तथा यह प्रदर्शित कर चुके कि यह दूसरे प्रकार से भिन्न है, तथा प्रकृत्या गृहप्रबन्ध-कला का विभाग है, जो भरण-पोषण की उपलब्धि से सबद्ध है, अतएव जो दूसरी कला के सदृश असीम नही है प्रत्युत निश्चिततया परिसीमित है ।

टिप्पणियाँ

इस खंड में धनार्जन-कला के दो स्वरूपों का विवेचन किया गया है। इनमें एक अप्राकृतिक है तथा दूसरा प्राकृतिक। प्राकृतिक प्रकार गृह-प्रबन्ध-कला का एक अंग है तथा उसका काम जीवन—अर्थात् अच्छे जीवन—के लिये उपयोगी पदार्थों की सीमित मात्रा में उपलब्धि करना है। अर्थोपार्जन का अप्राकृतिक प्रकार मुद्रा के रूप में धन का अपरिमेय संचय करना है। यह गृह-प्रबन्ध-कला के सम्पर्क से विरहित है। अरिस्तू के मत में यह वित्तोपार्जन का हेय प्रकार है। इन दोनों प्रकारो मे एक सीमा तक अति-व्याप्ति पाई जाती है पर दोनों के लक्ष्यो का अन्तर दोनो के स्वरूपो को पृथक् कर देता है। हेय प्रकार के धनार्जन का विकास विदेशी व्यापार के फल-स्वरूप उत्पन्न हुई मुद्रा-प्रणाली के अस्तित्व में आने के उपरान्त होता है।

१. मुद्रा के लिये मूल ग्रंथ में "नोमिस्मातस" शब्द आया है जिसका अर्थ होता कानून द्वारा (अथवा रूढ़ि द्वारा) स्वीकृत चालू सिक्का। इसी से अंग्रेजी शब्द "न्यूमिस्मैटिक्स" निकला है, जिसका अर्थ "मुद्राशास्त्र" है।

२. 'क्षुद्र व्यापार' को अरिस्तू हेय दृष्टि से देखता है, क्योंकि इसका लक्ष्य विकृत प्रकार का धन-सचय है। मूल में इसके लिए "कपेलिके" शब्द प्रयुक्त हुआ है।

३. मिदास् फ्रीगिया प्रदेश का राजा था। इसको सिलेनस् नामक वनदेवता ने वरदान दिया था कि तुम जिस वस्तु को छू दोगे वह सोने की हो जायगी। परिणामतः मिदास को शीघ्र ही भूखे रहने को बाध्य होना पड़ा। भोजन भी उसके मुख में स्वर्णपिंड बनने लगा। अन्त में दुःखी होकर मिदास ने यह वरदान त्याग दिया। एक दूसरी दन्तकथा में यह भी आता है कि मिदास के कान गधे के कानो के समान लम्बे हो गये थे। यह भी कहा जाता है कि 'मिदास' फ्रीगिया के राजाओं का सामान्य नाम था।

४. इस वाक्य में प्राकृतिक धनार्जन-कला और अप्राकृतिक धनार्जन का अन्तर स्पष्ट समझाया गया है। प्राकृतिक धनार्जन-कला वह है जो गृहस्थी के जीवन के लिए उपयोगी साधनो का संग्रह करती है। इसके विपरीत अप्राकृतिक धनार्जन-कला केवल मुद्रा का संचय करती है।

५. व्यवहार के क्षेत्र में अरिस्तू मध्यममार्ग का उपदेश करता है। किसी भी प्रकार की अतिशयता उसको अभीष्ट नही है। अतिशयता के अनुसरण में ही मनुष्य अपनी शक्तियो का अस्वाभाविक प्रयोग करने के लिये बाध्य हो जाता है। यहाँ जिस वित्त-संचय की ओर अरिस्तू संकेत कर रहा है वह सुदीर्घ काल के अभ्यास से मानव-स्वभाव का अंग बन गया प्रतीत होता है। अरिस्तू इस प्रवृत्ति को अच्छे जीवन की भावना के नियंत्रण में रखने का उपदेश करता है तथा यह अच्छा जीवन केवल शारीरिक

सुख नहीं है। अरिस्तू के अच्छे जीवन के स्वरूप को समझने के लिये उसके "ऐथिक्स" नामक ग्रंथ को देखना चाहिये। वास्तव में "ऐथिक्स" और "राजनीति" दोनों परस्पर एक दूसरे के पूरक है। भारतीय विचारको ने भी अर्थ-संचय की प्रवृत्ति की प्रबलता और उपयोगिता का विचार कर कहा था--

"अजरामृतवत्प्राज्ञः विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥"

१०

प्रकृति की उदारता। सूदखोरी

इस प्रकार, वह जो हमारा प्रारभिक प्रश्न[१] था कि "धनोपार्जन-कला गृहप्रबधक अथवा राजनीतिज्ञ का धन्धा है अथवा नही अथवा क्या दोनो को ही धन की पूर्वसत्ता को मानकर चलना चाहिये?" उसका भी स्पष्ट उत्तर हमको उपर्युक्त विवेचन से मिल गया। जिस प्रकार राजनीति मानव-जाति का निर्माण नही करती, प्रत्युत प्रकृति से मनुष्यो को ग्रहण करके उनका उपयोग करती है, इसी प्रकार प्रकृति जीवन का पोषण करनेवाले भौतिक साधनो के उद्गम के रूप मे पृथ्वी, समुद्र एव अन्य ऐसे पदार्थो को अवश्य प्रदान करती है। यही से[२] गृहस्वामी का कार्य--प्रकृति द्वारा प्रदान किये हुए साधनो की समुचित व्यवस्था करना--आरभ हो जाता है। बुनाई की कला का काम ऊन को बनाना नही, प्रत्युत उसका उपयोग करना है और यह जानना है कि कौन ऊन खरी और उपयोगी तथा कौन सी खोटी और अनुपयोगी है। (यही बात गृह-प्रबन्ध-कला के विषय मे भी लागू होती है)। क्योकि यदि ऐसा न होता तो यह समझना कठिन होता कि धनोपार्जन-कला गृहप्रबध-विद्या का अग क्यो है तथा वैद्यक क्यो नही है, क्योकि गृहस्थी के सदस्यो को निश्चयमेव स्वास्थ्य की भी तो उसी प्रकार आवश्यकता होती है जिस प्रकार जीवन की अथवा किसी अन्य आवश्यक वस्तु की। इसका समाधान यह है कि एक अर्थ मे तो (अर्थात् सामान्य अध्यक्षता की दृष्टि से तो) गृहपति और शासक को स्वास्थ्य के विषय में देख-भाल करनी पडती है, पर दूसरे अर्थ मे (अर्थात् वास्तविक उपचार की दृष्टि से) उसको देखरेख नही करनी पडती, प्रत्युत वैद्य को करनी पडती है। इसी प्रकार अर्थोपार्जन-कला के विषय मे भी कह सकते है कि एक अर्थ मे तो गृहस्वामी को उसकी चिन्ता करनी पडती है, पर दूसरे अर्थ मे यह काम

उसका नही प्रत्युत किसी तदधीन कला का है। पर बहुत कुछ तो बात यही है कि, जैसा हम पहले कह चुके है, जीवन के साधन तो पहले से ही प्रकृति के द्वारा जुटा दिये जाने चाहिये[३]। प्रत्येक उत्पन्न हुए जीव के लिये भोजन प्रस्तुत करना प्रकृति का काम है; क्योकि हम देखते है जीवधारियो की सन्तान जिस कोष से जन्म लेती है सर्वदा उसी का अवशिष्टाश उसको भोजन (पोषण) प्रदान करता है (अर्थात् अवशिष्टाश ही उसका भोजन होता है[४])। अतएव धनोपार्जन का प्राकृतिक प्रकार सर्वदा फलो और पशुओ के जीवन-साधनो को उपलब्ध करना है।

जैसा कि हम कह चुके है, अर्थोपार्जन कला के दो प्रकार है। इनमे से एक का सबध क्षुद्र व्यापार से है तथा दूसरे का गृहप्रबध से। यह दूसरा प्रकार आवश्यक और प्रशसा के योग्य है, पर प्रथम विनिमय-पद्धति पर आश्रित है तथा उसका निन्दनीय होना उचित ही है; क्योकि इससे होनेवाला लाभ प्रकृत्या (फलो और पशुओ से) प्राप्त नही किया जाता, प्रत्युत परस्पर मनुष्यो से ही प्राप्त होता है। सबसे अधिक घृणित वित्तोपार्जन का उपाय सूद[५] लेना है, तथा इसका घृणिततम होना नितान्त युक्ति-सगत है, क्योकि इसमे तो मुद्रा का उपयोग करनेवाली विनिमय की पद्धति से लाभ कमाने के स्थान पर स्वय मुद्रा से ही लाभ प्राप्त किया जाता है। विनिमय के साधन के रूप मे मुद्रा का प्रचलन हुआ था, न कि सूद के द्वारा बढाये जाने के लिये। यही कारण है कि इस सूद (=वृद्धि) के लिये हम लोग "तौकस्" शब्द का साधारणतया प्रयोग किया करते है (इस शब्द का अर्थ सन्तान है), क्योकि जिस प्रकार सन्तान अपने जन्मदाता के समान होती है इसी प्रकार धन से उत्पन्न हुई सूद रूपी सन्तान अपने पिता मूल के समान होती है तथा "मुद्रा की सन्तान मुद्रा" कही जा सकती है। अतएव धन कमाने के उपायो मे यह सूद लेना सबसे अधिक अप्राकृतिक उपाय है।

टिप्पणियाँ

१. देखो इसी पुस्तक के ८वें खंड का आरंभ।

२. "यही से" भोजन एवं अन्य आवश्यक वस्तुओ की उपलब्धि हो जाने पर।

३. संसार के अनेको महापुरुष इस विषय में एकमत है कि प्रकृति के भंडार में मानव के भरण-पोषण के लिए आवश्यक पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते है। पर मानव-जाति में सत्ताधारी लोगों ने प्राकृतिक साधनो की सर्वदा से ऐसी कु-व्यवस्था की है कि अधिकाश मानव समाज आवश्यक वस्तुओ की कमी के कारण पीड़ित रहा

है और आज भी है। २०वीं शताब्दी मे भी एक ओर कुछ देशो की जनता भूखों मर रही है तथा अन्य देशों में अधिक उत्पन्न हुए अन्न को जला दिया जा रहा है। इसीलिये अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ ने कहा था—

"मानव ने जो मानव के प्रति व्यवहार किया।
देख उसे मेरा अति पीड़ित हुआ हिया॥"*

४. यही बात ८वें खंड में भी कही जा चुकी है।

५. सूद अथवा वृद्धि को अरिस्तू अत्यन्त घृणित मानता है। मुद्रा का उपयोग आवश्यक पदार्थो के विनिमय की सुविधा उत्पन्न करना है, पर जो मनुष्य उससे सूद कमाते हैं वे उससे अप्राकृतिक लाभ उठाते है। अरिस्तू इसका आलंकारिक भाषा में वर्णन करता है और कहता है कि यह लोग मुद्रा से प्रजनन-कार्य करवाते हैं। अरिस्तू के समय में ऋण देनेवाले बैंक स्थापित होने लगे थे और उनसे अथेंस ने आर्थिक और व्यापारिक जगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था।

११

अर्थोपार्जन की विधियाँ

इस (धन कमाने के) विषय के ज्ञानात्मक पक्ष का तो पर्याप्त विवेचन किया जा चुका; अब हमको इसके क्रियात्मक पक्ष का वर्णन करना चाहिये। इस प्रकार के सब विषयो का सैद्धान्तिक विवेचन तो उदारतापूर्ण माना जाता है पर उनके व्यावहारिक पक्ष का विवरण परिस्थिति पर आश्रित होता है। अर्थोपार्जन कला के व्यावहारिक अंग निम्नलिखित हैं। प्रथम है सजीव पालतू पशुओ के संबंध में अनुभव—अर्थात् उनके विषय मे यह जानना कि उनमे से कौन से पशु सबसे अधिक लाभदायक हैं तथा कहाँ और किस प्रकार से वे सबसे अधिक लाभप्रद होंगे। उदाहरण के लिये हमको यह जानना चाहिये कि घोडे, बैल, भेड एवं इसी प्रकार के अन्य पशुओ के पालन में (अधिक लाभ प्राप्त करने के लिये) किस मार्ग का अनुसरण किया जाय। अनुभव द्वारा हमको यह पता लगा लेना चाहिये कि पशुओ की विभिन्न जातियो में कौन सबसे अधिक लाभदायक है, तथा कौन-सी जातियाँ किस स्थान पर अधिक लाभदायक सिद्ध होंगी, क्योकि विभिन्न

* "And much it grieved my heart to think
What man has made of man"

पशुओ की जातियाँ विभिन्न स्थानो पर अच्छी पनपती है। सम्पत्ति अर्जन करने की कला के अन्य अग है कृषि (जो दो प्रकार की होती है—वृक्ष-रहित स्थान पर अन्न की एव अन्य स्थानो पर वृक्षारोपण की), मधुमक्खियो का पालना तथा मछली एव चिडियो मे से ऐसे अन्य जीवो का पालना जो (भरण-पोषण के लिये) सहायक हो सकते है। वास्तविक धन कमाने की कला के यही विभाग है तथा इनका स्थान सबसे आगे है। इसके पश्चात् विनिमयात्मक धन कमाने की कला आती है तथा इसका प्रथम और प्रधान प्रकार व्यापार है (इसके भी तीन अग है, नौका का प्रबध, परिवहन तथा विक्रयार्थ पण्यप्रदर्शन)—इनमे से कुछ अपेक्षा कृत अधिक सुरक्षित, एव दूसरे अपेक्षाकृत अधिक लाभप्रद होने के कारण एक दूसरे से भिन्न है), दूसरा ब्याज पर ऋण देना है एव तीसरा भृति (अर्थात् वेतन के बदले सेवा करना) है। यह भृति एक तो यत्रकला मे निपुण व्यक्तियो के द्वारा की जाती है, दूसरे अनिपुण श्रमिको द्वारा जो केवल शारीरिक श्रम से ही सेवा कर सकते है। धनोपार्जन का तीसरा प्रकार इस (दूसरे) और पहले प्रकार का मध्यवर्ती है (क्योकि इसके कुछ अश प्रथम अर्थात् प्राकृतिक प्रकार के होते है तथा कुछ दूसरे अथवा विनिमयात्मक प्रकार के)। तात्पर्य उस व्यवसाय से है जो धरती मे निकाली हुई वस्तुओ और धरती से उत्पन्न हुई ऐसी वस्तुओ से लाभ प्राप्त करता है जो फलवान न होते हुए भी उपयोगी है। लकडी काटने और धरती के भीतर स्थित सब खानो को खोदकर धातु निकालने का व्यवसाय इस प्रकार के उदाहरण है। इस अन्तिम व्यवसाय की भी अनेक शाखाएँ होती है, क्योकि धरती मे से खोदकर निकाली जाने-वाली धातुओ के बहुत से प्रकार होते है। धन कमाने की कला के प्रत्येक विभाग के विषय मे सामान्य विवरण अब प्रस्तुत किया जा चुका। उनके अग प्रत्यग का सूक्ष्म और सकीर्ण वर्णन करना व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी हो सकता है, पर इस प्रकार का अतिविस्तार विषय को भाराक्रान्त कर देगा तथा अशिष्ट होगा।

इतना कहना अल होगा कि ऐसे व्यवसाय जिनमे सबसे अधिक कार्य-कौशल की अपेक्षा की जाती है वे होते है जिनमे आकस्मिकता का तत्त्व कम से कम पाया जाता है, सबसे निम्न कोटि के वे होते है जिनमे शरीर का अत्यधिक हानिकारक दुरुपयोग किया जाता है, सबसे अधिक दासतापूर्ण वे व्यवसाय होते है जिनमे शरीर (की शक्ति) का सबसे अधिक उपयोग होता है, सबसे अधिक अनुदार वे धंधे होते है जिनमे उत्तमता (अथवा साधुता) के उपयोग की कम से कम आवश्यकता होती है।

कई लेखको ने इस विषय पर ग्रथ-रचना की है, उदाहरण के लिये पारस् निवासी

खारेतिदेस् तथा लैम्नस् निवासी अपौलोदोरस्[1] ने वृक्षविहीन भूमि पर अन्न की खेती तथा (अन्यत्र) फलोवाले वृक्षो को लगाने के विषय मे लिखा है एव इसी प्रकार अन्य लेखको ने अन्य विषयो पर पुस्तके लिखी है , जिसको इन विषयो मे रुचि हो उसको इन ग्रथो से इस विषय का अध्ययन करना चाहिये । जिन उपायो से कुछ लोग श्रीसम्पन्न बनने मे सफल हुए है उनके विषय मे बिखरी हुई कहानियो को एकत्रित करना[2] भी अच्छा होगा । जो लोग धन कमाने की कला की कद्र करते है उनके लिये यह सब बाते काम की है । उदाहरण के लिये मिलैतस् निवासी थालेस्[3] के विषय मे कही जानेवाली कथा को ले सकते है । यह अर्थोपार्जन की योजना की एक कहानी है, जिसमे एक सिद्धान्त निहित है जिसका सामान्यतया सर्वत्र उपयोग किया जा सकता है पर थालेस् की बुद्धिमत्ता की ख्याति के कारण इस कहानी का सबध उससे जोड दिया गया है । निर्धनता के कारण उसको उलाहना दिया जाया करता था एव उसकी यह अकिचनता दर्शनशास्त्र के निकम्मेपन को सूचित करनेवाली मानी जाती थी । इस कथा के अनुसार उसको अपने नक्षत्रज्ञान के द्वारा शरत्काल मे ही यह ज्ञात हो गया कि जैतून की आगामी (ग्रीष्म की) फसल बहुत भारी होनेवाली है, अतएव उसने अपने थोडे से धन से, सरलता से उपलब्ध होनेवाले मिलैतस् और खियौस्[4] के (जैतून को पेरनेवाले) सब कोल्हुओ के ठेके का बयाना देकर उनकी रोक कर ली , क्योकि (उस समय) कोई दूसरा ग्राहक नही था, वे उसको बहुत थोडे से किराये पर मिल गये । फसल का समय आने पर एकदम एक साथ बहुत से कोल्हुओ की माँग हुई, तो एकत्रित किये हुए कोल्हुओ को उसने मनचाहे किराये पर उठाया और प्रचुर धनराशि एकत्रित कर ली । इस प्रकार उसने (दुनिया को) दिखला दिया कि यदि दार्शनिक लोग चाहे तो सरलता से धनवान् बन सकते है , पर वास्तव मे वे जिस काम के लिये प्रयत्नशील होते है वह यह (सपन्न होना) नही है । यह कहानी यह दिखलाने के लिये कही जाती है कि थालेस् ने इस प्रकार अपनी बुद्धि का चमत्कार-पूर्ण प्रदर्शन किया । परन्तु जैसा हम कह आये है, धनोपार्जन की यह योजना—जो एकाधिकार[5] की सृष्टि के अतिरिक्त और क्या है—सार्वत्रिक प्रयोग की चीज है । और इसीलिये कुछ (नगर-) राष्ट्र (तथा कुछ व्यक्ति)—जब उनको धन की आवश्यकता होती है—इसी धन कमाने के उपाय का प्राय प्रयोग करते है । उदाहरणार्थ वे भरण-पोषण के द्रव्यो का एकाधिकार स्थापित कर लेते है ।

सिकैलिया (सिसली) द्वीप मे किसी मनुष्य ने—जिसके पास धन एकत्रित किया हुआ था—लोहे के कारखानो का सारा लोहा खरीद लिया । पीछे जब विभिन्न मडियो

(अथवा दूकानो) से व्यापारी लोग (लोहा लेने) आये तो वही अकेला लोहा बेचनेवाला था । उसने लोहे का मूल्य बहुत अधिक नही बढाया , फिर भी उसने ५० मुद्रा की लागत के माल से १०० मुद्रा का (२०० प्रतिशत) लाभ प्राप्त किया । इस (सट्टेबाजी) का पता सिराक्यूस के राजा दियौनीसियस्[६] को चला तो उसने आज्ञा की कि तू अपना लाभ का रुपया ले जा सकता है, पर तुझको सिराक्यूस् नगर मे कदापि नही रहना चाहिये । इस (आज्ञा का) कारण यह था कि उस आदमी ने धन कमाने का ऐसा मार्ग देख पाया था जो स्वय राजा के हित का विरोधी था । उसने भी वही मार्ग देख पाया था जो कि थालेस् ने देखा था , दोनो ने ही अपने लिये एकाधिकार की स्थापना की योजना की थी। पर इन उपयोगी तथ्यो का ज्ञान (नगर-प्रबधको), राजनीतिज्ञो (एव साधारण व्यक्तियो) को भी प्राप्त करना चाहिये । जिस प्रकार गृहस्थियो के लिये धन की आवश्यकता हुआ करती है उसी प्रकार (पर कभी-कभी उससे भी अधिक) धन कमाने की एव उसके लिये इस प्रकार के उपायो की आवश्यकता बहुधा नगरो के लिये भी हुआ करती है । इसीलिए राजनीति के व्यवसाय को अगीकार करनेवाले कुछ लोग तो अपने को केवल इसी (धनोपार्जन के उपाय-चिन्तन) मे लगा देते है ।[७]

टिप्पणियाँ

इस खंड की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह प्रकट किया गया है, क्योंकि इसमें वर्णित बातें विषय और शैली दोनो ही की दृष्टि से पूर्ववर्ती खंडो से मेल नही खातीं । न्यूमैन ने इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया है और इसको प्रामाणिक माना है। बार्कर के मत में इसका विषय "पॉलिटिक्स्" से उतना मेल नही खाता जितना "ऑइकॉनॉमिका" से और "ऑइकॉनॉमिका" तो निश्चय ही अरिस्तू की रचना नहीं है ।

पूर्ववर्ती खण्डो में धनार्जन के दो विभाग किये गये थे--१ प्राकृतिक, २ अप्राकृतिक । इस खण्ड के पूर्वार्द्ध में इसके तीन भाग किये गये है (१) सर्वोत्तम प्रकार-पशु-पालन एवं खेतीबारी करना, मधुमक्खी पालना इत्यादि, (२) विनिमयात्मक प्रकार जिसमें ब्याज का भी समावेश हो जाता है और (३) लकड़ी काटना और खनिज पदार्थों को पृथ्वी में से निकालना । इसके अतिरिक्त निपुणता के आधार पर व्यवसायो का भी विभाजन किया गया है। तुलना कीजिये, "उत्तम खेती, मध्यम बान (= वाणिज्य) । निखध चाकरी, भीख निदान ।"

१. खारेतिदेस् तथा अपौलोदोरस के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। अरिस्तू को पुस्तको के सग्रह करने तथा पढ़ने का शौक था । संभवतया वह प्रथम व्यक्ति था जिसने

पुस्तकालय निर्माण किया। ग्रीक-साहित्य का अधिकांश नष्ट हो चुका है। अतएव उपर्युक्त लेखकों के ग्रंथों का लुप्त हो जाना कोई आश्चर्य का विषय नही है।

२. बिखरे हुए ज्ञान को एकत्रित करके उसको सु-व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करना अरिस्तू और उसके शिष्यों को अत्यन्त प्रिय था। इस प्रकार उसने जो ज्ञान का संचय किया था उसका प्रमाण उसके उपलब्ध ग्रंथो में पग-पग पर मिलता है। उसने यूनान के नगर-राष्ट्रो के १५८ संविधानो का संग्रह भी किया था। "पॉलिटिक्स" की बहुत कुछ सामग्री इसी संग्रह से ली गई होगी। इसमें से अथेंस का संविधान सन् १८९० में मिस्र देश में उपलब्ध हुआ था, शेष अब नहीं मिलते।

३. थालेस् मिलैतस् का निवासी था। इसका समय ई० पू० ६२४ के लगभग है। थालेस् की गणना ग्रीस देश के सप्तर्षियो में की जाती है। वह यूनानियों में प्रथम दार्शनिक हुआ है। उसका मत "जलाद्वैत" कहा जा सकता है।

४. मिलैतस् लघुएशिया के पश्चिमी तट पर प्रसिद्ध नगर था। यह अनेक यवन मनीषियो का जन्म-स्थान था। इसके साथ ही साथ यह अपनी ऊन के लिये अत्यन्त विख्यात था। खियौस् भी लघुएशिया के पश्चिमी तट से थोड़ी दूर पर स्थित एक द्वीप है। कहते है कि यह आदि ग्रीक कवि होमेर का जन्म-स्थान था। यहाँ की मदिरा और अंजीर बहुत प्रसिद्ध थे।

५. एकाधिकार के लिये मूल में "मोनोपौलिया" शब्द आया है। इसका अर्थ होता है "बेचने का एकाधिकार।"

६. दियौनीसियत् सिराक्यूस नगर का तानाशाह था। इसके विषय में अधिक जानकारी के लिये "आदर्श-नगर-व्यवस्था" की भूमिका देखिये। लोहे जैसी महत्त्वपूर्ण धातु का एकाधिकार किसी सामान्य जन को प्राप्त हो जाना उसको अभीष्ट नहीं था। इसके अतिरिक्त तानाशाह प्रायः अपने प्रजाजनों को निर्धन बना रहने देने में अपनी कुशल समझते थे। अतएव उसने उसको अपने नगर से निर्वासित कर दिया।

७. अन्तिम दो वाक्य इस खंड का स्पष्ट संबंध प्रस्तुत विषय से जोड़ देते हैं।

१२

पति, पत्नी और सन्तान का सम्बन्ध

हम पहले ही कह चुके है कि गृह-प्रबध-कला के तीन अग होते है—इनमे से एक दासों पर प्रभु का शासन है (जिसके विषय मे हम पीछे वर्णन कर चुके है) ; दूसरा अग

पितृ शासन है और तीसरा पति द्वारा पत्नी का शासन है। यद्यपि गृहपति, पत्नी और सन्तान दोनो पर शासन करता है, तथा दोनो पर स्वतत्र जनो के समान शासन करता है, तथापि दोनो पर शासन करने का प्रकार एक ही नही होता। पत्नी पर शासन करने का प्रकार वैध शासन[1] का प्रकार होता है तथा सन्तान पर शासन का प्रकार राजकीय शासन का प्रकार होता है। यदि प्रकृति के नियम मे अपवाद न हो तो पुरुष स्त्री की अपेक्षा शासन के लिये अधिक उपयुक्त होता है तथा अधिक अवस्थावाला एव पूर्ण विकसित कम अवस्थावाले तथा अविकसित की अपेक्षा अधिक योग्य होता है। अधिकाश ऐसे प्रसगो मे, जहाँ कि वैध-शासन चलता है, शासन करना और शासित होना पर्यायक्रम से हुआ करता है ; (क्योकि वैधशासन की भावना मे ही यह बात सन्निहित होती है कि) किसी भी राजनीतिक परिषद् के सदस्य प्रकृत्या एक बराबर होते है और उनमे कुछ भी अन्तर नही होता। परन्तु फिर भी, जब कोई एक व्यक्ति शासन करता होता है (अथवा नागरिको की कोई एक परिषद् शासन करती होती है) तथा अन्य लोग शासित होते हुए होते है तब शासक (अथवा शासकमडल) बाह्याचार, संबोधन-पद्धति, सम्मानसूचक पदो मे भेद की स्थापना करने की चेष्टा करता है, जैसा कि अपने पैर-धोने की परात के विषय मे अमासिस्[2] के कथन से स्पष्ट प्रकट है। पति का पत्नी के प्रति स्थायी रूप से वही सबध होता है जो वैध-शासक का शासितो के प्रति (अस्थायी रूप से) होता है। पिता का सन्तान पर जो शासन होता है वह ऐसा होता है जैसा कि राजा का अपनी प्रजा पर[3] , क्योकि वह प्रेम और आयु के सम्मान के आधार पर शासक की स्थिति में होता है तथा यह स्थिति वैसी ही होती है जैसी कि राजकीय शासन की। इसलिए जियुस (द्यौस्)[4] को सबोधन करते हुए होमेर ने ठीक ही कहा—

"पिता मानवों का, देवों का,"

क्योकि वह इन सबका राजा है। राजा प्रकृति से ही अपने प्रजाजनो से श्रेष्ठ होना चाहिये पर जाति अथवा कुल मे उन्ही के समान होना चाहिये तथा गुरुजनो और छोटो एव पिता और सन्तान का सबध इसी प्रकार का होता है।

टिप्पणियाँ

१. वैध शासन से तात्पर्य उस शासन से है जो किसी संविधान के नियमों का अनुसरण करता है तथा जिसमें सब प्रजाजनों को पर्याय से शासन करने तथा शासित होने का अवसर प्राप्त होता है। यह तानाशाही शासन से भिन्न है जिसमें शासक

स्वेच्छा से शासन करता है तथा शासितो को शासन में कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता। अरिस्तू के मतानुसार पति पत्नी पर जो शासन करता है वह बहुत कुछ वैधानिक प्रकार का होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि इस व्यवस्था में शासक और शासित की स्थिति में पर्यायक्रम से परिवर्तन नहीं होता।

२. अमासिस एक साधारण प्रजाजन था; आगे चलकर वह राजा हो गया। उसने एक स्वर्ण देव-प्रतिमा को गलवाकर अपने पैर धोने के लिये परात बनवाई। मिस्र देश के रहनेवाले इस परात का भी अत्यधिक सम्मान करने लगे। अमासिस् ने एक बार अपने प्रजाजनो को उपदेश करते हुए उस परात का दृष्टान्त देकर समझाया कि मेरी अपनी स्थिति बहुत कुछ इस परात के समान है; पर मेरे प्रति तुम लोगों का व्यवहार जो मेरी वर्तमान स्थिति है उसके अनुरूप होना चाहिये न कि मेरी भूतकालिक स्थिति के अनुरूप।

३. राजा का शासन प्रजा के प्रति प्रेम और सद्भावना से पूर्ण होना चाहिये। ऐतिहासिक दृष्टि से अरिस्तू राजा को एक बड़े कुटुम्ब के ज्येष्ठ-श्रेष्ठ पुरुष से विकसित हुआ मानता है। आगे चलकर वह राजकीय शासन का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह राजकीय शासन को उत्तम प्रकार का शासन मानता है। तुलना कीजिये सं०—"राजा प्रकृतिरञ्जनात्।"

४. द्यौस् के लिए मूल में "जियुस्" का कर्म कारक का रूप "दिया" प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द संस्कृत के द्यौस का सजातीय है। भारतीय एवं ग्रीक दोनो धर्मों में द्यौस सबका पिता एवं शासक है।

१३

शासक तथा शासित के गुणों मे अंतर

इसलिये यह स्पष्ट है कि गृह-प्रबन्ध-कला निर्जीव सम्पत्ति की अपेक्षा मनुष्यो के प्रति, धन (जिसको हम सम्पदा कहते हैं) की उत्तमता की अपेक्षा मनुष्यो की उत्तमता के प्रति और (मनुष्यो मे भी) दासो की अपेक्षा स्वतत्र पुरुषो के प्रति अधिक ध्यान देती है।[1] इस सबध मे सर्वप्रथम यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या किसी दास मे उपकरणात्मक तथा (निम्न कोटि के) सेवात्मक गुणो के अतिरिक्त अथवा इनसे ऊँची और कोई उत्तमता किचिन्मात्र भी हो सकती है ?—क्या उसमे सयम, साहस, न्याय एव इसी प्रकार की अन्य सद्वृत्तियाँ[2] हो सकती है अथवा उसमे कठोर शारीरिक सेवा

की वृत्ति को छोडकर और कोई भी गुण नही होता ? दोनो प्रकार के उत्तरो (हाँ अथवा नही) मे कठिनाई का सामना है। यदि दासो मे उच्च कोटि के गुण माने जायँ तो वे स्वतत्र मनुष्यो से किस प्रकार भिन्न होगे ? यदि यह कहे कि उनमे यह गुण नही है तो यह एक अनोखी बात होगी कि मनुष्य होने के कारण विवेक के भागीदार होते हुए भी (वे विवेकजन्य सद्गुणो से वचित है)। लगभग इसी से मिलता-जुलता प्रश्न स्त्रियो और बच्चो के विषय मे भी पूछा जा सकता है कि क्या उनमे सद्गुण होते है, क्या स्त्री को भी सयत, साहसी और न्यायी होना चाहिये, और क्या कोई बच्चा असयत अथवा सयत हो सकता है या नही ? यही प्रश्न सामान्यरूपेण[३] पूछा जाना चाहिये और वह इस प्रकार कि जो प्रकृत्या शासक है तथा जो प्रकृत्या शासित है उनके गुण एक ही है अथवा एक दूसरे से पृथक् है ? यदि यह कहो कि दोनो मे समान रूप से उदार स्वभाव[४] होना चाहिये तो ऐसा क्यो होना चाहिये कि उनमे से एक तो सर्वदा शासन करे और दूसरा नित्य शासित हो। और न यह अन्तर अधिक या अल्प मात्रा के अन्तर के समान है, क्योकि शासक और शासित का अन्तर तो प्रकारगत अन्तर है, एव अधिक और अल्प (मात्रा का) इससे कोई सबध नही है। यदि, दूसरी ओर यह कहे कि उनमे से एक मे तो सद्गुण होने चाहिये तथा दूसरे मे नही होने चाहिये तो यह बडी अनोखी सम्मति होगी। क्योकि यदि शासक सयमी और न्यायी न हो तो वह अच्छे प्रकार से शासन कैसे कर सकेगा एव यदि शासित सयमी और न्यायी न हो तो वह भले प्रकार शासित कैसे हो सकता है ? कोई भी ऐसा व्यक्ति जो उच्छृङ्खल अथवा कायर हो, अपने कर्तव्य का पालन निश्चयमेव नही कर सकता। अतएव यह स्पष्ट है कि सद्गुणो मे तो दोनो का भाग अवश्य होना चाहिये, पर (दोनो के—अर्थात् शासक और शासितो के) सद्गुण भिन्न प्रकार के होने चाहिये, ठीक जिस प्रकार कि प्रकृत्या शासितव्य प्रजाजनो के सद्गुणो मे भी प्रकार-भेद होता है।

और यह विचार (कि शासक और शासितो के गुण पृथक् पृथक् होते है) हमको सीधे आत्मा (साक्षी) के स्वरूप की ओर ले जाता है। आत्मा मे स्वाभाविकतया एक अश शासक है तथा दूसरा शासित, एव इनमे से प्रत्येक का अपना पृथक् गुण है, एकगुणका सबध शासक एव विवेकयुक्त अश से है तथा दूसरेका शासित एव अविवेकयुक्त अश से। और फिर यह तो स्पष्ट ही है कि जो बात प्रस्तुत प्रकरणमे ठीक बैठती है वह अन्य स्थलो मे भी लागू होती है, अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यह एक सामान्य नियम है कि शासक और शासित अशो की सत्ता स्वभाव से ही है। पर एक ही नियम क्षेत्र-भेद के अनुसार भिन्न प्रकार से काम करता है। स्वतत्र पुरुष जिस प्रकार दास पर

शासन करता है वह उस प्रकार से भिन्न होता है जिस प्रकार से पुरुष स्त्री पर शासन करता है अथवा बडा मनुष्य बच्चे पर। आत्मा के (उपर्युक्त) अश तो इन (स्वतत्र पुरुष, दास, स्त्री, पुरुष, एव बडे और बालक) सब मे ही विद्यमान रहते है पर उनकी स्थिति इनमे से प्रत्येक मे पृथक् प्रकार से होती है।[५] दास मे विचार करने की क्षमता बिलकुल नही होती[६], स्त्री मे यह क्षमता होती तो है पर अधिकारशून्य (अथवा अकिंचित्कर) ही रहती है, एव होती बच्चो मे भी है पर अपरिपक्व (अविकसित) रूप मे ही। तथा जैसा (आत्मा के अशो के विषय मे समझा जाता है) वैसा ही अवश्यमेव सदाचार सबधी सद्‌गुणो की स्थिति के विषय मे भी समझा जाना चाहिये। (उपर्युक्त) सब व्यक्ति इन सद्‌गुणो मे भागीदार होते है, पर एक ही प्रकार से नही प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति उसी प्रकार और उतनी ही मात्रा मे उनका भाजन होता है जो उसके अपने कार्य को पूर्ण करने के लिये उपयुक्त हो। अत शासक को सदाचार-सबधी पूर्ण विकसित सद्‌गुण प्राप्त होना चाहिये, क्योकि यदि उसके कार्य के पूर्ण स्वरूप का निरपेक्ष भाव से विचार करे तो उसके लिये श्रेष्ठ निर्माता[७] की आवश्यकता प्रतीत होगी तथा ऐसा उत्तम निर्माता विवेक ही है। शेष अन्य व्यक्तियो को सदाचार-सबधी सद्‌गुण की आवश्यकता उतनी ही मात्रा मे होती है जितनी उनमे से प्रत्येक की स्थिति के लिये अपेक्षित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार-सबधी सद्‌गुण तो उपर्युक्त सभी व्यक्तियो मे उपलब्ध होता है तथापि, जैसा कि सॉक्रातेस[८] का मत है, स्त्री और पुरुष का सयम एक-सा नही होता और न उनमे पाये जानेवाले साहस और न्याय ही एक समान होते है। उदाहरणार्थ पुरुष मे पाया जानेवाला साहस शासकोचित होता है एव स्त्री मे पाया जानेवाला सेवकोचित। यही बात अन्य सब सद्‌गुणो के सबध मे भी लागू होती है।

जब हम इस विषय पर अधिक विस्तार के साथ दृष्टिपात करेगे और इसके पृथक् पृथक् विभागो का विचार करेगे तो यही निष्कर्ष और भी अधिक स्पष्टतया निष्पन्न हो जायगा। सामान्य शब्दो का प्रयोग करते हुए यह मत प्रकट करना कि सद्‌गुण (अथवा सद्‌वृत्ति) "आत्मा की स्वस्थता है" (अच्छी अवस्था है) अथवा उचित कर्म" है अथवा ऐसी ही अन्य कोई बात है, तो अपने ही को धोखा देना होगा। इस प्रकार की सामान्य परिभाषाओ की अपेक्षा तो सद्‌गुण अथवा भलाई के प्रकारो की गिनती गिना देने की पद्धति कही अधिक अच्छी है, जिसका अनुसरण गौर्गियास् के द्वारा किया गया है। अत सब वर्गों के विषय मे यह समझा जाना चाहिये कि उनके अपने अपने भलाई के विशेष लक्षण होते है, एवं यह जो सौफौक्लेस् ने[९] स्त्रियो के विषय में कहा है कि

"नारी की सुषमा है मौन" इसमे भी सामान्य सत्य निहित है, पर यह सत्य पुरुष के विषय मे लागू नही होता। (इसी प्रकार यदि बालको के उदाहरण को ले तो) बच्चा जो अपरिपक्व होता है तो यह स्पष्ट ही है कि उसकी सद्‌वृत्ति (अथवा भलाई) केवल अपने वर्तमान स्वरूप की अपेक्षा ऐसी (अर्थात् अपरिपक्व) नही होती प्रत्युत उसकी भावी परिणति एव उस परिणति की ओर उसका नेतृत्व करनेवाले गुरु (पिता) की अपेक्षा अपरिपक्व होती है। ऐसे ही दास की सद्‌वृत्ति (=भलाई) प्रभु-सबध सापेक्ष है।

हम यह निर्णय तो स्थापित कर चुके कि दास को जीवन की आवश्यकताओ के लिये उपयोगी होना चाहिये। अतएव (उक्त निर्णय से) यह स्पष्ट ही है कि उनको थोडे से ही सद्‌गुण की आवश्यकता है, और वह वास्तव मे बस इतना होना चाहिये कि जिससे वह कही असयम अथवा भीरुता के कारण अपने कर्त्तव्य से च्युत न हो जाय। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि जो बात हम कह रहे है यदि वह सत्य हो तो क्या शिल्पकारों मे भी सद्‌गुण की आवश्यकता नही होनी चाहिये , क्योकि वे भी तो प्राय असयम के कारण अपने काम मे त्रुटि किया करते है। परन्तु क्या इन दोनो उदाहरणो में बहुत अधिक अन्तर नही है ? दास तो अपने स्वामी के जीवन मे भागीदार होता है, पर शिल्पकार का स्वामी के साथ सबध इतना समीप का नही, अपेक्षाकृत दूर का होता है। उससे अपेक्षित (दास की) भलाई की मात्रा उतनी ही होती है जितनी मात्रा मे वह दासत्व के अन्तर्गत रहता है, क्योकि निचले प्रकार के शिल्पी की दासता सीमित प्रकार की (अथवा केवल सीमित प्रयोजन के निमित्त) होती है। और फिर (दास और शिल्पकार मे एक अन्तर यह भी है कि) दास तो उस वर्ग मे से है जो प्रकृति से ही दासवर्ग है पर न तो कोई मोची इस वर्ग के अन्तर्गत है और न अन्य कोई शिल्पी।[१०] अतएव यह स्पष्ट है कि दास मे इस उपर्युक्त नैतिक उत्तमता को उत्पन्न करने का मूल कारण गृहपति होना चाहिये, पर उसको ऐसा (नैतिक) सरक्षक के रूप मे होना चाहिये न कि उस स्वामित्वकला को धारण करनेवाले के रूप मे जो सेवक को विशिष्ट कर्तव्यो के पालन करने का निर्देश करती है। इसलिए जो लोग कहते है कि दासो से विवेक को (विवेकपूर्ण शिक्षण को) दूर रखना चाहिये और उनके प्रति केवल आदेश का ही प्रयोग करना चाहिये, वे ठीक नही कहते।[११] नैतिक शिक्षा (अथवा चेतावनी) तो दासो को बच्चो की अपेक्षा कही अधिक दी जानी चाहिये।

इस विषय का इतना विवेचन पर्याप्त होगा। पति और पत्नी का सबध, माता-पिता तथा सतान का सबध, इन सबधो के घटको की पृथक् पृथक् उत्तमता, घटको के पारस्परिक

सम्पर्क का स्वरूप, उसके गुण एव दोष, इन गुणो की प्राप्ति किस प्रकार की जाय तथा इन दोषो से किस प्रकार दूर भागा जाये (इत्यादि) विषयो का विवेचन (शेष रह गया है)। इन सबका विवेचन (आगे चलकर) विभिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्थाओ का वर्णन करते समय अवश्यमेव किया जायगा। प्रत्येक गृहस्थी राष्ट्र का (घटक) अग है। यह (पति पत्नी का समाज एव माता-पिता एव सन्तान का समाज) गृहस्थी का अग है। प्रत्येक अवयव की उत्तमता का विचार अवयवी की उत्तमता पर दृष्टि रखते हुए किया जाना चाहिये। अतएव यदि बच्चो और स्त्रियो की उत्तमता के होने से नगर की उत्तमता मे कोई अन्तर पडता हो तो बच्चो और स्त्रियो की शिक्षा का विचार आरभ करने के पूर्व हमको (समग्र-) नगर के शासन पर अवश्य दृष्टिपात कर लेना चाहिये बच्चो और स्त्रियो की उत्तमता के कारण नगर की (अथवा शासन की) उत्तमता मे तो अवश्यमेव अन्तर पडना चाहिये क्योकि नारियाँ स्वतत्र व्यक्तियो की सख्या का आधा भाग होती है, एव बालक बडे होकर राष्ट्र के शासन मे भागीदार बनते है। (अत उपर्युक्त विषयो का विवेचन इस समय स्थगित कर दिया गया है।)

क्योकि प्रस्तुत विषय (अर्थात् गृहस्थी) के कुछ अगो (दासता एव साधनोपलब्धि) का विवेचन हो चुका तथा अन्य अगो (विवाह, प्रजोत्पादन एव शिक्षा इत्यादि) का विचार आगे किया जायगा[१२] अतएव इस विषय को समाप्त हुआ मानकर अब हम नये विषय का विवेचन आरभ करे, एव सर्वप्रथम उन मनीषियो के सिद्धान्तो की समीक्षा करे जिन्होने श्रेष्ठ (= आदर्श) शासन-पद्धतियो के विषय मे विचार प्रस्तुत किये है।[१३]

टिप्पणियाँ

१. अर्थात् गृह-प्रबन्ध-कला आर्थिक की अपेक्षा नैतिक अधिक है। उसका उद्देश्य गृहपति, पत्नी, सन्तान एवं दासो के पारस्परिक संबध को अधिक से अधिक उत्तम बनाना है।

२. ग्रीक लोगो में चार नैतिक गुण सर्वोपरि माने जाते थे। यह चार गुण हैं, धृति अथवा साहस, संयम, न्याय एवं प्रज्ञा। यहाँ अरिस्तू ने दास के संबंध में प्रज्ञा का उल्लेख नहीं किया है क्योकि वह दास में विवेक की बहुत थोड़ी सी मात्रा को स्वीकार करता है।

३. सामान्य प्रकार से सभी शासक और शासितो के विषय में पूछा जाना चाहिये—केवल दास, अथवा स्त्री अथवा बालक के विषय में विशेष रूप से नहीं।

४. 'उदार स्वभाव' के लिये मूल ग्रीक भाषा में "कलोकागाथिया" शब्द आया

है जिसका अर्थ "सुन्दर और भला होने का गुण" (कलौस् = सुन्दर, कै = और, अगाथौस् = भला) है।

५. आत्मा के विभिन्न अंशो का वर्णन आगे चलकर आठवी पुस्तक के १४ वें अध्याय में विस्तारपूर्वक किया गया है। आत्मा का विवेकी अश शासक और अविवेकी अंश शासित माना गया है।

६. अर्थात् इतनी अल्प मात्रा मे होती है कि उसको 'नही' के बराबर मानना चाहिये।

७. 'श्रेष्ठ निर्माता' से तात्पर्य परिपूर्ण विवेकशक्ति (सदसत् विचार की शक्ति) तथा उसके द्वारा उपलब्ध होनेवाली नैतिक उत्तमता से है। न्यूमैन ने (द्वितीय भाग पृ० २१९) इस विषय मे विस्तारपूर्वक विचार किया है।

८. सॉक्रातेस् के इस कथन को प्लात न के मैनो नामक ग्रंथ (७१-७३) में देखा जा सकता है।

९. देखो सौफौक्लेस का "अजाक्ष" नामक नाटक पंक्ति २९३।

१०. अरिस्तू के मत में दास व्यक्ति उस प्राकृतिक मानव-वर्ग में अन्तर्भुक्त है जो विवेक से प्रायः शून्य है अतएव वह विवेकवान् पुरुष के नेतृत्व में उसका दास बनकर उसका कार्य करता है। शिल्पी तो ठहराव के अनुसार नियमित समय और सीमित प्रयोजन के निमित्त किसी अन्य विवेकवान् व्यक्ति के लिये श्रम किया करते है। अतएव वह दास की अपेक्षा उच्चतर कोटि के व्यक्ति होते है।

११. स्वामी को केवल अपने उपयोग के निमित्त दास से अपने निर्देशो का पालन मात्र नही कराना चाहिये, प्रत्युत उसको दास का नैतिक नेता भी होना चाहिये एवं अपनी 'सीख' के द्वारा दास में नैतिक उत्तमता को भी उत्पन्न करना चाहिये।

१२. इस विषय में अरिस्तू ने प्रस्तुत ग्रथ की अन्तिम दो पुस्तको मे कुछ आनुषगिक विवेचन अवश्य किया है पर यहाँ पर का प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह नही किया गया है।

१३. प्रथम पुस्तक के इस अन्तिम भाग ने सपादको के लिये पहेली का काम किया है। प्रथम पुस्तक में अरिस्तू ने जिन विषयो को उठाया था, उनका पूर्णतया विवेचन नही किया। पति-पत्नी एवं माता-पिता एवं बच्चो के सम्बन्धो का विवेचन इस गृह-प्रबन्ध-सम्बन्धी ग्रथखंड में होना चाहिये था। पर यह विवेचन अन्तिम पुस्तकों में अधूरा जैसा किया गया है। फिर गॉवो की व्यवस्था का विषय उल्लेख के उपरान्त छोड़ दिया गया है। (यद्यपि इस विषय का कुछ विवेचन अथेंस के सविधान में किया गया है।)

इस प्रकरण के अन्तिम अनुच्छेद के विषय में कुछ संपादकों का मत यह है कि यह संभवतया अरिस्तू की रचना नहीं है। किसी पुरातन संपादक ने प्रथम और द्वितीय पुस्तक की कडी मिलाने के लिये इन पंक्तियों को जोड़ दिया है।

द्वितीय पुस्तक

१

सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं की विवेचना

तो अब हमारा उद्देश्य यह विचार करना है कि उन लोगो के लिये किस प्रकार का राजनीतिक समाज सर्वश्रेष्ठ होगा जो जीवन (की परिस्थितियो) को प्राय अपनी वाछा के अनुसार (बनाये रखने मे) समर्थ है।[१] अतएव हमको (इस अपने शासन-विधान के अतिरिक्त) अन्य विधानो[२] की भी परीक्षा करनी चाहिये—उन विधानो की भी विवेचना करनी चाहिये जो सुशासित कहे जानेवाले नगरों में पाये जाते है तथा इनसे भिन्न उन अन्य प्रकार के विधानो की भी जो सिद्धान्तवादियो[३] द्वारा निर्माण किये गये है तथा आदर की दृष्टि से देखे जाते है। इससे (प्रथम लाभ तो) यह होगा कि हमको यह मालूम हो जायगा कि हमारे निरीक्षण के क्षेत्र में क्या उचित और उपयोगी है, और (दूसरा लाभ यह होगा कि) हमारा विवेचित शासन-पद्धतियो से भिन्न किसी अन्य पद्धति को खोजना इसलिए नही होगा कि हमको सर्वथा अपनी चतुरता प्रदर्शन करनेवाला समझा जाय, प्रत्युत यह अनुसंधान हमारे द्वारा इस कारण अगीकृत किया माना जायगा कि इस समय उपलब्ध होनेवाले शासन-विधान सदोष है।

जैसा इस प्रकार की विवेचना का स्वाभाविक आरभ होता है पहले ठीक उसी के अनुसार आरभ करना चाहिये। (तीन विकल्प सभव हैं) (१) या तो राष्ट्र के सदस्यो का अवश्यमेव सब वस्तुओ पर समान अधिकार होना चाहिये, (२) या किसी वस्तु पर भी समान अधिकार नही होना चाहिये, (३) या कुछ पर समान अधिकार होना चाहिये और कुछ पर नही। दूसरा विकल्प, कि किसी वस्तु पर भी उनका समानाधिकार नही होना चाहिये स्पष्ट ही असभव है, : नगर की सघटना मे स्वयमेव एक प्रकार के समुदाय का भाव सन्निहित रहता है, तथा एक ही नगर के नागरिक होने में अवश्य ही आरभ से ही एक स्थान पर सामूहिक रूप में मिलकर रहने का भाव भी लगा रहता है। एक नगर का स्थान एक ही होता है और उस नगर के नागरिक उस

स्थान मे भागीदार होते है। (पर प्रथम और तृतीय विकल्पो मे से किसको स्वीकार किया जाय यह प्रश्न शेष रह जाता है।) क्या किसी सुव्यवस्थित नगर-राष्ट्र मे उन सब वस्तुओ पर सब नागरिको का समान अधिकार होना चाहिये जिनपर उनका समान अधिकार होना सभव है अथवा कुछ पर समान अधिकार होना चाहिये और कुछ पर नही? क्योकि ऐसा होना सभव है कि नागरिको का बच्चो, स्त्रियो और सम्पत्ति पर, परस्पर समान अधिकार हो। सॉक्रातेस ने प्लातोन की पौलितेइया[४] (आदर्श नगर-व्यवस्था) नामक पुस्तक मे ऐसी ही योजना प्रस्तुत करते हुए कहा है कि बच्चो और स्त्रियो पर सब नागरिको का समान अधिकार[५] होना चाहिये और सम्पत्ति पर भी। अब प्रश्न यह है कि इन दोनो नियमो मे से अधिक अच्छा कौन है, (पृथक् परिवार एव व्यक्तिगत सम्पत्तिवाली) वर्तमान अवस्था का नियम या प्लातोन की पुस्तक मे लिखित नियम?

टिप्पणियाँ

१. राजनीतिक सघटना के श्रेष्ठ रूप की कल्पना दो प्रकार से की जा सकती है। एक तो इस प्रकार से विचार किया जा सकता है कि किसी विद्यमान परिस्थिति में किस प्रकार की संघटना श्रेष्ठ होगी। दूसरे इस प्रकार विचार किया जा सकता है कि किसी भी परिस्थिति से निरपेक्ष श्रेष्ठ राजनीतिक सघटना किस प्रकार की होगी। प्रथम प्रकार का विचार प्रस्तुत ग्रंथ की ४ से लेकर ६ तक पुस्तको में किया गया है एवं दूसरे प्रकार का विचार अन्तिम दो पुस्तको में प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक के पूर्वार्ध में ग्रंथकार ने अन्य लेखको द्वारा प्रस्तुत परिस्थिति निरपेक्ष श्रेष्ठ व्यवस्थाओं की आलोचना प्रस्तुत की है।

२. कहते है कि अरिस्तू ने अपने शिष्यो एवं सहायकों के द्वारा १५८ नगर-संविधानो का संग्रह किया था। इनमें से अब तक केवल अथेंस का संविधान ही अंशतः खंडित रूप में उपलब्ध हो सका है।

३. सिद्धान्तवादियों से तात्पर्य प्लातोन इत्यादि ऐसे दार्शनिको से है जिन्होने वास्तविक शासन-कार्य से कुछ भी संबध न रखते हुए आदर्श शासन-व्यवस्था की विवेचना की है। अरिस्तू ने वास्तविक नगर-सविधानो एवं सिद्धान्तवादी आदर्श संविधानो का परीक्षण करके अन्त में अपने मतानुसार श्रेष्ठ शासन-पद्धति का स्वरूप प्रस्तुत किया है।

४. प्लातन की "पौलितेइया" नामक पुस्तक उसकी अमर रचना है। इस पुस्तक का लैटिन नाम "रिपब्लिक" मूल ग्रीक नाम "पौलितेइया" की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध हो गया है। इसका मूल ग्रीक से हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत अनुवादक ने कर दिया है और यह हिन्दी साहित्य-सम्मेलन द्वारा प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी मे पुस्तक का नाम "आदर्श नगर-व्यवस्था" है।

५. बच्चो और स्त्रियो पर नागरिको के समान अधिकार का विवेचन "आदर्श नगर-व्यवस्था" की चौथी और पाँचवी पुस्तको मे हुआ है।

प्रथम पुस्तक के अन्त और द्वितीय के आरभ मे तर्कसम्मत सगति का अभाव है। इस तथ्य को प्रायः सभी टीकाकारों और आलोचकों ने स्वीकार किया है।

२

राष्ट्र की एकता इष्ट है या नही?

स्त्रियो पर सबके समानाधिकार मे अन्य बहुत सी कठिनाइयाँ तो है ही पर निम्नलिखित कठिनाइयाँ विशेष है।[१] जिस उद्देश्य के लिये सॉक्रातेस इस सिद्धान्त को विधि द्वारा स्थापित करने की माँग करता है, वह स्पष्ट ही स्वय उसकी युक्तियो से भलीभाँति प्रतिपादित नही ठहरता। और फिर उसने नगर-राष्ट्र के लिये जिस चरम लक्ष्य को आवश्यक बतलाया है, उसके साधन स्वरूप भी यह योजना (जैसी यह उपर्युक्त सवाद मे कही गई है) अव्यवहार्य है। इस पर भी (तुर्रा यह है) कि उसने यह कही नही बतलाया है कि इस योजना की व्याख्या (अथवा सीमा-निर्धारण) किस प्रकार से हो। मै सॉक्रातेस की उस प्रतिज्ञा का कथन कर रहा हूँ जिसको आधारभूत उद्देश्य मानकर उसकी सारी विवेचना चलती है कि "समग्र राष्ट्र की अधिक से अधिक एकता सर्वोच्च भलाई है।"[२] तथापि इतना तो स्पष्ट है कि इस (एकता की) दिशा मे प्रगति करते करते कोई भी नगर इतना एकीभूत हो सकता है कि वह बिलकुल भी नगररूप न रह जाय। नगर तो स्वभाव से ही बहुत्वमय (अर्थात् बहुत से घटको से निर्मित) होता है। अधिकाधिक एकता की ओर बढते जाने पर तो वह प्रथम तो नगर से कुटुम्ब मे और तत्पश्चात् कुटुम्ब से एक व्यक्ति के रूप मे बदल जायगा, क्योकि नगर की अपेक्षा कुटुम्ब एक बढकर इकाई होता है और व्यक्ति कुटुम्ब से भी बढकर इकाई है, ऐसा कह सकते है। अतएव यदि यह (पूर्ण एकता की प्राप्ति)

सभव भी हो तो भी उसको (प्राप्त) नही करना चाहिये, क्योकि यह तो नगर का विनाश करना होगा।[3]

और फिर, नगर केवल बहुत से मनुष्यों से ही तो नही बन जाता, प्रत्युत उसका निर्माण तो विभिन्न प्रकार के मनुष्यो से होता है; क्योकि एक ही प्रकार के मनुष्यों से वह नही बन सकता। सैन्य-सम्मिलन और नगर एक दूसरे से पृथक् वस्तुएँ है। सैन्य-सम्मिलन स्वभाव से ही पारस्परिक सहायता के निमित्त होता है, इसकी उपयोगिता (चाहे इसके घटको मे गुणात्मक अन्तर न भी हो) इस बात पर निर्भर रहती है कि सैन्यबल की मात्रा कितनी है; इसकी दशा तुला के पलडे को झुका देनेवाले भार के समान है।[4] इसी प्रकार, जब किसी कबीले (अर्थात् गोत्र) के लोग पृथक् पृथक् गाँवो मे (बिखरे हुए) निवास नही करते, प्रत्युत उस अवस्था मे रहते हैं जिसमे अर्कादिया-निवासी रहते हैं, तब नगर और कबीले मे भी अन्तर होता है। (सैन्य-सम्मिलन एव कबीले जैसे समूहो के प्रतिकूल) नगर की एकता का निर्माण जिन घटको (अथवा तत्त्वो) से होता है उसमें प्रकार-भेद होना चाहिये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक राष्ट्र का त्राण (भला) इसी मे है कि उसका प्रत्येक घटक अन्य घटको के प्रति उतना प्रतिदान दे जितना उसने उनसे प्राप्त किया है। यह सिद्धान्त आचारशास्त्र (ऐथिक्स)[5] नामक ग्रथ में पहले ही वर्णन किया जा चुका है। यह ऐसा सिद्धात है जो स्वतत्र एव समान स्थितिवाले व्यक्तियो मे भी अवश्यमेव व्यवहार मे आना चाहिये (चाहे वे अभिन्न जैसे प्रतीत क्यो न होते हो)। वे सब के सब तो एक समय एक साथ शासन कर नही सकते; अतएव उनमे से प्रत्येक को प्रतिवर्ष—अथवा अन्य किसी पर्याय-क्रम से अन्य कालावधि तक—शासक (अथवा शासित) पद को स्वीकार करना पडेगा। इस योजना के अनुसार (बारी बारी से) सब (नागरिक) शासन कर सकेंगे, (पर यह होगा इस प्रकार) जैसे मानो चर्मकार और बढ़ई आपस मे अपनी वृत्ति बदल ले और एक ही मानव-वर्ग सर्वदा के लिये चर्मकार और बढई न बना रहे (प्रत्युत बारी बारी से सभी चर्मकार और बढई बन जायँ)। वास्तव मे, अधिक अच्छा तो यही होगा कि जिस नियम का अनुसरण (विविध शिल्पो मे किया जाता है—अर्थात् बढई अन्त तक बढई ही बना रहता है) उसी का अनुसरण राजनीतिक समुदाय के सबध मे भी हो, स्पष्ट है कि इस दृष्टिकोण के अनुसार, यदि सभव हो तो, अधिक अच्छा यही होगा कि एक ही मानव-वर्ग सर्वदा शासन करता रहे। परन्तु जहाँ सब नागरिको की प्राकृतिक समानता के कारण ऐसा सभव न हो—और साथ ही न्यायोचित भी तो यही है कि चाहे शासन करना भला हो चाहे बुरा, सब नागरिक इसमें भागीदार हो—तो वहाँ भी

उपर्युक्त सिद्धान्त का अनुकरण अथवा अधिक से अधिक उसके समीप पहुँचना इस प्रकार सभव हो सकता है कि बराबरीवाले व्यक्ति बारी बारी से शासनाधिकार पद से अवकाश ग्रहण करते रहे, और शासन-पद पर स्थिति के काल को छोडकर, सब की स्थिति एक समान हो (अर्थात् सब का पारस्परिक व्यवहार एक सा हो)। अर्थात् इस प्रकार से, बारी बारी से कुछ लोग शासन करे और कुछ शासित हो, मानो वे कुछ समय के लिये (परस्पर एक समान न रहकर) भिन्न व्यक्ति हो गये हो। इसी प्रकार जो लोग शासनारूढ होते है उनमे भी परस्पर भेद रहता है, किसी को एक प्रकार का अधिकार-पद प्राप्त होता है, किसी को दूसरे प्रकार का (जिससे यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि प्रकार-भेद नगर-राज्य की सघटना के लिये परमावश्यक है)।[६]

उपर्युक्त विचारो से यह बात प्रत्यक्ष हो गई कि नगर प्रकृत्या उस अर्थ मे एकीभूत नही होता जिस अर्थ मे कुछ लोग उसको इकाई कहते है, और दूसरे यह भी स्पष्ट हो गया कि जिस बात को नगर की सबसे बडी भलाई कहा जाता है वह वास्तव मे उसका विनाश है।[७] परन्तु इतना तो निश्चयमेव कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु की भलाई तो वह होती है जो उसकी रक्षा करती है। फिर एक और दृष्टि-कोण से भी यह स्पष्ट सिद्ध किया जा सकता है कि नगर के अतिगामी एकीकरण की यह चेष्टा कोई अच्छी नीति नही है। गृहस्थी (अथवा कुटुम्ब) एक अकेले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक आत्म-निर्भर है, एव नगर गृहस्थी की अपेक्षा। पर नगर इस (पूर्ण आत्मनिर्भरता के) लक्ष्य को तभी प्राप्त कर सकता है और वास्तविक (नगर के) अस्तित्व को तभी लाभ कर सकता है जब कि नगर को सघटित करनेवाला समुदाय बढकर इतना बडा (और इतना विविध) हो जाय कि वास्तव मे पूर्णतया आत्मनिर्भर हो सके। अतएव यदि अपेक्षाकृत अधिक आत्मनिर्भरता वाछनीय हो तो (यह मानना पडेगा) कि एकता की स्वल्प मात्रा ही अधिक मात्रा की अपेक्षा अधिक इष्ट है।

टिप्पणियाँ

१. यहाँ अरिस्तू अपने गुरु प्लातोन के राज्य की एकता के सिद्धान्त का प्रत्याख्यान दो युक्तियों के आधार पर करता है। प्रथम तो प्लातोन यह सिद्ध नहीं कर सका कि एकता राज्य का समुचित उद्देश्य होना चाहिये; दूसरे जिन उपायों से इस एकता को प्राप्त करने की राय दी गयी है वे इसके लिये समुपयुक्त नहीं है और स्वयं अपने में भी व्यवहार्य नहीं है।

२. राज्य की एकता का सिद्धान्त प्लातोन की "आदर्श नगर-व्यवस्था" में पाँचवीं पुस्तक में आया है। देखो हिन्दी अनुवाद पृ० ३४२।

३. राज्य और राजनीतिक दलो की आत्यन्तिकी एकता को समय-समय पर बड़ा बल दिया गया है। हमारे समय में फासिस्ट राष्ट्र राज्य की एकता एव रूसी साम्यवादी दल अपनी दलगत एकता पर बहुत जोर देते रहे हैं। बोल्शेविक दल तो अपनी उ मा अभेद्य-चट्टान (monolith) से देना पसद करता है। पर अरिस्तू को ऐसी एकता अभीष्ट नही है।

४. नगर मे विविधता होनी चाहिये। नगर-निवासियो की कार्य-क्षमता विभिन्न प्रकार की होनी चाहिये जिससे उनके द्वारा किये जानेवाले कार्य परस्पर पूरक बनकर नगर को पूर्णतया आत्मनिर्भर बना सकें।

५. देखो "ऐथिक्स" ५।५।४

६. यद्यपि स्वतत्र नागरिको की स्थिति एक समान होती है तथापि जब जनतत्र पद्धति के अनुसार उनमे बारी-बारी से कुछ शासन करते हैं और अन्य शासित होते है तो उनमे प्रकार-भेद हो ही जाता है। फिर शासन-कार्य के निमित्त पदारूढ व्यक्तियो में भी भेद रहता है। इससे अरिस्तू यह सिद्ध करता है कि राज्य की सघटना में विविधता परमावश्यक है।

७. यदि एकता के सिद्धान्त को उसकी चरम-परिणति तक पहुँचाया जाय, तो निश्चयमेव परिणाम यही होगा। अतएव अरिस्तू राज्य का लक्ष्य एकता न मानकर आत्मनिर्भरता मानता है। एकता-संबंधी सिद्धान्तो के भयावह परिणामो को देखकर आजकल राजनीति के क्षेत्र मे अनेकतावाद अथवा बहुसमुदायवाद का भी प्रतिपादन किया जाने लगा है।

३

स्त्रियों और बच्चों के समानाधिकार की आलोचना

परन्तु यदि यही मान लिया जाय कि एकता की अधिक से अधिक मात्रा प्राप्त कर लेना ही किसी समाज के लिये सबसे अधिक हितकर है, तो भी, सब मनुष्यो के एक साथ (एक ही वस्तु के सबध) मे 'मम' (मेरा) तथा 'न मम' (मेरा नही) कहने भर से[१] इस एकता को सिद्ध हुआ प्रदर्शित नही किया गया है, जब कि सॉक्रातेस के मतानुसार

ऐसा कहना किसी राज्य की चरम एकता का चिह्न है। (कारण यह है कि) 'सब' शब्द द्वयर्थक है। यदि 'सब' का अर्थ हो 'एक एक करके सब व्यक्ति' तब तो स्यात् सॉक्रातेस का लक्ष्य समधिक मात्रा मे सिद्ध हो जाय , (इस अर्थ के अनुसार) प्रत्येक मनुष्य एक ही व्यक्ति को अपना 'पुत्र', एक ही व्यक्ति को अपनी 'पत्नी' कहेगा, और ऐसा ही अपनी धन-सम्पत्ति एव अन्य उन सब वस्तुओ के विषय मे कहेगा जो उसकी भागधेय है। परन्तु जो लोग स्त्रियो और बच्चो पर समान अधिकार रखनेवाले है वे 'सब' शब्द का प्रयोग इस अर्थ मे नही करेगे, वे तो 'सब' का अर्थ करेगे "सब एक साथ मिलकर" न कि "सब व्यक्तिश"। सम्पत्ति के विषय मे भी यह बात लागू होगी ; सब उसको 'मम' (मेरी) कहेगे पर उनका तात्पर्य होगा 'सामूहिक रूप में' ('सघश') मेरी न कि व्यक्तिश । इसलिए यह स्पष्ट है कि 'सब' शब्द के प्रयोग मे कुछ न कुछ 'हेत्वाभास' है। 'उभय', 'विषम' और 'सम' इत्यादि कुछ इसी प्रकार के शब्दो के समान यह 'सब'[२] शब्द भी द्वयर्थक है एव इसी द्वयर्थकता के कारण (न केवल व्यावहारिक जीवन मे प्रत्युत) शास्त्रार्थों (=विवेचनों) मे भी विवादपूर्ण तर्कयुक्तियो को उत्पन्न कर देता है। अत यह जो सूत्र है कि "सब मनुष्य एक साथ (एक ही वस्तु के सबध) मे मम अथवा न मम कहे", यह 'व्यक्तिश' वाले अर्थ मे तो बडा अच्छा है परन्तु अव्यवहार्य है और दूसरे 'सामूहिक' अर्थ मे किसी भी प्रकार सगतिकरण (अथवा समन्वय) की ओर ले जानेवाला नही है।

इस सूत्र से इसके अतिरिक्त एक और हानि भी हो सकती है। जो वस्तु अधिकतम सख्यावाले मनुष्यो की सामान्य सम्पत्ति होती है उसकी सबसे कम चिन्ता की जाती है।[३] जो वस्तु अपनी होती है मनुष्य उसकी चिन्ता बहुत किया करते है, जो सामान्य अधिकार की वस्तु होती है उसकी चिन्ता अपेक्षाकृत बहुत कम की जाती है , अथवा उसकी चिन्ता वे उतनी ही करते है जितना उनका उससे व्यक्तिगत सबध होता है। असावधानी का अन्य कोई कारण न होने पर भी सब कोई उस कर्त्तव्य की अवहेलना किया करते है जिसकी चिन्ता दूसरो को (भी) करनी होती है , जैसा कि गृह परिचारको मे कभी कभी देखा जाता है कि सेवको की अधिक संख्या कम सख्या से कम सहायक सिद्ध होती है। (प्लातोन के मतानुसार) प्रत्येक नागरिक के सहस्रो पुत्र होगे, पर वे व्यक्तिश प्रत्येक नागरिक के अपने पुत्र नही होगे। कोई भी पुत्र और प्रत्येक पुत्र सामान्य भाव से किसी भी और प्रत्येक पिता का पुत्र होगा, इसी कारण सब के द्वारा एक समान उसकी बहुत कम चिन्ता की जायगी।

फिर इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक और आपत्ति यह भी है कि प्रत्येक नागरिक जब किसी सम्पन्न अथवा विपन्न बच्चे के सबध मे 'मेरा' शब्द का प्रयोग करेगा तो वह अशत ही ऐसा करेगा। उसका यह तात्पर्य नही होगा कि बच्चा पूर्णतया मेरा है, बल्कि यह होगा कि नागरिको की सम्पूर्ण सख्या द्वारा निर्धारित अश मे ही वह बच्चा मेरा है। जब कोई यह कहेगा कि "वह लडका मेरा है" अथवा "अमुकामुक का है" तो "मेरा" अथवा "अमुकामुक का" इन शब्दो का सबध समग्र नागरिको की सख्या से होगा—सहस्र नागरिको से होगा अथवा जितनी भी नागरिको की सख्या होगी उतनी ही सख्या से होगा। और इतने (अश) मे भी वह सशयालु ही बना रहेगा क्योकि यह बात तो अज्ञात (अस्पष्ट) ही रहेगी कि पुत्र वास्तव मे किससे उत्पन्न हुआ था (और किससे नही) अथवा उत्पन्न होकर जीवित भी रहा या नही।[४] पर अधिक भली बात कौन सी है—क्या दो हजार अथवा दस हजार व्यक्तियो मे से प्रत्येक का इस आशिक अर्थ मे किसी बच्चे को 'मेरा' कहना अधिक अच्छा है, अथवा प्रत्येक का उस पूणार्थ मे 'मेरा' कहना जिस अर्थ मे यह शब्द इस समय सामान्यतया राष्ट्रो मे व्यवहार मे आ रहा है? सामान्य रीति के अनुसार एक ही व्यक्ति एक मनुष्य के द्वारा अपना पुत्र कहा जाता है, उसी को दूसरा व्यक्ति अपना भाई,चचेरा भाई अथवा ज्ञातिबन्धु–अर्थात् अपना अथवा अपने किसी सबधी का विवाह के नाते से सबधी मानता है तथा और कोई अन्य व्यक्ति उसी को अपना सगोत्र अथवा कबीलेवाला मानता है।[५] इस (सामान्य) प्रकार से किसी का वास्तविक चचेरा भाई होना (प्लातोनी पद्धति के अनुसार) किसी के पुत्र होनें की अपेक्षा कितना अधिक अच्छा है। और फिर (प्लातोनी पद्धति के अनुसार भी तो) कोई ऐसा उपाय सभव नही है जो भाइयो, लडको, पिताओ और माताओ को स्वत ही अपने सबधियो को पहचानने से रोक सके। बच्चो और माता-पिताओ मे जो समानताएँ पाई जाती है उनके आधार पर वे अवश्य ही अपने पारस्परिक सबध के विषय मे अनुमान निकालते रहेगें। पृथ्वी का परिभ्रमण करके उसका वृत्तान्त लिखनेवाले व्यक्तियो का कहना है कि वास्तविक जीवन मे ऐसी घटनाएँ सचमुच घटती रहती है। उनके कथनानुसार उत्तरी लीबिया के कुछ निवासियो में स्त्रियाँ सामान्यगामिनी होती है[६], तथापि वहाँ उत्पन्न हुए बच्चे भी पिता के सादृश्य के आधार पर पहचानकर पृथक् कर लिये जाते है। सच तो यह है कि कुछ स्त्रियाँ ऐसी होती है जिनमे अन्य पशुओ की मादाओ—जैसे घोडियो और गायो—के समान पितृतुल्य सन्तान पैदा करने की प्रबल प्रवृत्ति होती है। फार्सालिया प्रदेश की "दिकइया" (=यथादात्री)[७] नामक घोडी इस तथ्य का एक अच्छा उदाहरण है।

टिप्पणियाँ

१. इस सूत्र का उल्लेख प्लातोन की 'आदर्श नगर-व्यवस्था' नामक पुस्तक के पाँचवें अध्याय में हुआ है। देखो हिन्दी अनुवाद पृ० ३४३। संसार में अधिकाश झगड़े संकुचित ममता के कारण होते है। जर, जोरू और जमीन की ममता संसार की सब कलहों की मूल है। प्लातोन ने 'साम्यवाद' द्वारा इसका निराकरण करने का आदर्श प्रस्तुत किया था। अरिस्तू यहाँ 'बच्चों और स्त्रियो पर समानाधिकार' के सिद्धान्त की आलोचना कर रहा है। इस विषय को भली भाँति समझने के लिये "आदर्श नगर-व्यवस्था" के पाँचवें अध्याय से परिचित होना आवश्यक है।

२. अरिस्तू यूरोप में तर्कशास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। कुछ आलोचक उसको विश्वभर में तर्कशास्त्र का प्रथम लेखक मानते है। यहाँ वह कुछ शब्दों के 'सहित' Collective और व्यष्टिशः=Distributive प्रयोगो के भेद को स्पष्ट कर रहा है।

३. भारतवर्ष इस दिशा में अरिस्तू के समय के यूनान के समान है। हमारे देश में सार्वजनिक सम्पत्ति का बहुत दुरुपयोग किया जाता है।

४. प्लातोन ने "आदर्श नगर-व्यवस्था" में यह बतलाया है कि जो बच्चे निकम्मे अथवा अक्षम उत्पन्न हो उनको 'दूर कर दिया' (=नष्ट कर दिया ?) जाना चाहिये।

५. अरिस्तू का तात्पर्य यह है कि सामान्यतया नागरिको के प्राकृतिक सबंध मनुष्यो के जीवन को अपनी सुस्पष्ट बहुविधता के कारण सम्पन्न बनाने में सहायक होते हैं। स्वभाविक संबंध सुनिश्चित, सीमित और सान्द्र होते है। पर प्लातोनी पद्धति के संबंध अनिश्चित एव सान्द्रताहीन होगे। उनसे मनुष्य का जीवन भावशून्य और वर्णशून्य हो जायगा। रूस का बोल्शेविक साम्यवाद भी इस दिशा में प्लातोन की पद्धति को स्वीकार नहीं कर सका।

६. यह कथन संभवतया हेरोदोतस के आधार पर आश्रित है। पर पश्चात्कालीन खोज के अनुसार यह कथन ठीक नही है। लीबिया निवासी प्रायः एकगामी थे, स्त्रियाँ भी पुरुष भी। मूल पुस्तक का कथन अपवाद स्वरूप भले ही घटित हुआ हो, सामूहिक रूप में ऐसा नही था।

७. इस घोड़ी को यथादात्री इसलिये कहा जाता था कि इसका सम्पर्क (सहवास) जैसे नर से होता था, यह वैसा ही बच्चा देती थी।

४

पूर्व विषय की और आलोचना

इतना ही नही, प्रत्युत इस स्त्रियो और बच्चो के समानाधिकार के नियम में इससे भी बढकर अन्य कुछ ऐसी कठिनाइयाँ है, जिनका किसी भी प्रकार की सावधानी से सामना करना इस प्रकार के समाज-निर्माताओ के लिये सरल काम नही होगा। उदाहरण के लिये हम जान-बूझकर (तथा अनजाने मे भी) किये हुए प्रहारो, हत्याओ, लडाई एव निन्दा (=गाली-गलौज) को ले सकते है। यह सब ऐसे अपराध है कि जो पिता माता अथवा निकट सबधियो के प्रति किये जाने पर प्राकृतिक (=सहज) श्रद्धा की भावना को भग करते है, पर जब उपर्युक्त सबध न रखनेवाले व्यक्तियो के प्रति किये जाते है तो उतने अपावन नही होते। और फिर (सबध का) ज्ञान रहने की अपेक्षा उसके विषय मे अनजान रहने पर यह अपराध अवश्य ही अधिक घटित होगे, तथा जानकारी मे घटित होने पर ऐसे अपराधो का रीतिविहित प्रायश्चित्त सभव है, परन्तु अनजाने मे हो जाने पर तो कुछ भी नही किया जा सकता। फिर यह भी कितनी अनोखी (अथवा असगत) बात है कि बच्चो को सबकी सामान्य सन्तान बना देने के पश्चात् (सॉक्रातेस) अधिक आयुवाले प्रेमियो को उन बच्चो के साथ कायिक सभोग[१] मात्र से तो रोके, परन्तु (सबध के अज्ञान के कारण यो ही हो जानेवाले) पिता के पुत्र के साथ, एव भाई के भाई के साथ प्रणय एव आतरग्य को बाधित न करे। पिता एव पुत्र तथा भाई और भाई की प्रीति एव अतरगता से बढकर अशोभन बात और कुछ हो ही नही सकती, क्योकि समागम के बिना भी तो इस प्रकार का प्रेम अनुचित है। फिर यह भी अनोखी बात है कि वह तज्जनित आनन्द की अतिशय उत्कटता के एक-मात्र कारण के आधार पर (पुरुष) प्रेमियो के कायिक समागम का तो निषेध (=वर्जन) कर दे, पर इस बात मे उसको कुछ अन्तर न प्रतीत हो कि प्रेमी पिता पुत्र है अथवा भाई भाई है।[२]

स्त्रियो और बच्चो पर सबका समानाधिकार (शासन करनेवाले) राष्ट्र-रक्षको की अपेक्षा (शासित होनेवाले) किसानो के लिये उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योकि बच्चो और स्त्रियो पर समानाधिकार होने पर पारस्परिक प्रेमभाव अमेक्षाकृत कम हो जाता है, तथा इसलिए कि शासित लोग आज्ञाकारी बने रहे और क्रान्ति न कर बैठें, ऐसा ही होना भी चाहिये। सामान्यतया प्लातोन की इस व्यवस्था का परिणाम

अवश्य ही उस परिणाम के नितान्त विपरीत होगा जो भले प्रकार से विहित और व्यवस्थित कानूनो से उत्पन्न होना चाहिये, (इतना ही नही) प्रत्युत उस उद्देश्य के भी विरुद्ध होगा जिसके लिये सॉक्रातेस के अनुसार बच्चो और स्त्रियो के विषय मे इस नियम का विधान होना चाहिये।[३] मैत्रीभावना को (नगर-) राष्ट्रो के लिये सबसे अधिक हितकर माना जाता है, क्योकि वह नागरिक कलह से राष्ट्र की रक्षा का सर्वोत्तम साधन है। नगर की एकता की प्रशसा तो स्वय सॉक्रातेस् भी बहुत अधिक करता है, एव उस एकता को सामान्यतया (ही नही प्रत्युत) उसके द्वारा (विशिष्टतया स्पष्ट रूप से) मैत्री-भावना का ही परिणाम माना गया है। यह एकता, जिसकी वह इतनी प्रशसा करता है ठीक उन प्रेमियो की एकता के समान होगी जिसका वर्णन प्लातोन के सिम्पोसियन्[४] नामक सवाद के प्रेम के प्रकरण मे है तथा जिसमे अरिस्तॉफनेस् को उन दो प्रेमियो का वर्णन करते प्रदर्शित किया गया है जो प्रेमातिरेक के कारण एक साथ मिलकर एकीभूत हो जाना —दोनो दो के स्थान पर एक हो जाना चाहते थे। इस प्रेमातिशय का परिणाम अवश्यमेव उन प्रेमियो के पक्ष मे या तो दोनो का एक नई सत्ता मे विलय अथवा उनमे से एक का दूसरे मे विलय होना चाहिये।[५] पर जिस (नगर-) राष्ट्र मे स्त्रियो और बच्चो पर सबका समानाधिकार होगा वहॉ (इसके बिलकुल विपरीत) प्रेम पतला पानी हो जायगा और निश्चय ही पिता पुत्र को 'मेरे बेटे' और पुत्र पिता को 'मेरे पिता' नही कहेगा। जिस प्रकार थोडी सी मधुर मदिरा बहुत अधिक जल के साथ मिलकर स्वादरहित घोल बन जाती है इसी प्रकार ऐसे समाज मे भी इन (पिता, पुत्र आदि) नामो द्वारा सूचित कौटुम्बिक भावना भी अवश्य ही शिथिल (=नष्टप्राय) हो जायगी, क्योकि कोई कारण नही होगा कि पिता पुत्र के प्रति पुत्र जैसा, पुत्र पिता के प्रति पिता जैसा अथवा भाई भाई के प्रति भाई जैसा व्यवहार करे। किसी वस्तु की ओर मनुष्यों को सगा और प्रेमप्रवण बनानेवाली दो बाते है—एक तो यह भावना कि वह वस्तु अपनी निज की है, दूसरी यह कि वह वस्तु प्रिय है। इस प्रकार की नगर-व्यवस्था मे (जहॉ स्त्रियो और बच्चो पर सबका समानाधिकार हो) दोनो मे से एक भी भावना नही रह सकती।

फिर एक बडी कठिनाई प्लातोन द्वारा निर्धारित बच्चो की कुलान्तरीकरण[६] की योजना के सबध मे भी उत्पन्न होती है, जिसके अनुसार किसानो और कारीगरो की कोटि मे (जाति में) पैदा होनेवाले बच्चे (उच्च गुणो से युक्त होने पर) रक्षको की जाति मे तथा रक्षको की कोटि के बच्चे (निम्न प्रकार के गुणो से युक्त होने पर) निचली कोटियो (=जातियो) मे बदल देने का आदेश है। वास्तव मे यह कुल-

परिवर्तन करना एक झझट ही होगा। इन बच्चो को देनेवालों तथा स्थानान्तरित करनेवालो को यह ज्ञान अवश्य रहेगा ही कि कौन से बच्चो को किनके पास स्थानान्तरित किया गया है। इसके साथ ही पूर्व-कथित सब बुराइयाँ, यथा, आक्रमणात्मक प्रहार, अनुचित प्रेम, हत्याएँ इत्यादि इस अदलाबदली की योजना के सबध मे और अधिक उत्पन्न होगी। क्योकि जो (रक्षको की जाति मे से) नीची जातियो मे बदल दिये गये है, अथवा जिनको (नीची जातियो मे से बदलकर) रक्षको के मध्य मे स्थान दे दिया गया है, वे जिन वर्गो को छोडकर आये है (यद्यपि उनका उनके साथ वास्तविक नाता होगा तथापि) वे उनको भाई, बच्चा, पिता और माता इत्यादि शब्दो से सबोधित नही कर सकेंगे। इस प्रकार उनके प्रति कोई उपर्युक्त अपराध करने मे बिलकुल बाधा नही रह जायेगी।[५]

स्त्रियो और बच्चों के समानाधिकार के सबध मे हमारा यही निश्चय है।

टिप्पणियाँ

१. यूनानी समाज में यह अप्राकृतिक संबंध प्रचलित था। प्लातोन ने अपनी "आदर्श नगर-व्यवस्था" नामक रचना में इसकी रोक-थाम का उपदेश किया था।

२. इस समग्र अनुच्छेद से यह पता चलता है कि प्लातोन और अरिस्तू के समय में यूनानी समाज में अप्राकृतिक यौन-संबंध बढ़ता जा रहा था तथा नीति-शास्त्र-प्रणेता उसको बुरा समझते थे।

३. सॉक्रातेस का लक्ष्य था राष्ट्र में एकता की भावना को दृढ़ करना। इसके लिये उसने "आदर्श नगर-व्यवस्था" में स्त्रियो और बच्चो पर समानाधिकार का प्रतिपादन किया था। अरिस्तू के मत में इसका परिणाम उपर्युक्त लक्ष्य का विरोधी होगा।

४. सिम्पासियन् नामक संवाद प्लातोन की छोटी किन्तु सुविख्यात रचना है। इसका विषय प्रेम, मैत्री एवं सुन्दरता है। इसमें एक प्रीतिभोज का वर्णन है जिसमें होनेवाले भाषणों में प्रेम तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इसका सार है सर्वोत्तम आदर्शों के प्रति उत्कट उत्साह की भावना तथा उनकी प्राप्ति के लिए आत्मबलिदान पूर्वक भक्ति-प्रदर्शन। इसी आदर्श भक्ति को अफलातूनी प्रेम Platonic Love कहा जाता है।

५. इस प्रकार के प्रेमियो का वर्णन यवन एवं भारतीय पौराणिक कथाओं में मिलता है। हर्मेस् एवं अफ्रोदीते का हर्माफ्रोदितस् नामक पुत्र एवं उसको प्रेम करनेवाली अप्सरा

साल्माकिस् दोनो मिलकर एक हो गये थे। भारतीय देवताओं में तो शंकर अर्धनारीश्वर के नाम से प्रसिद्ध है ही।

६. प्लातोन ने आदर्श नगर-व्यवस्था में जिस जाति-प्रथा का प्रतिपादन किया है उसकी विशेषताओ को स्थायित्व प्रदान करने के लिये उसने यह नियम बनाया कि यदि रक्षको की जाति में ऐसे बच्चे उत्पन्न हों जो निचली जाति के लक्षणोंवाले हों तो उनको निचली जाति में भेज देना चाहिये और यदि निचली जातियो में उच्च जाति के लक्षणों वाले बालक पैदा हो जायँ तो उनको उच्च जाति में अन्तर्भुक्त कर देना चाहिये। दूसरे शब्दों में कह सकते है कि प्लातोन को गुण एवं कर्म के विभाग के अनसार जातिप्रथा मान्य थी। प्रो० उर्वीक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है प्लातोन के विचार भारतीय वर्ण-व्यवस्था से प्रभावित हुए थे।

७. अरिस्तू के मत में स्थानान्तरित बच्चों में स्वाभाविक पितृश्रद्धा का भाव शून्य के बराबर होगा। इस वर्णसंकरता के कारण नगर में एकता की भावना और भी घट जायेगी एवं सॉक्रातेस (प्लातोन) का उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा।

पर इस विषय में विशेष द्रष्टव्य बात यह है कि स्त्रियों एवं बच्चों पर समानाधिकार के सिद्धान्त को प्लातोन ने केवल रक्षकों एवं शासकों के लिये प्रतिपादित किया था। जन, जर, जमीन---कामिनी, कांचन एवं धरित्री--सारी ऐहिक कलहो की मूल हैं। प्लातोन जानता था कि इन चट्टानो से टकराकर नागरिकता की नाव डूबती रही है अतएव उसने कामिनी और कांचन के साम्यवाद को शासको के मध्य में प्रवर्त्तित करना चाहा। पर यह समस्या चिरन्तन है और हम आज भी इसके समाधान से काफी दूर है। इस विषय में प्लातोन के विचारो से पूर्णतया अवगत होने के लिये उसकी "आदर्श नगर-व्यवस्था" नामक पुस्तक को पढ़ना चाहिये। यह समझना भारी भूल होगी कि प्लातोन ने इस सिद्धान्त द्वारा रक्षकों की उच्छृंखलता का प्रतिपादन किया है; इसके विपरीत रक्षको का जीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारियो की चर्या से अधिक मेल रखनेवाला प्रतीत होगा।

५

सम्पत्ति के समानाधिकार की आलोचना

इसके पश्चात् अब सम्पत्ति[१] के विषय मे विचार करना है। जिनको श्रेष्ठ नगर की नागरिकता को प्राप्त करना हो वे इस विषय मे किस पद्धति को स्वीकार करें? सम्पत्ति को सबके समानाधिकार की वस्तु होना है या नही? इस प्रश्न पर बच्चो

एव स्त्रियो के समानाधिकारवाले नियम से पृथक् स्वतत्र रूप से विचार किया जा सकता है। यह मानते हुए भी कि आजकल की सर्वव्यापी रीति के अनुसार स्त्रियों और बच्चो का सबध व्यक्तियो से ही रहे[२] सम्पत्ति का प्रश्न तो विचार करने के लिये बना ही रहता है (जो इस प्रकार है) कि क्या उस (=सम्पत्ति) का सामान्य स्वामित्व और उपयोग अपेक्षाकृत अधिक अच्छा नही है ? (इस विषय मे तीन विकल्प सभव है)। प्रथम—भूखड पृथक् पृथक् व्यक्तियो की सम्पत्ति रहे, परन्तु उनकी उपज सबके उपभोग के लिये एक सार्वजनिक भडार मे एकत्रित की जाय (जैसा कि कुछ जातियो मे किया जाता है); इसके विपरीत दूसरा विकल्प यह है कि—भूमि पर सबका समान अधिकार हो, एवं खेती भी सम्मिलित रूप से की जाय, पर उपज को व्यक्तिगत उपभोग के लिये बाँट दिया जाय (कहते है कि कुछ बर्बर जातियो मे यह द्वितीय प्रकार की विभाजन-पद्धति प्रचलित है)। तीसरा विकल्प यह है कि भूमि और भूमि की उपज (अर्थात् स्वामित्व और उपयोग) दोनो ही समान रूप से सब की सम्पत्ति हो।[३]

जब भूमि पर कृषि करनेवाला मनुष्य वर्ग उस भूमि के स्वामी नागरिको से भिन्न होता है (अर्थात् जब कि किसानी करनेवाली जनता बँधुआ या दास होती है) तब तो स्थिति और ही होती है और समस्या भी सरल होती है, परन्तु भूमि का स्वामित्व रखनेवाले नागरिक स्वय जब किसानी भी करते है तब सम्पत्ति के स्वामित्व का प्रश्न पूरा असन्तोष उत्पन्न करता ही है। यदि प्राप्ति और परिश्रम में उनका भाग समान नही हुआ तो जिनको परिश्रम अधिक करना पडा और प्राप्ति कम हुई वे थोडे परिश्रम से अधिक पानेवालो के विरुद्ध अवश्य ही दोषारोपण करेंगे। सामान्यतया यह सच है कि मनुष्यो के एक साथ रहने और सब प्रकार के मानवीय सबधो को परस्पर समान रूप से बरतने में योही कठिनाइयाँ आती है पर जब मामला सम्पत्ति का होता है तब कठिनाइयाँ भी विशेष हो जाती है। इस विषय का एक अच्छा उदाहरण सहयात्रियो की साझेदारियाँ है; बिलकुल मामूली सी बातो पर वे झगडने लग जाते है एव छोटे छोटे प्रसगो पर बिगड खडे होते है। यही बात नौकर-चाकरो के विषय मे भी लागू होती है, हमारी प्रवृत्ति उन्ही से अधिक अप्रसन्न होने की होती है, जिनके साथ प्रतिदिन के कार्य जाल मे हमारा सपर्क सबसे अधिक होता है।

धन-सम्पत्ति पर जो सबका समानाधिकार है, उसमे यह तथा ऐसी ही दूसरी भी अनेकों कठिनाइयाँ है। यदि आजकल की (व्यक्तिगत अधिकार की) व्यवस्था को (अच्छी सामाजिक) प्रथाओ एव (राजनीतिक) नियम-विधियो से सजा-सँवार[४] दिया

जाय तो इतने से कोई मामूली अन्तर नही पडेगा (प्रत्युत) स्थिति बहुत कुछ सुधर जायगी) और इसमे दोनो प्रकार की व्यवस्थाओ की भलाइयो का समावेश हो जायगा। अर्थात् आर्थिक साम्यवाद और व्यक्तिगत साम्पत्तिक अधिकार दोनो ही प्रकार की व्यवस्थाओ के गुण इसमे उपलब्ध हो सकेगे। (यह आदर्श स्थिति होगी), क्योकि सामान्यरूपेण तो सम्पत्ति पर व्यक्ति का ही अधिकार होना चाहिये। हाँ, एक दिशा मे (अर्थात् उसके उपयोग की दिशा मे) उस पर सबका अधिकार होना ठीक है। जब प्रत्येक व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का क्षेत्र (घेरा) अलग होता है तो पारस्परिक कलह का एक मुख्य कारण दूर हो जाता है, और क्योकि प्रत्येक व्यक्ति यह देखता है कि वह अपने निजी कार्य मे लगा हुआ है, अत कार्य की भी खूब उन्नति होती है। इसके साथ ही इस व्यवस्था के अनुसार सद्वृत्ति के कारण प्रत्येक की सम्पत्ति उस लोकोक्ति की भावना मे सब के उपयोग के निमित्त होगी जिसमे यह कहा गया है कि मित्रो के मध्य मे (प्रत्येक की सम्पत्ति) सब की सम्पत्ति होती है। इस समय भी इस प्रथा के कुछ रेखाचिन्ह कतिपय नगर-राष्ट्रो में उपलब्ध होते है जो यह सूचित करते है कि यह असभव नही है, प्रत्युत सुव्यवस्थित राष्ट्रो मे तो इसके कुछ तत्त्व विशेष रूप से विद्यमान है ही तथा अन्य तत्त्वो को बढाया जा सकता है। इन नगरो मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का स्वामी है, पर जब उपयोग का प्रसग आता है तो वह उसका एक अश अपने मित्रो के लिये उपलब्ध कर देता है, एव कुछ अन्य अश सभी नागरिको के सामान्य उपयोग के लिये लगा देता है। उदाहरण के लिये लाकैदायमॉन् (स्पार्टा) के निवासी एक दूसरे के दासो का इस प्रकार उपयोग करते हैं मानो वे उनके अपने (दास) हो, इसी प्रकार वे घोडो और कुत्तो को भी काम मे लाते है, यदि यात्रा करते समय उनको सबल का अभाव हो जाता है तो वे देहात मे (अन्य नागरिको के) खेतो में से उसको ग्रहण कर लेते हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सम्पत्ति का स्वामित्व० यक्तिगत तथा उपयोग सार्वजनिक होना अपेक्षाकृत अधिक अच्छा है, एव विधि-निर्माता का अपना विशिष्ट कार्य यह है कि वह मनुष्यो की सम्पत्ति सबधी प्रवृत्ति को इस प्रकार बनाये।

फिर इसके अतिरिक्त आनन्द के विषय मे विचार कर लेना चाहिये। जब कोई मनुष्य किसी वस्तु को अपना समझता है तो उसके आनन्द मे (ऐसा समझने से) कितना अकथनीय अन्तर प्रड जाता है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति मे जो अपने प्रति (एव अपने से सबध रखनेवाले के-प्रति) प्रेम की भावना पाई जाती है वह व्यर्थ की भावना नही है प्रत्युत स्वाभाविक है। स्वार्थ-भावना की तो निन्दा ही उचित है पर जिस स्वार्थ-भावना

की निन्दा की जानी चाहिये वह सामान्य आत्मप्रेम नही है, प्रत्युत अत्युत्कट आत्मप्रेम है, वैसा ही उत्कट प्रेम जैसा कि कजूस व्यक्ति को धन के प्रति होता है, अन्यथा तो (धन इत्यादि) वस्तुओ के प्रति सामान्य प्रेम समधिक रूप मे सभी मे पाया जाता है।[५] और फिर मित्रो, अतिथि-अभ्यागतो अथवा साथियो के प्रति दया और सहायता करने से भी अत्यधिक आनन्द प्राप्त होता है और यह सब तभी सभव होता है जब किसी के पास अपनी सम्पत्ति होती है। (नगर-) राष्ट्र की अतिशय एकता की व्यवस्था से यह सब आनन्द सभव नही रहते, तथा इनके अतिरिक्त दो सद्गुणो की प्रवृत्तियो का भी इससे सर्वथा लोप हो जाता है। प्रथम सद्गुण है स्त्रियो के प्रति सयम[६] (क्योकि सयम के कारण परस्त्रीगमन से विरत रहना शोभन (=सदाचार का) कार्य है), दूसरा सद्गुण है धनादि के उपयोग मे उदारता। (जब राष्ट्र मे अत्यधिक एकता की व्यवस्था के कारण सब वस्तुओ पर सबका समान अधिकार होगा) तब न तो कोई उदारता का उदाहरण उपस्थित कर सकेगा और न कोई उदारता का कार्य ही कर सकेगा, क्योकि धन-सम्पत्ति का उपयोग ही उदारता का काम होता है।

प्लेटो के द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार की नियम-व्यवस्था बाहर से देखने मे आकर्षक प्रतीत होती है तथा जनकल्याणकारी जैसी दिखलाई देती है। सुननेवाले इसको प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेते है, वे सोचते है कि (इस प्रकार की नियम-व्यवस्था से) प्रत्येक व्यक्ति अन्य प्रत्येक व्यक्ति के प्रति आश्चर्यजनक बन्धुत्वभाव का अनुभव करने लगेगा, विशेषकर उनका ऐसा विचार इसलिए होता है, क्योकि पारस्परिक ठहरावो के सबध मे होनेवाले अभियोग, झूठे साक्ष्य के सबध मे दण्ड-निर्णय, धनवानो की चापलूसी इत्यादि जैसी बुराइयाँ (जिनकी निन्दा की जाती है तथा जो आजकल की सामान्य वर्तमान शासन-व्यवस्थाओ मे पाई जाती है) इसीलिए पाई जाती हैं क्योकि सम्पत्ति पर सबका सामान्य अधिकार नही है। तथापि इनमे से कोई भी बुराई सम्पत्ति पर सामान्य अधिकार के अभाव के कारण उत्पन्न नही होती, किन्तु वे (मानव-स्वभाव की) दुष्टता से उत्पन्न होती हैं। वास्तव मे देखा तो यह जाता है कि जिनका सपत्ति पर समान अधिकार होता है और जो उसके प्रबध मे भागीदार होते है, ऐसे व्यक्तियो को हम उनकी अपेक्षा अधिक भेदभावपूर्ण और परस्पर झगडते हुए पाते हैं, जो कि सम्पत्ति पर पृथक् व्यक्तिगत अधिकार रखते है, यद्यपि उन लोगो की सख्या जो कि सम्पत्ति पर सामान्य अधिकार के कारण एक दूसरे से मतभेद रखते और झगडते है हमको उन बहुतो के समूह की अपेक्षा बहुत थोडी मालूम पडती है जो सम्पत्ति पर पृथक् व्यक्तिगत अधिकार रखते है।

और फिर हमको केवल उन बुराइयो का ही विचार करना उचित नही है, जिनसे मनुष्य सम्पत्ति के सार्वजनिक सामान्य अधिकारगत होने पर बच जायँगे, प्रत्युत उन सुख-सुविधाओ का भी आकलन करना चाहिये जिनसे वे वचित रहेगे। उनको जो जीवन-यापन करना पडेगा वह नितान्त अशक्य प्रतीत होता है। सॉक्रातेस जिस हेत्वाभास (अथवा भ्रान्ति) मे पड गया है उसका कारण (एकता के स्वरूप की) उस धारणा को माना जाना चाहिये जो ठीक नही है। एकता तो किसी भी प्रकार (दोनो मे ही) होनी चाहिये—परिवार मे भी और पुर मे भी—पर सब बातो मे नही (कुछ ही बातो मे होनी चाहिये)। एकता की ओर बढते जाने की प्रक्रिया मे एक स्थिति ऐसी आती है कि जिस पर पहुँचकर नगर नगर ही नही रह जाता; और इससे कुछ ही घटकर एक स्थिति ऐसी है कि जिसमे नगर-राष्ट्र राष्ट्र चाहे बना रहे पर सारस्वरूप के खो बेठने के समीप पहुंच जाता है, और इस प्रकार एक घटिया राष्ट्र बन जाता है। यह इसी प्रकार से होता है मानो स्वर-सगीत बढकर एक स्वरता का अथवा ताल एकपदता (या एकगणता) का रूप धारण कर ले। पर वास्तव मे तो (जैसा कि पहले कहा जा चुका है) नगर अनेकतामय होता है, एव शिक्षा के[7] उपाय द्वारा उनको समाज और एकता का रूप दिया जाता है। अतएव यह बडी अनोखी सी बात है कि जो व्यक्ति एक शिक्षा-विधि का प्रचलन करने का विचार रखता है, तथा यह मानता है कि इसके द्वारा नगर (-राष्ट्र) को श्रेष्ठता की प्राप्ति होगी, वह यह समझे कि वह उपर्युक्त उपायों द्वारा सीधे मार्ग मे प्रवृत्त कर रहा है, (अथवा कर सकता है), पर सामाजिक रीतियों, बौद्धिक सस्कार तथा विधि-निर्माण के उपायो द्वारा नही[8]—जैसे उपाय लाकैदायमौन् (स्पार्टा) और क्रेते में पाये जाते है, जहाँ कि सहभोज के नियम के रूप मे नियमनिर्माता ने सम्पत्ति को सबके लिये उपयोगी बनाकर समानाधिकारगत कर दिया है।[8]

एक बात और भी है जिसकी उपेक्षा हमको नही करनी चाहिये, और वह है बीते हुए युगो के अनुभवो की शिक्षा। हमको उस सुदीर्घ अतीत और प्रभूत वर्षगणना को ध्यान देना ही चाहिये जिसमे यह सब बाते (जिनको प्लातोन नये आविष्कार के रूप मे प्रस्तुत करता है) यदि वास्तव मे अच्छी होती तो अज्ञात न रह जाती। लगभग सभी बातो का आविष्कार हो चुका है, यद्यपि उनमे से कुछ का सयोजन[9] नही हो पाया है तथा कुछ ज्ञात होते हुए भी उपयोग मे नही आ सकी है। यदि प्लातोन द्वारा प्रस्तावित जैसे शासन विधान को कोई वास्तविक व्यवहार मे निर्मित[10] होते देख पाता तो इस विषय पर बहुत अधिक प्रकाश पडता। नगर के घटको को एक ओर सहभोज-समितियों मे, तथा दूसरी ओर बिरादरियो और कबीलो (गणो) मे बिना बाँटे और विभक्त किये

नगर-राष्ट्र का निर्माण सभव होगा ही नही। (इस प्रकार नगर का विविध वर्गो मे विभक्त होना तो सामान्य-सी बात हुई) अत प्लातोन के नियम निर्माण की एकमात्र विशेषता यही निकली कि रक्षको के लिये खेती करने का निषेध हो; और यह भी ऐसा नियम है जिसको लाकैदायमौन्-निवासी कार्यरूप मे अनुसरण करने का प्रयत्न पहले ही से करते रहे हैं।[११]

इतना ही नही, प्रत्युत समग्र योजना ही कठिनता से समझ मे आनेवाली है। वास्तव मे सॉक्रातेस ने यह नही बतलाया है कि इस योजना मे विभिन्न (राष्ट्र-) घटको की स्थिति क्या होगी, और यह बतलाना सरल है भी नही। वे अधिकाश नागरिक ही, जो कि रक्षक नही है, लगभग समग्र नागरिक समुदाय स्वरूप होगे। पर इनके विषय मे कुछ भी स्पष्ट रूप से निर्धारित नही किया गया है। (यह नही बतलाया गया है कि) क्या इन (कृषको) का (रक्षको के समान) सम्पत्ति पर समान अधिकार होगा अथवा वे व्यक्तिगत रूप मे सम्पत्ति के स्वामी होगे? इसी प्रकार यह भी पता नही चलता कि स्त्रियो और बच्चो पर उनका सामान्य अधिकार होगा अथवा उनकी स्त्रियाँ और बच्चे पृथक् पृथक् व्यक्तियों के अधिकार मे रहेंगे?[१२] (इन प्रश्नो के उत्तर मे यदि प्रथम विकल्प को माने—अर्थात्) यदि उपर्युक्त पद्धति के अनुसार कृषको मे भी सब पर सबका अधिकार होना है ऐसा स्वीकार कर ले तो फिर वे रक्षको से किस बात मे भिन्न होगे? अथवा उन (रक्षको) के शासन के अधीन होनें से उनको क्या लाभ होगा? अथवा, जब तक शासकवर्ग उनके प्रति वैसा ही चतुरता का व्यवहार न करे जैसा कि क्रेते (द्वीप) में होता है (जहाँ कि दासो और बधुओ को भी वही सुविधाएँ प्राप्त है, जो कि शासको को प्राप्त है, केवल व्यायाम करने और शस्त्र धारण की आज्ञा उनको नही है) तब तक वे क्या समझकर उन (रक्षको) का शासनाधिकार स्वीकार करेंगे? यदि दूसरे विकल्प को लें,—अर्थात् यदि कृषको के वर्ग मे विवाह और सम्पत्ति की प्रथा वैसी ही रहे जैसी कि वह वास्तव मे अन्य नगर-राष्ट्रो मे है (प्रत्येक व्यक्ति का परिवार और सम्पत्ति दूसरो से पृथक् रहे)—तो प्रश्न यह उठता है कि इस समाज का स्वरूप (अथवा) प्रकार क्या होगा? इस प्रकार तो एक नगर मे अनिवार्यतया दो नगर बन जायँगे और यह दोनो परस्पर बिरोधी होगे। ऐसा प्रतीत होगा मानो रक्षक लोग नगर पर चौकीदारी करनेवाले सिपाही बना दिये गये है और कृषक, शिल्पी एव शेष दूसरे लोग साधारण नागरिक। (इस प्रकार यदि कृषक इत्यादि लोगो मे पृथक् परिवार और सम्पत्ति को मान लिया गया तो) वे सब विवाद, झगडे और अन्य बुराइयाँ, जिनका अन्य नगरों में होना उसने वर्णन किया है, इस नगर के लोगो मे भी समानरूपेण उपलब्ध

होगे । यह सच है कि सॉक्रातेस् ने कहा है कि शिक्षा के कारण नागरिको को बहुत से नियमो की—(जैसे कि नगर की रक्षा के नियम, बाजार-हाट के नियम, तथा इसी प्रकार के अन्य नियम)—आवश्यकता ही नही होगी, पर इसके साथ ही यह भी सच है कि वह शिक्षा का प्रबन्ध केवल रक्षको के ही लिये करता है । फिर इससे भी आगे बढकर वह कृषको को, अपनी उपज का एक भाग रक्षको को कर रूप मे प्रदान करने पर, भूमि पर अधिकार प्रदान करता है । इससे तो वह लोग (स्पार्टा के) हैलॉट्[13] (थैस्सालिया के) पैनेस्तैइ तथा अन्य नगर-राष्ट्रो के कृषक दासो की अपेक्षा कही अधिक दु शील, अहम्मन्यतापूर्ण और ढीठ हो जायगे । इसके अतिरिक्त उसने इस उपर्युक्त प्रश्न के विषय मे भी कुछ निर्णय नही किया है कि रक्षको के समान ही निम्न वर्गो मे भी स्त्रियो और बच्चो तथा सम्पत्ति पर सबका समानाधिकार होना चाहिये अथवा नही । इसी प्रकार इस प्रश्न से सबद्ध जो अन्य प्रश्न है,जैसे कि रक्षको से भिन्न इन निम्न कोटि के लोगो की शासनपद्धति मे स्थिति, उनकी शिक्षा का स्वरूप तथा उनके द्वारा पालन किये जानेवाले नियम, उनके विषय मे भी उसने कोई बात निर्धारित नही की है । अतएव न तो इस बात का पता चला लेना कोई सरल काम है कि रक्षको के साम्यवादी जीवन की रक्षा के लिये निम्न वर्गों के जीवन का गठन किस प्रकार का हो और न यह ऐसी बात है जिसका महत्त्व (किसी प्रकार) कम हो (अथवा जिसके कारण मामूली-सा अन्तर पडता हो ।)

और फिर यदि अन्तिम विकल्प के रूप मे (सॉक्रातेस्) स्त्रियो को तो सर्वसाधारण की सम्पत्ति बना दे और सम्पत्ति को व्यक्तिगत अधिकार मे रहने दे, तो ऐसी अवस्था मे जब कि पुरुष खेतो की देखभाल करते होगे, घरो की सार-सम्हाल कौन करेगा ? और यदि कृषको की सम्पत्ति और स्त्रियो पर सबका सामान्य (समान) अधिकार हो तो भी (घरो का) क्या होगा ? यह बात भी बडी अनोखी सी लगती है कि पशु-जगत् के सादृश्य को लेकर यह कहना कि स्त्रियो को उन्ही कार्यों का अभ्यास करना चाहिये जिनका कि पुरुष करते है, क्योकि पशुओ को गृहस्थी का प्रबन्ध तो नही करना पडता ।

तथा सॉक्रातेस् जिस शासन-प्रणाली की स्थापना करना चाहता है वह भी अस्थिर ही है, क्योकि वह तो सर्वदा के लिये एक ही वर्ग को शासक बना देना चाहता है (और इस प्रकार "बारी बारी से शासक और शासित होने" के स्वस्थ सिद्धान्त का विरोध करता है ।) यह पद्धति तो उन लोगो तक मे विप्लव (=विक्षोभ) का कारण बन जानी चाहिये जिनकी कोई विशेष हैसियत नही है, तो फिर जो व्यक्ति उत्साहपूर्ण[14]

स्वभाववाले और योद्धाओ की वृत्तिवाले है उनमे तो ऐसा और भी अधिक होगा । उसके एक ही वर्ग को स्थायी रूप से शासक बनाने की अनिवार्यता का कारण बिलकुल स्पष्ट है । जिस सुवर्ण का मिश्रण ईश्वर द्वारा (कुछ उत्तम) मनुष्यो की आत्मा में किया जाता है (—जिसके कारण वह शासक बनने की योग्यता प्राप्त करते है) वह ऐसा नही है कि कभी एक मानव-समूह मे पाया जाय और कभी दूसरे मे , वह तो सर्वदा एक ही मानव-वर्ग मे रहता है। उसने कहा है कि ईश्वर जन्म के समय से ही कुछ व्यक्तियो की रचना मे सुवर्ण का मिश्रण करता है और कुछ की रचना में रजत का, तथा जिनको शिल्पकार और कृषक बनना है उनकी सघटना मे वह पीतल और लोहा मिला देता है।[१५]

(फिर उसकी व्याख्या मे एक विप्रतिपत्ति यह है कि) एक ओर तो वह (नगर-) रक्षको को सुख तक से वचित रखता है[१६], दूसरी ओर इसके साथ वह यह भी कहता है कि नियम-निर्माता को समग्र (नगर-) राष्ट्र को सुखी बनाना चाहिये। परन्तु जब तक किसी राष्ट्र का अधिकतम भाग, अथवा सपूर्ण अग अथवा कुछ अश सुख से युक्त न हो तब तक उसका सुखी होना असभव है। सुखी होना और सम होना यह दोनो एक ही कोटि के तथ्य नही है । किसी अगी के उभय भागो मे समता के न होने पर भी समग्र अंगी मे उसका होना सभव है, पर यह बात सुखी होने के विषय में सभव नही है, (अर्थात् अगो के सुखी न होने पर अगी का सुखी होना सभव नही है ।) और फिर (यह भी विचारणीय है कि) यदि नगर-रक्षक ही सुखी नही होगे तो और कौन सुखी होगा ? निश्चयमेव शिल्पकारो अथवा बहुसख्यक शारीरिक श्रम करनेवाले मजदूरो के लिये तो सुख (का प्रश्न) है ही नही ।

जिस 'आदर्श नगर-व्यवस्था' का वर्णन सॉक्रातेस ने किया है उसमे यह सब ऊपर कही गई कठिनाइयाँ है तथा इनके अतिरिक्त और दूसरी कठिनाइयॉ भी है जो इनकी अपेक्षा घटकर नही है ।[१७]

टिप्पणियाँ

१. इस खंड में अरिस्तू प्लातोन के साम्यवाद की आलोचना करता है। इस आलोचना को भले प्रकार समझने के लिये प्लातोन की आदर्श नगर-व्यवस्था को पढ़ना आवश्यक है।

२. स्त्रियों और बच्चों पर सबका समान अधिकार हो—इस सिद्धान्त की आलोचना पिछले खंड में हो चुकी है।

३. वास्तव में एक चौथा विकल्प यह भी संभव है कि सम्पत्ति का अधिकार और उपयोग (अथवा उपभोग) दोनो ही व्यक्तिगत हो।

४. अर्थात् ऐसी सामाजिक प्रथाएँ प्रचलित हो तथा ऐसे कानून बनाये जायँ कि व्यक्तिगत सम्पदा का उपयोग सर्वसाधारण के लिये होने लगे। अर्थात्—"व्यक्तौ स्वाम्यं, भोगे साम्यम्।" (सस्कृत) व्यक्ति में स्वाम्य, भोग में साम्य (हिन्दी)।

५. आत्मप्रेम की समुचित मात्रा एक सामाजिक गुण है। इस मध्यबिन्दु के एक ओर है आत्मावसादन जिसमें अपने को निकम्मा और हीन समझा जाता है और दूसरी ओर है अत्युत्कट आत्मप्रेम जिसमें अहंकार एवं स्वार्थ जैसे दुर्गुणों का समावेश होता है।

६. जब स्त्रियों पर सबका समान अधिकार होगा तो संयम का अभाव होगा ही।

७. अरिस्तू के मत में केवल नियम (कानून) बनाकर किसी राष्ट्र को आदर्श नहीं बनाया जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि जनता प्रथम नियम की उत्तमता को अपनी बुद्धि द्वारा स्वीकार करे और तत्पश्चात् उस नियम को एक सामाजिक रीति के रूप में परिणत कर दे। यदि ऐसा न हो सके तो अच्छे से अच्छा नियम भी समाज का सुधार करने में असफल रहता है और विधि-जीवियो (वकीलो) की जीविका का साधन बनकर रह जाता है।

८. स्पार्टा में स्वतंत्र पुरुषो के लिये यह नियम था कि वे तीस वर्ष की अवस्था से ६० वर्ष की अवस्था तक मुख्य भोजन सार्वजनिक भोजनालयों में ही कर सकते थे। भोजन सादा होता था और मात्रा में जान-बूझकर अपर्याप्त रखा जाता था। परिणाम यह होता था कि जनता में सरल जीवन व्यतीत करने और कष्ट सहने का स्वभाव बन जाता था। इन भोजनालयो का व्यय सभी व्यक्तियों के अनुदान से चलता था। इसके कारण व्यक्तिगत साम्पत्तिक विषमता का प्रदर्शन भी नहीं हो पाता था। क्रेते द्वीप में भी इसी प्रकार की प्रथा प्रचलित थी।

९. मूल में 'सिनेगताइ' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ 'बिखरी हुई जानकारी का किसी निर्णय पर पहुँचने के लिये अथवा वैज्ञानिक उपयोग के लिये व्यवस्थित एकत्रीकरण है।

१०. यदि इस प्रकार का विधान निर्मित होकर किसी राष्ट्र में व्यावहारिक रूप में चालू हुआ होता तो उसके परिणामो से हम अधिक शिक्षा ग्रहण कर पाते।

११. यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि स्पार्टा के अभिजन भूमि के स्वामी तो थे पर स्वय खेती-बाड़ी नहीं करते थे, यह कार्य दासो के लिये नियत था। प्लातोन के राष्ट्ररक्षक भूमि के स्वामी नही हैं। भूमि के स्वामी स्वतंत्र हैं कृषक जो दास नहीं है और स्वयं खेती का काम करते हैं।

१२. प्लातोन ने इस विकल्प का स्पष्ट उत्तर दिया है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिवार का निषेध रक्षको के लिये है, कृषको के लिये नही।

१३. मूल में हैलोतेइया, पैनैस्तेइया और दूलेइया शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनका अर्थ बंधुओं अथवा दासो का समूह है।

१४. उत्साहपूर्ण स्वभाववाले व्यक्तियों से तात्पर्य सहायक योद्धाओ से प्रतीत होता है, तथा जिनकी "कोई हैसियत नही है" ऐसे व्यक्ति छोटे मोटे कृषक हो सकते है।

१५. प्रो० उर्विक के मत में यह वर्णों की व्यवस्था का सिद्धान्त प्लातोन ने भारतीय वर्ण-पद्धति से लिया था। अरिस्तू को यह वर्णों के विशेष स्वभाव का सिद्धान्त मान्य नही है। वह तो सब नागरिकों की योग्यता की समानता के सिद्धान्त का पोषक है जिसके आधार पर नागरिक पर्याय-क्रम से "शासक और शासित" बन सकते है।

१६. यहाँ सुख से तात्पर्य व्यक्तिगत सम्पत्ति और निजी परिवार की भावना से उत्पन्न होनेवाले सुख से है।

१७. इस समग्र दोषान्वेषण का उद्देश्य यह है कि प्लातोन ने जो आदर्श नगर-व्यवस्था प्रस्तुत की है वह दोषपूर्ण है तथा श्रेष्ठ नगर-व्यवस्था की खोज का अवकाश अभी भी है।

इस अध्याय के आरम्भ में अरिस्तू ने जिन तीन विकल्पो को उपस्थित किया है उनमें से प्रत्येक की आलोचना क्रमशः नहीं की है। उसने यह मानकर कि प्लातोन का साम्यवाद तृतीय विकल्प से समता रखता है, उसकी कठिनाइयो का वर्णन किया है। तदुपरान्त उसने अपने प्रथम विकल्प से मेल रखनेवाली आर्थिक व्यवस्था—व्यक्तिगत सम्पत्ति और सार्वजनिक उपयोगवाली व्यवस्था का गुणानुवाद किया है। इसके पश्चात् उसने पुनः प्लातोन की व्यवस्था की आलोचना करते हुए अध्याय को समाप्त किया है। पर इस आलोचना में उसने अपने गुरु के प्रति पूरा-पूरा न्याय नहीं किया है। स्पष्ट ही उसने दूसरे विकल्प की प्रत्यक्ष विवेचना नही की। पर प्रथम विकल्प की प्रशसा में से उसके विरोधी द्वितीय विकल्प की निन्दा अर्थापत्ति द्वारा ध्वनित हो सकती है। इस समग्र विवेचन में अरिस्तू की दृष्टि विशेषतया भूमि के स्वामित्व और उपयोग पर ही केन्द्रित रही है।

इस सम्बन्ध में अरिस्तू इस धारणा को लेकर चला प्रतीत होता है कि प्लातोन की व्यवस्था में भूमि पर सबका समान अधिकार है। पर आदर्श नगर-व्यवस्था में ऐसा कहीं नहीं कहा गया है। प्लातोन के मत में भूमि के स्वामी तो कृषक ही है। भूमि के उत्पादन के भी स्वामी वही है। पर वे नगर-राष्ट्र के संरक्षकों को उनकी सेवाओ के

बदले में कर-स्वरूप अपने खेतों की उपज का एक नियत भाग कर-स्वरूप देते है। यह कर एक भंडार में एकत्रित किया जाता है और संरक्षकों द्वारा इसका उपभोग समानाधिकार अथवा साम्यवाद के सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्लातोन की आदर्श नगर-व्यवस्था का साम्यवाद बहुत सीमित है। भूमि का स्वामित्व और उसकी उपज का स्वामित्व व्यक्तियों को ही प्राप्त है। नगर-राष्ट्र की समग्र जनसंख्या का एक अल्प भाग—संरक्षक-वर्ग—उपभोग में समानाधिकार के सिद्धान्त का अनुसरण करता है। यह तो अन्ततोगत्वा अरिस्तू की अपनी ही श्रेष्ठ व्यवस्था का स्वरूप-सा प्रतीत होता है जिसमें स्वामित्व व्यक्तिगत है, उपयोग अथवा उपभोग सार्विक है।

६

प्लातोन के "नियम" नामक ग्रन्थ की आलोचना

(प्लातोन) की पश्चात्कालीन (अर्थात् अन्तिम) रचना 'नियम'[१] के विषय में भी वही, अथवा लगभग वही (पूर्वोक्त) आक्षेप लागू होते हैं, अतएव उसमे किस प्रकार के सविधान का वर्णन किया गया है, इसका थोडा परीक्षण कर लेना अधिक अच्छा होगा। क्योकि सचमुच ही पॉलितेइया[२] (आदर्श नगर-व्यवस्था) नामक ग्रथ मे तो सॉक्रातेस ने सब मिलाकर थोडी सी ही बातो को निर्धारित किया था, जैसे कि स्त्रियो और बच्चो पर समानाधिकार, सम्पत्ति पर समानाधिकार एव सविधान मे (अधिकारो की) व्यवस्था (इत्यादि)। उसने नगर-निवासियो के समूह को दो भागो मे बाँट दिया है—(१) कृषको के वर्ग मे तथा (२) योद्धाओ के वर्ग मे। इस दूसरे वर्ग मे से राष्ट्र के (मन्त्रि) पारिषदो और शासनाधिकारियो का—(सरक्षको का) तीसरा वर्ग चुन लिया गया है। पर कृषको और शिल्पकारोवाले प्रथम वर्ग के विषय मे सॉक्रातेस ने यह कुछ निर्णय नही किया है कि वे नगर के शासन-कार्य मे कोई भाग लेंगे या नही अथवा वे शस्त्र धारण करेंगे एव युद्ध मे भाग लेंगे या नही। हॉ, यह उसका निश्चित विचार अवश्य है कि (सामान्य सरक्षक वर्ग की) स्त्रियो को (पुरुष-) रक्षको के साथ युद्ध मे भाग लेना चाहिये और उनकी शिक्षा मे भी भागीदार होना चाहिये, इसके अतिरिक्त शेष सवाद (=ग्रथ) मुख्य विषय से असबद्ध विषयान्तरो

से और सरक्षको की शिक्षा के विवेचनो से (जैसे कि कोई रक्षक व्यक्ति किस प्रकार बन सकता है) भरा हुआ है।

'नियम' नामक पुस्तक के अधिकाश का सबध विधि अथवा कानूनो से है, सविधान या नगर-व्यवस्था के सबध में तो थोडा ही कहा गया है। और यद्यपि वह इस शासन-पद्धति को वर्त्तमान नगरो की शासन-पद्धति के अधिक समान बनाने का इच्छुक है तथापि वह धीरे धीरे इस प्रस्तावित पद्धति को दूसरी अर्थात् आदर्श-पद्धति की ओर ही घुमाकर ले जाता है। स्त्रियो और सम्पत्ति पर सबके समानाधिकार को छोडकर अन्य सब बातो मे वह दोनो ही (अर्थात् आदर्श और यथार्थ) नगरो के लिये एक सी सस्थाओ का प्रबन्ध करता है। दोनो मे एक ही प्रकार की शिक्षा होगी , दोनो नगरो के निवासियो का जीवन आवश्यकीय (अर्थात् नीच समझे जानेवाले) कार्यों से मुक्त होगा , तथा दोनो ही मे सहभोज का भी एक समान प्रबन्ध होगा। अन्तर केवल इतना है कि इस पुस्तक मे सहभोज की व्यवस्था मे स्त्रियो को भी पुरुषो के साथ सम्मिलित कर लिया गया है तथा शस्त्र धारण करनेवाले योद्धाओ की सख्या जो "आदर्श नगर व्यवस्था" मे १००० थी इसमे ५००० नियत की गई है।

सॉक्रातेस[३] के सभी सवाद सामान्य वस्तु नही है, उनमे साधारणता नही प्रत्युत कमनीयता, मौलिकता एव गवेषणा की प्रवृत्ति पाई जाती है। पर सर्वत्र परिपूर्णता की उपलब्धि तो शायद कठिनता से ही हो सकती है। क्योकि यदि हम उपर्युल्लिखित सख्या को ही ले, तो हमको यह बात नही भुला देनी चाहिये कि इस ५००० की विशाल सख्या को (जो कि उनकी स्त्रियो और अनुचरो के सहित कई गुना हो जायगी), निठल्ले पालने के लिये बाबिलोनिया के समान विशाल प्रदेश की अथवा उसी के समान अन्य किसी अपरिसीमित भूखड की आवश्यकता होगी। यह सच है कि हम स्वेच्छया कल्पना करने मे स्वतत्र है पर निश्चय ही असम्भव की कल्पना करने की स्वतत्रता हमको कदापि नही है।

इस ग्रथ मे कहा गया है कि नियम-निर्माता को नियम निर्धारण करने के लिये दो तथ्यो पर दृष्टि रखनी चाहिये—(१) देश (के विस्तार) पर और (२) जन-सख्या पर। पर यदि नगर का जीवन राजनीतिक[४] जीवन होना है (न कि आस-पास के देशो से कटा हुआ रहना है) तो नियम-निर्माता के लिये पास-पडोस के देशो पर दृष्टि रखना भी अच्छा होगा। उदाहरणार्थ किसी भी राष्ट्र को ऐसे सैन्य-साधन का ही उपयोग नही करना चाहिये जो उसके अपने प्रदेश के ही लिये उपयोगी हो, प्रत्युत

उसको ऐसे साधनो का भी उपयोग करना चाहिये जो अपने देश के बाहर भी काम आ सके ।[५] चाहे इस (क्रियात्मक, लडाकू) प्रकार के जीवन का, व्यक्ति और नगर-समाज दोनो ही के लिये श्रेष्ठ होना स्वीकार न भी किया जाय तो भी (नगर-) निवासियो को नगर पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओ की अपेक्षा पलायन करनेवाले शत्रुओ के प्रति कदापि कम भयोत्पादक नही होना चाहिये ।

सम्पत्ति (और सैनिक तैयारी) की मात्रा पर भी दृष्टि रखना आवश्यक है तथा क्या हम इसकी मात्रा का निर्णय किसी ऐसे प्रकार से नही कर सकते जो (सॉक्रातेस के) इस कथन से अधिक सुनिश्चित (अथवा स्पष्ट) होने के कारण पृथक् हो । (नौमस् मे) उसने कहा है कि मनुष्य की सम्पत्ति की मात्रा इतनी होनी चाहिये जो सयत और सतुलित जीवन के लिये पर्याप्त हो । यह बात तो यही कहने के समान है कि सम्पत्ति की मात्रा भली भाँति जीवन व्यतीत करने के लिये पर्याप्त होनी चाहिये । सामान्यता की दृष्टि से तो सचमुच ही यह कथन अपेक्षाकृत अधिक व्यापक (या उदार) है । फिर यह भी सभव है कि सयमपूर्ण जीवन दारिद्रचपूर्ण हो । पर इसकी अपेक्षा अधिक अच्छी (और स्पष्ट) परिभाषा यह होगी कि (प्रत्येक व्यक्ति के पास सम्पत्ति की इतनी मात्रा होनी चाहिये कि जो) सयतता और उदारता[६] से जीवन बिताने के लिये पर्याप्त हो । यदि इन दोनो का—सयम और उदारता का—सबध विच्छिन्न हो जाता है तो उदारता का विलासिता से तथा सयम का कष्टकर दारिद्रच से गठबधन हो जाता है । अतएव इन दोनो का सबध बना रहना ही चाहिये क्योकि यही वह सद्गुण है जो सम्पत्ति के उपयोग मे वाछनीय है । मनुष्य सम्पत्ति का उपयोग दब्बूपन से अथवा साहस के साथ नही कर सकता परन्तु सयम और उदारता, दोनो ही की भावना के साथ वह उसका उपयोग कर सकता है । अतएव इन गुणो के व्यवहार के साथ सम्पत्ति का अनिवार्य (=अविभाज्य) सबध है ।

फिर यह भी एक बडी (असगत और) अनोखी बात है कि वह भूसम्पत्ति को तो एक निश्चित सख्या के समान भागो मे बॉटना चाहता है पर तदनुसार नगरो की सख्या को निश्चित रखने का प्रबध नही करता ।[७] वह बच्चो के प्रजनन को मर्यादित नही करता, उसका विचार है कि चाहे कुछ परिवारो मे कितने ही बच्चे क्यो न उत्पन्न हो, अन्य परिवारो (=विवाहो) मे उन (बच्चो) का अभाव होने से जनसख्या पर्याप्त-रूपेण सतुलित हो जायगी,और वह यह आशा इसलिये करता है कि विद्यमान नगर-राष्ट्रो मे यही होता प्रतीत होता है । पर जैसा कि अन्य विद्यमान नगर-राष्ट्रो मे होता है

उसकी अपेक्षा 'नौमॉस' मे प्रस्तावित राष्ट्र मे कही अधिक सतर्कता के साथ जनसख्या को स्थायी रखना पडेगा , क्योकि आजकल के विद्यमान राष्ट्रो में जनसख्या चाहे कितनी ही क्यो न बढ जाय, सम्पत्ति स्वतत्रता से उनके मध्य मे बाँटी जा सकती है और इस प्रकार किसी को (सम्पत्ति का) अभाव नही रह सकता। पर 'नियम' मे प्रस्तावित राष्ट्र मे सम्पत्तियाँ अविभाज्य मानी गई है अतएव निर्धारित सख्या का अतिक्रमण करनेवाले मनुष्यो (=नागरिको) को कुछ भी नही मिलेगा, चाहे उनकी सख्या कम हो चाहे अधिक। समझ मे आनेवाली बात तो यह है कि सम्पत्ति को मर्यादित करने की भी अपेक्षा शिशु-प्रजनन को सीमित करना अधिक आवश्यक है, जिससे कि उसकी मात्रा एक विशिष्ट सख्या से अधिक न बढ सके। प्रजनन को सीमित करने मे उत्पन्न हुए बच्चो के मरणावसरो और विवाहित दम्पतियो मे वन्ध्यात्वजनित सन्तानाभाव के सयोगो की गणना को दृष्टि में रखते हुए प्रजनन की सख्या निर्धारित की जानी चाहिये। इस विषय की अवहेलना, जो कि हमारे बहुत से नगरो मे पाई जाती है, नागरिको मे निर्धनता का अनिवार्य कारण है और निर्धनता विद्रोह और दुराचारो की सृष्टि करती है। कौरिन्थ-निवासी फैइदौन्[८] का (जो कि एक अत्यन्त प्राचीन स्मृतिकार है) विचार तो वास्तव मे यह था कि कुटुम्बो को बँटे हुए भू-खण्डो की सख्या नागरिको की संख्या के बराबर रहनी चाहिये, चाहे आरभ मे सब नागरिको के खड भले ही असमान रहे हो। पर (प्लातोन के) 'नियम' नामक ग्रथ मे इससे उलटा सिद्धान्त माना गया है।

पर इस विषय मे किस प्रकार सुधार किया जा सकता है इसका विवेचन आगे चलकर किया जायगा।[९] यहाँ पर तो हमको 'नियम' नामक रचना की एक और त्रुटि का विचार करना है जो शासको से सबध रखती है क्योकि यह नही बतलाया गया है कि शासक शासितो से किस प्रकार भिन्न होते है। उसका कहना है कि जिस प्रकार ताना बाने से भिन्न प्रकार की ऊन का होना चाहिये इसी प्रकार शासक और शासित भी (परस्पर शिक्षा इत्यादि में) भिन्न होने चाहिये। वह यह अनुमति तो देता है कि किसी भी मनुष्य की सब सम्पत्ति बढकर पाँचगुनी हो जानी चाहिये, पर यह नही बतलाता कि उसकी भू-सम्पत्ति भी उतनी ही मात्रा मे क्यो नही बढ जानी चाहिये। (फिर) गृहो का वितरण भी ऐसा विषय है जिसपर और अधिक विचार करने की आवश्यकता है, प्लातोन की गृह-वितरण की पद्धति गृह-प्रबध की क्षमता बढानेवाली नही है। वह प्रत्येक नागरिक को पृथक् पृथक् स्थानो पर स्थित दो घर प्रदान करता है ; स्पष्ट है कि (क्षमतापूर्वक) दो घरो में निवास करना कठिन है।[१०]

(यदि 'नियम' नामक ग्रथ मे वर्णित शासन-पद्धति पर विचार करे तो) समग्र शासन-व्यवस्था न तो जनतत्रकी ओर झुकती प्रतीत होती है और न अल्पजन (= धनिक-जन)-तत्र की ओर, प्रत्युत इन दोनो की मध्यवर्तिनी जैसी है जो कि पौलितेइया[११] (वैधतत्र) कहलाती है, क्योकि यह भारी शस्त्रो को धारण करनेवाले सैनिको से सघटित होती है। यदि इस सविधान के प्रतिपादन मे ग्रथकार का उद्देश्य यह रहा हो कि यह सविधान (नगर-) राष्ट्रो द्वारा अत्यधिक शीघ्रता से ग्रहण किये जाने के योग्य है तब तो स्यात् उसने ठीक ही किया है; पर यदि वह इस ('नियम'नामक ग्रथ मे वर्णित) व्यवस्था को अपनी ('आदर्श नगर-व्यवस्था' नामक ग्रथ मे) पूर्ववर्णित आदर्श व्यवस्था के समीपतम पहुँचनेवाली समझता हो तो उसका यह विचार ठीक नही है[१२]; क्योकि बहुत से व्यक्ति लाकैदायमौन (स्पार्टा) की शासनपद्धति अथवा उससे अधिक अभिजात तत्र को ('नियम') नामक ग्रथ मे वर्णित शासन की अपेक्षा) अधिक वरेण्य समझ सकते है। कुछ लोग तो सचमुच यह कहते है कि श्रेष्ठ शासन-पद्धति तो आजकल उपलब्ध होनेवाली सब शासन व्यवस्थाओ का सम्मिश्रण होनी चाहिये, इसी कारण वे लोग लाकैदायमौन् (स्पार्टा) की शासन-पद्धति[१३] की प्रशसा करते है। इस शासन-पद्धति का निर्माण धनिक (अथवा अल्प-) जनतत्र, एकराट्तत्र तथा जनतत्र इन तीनो ही पद्धतियो के तत्त्वो से हुआ है। कुछ लोगो का कहना है कि (दो) राजा एकराट्तत्र के प्रतिनिधि है, स्थविरमण्डली धनिक (अथवा अल्प-) जनतत्र की स्थानापन्न है और एफौरौस जनतत्र-पद्धति के प्रतिनिधि है, क्योकि इन एफौरौस नामक अध्यक्षो का चुनाव साधारण जनता में से किया जाता है। अन्य लोगो के मत मे यह अध्यक्ष-पद्धति तानाशाही का प्रकार है, एव इनको लोकतत्र के दर्शन वहाँ के सम्मिलित भोजो एव अन्य दैनिक जीवन की प्रवृत्तियो मे होते है। 'नियम' नामक ग्रथ में कहा गया है कि श्रेष्ठ शासन-पद्धति जनतत्र और तानाशाही (के तत्त्वो) से घटित होनी चाहिये— जो दोनो पद्धतियाँ या तो बिलकुल ही विधानरूप नही है अथवा यदि है तो सबसे निकृष्ट शासन-विधान है। पर वे लोग जो (उपर्युक्त दो पद्धतियो की अपेक्षा) अधिक पद्धतियो के मिश्रण[१४] की बात कहते है फिर भी अधिक अच्छी बात कहते है, क्योकि वह राष्ट्र-व्यवस्था जो अपेक्षाकृत बहुसख्यक पद्धतियो के तत्त्वो के मिश्रण से घटित होती है अन्य व्यवस्थाओ से अधिक अच्छी होती है। इसके अतिरिक्त इस 'नियम' नामक ग्रथ मे वर्णित व्यवस्था मे राजतत्रात्मक तत्त्व तो नाम को भी नही है, केवल धनिक-तत्रात्मक और लोकतत्रात्मक तत्त्व है जो कि धनिकतत्रात्मकता की ओर झुकते हुए है।[१५] यह तथ्य शासको की नियुक्ति की पद्धति मे स्पष्टतया प्रकट हो जाता है।[१६]

क्योकि यद्यपि गुटिका द्वारा पहले ही से चुने हुए लोगो मे से उनकी नियुक्ति मे दोनो (धनिकतत्र और जनतत्र के) तत्त्वो का समावेश रहता है[१७] तथापि एक तो धनिक लोग जिस प्रकार नियमो के द्वारा परिषद् मे उपस्थित होने, शासको के पक्ष मे मत देने अथवा अन्य राजनीतिक कर्त्तव्य पालन करने के लिये बाधित किये जाते है, उस प्रकार अन्य लोग नही किये जाते , उनको जो चाहे सो करने की छूट रहती है , दूसरे यह चेष्टा की जाती है कि शासको की अधिकाश सख्या धनिकवर्ग मे से नियुक्त हो और सर्वोच्च अधिकारी अधिकतम आयवाले व्यक्तियो मे से चुने जायॅ। यह दोनो ही बाते धनिकतत्र के लक्षण है । परिषद् के सदस्यो के चुनाव का ढग भी धनिकतत्रात्मक है। क्योकि यद्यपि यह तो सत्य है कि चुनाव मे भाग लेना सबके लिये अनिवार्य है, तथापि यह अनिवार्यता प्रथम श्रेणी मे से कुछ लोगो के प्राथमिक चुनाव एव द्वितीय श्रेणी मे से प्रथम श्रेणी से चुने गये व्यक्तियो की संख्या के बराबर व्यक्तियो के चुनाव पर्यन्त लागू होती है। पर जब तीसरी और चौथी श्रेणी मे से सदस्यो के चुनने का अवसर आता है तो यह अनिवार्यता लागू नही रहती , सच तो यह है कि चौथी श्रेणी मे जब प्राथमिक चुनाव होता है तो केवल प्रथम और द्वितीय श्रेणी के घटक ही मत देने के लिये बाधित होते है। इस प्राथमिक चुनाव के पश्चात्, उसका यह कहना है कि इस प्रकार चुने हुए लोगो मे से प्रत्येक आय की श्रेणी के लिये समान सख्यक सदस्य चुने जाने चाहिये । इस प्रकार जो अधिक आयवाले उच्च श्रेणी के लोग हैं उन्ही को मताधिक्य प्राप्त हो जायगा, क्योकि निचली श्रेणी के बहुत से साधारण जन तो, बाध्य न किये जाने पर, मत देंगे ही नही । अत इन उपर्युक्त विचारों से तथा, उन अन्य विचारो से जो आगे चलकर ऐसे ही विधानो का परीक्षण करते समय प्रस्तुत किये जायँगे, यह स्पष्ट हो गया कि (प्लातोन का बतलाया हुआ) विधान जनतत्र और एकराट्तत्र का सम्मिश्रण नही होगा ।

जो लोग स्वय चुने हुए है उनमे से शासको को चुनने मे एक खतरा भी है । यदि थोडे से लोग मिलकर एक गुट बना ले तो फिर चुनाव उनकी इच्छा के अनुसार चलेंगे । 'नियम' नामक ग्रथ मे जिस नगर-व्यवस्था का वर्णन किया गया है उसके विषय मे यही (उपर्युक्त) विचार-विमर्श (उत्पन्न होते) है ।

टिप्पणियाँ

१. यूनानी भाषा में इसका नाम "नौमस्" है। यह प्लातोन की सबसे बड़ी और अन्तिम रचना है। इसमें संवाद के पात्रो में सॉक्रातेस नहीं है। इस ग्रंथ की शैली एव

प्रतिपादित विषय दोनो मे ही अत्यधिक गंभीरता का वातावरण लक्षित होता है। प्लातोन का दृष्टिकोण भी इस ग्रंथ में अधिक अनुदार और कठोर हो गया है। हिन्दी भाषा में इसको प्लातोन-स्मृति कह सकते है।

२. पॉलितेइया अथवा रिपब्लिक आकार में प्लातोन की रचनाओ से उपर्युक्त "नौमस्" कुछ छोटी और शेष रचनाओ से बड़ी है। शैली की उत्तमता एवं विचारों की स्पृहणीय उदारता की दृष्टि से यह पुस्तक प्लातोन की रचनाओं में ही नहीं विश्व-साहित्य में प्रायः बेजोड़ है। जैसा कि विदित ही है, इसका हिन्दी अनुवाद, "आदर्श नगर-व्यवस्था" के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

३. सॉक्रातेस का नाम 'नौमॅस्' के संबंध में नहीं लिया जाना चाहिये क्योंकि इस पुस्तक में वह संवाद का पात्र नहीं है। उसके स्थान पर 'अथेन्सनिवासी परदेसी अथवा अतिथि' संवाद का प्रमुख पात्र है। कुछ आलोचकों के मत में यह व्यक्ति सॉक्रातेस ही है पर क्योंकि उसका क्रेते द्वीप में जाना तथ्य-विरुद्ध है अतएव प्लातोन ने उसका नामोल्लेख स्पष्टतया नहीं किया है। टेलर के मत से यह व्यक्ति स्वयं प्लातोन जैसा है।

४. राजनीतिक जीवन से तात्पर्य ऐसे राष्ट्रीय जीवन से है जो अन्य देशों से भी सन्धि अथवा विग्रह का संबंध रखता है। इस प्रकार के जीवन के लिये अवश्यमेव ऐसे सैन्य-साधन का उपयोग अनिवार्य हो जाता है जो अपने देश में संरक्षण, और विदेश पर आक्रमण करने के लिये, दोनों के लिये उपयुक्त हो।

५. अरिस्तू चिन्तनमय जीवन को सर्वश्रेष्ठ मानता है, अतएव वह लड़ाकू जीवन को आदर्श जीवन मानने को तैयार नहीं है। तथापि वह जीवन की यथार्थता की ओर भी दृष्टि रखता है और भले प्रकार जानता है कि "शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्त्तते"—अर्थात् शस्त्र द्वारा रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्रचिन्ता का कार्य निर्विघ्न चल सकता है।

६. मूल में 'एल्यूथेरियोस्' क्रियाविशेषण का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है स्वतंत्रता से, अथवा धन-संबंधी तंगदस्ती से मुक्त रहते हुए।

७. यह कथन अनुचित है। 'नियम' के ७४० पृष्ठ पर प्लातोन ने स्पष्ट कहा है कि नगर के गृहों की संख्या ५०४० से अधिक कदापि नही बढ़ने दी जानी चाहिये। इसी स्थान पर उसने इस सख्या को ऐसा ही बनाये रखने के लिये अनेक प्रकार के सुझाव दिये है।

८. फैइदौन् का बनाया हुआ कानून नगर-निवासियो को बॉटे गये भूखण्डो की असमानता की ओर ध्यान नहीं देता; उसका आग्रह यह है कि भूखण्डों की संख्या

और नागरिको की संख्या बराबर रहनी चाहिये। प्लातोन का विधान भूखण्डों की समानता पर बल देता है, पर अरिस्तू समझता है कि वह नागरिको की सख्य को सीमित रखने का उपाय नहीं करता। इसके अतिरिक्त फैइदौन् नगरराष्ट्र में निर्धनों की सत्ता नहीं चाहता पर प्लातोन इस विषय में भी कुछ नहीं करता। हम ऊपर कह आये है कि संख्या-नियन्त्रण के सबंध में अरिस्तू की आलोचना उचित नहीं है।

९. देखो आगे पुस्तक ७ अध्याय १० और १६।

१०. संभवतया प्लातोन दो स्थानो (गृहो) का समर्थन विवाहित पुत्र की आवश्यकता को दृष्टिमें रखकर करता है। अन्ततोगत्वा अरिस्तूने भी अपने आदर्श नगरकी व्यवस्था में नागरिको को दो भूखण्ड देने का प्रस्ताव किया है। अरिस्तू के मत में विवाह की आदर्श अवस्था पुरुष के पक्ष में ३७ और स्त्री के पक्ष में १८ वर्ष है। अतएव पुत्र के विवाह की अवस्था को प्राप्त होने तक पिता के जीवित रहने की संभावना भी थोड़ी ही रह जाती है। इस विषय में आगे चलकर पुस्तक ७ में अरिस्तू की आदर्श व्यवस्था का प्रकरण द्रष्टव्य है।

११. पौलितेइया अथवा पौलिते नामवाली शासन-पद्धति का वर्णन इसी ग्रंथ की चतुर्थ पुस्तक में किया गया है। अरिस्तू ने इसको साधारण राष्ट्रों के लिये श्रेष्ठ शासन-पद्धति बतलाया है और स्पार्टा की शासनप्रणाली को इसके उदाहरण के रूप में वर्णन किया है। पर यहाँ पर उसने "नियम" की आलोचना करने के लिये एक दूसरी ही युक्ति का आश्रय लिया है। पौलितेइया लोकतंत्र और धनिकतंत्र की पद्धतियो की मध्यवर्तिनी शासन-व्यवस्था है। मूल पुस्तक में धनिकतंत्र के लिए औलिगार्खिया शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ अल्पजनो का शासन है। अल्पजन से तात्पर्य अल्पसंख्यक धनिकों से है। लोकतंत्रके लिए डेमौक्रातिया शब्द व्यवहार में आता है जिसका अर्थ है साधारण जनों की शक्ति (अथवा शासन)। पौलितेइया का शाब्दिक अर्थ पौर लोगो का शासन है जिसमें धनी और साधारण जन सभी को शासनसत्ता प्राप्त होती है।

१२. अरिस्तू हाथ धोकर अपने गुरु के पीछे पड़ गया प्रतीत होता है। अन्यथा प्लातोन ने स्वयं कहा है कि 'नियम' नामक ग्रंथ में वह मध्यम कोटि की शासन-पद्धति का वर्णन कर रहा है। रिपब्लिक (आदर्श नगर-व्यवस्था) में प्लातोन ने आदर्श शासन-प्रणाली का वर्णन किया था। वह ग्रंथ उस समय की रचना थी जब प्लातोन का आदर्शवाद अपनी पूर्ण प्रखरता को पहुँचा हुआ था। 'नियम' नामक पुस्तक उसकी अन्तिम रचना है जिसमें उसने 'आदर्श' की अप्राप्यता को स्वीकार कर व्यवहार की मध्यम स्थिति को स्वीकार कर लिया है। उसने आदर्श, द्वितीय और तृतीय इस प्रकार तीन विचारणीय शासन-पद्धतियाँ मानी है जिनमें से आदर्श "बुद्धिग्राह्य किन्तु

अतीन्द्रिय होने के कारण अलभ्य है, तृतीय निकृष्ट होने के कारण त्याज्य है। केवल मध्यम ही व्यवहार्य और ग्राह्य दोनो है। प्लातोन ने आदर्श के प्रकाश में इस मध्यम कोटि की शासन-पद्धति का वर्णन अन्तिम रचना में किया है। यदि हम इन तथ्यो को दृष्टि में रखें तो स्पष्ट हो जायगा कि अरिस्तू की प्रस्तुत आलोचना निरर्थक है।

१३. लाकैदायमौन अथवा स्पार्टा की शासन-पद्धति के विवरण के लिये इसी ग्रथ की द्वितीय पुस्तक का ९वाँ अध्याय देखिये।

१४. यो तो स्वय अरिस्तू ने पौलितेइया को केवल दो प्रकार की शासन-पद्धतियो का मिश्रण कहा है और उसी को श्रेष्ठ-संभव माना है पर उसने यह भी स्वीकार किया है कि शासन-पद्धति में अधिकाधिक प्रणालियों का सम्मिश्रण अधिक श्रेयस्कर है। संभवतया यह अरिस्तू की यथार्थवादी व्यावहारिक बुद्धि का श्रेष्ठ उपदेश है। राजनीति के विभिन्न एकाङ्गी सिद्धान्त दार्शनिको के विवेचन के विषय भले ही बना करें, पर वास्तविक व्यवहार में शासको को समय की आवश्यकता के अनुसार सभी प्रणालियो का मिश्रण करना पड़ता है—यह एक कठोर सत्य है।

१५. 'नियम' कीशासन-पद्धति को स्पार्टा की शासन-पद्धति से इसलिये घटकर बतलाया गया है कि स्पार्टा की पद्धति मे (१) एकराट्तंत्र (मौनार्खिया) (२) अल्प-जन तत्र (औलिगार्खिया) और लोकतंत्र (देमौक्रातिया) इन तीन प्रणालियो के तत्त्वों का मिश्रण है; पर 'नियम' में वर्णित प्रणाली में केवल (१) तानाशाही (तिरान्नी-दौस्) और लोकतंत्र के तत्त्वो का ही मिश्रण है।

१६. 'नियम' नामक ग्रथ में प्लातोन ने नागरिकों को उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार चार श्रेणियो में विभक्त किया है; प्रथम श्रेणी के नागरिक सबसे अधिक धनवान् और चतुर्थ श्रेणी के सबसे कम धनवाले बतलाये गये है। प्रथम श्रेणी से लेकर चतुर्थ श्रेणी तक के नागरिको की सम्पत्ति का अनुपात उनकी श्रेणी की संख्या के अनुसार ४:३:२:१ होना चाहिये। इस अनुपात में परिवर्त्तन होने पर नागरिक की श्रेणी में भी परिवर्त्तन हो जाना चाहिये। पर यदि प्रथम श्रेणी के नागरिक की सम्पत्ति बढ़ जाए तो उसका कर्तव्य है कि वह बढ़ी हुई सम्पत्ति को राष्ट्र और देवताओं को अर्पित कर दे। यदि वह ऐसा न करे तो उसको दण्डित होना पड़ेगा। अतएव यह कहा जा सकता है कि इस ग्रंथ में प्लातोन ने अत्यधिक धनवत्ता और नितान्त निर्धनता दोनों को ही दूर रखने का आदेश किया है।

१७. 'नियम' नामक ग्रंथ में शासको के चुनाव की पद्धति का स्वरूप यह है कि प्रथम तो प्रत्येक श्रेणी में से ३६० प्रतिनिधि चुने जाने चाहिये। चारो श्रेणियों के चुनाव में चार दिन लगने चाहिये। प्रथम और द्वितीय श्रेणी के प्रतिनिधियों के चुनाव में सभी

श्रेणियो को मतदान देना अनिवार्य है, ऐसा न करने पर नागरिक को दण्ड दिया जाना चाहिये। तृतीय श्रेणी के प्रतिनिधियो के चुनाव में प्रथम तीन श्रेणियो के नागरिकों को अनिवार्यतया मत देने का विधान किया गया है। चौथी श्रेणी के प्रतिनिधियो के चुनाव में प्रथम दो श्रेणियों के नागरिको के लिए मत देना अनिवार्य होगा पर शेष दो श्रेणियो के नागरिकों का मतदान ऐच्छिक होगा। इस प्रकार चुनाव का प्रथम दौर समाप्त होगा। इसको प्रोक्रिसिस् (प्रारंभिक अथवा प्राथमिक चुनाव) कहा गया है। इसके पश्चात् चुनाव का दूसरा दौर चलता है जिसको हैरेसिस् नाम दिया गया है। इस बार सब नागरिको के लिये मत देना अनिवार्य है। इस दूसरे चुनाव के द्वारा प्रत्येक श्रेणी के प्रतिनिधियो की संख्या को घटाकर १८० कर दिया जाना चाहिये। तीसरे चुनाव का नाम क्लेरोसिस् है। इसमें गुप्त मतदान के द्वारा प्रत्येक श्रेणी के प्रतिनिधियो की संख्या घटाकर ९० कर देने का विधान है। इस प्रकार अन्त में नगर का शासन करनेवाली परिषद् (बूले) बननी चाहिये जिसके सदस्यों की संख्या ३६० हो। इनमें से ३० व्यक्ति प्रतिमास शासन-कार्य चलाने के लिये नियुक्त किये जायँ। समग्र परिषद् का कार्यकाल १ वर्ष है। इस उपर्युक्त चुनाव के अतिरिक्त प्लातोन ने अन्य चुनावो का भी उल्लेख 'नियम' में किया है पर क्योंकि उनका प्रस्तुत प्रसंग से कोई संबंध नहीं है अतएव उनका वर्णन करना अनावश्यक है।

इस चुनाव में एक सप्ताह लग सकता है, अतएव अपेक्षाकृत निर्धन लोगों को केवल थोड़े ही चुनावों के लिये बाध्य किया गया है ताकि शेष दिनों में वह अपने जीविकोपार्जन में लगे रहें। सभी आलोचकों ने इस पद्धति को 'अति' का वर्जन करनेवाली पद्धति कहा है पर कुछ सीमा तक अरिस्तू की आलोचना इस पर लागू होती ही है। स्वयं प्लातोन ने इस पद्धति से निर्मित होनेवाली व्यवस्था को एकराट्तंत्र और लोकतंत्र की मध्यवर्तिनी व्यवस्था कहा है। उपर्युक्त चुनाव-विधियों में से प्रथम (प्रोक्रिसिस्) और तृतीय (क्लेरोसिस्) का प्रचलन ई० पू० ५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अथेन्स में था।

७

फालेयास् की व्यवस्था की आलोचना

उपर्युक्त व्यवस्थाओ के अतिरिक्त कुछ और व्यवस्थाएँ भी है जो साधारण (अविशेषज्ञ) व्यक्तियो अथवा दार्शनिको या राजनीतिज्ञो के द्वारा प्रस्तुत की गई है। यह सभी (प्लातोन द्वारा प्रस्तुत) इन दोनो ('रिपब्लिक' और 'नियम' मे वर्णित)

नगर-व्यवस्थाओ की अपेक्षा 'वास्तव मे' स्थापित और आजकल भी लोक-शासन में लगी हुई व्यवस्थाओ के अधिक समीप है[1]। अन्य किसी भी व्यक्ति ने ऐसी अनोखी नवीनताओ का प्रस्ताव नही किया जैसी प्लातोन की बच्चो और स्त्रियो पर समानाधिकार, अथवा स्त्रियो के लिये सम्मिलित सार्वजनिक भोजन-सबधी नवीनताएँ हैं, इसके विपरीत अन्य नियम-निर्माताओ ने तो जीवन की परम आवश्यकताओ से अपने विवेचन का श्रीगणेश किया है। कुछ लोगो का विचार है कि सम्पत्ति की ठीक-ठीक व्यवस्था करना ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है क्योकि यही एक ऐसा विषय है जिससे सर्वदा सब क्रान्तियाँ उत्पन्न होती है। खाल्कैदौन्[2]-निवासी फालेयास् ऐसा प्रथम व्यक्ति था जिसने (नगर-कलह को रोकने के लिये) इस तथ्य को सुझाया और इसलिये उसने यह प्रस्ताव किया कि सब नागरिको की (भू-) सम्पत्ति[3] एक बराबर होनी चाहिये। उसका विचार था कि सम्पत्ति का समीकरण नवीन उपनिवेशो मे तो उनके प्रारम्भिक निर्माण के समय बिना कठिनाई के सिद्ध हो सकता है, पर भली भाँति स्थापित राष्ट्रो मे यह कार्य उतना सरल नही है। पर यहाँ भी इस वाछित लक्ष्य की सिद्धि का उपाय है, धनिको के लिये विवाहयौतुक मे भूसम्पत्ति को देना और ग्रहण न करना तथा निर्धनो के लिये विवाह मे भूसम्पत्ति को यौतुक मे ग्रहण करना और देना नही।

'नियम' नामक ग्रथ को लिखते समय प्लातोन ने यह सम्मति प्रकट की है कि (नागरिको को) कुछ सीमा तक धन-सचय करने की छूट होनी चाहिये; और जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, उसने किसी भी नागरिक को अल्पतम आर्थिक योग्यता के पाँचगुने से अधिक सम्पत्ति पर अधिकार रखने का निषेध किया है। परन्तु जो इस प्रकार के नियम बनानेवाले हैं उनको यह बात, जिसको वह प्राय भूल जाते है, कभी नही भुलानी चाहिये कि जो व्यवस्थाकार सम्पत्ति की मात्रा के विषय मे नियम निर्धारित करता है उसको परिवार मे बच्चो की सख्या को भी नियमित कर देना चाहिये; क्योकि यदि बच्चो की सख्या सम्पत्ति की पोषण-क्षमता से अधिक बढ जाय तो वह अवश्य ही नियम को शिथिल कर देगी। एव नियम के शिथिल होने के अतिरिक्त यह भी एक बुरी बात होगी कि बहुत लोग धनवान् होने के स्थान पर निर्धन हो जायँगे तथा इस प्रकार के मनुष्यो के लिये क्रान्तिकारी न बनना एक कठिन कार्य होता है। सम्पत्ति के समीकरण का सिद्धान्त नागरिक समाज के स्वरूप पर प्रभाव डालता है, यह तथ्य कुछ प्राचीन काल के व्यवस्थाकार भी स्पष्टतया जानते थे। उदाहरण के लिये सौलोन्[4] ने (अथेन्स मे) तथा (अन्य व्यवस्थाकारो ने अन्य राष्ट्रो मे) ऐसे नियम बनाये थे जिनमे व्यक्तियो के लिये मनमानी मात्रा मे भूमि पर अधिकार करने का

निषेध था। इसी प्रकार (कुछ नगरो मे) ऐसे नियम भी पाये जाते है जो सम्पत्ति के विक्रय का प्रतिरोध करते है, जैसे कि लोक्रिस्[५]-निवासियो में एक कानून यह है कि मनुष्य अपनी सम्पत्ति का विक्रय तब तक नही कर सकते जब तक स्पष्टतया यह सिद्ध न कर दे कि उनके ऊपर विपदा आ पडी है। फिर कुछ नियम ऐसे भी पाये जाते है जो आदिम भूखडो[६] (भूसम्पत्ति) के रक्षण काआदेश करते है। उदाहरण-स्वरूप ल्यूकास्[७] नामक द्वीप मे इस प्रकार के नियम के शिथिल हो जाने पर शासन-व्यवस्था अत्यधिक लोकतत्रात्मक हो गई थी, आदिम भूमिभागो का विभाजन हो जाने के परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्ति पदारूढ होने लगे जिनके पास विधिविहित आर्थिक योग्यता का अभाव था। पर (यह सब युक्तियाँ होते हुए) यह भी तो सभव है कि सम्पत्ति की समानता होने पर भी या तो प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त सम्पत्ति की मात्रा अत्यधिक हो सकती है जिससे उसका जीवन विलासितामय बन जाय, या अत्यल्प जिससे जीवन दारिद्रयपूर्ण हो जाए। अतएव यह स्पष्ट है कि व्यवस्थाकार के लिये सम्पत्ति-समीकरण के नियम की स्थापना करने का ही प्रयत्न पर्याप्त नही है, प्रत्युत उसके लिये यह भी आवश्यक है कि वह समीकरण के साथ सम्पत्ति की मात्रा को मध्य कोटि की बनाये रखने को अपना लक्ष्य बनाये। तथापि यदि इस मध्यममात्रा की व्यवस्था भी सबके लिये समान रूप से कर दी जाए तो भी कोई लाभ नही होगा। कारण यह है कि मनुष्यो की सम्पत्तियो के समीकरण की अपेक्षा उनकी इच्छाओ का समीकरण अधिक आवश्यक है, और ऐसा होना तब तक सभव नही जब तक कि नियमो के अनुसार मनुष्यो की पर्याप्त शिक्षा का प्रबन्ध न हो।[८] पर स्यात् फालेयास् इसके उत्तर मे यह कहेगा कि मेरे कथन का तात्पर्य भी तो ठीक यही था, नगरो में दोनो ही की समानता की उपलब्धि होनी चाहिये, सम्पत्ति की भी और शिक्षा की भी। यदि ऐसी बात है तो यह बतलाया जाना चाहिये कि शिक्षा का स्वरूप क्या होगा। शिक्षा तो केवल सबके लिये एक और एक-समान होने से ही वास्तविक लाभ नही हो सकता। कारण यह है कि शिक्षा के सबके लिये एक और एक समान होने की सभावना के साथ ही साथ उसका स्वरूप ऐसा होना भी तो संभव है कि वह मनुष्य को रुपये पैसे अथवा पदाधिकार अथवा दोनों का लोलुप बनने की ओर प्रवृत्त कर दे। विप्लव केवल धन-सम्पत्ति की असमानता के ही कारण उत्पन्न नही होते, सम्मान (अर्थात् पदाधिकार) की असमानता के कारण भी होते हैं। यद्यपि दोनो अवस्थाओ में ऐसा विपरीत प्रकार से होता है। बहुसख्यक साधारण जनता सम्पत्ति के असमान विभाजन के कारण (क्रान्तिकारी हो जाती है) पर शिक्षा पाये हुए व्यक्ति सम्मान (पदो) की समानता

के कारण कलह खडी करते है ।[९] (होमर की) निम्नलिखित पक्ति का भाव यही है—

"आदर मे बुरे और भले हुए सम भाग"।

केवल आवश्यकताओ के अभाव मे ही मनुष्य अपराधी (अन्यायी) नही बन जाते । (पर ऐसे अपराध भी होते है जिनकी ओर मानव की प्रवृत्ति अभाववश ही हुआ करती है) इसके लिये फालेयास् ने सम्पत्ति की समानता का उपाय नियम के रूप मे प्रस्तुत किया है, जिससे मनुष्य केवल शीत और भूख के कारण चोरी करने मे प्रवृत्त न हो । पर अपराधो का कारण केवल अभाव नही है प्रत्युत कभी कभी तो मनुष्य अपराध से होनेवाले आनन्द के कारण ही उसको किया करते है और कभी अतृप्त इच्छा से छुटकारा पाने के लिये भी । क्योकि ऐसा हो सकता है कि मनुष्य की कोई इच्छा साधारण आवश्यकताओ का अतिक्रमण करनेवाली हो तब तो उसका उपचार करने के लिये वे अपराध करेगे । पर नही (अपराध करने का) यही कारण नही है, कभी कभी वे स्वय कामना कर सकते है जिससे वे पीडा-रहित आनन्द का उपभोग कर सके ।[१०]

इन तीनो प्रकार के अपराधो का इलाज क्या है ? प्रथम का इलाज है थोडी मात्रा मे पैसा पास होना और थोडी मात्रा मे काम (परिश्रम) करना । दूसरे का इलाज है सयमशील प्रकृति । अब रहा तीसरा, सो यदि किन्ही को ऐसे सुखो की इच्छा है जो आत्मनिर्भर होते है तो उनको अपनी इच्छा की पूर्त्ति की खोज दर्शनशास्त्र को छोडकर अन्यत्र नही करनी चाहिये , क्योकि अन्य सब सुखो के लिये हमको दूसरो पर आश्रित रहना पडता है ।[११] अतएव फालेयास् ने जिन उपायो को बतलाया है उनसे भिन्न उपायो की आवश्यकता प्रतीत नही होती है क्योकि बडे से बडा अपराध अतिरिक्त इच्छाओ की पूर्त्ति (अथवा अतिरेक) के लिये होता है न कि आवश्यकता की पूर्त्ति के लिये । उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति ठढ लग जाने से बचने के लिये तानाशाह नही बन जाता । इसीलिए महान् सम्मान चोर को मारनेवाले को नही, तानाशाह को मारनेवाले को मिलता है ।[१२] इस प्रकार हम देखते है कि फालेयास् की व्यवस्था-पद्धति केवल छोटे-मोटे अपराधो के ही विरुद्ध सहायक सिद्ध हो सकती है ।

उनके विरुद्ध एक आक्षेप यह भी है कि फालेयास के यह नियम अधिकाश मे नगर-राष्ट्र के अपने आन्तरिक कल्याण की दृष्टि से नियोजित किये गये है । परन्तु निकटवर्ती पडोसी राष्ट्रो और सब बहिर्वर्त्ती जनों के साथ राष्ट्र का क्या सबध हो, इसका भी तो विचार किया जाना चाहिये । अत राष्ट्र की सघटना अवश्यमेव सैन्य-बल को दृष्टि मे रखते हुए होनी चाहिये , और इस विषय मे उसने कुछ भी नही कहा

है। ऐसी ही दशा धन-सम्पत्ति के विषय मे भी है। पर किसी भी राष्ट्र मे न केवल उसकी अपनी आन्तरिक आवश्यकताओ के उपयोग के लिये, प्रत्युत बाहर से आनेवाले भयो का सामना करने के लिये भी पर्याप्त धन होना चाहिये। अतएव धन ऐसा और इतनी अधिक मात्रा मे नही होना चाहिये कि जिससे एक ओर तो अधिक बलवान् पडोसी (राष्ट्र) उससे ललचाने लगे और दूसरी ओर उस (धन) के स्वामी आक्रमणकारियो को खदेड़ने मे समर्थ न रहे। साथ ही साथ (राष्ट्र का धन) इतना कम भी नही होना चाहिये कि जिससे वह अपने ही समान बल और लक्षण वाले अन्य राष्ट्र के साथ युद्ध चालू रखने मे समर्थ न हो।[१३] फालेयास् ने इस विषय मे कोई नियम निर्धारित नही किया है। पर हमको यह नही भुला देना चाहिये कि धन की प्रचुरता हितकर होती है। इस विषय मे श्रेष्ठ कसौटी स्यात् यह है कि किसी राष्ट्र का धन इतना अधिक नही होना चाहिये कि जिससे अधिक शक्तिशाली पडोसी राष्ट्रो को उसके धनाधिक्य के कारण उससे लडाई करना लाभदायक जान पडे, किन्तु वे उसके साथ युद्ध करने की इच्छा ऐसी परिस्थितियो मे ही करे जिनमे उसकी सम्पत्ति प्रस्तुत से कम होने पर भी युद्ध करना अनिवार्य हो।[१४] इस विषय मे एक ऐतिहासिक कथा है कि जब औतॉ-फ्रादातेस् अतार्नियस्[१५] पर घेरा डालनेवाला था तो इयुबुलस् ने (जो उस नगर का शासक था) उससे कहा कि पहले यह विचार कर देख लो कि इस गढ को हस्तगत करने मे कितना समय लगेगा, और उतने समय मे जितना व्यय होगा उसका हिसाब लगा लो। इसके पश्चात् उसने कहा कि मै स्वय तो इससे थोडा कम धन (मिल जाने पर) अतार्नियस् को छोड देने को तैयार हूँ। उसके इस कथन ने औतॉफ्रादातेस् को विचारमग्न कर दिया और वह नगरावरोध से विरत हो गया।

नगरवासियो की सम्पत्ति समान होने मे एक लाभ यह है कि ऐसा होने पर वे लोग परस्पर एक दूसरे से झगडा नही करते, पर यह कोई बडा भारी लाभ नही है। क्योकि शिक्षित (योग्य) व्यक्ति तो ऐसी व्यवस्था से रुष्ट हो जायँगे, कारण कि वे अपने को समानता की अपेक्षा अधिक पाने का पात्र मानते है। ऐसा देखा गया है कि इसी समानता के कारण वे लोग विद्रोह कर बैठते है और क्रान्ति उत्पन्न कर देते है। (ऐसा होना निश्चित सा ही है) क्योकि मानव की क्षुद्र लोलुपता तो कभी तृप्त होना जानती ही नही, एक समय था जब दो औबौल[१६] पर्याप्त वेतन (समझा जाता था,) अब जब इस वेतन की परम्परा बन गई है तो लोग और अधिक चाहने लगे है और उनकी इस चाह का कोई अन्त नही है। इच्छा का स्वभाव है कभी भी तृप्त न होना—अनन्त होना, और अधिकाश मनुष्य (इसी) इच्छा को तृप्त करने के लिये ही जीते है।[१७]

अत इस दिशा में सुधार का आरम्भ सम्पत्ति को एक समान करने की अपेक्षा उत्तम प्रकार के स्वभाववाले मनुष्यो को अधिक की कामना न करने के लिये शिक्षित करना और निकृष्ट स्वभाववालो को अधिक प्राप्त न करने देना है । अर्थात्, निकृष्ट स्वभाव वाले मनुष्यों को दमन करके रखना चाहिये परन्तु उनके साथ अनुचित (अन्यायपूर्ण) व्यवहार नही करना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त फालेयास् द्वारा प्रस्तावित सम्पत्ति का समीकरण कुछ बहुत अच्छा (पूर्ण) भी नही है । वह तो केवल भूमि (क्षेत्र) की सम्पत्ति को ही बराबर करने को कहता है , पर सम्पत्ति तो दासो, पशुओ, रुपये-पैसे और उन सब वस्तुओ की अधिकता के रूप मे भी हो सकती है जो (किसी व्यक्ति की) चल सम्पत्ति कही जाती है । अत उचित यह होगा कि या तो इन वस्तुओ का भी समान विभाजन कर दिया जाय अथवा उनकी सामान्य मर्यादा बाँध दी जाय या फिर उनको जैसा का तैसा ही रहने दिया जाय । फालेयास् द्वारा प्रस्तावित नियमो से यह भी स्पष्ट प्रकट है कि वह बहुत थोडे से नागरिको के लिये नियमो का विधान कर रहा है, क्योकि उसकी व्यवस्था के अनुसार सब शिल्पकार सार्वजनिक दास होगें और उनकी सख्या नागरिक जनो की सख्या मे नही जोडी जायगी । ऐसा हो सकता है कि दासो का एक वर्ग, जो कि सार्वजनिक सम्पत्ति पर काम मे लगा हो, सार्वजनिक दास बना रहे । यदि ऐसा हो तो यह उसी प्रकार होना चाहिये जैसा कि एपीदामनस् मे होता है अथवा उस योजना के अनुसार होना चाहिये जिसको दियौफान्तस् ने अथेन्स मे लागू करना चाहा था ।[१८]

फालेयास् के द्वारा प्रस्तावित नगर-व्यवस्था के विषय मे व्यक्त किये गये उपर्युक्त विचारो से कोई भी व्यक्ति यह निर्णय कर सकता है कि वह अपने विचारो मे ठीक था या नही ।

टिप्पणियाँ

१. प्लातोन की व्यवस्थाएँ आदर्श-नगर की स्थापना से सबध रखनेवाली थी । वैसी व्यवस्थाएँ किसी प्राचीन वास्तविक नगर, अथवा आधुनिक (अरिस्तू के समकालीन) नगर में उपलब्ध नही होती थी । अतएव अब अरिस्तू उन व्यवस्थाओ की आलोचना आरंभ करता है जो वास्तविकता से सबंध रखती है ।

२. खाल्केदॉन नगर बॉस्फोरस के एशियावाले तट पर स्थित था । फालेयास् यद्यपि कुछ समय तक प्लातोन का समकालीन था तथापि उसका जन्म प्लातोन से पहले हुआ था ।

३. सम्पत्ति के लिये मूल में दो शब्दो का प्रयोग हुआ है—(१) क्तेसिस् और (२) ऊशिया। इनमें से प्रथम का अर्थ भू-सम्पत्ति है और दूसरे का 'सर्वस्व' अथवा 'स्व'। क्तेसिस् शब्द संस्कृत के 'क्षिति' का सजातीय प्रतीत होता है।

४. सौलोन् का समय लगभग ६४० ई० पू०—५५८ ई० पू० है। इसका जन्म अथेन्स के एक सम्भ्रान्त कुल में हुआ था। यह कवि भी था और राजनीतिज्ञ भी था। अरिस्तू ने अथेन्स के संविधान में इसके सुधारो का विस्तृत वर्णन किया है।

५. लोक्रिस् प्रदेश अथेन्स के उत्तर और थेसालिया के दक्षिण में है।

६. मूल में भूखंड के लिये 'क्लेरौस' शब्द का प्रयोग किया गया है। किसी भी नगर के बसाये जाने के समय (स्वतंत्र) नागरिको को भूखंड बाँटे जाते थे। प्रत्येक का भाग 'क्लेरौस' कहलाता था।

७. ल्यूकास् नामक द्वीप अद्रियातिक सागर के दक्षिण मे अखार्नानिया के तट के पश्चिम में स्थित था। यहाँ का नियम यह था कि जिन व्यक्तियो के पास अपना पूरा पैतृक भूखंड हो वही शासन मे पदारूढ़ हो सकते थे। पर प्रजनन पर नियंत्रण न होने के कारण कालान्तर में नागरिको में इस योग्यता का अभाव हो गया। परिणाम-स्वरूप जो व्यक्ति अपने आदिम भूखड के एक अश पर अधिकार रखते थे उनको भी पदारूढ़ किया जाने लगा।

८. यह दार्शनिक की भाषा है जिसकी दूरगामिनी बुद्धि आर्थिक समानाधिकार अथवा सार्वजनिक अधिकार को सामाजिक विषमताओ का इलाज मानने को तैयार नहीं है।

९. अर्थात् बहुसंख्यक साधारण जनता आर्थिक असमानता से असन्तुष्ट रहती है और योग्य व्यक्ति योग्यता की अवहेलना करनेवाली आर्थिक समानता से। अरिस्तू का अपना सिद्धान्त है योग्यतानुसार समानता जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। योग्यता की उपेक्षा करनेवाले समाजवादी को लक्ष्य करके किसी कवि ने कहा है—

"What is a socialist ? One who has yearnings
To share equal profits from unequal earnings.
Be he idler or bungler or both, he is willing
To fork out his sixpense and pocket your shilling".

१०. तीन प्रकार के अपराधों अथवा कुकर्मों का विवरण यह है-(१) अभावों की पूर्ति के लिये किये जानेवाले अपराध; (२) दु:खदायी इच्छाओं की पूर्ति और आनन्द की प्राप्ति के लिये किये जानेवाले अपराध; और (३) पीड़ारहित सुख की प्राप्ति के लिये अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह के निमित्त किये गये अपराध। (२) में

दुःखदायी इच्छा से तात्पर्य ऐसी इच्छा से है जो पूर्ण न होने तक मानव के मन को अशान्त बनाये रखती है। (३) में पीड़ा-रहित सुख या आनन्द से तात्पर्य उस मानसिक सन्तोष से है जिसका अनुभव मनुष्य इच्छा उत्पन्न होते ही तत्काल उसको पूर्ण करके करता है।

११. अरिस्तू के मत में सर्वोच्च जीवन दार्शनिक-चिन्तन का जीवन है क्योंकि इस प्रकार में मानव-स्वभाव स्वतत्र रूप में अभिव्यक्ति लाभ करता है।

१२. इस प्रकार का सम्मान अथेंस मे हिप्पार्खस नामक तानाशाह की हत्या करनेवाले हार्मौदियस् और अरिस्तोगेइतान् नामक व्यक्तियो को मिला था। हिप्पियास और हिप्पार्खस् अथेन्स के तानाशाह पिसिस्त्रातस् के पुत्र थे। इनमें से छोटा भाई हिप्पार्खस् हार्मोदियस् से प्रेम करता था पर हार्मोदियस् ने उसके प्रेम का सम्मान नहीं किया। हिप्पार्खस् ने निराश होकर हार्मोदियस की बहिन का सार्वजनिक रूप में अपमान किया। हार्मोदियस् ने अपने मित्र अरिस्तोगेइतान् की सहायता से इस अपमान का प्रतीकार करने के लिये षड्यंत्र रचा। उन्होने पानाथेनाएया नामक उत्सव में दोनो तानाशाहो पर आक्रमण किया, पर केवल हिप्पार्खस् की हत्या हो सकी; बड़ा भाई हिप्पियास जीवित बच गया। हिप्पार्खस् को तानाशाह के अग-रक्षको ने तत्काल काट डाला और अरिस्तोगेइतान् को आगे चलकर बहुत यंत्रणाएँ दी गईं जिनके परिणामस्वरूप उसका भी प्राणान्त हो गया। कुछ समय पश्चात् हिप्पियास का भी पतन हो गया। अथेन्स के निवासियो ने इस तानाशाही का अन्त करने का प्रयत्न करनेवाले हार्मोदियस् और अरिस्तोगेइतान् की मूर्त्तियाँ स्थापित की और उनके वंशधरो को अनेक करो से मुक्त कर दिया। हिप्पार्खस् की हत्या का समय लगभग ५१४ ई० पू० है।

१३. धन की अधिकता का एक परिणाम यह भी होता है कि मनुष्य में विलासिता की और धन के मोह की वृद्धि होती है जिसके कारण वह साहसपूर्वक शत्रुओ का सामना करने में असमर्थ हो जाता है।

१४. अर्थात् युद्ध का कारण धनाधिक्य से उत्पन्न हुए प्रलोभन के अतिरिक्त कुछ और होना चाहिये।

१५. अतार्नियस् लघुएशिया के पश्चिम तट पर स्थित एक नगर था। शेष कथा स्वयं स्पष्ट है। अरिस्तू को नगर-राष्ट्रो की वैदेशिक नीति और रक्षा की बहुत चिन्ता थी। वह इस विषय को राजनीति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंगमानता था।

अतार्नियस् और औसस् नामक नगरो से अरिस्तू का अपना व्यक्तिगत संबंध भी रहा था। वह अपनी शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् ३४७ ई० पू० के पश्चात् इयुबूलस् के उत्तराधिकारी हार्मियास् के यहाँ रहा था और उसने उसकी भतीजी के साथ विवाह भी किया था। इयुबूलस् ३५० ई० पू० के आसपास अतार्नियस् का शासक था।

१६. उत्सवो के समय अथेंस में ५वीं शताब्दी ई० पू० में यह नियम था कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रेक्षाङ्गण (थियेतर) मे स्थान का किराया देने के लिये २ ओबल (अथेंस का एक सिक्का) प्रतिदिन दिये जाते थे।

१७. तुलना कीजिये "आशा तृस्न। ना मरी कह गये दास कबीर।"

१८. अरिस्तू सब शिल्पकारो को दासवर्ग में सम्मिलित करने का विरोधी था। दासों की गणना नागरिको में नहीं होती थी और उनको किसी प्रकार मताधिकार भी प्राप्त नही था।

८

हिप्पोदामस् के विचारों की आलोचना

मिलैतस्-निवासी इयुरीफौन् का पुत्र हिप्पोदामस्,[१] जिसने नगर-निर्माण-योजना का आविष्कार किया था एव पैइरियस्[२] का विन्यास किया था, एक अनोखा आदमी था। सम्मानप्रियता के कारण उसने विलक्षण जीवन पद्धति को अपनाया था, जिसके कारण कुछ लोग उसको बनावटी दिखौआ करनेवालासमझते थे। उसके केश लम्बे और लहराते हुए थे जो खूब सजे-बजे रहते थे, उसका अँगरखा खूब लम्बा और ढीला-ढाला था जो यद्यपि सस्ते गर्म वस्त्र का बना था पर बहुमूल्य सज्जा से युक्त था, जिसको गर्मी और जाडो मे वह समान रूप से धारण किये रहता था। समग्र प्रकृति के ज्ञान मे आप्त होने की आकाक्षा रखने के साथ ही साथ राजकारण का अनुभव न रखनेवाला वह ऐसा प्रथम व्यक्ति था जिसने श्रेष्ठ नगर-व्यवस्था के विषय मे भी शोध की थी।

उसने जिस नगर के निर्माण की योजना[३] प्रस्तुत की थी उसकी जनसख्या १०,००० थी जो तीन भागो मे विभक्त थी। इनमे से एक भाग शिल्पियो का, दूसरा कृषको तथा तीसरा शस्त्रधारी नगर-रक्षक योद्धाओ का था। भूमि का भी इसी प्रकार तीन भागो मे विभाजन किया गया था—एक भाग धार्मिक, दूसरा सार्वजनिक और तीसरा व्यक्तिगत। जिससे नगर-देवताओ की परम्परागत नियमित पूजा चलती रहे वह प्रथम भाग धार्मिक (भूभाग) कहलाता था, जिससे रक्षक दल का पोषण हो वह सार्वजनिक (भूभाग) था दूसरा, तथा तीसरा (भूभाग) कृषक वर्ग की व्यक्तिगत सम्पत्ति था। नियमो (कानूनो) को भी उसने केवल तीन भागो मे ही बॉटा, क्योकि उसका मत यह था कि जो विषय सब प्रकार से विवादो के मूल है उनकी सख्या तीन है—(१) उच्छृखल अथवा उद्दण्डतापूर्ण आक्रमण, (२) हानि और (३) हत्या। इसी प्रकार

उसने एक ही सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना का भी नियम बनाया, जिसके समक्ष वे सब वाद प्रस्तुत किये जाने चाहिये जिनका न्यायोचित निर्णय (छोटे न्यायालयो) मे नही हुआ प्रतीत हो ; इस न्यायालय के न्यायाधीश इसी कार्य के लिये चुने हुए वृद्ध पुरुष होने चाहिये। इसके आगे उसकी यह भी सम्मति थी कि न्यायालय के निर्णय मतदानघट मे गुटिका[४] डालने के द्वारा नही दिये जाने चाहिये प्रत्युत, इसके स्थान पर प्रत्येक न्यायाधीश के पास लिखने के लिये एक पटिया होनी चाहिये। यदि न्यायाधीश केवल दण्ड देने का निर्णय करे तो उसको पटिया पर वैसा लिख देना चाहिये, अथवा यदि वह बिलकुल मुक्त कर देने का निर्णय करे तो उसको पटिया को रिक्त छोड देना चाहिये और यदि वह मिश्रित निर्णय दे अर्थात् अशत दड दे और अशत निर्दोष ठहराये तो उसको अपने निर्णय मे इसी विभक्त विवेचन को प्रकट करना चाहिये। अपने समय के नियम (कानून) के विषय मे उसने यह आक्षेप किया कि वर्तमान नियम इसलिए ठीक नही है कि (दुबिधापूर्ण विवादो मे) यह नियम प्रत्येक न्यायाधीश को, केवल दण्ड अथवा केवल मुक्ति का निर्णय देने के द्वारा अपनी न्याय करने की शपथ को भग करने के लिये विवश करता है।[५] उसने एक यह नियम भी बनाया कि जो लोग नगर की भलाई के लिये कोई आविष्कार करे[६] तो उनको सम्मानित किया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त उसने एक सुझाव यह भी प्रस्तुत किया कि युद्ध मे वीरगति को प्राप्त हुए नागरिको के बाल-बच्चो का भरण-पोषण सार्वजनिक व्यय से होना चाहिये , मानो इस प्रकार का नियम पहले कही अन्यत्र बना ही न था। पर वास्तव मे ऐसा नियम इस समय अथेन्स और अन्य नगरो मे भी वर्तमान है। रही शासको की नियुक्ति की समस्या, सो वह सब शासको के[७] जनता के द्वारा, अर्थात् नागरिको के उपर्युक्त तीनो वर्गो के द्वारा चुने जाने के पक्ष मे था, एव चुने हुए शासको का कर्त्तव्य (उसके मत मे) नागरिक जनता के, विदेशियो के और अनाथो के मामलो की देखरेख करना था। हिप्पोदामस् द्वारा प्रस्तावित नगर व्यवस्था मे यही सबसे मुख्य और ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बाते है।

इनमे से प्रथम बात जिस पर आपत्ति की जा सकती है वह नागरिको का तीन भागो मे विभाजन है। शिल्पकारो, कृषको और योद्धाओ इन सभी को नगर के शासन-कार्य मे भाग प्राप्त है। पर कृषको के पास हथियार नही होते और शिल्पकारो के पास न भूमि होती है और न हथियार अत वे दोनो ही (शासन-कार्य मे भागीदार होते हुए भी) शस्त्रधारी योद्धाओ के प्राय दास तुल्य हो जाते है। अतएव यह तो असभव बात है कि यह दोनो वर्ग सब पदो मे भाग प्राप्त कर सके, क्योकि सेनाध्यक्ष,

नागरिको के रक्षक (पुलिस विभाग के अधिकारी) एव प्रमुख शासनाधिकारी तो अवश्यमेव शस्त्रधारी वर्ग के मध्य मे से चुने जायँगे। पर जब इन दो वर्गों के नागरिको को शासन-कार्य मे कोई भाग प्राप्त नही होगा तो वे राष्ट्रभक्त (राष्ट्रप्रेमी) नागरिक कैसे हो सकेगे ? यदि कहो कि शस्त्रधारियो के वर्ग को अन्य दो वर्गों पर आधिपत्य करना ही चाहिये तो भी ऐसा होना तब तक सरल नही होगा जब तक वे बहुसख्यक न हो। और यदि शस्त्रधारी योद्धा बहुसख्यक हो तो फिर अन्य वर्गों को शासन मे भाग क्यो मिलना चाहिये अथवा शासको को नियुक्त करने की शक्ति क्यो प्राप्त होनी चाहिये ? और फिर किसान लोग नगर के लिये किस काम आते है ? यह भी एक प्रश्न है। शिल्पकार तो अवश्यमेव होने ही चाहिये (वे सभी नगरो के लिये आवश्यक हैं) और वे लोग अपने शिल्प के सहारे अपनी जीविका चलाने की सामर्थ्य भी रखते है, जैसा कि वे अन्य नगरो मे भी करते है। (पर कृषको की स्थिति दूसरे प्रकार की है।) यदि वे शस्त्रधारी योद्धाओ के लिये वास्तव मे भोजन उपलब्ध करे (तो नगर के नागरिको के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग की आवश्यक सेवा करने के कारण) न्यायानुसार उनको भी शासन-कार्य मे भाग मिल सकता है। पर (हिप्पोदामस् की उपर्युक्त व्यवस्था में तो) किसानो का भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार होता है और वे उस पर अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए ही खेती-बाडी करते है। फिर जो कृषि-भूमि का वह भाग रहा जो सार्वजनिक सम्पत्ति है, तथा जिससे योद्धावर्ग के लोगो का भरण-पोषण होता है, वह भी एक कठिन समस्या है। यदि योद्धावर्ग के घटक स्वय इस सार्वजनिक भूमि पर खेती बाड़ी करेगे तो योद्धावर्ग और कृषक वर्ग मे कोई ऐसा भेद नही रह जायगा जैसा हिप्पोदामस को अभीष्ट था। और यदि इस सार्वजनिक भूमि पर खेती करनेवाला वर्ग, क्षेत्रपति कृषको और योद्धाओ दोनो से ही भिन्न हो तो यह एक पृथक् चौथा वर्ग होगा जिसको न तो किसी प्रकार का अधिकार-भाग प्राप्त होगा और न व्यवस्था मे ही कोई स्थान प्राप्त होगा। यदि यह मान लिया जाय कि जो कृषक-वर्ग अपने व्यक्तिगत खेतो मे खेती करता है वही सार्वजनिक भूमि पर भी खेती करे, तो ऐसी परिस्थिति मे प्रत्येक व्यक्ति के लिए दो परिवारो (अर्थात् अपने परिवार और अन्य योद्धाओ) के लिए पर्याप्त अन्न की मात्रा उत्पन्न करने मे बहुत कठिनाई होगी , और फिर ऐसी दशा मे भूमि का (व्यक्तिगत और सार्वजनिक विभागो मे) विभाजन ही क्यो हो , सीधे यही क्यो न हो कि कृषकवर्ग समग्र कृषिभूमि का उपयोग करते हुए अपने-अपने भूमिभाग मे खेती करके अपने लिये भी अन्न प्राप्त करें और योद्धावर्ग के लिए भी। (इस प्रकार हम देखते है कि) इस व्यवस्था में बहुत गडबड़ भरी हुई है।

और न (हिप्पोदामस् के) उस नियम मे कोई अच्छाई है जो न्यायाधीशो के समक्ष सीधी सुनिश्चित समस्या के प्रस्तुत किये जाने पर उसके विषय मे मिश्रित निर्णय देने का आदेश करता है; क्योकि यह न्यायाधीश को निर्णायक पच बना देनेवाला आदेश है। और पचनिर्णय तो ऐसा सभव भी है चाहे निर्णायक अनेक क्यो न हो,क्योकि वे अपने निर्णय का निश्चय करने के लिए परस्पर बातचीत कर सकते है , परन्तु न्यायालयो मे ऐसा नही हो सकता; क्योकि बहुत सी नियम-व्यवस्थाओ मे इस बात का आदेश रहता है कि न्यायाधीश परस्पर कुछ भी सलाप न कर सके । फिर जब, न्यायकर्ता यह निर्णय करेगा कि हानिपूर्ति तो की जानी चाहिये पर उतनी नही जितनी वादी मॉगता है तो भला गडबड कैसे नही होगी ? कल्पना कीजिये कि वह २० मिनाए मॉगता है तथा न्यायाधीश उसको दस दिलाने का आदेश करता है, (अथवा सामान्यतया यह मान लीजिये कि वह और अधिक माँग करता है और न्यायाधीश कम दिलाने का आदेश करता है), एक दूसरा न्यायाधीश ५ और तीसरा ४ मिनाए दिलाने का आदेश करता है । इस प्रकार स्पष्टतया वे हानिपूर्ति के खण्ड करते चले जायँगे । (इतना ही नही) कुछ ऐसे भी होगे जो पूरी क्षतिपूर्ति का आदेश करेगे और (परले सिरे पर पहुँचनेवाले) कुछ ऐसे भी निकलेगे जो कुछ भी न देने का निर्णय करेगे । तो ऐसी परिस्थिति मे विभिन्न निर्णयो के अन्तिम परिणाम का आकलन करके निर्णय-गुटिका किस प्रकार तैयार की जायगी ? तथा (यह जो आरोप है कि शुद्ध मोचन या दड का आदेश देने से न्यायाधीश अपनी शपथ को भग करने के लिए विवश हो जाता है) इस विषय मे यह द्रष्टव्य है कि यदि स्वय वह सीधे-सादे अविमिश्रित रूप मे प्रस्तुत किया जाय तो केवल मुक्ति अथवा केवल दण्ड का निर्णय न्यायाधीश को कदापि शपथ भग के लिये विवश नही करता। क्योकि, उदाहरण के लिये, २० मिनाए की क्षतिपूर्ति के बाद मे जो न्यायाधीश प्रतिवादी की मुक्ति का आदेश करता है वह यह निर्णय नही देता कि प्रतिवादी को कुछ नही देना है, प्रत्युत यह निर्णय देता है कि २० मिनाए नही देना है। शपथ-भग का अपराधी तो वह न्यायाधीश हो सकता है जो यह विश्वास करते हुए भी कि प्रतिवादी को २० मिनाए नही देना है उसको दण्ड देता है ।

जो लोग नगर-राष्ट्र के लिए किसी अच्छी उपयोगी वस्तु का आविष्कार करे उनका सम्मान किया जाना चाहिये, यह एक ऐसा प्रस्ताव है जिसको नियम बना देना सुरक्षित नही है, प्रत्युत इसकी तो ध्वनि ही आपातरमणीय है (किन्तु वास्तव मे धोखा देनेवाली है), क्योकि इससे चुगलखोरी को प्रोत्साहन मिल सकता है और स्यात् नगर मे उथल-पुथल भी मच सकती है । इस प्रस्ताव के साथ एक अन्य समस्या भी उलझी

हुई है जो अन्य तर्क की ओर सकेत करती है। कुछ विचारको के लिए यह बात सन्देह का विषय बनी हुई है कि यदि कोई अन्य अपेक्षाकृत अधिक अच्छा नियम बनाना सभव हो तो भी क्या किसी राष्ट्र के परम्परागत नियमो मे परिवर्तन करना हानिकर होता है या लाभदायक।[१०] यदि हम यह माने कि परिवर्तन लाभदायक नही होते तो हम हिप्पोदामस् के इस प्रस्ताव को सरलता से स्वीकार नही कर सकते, क्योकि ऐसा होना सभव है कि कोई व्यक्ति सार्वजनिक हित के नाम पर ऐसे प्रस्ताव रखे जो वास्तव मे नगर के नियमो या व्यवस्था के लिए विनाशकारी हो। क्योकि हमने अब इस विषय को छेड दिया है अत यदि हम इसका कुछ और विवरण प्रस्तुत करे तो स्यात् अधिक अच्छा होगा। जैसा कि हम कह चुके है, यह विषय कठिन (दुबिधापूर्ण) है, और परिवर्तन करना अधिक अच्छा है इस मत के समर्थन मे भी कुछ कहा जा सकता है। अन्य विद्याओ के क्षेत्र मे परिवर्तन निश्चयमेव लाभदायक सिद्ध हुए है, उदाहरणार्थ आयुर्वेद और व्यायाम-कला एव सक्षेप मे सभी मानवीय कलाओ और कौशलो की परम्परागत विधि मे परिवर्तन हो गये है, और क्योकि नगर-व्यवस्था (अथवा राष्ट्रनीति) की भी गणना कला और कौशल के प्रकारो मे होनी है अत यह स्पष्ट है कि इसके क्षेत्र मे भी उपर्युक्त सिद्धान्त सत्य होना चाहिये। यह कहा जा सकता है कि परिवर्तन से कुछ हो सकता है, इसके चिह्न ऐतिहासिक तथ्यो से मिलते है। प्राचीन काल के रीति-रिवाज नितान्त सरल और बर्बरतायुक्त थे। पुरातन हैलैनेस् (ग्रीक) लोग लोहे के शस्त्र लिये हुए घूमा करते थे एव परस्पर एक दूसरे से वधुओ को खरीदा करते थे। सच तो यह है कि पुराने नियमो के जो अवशेष आजकल कही कही मिलते है बिलकुल व्यर्थ है, उदाहरण के लिये क्यूमे[११] मे हत्या के सबध मे यह नियम है कि यदि वादी (आरोप लगानेवाला) अपने ही परिवार के लोगो मे से पर्याप्त सख्या में साक्षी प्रस्तुत कर सके तो आरोप्य (अपराधी) दोषी ठहराया जाय। फिर सामान्यतया सभी भलाई की खोज किया करते है न कि परम्परागत पद्धतियो की, एव आदिम पुरुष, चाहे तो वे पृथ्वी से उत्पन्न हुए हो और चाहे किसी प्रलय से बचे हुए हो, (हम आजकल के लोगो) मे से नितान्त साधारण मनुष्यो अथवा मूर्खो के समान थे (जैसा कि भूमिजात मनुष्यो के विषय मे परम्परागत कहानी मे कहा भी जाता है।) अतएव इन आदिम मनुष्यो के विचारो पर ही जमा रहना मूर्खता की बात होगी। यदि (यह पुराने नियम) लिखित भी हो तो भी उनको अपरिवर्तित रहने देना अच्छा नही। क्योकि, जैसा कि सामान्यतया अन्य कलाओ मे होता है, वैसे ही राजनीतिक सघटनो के विषय मे भी यह तो असभव है कि हर एक बात को बावन तोले पाव रत्ती ठीक ठीक लेखबद्ध किया

जा सके , नियमो को अनिवार्यतया सार्विक रूप मे अभिव्यक्त करना चाहिये पर व्यवहार का सबध व्यक्ति से होता है । (अतएव व्यक्तियो के व्यवहार के अनुभव के अनुसार आरभिक नियमो मे परिवर्तन करते हुए उनको अधिकाधिक यथार्थ रूप देना उचित ही है ।) इससे हम स्पष्ट ही यह निष्कर्ष निकालते है कि कभी-कभी और किसी-किसी प्रसग मे नियमोमे परिवर्तन होना चाहिये। परन्तु जब हम इस विषय पर एक दूसरे दृष्टिकोण से विचार करते है तो परिवर्तन के लिए बहुत अधिक सावधानी आवश्यक प्रतीत होती है । जब कभी थोडा सा लाभ हो तभी नियमो को बदल देने की आदत बुरी बात है, अत नियम-निर्माताओ और शासको की कुछ (साधारण सी) त्रुटियो से स्पष्ट ही छेडछाड नही करनी चाहिये । (ऐसी परिस्थिति मे नागरिको को) परिवर्तन से उतना लाभ नही होता जितनी हानि आज्ञा-पालन न करने की आदत पड जाने से होती है । (अन्य) कलाओ के साथ तुलना भी झूठी ही है, कला की पद्धति मे परिवर्तन और नियम मे परिवर्तन यह दोनो एक समान नही है । क्योकि नियम (कानून) के पास आदत की शक्ति के अतिरिक्त अपने को पालन कराने की अन्य कोई शक्ति नही होती और यह (आदत) बहुत अधिक समय के बिना उत्पन्न नही होती, अतएव पुराने समय से चले आते हुए नियमो को नये नियमो मे परिवर्तित कर देने की तत्परता नियमो की शक्ति को क्षीण कर देती है । और फिर, यदि यह भी मान लिया जाय कि नियम-बदल दिये जाने चाहिये तो यह प्रश्न उठता है कि क्या वे सब के सब,और सब नगर-व्यवस्थाओ मे बदले जाने चाहिये अथवा नही ? और क्या वे किसी भी ऐरे-गैरे व्यक्ति के द्वारा बदले जाने चाहिये अथवा विशिष्ट व्यक्तियो द्वारा ? इन विकल्पो मे से किसी को भी स्वीकार करने से महत्त्वपूर्ण अन्तर पड सकता है । अतएव इस समय इस विषय का विवेचन स्थगित कर देना उचित है, इसका अवसर फिर आयगा ।

टिप्पणियाँ

१. हिप्पोदामस् के पिता का नाम कई प्रकार से लिखा मिलता है। मिलैतस नगर का निर्माण पाँचवी शताब्दी ई० पू० के प्रथमार्द्ध में बड़े सुन्दर ढंग से भूमितिशास्त्र के अनुसार किया गया था। अतएव हिप्पोदामस् ने नगर-निर्माण-कला का अध्ययन अपने जन्मस्थान में ही किया होगा। संभव है, अथेंस में आकर उसने इस विषय पर कोई पुस्तक भी लिखी हो।

२,' पेइरियस् अथेन्स का बन्दरगाह था और व्यापार का केन्द्र था। यह अथेन्स नगर से दक्षिण पश्चिम में पाँच मील की दूरी पर था। नगर से इसको सम्बद्ध करने के

लिये लम्बी दीवारें बनाई गई थीं जो लगभग ४ मील लम्बी १२ फ़ीट मोटी थीं। पेइ-रियस् में बहुत से विदेशी व्यापारी भी निवास करते थे।

३. हिप्पोदामस् की योजना सैद्धान्तिक (थियोरेटिकल्) थी। वह कभी व्यवहार में नहीं आई।

४. गुटिका के लिये मूल में "प्सेफॉस" शब्द आया है जिसका अर्थ है नदियो के तल में पाई जानेवाली छोटी पत्थर की गुटिका। अथेंस में इस प्रकार की गुटिकाएँ मतदान में प्रयुक्त होती थीं। न्यायाधीश अपनी गुटिका को मतदान के पात्र में डाल देते थे। इस पात्र को "ह्युद्रिया" कहते थे। हिप्पोदामस् इस पद्धति में परिवर्तन करना चाहता था। उसने गुटिका के स्थान पर छोटी पट्टिका के उपयोग का सुझाव दिया है, इसके लिये ग्रीक भाषा में "पिनाकियन्" शब्द है।

५. न्यायाधीशों की शपथ शुद्ध-न्याय करने की होती थी पर वे या तो अपराधी को मक्त करने का निर्णय दे सकते थे अथवा दण्ड देने का। अतएव जिन अवसरो पर इस प्रकार का निर्णय संभव नहीं होता था उन अवसरों पर एक प्रकार से उनकी शपथ भंग हो जाती थी।

६. आविष्कार का अर्थ यहाँ किसी अधिकारी के प्रच्छन्न अपराध को, जैसे कि सार्व-जनिक सम्पत्ति को हड़प जाना इत्यादि को, प्रकट कर देना है। इस प्रकार की घटनाएँ अथेंस के इतिहास में अनेकों मिलती हैं।

७. शासक अथवा शासनाधिकारी के लिये ग्रीक भाषा में "आर्खान्" शब्द आया है। इसका अनुवाद अंग्रेज़ी में रूलर अथवा मजिस्ट्रेट शब्द से किया गया। इसका शाब्दिक अर्थ तो प्रथम अथवा मुख्य है। इसी के आधार पर दूसरा शब्द "आर्खेमैनोइ" बनता है जिसका अर्थ है शासित प्रजाजन।

८. अरिस्तू की धारणा ऐसे न्यायालय से संबंध रखती है जिसमें बहुत से न्याया-धीश है। वे सब पृथक्-पृथक् मत देते है, उनको परस्पर वार्तालाप करने की आज्ञा नहीं है। ऐसी परिस्थिति में मिश्रित निर्णय संभव ही नहीं है, क्योंकि मिश्रित निर्णय के लिये यह आवश्यक है कि न्यायाधीश लोग परस्पर विचार-विनिमय करके एक निर्णय पर पहुँचें।

९. मिना (ए० व०), मिनाए (ब० व०) अथवा म्ना और म्नाए एक ग्रीक सिक्के का नाम है। प्राचीन यूनानी सिक्कों का विवरण इस प्रकार है--

६ ओबौल्=१ द्राख्मा (द्रम्म)। १०० द्राख्मा=१ म्ना। ६० म्ना (मिनाए) =तलान्त।

१०. "कल और आज" एव "आज और कल" की यह चिरन्तन कलह, पुराने और नये का यह नित्य-नूतन विवाद अरिस्तू की लेखनी से भी अनिर्णीत ही रह गया। कालिदास ने भी अपनी अमर कविता में भी यही कहा कि---

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्त. परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥
(मालविकाग्निमित्र, प्रस्तावना)

और अंग्रेज कवि टेनीसन ने अपनी 'पॉलिटिक्स' नामक छोटी सी कविता में कहा है

For some cry "Quick" and some cry "Slow"
But, while the hills remain,
Up hill 'Too-slow' will need the whip
Down-hill "Too-quick" the "chain."

ऐसी परिस्थिति में अरिस्तू ने विवाद के दोनों पक्षो के विषय में अपने विचार प्रकट करके इस विषय को अनिर्णीत छोड़ दिया, तो यह ठीक ही किया। पर आगे चलकर हम देखेंगे कि उसके हृदय में अतीत के प्रति अगाध श्रद्धा थी।

११. क्यूमे नाम के दो नगर थे। पुरातन नगर लघु एशिया में था तथा दूसरा नगर इटली कॉम्पान्या प्रदेश में था। यह दूसरा नगर यूनानी सभ्यता का पश्चिमी छोर कहा जा सकता है। वास्तव मे यह पुरातन क्यूमे का ही एक उपनिवेश था। पर यह स्पष्ट प्रतीत नही होता कि अरिस्तू का सकेत किस क्यूमे की ओर है। और फिर क्यूमे के जिस नियम का उल्लेख यहाँ किया गया है वह निरा निरर्थक नहीं था। इस प्रकार का नियम अन्य देशो में भी पाया जाता था।

९

लाकैदायमौन् की व्यवस्था की आलोचना

लाकैदायमौन् की[1] विधान-व्यवस्था मे और क्रेते[2] की विधान-व्यवस्था मे एव लगभग अन्य सभी व्यवस्थाओ मे पहले दो बाते देखने की है---एक तो यह कि अमुक नियम आदर्श-व्यवस्था की तुलना मे अच्छा है अथवा नही, दूसरी यह कि वह आदर्श विचार और जीवन-पद्धति से मेल खाता है या नही जिसको व्यवस्थाकार ने अपने नागरिको के समक्ष प्रस्तुत किया है। सामान्यतया यह तो सर्वसम्मत बात है कि किसी भी सुव्यवस्थित नगर राष्ट्र मे नागरिको को अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओ को

जुटाने से अवकाश मिलना चाहिये, पर यह अवकाश किस प्रकार (किस उपाय) से प्राप्त किया जाय, यह देख पाना सरल काम नही है। थैसाली[3] की निर्धन दास-जनता बहुधा अपने स्वामियो के विरुद्ध विद्रोह खडा कर चुकी है, और इसी प्रकार लाकैदायमौन् (स्पार्टा) के हैलात् नामक दास अपने स्वामियो के विरुद्ध विद्रोह करते रहे है, इन स्वामियो पर पडनेवाली विपत्तियो (दुर्भाग्यो) की यह दास लोग सर्वदा प्रतीक्षा किया करते है। किन्तु क्रैते के नागरिको के प्रति इस प्रकार की कोई घटना आजतक नही घटी है। सभवतया इसका कारण यह है कि इस द्वीप के पडोस के नगरो ने परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध करते हुए भी (शत्रुओ के) विद्रोही दासो से मेल नही किया, क्योकि उनके यहाँ भी इस प्रकार की पराधीन जनता थी अतएव इस प्रकार का विद्रोह भडकाना स्वय उनके लिये हितकर नही था। इसके विपरीत लाकैदायमौन् (स्पार्टा) के सभी पडोसी राष्ट्र—आर्गास मैसेनिया और आर्कादिया—उसके शत्रु थे और (इन्ही शत्रुओ के द्वारा भडकाया जाना) स्पार्टा मे प्राय होनेवाले दास-विद्रोहो का कारण था। और फिर थैस्सालिया मे भी तो आदिम दास-विद्रोह इसी कारण घटित हुआ कि थैस्सालिया-निवासी निरन्तर अपने पडोसी अखैया[4], पैरहायबिया और मग्नी-सिया-निवासियो से युद्ध कर रहे थे। ऐसा लगता है कि चाहे और कोई कठिनाई न भी हो तो भी दासो का प्रबध स्वय एक कष्टकर कार्य है। उनके साथ किस प्रकार का बर्ताव किया जाय यह निश्चय करना सरल नही है। यदि उनकी लगाम ढीली कर दी जाय तो वे ढीठ हो जाते है और अपने को स्वामियो के समान अच्छा (योग्य) समझने लगते है, और यदि उनके साथ कठोरता से बरता जाय तो वे स्वामियो से घृणा करके उनके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगते है। अत यह स्पष्ट है कि यह (अर्थात् घृणा और षड्यन्त्र) परिणाम हो तो नागरिको द्वारा (अवकाश प्राप्त करने के लिये) दासो[6] के प्रति व्यवहार करने की श्रेष्ठ पद्धति (अथवा सघटन) आविष्कृत नही हुई।

फिर लाकैदायमौन् की स्त्रियो[7] की स्वच्छन्दता वहाँ के विधान के उद्देश्य के लिये हानिकर और राष्ट्र की सुख-समृद्धि के प्रतिकूल है। क्योकि पति और पत्नी मे से प्रत्येक गृहस्थी का एक सारवान् भाग है अतएव राष्ट्र को स्पष्ट ही स्त्री और पुरुषो मे लगभग आधा आधा बराबर बँटा हुआ समझना चाहिये। इसलिए जिस राष्ट्र मे स्त्रियो की दशा सुव्यवस्थित नही है वहाँ आधा नगर नियमशून्य समझा जाना चाहिये। लाकैदायमौन् मे ठीक यही दशा घटित हुई है; नियम-निर्माता सारे नगर को कष्ट-सहिष्णु और सयमी बनाना चाहता था, पुरुषो के पक्ष मे स्पष्ट ही ऐसा हो सका, परन्तु स्त्रियो की ओर से वह असावधान रहा जो कि सब प्रकार की असयतता और

विलासिता का जीवन बिताती है। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि ऐसे नगरों मे धन की अत्यधिक पूजा होती है, विशेषकर यदि सैनिक और युद्धजीवी जातियो के समान नागरिक लोग अपनी नकेल नारियो को सौप देते है। इस विषय मे कैल्ट[८] जाति के लोग अपवाद-स्वरूप है, और ऐमी अन्य कतिपय जातियो के विषय मे (जिनमे पुरुषो के परस्पर रत्यात्मक प्रेम को प्रकट रूप मे सम्मानास्पद माना जाता है) भी यही कहा जा सकता है। पुरातन पौराणिक कथाकार ने जो युद्ध के देवता अरैस और अफ्रौदिते[९] का सम्मेलन कराया तो उसने इसमे कुछ अनुचित नही किया, क्योकि सभी युद्ध-प्रिय जातियाँ या तो पुरुषो या स्त्रियो के प्रेम की ओर झुकी हुई प्रतीत होती है। दूसरे विकल्प की सच्चाई का उदाहरण स्वय लाकैदायमौन् मे ही उसकी महत्ता के दिनो मे प्रस्तुत हुआ था, उस समय बहुत सी बातो का प्रबन्ध उनकी स्त्रियो के हाथ मे चला गया था। परन्तु शासको पर स्त्रियो द्वारा शासन किया जाय अथवा स्त्रियाँ स्वयमेव शासन करे, इन दोनो अवस्थाओ मे अन्तर ही क्या है? परिणाम दोनो अवस्थाओ मे एक ही होता है। उदाहरणार्थ, अतिसाहसिकता के सबध मे भी (जो कि नित्यप्रति के व्यवहार मे उपयोगी नही होती, केवल युद्ध मे ही आवश्यक होती है) स्पार्टा की नारियो का प्रभाव अत्यधिक हानिकारक रहा है। थेबै[१०] के आक्रमण के समय उन्होने यह स्पष्ट प्रकट कर दिया, अन्य नगरो की नारियो के विपरीत वे तनिक भी उपयोगी सिद्ध नही हुई, प्रत्युत उन्होने शत्रुओ से भी अधिक गडबडी उत्पन्न कर दी। यह सच है कि लाकैदायमौन् की नारियो द्वारा उपभुक्त स्वच्छन्दता आरभ मे जिस प्रकार से उत्पन्न हुई उसको सरलता से समझा जा सकता है, उन परिस्थितियो मे जैसा होना उचित था वैसा ही हुआ। क्योकि, पुरुष तो प्रथम आर्गास् के निवासियो से और तत्पश्चात् आर्कादिया और मैसैनिया के निवासियो से युद्ध करते हुए सुदीर्घ काल तक घरो से दूर पडे रहे। सैनिक जीवन यापन करने के कारण (जिससे अनेको सद्गुणो का विकास होता है) युद्ध से अवकाश पाने पर उन्होने अपनी अनुशासन-परायण तैयारी से अपने आपको व्यवस्थाकार के हाथो मे उसके नियमो को ग्रहण करने के लिये सौंप दिया। (पर स्त्रियाँ अपने गृहो मे मनमाना जीवन व्यतीत कर रही थी) अतएव, जब परम्परागत कथा के अनुसार व्यवस्थाकार लीकूर्गास्[११] ने उनको भी अपने नियमो के घेरे मे लेना चाहा तो उन्होने बाधा उपस्थित की और उसको यह प्रयत्न त्याग देना पडा। तो जो कुछ हुआ उसके कारण यही है, तथा स्पष्ट ही विधान की त्रुटियाँ भी इन्ही कारणो से उत्पन्न हुई है। परन्तु हम इस बात का विचार नही कर रहे है कि क्या क्षन्तव्य है और क्या नही है, प्रत्युत यह विवेचन कर रहे है कि क्या ठीक

(न्याय्य) है और क्या नही। यह स्त्रियो की स्थिति से सबद्ध व्यवस्था की त्रुटि, जैसा कि हम पहले कह चुके है, न केवल विधान मे स्वरूपत समरसता के कुछ अभाव को (अथवा विसवादिता) को उत्पन्न करनेवाली है, प्रत्युत उसको धनलोलुपता की ओर भी प्रवृत्त करनेवाली है।

अतएव यह जो लोलुपता का उल्लेख किया गया है स्वभावत ही यह अपने पश्चात् स्पार्टा मे सम्पत्ति की असमानता की आलोचना की ओर प्रवृत्त करता है। जब कि स्पार्टा के कुछ मनुष्यो के हाथो मे बहुत अधिक सम्पत्ति आ गई है, दूसरो के पास बहुत थोडी रह गई है, अत भूमि अधिकाश मे बहुत थोडे से लोगो के पास पहुँच गई है। लाकैदायमौन् की विधान-व्यवस्था द्वारा इस विषय का निर्णय ठीक प्रकार नही किया गया। क्योकि यद्यपि नियम-निर्माता ने पैतृक सम्पत्ति के क्रय-विक्रय को अशोभन ठहरा कर ठीक ही किया है, तथापि जो कोई सम्पत्ति को दान देना चाहे अथवा उत्तराधिकार मे छोड देना चाहे उसको नियम-निर्माता ने ऐसा करने का अधिकार दिया है। परन्तु इन दोनो व्यापारो (क्रय-विक्रय अथवा दान या उत्तराधिकार मे देने) का परिणाम तो अनिवार्यरूपेण एक ही निकलता है।[१३] वास्तविक स्थिति यह है कि समग्र देश के पाँच भागो मे से दो भाग स्त्रियो के अधिकार मे (पहुँच गये) है। यह सब बहुत सी उत्तराधिकारिणी कन्याओ तथा बडे बडे यौतुको (दहेजो) के कारण घटित हुआ है (जिनका प्रचलन स्पार्टा मे बहुत है)। अधिक अच्छा तो यह होता कि दहेज बिलकुल न दिया जाता अथवा यदि कुछ देना आवश्यक ही होता तो उसकी मात्रा को बहुत थोडा सा मर्यादित कर दिया जाता। इस समय जैसा नियम है उसके अनुसार कोई व्यक्ति अपनी उत्तराधिकारिणी कन्या को चाहे जिस किसी (धनी अथवा निर्धन व्यक्ति) को प्रदान कर सकता है, परन्तु यदि वह अपनी कन्या को प्रदान करने के पूर्व ही, उत्तराधिकार की व्यवस्था किये बिना ही मर जाता है तो उस कन्या को अपने इच्छानुसार प्रदान करने का अधिकार उस व्यक्ति को प्राप्त होता है जो उसके सरक्षक के स्थान मे रह जाता है।[१४] इस सब का परिणाम यह हुआ कि यद्यपि देश निश्चयमेव १५०० घुडसवारो और ३०००० भारी अस्त्रशस्त्रधारी पैदल सिपाहियो का भरण-पोषण करने की सामर्थ्य रखता है, तथापि नागरिको की सख्या (ल्युक्त्रा के) युद्ध के समय घटते घटते १००० भी नही रह गई।[१५] इन सब तथ्यो (के साक्ष्य) से यह स्वत स्पष्ट है कि उनकी धन-सम्पत्ति की व्यवस्था दूषित है। नगर एक पराजय की भी चोट को सहन नही कर सका, पुरुषो की कमी से ही उनका विनाश हो गया। कहते है कि लाकैदायमौन् के प्राचीन राजाओ के समय मे वे (विदेशियो को) नागरिकता के

अधिकार दे दिया करते थे, इसके परिणाम-स्वरूप सुदीर्घकाल तक युद्ध करते रहने पर भी उन्होने जनसख्या के ह्रास का अनुभव नही किया, तथा कहा जाता है कि एक समय तो स्पार्टा मे १०००० नागरिक विद्यमान थे। भले ही यह कथन सत्य हो अथवा न हो तथापि सम्पत्ति के समान वितरण के द्वारा तो नागरिक (अपनी = सैनिक) जनसख्या को पूर्ण बनाये रखना स्पार्टा के लिये अधिक अच्छा होता। तथापि अधिक शिशुओ के प्रजनन को प्रोत्साहन देनेवाला नियम भी इस सम्पत्ति की असमानता मे सुधार करने के प्रतिकूल है, क्योकि व्यवस्थाकार ने, यह इच्छा करते हुए कि स्पार्टा-निवासियो की सख्या बहुत अधिक बढ जाए, नागरिको को अधिक लडके पैदा करने के लिये प्रेरित किया। इसलिए वहाँ ऐसा नियम है कि तीन पुत्र उत्पन्न करनेवाले को सैनिक-सेवा से मुक्त कर दिया जायगा और चार पुत्रो वाले को सब सार्वजनिक (कर-) भारो से छुटकारा मिल जायगा। तो भी यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि यदि बच्चो की सख्या बढ गई और भूमि तदनुसार बहुत से भागो मे बँटती गई तो निश्चय ही बहुत से व्यक्ति अनिवार्यतया निर्धनता को प्राप्त हो जायँगे।

इसके अतिरिक्त लाकैदायमौन की सरपच-प्रथा (एफोरैइया[16]) मे भी खोट है। इस शासक-समिति को सर्वोच्च मामलो मे प्रभुत्व प्राप्त है, परन्तु इन सब सरपचो का चुनाव सर्वसाधारण मे से होता है। इसलिए बहुधा ऐसा होता है कि अत्यन्त निर्धन व्यक्ति भी, जो दारिद्रय के कारण घूसखोरी के शिकार हो सकते है, इस पद पर पहुँच जाते है। प्राचीन काल मे भी (स्पार्टा मे) इस बुराई के उदाहरण अनेक बार घटित हो चुके है और अभी हाल मे आन्द्रॉस्[17] के मामले मे भी ऐसा ही हुआ है। इस मामले मे भी कुछ सरपचो ने, जो कि चाँदी के द्वारा दूषित हो चुके थे (अर्थात् घूस खा चुके थे), समग्र राष्ट्र को नष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया। और उन (सरपचो) की शक्ति इतनी महान् और तानाशाही के तुल्य है कि राजाओ तक को उनको मनाने के लिये विवश होना पडा है, परिणाम यह हुआ है कि इस प्रकार राजपद के साथ ही साथ समग्र राष्ट्रव्यवस्था भी भ्रष्ट हो गई है एव श्रेष्ठ जनतत्र होने के स्थान पर वह केवल जनसाधारणतत्र रह गई है। पर यह अवश्य मानना पडता है कि यह सरपचप्रथा राष्ट्रव्यवस्था को एकता मे आबद्ध रखनेवाली शक्ति है, क्योकि सर्वोच्च शासना-धिकार मे भाग प्राप्त होने के कारण जनता शान्त और सतुष्ट रहती है। चाहे नियमव्यवस्था के कारण कहिये, चाहे दैवयोग से कहिये यह परिणाम हितकर ही रहा है, क्योकि किसी भी व्यवस्था के चिरकाल तक सुरक्षित टिके रहने के लिये राष्ट्र के सब अगो की यह कामना होनी चाहिये कि वह बनी रहे और इसी प्रकार चालू

रहे । स्पार्टा मे राष्ट्र के सब अगो की कामना इसी प्रकार की है , (दोनो) राजा अपने व्यक्तित्व के समुचित सम्मान के कारण व्यवस्था के स्थायित्व की कामना करते है, अभिजात जन कुलीनो की परिषद् के कारण ऐसी कामना करते है, क्योकि इस परिषद् मे स्थान प्राप्त करना सद्गुणो का पुरस्कार समझा जाता है, रहे साधारण जन वे सरपच-मण्डल के कारण सन्तुष्ट रहते है, वे इसलिये व्यवस्था की स्थिरता चाहते है कि सरपच-पद के लिये तो वे सब ही समान रूपेण चुने जा सकते है । पर सब जनता मे से सरपचो का चुना जाना बिलकुल ठीक है, किंतु यह चुनाव जिस ढग से आजकल होता है उस ढग से नही होना चाहिये, क्योकि यह ढग बिल्कुल बच्चो का सा है ।[१८] यद्यपि यह (सरपच) लोग अत्यन्त साधारण स्थिति के व्यक्ति होते है तथापि बडे बडे मामलो का निर्णय करना उनकी शक्ति मे होता है, अतएव उनका अपनी ही समझ के अनुसार निर्णय करना ठीक नही, प्रत्युत उनको लिखित नियमो और कानूनो के अनुसार निर्णय करना चाहिये । इन सरपचो की जीवन-पद्धति भी राष्ट्र-व्यवस्था की भावना के अनुकूल नही होती, उनके जीवन मे अतिशय उच्छृखलता रहती है, इसके विपरीत अन्य लोगो के जीवन मे कठोरता की ऐसी पराकाष्ठा होती है कि वे उसकी भीषणता को सह नही पाते और छिपकर नियमो का उल्लघन करते हुए इन्द्रियसुखो का उपभोग करते है ।[१९]

फिर कुलीनो (अथवा स्थविरो) की परिषद् भी पूर्णतया अच्छी नही है, उसमे भी दोष है । यदि परिषद् के सदस्य ईमानदार होते एव पौरुषपूर्ण गुणो मे भले प्रकार शिक्षित होते तो परिषद का राष्ट्र के लिये हितकर होना युक्तिसगत होता । परन्तु तो भी महत्त्वपूर्ण विषयो के निर्णायको का (आजकल के समान) आजीवन पदारूढ बना रहना सन्देहास्पद ही होता, क्योकि जिस प्रकार शरीर वृद्ध होता है उसी प्रकार मस्तिष्क भी वृद्ध हुआ करता है । और जब शिक्षा देने की पद्धति ऐसी हो कि जिसके कारण व्यवस्थाकार भी स्वय मनुष्यो पर यह विश्वास न कर सके कि वे भले अथवा स्थिर बुद्धिवाले होगे तब तो परिषद् वास्तव मे भय का स्थान है । बहुत से कुलीन पारिषदो के विषय मे यह सुविदित है कि वे सार्वजनिक मामलो मे घूसखोरी और पक्षपात से प्रभावित हुए थे । इसलिये उनको अपने आचरण के पर्यवेक्षण से इस प्रकार मुक्त नही होना चाहिये जिस प्रकार वे आजकल है । यह ठीक है कि ऐसा प्रतीत होता है कि सरपचो को सब शासको के आचरण के पर्यवेक्षण का अधिकार प्राप्त है, पर यह तो उनको एक महान् वरदान प्राप्त है, पर हमारा कहना तो यह है कि पारिषदो के आचरण के पर्यवेक्षण का यह ढग ठीक नही है (यह ढग कुछ और होना

चाहिये)। इसके अतिरिक्त स्पार्टा मे कुलीनो को जिस पद्धति से चुना जाता है वह भी दोषपूर्ण है। अन्तिम चुनाव एक विशेष प्रकार की 'पुकार' द्वारा होता है जो बच्चो का ढग है, और यह भी अनुचित है कि चुने जाने के योग्य होने के लिये किसी व्यक्ति को चुनाव के लिये खडा होना चाहिये। (होना तो यह चाहिये कि जो व्यक्ति इस पद के योग्य हो वह नियुक्त किया जाय, चाहे उसकी इच्छा हो या न हो।[२०] ऐसी शर्त निर्धारित करके, नियम-निर्माता उसी भावना के अनुसार काम कर रहा है जो उसकी व्यवस्था मे सर्वत्र दिखलाई देती है। (इस शर्त को लगाने मे) उसकी इच्छा यह है कि नागरिक सम्मान-प्रेमी बने, एव कुलीनो के चुनाव मे उसने इसी गुण का भरोसा किया है, क्योकि सम्मानाकाक्षी बने बिना कोई भी चुनाव के लिये प्रार्थी नही होगा। तथापि सम्मानाकाक्षा और लालच ही वास्तव मे वे प्रेरक मनोभाव है जो कि मनुष्यो को लगभग सभी जान-बूझकर किये जानेवाले अपराधो की ओर प्रेरित किया करते है।

राजाओ[२१] के विषय का विवेचन, तथा इस प्रश्न का विचार कि राजाओ का होना किसी राष्ट्र के लिये हितकर है या नही, आगे चलकर किया जायगा। परन्तु यह फिर भी अच्छा होगा कि उनका चुनाव इस प्रकार न हो जैसा आजकल होता है, प्रत्युत उनके व्यक्तिगत जीवन और चारित्र्य के आधार पर हो। व्यवस्थाकार स्वय स्पष्टतया यह नही मानता था कि विद्यमान पद्धति के अनुसार वह उनको सुन्दर और भला बनाने की सामर्थ्य रखता है। कम से कम उनमे पर्याप्तरूपेण मानवीय भद्रता के होने के विषय मे उसको बहुत कुछ सन्देह है। यह सन्देह इस बात से प्रकट होता है कि स्पार्टा-निवासियो मे दूतमडली भेजते समय राजाओ के साथ उनके विरोधियो को भी सम्मिलित कर देने की रीति प्रचलित थी, और राजाओ की पारस्परिक कलह राष्ट्र की रक्षा करने वाली मानी जाती थी।

फिर स्पार्टा के सहभोजो की (जो कि 'फिदितिया' कहलाते है) भी उनके आरभ करने के समय कोई अच्छी व्यवस्था नही की गई। यह सार्वजनिक सामूहिक भोज सार्वजनिक धन के व्यय से होना चाहिये जैसा कि क्रेते मे होता है, पर लाकैदायमौन मे यह नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना व्ययाश देना पडता है, यद्यपि उनके मध्य म कुछ व्यक्ति अत्यन्त निर्धन है और इस व्ययाश को देने की सामर्थ्य नही रखते, जिससे स्वाभाविक परिणाम व्यवस्थाकार के आशय के प्रतिकूल हो जाता है। इन भोजो का सार्वजनिक होना अभीष्ट था परन्तु वर्त्तमान व्यवस्था के कारण वे अल्पतम

मात्रा मे सार्वजनिक (जनतत्रात्मक) रह गये है। नितान्त निर्धन लोग उनमे सरलता से भाग नही ले सकते, तथा वहाँ के विधान की पुरातन रीति के अनुसार जो इन भोजो मे व्ययाश नही दे सकते वे अपने नागरिक अधिकार भी नही रख सकते।

कुछ अन्य लेखको ने लाकैदायमौन के नौसेनाध्यक्ष के पद से सबध रखनेवाले नियम की भी प्राय निन्दा की है और ठीक ही की है। यह नियम झगडे की जड है, क्योकि राजा का पद स्वय शाश्वत सेनाध्यक्षो का पद है और यह नौसेनाध्यक्ष का पद तो मानो (राजा के मुकाबिले मे) दूसरा राजपद स्थापित करने के बराबर है।

इसी प्रकार व्यवस्थाकार के आशय के विरुद्ध जो दोषारोपण प्लातोन ने अपने 'नियम' नामक ग्रथ मे किया है वह भी उचित ही ठहरता है। समग्र व्यवस्था का लक्ष्य सद्गुण अथवा सद्वृत्ति के एक खण्डमात्र—योद्धा के सद्गुण—का पोषण करना है, अर्थात् उस खड का पोषण करना जो युद्ध मे विजय प्राप्त करने अथवा शक्ति प्राप्त करने के लिये उपयोगी है। इसका जो अवश्यभावी परिणाम होना था वह हुआ। जब तक वे युद्ध करते रहे, उनकी शक्ति सुरक्षित रही परन्तु साम्राज्यप्राप्ति के पश्चात् उनकी शक्ति का क्षय हो गया, क्योकि उनको ज्ञात ही नही था कि शान्तिकालीन अवकाश का क्या उपयोग करे, तथा युद्ध से ऊँचे अन्य किसी व्यवसाय का अनुशीलन उन्होने कभी किया ही नही था।[२२] एक और गलती (उनसे हुई) जो कोई छोटी गलती नही है। उनका विचार रहा है कि (धन, सम्मान, शारीरिक सुख इत्यादि) जिन सत्पदार्थों की प्राप्ति के मनुष्य यत्न किया करते है वे उनको भले बनकर प्राप्त करना चाहिये, न कि बुरे बनकर। उनका यह सोचना ठीक ही है कि सत्पदार्थों की प्राप्ति का उपाय भलाई है, बस उनका यह विचार ठीक नही है कि सत्पदार्थ भलाई (=सात्त्विकता) से बढकर है।

और फिर इन स्पार्टा-निवासियो की सार्वजनिक सम्पत्ति का प्रबध भी दोषपूर्ण है। एक ओर तो सार्वजनिक कोष मे धन का पता नही एव राष्ट्र को बडी बडी लडाइयाँ लडने को पडी है, पर दूसरी ओर तो भी कर ठीक प्रकार से नही दिये जाते। अधिकाश भूमि स्पार्टा-निवासियो के अधिकार मे है (और कर भूमि पर ही लगते है) अतएव वे एक दूसरे के करदान को भली भाँति सूक्ष्मता से निरीक्षण नही करते। व्यवस्थाकार ने अपनी व्यवस्था से इस विषय में जो परिणाम उत्पन्न किया है वह हितकर होने की अपेक्षा उससे उलटा है। इसने नागरिको को धन-लोलुप बनाते हुए राष्ट्र को निर्धन कर दिया है।[२३]

लाकैदायमौन की व्यवस्था के विषय मे (जिसकी निन्दनीय त्रुटियाँ यही है जो ऊपर कही जा चुकी है) इतना ही कहना पर्याप्त होगा।

टिप्पणियाँ

१. लाकेदायमौन अथवा स्पार्टा (स्पार्ते) नगर लाकोनिया राष्ट्र की राजधानी था। यह इयुरोतास् नामक नदी के तट पर स्थित था। इस नगर की सामाजिक, शैक्षणिक और राजनीतिक व्यवस्थाओ में अनेकों विलक्षणताएँ थीं जिनको जान लेने पर उपर्युक्त खंड को सरलता से समझा जा सकेगा।

स्पार्टा निवासियों में जिन योद्धाओं को पूर्ण नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे वे स्पार्तातियाई कहलाते थे। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति एक परिवार का मुखिया होता था और उसको परम्परागत पैतृक अधिकार से एक भूखंड का स्वामित्व प्राप्त होता था। यह उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को ही प्राप्त था। इस भूखंड को बेचा नहीं जा सकता था। इसके अतिरिक्त अन्य भूमि को बेचा जा सकता था। स्पार्तातियाइयो की भूमि को हेलॉत् नामक दास जोतते बोते थे। यह दास मैसेनिया के युद्ध में विजित व्यक्ति और उनके वंशधर होते थे। वाणिज्य-व्यवसाय का कार्य पराजित राष्ट्रों के वे प्रजाजन किया करते थे जो दास नहीं बनाये गये थे। यह अपने नगरो में स्वतंत्र नागरिकों के रूप में निवास करते थे पर स्पार्ता के नागरिकों में इनकी गणना नहीं होती थी। इनको पेरिओइकोइ (परिवासी) कहा जाता था। स्पार्ता ने इनके नगरों को परस्पर संघटित होने का निषेध कर रक्खा था।

अतएव स्पार्तातियाइयो का जीवन खेती-बाड़ी और वाणिज्य-व्यवसाय की झंझट से मुक्त था। सब नागरिक समान माने जाते थे। पर नगर-व्यवस्था नागरिकों के जीवन को कठोर सैनिक अनुशासन में जकड़कर रखती थी। इसमें व्यवस्था का एक मात्र उद्देश्य नागरिको को सैनिक यत्र का एक कुशल और क्षमताशील पुरजा बनाना था। विवाह शासन के निर्देशानुसार होता था। दुर्बल सन्तान को मरने के लिये त्याग दिया जाता था। शेष पूर्णांग स्वस्थ बच्चो को, चाहे वे लडके हो या लड़कियाँ, सामूहिक शिक्षा, कठोर संयमपूर्ण अनुशासन और मल्लविद्या-शिक्षण द्वारा साहसी और सहिष्णु बनाने का प्रयत्न किया जाता था। इस शिक्षा में सैनिक-व्यायामो की मुख्यता रहती थी, मानसिक विकास को गौण स्थान दिया जाता था। पुरुषों को ३० वर्ष की अवस्था तक सैनिक बैरकों में रहना पड़ता था और ६० वर्ष की अवस्था तक वे सार्वजनिक भोजनालयों में एक साथ भोजन करते थे। इस प्रकार ग्रीस देश की सबसे अधिक शक्तिशाली सैन्यशक्ति

का निर्माण हुआ। निश्चय ही ऐसी परिस्थितियो मे कला-कौशल और साहित्य इत्यादि का विकास नही हो सका। ३० वर्ष की आयु होने पर पूर्ण नागरिकता का अधिकार प्राप्त होता था।

राजनीति व्यवस्था मे मुख्य अग थे—(१) दो परम्परागत कुल-क्रमागत राजा, (२) स्थविरपरिषद् (गैरूसिया), (३) अप्पैला सामान्य-परिषद् और (४) सरपंच। दोनों राजा राष्ट्र के धार्मिक नेता थे; युद्धकाल में वे सेनाध्यक्ष का कार्य करते थे। जब वे युद्ध अथवा सन्धि के कार्य के लिये विदेश जाते थे तो दो सरपच भी उनके कार्यों पर दृष्टि रखने के लिये उनके साथ भेजे जाते थे। राजाओ के अधिकार धीरे-धीरे बहुत घट गये थे। स्थविर-परिषद् मे २ राजाओ के अतिरिक्त २८ अन्य सदस्य होते थे जो ६० वर्ष से अधिक अवस्था के होते थे और आजीवन सदस्य रहने के लिये चुने जाते थे। यह परिषद् राष्ट्र का सर्वोच्च न्यायालय थी। अप्पैला नामक परिषद् (=ससद) का सदस्य प्रत्येक ऐसा नागरिक होता था जिसकी अवस्था ३० वर्ष या इससे अधिक होनी थी तथा जिसको पूर्ण नागरिकता के अधिकार प्राप्त होते थे। यह संसद केवल परामर्श देने का कार्य करती थी और कोई अधिकार इसको प्राप्त नहीं था। पर युद्ध की घोषणा पर इसकी सही होनी आवश्यक थी। पाँच सरपंच समग्र नागरिको में से चुने जाते थे और वे व्यवस्था के जनतंत्रात्मक अंग थे। वे राष्ट्र के अध्यक्ष होते थे और उनकी शक्ति आरभ से ही महान् थी और कालान्तर में उन्होंने इसको और भी बढ़ा लिया था। वे सामान्य शासन-कार्य का आधिपत्य करते थे और कुछ न्यायाधिकरण का व्यापार भी उनके अधिकार में था। वे राजाओ को भी दण्ड दे सकते थे और उनको बन्दी तक बना सकते थे; सेनाध्यक्षो को उनके पद से हटा सकते थे और विदेशो से सन्धियाँ कर सकते थे। पदारूढ होने पर वे ऐसी घोषणा करते थे जो आजकल अर्ध-परिहासपूर्ण प्रतीत होगी—वह यह थी कि नागरिको को अपनी मूँछें मुडवानी चाहिये और कानूनो को मानना चाहिये।

२. क्रैते नामक द्वीप यूनान के दक्षिण में है। हम इसके अंग्रेजी नाम क्रीट से अधिक परिचित है। इसका अधिक विवरण आगामी खड मे मिलेगा।

३. थैस्सालिया यूनान के उत्तर में एक प्रदेश है।

४. ऑर्गास्, मैसेनिया और आर्कादिया में से ऑर्गास् और आर्कादिया तो स्पार्टा के उत्तर में है और मैसेनिया उत्तर-पश्चिम में है।

५. अरवैया प्रदेश थैस्सालिया के दक्षिण में है; म.ग्नेसिया स्वयं थैस्सालिया का ही एक भाग है।

६. दासो की प्रथा के विषय में पहले भी लिखा जा चुका है। स्पार्टा के दास हेलॉत् कहलाते थे; यह खेतो पर बँधुओं के रूप में कार्य करते थे। अपने स्वामियो के

साथ कभी-कभी यह युद्ध-क्षेत्र में भी जाया करते थे और वीरता दिखलाने पर स्वतंत्र भी कर दिये जाते थे।

७. लाकैदायमौन् में स्त्रियो के अधिकार पुरुषो के ही समान थे। अथेन्स की स्त्रियो की अपेक्षा यहाँ की स्त्रियाँ कहीं अधिक स्वतत्र और स्वावलम्बिनी थी। वे राष्ट्र की क्रियाशील सदस्याएँ होती थी और राष्ट्र-कल्याण के कार्यों में भाग लेती थी। पर अरिस्तू को स्पार्टा की स्त्रियो के आचरण की उपयोगिता पर सन्देह है। उसकी इच्छा यह है कि राज्य को स्त्रियो के घर और बाहर के आचरण पर इस प्रकार का नियंत्रण रखना चाहिये जिससे उनमें वांछनीय सद्गुणो का विकास हो सके।

८. इससे स्पष्ट है कि पुरुषो का परस्पर रत्यात्मक प्रेम, इगलाम या होमोसैक्सु-ऐलिटी एक अत्यन्त पुरानी और व्यापक प्रथा रही है। जैसा कि आगे चलकर पता चलेगा, ग्रीस देश में इसका प्रर्याप्त प्रचार था।

९. अरेस और अफ्रौदिते। अरेस् यूनान की पौराणिक कथाओ में जिउस् (द्यौस्) और हेरा का पुत्र था। यह युद्ध का देवता था। अफ्रौदिते जिउस् और दियाने की पुत्री है। उसका विवाह हेफाएस्तस् के साथ हुआ था पर विवाह के पश्चात् वह अरेस से प्रेम करने लगी। आगे चलकर यूनान में उसकी नाना रूपो में पूजा होने लगी। रोम की पौराणिक कथाओं में इन दोनो के नाम क्रमशः मार्स और वीनस हो गये।

१०. थेबै के आक्रमण ३७१, ३७०, ३६० ई० पू० में हुए। इन आक्रमणो में थेबै के सेनापति एपामिनौन्दास् ने स्पार्टा की शक्ति को चौपट कर दिया। पर आगे चलकर जब २७२ ई० पू० में पीर्हस् ने स्पार्टा पर आक्रमण किया तब स्पार्टा की नारियों ने अत्यधिक वीरता का प्रदर्शन किया।

१२. ल्युकूर्गास अथवा लीकूर्गास् नाम के अनेक व्यक्ति यूनान के इतिहास में पाये जाते है। यहाँ पर जिस व्यवस्थाकार अथवा स्मृतिकार का उल्लेख हुआ है उसका समय लगभग ६०० ई० पू० है। अरिस्तू ने इस अध्याय में उसका नाम लेकर उल्लेख केवल एक बार ही किया है। कुछ इतिहासवेत्ता उसका समय और भी अधिक पुराना बतलाते हैं।

१३. अन्य लेखको के मत मे सम्पत्ति के थोडे से व्यक्तियो के हाथ में पहुँच जाने का कारण लीकूर्गास की व्यवस्था नहीं थी प्रत्युत चौथी शताब्दी ई० पू० में एपीतादेयस् नामक सरपच का चलाया हुआ नियम था। सभवतया अरिस्तू को इसका पता नही था। स्पार्टा के ह्रास के कारणो मे पर्याप्त मतभेद पाया जाता है।

१४. अरिस्तू के मतानुसार सम्पत्ति की रक्षा और उसकी समानता की रक्षा का उपाय यह है कि पिता की सम्पत्ति उत्तराधिकार मे ज्येष्ठ पुत्र को मिले तथा दान-दहेज की प्रथा को समाप्त या सीमित कर दिया जाय।

१५. इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्पार्टा में नागरिको की संख्या मे लगातार ह्रास होता गया। पर इसके कारण एक नहीं अनेक थे, जैसे—(१) युद्धो में नागरिको का मारा जाना, (२) भूभागो का थोड़े से व्यक्तियो अथवा स्त्रियो के हाथ में पहुँच जाना तथा (३) चतुर्थ शताब्दी में मैसेनियाँ के भूखंडों का स्पार्टा-निवासियों के हाथ से निकल जाना इत्यादि। स्वतत्र नागरिक की आर्थिक योग्यता का चिह्न था उसके पास भूखड का होना। अतएव पैतृक भूखंडो के दान, दहेज अथवा पराजय के कारण दूसरो के पास पहुँच जाने पर नागरिकता भी समाप्त हो जाती थी। नागरिकों की संख्या के ह्रास का क्रम निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जायगा।

समय	नागरिकों की संख्या
४८० ई० पू०	८०००
३७१ ई० पू०	२०००
अरिस्तू के समय	१०००
२४२ ई० पू०	७००

१६. यद्यपि अरिस्तू ने सरपंच प्रथा को दोषपूर्ण कहा है पर अन्य विचारकों ने उसको उपादेय माना है और कुछ आधुनिक विचारकों ने भी किसी न किसी रूप में एक सर्वोच्च परिषद् की स्थापना को उचित ठहराया है।

१७. आन्ड्रॉस् के मामले का ठीक पता नहीं चलता। न्यूमैन का अनुमान है कि अरिस्तू का संकेत ३३३ ई० पू० की किसी घटना की ओर है। इस समय फारस का एक जहाजी बेडा आन्ड्रॉस पहुँचा था। इसका उद्देश्य यूनान में सिकन्दर के विरुद्ध विद्रोह को भड़काना था। लाकेदायमौन् निवासी पहले से ही फ़ारस की ओर थे और उनका राजा इस बेड़े से मिलने के लिये भी गया था। इससे अधिक निश्चित बात इस घटना के संबंध में विदित नहीं है।

१८. यह पता नहीं चलता कि सरपंचों का चुनाव बालिश किस कारण से कहा गया है। किसी साक्ष्य के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह चुनाव किस प्रकार होता था। हो सकता है कि वह वास्तविक चुनाव रहा हो। यह भी संभव है कि सरपंचो को किसी शकुन अथवा आकस्मिक चिह्न के आधार पर चुन लिया जाता हो।

१९. अरिस्तू का सुझाव यह है कि अति को सर्वत्र वर्जन करना चाहिये।

२०. जनतंत्र की यह एक महान् समस्या है। कहने को कहा जाता है कि जनता चुनाव करती है पर वास्तविकता यह है कि महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति स्वयं चुनाव के लिये खड़े होते है चाहे वे स्वतंत्र हों अथवा कोई दल उनका समर्थन करे। यदि इन व्यक्तियो की महत्त्वाकांक्षा के पीछे वास्तव में जन-सेवा की भावना न हो तो राजनीति

भी अधिकाश में एक पेशे का रूप धारण कर लेती है। अरिस्तू की सर्वग्राहिणी दृष्टि इस समस्या की जड़ तक पहुँच सकी। हमारे देश में भी डा० भगवान्दास ने इस समस्या पर विचार किया है।

२१. लाकेदायमौन् में दो राजा होते थे। ये हेराक्लिद वंश के व्यक्ति होते थे जो अपनी आयु के आधार पर चुने जाते थे। यह दोनो शासन-कार्य करते थे। अरिस्तू राजपद का विरोधी नहीं था, परन्तु वह राजपद को पैतृकता के आधार पर नहीं योग्यता के आधार पर स्थापित करना चाहता था।

२२. लाकैदायमौन् का उत्थान और पतन उसके जीवन के एकांगी लक्ष्य की स्वयं एक सनातन आलोचना है। आज के जीवन के लिये भी इससे एक महान् शिक्षा मिलती है। भारतीय जीवन में चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को लक्ष्य मानकर विश्व भर के लिये एक महान् आदर्श उपस्थित किया गया है। पर संभवतया सेक्यूलरिज्म (ऐहिकवाद) के लक्ष्य को पूर्णतया परास्त होने के लिये अभी एक और घोरतम विश्व-विध्वंसक युद्ध की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

२३. अरिस्तू ने स्पार्टा की व्यवस्था के जो दोष बतलाए हैं वे "जर, जन, जमीन" की शाश्वत समस्याओ के संबंध में हैं। इन समस्याओं के संबंध में उसके अपने आदर्श क्या हैं इनका विवेचन आगे चलकर किया जायेगा।

१०

[क्रेते की नगर-व्यवस्था की आलोचना]

क्रेते[१] की नगर-व्यवस्था भी लगभग इस (स्पार्टा की) व्यवस्था[२] से मिलती-जुलती है; कुछ थोडी बातो मे यह उससे बुरी नही है, परन्तु बाह्याकृति (स्वच्छता-सुघडता) मे उससे घटकर है। साधारणतया देखा जाता है कि पुरातन विधान-व्यवस्थाएँ पश्चात्कालीन व्यवस्थाओ की अपेक्षा कम प्रपचपूर्ण होती है, और लाकैदायमौन की व्यवस्था तो बहुत अधिकमात्रा मे क्रेते की व्यवस्था की अनुकृतिमात्र कही जाती है और सभवतया है भी। परम्परागत अनुश्रुति है कि जब ल्युकूर्गास[३] ने राजा खरिल्लॉस की सरक्षकता को छोड दिया तो उसने विदेश-यात्रा की और अपना बहुत सा समय क्रेते मे व्यतीत किया, क्योकि दोनो देशो मे बहुत निकट का सबध था, तथा (क्रेते के एक नगर) लीक्तिया[४] के निवासी तो लाकैदायमौन के एक उपनिवेश थे। इन

उपनिवेशो को बसानेवाले ने क्रेते मे आने के समय जो व्यवस्था (आदि-) वासियो मे प्रचलित पाई उसी को स्वीकार कर लिया। अतएव आजकल भी क्रेते के आदिवासी उन्ही मूल नियमो के अनुसार शासित होते है जिनको आदिकाल मे मिनोस् के द्वारा स्थापित किया गया था।

ऐसा लगता है मानो यह द्वीप प्रकृति द्वारा ग्रीक (हैलेनेस्) जगत् मे (सब पर) शासन करने के लिये ही निर्मित हुआ है और इसकी स्थिति भी बहुत अच्छी है[५]। यह (मेडीटेरेनियन सागर के) पूर्वी भाग अर्थात् (ईगियन) सागर मे फैला हुआ है जिसके चारो ओर के तटो पर लगभग सारे ग्रीक (हैलेनेस्) जन बसे हुए है। इसका एक सिरा (पश्चिम मे) पेलोपौन्नेस[६] से थोडी दूर है, तथा दूसरा (पूर्व मे) त्रियौपियम्[७] और रोदस के आसपास एशिया के समीप पहुँचा हुआ है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मिनोस् ने सामुद्रिक साम्राज्य की स्थापना करने मे किस प्रकार सफलता प्राप्त की। उसने कुछ समीपवर्ती द्वीपो को परास्त करके अपने वश मे कर लिया, और कुछ अन्य द्वीपो मे उपनिवेश स्थापित किये, अन्त मे उसने मिकैलिया[८] (सिसली) द्वीप पर भी आक्रमण कर दिया, जहाँ कॉमिकॉम के समीप उसके जीवन का अन्त हुआ।

क्रेते और लाकैदायमौन की व्यवस्था मे सादृश्य है। स्पार्टा मे बँधुआ (हैलॉत्) लोग किसान है जब कि क्रेते मे आदिवासी[९] लोग किसानी करते है। सहभोजो की प्रथा भी दोनो देशो मे है, जो कि पुरातन काल मे लाकैदायमौन निवासियो द्वारा, आजकल की तरह फिदिलिया नही आन्द्रेइया कहलाते थे। क्रेते मे अब भी यही शब्द प्रचलित है और इस बात का प्रमाण है कि स्पार्टा के रहनेवालो ने इस प्रथा को क्रेते से ग्रहण किया था। फिर दोनो की शासन-व्यवस्थाओ मे और भी समानताएँ है। स्पार्टा के ऐफौरौस् (सरपच) की स्थिति (अथवा पदशक्ति) वैसी है जैसी क्रेते के कौस्मॉस्[१०] की। अतर केवल इतना है कि सरपचो की सख्या स्पार्टा मे पॉच है एव कौस्मॉस की सख्या क्रेते मे दस है। वहाँ की स्थविर परिषद् के जवाब मे यहाँ पर भी कुलीनो की परषद् है जो 'बूले' कहलाती है। स्पार्टा के समान प्राचीन काल मे यहाँ (क्रेते मे) भी राजा का पद था, जो पीछे समाप्त कर दिया गया। अब युद्धो मे सेना के नेतृत्व का भार कौस्मॉस लोग ही वहन करते है। स्पार्टा के नागरिक जनो के समान ही यहाँ भी सब नागरिको को जनपरिषद् (एक्लेसिया)[११] मे उपस्थित होने का अधिकार है, परन्तु इस परिषद् को कुलीन परिषद् और कौस्मॉस् लोगो की समिति के निर्णयो को प्रमाणित करने के अतिरिक्त और कोई अधिकार प्राप्त नही है।

सहभोजो का प्रबन्ध क्रेते मे निश्चय ही लाकैदायमौन की अपेक्षा अधिक अच्छा है। स्पार्टा मे प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिये नियत धन सहभोज के व्यय के रूप मे देना पडता है, और यदि वह न दे तो जैसा मैने पहले कहा है नियम उसको नागरिकता के अधिकारो का प्रयोग करने से रोक देता है। परन्तु क्रेते मे सहभोज अपेक्षाकृत अधिक सार्वजनिक ढग के होते है। वहाँ (ऐसी प्रथा है कि) सार्वजनिक भूमि पर उत्पन्न होनेवाली अन्न की उपज, पशुओ की पैदावार और आदिवासियो से प्राप्त हुए कररूप अन्नादि को एक सार्वजनिक भडार मे एकत्रित कर लिया जाता है, इसमे से एक भाग देव-सेवा और राष्ट्र की सार्वजनिक सेवाओ पर व्यय किया जाता है ओर दूसरा भाग सहभोजो पर। इससे स्त्रियो, बच्चो और वृद्धो सबको सार्वजनिक भडार से भोजन प्राप्त होना सभव हो जाता है[13]। व्यवस्थाकार ने भोजन मे सयम पालन कराने के निमित्त (जिसको वह एक लाभदायक बात मानता है) बहुत विचक्षण उपाय बतलाए है,[14] इसी प्रकार उसने पुरुषो को स्त्रियो से पृथक् रहने के लिये भी प्रोत्साहित किया है जिससे कि अत्यधिक सन्तानोत्पादन न हो सके, और पुरुषो के पारस्परिक साहचर्य (पुरुष-रति) की भी अनुमति प्रदान की है। यह पुरुषो का साहचर्य बुरा है अथवा बुरा नही है इसका परीक्षण किसी अन्य उचित अवसर पर किया जायगा। परन्तु इतना स्पष्ट है कि क्रेते के सहभोज लाकैदायमोन वालो के सहभोजो की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित होते है।

जहा तक कौस्मॉस लोगो की समिति का सबध है, यह लोग स्पार्टा के सरपचो से भी बुरे है, इनमे सरपच सस्था की बुराई तो है पर भलाई नही है। सरपचो के समान यह भी (बिना किसी योग्यता के) दैवात् प्राप्त व्यक्ति होते है, परन्तु क्रेते मे (उनकी दैवात् उपलब्धि से उत्पन्न हुई बुराई का) सतुलन ऐसी किसी व्यवस्था सबधी सुविधा से नही होता जैसा स्पार्टा में होता है। वहाँ प्रत्येक नागरिक को सरपच पद के लिये चुने जाने का अधिकार प्राप्त है, अतएव सर्वोच्च पद के उपभोग मे सब का भाग होने के कारण सभी स्वेच्छा से व्यवस्था के स्थायित्व की कामना करते है। परन्तु क्रेते की कौस्मॉस-परिषद् के सदस्य समग्र जनता मे से नही चुने जाते, प्रत्युत कुछ निश्चित कुलो (जनो) मे से चुने जाते है तथा कुलीन अथवा स्थविर (बूले के सदस्य) उन लोगो के मध्य मे से चुने जाते है जो कौस्मॉस रह चुके है[15]।

(क्रेते की इस स्थविर-परिषद् बूले की) आलोचना मे भी वही बाते कही जा सकती है जो स्पार्टा की स्थविर-परिषद् गेरूसिया के विषय मे कही जा चुकी है। उनका

अनुत्तरदायित्व (अर्थात् किसी को लेखा-जोखा न देने का अधिकार) और आजीवन सदस्यता यह दोनो विशेषाधिकार उनकी पात्रता की अपेक्षा कही अधिक है , तथा उनको अपनी समझ के अनुसार (न कि लिखित नियमो के अनुसार) कार्य करने को जो शक्ति प्राप्त है वह निश्चय ही पतनकारी (और भयावह) है ।[१६] इस (कौस्मॉस) की सस्था की अच्छाई को सिद्ध करने के लिये यह चिह्न प्रमाणस्वरूप नही है कि साधारण जनता इसमे भाग न पाकर भी सन्तुष्ट रहती है । कौस्मॉस लोगो को स्पार्टा के सरपचो के विपरीत अपने पद से अपना व्यक्तिगत लाभ उठाने का अवसर नही मिलता, (इसका कारण यह है कि) वे पतनकारी भ्रष्टाचार के भय से दूर एक द्वीप मे निवास करते है ।

इस सस्था के दोष का जो उपचार वे लोग करते है वह भी अनोखा ही है और विधानतत्रानुसारी होने की अपेक्षा कुलतत्रानुसारी ही अधिक है । बहुधा ऐसा होता है कि या तो कौस्मॉस लोगो के मध्य मे से ही स्वय कुछ लोग अपना गुट बना लेते है अथवा कुछ शासनतत्र से सबध न रखनेवाले अन्य लोग गुट बनाकर कौस्मॉस लोगो को उनके पद से हटा देते है, तथा कभी कभी उनको पदाधिकार की अवधि[१७] के मध्य मे भी पदत्याग कर देने दिया जाता है । परन्तु निश्चय ही ऐसी सब बातो की व्यवस्था मनुष्यों की इच्छा मात्र के द्वारा किये जाने की अपेक्षा नियमो द्वारा होना अधिक अच्छा है; क्योकि मनुष्यो की इच्छा तो कोई निश्चित नियम (कानून) नही है । इससे भी बुरी प्रथा है कौस्मॉस परिषद् का स्थगित हुआ घोषित किया जाना, जिसका आश्रय प्राय कुलीन लोग ऐसे अवसरो पर लिया करते है जब वे न्याय के द्वारा अनुशासित नही होना चाहते[१८] । इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि चाहे क्रेते की शासन-पद्धति मे कुछ लक्षण वैधानिक व्यवस्था के भले ही हो पर वास्तव मे वह वैधानिक व्यवस्था नही है प्रत्युत अपेक्षाकृत कुल-(पुत्र-)तत्र ही अधिक है ।

इन कुलीन लोगो में एक आदत यह भी है कि अपने अनुयायियो और साधारण जनता मे भेद डाल देना, भेदनीति के आधार पर अनेको एकराट् तत्रो की स्थापना करना और तब कलह और सग्राम छेड देना । परिणामत यह स्थिति अल्पकालिक राष्ट्र-विघटन तथा सामाजिक शिथिलीकरण से भला किस प्रकार भिन्न है ? जो नगर इस अवस्था को प्राप्त हो गया है वह भयावह अवस्था मे है, क्योकि जो उस पर आक्रमण करने के इच्छुक रहे होगे (ऐसी अन्त कलह की स्थिति मे) उनको (आक्रमण करने की) शक्ति भी मिल जायगी । परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है क्रेते द्वीप की स्थिति

इसकी रक्षा करती रही है। इस द्वीप की दूरी इसके लिये वही काम करती है जो लाकैदायमौन् के लिये वहाँ का विदेशी-निषेधादेश करता है[१९]। क्रेते के (समुद्र के मध्य मे) सबसे अलग दूर पर स्थित होने के कारण ही यहाँ के आदिवासी शान्त रहते है जब कि स्पार्टा के बँधुए दास प्राय विद्रोह करते रहते है। क्रेते के अधिकार मे विदेशी उपनिवेश तो है ही नही, अभी हाल मे विदेशी आक्रमणकारियो ने द्वीप मे प्रवेश किया है और क्रेते मे विदेशी शासन की स्थापना हुई है, जिससे उसकी शासन-पद्धति की दुर्बलता स्पष्ट प्रकट हो गई[२०]।

क्रेते की शासन-पद्धति के विषय मे जो कुछ ऊपर कहा गया उतना ही पर्याप्त है।

टिप्पणियाँ

१. क्रेते (अंग्रेजी क्रीट) द्वीप भूमध्यसागर के दक्षिणी-पूर्वी भाग में स्थित है। पुरातत्त्ववेत्ताओ की खोजो से यह पता चला है कि ग्रीक लोगो के आने से पहले इस द्वीप में एक अपेक्षाकृत अधिक पुरातन एवं समृद्ध सभ्यता का केन्द्र था। इस सभ्यता को अंग्रेजी में मिनोअन (Minoan) सभ्यता कहते है। यह सभ्यता किस जाति के लोगो की थी इसका अभी तक निश्चय नहीं हो सका है, इतना निश्चय है कि यह लोग न आर्य थे और न सैमेटिक। कुछ विद्वानों ने भाषा-संबंधी स्वल्प-साम्य के आधार पर इनको द्रविड़ जाति से संबद्ध करने का प्रयत्न किया है। यो आपाततः क्रेते के पौराणिक राजा मिनौस् और मनु के नाम में भी साम्य प्रतीत होता है पर इतने से ध्वनिगत साम्य पर ठोस ऐतिहासिक तथ्यो के भवन का निर्माण नही किया जा सकता।

इस सभ्यता का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है और लगभग ३५०० ई० पू० तक पहुँचता है। इस प्राचीन इतिहास का अध्ययन सर आर्थर इवास नामक विद्वान् ने विशेष रूप से किया है। उन्होने इसको तीन भागो—प्रारंभिक, मध्य और पश्चात्कालीन भागों में विभक्त किया है और तदनन्तर इन तीनो भागों के भी तीन अवान्तर भेद—विकास, परम समृद्धि और पतन किये है। क्नौसस् नामक स्थान की खुदाई करने पर वहाँ पर मिनौस् का राजप्रासाद मिला है जिससे इस सभ्यता के विषय में बहुत कुछ बातें ज्ञात हो सकी है। यह प्राचीन क्रेते-निवासी अत्यन्त सभ्य और समृद्ध थे तथा इनका व्यापार भी चारो ओर के देशों के साथ चला करता था। इसी कारण इस सभ्यता का प्रभाव मीकेनाय, तिरीन्स और थेबैस नामक कुछ ग्रीक स्थानों पर भी पड़ा। कुछ विद्वान् तो इन स्थानों की बस्तियो को क्रेते के उपनिवेश मानते है।

कहते है कि लगभग १७००ई०पू० में इस सभ्यता पर कोई अज्ञात महान् विपत्ति आई थी। कह नही सकते कि यह विपत्ति कोई विकट भूकम्प के रूप में थी अथवा विदेशी आक्रमण के रूप में या आन्तरिक विद्रोह अथवा क्रान्ति के रूप में। पर इसने क्रेते की सभ्यता को तहस-नहस कर डाला। इस विनाश से पुनः उठने के लिये सम्भवतया १०० वर्ष से अधिक समय लग गया। स्यात् १४०० ई० पू० के लगभग यूनानी आक्रान्ताओं ने इस पुरातन सभ्यता को पूर्णतया विध्वस्त कर दिया और तब से यह द्वीप ग्रीक लोगों के अधिकार मे चला गया। पर यूनानी-काल में क्रेते की पुरानी कीर्ति और कान्ति नही लौट सकी। तथापि पुरातन मिनोअन संस्कृति का प्रभाव विजेताओ की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था पर पड़े बिना नहीं रह सका। इस सभ्यता सेसबंध रखनेवाले अनेको उत्कीर्ण लेख उपलब्ध है पर वे अभी तक ठीक पढ़े और समझे नही जा सके है। पर मिनौस् के संबंध मे अनेको कथाएँ ग्रीक पौराणिक साहित्य में मिलती है।

२ यहाँ अरिस्तू ने जिस व्यवस्था का विवरण प्रस्तुत किया है वह उसकी सम-कालीन व्यवस्था है, जिसमें मिनोअन् सभ्यता के कुछ अवशेष अज्ञातरूपेण अवश्य अवशिष्ट रहे होंगे।

३. ल्यू (ली ?) कूर्गास् के लिये पिछले खंड की टिप्पणियाँ देखिये। खरिल्लॉस अथवा खरिलौस् लाकैदायमौन् का राजा था जिसके बाल्यकाल में लीकूर्गास् ने उसकी देखभाल की थी और उसको शिक्षा भी दी थी।

४. ली (ल्यू) क्तिया क्रेते द्वीप का एक नगर था।

५. क्रेते की भौगोलिक स्थिति वास्तव मे बहुत अच्छी है। इसी कारण इस द्वीप ने मिनौस् काल मे इतनी महान् उन्नति की।

६. पेलोपौन्नेस (—सस्) यूनानी प्रायद्वीप का दक्षिणतम भाग है। इस शब्द का अर्थ है पैलौप्स राजा के द्वीप। इसके प्रमुख राजनीतिक विभाग, आर्गास्, लाको-निया, मैसेनिया, ऐलिस्, अखैया और अर्कादिया थे।

७. त्रियौपियम् का दूसरा नाम क्रियो अन्तरीप भी है। रोदस (अथवा रोदॉस्) द्वीप क्रेते के उत्तरपूर्व में है।

८. सिकैलिया (अथवा सिसिली) द्वीप इटली के दक्षिण-पश्चिम में है।

९. आदिवासी वे लोग है जो ग्रीक लोगों के आने से पहले क्रेते में निवास करते थे तथा जिनको ग्रीक लोगो ने जीत लिया था।

१०. कौस्मॉस् शब्द एकवचन का रूप है। मूल में इसके बहु चन 'कौस्मॉइ' शब्द का प्रयोग किया गया है।

११. बूले नामक परिषद् का स्थान क्रेते में वही था जो स्पार्टा में गेरूसिया (स्थविर-परिषद्) का था। स्वयं अथेंस में भी इस प्रकार की परिषद् का नाम 'बूले' ही था। इसके विषय में अधिक विस्तृत विवरण "अथेंस के संविधान" में मिलेगा।

१२. एक्लेसिया सभी नागरिकों की परिषद् का नाम था। अथेंस में भी यही शब्द प्रयोग में आता था। ईसाई धर्म ने भी इसी शब्द को ग्रहण किया, उसी अर्थ में जिसमें 'मिल्लत' शब्द को इस्लाम ने ग्रहण किया है। इसी से 'कलीसा' और 'गिरजा' शब्दो की उत्पत्ति हुई है।

१३. अरिस्तू ने भी अपनी आदर्श व्यवस्था में इस पद्धति को स्वीकार किया है।

१४. भोजन में संयम रखने से एक साथ स्वास्थ्य-लाभ और रोगों से मुक्ति दो लाभ होते थे।

१५. इससे स्पष्ट है कि क्रेते के कौस्मॉस् लोगों का चुनाव सब को समान रूप से सन्तोषप्रद नही रहा होगा।

१६. तुलना कीजिये "All power corrupts and absolute power corrupts absolutely" अथवा "तप से राज्य और राज्य से नरक की प्राप्ति होती है।"

१७. कौस्मॉस् लोगों के कार्यकाल की अवधि का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। संभव है कि यह नियुक्ति जीवन-पर्यन्त रहती हो।

१८. जो लोग दूसरो का शासन अथवा नियमन करने के लिये नियुक्त हो और वे स्वयं नियम अथवा न्याय को न मानें तो इससे अधिक बुरा और क्या हो सकता है?

१९. स्पार्टा मे विदेशी निषेधाज्ञा के कारण प्रवेश नहीं कर सकते और क्रेते अन्य स्थानों से इतनी दूर है कि यहाँ दूरी के कारण विदेशी लोग सरलता से अधिक संख्या में आकर आक्रमण नहीं कर सकते।

२०. यदि उनकी शासन-पद्धति ठीक होती तो देश की जनता समृद्ध और सन्तुष्ट होती। उनका रक्षा-विभाग सतर्क, समर्थ और सबल होता। पर विदेशियों को वहाँ सफलता प्राप्त हो सकी, इसका कारण वहाँ की व्यवस्था का त्रुटिपूर्ण होना है। पर कभी कभी ऐसा भी होता है कि किसी देश मे चिरकाल तक शान्ति और समृद्धि रहने के कारण जनता यों ही बाह्य रक्षा के प्रति उदासीन हो जाती है। ऐसे अवसरो पर बाहरी आक्रमणकारी अचानक ही सफल हो जाते हैं। संसार के इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण मिलते हैं। इसलिये किसी भी व्यवस्था की उत्तमता की कसौटी उसकी सतत जागरूकता (eternal vigilance) है। तभी कहा भी है कि Eternal vigilance is the price of freedom. स्वाधीनता का मूल्य सतत जागरूकता है।

११

कार्थेज की शासन-व्यवस्था

कार्खीदौन्[1] (कार्थेज) निवासियो की शासन-व्यवस्था को सामान्यतया उत्तम माना जाता है, जो किसी अन्य राष्ट्र की शासन-पद्धति से अनेको बातो मे भिन्न है, और जहाँतक इसका किसी अन्य पद्धति के समान होने का सवाल है तो इस विषय मे यह कहा जा सकता है कि यह कुछ बातो मे लाकैदायमौन् की व्यवस्था से बहुत मिलती-जुलती है। सच तो यह है कि इन तीनो देशो की व्यवस्थाएँ जिनका हम वर्णन कर रहे है—अर्थात् क्रेते, लाकैदायमौन् और कार्खीदौन् की व्यवस्थाएँ—एक दूसरी से अत्यन्त निकटता का सादृश्य रखती है तथा अन्य राष्ट्रो से बहुत अधिक भिन्न है। कार्खीदौन् की बहुत-सी सस्थाएँ निश्चय ही अत्यन्त अच्छी है। उसकी शासन-पद्धति की सुव्यवस्थितता[2] का प्रमाण यह है कि इतनी अधिक जनसख्या होते हुए भी साधारण जन शासन-व्यवस्था के नियमो के प्रति (स्थायी रूप से) अनुरक्त बने रहे है, न तो उनके यहाँ कोई वर्णन करने के योग्य जन-विप्लव ही हुआ है और न कभी वह तानाशाही के शासनाधीन रहे है।

जिन बातो मे कार्खीदौन् और लाकैदायमौन् की शासन-व्यवस्थाओ मे समानता है वे निम्नलिखित है —मित्रमण्डलियो के सहभोज लाकैदायमौन् के 'फिदितिया' के समान है, उसका १०४ मनुष्यो का शासक-मडल स्पार्टा के सरपचो के समान है, परन्तु इतना अन्तर है कि स्पार्टा के सरपच तो कोई दैवात् उपलब्ध व्यक्ति हो सकते है, किन्तु कार्खीदौन् के शासक गुणोत्कर्ष के आधार पर चुने जाते है और यह एक बढकर बात है। और यहाँ के राजे और स्थविर-परिषद् भी स्पार्टा के राजो और स्थविर-परिषद् के समान ही है। पर कार्थेज मे अधिक अच्छी बात यह है कि उसके राजा (स्पार्टा की पद्धति के प्रतिकूल) सर्वदा एक ही कुटुम्ब मे से—और सो भी किसी गुण-निर्विशिष्ट कुटुम्ब मे से नही होते, परन्तु जिस समय जो परिवार विशिष्टतायुक्त होता है राजा उसी मे से छाँटकर चुन लिया जाता है, स्पार्टा की तरह वार्धक्य के आधार पर नियुक्त नही किया जाता। इन अधिकारियो को महान् शक्तियाँ प्राप्त होती है, अतएव यदि ऐसे अधिकारी कोई ओछे व्यक्ति हुए तो वे बहुत हानि कर सकते है, जैसे कि लाकैदायमौन् में यह लोग सचमुच ही राष्ट्र को वास्तविक हानि पहुँचा चुके है[3]।

अपने आदर्श शासन-सिद्धान्त से जिन स्खलनो के कारण कार्थेज की शासन-व्यवस्था की निन्दा की जायगी उनमे से अधिकाश उन सब अन्य व्यवस्थाओ के पक्ष मे भी समान है जिनका हमने उल्लेख किया है। परन्तु जिन बातो मे यह व्यवस्था श्रेष्ठतत्र और और विधानतत्र[४] से विलग होती है उनमे से कुछ का झुकाव जनतत्रवाद की ओर अधिक है और कुछ का कुलीनतत्र की ओर। यदि राजा[५] लोग और स्थविरगण एकमत हो तो वे यह निर्णय कर सकते है कि अमुक विपय को जनपरिषद् के समक्ष प्रस्तुत किया जाय या नही, और यदि वे उसको जन-परिषद् के समक्ष प्रस्तुत करने के विषय मे परस्पर सहमत न हो तो जनपरिषद् को भी उस विषय पर निर्णय करने की समान-रूपेण स्वतत्रता प्राप्त है। एव राजा और स्थविरगण (एकमत होकर) जो विषय जनता के समक्ष उपस्थित करते है, वह उनके द्वारा केवल सुना और सुनकर प्रमाणित ही नही कर दिया जाता प्रत्युत सम्मनि-प्रदर्शनपूर्वक जनपरिषद् के द्वारा उसका निर्णय भी किया जाता है, तथा यदि जनपरिषद् के किसी सदस्य की इच्छा हो तो वह उस विषय का विरोध भी कर सकता है, पर अन्य दो (लाकैदायमौन् और क्रेते के) विधानो मे जनपरिषद् को यह अधिकार प्राप्त नही है। ऐसी पचमडलियो[६] का, जिनके अधिकार मे बहुत-सी महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हो, पारस्परिक आपसी पसन्द से चुना जाना, उनके द्वारा १०० (+४) सदस्यो की सर्वोच्च परिपद् का चुना जाना, तथा उन (मडलियो) का अन्य अधिकारियो की अपेक्षा अधिक समय तक पदारूढ रहना (क्योकि वे तो व्यावहारिक रूप मे पदाधिकार ग्रहण करने की अवधि के पूर्व भी और पश्चात् भी शासक रहते ही है)—यह सब अल्पजनतत्र (अथवा कुलीनतत्र) के लक्षण है। दूसरी ओर उनका अवैतनिक होना, गुटिका द्वारा नियुक्त न किया जाना, और अन्य भी कई इसी प्रकार की बाते—जैसे कि सब व्यवहारो (विवादो) का किन्ही भी अधिकारी-मडलो द्वारा निर्णय किया जाना, न कि कुछ का निर्णय एक प्रकार के और कुछ का निर्णय अन्य प्रकार के न्यायाधीशो द्वारा किया जाना, जैसा कि लाकैदायमौन मे होता है—यह सब लक्षण श्रेष्ठतत्र के है[७]। कार्खीदौन् की व्यवस्था, विशेषकर उस विचार मे श्रेष्ठ तत्र के मार्ग से हटकर कुलीनतत्र[८] की ओर झुकती है जिसके पक्ष मे सामान्य-रूपेण बहुत से लोगो का अनुकूल समर्थन पाया जाता है। (क्योकि साधारणतया मनुष्यो का विचार है कि) शासनाधिकारी लोग केवल अपने गुणोत्कर्ष के आधार पर ही नही, प्रत्युत सम्पत्ति के आधार पर भी चुने जाने चाहिये, उनका कहना है कि जो व्यक्ति निर्धन होता है वह ठीक शासन नही कर सकता—उसको अपने कर्तव्य-पालन के लिये अवकाश ही नही मिल पाता। अतएव यदि शासनाधिकारियो को सम्पदा के

आधार पर चुनना कुलीनतत्र का लक्षण हो और गुणोत्कर्ष (अथवा योग्यता) के आधार पर चुनना श्रेष्ठतत्र का, तो शासन का एक तीसरा प्रकार और होगा, जिसके अन्तर्गत इस कार्खीदौन् की व्यवस्था की गिनती होगी, क्योकि वहाँ के निवासी अपने शासनाधिकारियो को--और मुख्यतया सर्वोच्च शासको को (अर्थात् राजाओ और सेनानायको को)--योग्यता और सम्पत्ति दोनो पर ही दृष्टि रखते हुए चुनते है ।

विशुद्ध श्रेष्ठतत्र के सिद्धान्त से इस प्रकार हट जाने को व्यवस्थाकार की गलती मानना पडेगा। सबसे आवश्यक बात, जिसको उसे सबसे पहले ध्यान देना चाहिये, यह है कि ऐसा प्रबध किया जाय कि सर्वोच्च (योग्यतम) वर्ग के लोगो को, न केवल पदारूढ होने के समय प्रत्युत व्यक्तिगत जीवन मे भी पर्याप्त अवकाश मिल सके, तथा वे अशोभन व्यवसायो को करने की विवशता से बचे रहें[९]। यदि यह भी मान लिया जाय कि सावकाश व्यक्तियो की उपलब्धि के लिये धन पर दृष्टि रखना भी ठीक है, तो भी कार्खीदौन् की यह प्रथा तो सर्वथा निन्दनीय है कि राजाओ और सेनानायको सरीखे सर्वोच्च पद भी क्रय-विक्रय का विषय हो। जो नियम (इस बुराई को प्रश्रय देता है) वह धन को सद्गुण की अपेक्षा अधिक सम्मानित बनाता है और सारे राष्ट्र को लोलुपता की भावना से भर देता है। क्योकि जब राष्ट्र के प्रमुख व्यक्ति किसी बात (अथवा वस्तु) को अच्छा समझते है तो अन्य नागरिक भी निश्चयमेव उनके आदर्श का अनुकरण करते है[१०], जहाँ सद्गुण (=योग्यता) को सर्वोच्च सम्मान का स्थान प्राप्त नही होता वहाँ श्रेष्ठतत्र व्यवस्था भली भाँति स्थायी नही हो सकती। जिन लोगो ने अपने पद को मोल लेने मे धनव्यय किया है उनसे स्वाभाविकतया यह आशा की जा सकती है कि वे अपने को लाभान्वित करने की प्रवृत्ति रखते ही होगे, यह कल्पना करना तो मूर्खता होगी कि निर्धन किन्तु ईमानदार व्यक्ति तो लाभ कमाने की इच्छा सभवतया कर सकते है, परन्तु दु स्वभाव और नीच पुरुष जो धन-व्यय कर चुका है लाभ उठाना नही चाहेगा। अतएव सबसे भली बात यही है कि जो व्यक्ति सबसे अच्छा शासन करने की क्षमता रखते हो उनको शासन करने दिया जाय, और यदि व्यवस्थाकार योग्यतम व्यक्तियो के लिये पर्याप्त जीविका का स्थायी प्रबन्ध नही भी करता है तो भी उसको कम से कम उन लोगो के लिये तो अवकाश का प्रबन्ध करना ही चाहिये जो (निर्धन होते हुए) पदारूढ है[११]।

यह भी एक दोष प्रतीत होता है कि एक ही व्यक्ति अनेक पदो पर अधिकृत हो, और कार्खीदौन् मे ऐसा होना सर्वविदित है। प्रत्येक कार्य का सम्पादन तभी उत्तम

प्रकार से होता है जब वह एक व्यक्ति के द्वारा किया जाता है। व्यवस्थाकार को ध्यान रखना चाहिये कि इस नियम का पालन किया जाय तथा एक ही व्यक्ति को बाँसुरी बजाने और जूता बनाने के लिये नियुक्त नही करना चाहिये। अतएव जहाँ राष्ट्र छोटा न हो, वहाँ राष्ट्र के शासक पदो का बहुत से मनुष्यो मे बँटा होना, वैधानिक एव जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तो के अधिक अनुकूल होता है। जैसा कि हम पहले कह चुके है, इस प्रकार का प्रबन्ध अपेक्षाकृत अधिक पक्षपातरहित होता है, और कोई भी कार्य बार-बार किये जाने पर सुविज्ञात हो जाता है और तब सुष्ठुता और शीघ्रतापूर्वक किया जा सकता है। यह बात सैनिक और नाविक विषयो मे स्पष्टतया प्रकट होती है। इन दोनो ही क्षेत्रो मे आज्ञा देने और आज्ञापालन करने का कार्य सर्वत्र व्याप्त रहता है (अर्थात् सब पर लागू होता है[१२]।)

कार्खीदौन् की व्यवस्था (एक सीमा तक श्रेष्ठतत्र का अनुसरण करने पर भी) व्यावहारिक रूप मे कुलीनतत्रात्मक ही है। परन्तु समय-समय पर जनता के एक भाग को बारी-बारी से उपनिवेशो मे भेजकर और इस प्रकार उनको सम्पन्न बनने का अवसर देकर यहाँ के निवासी इस पद्धति के दोषो से बडी सुन्दरता के साथ बच जाते है।[१३] यही उनकी सर्वरोगहारिणी औषधि है और व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने का उपाय है। और फिर दैवयोग भी उनकी सहायता करता (प्रतीत होता) है, पर क्रान्ति के भय को रोकने का सच्चा उपाय तो व्यवस्थाकार की (उत्तम) व्यवस्था होनी चाहिये न कि दैवयोग। प्रस्तुत परिस्थिति जिस प्रकार की है उसमे यदि कोई दुर्भाग्य[१४] घटित हो जाय और अधिकाश जनसमूह शासको के विरुद्ध विद्रोह कर बैठे तो इस व्यवस्था मे नियम द्वारा शान्ति स्थापित करने का कोई उपाय (अथवा इलाज) नही है।

लाकैदायमौन्, क्रेते और कार्खीदौन् की शासन-व्यवस्थाओ का लक्षण यही (जैसा कि वर्णन किया गया) है—जो व्यवस्थाएँ उचितरूपेण ही सुविख्यात है।

टिप्पणियाँ

१. कार्खीदौन् (अथवा कार्खेदौन्) का अंग्रेजी नाम कार्थेज है। यह स्थान अफ्रीका के उत्तरी तट के मध्य में स्थित है और ट्यूनिस के पास है। सार्डीनिया द्वीप इसके उत्तर में और सिसिली द्वीप उत्तर-पूर्व में है। कार्थेज वास्तव में फौइनिके के फोनीशियन (संस्कृत पणि=वणिक्?) लोगो का उपनिवेश था जो कि तीरे (Tyre)

नगर के निवासियों ने ई० पू० नवी शताब्दी के लगभग बसाया था। यह जाति अत्यन्त प्राचीन काल से सामुद्रिक यात्रा और व्यापार के लिये विख्यात रही है। कुछ विद्वान् ऋग्वेद के पणि शब्द को इन्हीं लोगो का वाचक मानते हैं। ग्रीक भाषा की वर्णमाला इन्हीं लोगो का आविष्कार कही जाती है।

कार्थी (र्खे) दौन् की शासन-पद्धति मुख्यतया श्रेष्ठतंत्र (अरिस्तौक्रातिया) के सिद्धान्तों पर आश्रित थी। शासनतंत्र मुख्यतया दो प्रमुख शासको और एक परिषद् के हाथ में था। आरंभ मे यह दोनो शासक सभवतया न्यायाधीश थे पर धीरे धीरे उनको शासनात्मक अधिकार भी प्राप्त हो गये थे। युद्धकाल में यही सेनानायको का पद ग्रहण कर लेते थे। ग्रीक लोग इनको बसीलेइस् और रोमन लोग रेगेस कहते थे। इन दोनो ही शब्दों का अर्थ राजा है। कभी कभी रोमन् लोग इनको प्राएतोरेस् भी कहा करते थे। पर अपनी भाषा में इनका जो नाम था उसका रोमन रूप सुफ्फेतेस् (Suffetes) है। यद्यपि यह अधिकार केवल एक वर्ष के लिये प्रदान किया जाता था पर ई० पू० ५२० और ई० पू० ३०० के मध्य में यह पद प्रथमतः मागो के वंश मे और तदनन्तर हन्नो के वंश में सीमित बना रहा। जैसा कि अरिस्तू ने वर्णन किया है इस नगर की शासन-पद्धति विशुद्ध श्रेष्ठतंत्र नही थी उसमें अल्पजनतंत्र (ऑली-गार्खिया) और जनतंत्र के तत्त्वो का भी उचित मात्रा में सम्मिश्रण था।

फ़ीनीशियन लोग अपने समय के अत्यन्त साहसी व्यापारी थे। पूर्व और पश्चिम में दूर दूर तक इनका व्यापार चलता था। जिब्राल्टर से लेकर लघु एशिया तक यह प्राय: उस समय की सभी बहुमूल्य वस्तुओ का व्यापार किया करते थे। सम्पत्ति की वृद्धि के साथ ही साथ इनकी राजनीतिक शक्ति भी बढ़ी-चढ़ी थी। रोमन साम्राज्य के आरंभिक काल से ही इनकी रोम के साथ संधियाँ होने लगी थी। इनके फल-स्वरूप रोमन साम्राज्य को कार्थेज की ओर बढ़ने में सफलता नहीं मिली।

इनका जहाजी बेड़ा अजेय और परम शक्तिशाली था। इसका संचालन स्वय कार्थेज के नागरिको के हाथ में था। पर इनकी सेना वेतनभोगी विदेशियों की थी। यह इतना बड़ा नगर था कि इसकी अवनति के दिनो में भी इसकी जनसंख्या ७ लाख के लगभग थी।

२. अरिस्तू के हृदय में ग्रीक जाति के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति होते हुए भी उसने एक ग्रीकेतर जाति की शासन-व्यवस्था का प्रशंसात्मक वर्णन किया। यह कुछ विचित्र सी बात लगती है। पर उसने ऐसा संभवतया इसलिये किया क्योंकि कार्थेज की शासन-व्यवस्था एक मिश्रित व्यवस्था है और ऐसी व्यवस्था अरिस्तू की सम्मति में सर्वोत्तम होती है।

३. अरिस्तू के मत में लाकैदायमौन् के राजा लोग अयोग्य और स्वार्थपरायण थे। उनकी अविश्वसनीयता के विषय में वह पहले भी लिख चुका है।

४. श्रेष्ठतत्र और संविधानतंत्र शब्दो का प्रयोग यहाँ जिस अर्थ में हुआ है उसको स्पष्टतया समझ लेना चाहिये। यूनानी राजनीति में कई प्रकार की शासन-पद्धियाँ चलती थी, जैसे (१) बसीलेइया (=कुलक्रमागत राजा का शासन), (२) अरिस्तौक्रातिया (=गुणो और योग्यता की दृष्टि से श्रेष्ठ लोगो का शासन), (३) औलिगार्खिया (=अल्पसंख्यक धनिक लोगो का शासन) (४) देमौक्रातिया (=बहुजनो का जनतंत्र), (५) तिरान्नै (=तानाशाही) इत्यादि। प्रस्तुत प्रसंग में अरिस्तू ने मूल में अरिस्तौक्रातिया और पौलितेइया शब्दो का प्रयोग किया है तथा यहाँ इनका अनुवाद "श्रेष्ठतंत्र और विधानतत्र" किया गया है। यो तो "पौलि-तेइया" शब्द का सामान्य अर्थ किसी भी प्रकार का संविधान अथवा शासन-व्यवस्था अथवा राजनीति है पर यहाँ उसका अर्थ है "मिश्रित वैधानिक शासन-पद्धति" जो अरिस्तू के मत में श्रेष्ठ प्रकार की व्यवस्था है क्योकि इसमें बसिलेइया, अरिस्तौक्रातिया, औलिगार्खिया और देमौक्रातिया सभी के तत्त्वों का समन्वित मिश्रण पाया जाता है। इसी कारण ऐसा प्रतीत होता है कि मानो अरिस्तू ने अरिस्तौक्रातिया और पौलितेइया शब्दो का व्यवहार उनको समानार्थक मानकर किया हो, क्योकि औलिगार्खिया और देमौक्रातिया के विशुद्ध रूपो मे अरिस्तौक्रातिया का अंश न रहने के कारण उनको न अरिस्तौक्रातिया कहा जा सकता है और न पौलितेइया। आगे भी जहाँ पौलितेइया शब्द का अर्थ मूल पुस्तक में केवल व्यवस्था अथवा संविधान होगा तो उसका अनुवाद इन्ही शब्दो द्वारा किया जायगा, पर जहाँ उसका अर्थ मिश्र-व्यवस्था होगा तो उसका अनुवाद यथासंभव "संविधानतंत्र" शब्द से किया जायगा।

५. इनका नाम कार्थेज में "सुपफेते" था और इनकी संख्या दो होती थी।

६. पंचमंडलियो के लिये मूल में "पेन्तार्कि(खि)या" शब्द आया है जिसका अर्थ पाँच अधिकारियो का समूह। इनके विषय में कुछ अधिक ज्ञात नही है। लिडैल् और स्कॉट के कोश के अनुसार यह लोग कार्थेज की शासन पद्धति में "सुफ्फ़ेते" के पश्चात् सर्वोच्च शासनाधिकारी होते थे।

७. लाकैदायमौन् (स्पार्टा) और कार्खो (खें) दौन् दोनो ही राष्ट्रो की व्यवस्था में न्याय करने का काम शासनाधिकारियो द्वारा किया जाता था न कि नागरिक परिषद् द्वारा। अन्तर इतना था कि स्पार्टा मे विभिन्न प्रकार के व्यवहार (मामले) पृथक् पृथक् शासनाधिकारियो द्वारा निर्णीत होते थे पर कार्थेज में सब प्रकार के व्यवहार सब शासनाधिकारियो द्वारा निर्णय किये जा सकते थे। इससे यह स्पष्ट नही होता

कि अरिस्तू ने क्यो स्पार्टा की पद्धति को अल्पजनतंत्रात्मक और कार्थेज की पद्धति को श्रेष्ठतंत्रात्मक कहा है। संभवतया स्पार्टा की न्यायप्रणाली को अल्पजनतंत्रात्मक इसलिये कहा गया है क्योकि इसके अनुसार किसी एक प्रकार के व्यवहारो का फैसला करनेवाले न्यायकर्ताओ की संख्या स्वल्प ही रहती होगी। पर क्योकि सब प्रकार के व्यवहारो का निर्णय करने के लिये बहुत से न्यायाधिकारियो को नियुक्ति प्राप्त होती रही होगी, इस दृष्टि से इस पद्धति को जनतंत्रात्मक भी कहा जा सकता है। दूसरी ओर, कार्थेज की पद्धति को श्रेष्ठतत्रात्मक इस अर्थ मे कहा गया है कि जब सब शासनाधिकारी सब प्रकार के व्यवहारो का निर्णय कर सकते थे तो सब में सद्गुण और योग्यता व्यापक रूप में पाई जाती रही होगी और योग्यता ही श्रेष्ठतंत्र का लक्षण है।

८. कुलीनतत्र, अल्पजनतंत्र अथवा धनिकतत्र यह सब शब्द औलिगार्खिया के हिन्दी रूपान्तर हैं। धनिक लोग थोड़े होते है और उनको अपनी कुलीनता पर गर्व होता है। पाश्चात्य देशो में धनवत्ता और कुलीनता अत्यन्त प्राचीन काल से सहचरी रही है। पर भारतवर्ष मे ऐसा नही रहा है।

९. योग्य लोगों के योगक्षेम की व्यवस्था राष्ट्र और राष्ट्र के संविधान को करनी चाहिये, ऐसा अरिस्तू का मत है। स्वयं उसके योगक्षेम की व्यवस्था कुछ समय हर्मेइयास् ने और तत्पश्चात् अलैक्षान्द्र ने की थी।

१०. तुलना कीजिये :--

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते।। गीता ३।२१

११. यदि ऐसा नही होगा तो या तो राष्ट्र को योग्य किन्तु निर्धन व्यक्तियों की योग्यता का लाभ प्राप्त नही हो सकेगा और या निर्धन योग्य व्यक्ति पदारूढ होकर भ्रष्टाचार का शिकार बनेगें।

१२. क्योकि प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर उससे ऊँचा अधिकारी होता है और उसके नीचे उसकी आज्ञा माननेवाले अनुचर होते हैं।

१३. कार्खेदौन् के निवासी महान् नाविक शक्ति से युक्त थे अतएव उन्होने बहुत से उपनिवेश बसाये थे तथा इन उपनिवेशो के रहनेवाले व्यापार के द्वारा धनवान् बन जाते थे।

१४. कार्खेदौन् के दुर्भाग्य का समय अरिस्तू की आँखो के सामने नही था। इस व्यापारी जाति का जब रोमन जाति से सघर्ष हुआ तो उस दुर्भाग्य का समय आया और ई० पू० २६४ से लेकर ई० पू० १४६ तक के मध्य में तीन प्यूनिक युद्धों में कार्थेज की शक्ति का अन्त हो गया। इन युद्धो में दूसरा युद्ध, जिसमें महाबली हन्नीबाल को पराजित होना पड़ा, विश्व-इतिहास की महान् घटना है।

१२

अन्य नियम-निर्माताओं का विवरण

जिन लोगो ने शासन-व्यवस्थाओं का विवरण प्रस्तुत किया है उनमे से कुछ ने सार्वजनिक कार्यो मे कभी भाग नही लिया था, प्रत्युत व्यक्तिगत स्थिति मे ही जीवन व्यतीत किया था। उनमे से लगभग सबके विषय मे जो कुछ कहने योग्य था कहा जा चुका है। कुछ अन्य लोग ऐसे थे जिन्होने क्रियात्मक रूप से या तो अपने नगर के लिये अथवा किसी दूसरे नगर के लिये विधान-निर्माण का काम किया था और जो इस प्रकार शासन-कार्य से सबद्ध रहे थे। इनमे से भी कुछ केवल नियम (कानून) बनाने का काम करनेवाले थे एव कुछ अन्य सविधान (=व्यवस्था) और नियम दोनो का निर्माण करनेवाले थे। उदाहरणार्थ लोकूर्गौस्[१] और सौलोन्[२] दोनो ही प्रकार का काम करनेवाले थे—उन्होने न केवल नियमो का निर्माण किया प्रत्युत सविधानो की भी रचना की। लाकैदायमौन् की व्यवस्था के विषय मे तो मै कह ही चुका हूँ। सौलोन् के विषय मे कुछ लोगो का विचार है कि वह एक उत्तम नियम-निर्माता था जिसने कुलीन (धनिक) तत्र को, (जो कि सर्वसत्तासपन्न था) समाप्त कर दिया, साधारण जनता को दासता से मुक्त कर दिया और (अथेन्स की) उस पुरातन पैतृक जनतत्र-पद्धति की स्थापना की जिसके अन्तर्गत राष्ट्र के विविध अगो का सुन्दर समन्वय घटित हुआ। (इन लोगो की सम्मति मे) आरेयोपागस्[३] की परिषद् कुलीनो (धनिको) की सस्था थी, चुना हुआ शासक-मडल श्रेष्ठ (योग्य नागरिक) लोगो की, और सार्वजनिक न्यायालय जनसाधारण की। पर वास्तविकता तो ऐसी प्रतीत होती है कि धनिक परिषद् और चुने हुए शासको का मडल यह दोनो तो उसके पूर्व से ही चले आ रहे थे, उसने उनको समाप्त नही किया, बना रहने दिया। पर उसने न्यायालयों की सदस्यता को प्रत्येक नागरिक के लिये उन्मुक्त करके जनतत्र के सिद्धान्त का सूत्रपात निश्चयमेव किया। इसी कारण उसके आलोचको द्वारा उसको दोष भी दिया जाता है क्योकि यह कहा जाता है कि उसने न्यायालयो को (जिनके सदस्य गुटिका-पद्धति से चुने जाते है) सब मामलो मे सर्वोच्च सत्ता प्रदान करके इतर तत्त्वो को वास्तव मे समाप्त कर दिया। आगे चलकर जब न्यायालयो की शक्ति बढ गई तो जिस प्रकार तानाशाहो की चापलूसी करते है इसी प्रकार तानाशाह-जनता की चापलूसी और प्रसन्नता के लिये पुरातन विधान को प्रस्तुत चरम प्रजातत्र-प्रणाली के रूप मे बदल दिया गया। ऐफियाल्तेस्[४] और पैरिक्लेस्[५] ने आरेयोपागस् की शक्ति को, काट-छॉट

करके, घटा दिया, पैरिक्लेस् ने न्यायालय के सदस्यो को भत्ता देने का नियम निर्धारित किया। इस प्रकार प्रत्येक लोकनायक ने बारी-बारी से जनतत्र की शक्ति को बढाया और अन्ततोगत्वा वह बहुत अधिक बढकर अपने वर्त्तमान स्वरूप को प्राप्त हो गई। यह सब है तो सत्य, परन्तु ऐसा सौलोन् के अभिमतानुसार घटित हुआ प्रतीत नही होता, प्रत्युत परिस्थितिवशात् ऐसा हो गया है। फारस (मेदीस)[६] के साथ युद्ध मे (अथेन्स) के सामुद्रिक साम्राज्य को प्राप्त करने का कारण होने से जनता अपने को बहुत मानने लगी, और उसके हित का साधन और समर्थन करनेवाले अयोग्य नेता (जिनका भले विवेकशील वर्ग के लोग विरोध करते थे) भी उपलब्ध हो गये। ऐसा लगता है कि सौलोन ने स्वय तो (अथेन्स) निवासियो को केवल शासको को चुनने और उनके चरित्र और कार्यो का विवरण प्राप्त करके उनको ठीक रखने भर का (अल्पतम) अधिकार दिया था जो नितान्त आवश्यक था, क्योकि इस शक्ति (अधिकार) के बिना जनता की दशा दासो के समान रहती और वह शासनतत्र मे वैरभाव रखती। उसने सब शासको (= उच्च पदाधिकारियो = मजिस्ट्रेटो) को सुविदित और सम्पन्न लोगो के मध्य मे से चुनने का नियम बनाया—अर्थात् ५०० मैदिम्नॉस् (अन्न की माप) उत्पन्न करनेवाली भूमि के स्वामियो को जेयुगितॉस् (२०० मापो की आय अथवा बैलो की जोट वाले) वर्ग को तीसरे[७] हिप्पेइस् (अश्वारोही सरदारो) को ही नियुक्त करने का नियम बनाया। चौथा वर्ग थेतैस् नामक श्रमिको (जिनकी आय २०० मापो से कम थी) का था जिनको शासन-कार्य मे कोई भाग प्राप्त नही था।

जालेयुकस्,[८] जिसने एपीजैफीरी[८] लौक्रियन लोगो के लिये नियम बनाये थे तथा खारोन्दास्[९] जिसने स्वय अपनी नगरी काताना के लिये एव इतालिया और सिकैलिया (इटली और सिसिली) मे बसे हुए खाल्किस[१०] नगरी के उपनिवेशो के लिये नियम बनाये थे—ये दोनो केवल नियम-निर्माता (अथवा स्मृतिकार) थे। कुछ लेखक इससे भी पुरानी कथा छेडते है और उनकी युक्ति है कि औनौमाक्रितस्[११] ऐसा प्रथम व्यक्ति था जिसको नियम-निर्माण कार्य मे दक्षता प्राप्त थी। यद्यपि उसका जन्म लौक्रिस् मे हुआ था, पर उसने सिद्ध (पैगम्बर) के रूप मे क्रेते के प्रवास-काल मे यह शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की थी। इन लोगो के मतानुसार क्रेते का थालेस्[१२] उसका सहचर था, लीकूर्गौस् और ज़ालेयुकस् इस थालेस् के शिष्य थे और खारोन्दास् जालेयुकस् का शिष्य था। परन्तु इन लोगो का ऐसा कहना ऐतिहासिक कालानुक्रम से तनिक भी मेल नही खाता[१३], किन्तु कौरिन्थ निवासी फिलौलाउस्[१४] भी एक नियम-निर्माता हो चुका है जिसने थेबैस नगर के लिये नियमो की रचना की थी। अपने जन्म-

स्थान मे वह बक्खियादो के कुल मे उत्पन्न हुआ था एव औलिम्पिक विजेता दियौक्लेस् का प्रिय सखा था, जिसने अपनी माता हाल्कियोने के अपने प्रति अवैध प्रणय से घृणा करने के कारण कौरिन्थ नगर का परित्याग किया और थेबैस् को अपना निवासस्थान बनाया, जहाँ दोनो मित्र आमरण एक साथ रहे। और अभी तक उनकी समाधियाँ दर्शको को दिखाई जाती है जो एक दूसरी से भली भाँति दिखलाई पडती है, किंतु इनमें से एक कौरिन्थ के प्रदेश की ओर देखती प्रतीत होती है पर दूसरी ऐसी नही है। पुराण-परम्परा का कहना है कि दोनो मित्रो ने जान-बूझकर अपनी समाधियो की व्यवस्था इस प्रकार की थी,—दियौक्लेस् ने अपने पीडामय अतीत की बीभत्सता के कारण ऐसा निश्चय किया था कि उसकी समाधि से कौरिन्थ की भूमि दिखलाई न दे और फिलौलाउस् ने ऐसा प्रबन्ध किया कि उसकी समाधि से उसकी जन्मभूमि दिखलाई देती रहे[१५]। उनके थेबैस् मे बसने का कारण यही था, अतएव फिलौलाउस् ने थेबैस् के लिये नियम बनाये। अन्य नियमो के साथ उसने थेबैस् निवासियो को सन्तानोपलब्धि[१६] का भी नियम प्रदान किया जो दत्तक-नियम कहलाता है। यह नियम उसके बिलकुल अपने विलक्षण नियम थे (अन्य किसी स्मृतिकार ने इस प्रकार के नियम नही बनाये थे) एव इनका उद्देश्य कुटुम्बो के भूमिखडो को स्थायी और ज्यो का त्यो बना रहने देना था।

खारोन्दास् के नियमो मे झूठे साक्षियो के विरुद्ध अभियोग चलाने की व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्तिगत विशेषता नही है। वह प्रथम व्यक्ति था जिसने मिथ्या साक्ष्य के विरुद्ध भर्त्सना करने की प्रथा चलाई। सामान्यतया उसके नियमो की अभिव्यजना की यथातथ्यता की दृष्टि से वह आजकल के नियम-निर्माताओ से भी अधिक परिपूर्ण प्रबन्धकार प्रतीत होता है।

[फालेयॉस्[१७] द्वारा प्रस्तावित कानून की विशेषता सम्पत्ति का समविभाजन है। प्लातोन् के नियमो की विशेषताएँ, स्त्रियो, बच्चो और सम्पत्ति का समाजीकरण, स्त्रियो का सहभोज, मदिरा-पान के विषय मे यह व्यवस्था कि अप्रमत्त लोग ही भोजोत्सवो के अधिष्ठाता हो, इनके साथ ही योद्धाओ की ऐसी शिक्षा कि अभ्यास द्वारा वे दोनो हाथो के प्रयोग मे ऐसी दक्षता प्राप्त कर सके जिससे एक हाथ उतना ही उपयोगी हो जाय जितना दूसरा, इत्यादि बहुत सी है।]

द्राको[१८] के बनाये हुए भी कुछ नियम है, परन्तु उसने उनको पूर्वोपलब्ध व्यवस्था मे सयोजित कर दिया था, उनसे विधान मे कोई परिवर्तन नही हुआ। इन नियमो

मे दण्ड की कठोरता और अधिकता को छोडकर और कोई निजी विशेषता नही है।

पित्ताकस्[१९] भी केवल नियम-निर्माता हुआ है न कि व्यवस्थाकार। उसका एक विलक्षण नियम यह है कि मदमत्त अपराधी को अप्रमत्त अपराधी की अपेक्षा अधिक भारी दण्ड दिया जाना चाहिये। उसने ध्यानपूर्वक देखा कि मदमत्त लोगो के द्वारा अप्रमत्त व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक हिसापराध किये जाते है, पर मदमत्त व्यक्ति की ओर से दण्ड से बचने के लिये जो युक्ति उपस्थित की जा सकती है उसने उसका विचार न करके सार्वजनिक उपयोगिता पर ही दृष्टि रक्खी।

रेगियुम्[२०] निवासी आन्द्रौदामा[२१] ने थ्राके[२२] मे स्थित खाल्कीदियो (खल्जियो) की बस्तियो के लिये नियम बनाए है। इनमे से कुछ का सबध मानव-हत्या एव उत्तराधिकारिणी कन्याओ (अथवा स्त्रियो) से है। परन्तु इनमे कुछ भी वर्णनीय विलक्षणता नही है।

अतएव अब हम उन दोनो प्रकार की व्यवस्थाओ से सबध रखनेवाले अनुसधान को समाप्त करे, जो या तो वास्तव मे शासन-कार्य मे उपयुक्त हुई है अथवा दार्शनिको द्वारा आविष्कृत हुई है (पर शासन-कार्य मे उपयुक्त नही हुई)।

टिप्पणियाँ

१. इस अध्याय का विषय द्वितीय पुस्तक के आरंभ में दी हुई योजना से पूर्णतया मेल नही खाता। न्यूमैन को इसके अधिकांश भाग की प्रामाणिकता के विषय में भी बहुत सन्देह है। इसमें लेखक ने संविधानो अथवा व्यवस्थाओं का विवरण न देकर नियमो (कानूनो) और नियम-निर्माताओं की चर्चा की है।

२. सौलोन् का स्थान अथेन्स की राजनीति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसका समय लगभग ई० पू० ६४० से ई० पू० ५५८ तक माना जाता है। उसका जन्म अथेन्स के संभ्रांत परिवार में हुआ था और उसके पिता का नाम ऐक्सेकैस्तिदेस् था। युवावस्था में उसने धन-संग्रह के लिये सौदागर के रूप में यात्राएँ की थीं। इन यात्राओं की समाप्ति पर उसने सालामिस् को जीतने का सफल आन्दोलन किया। इस सफलता के फल-स्वरूप वह ई० पू० ५९४ के लगभग अथेन्स का सर्वोच्च शासक (आर्खन्) मनोनीत हुआ और उसने अपनी विख्यात व्यवस्था का प्रवर्त्तन किया। प्रस्तुत अध्याय में अरिस्तू ने सौलोन की व्यवस्था के आलोचको को उत्तर दिया है, व्यवस्था का अधिक परिचय तो उसने

अपनी "अथेंस का संविधान" नामक पुस्तक मे दिया है। उसका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुधार 'ऋणमोचन' था। अपनी व्यवस्था को प्रवर्त्तित करके वह परिव्राजक बन गया। पर उसकी व्यवस्था को उसके जीवन-काल में ही हटा दिया गया और उसके पश्चात् पैइसिस्त्रातस् की तानाशाही स्थापित हो गई। सौलोन् अत्तिक ग्रीक भाषा का प्रथम कवि था और उसकी रचनाओ के अवशिष्ट भाग पद्यबद्ध ही है। उसकी कविता का नमूना "अथेंस के सविधान" में देखा जा सकता है।

३. आरेयोपागस (आरेस का पर्वत) अथेंस में एक स्थान था जहाँ सर्वोच्च न्यायालय स्थापित था। अतएव आरेयोपागस् का अर्थ न्यायालय भी है। द्राको और सौलोन की व्यवस्था के अनुसार हत्या, आघात, लूट-पाट और विष देने के व्यवहारो (मामलो) का निर्णय इसी न्यायालय द्वारा किया जाता था।

४. ऐफियाल्तेस अथेंस का राजनयिक था और पैरीक्लेस् का मित्र था। इसके नियमो के कारण आरेयोपागस् की परिषद् के अधिकार कम हो गये और उसकी शासन और राजनीति संबधी शक्ति घट गई तथा उसको कुछ क्षेत्रो में केवल न्याय करने का अधिकार शेष रह गया। ई० पू० ४५१ के वसन्त-काल में ऐफियाल्तेस् की हत्या हो गई।

५. पैरीक्लेस् (लगभग ई० पू० ५००–ई० पू० ४२९ तक) अथेंस का एक महान् राजनयिक हुआ है। उसका समय अथेंस के इतिहास में "पैरीक्लेस् के युग" के नाम से अमर हो गया है। वह यो तो सुदीर्घ काल से प्रभावशाली व्यक्ति था पर ई० पू० ४४३ से ई० पू० ४२९ तक वह लगातार सेनाध्यक्ष चुना जाता रहा। उसकी महत्त्वाकांक्षा यह थी कि सब ग्रीक राष्ट्र मिलकर एक हो जायँ। पर स्पार्टा के विरोध के कारण ऐसा न हो सका। तदुपरान्त उसने एक प्रकार से अथेंस का साम्राज्य स्थापित करने का उद्योग आरंभ किया और आरंभ में उसको बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई पर अन्ततोगत्वा अथेन्स और स्पार्टा का युद्ध छिड़ गया जो पैलोपोन्नीशियन् युद्ध कहलाता है। इस युद्ध के फल-स्वरूप अन्त मे अथेंस की राजनीतिक महत्ता नष्ट हो गई। पर पैरीक्लेस् का शरीरान्त तो युद्ध के मध्य में ही हो गया। वह अत्यन्त धीर और गंभीर स्वभाव का व्यक्ति था। अपने विपक्षियो को समझा-बुझाकर अपने पक्ष में कर लेने की उसमें अद्भुत क्षमता थी। उसने अनेको राजनीतिक और आर्थिक सुधार किये और अनेको विख्यात भवनों का निर्माण किया। मिलैतस् नगर की एक अत्यन्त विदुषी और कुशल पातुर (हेताएरा) को, जिसका नाम अस्पशिया था, उसने अपनी जीवन-सहचरी बनाया था। अरिस्तू पैरीक्लेस् की नीतियों का पूर्णतया समर्थक नहीं था। वह अतिगामी जनतंत्रवाद को सामूहिक तानाशाही मानता था।

६. फारस के युद्ध से तात्पर्य ई० पू० ४७६ की लड़ाई से है जिसमें ग्रीक लोगों को महान् विजय प्राप्त हुई।

७. तीसरे से तात्पर्य उल्लेख-क्रम में तीसरे से है न कि महत्त्व में तीसरे क्योकि अश्वारोही सरदार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे। महत्त्वानुसार वर्गों का क्रम अथेंस के समाज में इस प्रकार था---(१) पैन्ताकौस्मियोमेदिम्नास् (=५०० अन्न की माप उत्पन्न करनेवाली भूमि के स्वामी); (२) हिप्पेइस (=अश्वारोही सरदार); (३) ज़ेउगितेस् (=२०० अन्न की माप उत्पन्न करनेवाली भूमि के स्वामी, अथवा एक बैल की जोट के स्वामी); (४) थेतैस् (=२०० अन्न की माप से कम उत्पन्न करनेवाली भूमि के स्वामी अथवा श्रमिक)।

८. ज़ालैयुकस् के विषय में अधिक ज्ञात नही है। लौक्री एपीज़ैफीरी नगर इटली के दक्षिण में है। इसका अर्थ है दक्षिणी लौक्रिस्।

९. खारोन्दास् ने एक शासन-व्यवस्था प्रस्तुत की थी।

१०. खाल्किस् नगरी एयूबोइया द्वीप में है। इस नगरी के निवासियो ने यूनान मे अनेकों उपनिवेश बसाये थे।

११. औनौमाक्रितस् के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। हाँ पैइसिस्त्रातस् के पुत्रो के शासन-काल में (ई० पू० ५२७ के लगभग) इसी नाम का एक व्यक्ति अथेंस में था जो भविष्यवाणी किया करता था। सभव है यही नियम-निर्माता भी रहा हो।

१२. थालेस् नाम के दो व्यक्ति ग्रीक पुरातत्त्व को विदित हैं। मिलैतस का थालेस् यूनान का आदि-दार्शनिक है। पर यहाँ पर दूसरे---अर्थात् क्रेते के थालेस्--का उल्लेख हुआ है; इसका दूसरा नाम थालेतास् भी था।

१३. न्यूमैन ने इन सब (ज़ालैयुकस् से लेकर थालेस्) की तिथियो का विश्लेषण करके यह निर्णय दिया है कि इनका जो कालक्रम दिया गया है वह ऐतिहासिक तथ्यों के विरुद्ध है। उसका कहना है कि "नियम-निर्माताओ की गुरु-परम्परा इतनी सरलता से नहीं बन जाती; लीकूर्गौस् थालेस् का शिष्य नहीं था, न थालेस औनौमाक्रितस का समकालीन था, न ज़ालैयुकस् लीकूर्गौस् का समकालीन था और न खारोन्दास् ज़ालैयुकस् का शिष्य था।" (अरिस्तू की राजनीति जिल्द २, पृ० ३७९)।

१४. यह मित्रता की विचित्र कथा यूनानियों को इसलिये प्रिय थी कि इसमे कौरिन्थ के राजवंश में उत्पन्न हुए फिलौलाउस् ने अपने मित्र का साथ देने के लिये राज-पाट सब को त्यागकर आजीवन-निर्वासन स्वीकार किया है।

१५. कौरिन्थ और थेब्रेस् की, (सीधी रेखा में), दूरी लगभग ४० मील थी।

१६. मूल में "पाइदौपौइया" शब्द आया है जिसका अर्थ कुछ लेखकों ने सन्तानोत्पादन किया है और कुछ ने दत्तक ग्रहण करना। यहाँ इसका अनुवाद सन्तानोपलब्धि

किया गया है जिसमें दोनो ही अर्थ सध जाते है। परिवार के सदस्यो की सख्या और सम्पत्ति में सन्तुलन रखने के महत्त्वपूर्ण नियम को भुला देने के कारण ही अरिस्तू ने पिछले ७ वें खड में फालेयास् की आलोचना की है।

१७. फालेयास् से आरम्भ होनेवाले भाग को न्यूमैन ने अपने संस्करण में अप्रामाणिकता के सन्देह में ब्रैकेट में रखा है। उसका अनुमान है यह अंश किसी हस्तलिखित प्राचीन प्रति के हाशिये (मार्जिन) की टिप्पणी थी जो मूल ग्रंथ में स्थान पा गई है। फालेयास् के विषय में इसी पुस्तक का सातवाँ अध्याय देखिये।

१८. ड्राको को ई० पू० ६२१ में यह विशेषाधिकार मिला था कि वह अथेंस के नियमों को व्यवस्था प्रदान करे और उनको नवीन प्रकार से प्रवत्तित करे। अथेंस के संविधान में अरिस्तू ने उसके विषय में अधिक विस्तार से लिखा है।

१९. पित्ताकस् ई० पू० ७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लैस्बौस् नामक द्वीप में जनतंत्र का नेता था। वह साप्फ़ो और अल्केयॉस् का समकालीन था और उसकी गणना ग्रीक सप्तर्षियो में होती है।

२०. रेगियुम् अथवा रेगियुन् इटली में दक्षिणतम नगर था।

२१. आन्द्रोदामा(स) के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नही हो सका है।

२२. थ्राके (अथवा थ्रायके) यूनान के उत्तर-पूर्व के विशाल प्रदेश का नाम था।

तृतीय पुस्तक

१

नगर और नागरिक की परिभाषा

शासनपद्धति के विषय मे, उसके विविध प्रकारो का स्वरूप कैसा है और उनमे से प्रत्येक का वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है, इत्यादि बातो की आलोचना करनेवाले को सबसे पहले अपना ध्यान स्वय नगर (=राष्ट्र=स्टेट) की ओर देना चाहिये अर्थात् यह पूछना चाहिये कि नगर[१] (=राष्ट्र=स्टेट) क्या है ? इस समय यह एक विवादास्पद विषय है। कुछ लोग कहते है कि राष्ट्र ने अमुक कार्य किया है, दूसरे लोग कहते है कि नही, राष्ट्रो ने नही धनिकवर्ग अथवा तानाशाह ने किया है। और फिर राजनयिक तथा नियमनिर्माता के निखिल कार्यकलाप का सबध नगर (-राष्ट्र) से ही है। एव विधान-व्यवस्था भी तो नगर (-राष्ट्र) मे निवास करनेवाले लोगो के जीवन का विशेष प्रकार का सघटन ही तो है। परन्तु क्योकि नगर (अथवा राष्ट्र) एक प्रकार का सघात[२] है, अतएव यह भी अन्य किसी अवयवी के समान अवयवो से घटित होता है—और राष्ट्र के पक्ष मे उसके घटक अवयव उसके निवासी नागरिक ही है। अत: यह स्पष्ट है कि हमको अपना अनुसधान नगर के स्वरूप की खोज करने के पूर्व नागरिक[३] के स्वरूप की खोज से आरभ करना चाहिये। अर्थात् नगर (अथवा राष्ट्र) नागरिको का सघात है अत हमको यह विचार करना चाहिये कि किसको नागरिक कहा जाय और वास्तव मे नागरिक है क्या ? (नगर के स्वरूप के समान) नागरिक के स्वरूप का विषय भी बहुधा विवादग्रस्त (अथवा सदिग्ध) रहा है। सब लोग नागरिक शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ मे नही करते। जो व्यक्ति जनतत्रात्मक शासन मे नागरिक होता है वही धनिकतत्रशासन मे बहुधा नागरिक नही होता।[४] (नागरिक के स्वरूप के इस) प्रस्तुत विवेचन मे से हम उन लोगो को छोड देते है जिनको नागरिक शब्द के यथार्थ अर्थ से भिन्न अन्य किसी अर्थ मे नागरिक सज्ञा प्राप्त हो गई है, जैसे कि कि वे लोग जिनको सम्मान के लिये नागरिक बना दिया गया है। हम कह सकते है कि कोई भी प्रकृत नागरिक इसलिए नागरिक नही बन जाता कि वह एक स्थान विशेष मे निवास करता है, क्योकि प्रवासी परदेशी लोग और दास भी प्रकृत नागरिको के साथ

एक ही स्थान पर निवास करते है (पर वे इस कारण नागरिक नही हो जाते)। और न वह व्यक्ति ही नागरिक हो सकता है जिसको अभियोग चलाने और अभियुक्त बनने के अतिरिक्त अन्य कोई वैध अधिकार प्राप्त नही है। इस प्रकार के अधिकार का उपभोग तो सन्धि की व्यवस्था के द्वारा विदेशियो के द्वारा भी किया जा सकता है। बहुत से स्थानो पर विदेशी लोग इस सीमित अधिकार का भी पूर्णरूपेण उपभोग नही करते, क्योकि उनको सरक्षक की आवश्यकता पडती है। अतएव वे इस अधिकार मे भी सीमित मात्रा मे भागीदार होते है। इस प्रकार इन लोगो को हम नागरिकता के विचार से ठीक इसी तरह छोड देते है जिस तरह उन बच्चो को, (जिनका नाम अत्यल्पायु होने के कारण नागरिको की सूची मे सम्मिलित नही हुआ है), तथा उन वृद्धो को (जो नागरिकता के कर्त्तव्यो से मुक्त कर दिये गये है) छोड़ दिया जाता है। नागरिक शब्द का एक विशिष्ट अर्थ ऐसा भी है जिसके अनुसार बालक और वृद्ध दोनों नागरिक कहला सकते है पर यह नितान्त निर्विशिष्ट अर्थ नही है, प्रत्युत बच्चो के पक्ष मे हम नागरिक के साथ 'अविकसित' विशेषण जोडते है और वृद्धो के लिये 'गतवयस्', अथवा हमको अन्य किसी विशेषण का प्रयोग करना पडता है, पर हम किस विशेषण का प्रयोग करते है इसमे कुछ नही धरा है क्योकि हमारा आशय बिलकुल स्पष्ट है। हम जिस नागरिक के स्वरूप का अन्वेषण कर रहे है वह ऐसा व्यक्ति है जो इस शब्द के विशुद्ध निर्विशिष्ट रूप मे नागरिक है तथा जिसके विषय मे उस प्रकार के किसी दोषारोपण के सुधार अथवा परिहार की आवश्यकता नही है जैसे बालक और वृद्ध के पक्ष मे अथवा जैसे नागरिकता के सम्मान से वचित अथवा निर्वासित नागरिको के पक्ष मे किये जाते है और फिर उनका परिहार किया जाता है। इस ठीक नपे तुले अर्थ मे नागरिक का अवच्छेदक इससे बढकर और कोई नही हो सकता कि "एक आदमी जो न्याय के प्रतिपादन और शासनपदाधिकार मे भागीदार हो।"

शासनपदो मे से कुछ, समय की दृष्टि से, निरन्तर चलनेवाले नही होते, अर्थात् एक ही व्यक्ति को उन पदो पर दो बार लगातार आरूढ नही होने दिया जाता, अथवा वही व्यक्ति एक निश्चित समय के उपरान्त दूसरी अवधि के लिये उनका उपभोग कर सकता है। दूसरे पद इस प्रकार के होते है कि उनमे इस प्रकार की समय की मर्यादा नही होती—जैसे सार्वजनिक न्यायालयो के न्यायाधीशो के पद अथवा सार्वजनिक परिषद् के सदस्य का पद। इस कथन के उत्तर मे तत्काल यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि ये (न्यायालयो के न्यायाधीश और परिषद् के सदस्य) पदारूढ नही

होते और न अपनी स्थिति के कारण शासन-कार्य मे भागीदार ही होते है।[५] पर सर्वोच्च सत्ताधारी व्यक्तियो के शासन-पदारूढ मनुष्यो की श्रेणी से पृथक् करना अवश्यमेव उपहासास्पद बात होगी। यह कोरी शाब्दिक युक्ति है, इससे कुछ अन्तर नही पडता। न्यायाधीश और सार्वजनिक परिषद् के सदस्य इन दोनो मे समान भाव से उपलब्ध सत्ता को सूचित करने के लिये अथवा दोनो को प्राप्त स्थिति को सूचित करने के लिये हमारे पास कोई एक शब्द नही है। स्पष्टता के लिये, लाइये हम इसको 'अपरिच्छिन्न' पद (अर्थात् वह पद जो अपरिच्छिन्न समयावधि तक ग्रहण किया जाता है) कहे। इस प्रकार हम यह निर्धारित कर सकते है कि जो लोग उपर्युक्त 'पद' की परिभाषा के अनुसार पदाधिकार मे भागीदार है वे नागरिक है। यह नागरिक की सम्यक्तम परिभाषा है, तथा जो इस नाम से अभिहित होते है उनके लिये सबसे अधिक उपयुक्त है।

परन्तु हमको यह बात भी ध्यान से नही भुला देनी चाहिये कि उन वस्तुओ मे, जिनके आधारभूत तत्त्वो मे प्रकारगत और गुणगत भेद होता है, (तथा जिन आधारभूत तत्त्वो मे से एक प्रथम, दूसरा द्वितीय और तीसरा तृतीय इत्यादि होता है), जब इस प्रकार के सबध की दृष्टि से उन पर विचार किया जाता है, तब या तो कुछ भी सर्वगत सामान्य तत्त्व नही मिलता अथवा यदि मिलता भी है तो बहुत ही स्वल्प अथवा नगण्य।[७] (नागरिकता के विभिन्न आधारभूत तत्त्व विभिन्न राष्ट्र-व्यवस्थाएँ है) यह शासन-विधान या राष्ट्र-व्यवस्थाएँ परस्पर एक दूसरे से प्रकारत (एव गुणत) भिन्न होती है, और इनमे से कुछ स्पष्टतया प्रथम (उत्तम) और अन्य अवम (अधम) होती है। इनमे से वह, जो सदोष और विकृत होती है, अनिवार्यत उनकी अपेक्षा अवम होती है जो निर्दोष है, (और विकृत से हमारा आशय क्या है यह आगे चलकर बतलाया जायगा।) अत. प्रत्येक शासन-विधान के प्रकार के अनुसार नागरिक भी अवश्यमेव एक दूसरे से भिन्न होते है, एव हमारी (नागरिक की) परिभाषा जनतत्र (राष्ट्र) मे निवास करने-वाले नागरिक के लिये सबसे अधिक उपयुक्त है।[८] अन्य प्रकार के शासन-विधानो मे निवास करनेवाले नागरिको के लिये इसका उपयुक्त होना सभव हो सकता है। पर अनिवार्य नही। उदाहरण के लिये कुछ राष्ट्रो के शासन-विधानो मे जनता के अधि-कार को स्वीकार ही नही किया गया है, उनमे परिषद् की नियमित बैठकें भी नही होती, केवल यदा कदा विशेष आह्वान द्वारा बैठके हो जाया करती है, तथा व्यवहारो (मुक़दमो) का निर्णय भी यो ही विभागश बाँटकर कर दिया जाता है। जैसे कि लाकैदायमौन् मे ठेको के मुकदमो को सरपच लोग आपस मे बाँट लेते है और प्रत्येक

सरपच अलग अलग उनका निर्णय कर देता है, स्थविर-परिषद् मानव-हत्या के मामलो को निर्णय करने के लिये ले लेती है, इसी प्रकार अन्य मामलो का निर्णय कोई अन्य अधिकारी करते है। बहुत कुछ इसी प्रकार की पद्धति कार्खेदौन् (कार्थेज) मे भी प्रचलित है, जहाँ अधिकारियो के अनेक मडलो को सभी प्रकार के विवादो के निर्णय करने का अधिकार प्राप्त है।[९]

शासन-व्यवस्था मे प्रकारो की विभिन्नता से उत्पन्न इस कठिनाई को लॉघने के लिये हमारी परिभाषा का सशोधन किया जा सकता है। हमको इस पर ध्यान देना है कि जनतत्र से भिन्न इन अन्य व्यवस्थाओ मे जनपरिषद् के सदस्य और न्यायाधीश अपने पद पर अनिश्चित अवधि तक आरूढ नही रहते, प्रत्युत सुनिर्दिष्ट और सीमित समय तक ही उस पर नियत रहते है। सुनिर्दिष्ट कालावधि तक पदारूढ रहनेवाले इन अधिकारियो मे से बहुतो को अथवा कुछ ही को सब विषयो पर अथवा कुछ ही विषयो पर विचार करने या निर्णय करने का नागरिक का अधिकार इन शासन-व्यवस्थाओ मे प्राप्त रहता है। (इस प्रकार) नागरिक कौन है यह बात इस विवेचन से स्पष्ट हो गई। जो व्यक्ति किसी राष्ट्र के विचार-परिषद् अथवा न्याय-परिषद् सबधी शासन मे भागीदार होने के अधिकार का (निश्चित अथवा अनिश्चित अवधि तक) उपभोग करता है वह हमारे द्वारा उसका नागरिक कहा गया है, और नगर उपर्युक्त प्रकार के नागरिको का ऐसा समूह है जिसकी सख्या आत्मनिर्भरतापूर्ण जीवन की सत्ता के लिये पर्याप्त हो।[१०]

टिप्पणियाँ

१. आदि से लेकर अन्त तक सारे ग्रीक राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि नगर पर ही केन्द्रित रही। उनका नगर ही उनका राष्ट्र था और नगर से अधिक व्यापक और बड़े राष्ट्र की कल्पना वे नही कर सके। पैरीक्लेस् इत्यादि कुछ उदार नेताओ और अलेक्जाण्डर जैसे विजेताओ ने इस दिशा में जो यत्न किये उनमें स्थायी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी और अन्ततोगत्वा यह सीमित एवं संकुचित दृष्टिकोण ही ग्रीक जगत् की समाप्ति का कारण बना। अतएव अरिस्तू की राजनीति में सर्वत्र राष्ट्र के लिये पौलिस् और राष्ट्रविधान के लिये 'पौलितेइया' शब्द का प्रयोग हुआ है।

२. संघात के लिये मूल ग्रीक में "सिन्थैतौन्" (सं० संस्थान) शब्द आता है। यह शब्द अरिस्तू की दार्शनिक शब्दावली के अन्तर्गत है। संघात दो प्रकार के होते हैं एक सावयव (organic) और दूसरा निरवयव (aggregate)। सावयव

सघात में अवयव और अवयवी अथवा अंग और अंगी का संबंध पाया जाता है पर निरवयव सघात विभिन्न भागो का समह अथवा ढेर मात्र होता है । नगर सावयव प्रकार का सघात है । इसके अतिरिक्त सावयव संघात में शासक और शासित तत्त्वो का भी भेद पाया जाता है । निरवयव सघात में ऐसी कोई विशेषता नहीं पाई जाती, वह तो अपने भागो का संयुक्त समूह मात्र होता है ।

३. क्योकि अरिस्तू के अनुशीलन की पद्धति ही यह है कि अवयवी के स्वरूप (Nature) को समझने के पूर्व उसके अवयवो के स्वरूप को समझना चाहिये। प्रथम पुस्तक के आरंभ में ही उसने इस पद्धति का अनुसरण करने की प्रतिज्ञा की है। पर वहाँ उसने नगर के विश्लेषणात्मक और विकासात्मक दोनों स्वरूपो का विवेचन किया है और यहाँ केवल विश्लेषणात्मक रूप का। अरिस्तू के मत में किसी भी वस्तु का स्वरूप उसके चरम विकास से जाना जा सकता है और अवयवी के स्वरूप को समझने के लिये अवयवो का ज्ञान आवश्यक होता है। मनुष्यो का चरम विकास नगर में ही सभव है; क्योंकि मनुष्य सामाजिक अथवा नागरिक प्राणी है और नगर का स्वरूप समझने के लिये नागरिको के स्वरूप को समझना आवश्यक है। अतएव मानव और नगर के स्वरूप का विवेचन दो परस्पर संबद्ध किन्तु भिन्न ग्रथो में हुआ है जिनके नाम ऐथिक्स और पौलिटिक्स है। अरिस्तू के सामाजिक और राजनीतिक विचारों के व्यापक ज्ञान के लिये इन दोनो का अध्ययन अपेक्षित है।

४. जिस नगर-राष्ट्र की जैसी व्यवस्था (एकराट्तत्र, श्रेष्ठजनतंत्र, धनिकतंत्र, जनतंत्र, तानाशाही) होती है, उसके अनुसार वैसी ही उसके नागरिक की परिभाषा भी होती है।

५. नगर की व्यवस्था में कुछ अधिकारी ऐसे होते है जो कार्यकर मंडल(Executive) में अन्तर्भुक्त होते है और अन्य ऐसे होते है जो विचार-विमर्श करने और न्याय करने के लिये नियुक्त होते है। आजकल की परिभाषा में इनको विधानमंडल (Legislature) और न्यायकर मण्डल (Judiciary) के अन्तर्गत समझा जा सकता है। अरिस्तू का कहना है कि यह समझना भूल है कि केवल कार्यकर मंडल के लोगो को ही शासनाधिकार प्राप्त है। उसके मत में अन्य लोगों को किसी विशेष दिशा में उनसे ऊँचा शासनाधिकार प्राप्त है।

६. मूलमें अपरिच्छिन्न के लिये "आऔरिस्तॉस्" शब्द आया है जिसका अर्थ "सीमारेखारहित" अथवा अनिश्चित होता है।

७. यहाँ लेखक नागरिक की ऐसी परिभाषा की खोज में है जो सब नागरिको के लिये लागू हो। पर इस विषय में कठिनाई यह है कि किसी भी राष्ट्र की नागरिकता

का आधारभूत तत्त्व है उसकी शासन-व्यवस्था और यह शासन-व्यवस्था सर्वत्र एक प्रकार की है नही। किसी नगर-राष्ट्र मे उत्तम प्रकार की व्यवस्था है, किसी में द्वितीय प्रकार की और अन्य किसी में तीसरे चौथे इत्यादि प्रकार की। ऐसी परिस्थिति मे यदि नागरिक की ऐसी परिभाषा की खोज करें जो सर्वत्र सब राष्ट्रो के नागरिको के लिये एक समान लागू हो तो इस शर्त की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि सभी राष्ट्रो के नागरिको में कुछ समान तत्त्व पाया जाना चाहिये। पर जब इस समान तत्त्व की खोज करते है तो पता चलता है कि या तो ऐसा आधारभूत समान तत्त्व है ही नही और यदि है भी तो उसकी मात्रा नगण्य के बराबर है। इससे नागरिक की परिभाषा खोज निकालने का कार्य लगभग असंभव जैसा हो जाता है।

८. इस प्रकार सीमा बाँधने का कारण उपर्युक्त टिप्पणी से स्पष्ट है। परले सिरे की धनिकतंत्र व्यवस्था के नागरिक और चरम कोटि की जनतंत्रात्मक पद्धति के नागरिक में किसी समान तत्त्व के उपलब्ध होने की संभावना नही है। शायद एक ही बात उन सबमें समान है कि वे सब मानव हैं।

९. विभिन्न नगरो और विभिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्थाओ के उदाहरणो के द्वारा उपर्युक्त टिप्पणियो के विचारो को ही स्पष्ट किया गया है। परिषदो की बैठको का नियमित प्रकार से न होना इसी बात को सूचित करता है कि नागरिको को शासन-कार्य में कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। लाकैदायमौन् और कार्खेदौन् की व्यवस्थाओ का वर्णन किया जा चुका है।

१०. मनुष्य का सच्चा स्वरूप क्या है ? अरिस्तू के मत में इस प्रश्न का उत्तर (जैसा टि० ३ में कहा गया है) यह होगा कि जब हम मनुष्य का पूर्ण विकास देख लेंगे तब उसके स्वरूप को ठीक-ठीक समझ सकेंगे, इसके पूर्व नही। तब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य का पूर्ण विकास कब संभव है ? इसका उत्तर अरिस्तू ने नगर की परिभाषा के द्वारा दिया है। उत्तम प्रकार की व्यवस्था वाले एवं पर्याप्त जनसंख्यावाले नगर में ही मनुष्य के स्वरूप का पूर्ण विकास संभव है।

२

नागरिकता की प्राप्ति

व्यावहारिक दृष्टि से नागरिक की परिभाषा सामान्यतया इस प्रकार की गई है कि वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसके माता-पिता दोनो ही—न कि केवल कोई एक—नागरिक हो (अर्थात् जो नागरिक माता-पिता की सन्तान हो) , अन्य लोग इस शर्त

को और भी पीछे ले जाने पर—दो-तीन या इससे भी अधिक पितामहो की पीढियो तक खोज करने पर—जोर देते है। इस सक्षिप्त व्यावहारिक और जनसाधारण की समझ मे आ जानेवाली चलताऊ परिभाषा पर कुछ लोग यह आपत्ति उठाते है कि यह तीसरी अथवा चौथी पीढी का पूवज नागरिक स्वय किस प्रकार नागरिक बना ? लिऔन्तिनी के गौर्गियास[1] ने कुछ तो इस कठिनाई के अनुभव से और कुछ व्यगपूर्वक कहा है कि जिस प्रकार ओखलियाँ वह वस्तुएँ है जो ओखली बनानेवाले शिल्पियो के द्वारा बनाई जाती है, इसी प्रकार लारिस्सा[2] के नागरिक वह है जो उन शिल्पियो (अर्थात् लारिस्सा के सार्वजनिक शासको) के द्वारा बनाये जाते है जिनका व्यापार लारिस्सा के नागरिको का निर्माण करना है। पर (पहले के नागरिक पूर्वज के विषय मे प्रश्न उठाने का कोई कारण ही नही है, क्योकि) समस्या बिलकुल सरल है। यदि अपने समय मे वे हमारी परिभाषा की भावना के अनुसार शासन-कार्य मे भागीदार रहे तो निश्चयमेव नागरिक थे। जो लोग किसी नगर के आदिम निवासी अथवा सस्थापक हो उनके लिए नागरिक पिता से अथवा नागरिक माता से उत्पन्न होने की अर्हता की माँग करना स्पष्टतया असभव है।

परन्तु स्यात् इससे भी अधिक गभीर कठिनाई का सामना उन लोगो के विषय मे करना पडता है जो क्रान्ति के पश्चात् विधान मे परिवर्तन होने पर नागरिक बनाये जाते है , जिस प्रकार तानाशाहो के निर्वासन के पश्चात् अथेन्स मे क्लैइस्थैनेस[3] के द्वारा बनाये गये थे। उसने बहुत से विदेशियो को तथा दासवर्ग के विदेशी प्रवासियो को कबीलो मे सम्मिलित कर लिया था। ऐसे अवसरो पर इस बात का सशय नही उठता कि कौन नागरिक है, प्रत्युत इस बात का सशय पैदा होता है कि जो व्यक्ति नागरिक है उसको नागरिक होना चाहिये या नही ? फिर इससे भी आगे चलकर यह सशय उत्पन्न होगा कि वह व्यक्ति जिसको न्यायत. नागरिक नही होना चाहिये क्या वास्तव मे नागरिक हो सकता है और क्या अनुचित और असत् दोनो एक ही बात नही[4] है ? (इसका समाधान सरल है।) यह तो स्पष्टतया प्रतीत होता है कि अनेक पदारूढ व्यक्ति ऐसे है जिनका पदाधिकारी होना उचित नही है, पर तो भी हम उनको पदाधिकारी तो कहते ही है, यद्यपि हम यह नही कहते कि उनका ऐसा होना उचित है। (यही बात नागरिक के पक्ष मे भी लागू होती है) , उसकी परिभाषा भी 'किसी प्रकार का शासन करनेवाला (पदाधिकारी)' की गई है—अतएव, जैसा कि हम कह चुके है, वह व्यक्ति जो इस प्रकार के (न्याय अथवा नियम-निर्माण सबधी) शासन-कार्य मे भाग लेता है नागरिक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिनको यह अधिकार क्रान्ति

के उपरान्त विधान बदलने पर प्राप्त हुआ है एव जिनके विषय मे उपर्युक्त सदेह उत्पन्न हो गया है, उनको भी नागरिक कहा जाना चाहिये।

टिप्पणियाँ

१. गौर्गियास् (लगभग ई० पू० ४८५ से ३७५ ई० पू०) सिसिली मे लिऔन्तिनी स्थान का रहनेवाला सौफिस्ट और वक्ता था। उसकी वक्तृत्वकला में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य और प्रभावोत्पादकता प्राप्त होती है पर उतनी युक्तिसम्पन्नता नहीं मिलती। ई० पू० ४२७ में वह अपने नगर के दूतमंडल के साथ अथेंस में आया और उसकी वक्तृता का अथेंस निवासियो पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसके पश्चात् उसने समग्र ग्रीक-जगत् की यात्रा की एवं उसके सुदीर्घ जीवन की समाप्ति लारिस्सा नामक स्थान में हुई। प्लातोन ने "गौर्गियास्" नाम का एक संवाद लिखा है और उसमें ऐसा भाव प्रकट किया है कि सॉक्रातेस् भी गौर्गियास् के प्रति सम्मान का भाव रखता था।

२. लारिस्सा अथवा लरीसा प्राचीन काल में कई एक ग्रीक नगरियो का नाम था। पता नहीं कि यहाँ किस नगरी की ओर संकेत है। सम्भवतया यहाँ के शासनाधिकारी विदेशियो को नागरिकता का अधिकार प्रदान किया करते थे। स्वयं गौर्गियास् वहाँ वृद्धावस्था में एक विदेशी के रूप में ही पहुँचा था।

३. क्लैइस्थैनेस्, मैगाक्लेस और अगरिस्ते का पुत्र था। अथेंस के तानाशाह हिप्पियास का पतन हो जाने के पश्चात् धनी लोगो ने शासन को हस्तगत करने के लिये आन्दोलन आरम्भ किया। तब क्लैइस्थैनेस ने जनतंत्र के पक्ष का समर्थन किया और अन्य पक्षो को परास्त कर दिया। उसने पुराने संविधान में क्रान्तिकारी परिवर्तनो का प्रवर्तन किया। उसके संविधान की विशेषताओं के लिये "अथेंस का संविधान" देखिये।

४. क्रान्ति के पश्चात् जिन विदेशियों और दासों को नागरिकता प्रदान की गई उन में से कुछ अवश्य ऐसे रहे होगे जो न्यायतः नागरिक होने की योग्यता नहीं रखते होगे। प्रश्न यह उठता है क्या ऐसे लोगों को नागरिक मानना चाहिये या नहीं? अरिस्तू का विचार है कि जिस व्यक्ति को कानून की दृष्टि से नागरिक मान लिया गया उसको वैसा ही मानकर उसके साथ व्यवहार करना चाहिये।

३

राष्ट्र की एकता की कसौटी

परन्तु उनका नागरिक होना न्यायानुकूल है अथवा नही, यह एक ऐसा प्रश्न है जो पूर्वोक्त विवाद के साथ सबद्ध है। इस विवाद से जो समस्या उत्पन्न होती है वह यह निश्चय करना है कि अमुक कार्य राष्ट्र का कार्य माना जा सकता है अथवा नही ? उदाहरण-स्वरूप हम ऐसे धनिकतत्र अथवा तानाशाही के प्रसग को ले सकते है जो जनतत्र के रूप मे बदल गई है। ऐसे अवसरो पर उपर्युक्त प्रश्न उपस्थित होता है। ऐसी परिस्थिति मे लोग अपने ठहरावो और दायित्वो को पूरा करने मे आनाकानी करते है और यह युक्ति प्रस्तुत करते है कि उनका ठहराव तो तानाशाह के साथ हुआ था न कि राष्ट्र के साथ।[1] उनकी सम्मति मे कुछ राष्ट्र-व्यवस्थाएँ (केवल) बल के आधार पर आश्रित होती है, सर्वसाधारण की भलाई के लिए नही होती (अतएव ऐसी व्यवस्थाओ के कार्य राष्ट्र के कार्य नही हो सकते क्योकि राष्ट्र तो स्वभावत ही सबके हित के कार्य करता है)।[2] पर यह युक्ति तो दुधारी तलवार के समान है, और जनतत्र के विषय मे भी समान भाव से लागू होती है, क्योकि जनतत्रात्मक व्यवस्था भी तो (बल) हिंसा के आधार पर स्थापित हो सकती है , तब तो जनतत्र-पद्धति के शासन के कार्य भी उसी प्रकार राष्ट्र के कार्य नही होगे जिस प्रकार धनिकतत्र व्यवस्था अथवा तानाशाही व्यवस्था के—न उनसे कम न ज्यादा। ऐसा लगता है कि यहाँ जो समस्या उठाई गई है उसका एक और अधिक दूरगामी प्रश्न से निकट का सबध है और वह प्रश्न यह है कि हमको किस सिद्धान्त के आधार पर यह कहना चाहिये कि अमुक राष्ट्र जैसा था वैसा ही बना हुआ है अथवा (इसके विपरीत) यह राष्ट्र अब वह नही रहा अन्य हो गया।

केवल किसी नगर के स्थान और निवासियो की दृष्टि से ही इस समस्या का विचार करना बहुत ही ऊपरी दृष्टि से विचार करना होगा, क्योकि नगर की भूमि और जनसख्या तो दो अथवा अधिक भागो मे विभक्त हो सकती है और नगर के कुछ निवासी एक स्थान पर बसे हो सकते है और कुछ दूसरे पर (किन्तु ऐसा होने पर भी नगर की अनन्यता नष्ट नही हो सकती।) तो भी इस समस्या (और इसके समाधान) को अपेक्षाकृत सरल ही मानना चाहिये , हमको इस विषय मे यह ध्यान रखना चाहिये कि नगर (पौलिस्) शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो मे होता है[3] एव यह बात ध्यान मे रखने से उपर्युक्त समस्या का हल सरलता से हो जायगा।

इसी प्रकार इससे आगे एक ही स्थान पर निवास करनेवाले मनुष्यो के विषय मे भी यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकार बसे हुए मनुष्यो को कब (=किस अवस्था मे) एक नगर माना जा सकता है (अर्थात् भौमिक एकता से परे और उसके अतिरिक्त नगर की वास्तविक एकता का आधार क्या है)। नगर की प्राचीर तो निश्चय ही इसका आधार नही हो सकती।[४] समग्र पैलौपौनेसॉस्[५] को प्राचीरो से परिवेष्टित करना सभव है (पर क्या वह ऐसा करने से एक नगर हो जायगा ?) स्यात् बाबिलोन्[६] की गणना इस प्रकार की नगरियो मे हो सकती है, और वे सब नगरियाँ भी इसी प्रकार की होगी जिनका घेरा नगर की अपेक्षा इतना बडा हो जिसमे पूरी जाति[७] समा सकती हो। बाबिलोन् के विषय मे कहा जाता है कि उसके जीत लिये जाने के तीन दिन के पश्चात् तक जनता के एक भाग को इस घटना का पता नही चला था। किन्तु इस (नगर के आकार और एकता की) कठिनाई का विवेचन तो किसी अन्य अवसर के लिए स्थगित कर देना अधिक सुविधाजनक होगा। पर नगर के आकार को, तथा इस प्रश्न को (कि किसी नगर मे एक जाति का निवास हो या अनेको का) निर्धारित करना राजनीतिज्ञ का ऐसा कर्तव्य है जिसको उसे भुला नही देना चाहिये[८]।

और फिर एक प्रश्न यह भी है कि यद्यपि (वृद्ध) नगर-निवासी नित्य मरते रहते है और नये नित्य जन्म-ग्रहण करते रहते है, तथापि जब तक निवासियो की जाति तथा उनके रहने का स्थान पूर्ववत् वही रहे तब तक क्या वह एक ही (नगर-)राष्ट्र रहेगा, ठीक जैसे कि यद्यपि नदी की धारा मे जल बहता और पुन आता रहता है तथापि नदी को वही एक कहा और समझा जाता है ? अथवा क्या इसके विपरीत हमको यह कहना चाहिये कि मनुष्यो का प्रवाह तो नदी के समान वही रहता है, पर नगर बदल सकता है ? यदि नगर सचमुच ही (साझेदारी पर आश्रित) एक समाज[९] है, उन नागरिको की साझेदारी है जो किसी एक विधान-व्यवस्था के अनुसार सघटित (एकत्रित) होते है, अतएव जब राष्ट्र-व्यवस्था के प्रकारान्तरित हो जाने पर वह पूर्वापेक्षा भिन्न हो जाती है, तब तो अवश्यमेव यह समझा जा सकता है कि राष्ट्र भी वही पहलेवाला राष्ट्र नही रहेगा, और यह ठीक उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार कौमेदी का गायक-मंडल त्रागेदी के गायक-मडल से भिन्न कहा जाता है, यद्यपि दोनो मंडलो के घटक बहुधा वही एक होते है।[१०] जो बात गायक-मडलो के विषय मे ठीक है वही अन्य सब सघो और सघातो के विषय मे सामान्यतया सत्य है। किसी भी सघात के घटक तत्त्वों के सघटन मे प्रकार-भेद होने पर सघात ही बदल जाता है। उदाहरणार्थ एक ही स्वर-संगति मे यदि दौरियन् पद्धति के स्थान पर फ्रीगियन् पद्धति का उपयोग किया जाय तो हम उसको पूर्वापेक्षा

बदली हुई कहेंगे।[११] यदि यह बात ठीक हो तो यह स्पष्ट है कि राष्ट्र की एकता और अनन्यता निर्धारित करने की कसौटी उसकी विधान-व्यवस्था है। किसी नगर मे निवास करनेवालो की जाति चाहे वही रहे और चाहे बदल जाय तो भी वह एक ही नाम से अभिहित हो भी सकता है और नही भी (क्योकि निवासियो की जाति इस विषय मे कोई कसौटी नही है।) पर जब व्यवस्था-परिवर्तन के कारण राष्ट्र बदल जाय तब अपने ठहरावो को पूरा करना उचित है अथवा अनुचित यह एक पृथक् प्रश्न है।

टिप्पणियाँ

प्रस्तुत खंड मे अरिस्तू ने राष्ट्र की एकता का जटिल प्रश्न उठाया है और अन्तिम निर्णय यह दिया है कि राष्ट्र की एकता का आधार उसकी भूमि और निवासियों की एकता नहीं है, प्रत्युत उसकी शासन-व्यवस्था की एकता है। शासन-व्यवस्था अथवा संविधान वही रहे तो भूमि और जनता की स्थिति कैसी भी क्यों न हो राष्ट्र (=नगर-राष्ट्र) की एकता अक्षुण्ण बनी रहती है एवं यदि शासन-पद्धति बदल जाय तो भौमिक और जनता की एकता ज्यो की त्यो रहने पर भी राष्ट्र का रूप बदल जाता है। यह स्मरण रखना आश्वयक है कि अरिस्तू जो कुछ भी कह रहा है वह ग्रीक जगत् के इतिहास के अनुभव के आधार पर कह रहा है। उसके समय मे इस सबंध में दो विरोधी मत प्रचलित थे, एक यह कि राष्ट्र का स्वरूप स्थिर और स्थायी है तथा दूसरा यह कि राष्ट्र का स्वरूप परिवर्तनशील है। इन दोनों के मध्यमार्ग को अरिस्तू ने स्वीकार किया है। पर यह सब विचार आधुनिक जगत् के विशालकाय राष्ट्रो के संबंध में कोई अर्थ नहीं रखते। इसके अतिरिक्त हमारे आदर्श भी इन विचारों की सकुचितता को स्पष्ट सिद्ध कर देते हैं। ग्रीक जगत् के छोटे छोटे स्वतंत्र नगरों की पद्धति "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" वाले आदर्श के समक्ष एक परिहास की बात प्रतीत होती है। पर इतना सापेक्ष्य सत्य अरिस्तू के इस विचार में अवश्य स्वीकार करना होगा कि शासन-पद्धति का प्रभाव जनता के चरित्र पर एक सीमा तक पड़ता अवश्य है इसीलिये महाभारतकार ने यह स्वीकार किया था कि "राजा कालस्य कारणम्।" इसके विपरीत हमारे अपने देश का ही उदाहरण है। यद्यपि अपने सुदीर्घ इतिहास में भारतवर्ष ने शासन-पद्धतियों के न जाने कितने परिवर्तन देखे है और उनसे होनेवाले जनता के स्वभाव के परिवर्तनो का भी अनुभव किया है पर तो भी भारत की राष्ट्रीय एकता शताब्दियो ही में नही सहस्राब्दियो तक में अमर बनी रही है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यदि अरिस्तू ने इतिहास के इन अन्य उदाहरणों की जानकारी प्राप्त की होती तो वह अवश्य ही अपना मत-परिवर्तन कर देता।

१. यह एक व्यावहारिक समस्या है। हमारे समय में यह समस्या रूसी लाल क्रान्ति के पश्चात् उत्पन्न हुई थी। इसका समाधान विविध राष्ट्र विविध प्रकार से कर सकते हैं परन्तु प्रायः राष्ट्र पूर्व की व्यवस्था के दायित्वो को अंगीकार करना ही उचित समझते हैं। अथेंस की ई० पू० ४०४ की जनतंत्री सरकार ने अपने पूर्व की "तीस तानाशाहों" की सरकार के दायित्वों को पूर्णतया स्वीकार किया था।

२. राष्ट्र और सरकार की अभिन्नता का प्रश्न भी काफी उलझा हुआ है। यदि कोई यह कहे कि राष्ट्र को सरकार से अभिन्न तभी माना जा सकता है जब कि सरकार के कार्य राष्ट्र की भलाई के लिये हो तो इस विषय में सर्वदा दो मत रहते हैं। शासनारूढ़ सरकारें सर्वत्र राष्ट्रहित की दुहाई दिया करती हैं और उनके विरोधी सर्वदा उनके इस दावे का खंडन किया करते हैं। पर अन्ततोगत्वा इसका निर्णय जनता के स्नेह और विद्रोह के रूप में होता है जो किसी व्यवस्था के हितकारीपन को उसका लगातार समर्थन और उसके राष्ट्रद्वेष को उसके विरोध द्वारा प्रकट किया करती हैं।

३. यदि नगर का अर्थ हम एक स्थान पर बसी हुई बस्ती मानें तो जो नगर एक से अधिक स्थानो पर बसा होगा वह एक नगर नहीं कहलायेगा। पर यदि एकता से हमारा तात्पर्य सामाजिक तथा राजनीतिक एकता में आबद्ध जनता से हो तो चाहे ऐसी जनता एक से अधिक स्थानों पर भी क्यों न बसी हो वह एक नगर ही कहलायेगी। प्राचीन यूनान में कुछ नगर ऐसे थे जो एक से अधिक स्थानो पर बसे हुए थे। उदाहरणार्थ माल्तीनेइया ऐसा ही नगर था।

४. आधुनिक युग में तो यह बात अत्यधिक सत्य हो गई है। प्राचीर और परिखा तो क्या अब तो उत्तुंग पर्वत और अगाध सागर भी राष्ट्रों को पृथक् करने में असमर्थ हैं।

५. पैलौपौनेसॉस् के अन्तर्गत आर्गौस्, लाकौनिया, मैसेनिया, एलिस्, अखैया एवं आर्कादिया इत्यादि अनेक नगर-राष्ट्र बसे हुए थे जो सारे भूखण्ड को एक प्राचीर से आवेष्टित कर देने पर भी एक नहीं हो सकते थे।

६. बाबिलोन (या बाबुल) नगर फारस की खाड़ी से ऊपर यूफ्रातेस नदी के तट पर स्थित था। प्राचीन काल में यह एक बहुत बड़ा नगर था।

७. जाति और राष्ट्र के अन्तर को स्पष्टतया समझने के लिये यह बात ध्यान में रखना उचित होगा कि प्रायः यूनान में स्वतंत्र नागरिकों के रूप में एक मात्र हैलैनेस जाति के लोग बसे हुए थे पर उनके नगर-राष्ट्रो की संख्या सैकड़ो तक पहुँचती थी। अरिस्तू के कथन का आशय यह है कि यदि सब नगरों के ग्रीक लोग एक स्थान पर बसा दिये जाते पर उनकी शासन-पद्धतियाँ पृथक् पृथक् रहतीं तो भी वे एक नगर नहीं

कहलाते यद्यपि उन सब की जाति एक ही होती। जाति के लिये मूल में "गैनॉस्" शब्द का प्रयोग किया गया है जो सस्कृत के 'जन' शब्द का सजातीय है।

८. नगर के आकार का प्रश्न अरिस्तू ने पुस्तक ७ खड ४ में पुनः उठाया है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि उसके मत में बहुत बड़े नगरो में एकता अनन्यता का निर्वाह होना कठिन है।

९. समाज के लिये मूल में "कौइनोनिया" शब्द का प्रयोग किया गया है तथा अग्रेजी में इसका अनुवाद community अथवा association शब्द से किया गया है।

१०. कौमेदी=सुखान्त नाटक अथवा प्रहसन। त्रागेदी=दु:खान्त अथवा गम्भीरतापूर्ण नाटक। प्राचीन ग्रीक नाटकों के अभिनय में नाटक-पात्रो के अतिरिक्त गायकमंडल (खोरस्) भी होता था। इस गायक-मंडल के व्यक्ति प्रायः दोनो प्रकार के नाटको में वही रहते थे पर नाटक के विधान के भेद से उनके अभिनय में स्पष्ट अन्तर हो जाता था।

११. दौरियन्, फ्रीगियन् और लीडियन् यह तीन प्रकार की गायन-पद्धतियाँ प्राचीन यूनान में प्रचलित थीं। यह क्रमश. (१) पौरुषपूर्ण एवं गंभीर (२) आवेग-पूर्ण तथा भडकीली और (३) करुणरसपूर्ण थीं।

४

अच्छा मनुष्य और अच्छा नागरिक

उपर्युक्त विवेचन से बहुत अधिक मिलती-जुलती और निकट सबध रखनेवाली एक बात और भी ऐसी है जो विचारणीय है, कि क्या एक भले आदमी और नेक नागरिक की भलाई[1] (=उत्तमता, सद्वृत्ति) एक और अभिन्न है अथवा पृथक् पृथक्। यदि इस प्रश्न की ठीक ठीक खोज करनी हो तो हमको पहले नागरिक की उत्तमता की रूपरेखा की जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये। जैसे नाविक किसी समाज (जहाज चलानेवाले समाज) का सदस्य (घटक) होता है इसी प्रकार नागरिक भी (नागरिको के समाज का सदस्य) होता है। इन नाविको के कार्य एक दूसरे से भिन्न होने के कारण वे आपस मे एक दूसरे से भिन्न होते हैं—कोई खेवक होता है, कोई पथ-प्रदर्शक[2] होता है, कोई पुरोद्रष्टा[3] और अन्य कोई इसी प्रकार अपने नाम के अनुसार किसी अन्य नामवाला। ऐसी अवस्था मे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक नाविक की उत्तमता की

ठीक ठीक परिभाषा विशिष्ट रूप से उसी व्यक्ति से सबद्ध होगी, पर इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि उत्तमता की एक सामान्य परिभाषा सब (नाविको) के लिये भी लागू होगी, क्योकि नौका-सचालन-कार्य मे सुरक्षितता उन सबका कार्य है जिसके लिये उनमे से प्रत्येक को प्रयत्नशील होना चाहिये। यही बात नागरिको के विषय मे भी लागू होती है, अपने अपने विशिष्ट कार्य की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी उनमे से प्रत्येक का सामान्य कार्य अपने समाज का सुत्राण है, एव यह समाज (और कुछ नही) उनकी शासन-व्यवस्था ही है (जिसके आधार पर उनका समाज खडा है)। अतएव नागरिक की उत्तमता (=विशेष गुण) अनिवार्यतया उस समाज-व्यवस्था की सापेक्ष्य होती है जिसका वह सदस्य है। और यदि शासन-व्यवस्थाओ के अनेक प्रकार हो तो यह स्पष्ट है कि नागरिको की कोई एक निरपेक्ष उत्तमता नही हो सकती। पर, भला मनुष्य हम उसको कहते है जो एक निरपेक्ष चरम उत्तमता से युक्त हो। इससे यह स्पष्ट हो गया कि यह बिलकुल सभव है कि अच्छा नागरिक होते हुए भी उसके पास वह उत्तमता (भलाई) न हो जिसके कारण कोई व्यक्ति भला हुआ करता है।

यही नही, प्रत्युत श्रेष्ठ नगर-व्यवस्था[४] के सबध की दृष्टि से भी प्रश्नों की उद्भावना करके एव उनके विषय मे विवेचना करके हम इन्ही युक्तियो से प्रस्तुत समस्या पर वास्तव मे दूसरे प्रकार से विचार कर सकते हैं। यदि नगर के लिये पूर्णतया केवल भले आदमियो से ही घटित होना सभव न हो और फिर भी यदि प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य यह हो कि वह अपने व्यापार को भले प्रकार से करे, यदि अपने व्यापार को भले प्रकार करने मे ही उसकी उत्तमता निहित हो (जैसा कि होना ही चाहिये) तो क्योकि सब नागरिको का एक समान होना असभव है (उनके व्यापार और उनकी क्षमता भिन्न होती हैं), अच्छे मनुष्य की उत्तमता (=अच्छाई, भलाई) और अच्छे नागरिक की उत्तमता से अभिन्न (अनन्य) नही हो सकती। अच्छे नागरिक की भलाई (उत्तमता) तो सभी नागरिको मे समान भाव से होनी ही चाहिये—क्योकि केवल इसी विशेषता के आधार पर कोई नगर अनिवार्य-तया श्रेष्ठ (आदर्श) नगर हो सकता है। परन्तु उन सबमे अच्छे मनुष्य की भलाई तब तक सभवतया नही पाई जा सकती जब तक हम यह मान न ले कि अच्छे नगर के नागरिक होने से उनको अच्छा मनुष्य भी होना चाहिये ही।

और फिर यह भी विचारणीय है कि राष्ट्र असदृश तत्त्वो से सघटित है।[५] ठीक जैसे सजीव प्राणी प्राण (जीव) और शरीर से मिलकर बनता है, जिस प्रकार जीव के

घटक तत्त्व विवेक और कामनाएँ है, जिस प्रकार गृहस्थी पति और पत्नी से मिलकर बनती है, सम्पत्ति स्वामी और दास से घटित होती है, इसी प्रकार राष्ट्र भी पृथक् पृथक् असदृश तत्त्वो से मिलकर बनता है जिनमे न केवल ऊपर कहे हुए तत्त्व सम्मिलित होते है प्रत्युत इन्ही के समान अन्य तत्त्व भी होते है। अतएव निश्चयमेव सब नागरिको की अच्छाई इसी प्रकार एक नही हो सकती जिस प्रकार (त्रागेदी के) खोरस्[६] (नृत्य-मडली) के नायक और उसके पार्श्वस्थ नर्तक के गुण एक नही हो सकते। इन विचारो से यह स्पष्ट है कि अच्छे नागरिक की भलाई और नेक मनुष्य की भलाई यह दोनो एक ही चीज नही है।

पर फिर भी यह प्रश्न हो सकता है कि क्या कुछ थोडे से भी ऐसे उदाहरण नही हो सकते जिनमे अच्छे नागरिक और भले आदमी की भलाई मे अभिन्नता हो ?[७] इस प्रश्न के उत्तर मे हम कहते है कि हम एक अच्छे शासक को भला और बुद्धिमान् व्यक्ति कहते है और राजनयिक के विषय मे हम चाहते है कि उसको चतुर होना चाहिये।[८] कुछ लोगो का कहना तो सचमुच यहाँ तक है कि शासक की तो शिक्षा ही, प्रारभ से और प्रकार की (अन्य साधारण लोगो की शिक्षा से भिन्न प्रकार की) होनी चाहिये, और यह बात तो देखी भी जाती है कि राजाओ के लडको को घुडसवारी और युद्धकला की शिक्षा दी जाती है। इसी के अनुसार यूरीपिदेस् ने कहा है—

"नहो दिखावा मुझे चाहिये, किन्तु राष्ट्र-हितकारी कार्य।"[९]

जिससे शासक की विशेष प्रकार की शिक्षा होनी चाहिये, यह आशय ध्वनित होता है। तो यदि अच्छे शासक की भलाई वही हो जो अच्छे मनुष्य की होती है, और यह भी मान ले कि शासित व्यक्ति नागरिक भी होता है, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि अच्छे नागरिक और अच्छे मनुष्य के गुण (=भलाइयाँ) निर्विशेष भाव से सर्वत्र एक ही नही हो सकते, यद्यपि कुछ विशेष अवस्थाओं मे (जब कि नागरिक शासन-कार्य कर रहा हो) ऐसा हो सकता है। सामान्य नागरिक की भलाई शासक की भलाई से अभिन्न नही होती, स्यात् इसी कारण इयासोन्[१०] ने कहा था "यदि मै स्वेच्छाचारी शासक न होऊँ तो भूखा जैसा अनुभव करूँ, जिससे उसका आशय यह था कि वह एक साधारण (शासित-प्रजा) जन के समान जीवन व्यतीत करना नही जानता था।

किन्तु दूसरी ओर शासन करने और शासित होने की दुहरी योग्यता के कारण मनुष्यो की प्रशसा की जाती है, एव भले प्रकार शासन करने और शासित होने को

दुहरी योग्यता उत्तम (=सिद्ध) नागरिक का गुण माना जाता है। यदि अच्छे मनुष्य की भलाई उसका एक प्रकार का शासन करना हो[११] तथा अच्छे नागरिक की अच्छाई दोनो (शासन करना और शासित होना) माने तो दोनो की यह दोनो भलाइयाँ एक समान प्रशसनीय नही मानी जा सकती।

क्योकि कभी कभी यह मान लिया जाता है कि शासक और शासित दोनो को पृथक् पृथक् बाते सीखनी चाहिये न कि एक अभिन्न बात, किन्तु नागरिक को (जो कि शासक और शासित दोनो होता है) दोनो बाते सीखनी चाहिये और दोनो मे ही भागीदार भी होना चाहिये, तब तो आगे जो विवेचन का मार्ग होना है, वह स्पष्ट ही प्रतीत होने लगता है। एक शासन का प्रकार वह है जिसको प्रभुशासन[१२] कहते हैं, इससे हमारा अभिप्राय उस शासन से है जिसका सबध नीच टहल से है। यहाँ शासक को इन (नीच टहल के) कार्यो को करना नही जानना चाहिये, प्रत्युत शासितो की क्षमता का इन कार्यो मे उपयोग करना जानना चाहिये, वास्तव मे प्रथम प्रकार का ज्ञान (अर्थात् टहल-चाकरी का ज्ञान) तो निरा बँधुआपन होगा। बँधुए दासो की स्थिति के अनेको रूप होते है क्योकि निकृष्ट प्रकार की सेवाएँ भी (जिनका किया जाना आवश्यक होता है) अनेको प्रकार की होती हैं। इन अनेक प्रकार की सेवाओ मे से एक वह है जो हाथो से कार्य करनेवाले शिल्पियो के द्वारा की जाती है, जो (जैसा कि उनका नाम सूचित करता है) अपने हाथो के परिश्रम से अपनी जीविका चलाते है, निचली कोटि के दस्तकार भी इसी वर्ग मे संम्मिलित माने जाते है। यही कारण है कि कुछ (नगर-) राष्ट्रो मे प्राचीन काल मे अतिगामी जनतत्र की स्थापना के पूर्व श्रमिको को शासन-कार्य मे भाग नही मिलता था। निश्चय ही भले आदमियो, राजनयिको और नेक नागरिको को उपर्युक्त प्रकार से (स्वामी से दास के समान शासित होनेवाले) निम्न लोगो के काम, यदा कदा अपने उपयोग के प्रयोजन को छोडकर, नही सीखने चाहिये, यदि वे अपने निजी प्रयोजन के लिये ऐसा कभी करते है तो ऐसी दशा मे प्रभु और दास के सबध का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।

पर (इस उपर्युक्त शासन के अतिरिक्त) एक अन्य प्रकार का शासन और भी है जो शासक द्वारा उन व्यक्तियो पर चलाया जाता है जो जन्मना (शासक के) समान होते है और स्वतत्र होते है। इस प्रकार के शासन को नागरिक शासन कहते है तथा इसको शासक को ठीक इसी प्रकार शासित होकर एव आज्ञाकारी बनकर सीखना चाहिये जिस प्रकार अश्वारोही सेनाध्यक्ष होना दूसरे अश्वारोही सेनाध्यक्ष के शासन

मे रहकर, अथवा पदाति-सेनाध्यक्ष बनना दूसरे पदाति-सेनाध्यक्ष के शासन मे रहकर, उससे निचले पद पर रहकर एव उससे पहले और भी छोटे पद पर रहकर सीखा जाता है। इसीलिए यह बडी सुन्दर उक्ति है कि "जिसने पहले भले प्रकार शासित होना नही सीखा वह अच्छा शासक भी नही हो सकता।" इस (प्रकार की शासन-पद्धति) मे शासक और शासित दोनो के गुण (अथवा उत्तमता) अवश्य एक दूसरे से पृथक् होते है पर तो भी अच्छे नागरिक को शासन करने और शासित होने के लिये उपयुक्त ज्ञान और क्षमता दोनो को रखना चाहिये तथा नागरिक की उत्तमता का लक्षण भी, "(शासक और शासित) दोनो की दृष्टियो से स्वतत्र व्यक्तियो पर किये जानेवाले शासन का ज्ञान" ही है।[13]

(इतने विवेचन के पश्चात् अब हम अपने प्रकृत प्रश्न को लेते है।) अच्छे मनुष्य को भी (अच्छे नागरिक के समान) दोनो ही दृष्टिकोणो से ज्ञान की आवश्यकता होगी। यदि शासक का सयम[14] और न्याय, (शासित के सयम और न्याय से) भिन्न प्रकार के हो क्योकि शासित किंतु स्वतत्र व्यक्ति का सयम और न्याय भी (शासक के सयम और न्याय से) भिन्न प्रकार के होते है तब तो यह स्पष्ट है कि अच्छे मनुष्य का सद्गुण—उदाहरणार्थ उसका न्याय—एक ही प्रकार का नही होगा। स्पष्टतया ही उस (सद्गुण अथवा भलाई) मे प्रकार-बहुलता[15] होगी, एक प्रकार उसको शासक का कार्य करने के योग्य तथा दूसरा उसको विधेय अथवा शासित होने के योग्य बनानेवाला होगा। तथा गुण के यह प्रकार ठीक इसी तरह एक दूसरे से भिन्न होगे जिस प्रकार पुरुष का सयम और साहस स्त्री के सयम और साहस से भिन्न होता है। क्योकि, यदि किसी पुरुष मे उतना ही साहस हो जितना किसी साहसी नारी मे होता है तो वह पुरुष भीरु समझा जायगा, और यदि किसी स्त्री की शिष्टता (अथवा विनयशीलता) किसी भले आदमी से अधिक न हो तो वह वाचाल (अथवा चचला) समझी जायगी, और गृहस्थी मे तो वास्तव मे ही पुरुष और स्त्री की कार्य-व्यवस्था एक दूसरे से पृथक् होती है क्योकि पुरुष का कार्य है योग (आवश्यक सामग्री को जुटाना) और स्त्री का कार्य है क्षेम (अर्थात् सग्रह की रक्षा)।

शासक का एक मात्र विशिष्ट गुण है व्यावहारिक बुद्धिमत्ता। अन्य शेष सब (सयम, न्याय और साहस आदि) सद्गुणो के विषय मे ऐसा प्रतीत होता है, वे सब शासक और शासित दोनो मे समानरूप से पाये जाने चाहिये। (शासित) प्रजाजनो का विशिष्ट गुण यह व्यावहारिक बुद्धिमत्ता निश्चयमेव नही है, प्रत्युत सत्सम्मति है।

शासित की उपमा बीन बनानेवाले से दी जा सकती है एव शासक बीन बजानेवाले के समान होते है।[१३]

इन (उपर्युक्त विचारो) से यह स्पष्ट हो जाता है कि अच्छे आदमी और नेक नागरिक के गुण एक ही होते है अथवा भिन्न, अथवा (यो कहिये) किस अर्थ मे समान होते है और किस अर्थ मे भिन्न।

टिप्पणियाँ

१. मूल में "भलाई" के स्थान पर "अरैते" शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द ग्रीक भाषा मे बड़ा महत्त्वपूर्ण शब्द है। होमर् की भाषा में इसका अर्थ वीरता अथवा पौरुष होता था। आगे चलकर इसका अर्थ "भलाई" और 'उत्तमता' इत्यादि हो गया। दार्शनिकों ने इसका प्रयोग लक्षण के अर्थ में भी किया है। सॉक्रातेस् का सिद्धान्त था सब प्रकार की भलाइयाँ एक है। यह भलाइयो की एकता का सिद्धान्त अरिस्तू को मान्य नही था। यहाँ पर उसने सॉक्रातेस् के मत का विरोध करते हुए यह प्रतिपादन किया है कि भले नागरिक की भलाई उसके राष्ट्र के संविधान अथवा शासन-पद्धति की सापेक्ष्य होती है अतएव यह आवश्यक नहीं कि भले आदमी की भलाई और भले नागरिक की भलाई एक एवं अभिन्न हो।

२. ३. यूनानियो की नौकाओ में कर्णधार के लिये "कीबैर्नेतेस्" शब्द आया है। इसका अनुवाद "पथप्रदर्शक" किया गया है। इसके अतिरिक्त एक दूसरा व्यक्ति और होता था जो नौकाशीर्ष पर खड़ा रहता था और जिस दिशा में नौका चलती होती थी उस दिशा में वह दूर तक दृष्टि रखते हुए "कर्णधार" को सांकेतिक सूचनाएँ दिया करता था। इसके लिये मूल में "प्रोइरियस्" शब्द आया है जिसका अनुवाद "पुरोदृष्टा" शब्द के द्वारा किया गया है।

४. यदि साधारण शासन-व्यवस्थाओ के दृष्टिकोण को एक ओर रखकर आदर्श अथवा श्रेष्ठ नगर-व्यवस्था की दृष्टि से भी प्रस्तुत प्रश्न पर विचार किया जाय तब भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि श्रेष्ठ नगर के अच्छे नागरिक और भले मनुष्य की भलाई एक और अभिन्न नही हो सकती।

५. राष्ट्र के असदृश् तत्त्वो से संघटित होने के कारण प्रत्येक तत्त्व की उत्तमता अथवा भलाई भी एक-सी नहीं हो सकती। अतएव भले नागरिक तो वे इस भलाई की विविधता को लेकर भी हो ही सकते है पर यदि वे भले आदमी हो तो यह विविधता उनमें नहीं होनी चाहिये क्योंकि सब भले आदमियों की भलाई तो एक ही प्रकार की होनी चाहिये।

६. यूनानी नाटको में मुख्य कथावस्तु के अभिनय करनेवाले पात्रों के अतिरिक्त एक नृत्यमडली भी होती थी और इसका एक नेता होता था। मूलतः तो यह नृत्य-मण्डली ही यूनानी नाटक की जननी है। पर कालान्तर में इसके गर्भ से उत्पन्न हुए नाटको ने मुख्य स्थान ग्रहण कर लिया और नृत्यमंडली का स्थान गौण हो गया। वर्तमान लेखक अरिस्तू के काव्यशास्त्र (पोएटिक्स) का एक संस्करण मूल ग्रीक पाठ और हिन्दी तथा सस्कृत अनुवाद सहित प्रस्तुत कर रहा है जिसकी विस्तृत भूमिका में इन विषयो का ब्यौरेवार विवेचन किया जायगा। यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि नृत्य-मंडली का नेता तथा उसके साथ नृत्य करनेवाला अन्य कोई नर्तक एक ही मण्डली के घटक होते हुए भी एक सीमा तक एक दूसरे से व्यापारतः भिन्न होते हैं। इसी प्रकार नागरिक एक ही नगर के घटक होते हुए भी व्यापारत. परस्पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं; अतएव उनकी भलाइयाँ भी भिन्न होती है।

७. उपर्युक्त ५वी टिप्पणी से यह स्पष्ट है कि सब नागरिक भले नागरिक हो सकते हैं पर सब नागरिक भले आदमी नही हो सकते। अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या थोड़े नागरिक भी भले आदमी नहीं हो सकते? अरिस्तू इस प्रश्न का उत्तर विस्तृत विवेचन के पश्चात् 'हाँ' में देता है। उसका कहना है कि आदर्श शासन-पद्धति के अन्तर्गत रहनेवाला अच्छा नागरिक ऐसा व्यक्ति हो सकता है कि जिसमें अच्छे नागरिक और अच्छे आदमी की भलाइयाँ पाई जा सकती हैं। आदर्श शासन-पद्धति में प्रत्येक नागरिक पर्यायशः शासक और शासित होता है। शासक के रूप में उसमें आचरण-कौशल होना आवश्यक है जो अच्छे व्यक्ति का लक्षण है और शासित प्रजाजन के रूप में उसमे एक अच्छे नागरिक की उत्तमता होनी चाहिये। इस प्रकार ऐसे व्यक्ति के प्रसंग में अच्छे मनुष्य की उत्तमता और अच्छे नागरिक की उत्तमता दोनो एक हो जाती है। पर इस सुवर्णसंयोग के घटित होने के लिये आदर्श शासन-व्यवस्था की स्थापना आवश्यक है।

८. 'चतुर' के लिये मूल में "फ्रौनिमॉस्" शब्द का प्रयोग हुआ है। इस शब्द का आधार है एक दूसरा शब्द "फ्रौनेसिस्" जिसका अर्थ है आचार-कौशल जिसको गीता की भाषा में हम पूर्ण योग भी कह सकते है क्योकि कर्मों के ठीक करने को ही तो योग कहा गया है। "योगः कर्मसु कौशलम्" गी० २।५० ॥

९. यह पंक्तियाँ यूरीपिदेस् के एओलॉस् नामक विलुप्त नाटक में से उद्धृत की गई है। संभवतया यह बात राजा एओलॉस ने अपने पुत्रों के संबंध में कही है।

१०. (इ)यासोन् थेसालिया के फेराये नगर का अधिनायक था। उसने अपनी चतुरता से थेसालिया के सब नगरो का संघ बनाया और तत्पश्चात् उसका विचार

फ़ारस के विरुद्ध अभियान करने का था और इसी उद्देश्य से उसने एक जहाज़ी बेड़े के निर्माण का कार्य आरभ कर दिया था। इसी बीच में उसने अत्यन्त कुशलता से थेबैस् और स्पार्टा के पारस्परिक युद्ध में थेबैस् का साथ देकर स्पार्टा की शक्ति को क्षीण कर दिया। स्पार्टा की पराजय के उपरान्त उसने थर्मौपिलाए के दर्रे को हस्तगत कर लिया। इसके उपरान्त वह अपनी शक्ति के प्रदर्शन के लिये तैयारी कर रहा था कि एक दिन वह अपने न्यायाधिकरण में ७ युवको द्वारा मार डाला गया। यह युवक अपनी प्रार्थना उसके समक्ष उपस्थित करने के बहाने उसके पास पहुँच गये और वहाँ उसको समाप्त कर डाला। यह घटना ई० पू० ३७० की है।

११. अच्छा व्यक्ति आत्मसयम द्वारा अपनी इच्छाओ पर शासन करता है एव आचरण सबंधी समस्याएँ उत्पन्न होने पर बुद्धिमत्तापूर्वक उनका शमन करता है। यह सब अच्छे शासक के लक्षण है।

१२. स्वामी का दास पर शासन प्रभुशासन कहलाता है।

१३. शासक और शासित की शिक्षा के सबध में दो मत प्रचलित थे—(१) शासक और शासित की शिक्षा एक दूसरे से बिलकुल भिन्न होनी चाहिये। (२) नागरिक को शासक और शासित दोनो ही के लिये उपयोगी बाते सीखनी चाहिये क्योंकि नागरिक अशतः शासक और शासित दोनो ही होता है। अरिस्तू के मत में शासक नागरिक को दासो और निकृष्ट कोटि के दस्तकारो की विद्याओ को नही सीखना चाहिये। दूसरी ओर जहाँ तक स्वतंत्र नागरिकों का सबध है वहाँ तक शासक और शासितो को एक दूसरे की विद्या अवश्य सीखनी चाहिये। अरिस्तू ने जो सैनिक पदाधिकारियो की शिक्षा का उदाहरण दिया है उसका उद्देश्य यही है कि शासित व्यक्ति क्रमश. अपने से ऊँचे पदाधिकारियो से शिक्षा प्राप्त करते हुए उच्च से उच्चतर शासक पद पर पहुँचता जाता है।

१४. यूनानी भाषा मे "अरैते" के अन्तर्गत भलाई के चार विशिष्ट गुणो का समावेश होता था—(१) सयम, (२) न्याय, (३) साहस, और (४) बुद्धिमत्ता। अरिस्तू ने इन गुणो का क्रमशः उल्लेख किया है।

१५. आरंभ में अरिस्तू ने भले मनुष्य की भलाई को एक-रस माना था पर अब उसको उसमें प्रकार भेद स्वीकार करना पड़ा है। अच्छे मनुष्य की भलाई का एक प्रकार उसके शासकरूप से तथा दूसरा प्रकार उसके शासित होनेवाले रूप से संबंध रखने वाला है।

१६ सब उपमाओ के समान यह उपमा भी सीमित समानता की द्योतक है। शासक और बीन बजानेवाले की समानता तो समझ में आने योग्य है पर शासित प्रजाजन

किस प्रकार बीन बनानेवालो के समान है यह समझ मे आना सरल नही है। स्यात् अरिस्तू का आशय यह रहा हो कि शासित नागरिक उन परिस्थितियो को जन्म देते है जिनमें शासक को अपनी व्यावहारिक बुद्धिमत्ता को प्रदर्शित करने का अवसर प्राप्त होता है।

वि० अच्छा मनुष्य और अच्छा नागरिक किस सीमा तक एक समान होता है यह विषय कुछ उलझा हुआ है। स्वयं अरिस्तू का यह विचार है कि नगर का विकास मानव के स्वरूप के ही विकास का परिणाम है--वही परिवार, एवं ग्राम इत्यादि की भूमिकाओ में विकसित होता हुआ नगर का नागरिक बना है और आज तो यहाँ तक कह सकते है कि विश्व का नागरिक बना है। अच्छा मनुष्य और अच्छा नागरिक दोनो ही अच्छाई से युक्त होते है पर उनकी अच्छाइयाँ विभिन्न प्रकार की होती है। सामान्यतया इन अच्छाइयों का विरोध छिपा ही रहता है पर जब नगर-प्रेम और देशप्रेम तथा सत् (सत्य प्रेम) में उत्कट विरोध उत्पन्न हो जाता है तो यह विरोध स्पष्ट सामने आता है। वारेन हेस्टिङ्ग्स् और सी. एफ. एण्ड्रचूज़ के दो उदाहरण इस विरोध को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। वारेन हेस्टिङ्ग्स् पर जो अभियोग चलाया गया था उसके आरोप सच्चे थे पर इङ्गलैण्ड के सर्वोच्च न्यायालय ने उसको राष्ट्र का हितसाधक समझ-कर---अर्थात् अच्छे नागरिक होने का प्रमाणपत्र देकर---सब आरोपो से मुक्त कर दिया। सी. एफ़. एण्ड्रचूज़ को भारत का पक्ष लेकर अनेक बार अपने सहनागरिको के विद्वेष का भाजन बनना पडा होगा, वह अग्रेज़ी राष्ट्र के नागरिक की दृष्टि से उतने अच्छे नहीं समझे गये होगे। देखा जाय तो अभी तक इस दिशा में मानव का विकास पूर्णता को नही पहुँचा है। आज भी शक्तिशाली राष्ट्रों तक को मानव की निरपेक्ष भलाई एक सीमा तक ही सह्य है चाहे कहने को सभी सर्वोच्च भलाई का ठेकेदार होने की घोषणा करते है। यही कारण है कि इतिहास के पथ पर सुकरात, ईसा, अब्राहम लिंकन और गाधी की हत्याओ के दृश्य भी दिखलाई पडते है। जिस दिन उपनिषद् के ऋषियों की कल्पना साकार होगी और सारा विश्व "एक-नीड" हो जायेगा तब स्यात् अच्छा नागरिक और भला आदमी एक ही भाव के द्योतक हो सकेंगे। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक अरिस्तू के विचार के अनुसार अच्छा नागरिक वह होगा जो अपने नगर के संविधान का पालक होगा और अच्छा मनुष्य संभव है अच्छा नागरिक न भी हो। इसके साथ ही हमको यह भी स्वीकार करना चाहिये कि जब तक मानव की निरपेक्ष अच्छाई और नागरिक की अच्छाई में अद्वैत की स्थापना नहीं होती तब तक मानव का विकास पूर्णता को नहीं पहुँच सकता। जिस दिन यह विकास पूर्णता को पहुँच जायेगा उसी दिन सच्ची राजनीति और स्थायी विश्वशान्ति संभव होगी।

५

नागरिक कौन ?

नागरिक के सबध मे अभी एक और कठिन समस्या (प्रश्न) शेष है , अर्थात् क्या सच्चा नागरिक वही है जिसको शासनाधिकार मे भाग प्राप्त है अथवा निम्नश्रेणी के श्रमिक जन भी नागरिको की कोटि मे आते है ? यदि वे लोग[१] भी जो कि शासनाधिकार मे भागीदार नही है नागरिक समझे जायेगे तो प्रत्येक नागरिक मे यह (शासन करने और शासित होने का) गुण नही पाया जा सकता, जो कि अच्छे नागरिक का गुण है । दूसरी ओर यदि यह (निम्न श्रेणी के लोग) नागरिक न कहलाये तो फिर इनको राष्ट्र के किस भाग का स्थान प्राप्त होना चाहिये ? वे न तो अधिवसित विदेशी है और न परदेसी है, (तो फिर वे किस वर्ग मे है ?) वे किस वर्ग के है यह कहना कठिन है, पर क्या हम यह नही कह सकते कि इस कठिनाई को मानने मे कोई मूढता की बात नही है। यदि निम्न श्रेणी के लोग उपर्युक्त वर्गो मे सन्निविष्ट नही किये जा सकते तो इसी प्रकार दास और दासता से मुक्त लोग भी उन वर्गो मे सम्मिलित नही किये जा सकते । सच तो यह है कि हम उन सबको नागरिको के मध्य मे नही गिन सकते (जो यद्यपि नगर के वास्तविक घटक नही है तो भी) जिनके बिना नगर, नगर नही रहेगा ।[२] इसी प्रकार बच्चे भी (यद्यपि लगभग नागरिक होते है) तथापि वय.प्राप्त मनुष्यो की बराबरी के नागरिक नही हो सकते । वय प्राप्त व्यक्ति ही पूर्ण नागरिक होते है, परन्तु बच्चे वय प्राप्त न होने के कारण एक विशिष्ट अर्थ मे, एक विशिष्ट मान्यता के आधार पर नागरिक होते है—अर्थात् ऐसे नागरिक होते है जिनका विकास पूर्णता को नही पहुँचा है । पुरातन काल मे कुछ नगर ऐसे थे जिनमे यह श्रमिक वर्ग के लोग दास अथवा विदेशी हुआ करते थे, और इसीलिए अब भी उनमे बहुत से लोग ऐसे ही है । श्रेष्ठ राष्ट्रव्यवस्था तो इन लोगो को नागरिक बनायेगी नही । परन्तु जिन नगर-राष्ट्रो मे इनको नागरिक बनाया जायेगा उनमे हमारी नागरिक के गुण की परिभाषा सब नागरिको के लिये लागू नही होगी, और न केवल स्वतत्र जनो के लिये ही लागू होगी, प्रत्युत केवल उन व्यक्तियो के लिये लागू होगी जो अनिवार्य (यानी बाधित) नीच-टहल के कार्यों से मुक्त कर दिये गये है । बाधित सेवा करनेवालो मे से जो व्यक्तियो की सेवा करते है वे दास कहलाते है, तथा जो समाज की सेवा करते है वे निम्न कोटि के शिल्पी कहलाते है । यही विचारसरणी कुछ और आगे चलकर इन लोगो की स्थिति

को स्पष्ट कर देगी, और यो तो सच यह है कि जो कुछ अब तक कहा जा चुका है वही समझ लिये जाने पर सब कुछ स्पष्ट कर देगा।

क्योकि शासन-व्यवस्थाएँ विविध प्रकार की होती है, अतएव अनिवार्यतया नागरिको के भी विविध प्रकार होने ही चाहिये, अधिक विशेषता के साथ उन नागरिको के विविध प्रकार होने चाहिये जो शासित प्रजाजन है। परिणामत शासन-व्यवस्था के किसी एक प्रकार मे तो शिल्पी और श्रमिको का नागरिक होना आवश्यक होगा और अन्य किसी व्यवस्था विशेष मे ऐसा होना सभव नही होगा। उदाहरण के लिये यदि व्यवस्था का प्रकार वह हो जो श्रेष्ठ जनतत्र (अरिस्तौक्रातिके) कहलाता है तथा जिसमे सम्मान[३] (अथवा पद) सद्गुण और योग्यता के आधार पर वितरित होते है, तो उसमे ऐसा होना असभव होगा, क्योकि निम्न कोटि के शिल्पी अथवा श्रमिक का जीवन व्यतीत करनेवाला व्यक्ति सद्गुण से सबद्ध वस्तुओ का अनुसरण नही कर सकता। अल्प जनतत्र (=धनिक-तत्र) के विषय मे यह बात है कि शासन-कार्य मे भागीदार होना बहुत अधिक धनवत्ता की योग्यता पर निर्भर होने के कारण कोई श्रमिक तो उसका नागरिक कभी हो ही नही सकता, परन्तु शिल्पी का नागरिक होना सभव है, क्योकि अधिकाश शिल्पी लोग प्राय धनवान् हो जाते है। तथापि थेबैस् मे (उस समय भी जब कि वहाँ धनिक-तत्र था) यह नियम था कि कोई भी व्यक्ति उस समय तक शासन-कार्य मे भागीदार नही हो सकता था जब तक कि हाट-बाजार के क्रय-विक्रय से विरत हुए उसे दस वर्ष व्यतीत न हुए हो। दूसरी ओर बहुत-सी राष्ट्र-व्यवस्थाएँ ऐसी भी है जिनमे विदेशियो तक को नागरिक बनाने का नियम पाया जाता है। उदाहरणार्थ कुछ जनतत्र-व्यवस्थाओ मे नागरिक माता से उत्पन्न हुआ व्यक्ति नागरिक मान लिया जाता है, और बहुत से राष्ट्रो मे इसी प्रकार का नियम अवैध (जारजन्मा) सन्तानो के लिये भी लागू होता है। परन्तु नागरिकता प्रदान करनेवाले नियम का इस प्रकार का विस्तार (अथवा शिथिलीकरण) सामान्यतया नही किया जाता, तभी किया जाता है जब कि वैध नागरिको की कमी या अभाव होता है। परन्तु जब जनसख्या बढने लगती है तो थोडा थोडा करके (कठोरता बरती जाने लगती है), प्रथम ऐसे माता-पिताओ की सन्तान को नागरिकता से वचित कर दिया जाता है जो दास हो, तत्पश्चात् उनको नागरिकता से पृथक् कर देते है जिनकी माता नागरिक और पिता विदेशी होता है, और अन्त मे नागरिकता का अधिकार उन्ही व्यक्तियो तक सीमित रह जाता है जिनके माता-पिता दोनो ही नागरिक होते है। अत इन (उपर्युक्त) विचारो से यह स्पष्ट हो जाता है कि नागरिकों के विविध प्रकार होते है, एव नागरिक

नाम (शब्द) विशेषरूप से उन लोगो के लिये प्रयुक्त होता है जो राष्ट्र के सम्मानो (=सम्मानास्पद पदो) के भागीदार होते है। इसीलिए होमेर् ने अपने इलियाद् काव्य मे सम्मानशून्य व्यक्ति के वर्णन मे

"जैसे कोई सम्मानशून्य परदेसी"

कहा है, और वास्तव मे जो व्यक्ति राष्ट्र के सम्मान और पदाधिकार से बहिष्कृत है, वह उस राष्ट्र मे (बसे हुए) परदेसी के ही समान है। परन्तु जब यह पृथक्करण (अथवा बहिष्कार) छिपाकर किया जाता है तो इसका उद्देश्य (अधिकारसम्पन्न लोगो द्वारा) अपने देशवासियो को धोखा दिया जाना होता है।

"भला आदमी और नेक नागरिक दोनो एक होते है अथवा एक दूसरे से पृथक्?"[४] इस प्रश्न के सबध मे जो विवेचन किये गये है उनसे यह स्पष्ट है कि कुछ नगरराष्ट्रो मे वे एक ही होते है और कुछ मे वे पृथक् होते है। तथा जब (और जिस नगर मे) वे एक ही होते है तब भी सब नागरिक भले आदमी नही होते प्रत्युत राजनीतिज्ञ (राजनयिक) और सत्तारूढ व्यक्ति ही ऐसे होते है, अर्थात् वे लोग ऐसे होते है जो या तो स्वय अकेले अथवा अन्य लोगो के साथ मिलकर सार्वजनिक कार्यो का सचालन करते है, अथवा करने की योग्यता रखते है।

टिप्पणियाँ

१. अर्थात् श्रमिक जो समयाभाव के कारण शासन-कार्य में भाग नहीं ले सकते।

२. नगर में बसनेवालो को अरिस्तू दो श्रेणियो में विभक्त करता है—(१) वे लोग जो कि नगर के राजनीतिक अथवा शासनसंबंधी कार्यो में भागीदार होते है और नागरिक कहलाते है—(२) वे लोग जो नगर के अस्तित्व के लिये—उसकी भौतिक और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये और नागरिको को उनके कर्तव्य-पालन के लिये अवकाश प्रदान करने के लिये—परम आवश्यक है। पर यह दूसरा वर्ग नागरिकता के अधिकार नही रखता।

३. मूल में सम्मान के लिये "तिमे" शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ सम्मान और पद (=ओहदा=ऑफिस) दोनो ही होता है।

४. इस पुस्तक के चौथे और पाँचवें खण्डो में अरिस्तू ने इस समस्या पर विस्तार-पूर्वक विचार किया है और इस विचार के मध्य में प्रश्न की स्थिति भी एक-सी नहीं रह सकी है। आरंभ में अच्छे आदमी और अच्छे नागरिक की अभिन्नता अथवा पृथक्ता

का विचार विविध प्रकार की शासन-पद्धतियो की दृष्टि से किया गया है तथा जैसा कि नितान्त स्वाभाविक था, निष्कर्ष यह निकला है कि अच्छा आदमी और अच्छा नागरिक एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इसका कारण यह है कि शासन-पद्धतियाँ विभिन्न प्रकार की होती है एवं उनके अनुसार अच्छे नागरिक का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होगा। इस विभिन्नता की पटरी अच्छे आदमी की अच्छाई से बैठना संभव नहीं है। तत्-पश्चात् इस प्रश्न पर आदर्श नगर-राष्ट्र की व्यवस्था की दृष्टि से विचार किया गया है और यह निष्कर्ष निकला है कि आदर्श राष्ट्र-व्यवस्था में सब अच्छे नागरिक अच्छे मनुष्य से अभिन्न नही हो सकते, हाँ एक अच्छा नागरिक जो शासित होने की योग्यता के साथ ही साथ शासन करने की व्यावहारिक योग्यता भी रखता है, अच्छे मनुष्य से अभिन्न हो सकता है। इसी बात को यहाँ पुनः दोहराया गया है। पर यह द्रष्टव्य है कि चतुर्थ खण्ड के आरंभ में अरिस्तू ने अच्छे मनुष्य की अच्छाई को निरपेक्ष और अखंड माना है पर आगे चलकर उसी में दो गुणो का समावेश कर दिया है जिनमें से एक उसको सुशासित होने की और दूसरा सुशासन करने की क्षमता प्रदान करता है। यह अरिस्तू का द्वैताद्वैत है।

अरिस्तू ने ऐसी परिस्थिति की कल्पना नहीं की जिसके अनुसार प्रत्येक नागरिक अच्छे मनुष्य से अभिन्न हो सके। पर यदि उसकी युक्तियों का अन्त तक अनुसरण किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि ऐसा होना तभी सभव होगा जबकि (१) सब राष्ट्रों की शासन-पद्धतियाँ एक समान आदर्श हो जाय (२) प्रत्येक नागरिक भली प्रकार शासित होने की क्षमता रखता हो और (३) प्रत्येक नागरिक सुशासन करने की व्यावहारिक बुद्धिमत्ता से युक्त हो। दूसरे शब्दो में हम यह कह सकते हैं कि जब सारे विश्व में एक आदर्श शासन-पद्धति की स्थापना हो जायेगी, तथा शिक्षा एवं विनय की चरमोन्नति के द्वारा मानव-स्वभाव का पूर्ण विकास हो चुकेगा तब प्रत्येक नागरिक भला आदमी बन सकेगा। तभी सभवतया अंकुशस्वरूपी स्टेट् वास्तविक अर्थ में सूखे पीले पात के समान म्लान होकर झड जायेगी।

६

शासन-व्यवस्था, प्रकृत और विकृत

इस (नागरिकता) के प्रश्न का निर्धारण कर लेने के पश्चात् अब यह देखना चाहिये कि नगर-व्यवस्था (=सविधान) एक ही प्रकार की होती है अथवा अनेक प्रकार की। और यदि अनेक प्रकार की होती हो, तो वे क्या (अर्थात् कौन कौन सी) है, कितनी है और उनमे (परस्पर) क्या अन्तर है ?

नगर-व्यवस्था (अथवा नगर का सविधान) सामान्यरूपेण नगर के शासनपदो[१] का—और विशेषतया सबसे उच्च प्रभु-पद[२] का सघटन है। नगर-राष्ट्र की प्रभु-शक्ति सर्वत्र ही शासनारूढ जनसमूह[३] होता है। सच तो यह है कि शासनारूढ नागरिक-जन-समूह ही नगर-व्यवस्था (अथवा विधान) है। उदाहरण के लिये, जनतत्रात्मक विधान मे जनसाधारण ही प्रभु होते है, दूसरी ओर इसके विपरीत अल्प जनतत्र मे अल्पसख्यक लोग प्रभु होते है। प्रभुताप्राप्त जनसमूह के इस भेद के कारण ही तो हम यह कहते है कि दोनो प्रकार के विधान एक दूसरे से भिन्न है। यही बात अन्य प्रकार की व्यवस्थाओ के विषय मे भी लागू होती है।

सबसे प्रथम हमको यह विचार करना चाहिये कि नगर-राष्ट्र की संस्थापना का प्रयोजन क्या है और शासन-पद्धति के विविध प्रकार कितने है जिनके द्वारा मनुष्य और मनुष्यो के समाज शासित होते है। यह बात तो हम इस ग्रथ के प्रथम भाग मे ही, गृह-शासन और प्रभु-शासन का निर्धारण करते समय कह चुके है कि मनुष्य सहज स्वभाव से ही पुरवासी (राजनीतिक) प्राणी है।[४] अतएव परस्पर एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता न रखते हुए भी मनुष्य सहज-प्रवृत्ति से ही एक दूसरे के साथ (समाज मे) रहने के कुछ कम इच्छुक नही होते। परन्तु (इसके अतिरिक्त) वे (सब जनता के सघटित नगर-समाज द्वारा) जितनी मात्रा मे सुन्दर जीवन की उपलब्धि कर पाते है उतनी ही मात्रा मे समान हितो की प्रेरणा से साथ मिलकर रहने के लिये भी आकृष्ट होते है। यह (सुन्दर या शोभन जीवन ही) समष्टिरूपेण राष्ट्र का और व्यक्ति का परम लक्ष्य (अथवा परमार्थ) है। परन्तु मनुष्य केवल जीवन (रक्षा) के लिये भी एक साथ मिलकर रहते है तथा नागरिक समाज का स्थापन और सचालन तब तक किया करते है जब तक कि जीवन की बुराइयो का पलडा (भलाइयो के पलडे की अपेक्षा) बहुत अधिक नही झुक जाता, क्योकि स्यात् केवल (इस प्रकार) जीवन मे भी कुछ भलाई का अश होता ही है।[५] यह एक स्पष्ट तथ्य है कि बहुत से मनुष्य जीवन से इतने अधिक चिपटे रहते है कि वे (उसको बचाए रखने के लिये) बहुत अधिक मात्रा मे कष्ट सहने के इच्छुक बने रहते है, मानो जीवन मे उनको स्वस्थ आनन्द का प्राकृतिक माधुर्य प्राप्त होता हो।

(यह तो रही राष्ट्रो के उद्देश्य की विवेचना। इसके उपरान्त शासन-पद्धतियो के भेदो का प्रश्न आता है।) उन विविध प्रकार की शासन-पद्धतियो मे, (जिनकी मनुष्य बहुधा चर्चा किया करते है), भेद बतलाना सरल काम है, और स्वय हमने ही अनेक

बार इन सब की अपने सार्वजनिक प्रवचनों[६] मे विवेचना और (परिभाषा) की है। शासनपद्धति का एक प्रकार प्रभु-शासन है , यद्यपि वास्तव मे प्राकृतिक प्रभु और प्राकृतिक दास दोनो का हित एक होता है, तथापि प्रभुशासन मुख्यतया प्रभु के हित की दृष्टि से चलता है न कि दुर्बल (दास) के हित की दृष्टि से , दास के हित की दृष्टि तो स्यात् प्रसगात् रहती हो तो रहती हो---क्योकि दास की मृत्यु न होने से ही तो प्रभुशासन की रक्षा सभव है। बच्चो और पत्नी पर किया जानेवाला शासन और सामान्यतया गृहस्थी पर किया जानेवाला शासन, जिसको हमने गृहप्रबन्ध का नाम दिया है, या तो प्रथमत शासितो की भलाई के लिये होता है अथवा शासक और शासित दोनो ही के समान स्वार्थो की सिद्धि के लिये। परन्तु सारत इस प्रकार का शासन शासितो की भलाई के लिये ही होता है, जैसा (शासनकला के अतिरिक्त) अन्य कलाओ के पक्ष मे भी देखा जाता है---उदाहरणार्थ आयुर्वेद और व्यायामकला को ले सकते है, जो सयोमात् कलाविद् के हित-साधन मे भी प्रयुक्त हो सकती है, क्योकि शिक्षक को शिक्षा पानेवाले शिक्षार्थियो के वर्ग मे यदाकदा सम्मिलित होने से कोई नही रोक सकता, ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार कि पोतनिर्यामिक सर्वदा ही एक सायात्रिक भी होता है। इस प्रकार व्यायाम-शिक्षक एव निर्यामक (मुख्यतया) अपने शासन मे रहनेवालो की ही भलाई पर दृष्टि रखते है , परन्तु जब वह स्वय उन्ही शासित जनो मे से एक होता है तो सयोगवश वह भी उस भलाई से लाभान्वित होता है, इस प्रकार पोतनिर्यामक साधारण यात्री भी होता है और (व्यायाम-) शिक्षक (शिक्षक रहते हुए) अपने द्वारा शिक्षा दिये जाते हुए वर्ग का घटक भी होता है।

यही बात राजनीतिक पदो के अधिकारियो के शासन के विषय मे भी लागू होती हे , जब राष्ट्र के विधान की सस्थापना समानता और सादृश्य के आधार पर होती है तो नागरिक इस बात को उचित समझते है कि वे लोग बारी बारी से पद ग्रहण करे। पूर्वकाल मे तो प्राकृतिक नियम[७] के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति इस सिद्धान्त पर विश्वास करते हुए बारी बारी से पद ग्रहण किया करता था और यह मानता था कि अन्य लोग भी उसकी भलाई की देखभाल करने के कर्तव्य को इसी प्रकार अगीकार करेगे जिस प्रकार उसने स्वय पदारूढ होते हुए अन्य लोगो के हितो की देखभाल की थी। परन्तु आज-कल तो शासनपद और सार्वजनिक सम्पत्ति से उपलब्ध होनेवाले लाभो के लोभ से लोग निरन्तर पदारूढ रहना चाहते हैं। ऐसी दशा है मानो शासक लोग रोगी हो एव उनको स्थायी स्वास्थ्य का लाभ निरन्तर पदारूढ रहने से ही प्राप्त हो , जिस उत्साह से वे लोग पदो के पीछे पडे रहते है उससे तो यही मान्यता प्रकट होती है। इसका मथितार्थ

बिलकुल स्पष्ट है---जो राष्ट्र-व्यवस्थाएँ सर्वसाधारण के हित को दृष्टि मे रखती है वे ही परिपूर्ण (निरपेक्ष) न्याय की दृष्टि से ठीक सघटित हुई है। पर जो व्यवस्थाएँ केवल शासको की भलाई पर ही दृष्टि रखती है वे सब दूषित व्यवस्थाएँ है और सरल एव शुद्ध व्यवस्थाओ के विकृत रूप है। यह विकृत व्यवस्थाएँ स्वैरतन्त्रात्मक होती है जब कि सच्चा नगर (-राष्ट्र) समानरूपेण स्वतत्र जनो का समाज होता है।

टिप्पणियाँ

१. शासनपदो के अधिकार, कर्तव्य और सीमाओं का निर्धारण करना ही तो शासन-व्यवस्था का सारभूत मुख्य विषय है।

२. प्रभुपद अर्थात् सर्वशक्तिसम्पन्न पद जो अग्रेजी सॉवरेन् (Sovereign) कहलाता है।

३. शासनारूढ जनसमूह के लिये मूल मे "पौलित्यूमा" शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द का अर्थ है किसी नगर के समग्र स्वतंत्र राजनीतिक सत्ता-प्राप्त नागरिको का समूह। अन्ततोगत्वा किसी नगर-राष्ट्र में यही नागरिक समूह सर्व-शक्तिसम्पन्न होता है।

अरिस्तू ने अपनी राजनीति सबधी रचनाओ मे पौलिस् एव इससे निर्मित अनेक शब्दो का प्रयोग पदे पदे किया है अतएव इन शब्दो की तालिका से परिचित होना इन रचनाओ को समझने के लिये आवश्यक है। (१) पौलिस्=नगर, पुर; (२) पौलितेस्=नागरिक; (३) पौलित्यूमा (पौलितैउमा)=समग्र नागरिको का समूह, शासनकार्य, (४) पौलितेइया=नगर-व्यवस्था अथवा, नगर का संविधान, अथवा नगर-राष्ट्र का संविधान; (५) पौलितिकॉस्=राजनीतिज्ञ अथवा राज-नयिक, (६) पौलिस्तेस्=नगर-संस्थापक एवं पौलितिस्मॉस्=नागरिक कार्यो का प्रबन्ध इत्यादि। यद्यपि लिडैल और स्कॉट् के ग्रीक भाषा के कोश में नगर और नगर-शासन से सबंध रखनेवाले शब्दों की तालिका बहुत लम्बी है तथापि यहाँ पर केवल अधिक महत्त्वपूर्ण शब्दो का सग्रह किया गया है।

वास्तव में आर्यभाषा-परिवार का यह पुर शब्द और इसका सजातीय पौलिस शब्द एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द है। संस्कृत में भी यह शब्द ऋग्वेद के समय से लेकर साहित्य, राजनीति और दर्शन मे विशेष-स्थान ग्रहण किये हुए है। पुर, पौर, पुरुष (सांख्यदर्शन और वेदान्त, पुरुषसूक्त) राजपुरुष (अफसर, पुलिस का अफसर) इत्यादि अनेक रूपो में पुर शब्द का परिवार हमको यत्रतत्र मिलता है। अनेक नगरों

के नामों के साथ में तो यह बहुत अधिक मिलता है। उधर इसका सजातीय पौलिस् शब्द तो आज "पौलिटिक्स्" के रूप में विश्वभर पर छा गया है।

जैसा कि ऊपर कह चुके है शासन-व्यवस्था अथवा संविधान मुख्यतया सर्वोच्च शक्ति की व्यवस्था करना है। अरिस्तू का मत है कि जिस प्रकार की सर्वोच्च-शक्ति की व्यवस्था किसी नगर में होती उसी प्रकार का शासन उस नगर में चलता है और नागरिको का चरित्र भी बनता है। इसी तथ्य को महाभारत में इस प्रकार कहा है "राजा कालस्य कारणम्।"

४: राष्ट्र की सत्ता के दो उद्देश्य है; एक तो मानवीय स्वभाव की सामाजिकता से संबद्ध है—अर्थात् मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह समाज बनाकर रहता है। दूसरा उद्देश्य राष्ट्र की सत्ता का यह है कि राष्ट्र के द्वारा मानव के समान हित की सिद्धि होती है; एवं यह समान हित अरिस्तू के मत में अच्छे जीवन की सम्प्राप्ति है तथा यही नागरिक-जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की चरम परिणति उसी दिन समझनी चाहिये जिस दिन प्रत्येक नागरिक को अच्छे जीवन की उपलब्धि हो, यद्यपि अरिस्तू ने स्पष्टतया ऐसा कही कहा नहीं है।

५. केवल जीवन में भी भलाई का अंश होता ही है इसका सबसे प्रबल प्रमाण मानव का उत्कट जीवन का प्रेम है। संस्कृत में तो "जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्" (=जीवित रहता हुआ मनुष्य सैकड़ो भलाइयो को प्राप्त करता है) यह लोकोक्ति ही बन गई है। वाल्मीकि के समय भी इस प्रकार की लोकगाथा प्रचलित थी, ऐसा पता सीता के द्वारा हनुमान् को कहे गये निम्नलिखित श्लोक से चलता है:—

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ॥ वा. रा. सुन्दरकाण्ड ३३।६

अर्थात् "यह लोकोक्ति, कि जीवित रहते हुए मनुष्य को सौ वर्ष में भी (कभी न कभी) आनन्द पा ही लेता है, मुझे अत्यन्त कल्याणमयी प्रतीत होती है।" योगिराज अरविन्द ने अपनी "दिव्य जीवन" नामक रचना में तो सत्ता की आनन्दमयता का प्रतिपादन अकाट्य तर्कों द्वारा किया हैं। पर जीवन की सुरक्षितता भी समाज में ही भली भाँति सिद्ध होती है। इस प्रकार नगर से तीन उद्देश्यो की पूर्त्ति अरिस्तू ने मानी—(१) जीवन की सुरक्षितता, (२) सामाजिक जीवन की सम्प्राप्ति और (३) अच्छे जीवन की उपलब्धि। यह उद्देश्य उत्तरोत्तर अधिक महत्त्वपूर्ण है।

६. अरिस्तू की रचनाओ को दो भागों में विभक्त किया गया है। इनमें से कुछ रचनाएँ साधारण जनता के लिये प्रस्तुत की गई थीं जिनकी शैली सरल थी। शेष रचनाएँ अरिस्तू के "लीकैयम्" नामक विद्यालय के विद्यार्थियो के लिये निर्मित हुई थीं।

इसी प्रकार का विभाजन उसके गुरु प्लातोन की रचनाओ का भी था। पर काल की विचित्र गति के कारण प्लात न की सार्वजनिक रचनाएँ और अरिस्तू की विद्यार्थियों के लिये प्रस्तुत की गई रचनाएँ बच गईं और शेष काल के काल में समा गईं।

७. राष्ट्र का प्राकृतिक स्वरूप अरिस्तू के मत मे यही है कि प्रत्येक नागरिक बारी से शासन-पद को कर्तव्य-भावना से ग्रहण करे और अपनी बारी की अवधि तक शासितों के हित की साधना करे। उसको पद के प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। जिस शासन-व्यवस्था में यही दृष्टि प्रधान रहती है वह व्यवस्था ठीक प्रकार की है। पर जिस व्यवस्था में पदाधिकारियो की दृष्टि शासितों की भलाई से हटकर अपने स्वार्थ की सिद्धि पर केन्द्रित हो जाती है वह व्यवस्था विकृत व्यवस्था कहलाती है। विकृत व्यवस्था के अवान्तर भेदों का वर्णन आगे चलकर किया गया है।

७

शासन-व्यवस्थाओं के शुद्ध और विकृत रूप

इन सब बातो का निर्धारण कर लेने के उपरान्त अब हमको यह विचार करके देखना है कि राष्ट्र-व्यवस्थाएँ कितनी और किस किस प्रकार की होती है।[१] प्रथम हमको इनके शुद्ध रूपो का ही विचार करना चाहिये, क्योकि शुद्ध शासन-व्यवस्थाओ के रूपो का निर्धारण हो जाने पर उनके विविध विकृत रूपो का निर्धारण तो तत्काल ही हो जाएगा। पौलितेइया (नगर-व्यवस्था) एव पौलित्यूमा (नगर का शासकवर्ग) इन दोनो शब्दो का एक ही आशय है। नगर मे शासकवर्ग ही सर्वोपरि-शक्ति होता है और सर्वोपरि शासक-शक्ति या तो एक व्यक्ति के हाथ में होनी चाहिये, अथवा थोडे से गिने चुने लोगो के हाथ मे अथवा बहुसख्यक लोगो के हाथ मे। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब एक व्यक्ति, अथवा गिने चुने व्यक्ति अथवा बहुत-से व्यक्ति सर्वसाधारण (समाज) के हित में शासन करते है, तो जिस व्यवस्था के तत्वावधान मे वे ऐसा करते है उसको उत्तम[२] (=शुद्ध, सही) व्यवस्था कह सकते है। इसके विपरीत दूसरी ओर जो शासन-व्यवस्थाएँ एक, अथवा गिने चुने थोडे से, अथवा बहुसख्यक व्यक्तियों के अपने हितो पर ही दृष्टि रखती है वे विकृत प्रकार की व्यवस्थाएँ कहलाती है। (समग्र समाज के हित को दृष्टि मे न रखने के कारण ही यह विकृत प्रकार की व्यवस्थाएँ आदर्श-व्यवस्था के मार्ग से भटक जाती है।) या तो

ऐसी व्यवस्थाओ की अध्यक्षता मे रहनेवाले व्यक्तियो को नागरिक सज्ञा ही नही दी जानी चाहिये (क्योकि उनके हितो पर ध्यान ही नही दिया जाता) अथवा यदि यह सज्ञा उनको दी जाय तो सार्वजनिक हित मे उनको भागीदार भी होना चाहिये । उन व्यवस्थाओ मे से जिनमे एक[1] व्यक्ति का शासन चलता है, हम उस व्यवस्था को एकराट्तत्र (बसिलेइया) कहने के अभ्यस्त हो गये है जो सार्वजनिक (सामाजिक) हित पर अपनी दृष्टि लगाये रहती है ।(एक से अधिक)—किंतु बहुसख्यक नही—लोगो के द्वारा जो शासन-कार्य चलाया जाता है उसके उस प्रकार को श्रेष्ठ तंत्र (अरिस्तौ-क्रातिया) कहा जाता है जो सार्वजनिक हित पर दृष्टि रखता है ।—इसका नाम श्रेष्ठ तत्र या तो शासको के श्रेष्ठ होने के कारण है, अथवा इसलिए है कि इस शासन का उद्देश्य राष्ट्र और समाज दोनो के श्रेष्ठ हित का सम्पादन करना है । जब बहुसख्यक लोग सार्वजनिक हित की दृष्टि से नगर-राष्ट्र का शासन करते है तो ऐसी शासन-पद्धति को (नगर-) व्यवस्था (पौलितेइया)नाम दिया जाता है जो सब प्रकार की शासन-पद्धतियो का सामान्य नाम (भी) है । इस प्रकार की शासन पद्धति के लिये "अरिस्तौक्रातिया" इत्यादि जैसे विशिष्ट नाम का प्रयोग न करके सामान्य नाम के प्रयोग करने का समुचित कारण है । एक व्यक्ति अथवा थोडे से गिने चुने व्यक्तियो के लिये सद्गुणो की दृष्टि से पूर्णता प्राप्त कर लेना संभव है, परन्तु बहुसख्यक जनता के लिये सब सद्गुणो मे पूर्णता प्राप्त कर लेना अत्यन्त कठिन कार्य है, यद्यपि युद्धकला-सबधी उत्तमता की उनमे विशेष उपलब्धि की आशा की जा सकती है, क्योकि उनमे इस प्रकार की उत्तमता प्रकट हुआ करती है । अतएव इस प्रकार की शासन-व्यवस्था मे योद्धावर्ग शासन-व्यापार मे सर्वोपरि शक्ति होता है तथा जो शस्त्रधारी लोग होते है वही शासन-तत्र मे भी भागीदार होते है ।

उपर्युक्त शुद्ध व्यवस्थाओ के विकृतरूप निम्नलिखित है —

(१) एकराट्तत्र का तानाशाही, (२) श्रेष्ठतत्र का अल्पजन-(=धनिकजन-) तत्र, तथा (३) (नगर-) व्यवस्था (पौलितेइया) का जनतत्र । तानाशाही (तिरान्निया अथवा तिरान्निस्) ऐसा एकराट्तत्र है जो एक मात्र शासक के हित की दृष्टि से प्रेरित होता है , अल्पजन- (धनिकजन-) तत्र (औलिगार्किया) मुट्ठी भर सम्पन्न लोगो के हित की दृष्टि से तथा जनतत्र (दिमौक्रातिया) निर्धन लोगो की भलाई के विचार से प्रेरित होता है । परन्तु इन तीनों मे से एक भी शासनतंत्र ऐसा नही है जो समग्र जनता के लाभ की दृष्टि से प्रेरित होता हो ।

टिप्पणियाँ

१. अरिस्तू की दृष्टि में व्यवस्थाओ का वर्गीकरण इस प्रकार है :—
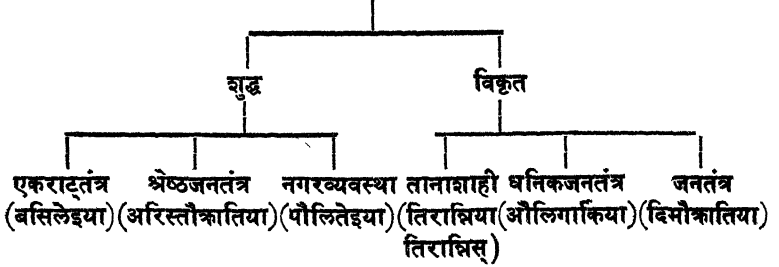
यह बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि अरिस्तू ने यहाँ (पौलितेइया) = नगर-व्यवस्था एवं (दिमौक्रातिया) = जनतंत्र इन दो शब्दों का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया है।

२. आधुनिक भारतीय राजनीति के संदर्भ में शुद्ध व्यवस्था को सर्वोदय-व्यवस्था कहा जा सकता है। पर हमको यह नहीं भूल जाना चाहिये कि अरिस्तू की शुद्ध शासन-व्यवस्था में केवल स्वतंत्र नागरिको के सर्वोदय की दृष्टि प्रमुख है। तत्कालीन दासो के हित की इसमें कोई चर्चा नही है।

३. संख्या की दृष्टि से जो शासन-व्यवस्थाओ के भेद किये गये है, वे जैसा कि आगे चलकर पता चलेगा, सामाजिक वर्गों के स्वरूप पर आश्रित है। पर अरिस्तू के विचार में सर्वहितकारी शासन सभी वर्गों के शासन में, (यदि वह शुद्ध शासन हो तो) संभव है। आजकल के वर्ग-संघर्ष की कल्पना का उदय उस समय नहीं हुआ था।

८

धनिकतंत्र और जनतत्र

परन्तु क्योकि इन उपर्युक्त शासनतत्रो के विषय मे कुछ कठिनाइयाँ प्रतीत होती है अतएव इनमे से प्रत्येक के स्वरूप के विषय मे थोडे अधिक विस्तार के साथ विचार करना आवश्यक है। क्योकि जब कोई व्यक्ति किसी विज्ञान के विषय में दार्शनिक अनुशीलन मे सलग्न हो, और केवल व्यावहारिक विचारो की ओर ही ध्यान दे रहा हो, तो उसके लिए उचित मार्ग यह है कि वह किसी भी विषय को असावधानी से छोड़ अथवा

भुला न दे, प्रत्युत प्रत्येक विशिष्ट विषय-विभाग के सबध मे सत्य को ठीक प्रकार से प्रकट करे। जैसा कि अभी कहा जा चुका है, तानाशाही (तिरान्निस्) राजनीतिक-समाज ऐसा एकराट्-शासन-विधान है जो इस प्रकार चलता है जिस प्रकार (दास पर उसके प्रभु की) प्रभुता। जब शासन-व्यवस्था का स्वामित्व (अथवा प्रभुशक्ति) सम्पत्ति-शाली लोगो के हाथ मे होता है तब शासनतत्र स्वल्पजनतत्र (औलिगार्किया) कहलाता है। इसके विपरीत जनतत्र (दिमौक्रातिया) प्रकार की शासन-व्यवस्था उस समय होती है जब शासन का प्रभुत्व सम्पत्तिशाली लोगो के पास नही किन्तु निर्धन लोगो के हाथ मे होता है। सबसे प्रथम जो कठिनाई उत्पन्न होती है वह (स्वल्पजनतत्र और जनतत्र की) अभी प्रस्तुत की हुई परिभाषाओ से सबध रखती है। यदि किसी राष्ट्र मे वे बहुसख्यक जन जिनके हाथ मे शासन की प्रभुता है, धनवान् हो तो क्या होगा?[१] क्योकि हमने जनतत्र की परिभाषा 'बहुसख्यक जनता का शासन' बतलाई है। इसी प्रकार स्वल्पजनतत्र को सामान्यतया थोडे से मनुष्यो का शासन कहा जाता है ; फिर भी यदि कही ऐसा सभवतया घटित हो जाय कि निर्धन वर्ग के लोग धनवानो की अपेक्षा सख्या मे कम हो, और तिस पर भी अधिक शक्तिशाली होने के कारण राष्ट्र की व्यवस्था की प्रभुता उन्ही के हाथ मे हो तो कैसा हो ? ऐसी परिस्थितियो मे इन व्यवस्थाओ की जो परिभाषाएँ हमने दी है वह बिलकुल ही लागू नही होगी।

अच्छा मान लीजिये कि हम सम्पत्ति को अल्पसख्यकता के साथ तथा निर्धनता को बहुसख्यकता के साथ जोडकर (इस कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न करे) और इसी के अनुसार शासन-व्यवस्था का नामकरण करे—अर्थात् स्वल्पजनतत्र उसको कहे जिसमे धनवान् लोग, जो कि सख्या मे कम है शासनाधिकृत होते है और जनतत्र उसको कहे जिसमे निर्धन लोग, जो सख्या मे अधिक है, शासक होते है—तो भी दूसरी कठि-नाई उपस्थित हो जाएगी। क्योकि, (यदि हमारी परिभाषा ठीक हो) और हमारे द्वारा वर्णित शासन-व्यवस्थाओ के अतिरिक्त शासन-व्यवस्थाओ के अन्य कोई प्रकार हो ही नही तो फिर हम अभी अभी वर्णित उन अन्य व्यवस्थाओ को क्या नाम देगे जिनमे धनिक-वर्ग बहुसख्यक और निर्धन-वर्ग अल्पसख्यक होता है तथा जिनमे से एक मे बहुसख्यक धनिकवर्ग और दूसरे मे अल्पसख्यक धनहीनवर्ग शासन-व्यवस्था मे सर्वोच्च अधिकारी होता है।

ऐसा लगता है कि इस विवेचन-प्रसग से यह बात स्पष्ट हो गई कि यह सख्या का तत्त्व—अर्थात् स्वल्पजनतत्र मे सर्वोच्च शासनाधिकारियो का अल्पसख्यक और

जनतंत्र मे बहुसख्यक होना—एक आकस्मिक[१] घटना है जो इस तथ्य पर आश्रित है कि सम्पन्न लोग सामान्यतया (सर्वत्र) सख्या मे कम और धनहीन लोग सामान्यतया सख्या मे अधिक होते है। और इसीलिए (स्वल्पतंत्र = धनिकतंत्र और जनतंत्र = अल्पवित्ततंत्र के भेद के) जो कारण (= शासको की सख्या का थोडा होना अथवा अधिक होना) मूलत बतलाये गये है वे उनके भेद के वास्तविक कारण नही है[२]। जनतंत्र और अल्पतंत्र मे एक दूसरे को भिन्न करनेवाली वस्तु तो निर्धनता और सम्पन्नता है। और यह एक अनिवार्य तथ्य है कि जहाँ कही मनुष्य अपने धन के द्वारा (= धन के बल पर) शासक बनते है—चाहे उनकी सख्या अपेक्षाकृत कम हो, चाहे अधिक, वहाँ की शासन-व्यवस्था अल्पजनतंत्र होगी और जहाँ कही वित्तहीनो का शासन होगा वहाँ जनतंत्र-व्यवस्था होगी। पर सयोगवश होता यह है—जैसा हम कह चुके है—कि सम्पन्न होते है थोडे और निर्धन होते है अधिक। धन तो थोडे से ही लोगो के पास होता है, पर स्वाधीनता का उपभोग सब समानरूप से कर (सक) ते है। यही (दोनो—अर्थात् सम्पन्नता और स्वाधीनता[३]) वह निमित्त है जिनके आधार पर दोनो वर्ग—धनिकवर्ग और जनवर्ग शासनतंत्र को हस्तगत करने के लिये द्वन्द्व किया करते है।

टिप्पणियाँ

१. पिछले खंड में प्रस्तुत की गई परिभाषाओं के सबंध में यह एक संभाव्य किन्तु काल्पनिक आपत्ति है। जिस समाज में सम्मान का केन्द्र-बिन्दु सम्पत्ति होती है उसमें अल्पजनतंत्र अथवा धनिकतंत्र की स्थापना होती है। प्रकृत्या धनोपलब्धि की आकांक्षा समता की भावना को सहन नहीं कर सकती अतएव धनिकों की संख्या अधिक हो नहीं सकती। फिर भी अरिस्तू इस संभावना को मान्यता देकर अपनी परिभाषा का और भी अधिक परिष्कार करना चाहता है।

२. अर्थात् जनतंत्र और अल्पतंत्र के मौलिक अवच्छेदक के रूप में इसको स्वीकार नहीं किया जा सकता।

३. अल्पजनतंत्र और जनतंत्र का वास्तविक भेदक है सम्पन्नता का प्राधान्य और स्वाधीनता का प्राधान्य। जिस शासन-व्यवस्था में प्राधान्य सम्पन्नता का होगा वह अल्पजनतंत्र-व्यवस्था होगी क्योंकि सम्पन्नता के भाजन थोड़े ही व्यक्ति होते हैं। यद किसी समाज में सम्पन्नता अधिक व्यापक हो —धनिक लोगो की संख्या अन्य लोगों से अधिक हो तो यह एक अपवाद-स्वरूप परिस्थिति होगी। दूसरी ओर स्वाधीनता का उपभोग सभी समानता के आधार पर कर सकते हैं; अतएव जिस व्यवस्था में स्वाधीनता को प्राधान्य दिया जायेगा वह व्यवस्था जनतंत्रात्मक व्यवस्था होगी।

वि० इस खड में अरिस्तू ने एक संभावना यह भी प्रस्तुत की है कि "निर्धन लोग धनवानों की अपेक्षा संख्या में कम हो, और तिस पर भी अधिक शक्तिशाली होने के कारण राष्ट्र की प्रभुता की व्यवस्था उन्हीं के हाथ में हो।" यह असभव जैसी प्रतीत होनेवाली संभावना उच्चतर संघटन अथवा लोकोत्तर चरित्रबल के आधार पर ही संभव हो सकती है, अन्यथा नही।

९

नगर की सत्ता का चरम लक्ष्य और तदनुसार न्याय का स्वरूप

(उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त) हमको सबसे पहले यही निर्धारण कर लेना चाहिये कि धनिकतत्र (अल्पतत्र अथवा औलिगार्किया) और जनतत्र (दिमौक्रातिया) के विशिष्ट सिद्धान्त[1] (उनके पृष्ठपोषको द्वारा) क्या बतलाये जाते है तथा धनिकतत्र-सबधी न्याय[2] तथा जनतत्री न्याय की धारणाएँ क्या है ? यो तो सभी[3] किसी न किसी प्रकार की न्याय की धारणा को ग्रहण किये रहते है, पर वे इस दिशा मे कुछ ही दूर बढ पाते है एव समग्र न्याय की धारणा का समुचित प्रतिपादन नही कर पाते। उदाहरण के लिये (जनतत्र-व्यवस्थाओ मे) न्याय का अर्थ (पदो के वितरण मे) समानता समझा जाता है और वह होता भी ऐसा ही है , तथापि यह समानता[4] वाला अर्थ सबके लिये नही होता, केवल उनके लिये होता है जो समान है। (दूसरी ओर धनिकतत्र-व्यवस्थाओ मे पदवितरण मे) असमानता[5] को न्याय माना जाता है और वही न्याय होता भी है, पर सबके लिये नही केवल उनके लिये जो असमान है। पर दोनो ही पक्षो के पोषक इस बात को (विचार से) निकाल देते है कि उनके सिद्धान्त किन व्यक्तियो के लिये लागू होते है और इसी कारण दोनो गलत निर्णय करते है। इस (सब) का कारण यह है कि वे अपने ही विषय मे निर्णय कर रहे होते है और सामान्यतया अधिकाश मनुष्य अपने विषय मे ठीक निर्णायिक नही होते। न्याय व्यक्ति सापेक्ष होता है, और न्यायोचित वितरण (अथवा विभाजन) वह होता है जिसमे वितरित वस्तुओ का सापेक्ष्य मूल्य उनको ग्रहण करनेवाले व्यक्तियो (की योग्यता) के अनुरूप होता है, जैसा कि पहले ही आचारशास्त्र[6] (एथिक्स) मे प्रतिपादन किया जा चुका है। (पर धनिकतत्र और प्रजातत्र के समर्थक) वस्तुओ की समता के विषय मे तो एकमत है पर व्यक्तियो की समता के विषय मे विवाद करते है। इसका सबसे प्रधान कारण तो वही है जो अभी बतलाया गया है---अर्थात् वे अपने विषय मे निर्णय करते रहे है

और निर्णय भी गलत करते रहे हैं, पर एक दूसरा कारण भी है जो यह है कि उभय पक्ष एक प्रकार की न्याय की धारणा को अगीकार किये रहते है और एक सीमा तक ही अगीकार किये रहते है, पर कल्पना ऐसी किया करते है कि मानो परिपूर्ण और निरपेक्ष न्याय को अधिकृत किये हुए है। एक ओर (धनिकवर्ग के) लोग यदि किसी एक बात मे असमान (बढकर) होते है—जैसे मान लीजिये अपने धन मे बढकर होते है—तो वे अपने को सभी बातो मे बढकर मानने लगते है, दूसरी ओर दूसरे (जनतत्र) पक्ष के समर्थक यदि किसी एक बात मे समान होते है —उदाहरणार्थ मान लीजिये कि वे स्वाधीन कुल मे जन्म लेने की समानता रखते है—तो वे अपने को सभी बातो मे समान समझने लगते है।

पर दोनो ही पक्ष सबसे प्रमुख तथ्य[७] को नही कहते (अर्थात् यह नही बतलाते कि नगर-राष्ट्र की सत्ता किस लक्ष्य की सिद्धि के लिये है।) यदि मनुष्यो का परस्पर मिलन और समाज-स्थापन केवल धन के निमित्त होता तो (राष्ट्र के पदो और सम्मानो मे) उनका भाग उनकी सम्पत्ति की मात्रा के अनुसार होता और तब धनिकपक्ष की युक्ति ही प्रबलतर प्रतीत होती; क्योकि यह तो कोई न्याय नही है कि जिस व्यक्ति ने १०० मिना मे केवल एक मिना दिया हो उसको मूल अथवा लाभ (ब्याज) मे उस व्यक्ति के समान भाग मिले जिसने शेष—९९—मिना दिये है। पर राष्ट्र की सत्ता का प्रयोजन जीवन नही है प्रत्युत जीवन का अच्छापन है। (यदि राष्ट्र की सत्ता का प्रयोजन केवल जीवन ही होता तो) दासो का ही नगर-राष्ट्र बन जाता अथवा पशुओ तक का नगर बस जाता, पर ससार मे ऐसा होना सभव नही है, क्योकि उनको सौमनस्य[८] और सोद्देश्य स्वतत्र जीवन मे कोई भाग प्राप्त नही होता। इसी प्रकार नगर-राष्ट्र की सत्ता पारस्परिक (सैनिक) मैत्री के उद्देश्य के लिये भी नही है जिससे कि उभय पक्षो का अनीति अथवा अनिष्ट से त्राण हो सके, और न उसकी सत्ता पारस्परिक विनिमय एव (आर्थिक) सम्पर्क को बढाने के ही लिये ही है। यदि ऐसा होता तो तीरेंन्[९] और कार्खीदौन के निवासी, और अन्य सब ऐसे लोग जिनकी परस्पर व्यापारिक सधियाँ है, एक ही नगर के निवासी समझे जाते। यह सच है कि ऐसे लोगो के मध्य मे आयात (और निर्यात) के विषय मे समझौता होता है, परस्पर (व्यापारिक मामलो में) अनीति न बरतने की सधि होती है तथा पारस्परिक सुरक्षा-सबधी सैनिक सधि के विषय मे लेखबद्ध शर्तें होती है। परन्तु दोनो पक्षो के ऐसे उभयनिष्ठ पदाधिकारी नही होते जो इन ठहरावो को कार्यान्वित करा सके, प्रत्युत पृथक् पृथक् राष्ट्रो के अपने पृथक् पदाधिकारी होते है (जिनके अधिकार अपने राष्ट्र मे ही सीमित होते है।) न तो

दोनो पक्षो मे से किसी को अन्य राष्ट्र की जनता मे समुचित चारित्रिक गुणो के होने की चिन्ता होती है और न दोनो राष्ट्र यही दृष्टि मे रखना चाहते है कि सन्धि की शर्तों की सीमा मे आनेवाले लोग अनीति और बुराइयो से बिलकुल मुक्त हो , प्रत्युत वे केवल एक ही बात पर दृष्टि रखते है कि वे दोनो राष्ट्र एक दूसरे के प्रति (व्यापार के क्षेत्र मे) अनीति न बरते । इसके विपरीत वे लोग, जो सुपालित नियमो की सुव्यवस्था के विचार को सर्वोपरि मानते है, राष्ट्र के जीवन मे भलाई और बुराई पर दृष्टि रखते है । इससे स्पष्ट ही यह निष्कर्ष निकलता है कि उस राष्ट्र को,(जिसका 'राष्ट्र' नाम सचमुच सार्थक हो, केवल कहने भर के लिये न हो) भलाई के लिये चिन्ताशील होना चाहिये । अन्यथा, कोई भी नागरिक-समाज एक प्रकार की सन्धि से जुडे हुए जनसमूह के समान हो जाता है, जिसमे अन्य सन्धि किये हुए नगरो से केवल इतना ही अन्तर होता है कि सन्धिबद्ध नगर-राष्ट्रो के निवासी एक दूसरे से दूर स्थान पर निवास करते है (तथा एक ही नगर के निवासी पास पास रहते है ।) एव ऐसी स्थिति मे कानून भी समझौता मात्र रह जाता है—अथवा लीकौफ्रोन[१०] नामक सौफिस्ट मनीषी के कथनानुसार 'एक दूसरे के प्रति मानवीय अधिकार का प्रतिभू (जामिन) मात्र रह जाता है, तथा जीवन की ऐसी पद्धति नही रह जाता जो नागरिको को नेक और न्यायनिष्ठ बना सके—जैसा कि उसको वास्तव मे होना चाहिये ।

यह तथ्य कि यही बात ठीक है (अर्थात् नागरिक जनो मे भलाई को प्रोत्साहन देनेवाला नगर ही वास्तविक नगर है) बिलकुल स्पष्ट है । यदि दो स्थलो को मिलाकर एक कर दिया जाय जिससे उदाहरणार्थ मैगारा[११] और कौरिन्थ सरीखे नगर एक ही परकोटे के भीतर बस जाएँ तो इससे वे एक नगर नही बन जायेगे । यदि दो नगरो के निवासियो मे आपस मे विवाह सबध भी हो जाये तो भी दोनो नगर एक नही हो सकते —यद्यपि यह अन्तर्विवाह सामाजिक जीवन की एक ऐसी प्रवृत्ति हैं जो राष्ट्रीय जीवन का लक्षण है । इसी प्रकार यदि मनुष्य एक दूसरे से कुछ दूरी पर रहते हो, पर इतनी दूरी पर नही कि जिससे परस्पर सम्पर्क तक न हो सके, और यदि उनमे इस प्रकार के सामान्य नियम हो कि वे परस्पर विनिमय मे किसी के प्रति अन्याय नही करेगे —तो इतने से भी वह स्थल नगर (-राष्ट्र) नही हो जायेगा । उदाहरण के लिये कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य बढई है, दूसरा किसान है, तीसरा मोची है और अन्य लोग भी इसी प्रकार (पृथक् पृथक् काम करनेवाले है) और (सब मिलाकर) उनकी सख्या दस हजार (१०,०००) है, परन्तु यदि इन सब लोगो के समाज और सहवास का आधार केवल पारस्परिक विनिमय और सधि जैसी बातो के अतिरिक्त

और कुछ न हो तो (भी) यह जनसमूह नगर की स्थिति को प्राप्त नही कर सकेगा। ऐसा होने का कारण क्या है ? इसका कारण निश्चय ही ऐसे समूहो मे सामीप्य का अभाव नही हो सकता। क्योकि यदि इस प्रकार का जनसमूह एक स्थान पर एकत्रित भी हो जाय, परन्तु फिर भी उनमे से प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी घर को अपना नगर जैसा समझता रहे, तथा उनकी पारस्परिक सहायता केवल दुराचारियो (=अन्यायियो) से एक दूसरे की रक्षा मात्र तक सीमित रहे (अर्थात् उनकी पारस्परिक सहायता केवल रक्षात्मक सधि जैसी हो)—यदि उनके समाज का लक्षण एक स्थान पर एकत्रित हो जाने पर भी वैसा ही बना रहे जैसा कि पृथक् पृथक् रहने के समय था—तो सम्यक् विचारक की दृष्टि मे उनकी यह नयी बस्ती वास्तविक अर्थ मे नगर (-राष्ट्र) नही मानी जा सकेगी। अत यह स्पष्ट है कि नगर (-राष्ट्र) एक सार्विक स्थान पर निवास करने के लिये एकत्रित हुआ जनसमाज मात्र नही है, जिसकी स्थापना पारस्परिक अनाचार (अत्याचार) की रोक-थाम और विनिमय की सुगमता के लिये हुई है। यह सच है कि इन उपर्युक्त परिस्थितियो का होना नगर की सत्ता के लिये अनिवार्य है, पर इन सबके होने पर भी (वास्तविक) नगर की सघटना (=रचना) सभव नही है। वास्तविक नगर तो सत्जीवन मे समभागी के रूप मे स्थित गृहस्थियो और गणो (जनो) का समाज है जिसका उद्देश्य परिपूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन (-सत्ता) की प्राप्ति (करना) है। इस चरम उद्देश्य की सिद्धि तब तक नही हो सकती जब तक सब लोग एक ही स्थान पर न बसे और परस्पर विवाह सबध न करे। इसी कारण तो नगरो के परिवारो के विवाह-बधन, भाई-चारे, धार्मिक-सम्मेलन (=मेले) और आमोद-प्रमोदो (=खेल-तमाशो) की उत्पत्ति होती है, जो कि सामाजिक जीवन की सस्थाएँ है। इन सस्थाओ का निर्माण मित्रता[१२] का व्यापार है (नगर का विशिष्ट उद्देश्य नही)। सामाजिक जीवन का अनुसन्धान करना ही तो मित्रता है। नगर का चरम लक्ष्य सत् (नेक) जीवन है और उपर्युक्त सामाजिक सस्थाएँ इसी उद्देश्य की सिद्धि के उपाय है। परिपूर्ण और आत्मनिर्भर (सत्ता) मे निरत गणो (जनो) और ग्रामो के समूह (=समाज) से नगर सघटित होता है, और यह (परिपूर्ण और आत्मनिर्भर) जीवन, जैसा हमने कहा है सुखी और सुभग (अथवा सौमनस्य और अच्छाई से युक्त) जीवन है।

अतएव नागरिक समाजो की स्थापना नेक कामो को करने के लिये हुई समझी जानी चाहिये न कि सामाजिक जीवन के लिये। इसलिए जो लोग इस प्रकार के (अच्छे काम करनेवाले) समाज की सघटना मे सबसे अधिक योग देते है, उनका

नगर मे ऐसे लोगो की अपेक्षा (अधिकार का) भाग अधिक होता है जो स्वतत्र जन्म और कुलीनता मे उन्ही के समान अथवा उनसे भी महान् है, पर राजनीतिक (=नागरिक) गुणो मे उनके समान नही है , अथवा जो धन मे उनसे बढकर है और सद्गुणो मे उनसे घटकर है।

(ऊपर) जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विधान सबधी विवाद के सभी (दोनो) पक्ष (=जनतत्रीय और धनिकतत्रीय पक्ष) न्याय का एकागी प्रतिपादन करते है, सर्वांगीण परिपूर्ण न्याय का प्रतिपादन नही करते।

टिप्पणियाँ

१. धनिकतंत्र और जनतंत्र जिन सिद्धान्तों के आधार पर अपने अस्तित्व का समर्थन करते हैं उनका विवेचन आवश्यक है अतएव उसको आरंभ कियाजा ता है।

२. उपर्युक्त शासन-पद्धतियो के विशिष्ट आधारभूत सिद्धान्त उनकी उस न्याय संबंधी धारणा पर आश्रित होते हैं जिसके आधार पर वह राष्ट्र के पदो का नागरिकों में वितरण करते हैं अतएव इन व्यवस्थाओं की न्याय संबंधी धारणा का विवेचन भी आवश्यक है।

३. "सभी" से तात्पर्य है दोनों धनिकतंत्र और जनतंत्र से।

४, ५. समानता और असमानता को क्रमशः जनतंत्र और धनिकतंत्र में पद-वितरण का आधार माना जाता है। इसका आशय यह है कि जनतंत्रीय शासन-पद्धति व्यक्तियो की योग्यता की ओर दृष्टिपात न करते हुए सबकी समानता को स्वीकार करती है और इसी के आधार पर शासन-संबंधी पदो का वितरण करती है। इसके विपरीत धनिकतंत्र-पद्धति जो धन में बड़े हैं उनको धनहीनो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानती है और इस प्रकार असमानता को पद-वितरण का आधार बनाती है पर मनुष्यों में अन्य प्रकार की भी तो असमानताएँ हो सकती हैं। यह नितान्त संभव है कि कोई निर्धन व्यक्ति शासन की योग्यता में धनवानों से कहीं बढ़कर हो। अरिस्तू की आलोचना का आशय यह है कि उभय पक्ष समानता और असमानता के आधारभूत सिद्धान्तों की जड़ तक नहीं जाते, वे इन शब्दों के बाह्य और सीमित अर्थ को ही दृष्टि में रखते है।

६. अरिस्तू की "एथिक्स" उसकी राजनीति की पूरक है। न्याय के विषय का विवेचन एथिक्स के ५वें अध्याय के तीसरे खण्ड में किया गया है।

७. अरिस्तू ने यहाँ जिस तथ्य की ओर संकेत किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नगर-राष्ट्र की सत्ता जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिये है उसकी उद्देश्य की सिद्धि का प्रयत्न ही नागरिक जीवन का सर्वोच्च ध्येय हो सकता है।

८. मूल में सौमनस्य के लिये "युदैमौनिया" शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वयं अरिस्तू ने आगे चलकर इस शब्द का आशय "भलाई की प्रेरक शक्ति और उसकी क्रिया" बतलाया है जिसका परिणाम सुख होता है। अंग्रेजी में कुछ व्यक्तियों ने इसका अनुवाद "हैपीनेस्" शब्द से किया है पर उसकी अपेक्षा felicity शब्द अधिक उपयुक्त बतलाया गया है।

९. तीरेंन् के निवासी एत्रुस्कन् कहलाते थे और इटली के उत्तर-पश्चिम में निवास करते थे। इनका आदिम निवासस्थान क्या था, इस विषय में पर्याप्त मतभेद है पर ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी सभ्यता पर यूनानी सभ्यता का गहरा प्रभाव पड़ा था।

१०. लीकोफ़ौन नाम के अनेक व्यक्ति ग्रीक इतिहास में हो चुके हैं। इनमें से कुछेक कवि और लेखक भी थे। अरिस्तू की खंडित रचनाओं (fragments) के साक्ष्य पर यह कहा जा सकता है कि लीकोफ़ौन ने उच्च कुल और हीन कुल के भेद को चुनौती दी थी।

११. मैगारा और कौरिन्थ दोनो नगर अत्तिका के पश्चिम में स्थित सकीर्ण स्थल-डमरूमध्य में अत्यन्त पास पास बसे हुए हैं।

१२. अरिस्तू की दृष्टि में मित्रता का महत्त्व अत्यधिक है। इसी कारण उसने अपनी सदाचारशास्त्र की पुस्तक में मित्रता का विवेचन पूरे दो अध्यायों में (८ और ९ में) किया है। परन्तु नागरिकता का उद्देश्य जो अच्छाई और अच्छे जीवन की सम्प्राति है वह मित्रता से भी ऊँचा लक्ष्य है और मित्रता भी उसके लिये साधन है।

वि०—इसमें कोई सन्देह नहीं कि अरिस्तू ने इस खण्ड में नागरिक जीवन के लक्ष्य के संबध में विविध मतों की बहुत अच्छी व्याख्या और आलोचना प्रस्तुत की है और सबसे अन्त में अपना मन्तव्य स्पष्ट किया है। पर इसके आगे यह प्रश्न तो शेष रह ही जाता है कि सुखी और अच्छा जीवन क्या है? इस विषय का विवेचन उसने आगे चलकर ७वीं पुस्तक के आरंभ में किया है। अन्यत्र उसने "पराविद्या" (मेताफीजिक्स) में भी सत् (अच्छाई) के स्वरूप का वर्णन किया है। जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे स्पष्ट है कि अरिस्तू केवल सामाजिक जीवन को ही नागरिक जीवन का चरम उद्देश्य नहीं मानता क्योंकि वह कोरा राजनीतिक विचारक ही नहीं, गंभीर दार्शनिक भी है अतएव उसकी राजनीति उसके तत्त्वज्ञान के रंग में रँगी हुई है।

१०

नगर में सर्वोपरि शक्ति कौन सी हो ?

नगर मे सर्वोपरि शक्ति कौन सी हो ? जब इस प्रश्न पर विचार करते है तो एक नई कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। जनसमूह सर्वोपरि शक्ति हो या धनिकवर्ग हो, सज्जनवर्ग हो या सबसे श्रेष्ठ एक ही व्यक्ति हो, अथवा कोई स्वेच्छाचारी तानाशाह हो, (यह पाँच विकल्प सभव है।) परन्तु इन सभी विकल्पो मे कुछ न कुछ अप्रिय परिणाम सन्निहित है , और भला अन्यथा हो भी क्या सकता है ? उदाहरण के लिये यदि हम प्रथम विकल्प को ले, और निर्धनसमूह को नगर(-राष्ट्र) मे सर्वोपरिता प्राप्त हो और वे बहुसख्यक होने के कारण धनवानो की सपत्ति आपस मे बॉटने लगे तो क्या यह अन्यायपूर्ण बात नही होगी ? (इस पर स्यात् प्रजातत्रवादी यह उत्तर देगा) नही, भगवान् की दुहाई, यह अन्याय नही है, क्योकि सर्वोपरि सत्ता का न्यायपूर्ण आदेश ऐसा ही है। (पर हम इसके उत्तर मे कह सकते है) कि यदि यह अन्याय की पराकाष्ठा नही है तो, कृपया कहिये, और क्या है ? और फिर जब कोई बहुसख्यक वर्ग अल्पसख्यक वर्ग का सर्वस्व अपहरण करके उस धन-सम्पत्ति को अपने मध्य मे बाँटने मे प्रवृत्त हो जाता है तो स्पष्ट ही है कि वह बहुमत (= बहुसख्यक दल) राष्ट्र का विनाश कर रहा है। पर भलाई कभी भलाई-युक्त वस्तु का विनाश नही करती और न न्याय ही राष्ट्र के लिये क्षयकारी होता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का नियम (जैसा कि यह परस्वापहरण का नियम है) सभवतया न्यायानुमोदित नही हो सकता। यदि ऐसा होता तो वे सब कार्य जो तानाशाह किया करता है अवश्यमेव न्यायानुकूल हो जाते। क्योकि अधिक बल के द्वारा वह भी उसी प्रकार से बलात्कार का प्रयोग करता है जिस प्रकार (प्रजातत्रीय) जनसमूह धनिकवर्ग के प्रति बलात्कार करता है। परन्तु, तब क्या धनिको के अल्पमत का शासन होना उचित है ? और यदि यह लोग भी इसी प्रकार जनसाधारण को लूटने-खसोटने लगे तो कैसा होगा—क्या ऐसा होना न्यायोचित होगा ? यदि ऐसा होना न्याय्य होगा तो इसके प्रतिकूल दूसरा पक्ष (जनसाधारण का रईसो को लूटना) भी न्यायानुमोदित ठहरेगा। पर यह बिलकुल स्पष्ट है कि यह सब के सब दमन कार्य (चाहे बहुमतवाली जनता के हो, चाहे धनिको के हो और चाहे तानाशाहो के हो) बुरे और न्याय-विरुद्ध है।

तो क्या भलेमानुस सज्जनो को शासन करना चाहिये और राष्ट्र मे सर्वशक्तिमान् होना चाहिये ? ऐसी दशा मे शेष नागरिक सब प्रकार के सम्मानो से अनिवार्यतया

वचित हो जायँगे क्योकि शासन-पद का सम्मान उनको उपलब्ध नही होगा। शासनाधिकार-पदो को ही तो हम सम्मान (का पद) कहते है, और जब मनुष्यो का एक ही वर्ग सर्वदा स्थायी रूप से पदारूढ रहता है तो अन्य लोग अवश्यमेव सम्मान से वचित रह जाते हैं। तब क्या अन्य विकल्पो से यह अधिक अच्छी बात होगी कि एक सर्वोत्तम व्यक्ति का शासन हो? नही, यह तो और भी अधिक अल्पजनतत्र होगा (—धनिक-अल्पजनतत्र अथवा सज्जन-अल्प-जनतत्र की अपेक्षा भी अधिक अल्पजनतत्र होगा)—क्योकि सम्मान से वचित मनुष्यो की सख्या इस तत्र मे सबसे अधिक होगी। पर स्यात् इस पर यह कहा जाय कि यह बुरी बात है किसी मनुष्य को तो (जो आत्मा को परिवेष्टित करनेवाले सब प्रकार के मानवीय विकारो का भाजन है) सर्वशक्तिमान् बना दिया जाय और नियम (कानून) को न बनाया जाय। परन्तु यदि नियम भी स्वय अल्पजनतत्र अथवा प्रजातत्र की ओर झुकता हुआ हो तो क्या हो? ऐसी स्थिति मे नियम के सर्वशक्तिमान् होने से भी) हमारी समस्याओ मे क्या अन्तर पडेगा? स्पष्ट है कि कोई भेद नही पडेगा। पूर्वोक्त परिणाम तब भी उसी प्रकार घटित होगे।

टिप्पणियाँ

इस खंड में अरिस्तू सर्वोपरि शक्ति के पात्र के संबंध में विचार कर रहा है। आरंभ में उसने पाँच विकल्प सुझाये हैं पर अन्त में एक छठा विकल्प कानून के रूप में और प्रस्तुत कर दिया है। सर्वशक्ति-सम्पन्न के लिये मूल में "कुइरियॉन्" शब्द का प्रयोग किया गया है और अंग्रेजी में इसका अनुवाद "सॉवरेन" (Sovereign) शब्द से किया गया है।

११

प्रजातंत्र और नियमतंत्र

अन्य विकल्पो की विवेचना को तो किसी भावी अवसर के लिये छोड सकते है, किन्तु प्रथम विकल्प कि अल्पसख्यक उत्तम पुरुषो की अपेक्षा बहुसख्यक जनता राष्ट्र मे सर्वशक्तिमान् होनी चाहिये ऐसा सिद्धान्त है जो कि सतोषप्रद समाधान के (विश्लेषण के) योग्य प्रतीत होता है, और यद्यपि इसमे कुछ कठिनाई भी है, तथापि स्यात् इसमे कुछ सत्य (सार) भी है। बहुसख्यक जनता के पक्ष मे निम्नलिखित बात कही जा सकती है। उनमे से प्रत्येक स्वय व्यक्तिश बहुत अच्छा मनुष्य नही होता, तथापि

जब वे सब समन्वित (समवेत) हो जाते है, तब व्यक्तिश नही प्रत्युत समष्टित वे अल्पसख्यक उत्तम मनुष्यो से गुण मे बढकर हो जाते है, जिस प्रकार कि बहुत से मनुष्यो के चन्दे से दिया हुआ भोज उस भोज से बढकर हो सकता है जो कि एक व्यक्ति की गाँठ से दिया जाता है। (इसी प्रकार जब विचार-विमर्श मे) बहुत से मनुष्य होते है तो उनमे से प्रत्येक का अपना सद्‌गुण और सुबुद्धि का अश होता है, और जब वे एक साथ एकत्र सम्मिलित हो जाते है तो वे एक प्रकार से एक मनुष्य जैसे हो जाते है, जिसके बहुत से पैर, बहुत से हाथ और बहुत सी ज्ञानेन्द्रियाँ होती है, इसी प्रकार जिसका आचार-विचार भी बहुविध हो सकता है। यही कारण है कि बहुसख्यक जनता (अल्पसख्यक लोगो की अपेक्षा) सगीत और कविकर्म[1] (काव्य) की भी अधिक अच्छी समीक्षक होती है, क्योकि उनमे से कुछ एक भाग को समझते है, कुछ दूसरे को, एव सब मिलकर समग्र रचना को (ठीक) समझ लेते है। पर इसी बात मे उत्तम (अच्छे) मनुष्य साधारण जनता मे के किसी व्यक्ति से भिन्न होते है—जिस प्रकार कि सुन्दर असुन्दर से और कलाकृतियाँ सामान्य वास्तविकता से भिन्न कही जाती है[2]—कि जो तत्त्व अन्यत्र बिखरे हुए पाये जाते है वे इनमे एकता (एक सूत्र) मे आबद्ध उपलब्ध होते है, यद्यपि इन तत्त्वो को पृथक् पृथक् देखने पर ऐसा हो सकता है कि किसी एक मनुष्य की आँख और किसी अन्य व्यक्ति का कोई अन्य अङ्ग कलाकृति (चित्र) से बढकर प्रतीत हो ।

किन्तु यह बात स्पष्ट नही है कि यह गुण-सग्रह (तत्त्व-सग्रह) का सिद्धान्त, जिसको हमने बहुसख्यक जनसाधारण और अल्पसख्यक उत्तम पुरुषो के भेद का आधार माना है, सभी बहुसख्यक जनता और बृहत् जनराशियो के विषय मे सभव होगा या नही। स्यात् है कि दैवात्, यह स्पष्ट है, कुछ ऐसे जनसमूह होगे जिनके विषय मे यह बात लागू नही होगी। क्योकि यदि उन पर यह सिद्धान्त लागू किया गया तो उन्ही के सदृश इस सिद्धान्त को तिर्यग्वर्ग (पशुसमूह) पर भी लागू करना होगा, क्योकि यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि "मनुष्यो और पशुओं मे किस बात मे भेद है ?" परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, कुछ (मानव=) समूहो के विषय मे हमारे कथन की सत्यता के लिये कोई चीज बाधक नही हो सकती।

जो विचार हमने प्रस्तुत किये है यदि वे समुचित हो तो ऐसा लगता है कि पूर्वोक्त कठिनाई का (कि कौन सा मनुष्यवर्ग सर्वोच्च शक्ति-सपन्न होना चाहिये ?) और दूसरी कठिनाई का जो कि प्रथम का ही परिणाम है और उसी के समान भी है (अर्थात्

वह कौन से विषय है जिन पर स्वतत्र-जनो अथवा सर्वसाधारण नागरिक-समूह—जो न तो धनवान् ही है और न जिनमे सद्गुणो की ही योग्यता है—का सर्वोच्च अधिकार होना चाहिये ?) दोनों[3] का ही समाधान सभव है। तथापि (यह कहा जा सकता है) कि इस प्रकार के लोगो का राष्ट्र के उच्च अधिकारो मे साझी होना सुरक्षित नही है। क्योकि अन्याय के कारण वे बुरे काम, तथा अज्ञान के कारण गलतियाँ कर सकते है। (इसके विपरीत) उनको शासनाधिकार मे कुछ भी भाग न देना भी भयावह है, क्योकि वह राष्ट्र जिसमे कि बहुसख्यक और निर्धन लोग शासनाधिकार-शून्य होने लगते है, अनिवार्यतया शत्रुओ से परिपूर्ण हो जाता है। बस इन लोगो को देने के लिये केवल एक विकल्प रह जाता है कि वे (राष्ट्र के लिये) चिन्तन-कार्य मे और न्याय के कार्य मे भाग ले। और इसीलिये सौलोन एव कतिपय अन्य स्मृतिकारो ने उनको शासको के निर्वाचन और अन्त मे उनके कार्य के निरीक्षण का अधिकार दिया है, पर व्यक्तिगत रूप मे शासनारूढ होने का अधिकार नही दिया। जब वे सब एक साथ एकत्रित होते है तो काफी अच्छी सूझ-बूझ प्रदर्शित करते है एव अपने से अधिक अच्छे वर्ग के लोगो के साथ मिलकर वे राष्ट्र के लिये सहायक (उपयोगी) सिद्ध होते है; (जिस प्रकार कि अशुद्ध (अमेध्य) भोजन शुद्ध भोजन के साथ मिलकर समग्र भोजन-राशि को, अल्प मात्रावाली शुद्ध राशि की अपेक्षा अधिक स्वास्थ्यप्रद बना देता है), पर उनमे प्रत्येक व्यक्ति, पृथक् पृथक्, निर्णय करने के कार्य मे पूरा नही उतरता।

पर राष्ट्र-विधान की इस व्यवस्था मे (जिसके अनुसार जनधारण को निर्वाचन और निर्णय करने का अधिकार प्राप्त होता है) कुछ कठिनाइयाँ है। प्रथम तो यह कठिनाई है कि यह कहा जा सकता है कि यह निर्णय करने का काम कि कब किसी रोगी को ठीक डॉक्टरी सहायता मिली है, उन लोगो का होना चाहिये जो कि रोगियो के रोगो को निवारण करने का और उनकी देखभाल का व्यवसाय करते है—अर्थात् डॉक्टरो अथवा वैद्यो का काम होना चाहिये। इसी प्रकार अन्य सब व्यवसायो और शिल्पो के विषय मे भी होना चाहिये। तो, जिस प्रकार डॉक्टर के आचरण का परीक्षण (पडताल) डॉक्टरो के द्वारा होना चाहिये, इसी प्रकार जो अन्य व्यवसाय करनेवाले लोग है उनके आचरण का परीक्षण भी उन्ही के व्यवसायवालो के द्वारा किया जाना चाहिये। पर डॉक्टर उसको भी कहते है जो मामूली प्रैक्टिस करता है, उसको भी कहते है जो उच्च कोटि का वैद्यकला-विशारद है और तीसरे उसको भी कहते है जो इस विद्या का सामान्य सा अध्ययन किये होता है। इस तीसरी प्रकार के मनुष्य लगभग सभी शिल्पो (और कलाओ) के विषय मे पाये जाते है, एव हम इनको

निर्णय करने की शक्ति से उतना ही समन्वित मानते हैं, जितना कि विशेषज्ञों को। तो, क्या यही पद्धति निर्वाचन के विषय में भी लागू नही होनी चाहिये ? क्यों ठीक ठीक निर्वाचन करना तो विशेषज्ञो का काम है ; यथा भूमितिशास्त्र-(ज्यॉमेट्री) वेत्ता को चुनना भूमितिशास्त्रज्ञाताओ का और निर्यामक को चुनना निर्यामको का काम है। और यदि कुछ काम और शिल्प ऐसे भी हों जिनमे साधारण अविशेषज्ञो को भी निर्वाचन करने की योग्यता का भाग प्राप्त हो तो भी वे विशेषज्ञो से अधिक अच्छा चुनाव तो निश्चय ही नही कर सकते। परिणामत, इस तर्क के अनुसार तो जन-साधारण को न तो शासको के निर्वाचन में अधिपति बनाना चाहिये और न उन (शासकों) के कार्य के परीक्षण मे। पर स्यात् ऐसा हो सकता है कि यह सब तर्क समुचित नहीं है। क्योकि हमारे पुराने (पूर्वोक्त) तर्क के अनुसार, यदि जनसाधारण अत्यन्त ही पतित न हो तो चाहे उनमे प्रत्येक व्यक्ति पृथक्रूपेण विशेषज्ञों की अपेक्षा भले ही हीन निर्णेता हो, परन्तु सब के सब एकत्रित होकर या तो (उन विशेषज्ञों से) बढकर होते है या घटकर नही होते।[४] और फिर अनेकों शिल्प ऐसे भी है जिनके विषय मे स्वय शिल्पी ही एकमात्र अथवा सर्वश्रेष्ठ परीक्षक नही होता। यह कलाए वह हैं जिनकी कृतियो को उन शिल्पो का ज्ञान न रखनेवाले व्यक्ति भी समझ और परख सकते है। उदाहरणार्थ घर को ही ले लीजिये, इसके (भले-बुरे का) ज्ञान केवल बनानेवाले स्थपति को ही नही होता, प्रत्युत उस घर का उपयोग करनेवाला—अर्थात् (दूसरे शब्दो में) उस घर का स्वामी उस घर को बनानेवाले से भी अच्छी जाँच और परख सकेगा। और इसी प्रकार नौका के कर्ण को उसको बनानेवाले बढई की अपेक्षा कर्णधार अधिक भले प्रकार समझ सकता है तथा भोज को आमन्त्रित अतिथि अधिक अच्छा जान सकता है न कि रसोइया।

(जनसाधारण के अधिकार से सबध रखनेवाली) इस प्रथमकठिनाई का तो इन विचारो से पर्याप्त समाधान हुआ प्रतीत होता है, पर अब इस प्रथम कठिनाई सबद्ध दूसरी कठिनाई का विचार करना है। यह बात (देखने में) तो अनोखी सी प्रतीत होती है कि साधारण निम्न कोटि के लोगो को ऐसे विषयों में आधिपत्य प्राप्त हो जो कि उन विषयो से अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिन पर उच्च कोटि के लोगो को अधिकार प्राप्त है। शासको का निर्वाचन और (शासनावधि की समाप्ति पर) उनके कार्यों की पडताल करना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। तथापि, जैसा कि कहा जा चुका है, (अनेको राष्ट्रो के) विधान ऐसे है जिनमें यह विषय जनसाधारण के अधिकार के अन्तर्गत है और जनपरिषद् (ऐक्लीसिया, कलीसा) ऐसे सब विषयों में

आधिपत्य रखती है। और फिर जनपरिषद् मे भाग लेने, विचार करने और निर्णय करने के लिये किसी व्यक्ति के लिये थोडी सी सम्पत्ति का स्वामी होना और किसी भी अवस्थावाला होना पर्याप्त होता है, जब कि राष्ट्र के उच्च पदाधिकारियो—जैसे कि कोषाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष इत्यादि—के पद के लिये अधिक (सम्पत्ति) इत्यादि की अपेक्षा की जाती है। इस कठिनाई का समाधान भी उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार कि प्रथम कठिनाई का किया गया है, और स्यात् इस विषय मे इन (जनतंत्रात्मक) विधानो की आजकल की पद्धति ठीक ही प्रतीत होती है। क्योकि न्यायालय, समिति अथवा परिषद् के सदस्य व्यक्तिश अधिकारी नही होते—व्यक्तिगत रूप मे उनको कोई शक्ति प्राप्त नही होती—प्रत्युत न्यायालय, समिति और परिषद् को समष्टिरूपेण शक्ति प्राप्त होती है और इन सस्थाओ का प्रत्येक सदस्य व्यष्टिरूपेण उनका एक अंश मात्र होता है। इस कारण यह उचित ही है कि जनसाधारण को, जिनसे परिषद्,समिति और न्यायालय का निर्माण होता है ऐसे विषयो मे प्रमुख अधिकार प्राप्त हो जो उनसे अधिक महत्त्वशाली है जिन पर अपेक्षाकृत अच्छे (उच्च) जनो को अधिकार प्राप्त है। और जनसाधारण की सम्मिलित सम्पत्ति भी उन लोगो की अपेक्षा अधिक होती है जो व्यक्तिश अथवा अल्पसख्या में उच्च शासन-पदो पर आरूढ रहते हैं। इस विषय के विवेचन मे इतना ही बस है।

पर प्रथम कठिनाई (अर्थात् विशेष प्रकार की कुशलता को प्रमुख अधिकार प्राप्त होना चाहिये अथवा सामान्य सूझ-बूझ को) के विवेचन से अन्य सब बातो की अपेक्षा यह बात अधिक स्पष्ट हो गई कि यदि ठीक प्रकार निर्धारित किये गये हो तो (राष्ट्र मे) नियम[1] (=कानून) सर्वोच्च सत्ता होने चाहिये, और शासक लोग—व्यक्तिश अथवा सामूहिकरूपेण—केवल उन्ही विषयो मे सर्वशक्तिशाली होने चाहिये, जिनमे कि सब अवस्थाओ के लिये व्यापक नियम बनाने का कार्य सरल न होने के कारण, कानून ठीक ठीक स्पष्टतया कुछ कहने मे समर्थ नही है। पर ठीक प्रकार से निर्धारित नियम कैसे होने चाहिये यह बात अभी तक स्पष्ट नही हो पाई है, (एव पिछले अध्याय के अन्त मे निर्दिष्ट) पुरानी कठिनाई अब भी यथापूर्व बनी हुई है (कि स्वय कानून भी किसी न किसी वर्ग का पक्षपाती हो सकता है)। परन्तु नियमों का बुरा अथवा भला होना, नीतिपरक अथवा अनीतिपरक होना अनिवार्यरूपेण राष्ट्र-विधान के अनुसार होता है। केवल इतनी बात स्पष्ट है कि नियम विधान के अनुसार ही निर्धारित (=निर्मित) होने चाहिये। और यदि यह बात ऐसी ही है तो यह भी स्पष्ट है कि सही (समुचित) विधान के अनुसार बने नियम अवश्यमेव नीतिपरायण

(=न्यायानुकूल) होंगे तथा विपर्यस्त विधान के अनुसार बने नियम न्यायानुकूल नही होंगे।

टिप्पणियाँ

१. अथेन्स में साधारण जनता को भवन-निर्माण के संबंध में योजनाओ पर, तथा नाटको के संबंध में उत्तमता का, निर्णय का अधिकार था। पर आगे चलकर भवन-निर्माण की योजनाओं पर निर्णय देने का अधिकार जनता से लेकर न्यायालय को दे दिया गया।

२. जिस प्रकार सुन्दर व्यक्ति, सद्गुणी व्यक्ति, अथवा कलाकृति में अनेको अच्छाइयाँ मिलकर सुन्दर एकता को प्राप्त हो जाती है इसी प्रकार जनसमूह में भी विविध मनुष्यों में बिखरी हुई भलाइयाँ मिलकर एक अच्छे परिणाम में पर्यवसित होती हैं।

३. दो प्रश्न हैं—(१) राष्ट्र में कौन-सा मनुष्यवर्ग सर्वोच्च शक्तिसंपन्न होना चाहिये? (२) वह कौन से विषय हैं जिन पर जनसाधारण का सर्वोच्च अधिकार होना चाहिये? अरिस्तू ने पहले प्रश्न का उत्तर इस खंड के आरंभ में दे दिया है कि नगर के बहुसंख्यक स्वतंत्र व्यक्ति ही सर्वोच्च शक्तिसंपन्न होने चाहिये। इसके आगे वह दूसरे प्रश्न का उत्तर देता है।

४. आरंभ में तो अरिस्तू ने विशेषज्ञों का पक्ष लिया है पर आगे चलकर उसने जनसाधारण की संयुक्त बुद्धिमत्ता को विशेषज्ञों के समान मान लिया है।

५. समिति, परिषद् और न्यायालय के लिये मूल में क्रमशः 'बूले,' एक्लेसिया एवं दिकास्तेरियॉन् शब्द आये हैं। अरिस्तू के मत में मनुष्य जब एकत्रित होकर विवेचन करते हैं तो उनमें अच्छा निर्णय करने की योग्यता बढ़ जाती है। बूले और एक्लेसिया के विषय में आगे चलकर विस्तारपूर्वक लिखा जायगा।

६. अथेंस में नियमों का निर्माण पुराने स्मृतिकारों द्वारा किया गया था। जन-साधारण की परिषदो और समितियों का नियम-निर्माण का अधिकार प्रायः नहीं के बराबर था। यदि कोई नया कानून बनाने का प्रयत्न करता अथवा पुराने नियमों के अतिक्रमण का उद्योग करता था तो यह अनधिकार-चेष्टा समझी जाती थी। यदि कोई पदाधिकारी नियमों का उल्लंघन करता था तो प्रत्येक स्वतंत्र व्यक्ति को उस पर आरोप लगाने का अधिकार प्राप्त था। अथेंस के नागरिक इस अधिकार का खुला उपयोग किया करते थे।

१२

न्याय और आनुपातिक समानता

सब विद्याओ और शिल्पो मे तलोद्देश्य[१] (अन्तिम उद्देश्य) भलाई ही होता है। सब (विद्याओ और शिल्पो मे) प्रमुख (विद्या एव शिल्प) मे—जो राजनीति की विद्या और कला है—दृष्टिगत लक्ष्य (उद्देश्य) वह भलाई है जो सब से महान् और सब से उत्तम है। राजनीति के क्षेत्र मे भलाई है न्याय, और यह न्याय है सर्व-साधारण का सामान्य हित (अर्थात् सभरण); सब की सम्मति मे न्याय को किसी प्रकार की समानता[२] माना जाता है। और एक सीमा तक यह सार्वजनिक सम्मति[३] उन दार्शनिक विवेचनाओ के साथ एकमत है जिनका हमारे द्वारा आचारशास्त्र मे प्रति-पादन किया गया है। क्योकि न्याय मे दो पक्ष होते है, एक वस्तु पक्ष दूसरा व्यक्ति पक्ष जिससे वस्तु का सबध होता है और न्याय के अनुसार समान व्यक्तियो को समान वस्तुएँ निर्दिष्ट की जानी चाहिये। पर किसकी समानता है और किसकी असमानता ?—यह एक ऐसा प्रश्न है जो दृष्टि से ओझल नही होना चाहिये। इस प्रश्न मे कठिनाई है और इसके समाधान के लिये राजनीति-सबधी तात्त्विक विवेचन की आवश्यकता है। सम्भवतया ऐसा कहा जा सकता है कि राष्ट्र के शासन-पद (और सम्मान), किसी भी प्रकार की उत्तमता के आधार पर, असमानतया वितरित होने चाहिये (अर्थात् उत्तमता-सम्पन्न व्यक्तियो को उच्च पद प्रदान किये जाने चाहिये) फिर चाहे अन्य बातो में उन व्यक्तियो और शेष जनता मे कोई अन्तर शेष न रहा हो, केवल समानता ही उपलब्ध होती हो, क्योकि जो व्यक्ति एक दूसरे से किसी बात मे भिन्न होते है, तो उनकी योग्यता के अनुसार उनके अधिकार भी एक दूसरे से भिन्न होते है। परन्तु यदि यह युक्ति ठीक हो, तो अच्छा रग (वर्ण), अधिक ऊँचाई या अन्य कोई ऐसी ही अच्छाई उस अच्छाईवाले व्यक्ति के लिये राजनीतिक अधिकारो का अपेक्षाकृत अधिक अश दिलाने का कारण मानी जायगी। परन्तु क्या यह युक्ति स्पष्ट ही असत्य नही है ? अन्य शिल्पों और विद्याओं[४] के अध्ययन से भी यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि बहुत से वशी बजानेवाले अपनी कला मे एक समान निपुण हो तो उनको उच्च कुल मे जन्म होने के कारण अच्छी (अथवा अधिक) बाँसुरियाँ नही दी जानी चाहिये, क्योकि उच्च कुल मे जन्म होने के कारण तो कोई बाँसुरी को अधिक अच्छे प्रकार से बजाने नहीं लगेगा। तथा अधिक अच्छा वाद्य तो अपेक्षाकृत अच्छे कलाविद् के लिये ही सुरक्षित रहना चाहिये। यदि हमारा कथन अब भी स्पष्ट

न हुआ हो तो (थोडा) और आगे चलकर यह स्पष्ट हो जायगा। यदि कोई व्यक्ति ऐसा हो जो बाँसुरी बजाने की कला मे दूसरो से अधिक अच्छा हो पर कुल और सुन्दरता मे दूसरो से बहुत हीन हो, तो चाहे इन दोनो गुणो (अर्थात् उच्च कुल और सुन्दरता) मे से प्रत्येक वशीवादन-कला से अधिक अच्छी वस्तु हो, तथा इन गुणो से युक्त व्यक्ति तुलना करने पर इन गुणो में वंशीवादक से उससे अधिक बढकर हों जितना कि वह उनसे वशीवादन-कला मे बढकर है तो भी सबसे अच्छी बाँसुरियाँ तो उस (अच्छी बाँसुरी बजानेवाले) को ही दी जानी चाहिये। और यदि धन की एव कुल की श्रेष्ठता को किसी कार्य की उत्तमता के सबध में स्वीकार किया जाय तो न दोनों को उस कार्य के प्रतिपादन में कुछ योगदान देना चाहिये; (पर हम देखते है) कि यह गुण कार्य-सम्पादन में, उदाहरणार्थ वशी-वादन मे) सहायक नही होते।

फिर, यदि इस सिद्धान्त को (कि शासन-पद किसी भी उत्तमता के आधार पर दिये जायँ) मान लें तो प्रत्येक भलाई को अन्य किसी भी भलाई के समान होना आवश्यक होगा। यदि ऊँचाई की किसी मात्रा को किसी अन्य गुण की किसी मात्रा से बढकर माना जाय तो परिणाम यह होगा कि सामान्यतया ऊँचाई मात्र को धन और कुलीनता के साथ तुलना करने के लिये विवश होना पडेगा। इस प्रकार, यदि किसी नियत प्रसग में यह माना जाय कि ख जितना भलाई मे बढकर है ऊँचाई में उससे भी बढकर है और सामान्यतया यह माना जाय कि भलाई के उत्तम होने की अपेक्षा ऊँचाई अधिक बढकर होती है, (तब) तो सभी धान ढाई पँसेरी (सब गुणो के समान होने) का प्रसग आ बनता है। (इस प्रकार हम केवल गणितशास्त्र मे फँस गये) क्योकि यदि किसी गुण की अमुक मात्रा किसी अन्य गुण की अमुक मात्रा से बढकर हो तो तब प्रथम गुण की कोई अन्य मात्रा स्पष्ट ही दूसरे गुण की उपर्युक्त मात्रा के बराबर (अर्थात् समानरूपेण अच्छी) भी होगी। पर ऐसा होना सम्भव नही है (क्योकि जिन वस्तुओ मे गुण-वैषम्य पाया जाता है उनकी मात्राओ की तुलना नही हो सकती और वे समान नही मानी जा सकती।) अतएव यह स्पष्ट है (कि अन्य कलाओ और विद्याओ के समान) राजनीतिक विषयो मे भी शासनाधिकार को पाने का दावा किसी भी प्रकार की उत्तमता के आधार पर करना कोई अच्छी युक्ति नही है। यदि कुछ व्यक्ति मन्द गतिवाले हों और कुछ शीघ्रगामी तो इस (वैषम्य) के कारण ऐसा नही होना चाहिये कि किसी को अधिक (राजनीतिक अधिकार) मिले और किसी को कम। परन्तु व्यायाम सबधी द्वन्द्वो में इस प्रकार की उत्तमता को सम्मान प्राप्त होता है। राजनीतिक अधिकारो (=शासन-पद के अधिकारो) के दावे अनिवार्यतया उन तत्त्वो की

उपकारकता पर आश्रित होने चाहिये जो राष्ट्र की सत्ता के घटक है । अतएव उच्च कुल मे उत्पन्न, और स्वतत्र एव सम्पन्न लोगो के द्वारा सम्मान और शासन-पद पाने की प्रतिस्पर्द्धा किया जाना सुयुक्तिपरक है। जो लोग पदारूढ है उनको स्वाधीन और कर प्रदान करनेवाला होना ही चाहिये। जिस प्रकार कोई नगर (राष्ट्र) केवल दासो से घटित नही हो सकता उसी प्रकार (उससे भी कम) वह निर्धन जन मात्र से भी घटित नही हो सकता। पर यदि धन और स्वतत्रता राष्ट्र के लिये आवश्यक अग हो तो न्यायपरता और वीरता के गुण भी उतने ही आवश्यक अग होने (=माने जाने) चाहिये। इन तत्त्वो के बिना तो नगर मे मनुष्यो की सस्थिति भी सभव नही है। केवल अन्तर इतना ही है कि प्रथम दो गुणो (स्वतत्रता और सपन्नता) के बिना तो नगर का होना ही सभव नही है और दूसरे दो गुणो (न्यायपरायणता और वीरता) के बिना उसकी सुदशापूर्ण स्थिति सभव नही है।

टिप्पणियाँ

१. तलोद्देश्य अथवा अन्तिम उद्देश्य के लिये मूल में "तैलॉस्" शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द अरिस्तू के दर्शन-शास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अरिस्तू के मत में प्रत्येक वस्तु अपने अन्तिम उद्देश्य की उपलब्धि से ही अपने स्वरूप को पूर्णतया प्रकाशित करती है।

२. न्याय व्यक्तियो के साथ पक्षपात नहीं करता, सबके प्रति समानता का व्यवहार करता है ऐसा विश्वास सबका ही है।

३. सर्वसाधारण के विचार को अरिस्तू और उसका गुरु प्लातोन दौक्षा कहते हैं। दार्शनिक का विचार उसका विश्लेषण और विवेचन कर उसको स्वीकार अथवा अस्वीकार करता है । जो सबकी सम्मति हो अरिस्तू उसकी सत्यता को स्वीकार करता है।

४. शिल्पों और विद्याओं की चर्चा प्लातोन और अरिस्तू ने पग पग पर की है। शिल्प के लिये मूल में "तैल्ने" और विद्या के लिये 'एपिस्तिमे' शब्द आये हैं। प्रथम शब्द संस्कृत तक्षण का सजातीय है।

५. राष्ट्र की सत्ता के घटक आगे चलकर चार बतलाये गये है; वे है—(१) जन्म से स्वतत्र होना, (२) धन, (३) सस्कारवत्ता और (४) कुलीनता।

१३

न्याय और श्रेष्ठ व्यक्ति

यदि हम (नगर-) राष्ट्र की सत्ता की दृष्टि से विचार करें तो उपर्युक्त सभी तत्त्वो, अथवा उनमे से कई एक का (पद और सम्मान प्राप्त करने का) दावा उचित ठहरेगा, परन्तु यदि हम भले जीवन की दृष्टि से विचार करे तो, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, शिक्षा (सस्कार) और सद्गुण का दावा अधिक न्यायानुकूल माना जाना चाहिये। पर क्योकि न तो (प्रजातत्रवादियो का) यह मत कि जो व्यक्ति केवल एक बात मे समानता रखते है उनको सब वस्तुओ (पदार्थों) का समान भाग मिलना चाहिये, ठीक है और न (स्वल्पतत्रवादियो का) यही कथन ठीक है कि जो लोग केवल एक बात मे दूसरो से ऊँचे है उनको सब पदार्थों का अधिक भाग मिलना चाहिये, अतएव शासन-विधानो के वे सब प्रकार जो कि उपर्युक्त दोनो सिद्धान्तो मे से किसी एक पर भी आश्रित है अवश्यमेव विकृत ही समझे जाने चाहिये। और जैसा कि मै पहले ही कह चुका हूँ कि एक अर्थ में तो सभी मनुष्यो का दावा[1] ठीक है परन्तु एकान्तरूपेण किसी का भी दावा ठीक नही होता। सपन्न लोगों का कथन (दावा) एक सीमा तक इसलिये उचित है कि अधिकाश भूमि उनके पास है और भूमि का महत्त्व सार्वजनिक होता है, तथा सामान्यतया वे लोग ठहरावो (ठेको) के मामलो मे अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय होते है। स्वाधीन और कुलीन लोगो का दावा इस आधार पर आश्रित होता है कि वे परस्पर प्रगाढ सबध रखते है। अभिजात (कुलीन) लोग अकुलीनो की अपेक्षा अधिक मात्रा में नागरिक होते है, तथा कुलीनता का कुलीन पुरुष के अपने देश में सर्वदा अधिक सम्मान होता है। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि जो व्यक्ति सत्पुरुषों की सन्तान है वे सभवतया अन्य लोगो से अपेक्षाकृत अच्छे भी होते हैं क्योकि अच्छे कुल में जन्म का अर्थ ही सज्जनता होता है। इसी प्रकार हम यह भी मान सकते है कि सदाचार का भी दावा न्यायानुकूल है, क्योकि हमारे मत मे न्याय एक सामाजिक सद्गुण है तथा अन्य सब सद्गुण अनिवार्यतया उसका अनुसरण करते है। और फिर बहुसख्यक लोग भी तो अल्पसख्यको के विरुद्ध अपना अभियोग प्रस्तुत कर सकते है कि अल्पसख्यको की तुलना में सामूहिक रूपेण वे अधिक बलशाली, सम्पन्न और अच्छे है।

अच्छा यदि यह सब (पृथक् पृथक् प्रकार के दावे रखनेवाले लोग)—जैसे कि सत्पुरुष, धनी व्यक्ति, कुलीन जन और इनके अतिरिक्त साधारण जनसमूह भी—एक

ही स्थान पर रहते हो तब क्या होगा ?—क्या वे परस्पर इस विषय पर विवाद ही करते रहेंगे कि उनमे किसको शासन करना चाहिये, अथवा विवाद नही करेंगे ? हमारे द्वारा वर्णित शासन-व्यवस्थाओं के पूर्वोक्त वर्गीकरण में यह प्रसग किसी भी व्यवस्था में विवादास्पद नही है। यह व्यवस्थाएँ किसी एक वर्ग मे सर्वोच्च सत्ता के निहित होने के कारण ही तो एक दूसरे से पृथक् होती हैं,—जैसे कि उनमे से एक मे सर्वोच्च सत्ता अल्पसख्यक धनिको के हाथ मे होती है, दूसरी मे शासकसत्ता श्रेष्ठ लोगो मे निहित होती है, इसी प्रकार अन्य अवशिष्ट व्यवस्थाओ मे भी प्रत्येक मे इसी प्रकार विशिष्ट वर्ग के हाथ मे शासकसत्ता रहा करती है। पर यह सब कुछ होते हुए भी उस स्थिति का विचार करना है जब कि सब वर्गों के दावे एक ही समय प्रस्तुत किये गये हो,[१] ऐसी स्थिति मे किस प्रकार निश्चय किया जाना चाहिये ? मान लो यदि सद्गुण-सपन्न व्यक्तियो की सख्या बहुत थोड़ी हो, तो उनके अभियोगो (या दावो) का निर्णय किस प्रकार (=पद्धति) से किया जाय ? क्या हम केवल इसी बात पर दृष्टि रक्खेंगे कि वे उस कार्य के विचार से जो कि उनको करना है सख्या मे बहुत थोड़े है, और क्या इसलिये हमको यह भी मालूम करना होगा कि वे राष्ट्र का प्रबन्ध करने मे समर्थ अथवा सख्या की दृष्टि से राष्ट्र-सघटन के लिये पर्याप्त भी होगे अथवा नही ? यह ऐसी कठिनाई है जो राजनीतिक सम्मान का दावा करनेवाले सभी वर्गों के समक्ष उपस्थित होती है। यह माना जा सकता है कि जो (अल्पसख्यक) लोग अपनी सम्पत्ति की योग्यता के आधार पर शासनाधिकार का दावा करते है अथवा इसी प्रकार जो लोग उच्च कुल मे जन्म होने के आधार पर उपर्युक्त दावा करते है, उनका दावा न्यायाश्रित नही होता, और ऐसा मानने के लिये स्पष्ट कारण है। क्योकि यदि कोई एक व्यक्ति ऐसा हो जो कि अन्य सब लोगो से अधिक धनवान् हो तो (उसी सिद्धान्त के आधार पर, जिसके कारण अल्पसख्यक धनी लोग शासकपद पाने का दावा करते है) इस व्यक्ति को सबके ऊपर शासन करना चाहिये; तथा इसी प्रकार जो लोग उच्च कुल मे उत्पन्न होने के कारण शासनाधिकार का दावा करते है उन सबके ऊपर ऐसे एक व्यक्ति का शासन होना चाहिये जो कुलीनता की दृष्टि से सबसे ऊँचा हो। श्रेष्ठजन-शासन (अरिस्तौक्रातिया) मे भी स्यात् यही कठिनाई सद्वृत्ति (अरैते) के प्रसग मे घटित होती है। यदि कोई एक व्यक्ति ऐसा हो जो उस सज्जनो के समाज मे अन्य सब लोगो की अपेक्षा अधिक अच्छा हो तो उपर्युक्त औचित्य के आधार पर इसी व्यक्ति को सर्वोपरि शासक होना चाहिये। एवमेव यदि बहुसख्यक-जनवर्ग को इसलिये सर्वोपरि-शासक होना चाहिये कि वे अल्पसख्यक-वर्गों से अधिक शक्तिशाली है,

तो इस तर्क के अनुसार यदि एक मनुष्य, (अथवा एक से अधिक मनुष्यो का दल जो बहुसख्यक जन-वर्ग से सख्या मे छोटा हो) बहुसख्यक जन-वर्ग से अधिक शक्तिशाली हो तो बहुसख्यक जनता के स्थान पर उसी एक व्यक्ति अथवा दल को सर्वोपरि सत्ताशाली होना चाहिये।

यह सब विचार इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रतीत होते है कि (धन, कुलीनता, साधुता और सख्याबल) इन सब सिद्धान्तो में से, जिनके आधार पर मनुष्य शासन करने और अन्य सब लोगो को अपने शासनाधीन रखने का दावा करते है, कोई भी सिद्धान्त नितान्त समीचीन सिद्धान्त नही है। उन लोगों के दावो का जो कि नागरिक-समाज पर अपनी प्रभुता का दावा साधुता (अरैते) के आधार पर करते है अथवा जो इसी प्रकार सपन्नता के आधार पर करते है, बहुसख्यकवर्ग औचित्यपूर्ण प्रतिवाद कर सकता है, क्योकि बहुसख्यक जनता को—व्यष्टिरूपेण नही प्रत्युत समष्टिरूपेण—अल्पसख्यको की अपेक्षा अधिक अच्छा और धनवान् होने से रोकनेवाला कोई भी नही है। इसी विचार के सहारे हम उस कठिनाई का भी सामना करने मे समर्थ होते है जो कभी कभी उपस्थित कर दी जाती है। कभी कभी जो कठिनाई उपस्थित होती है वह यह है कि यदि यह मान लिया जाय कि जो प्रसग हमने वर्णन किया है वह प्रस्तुत हो (अर्थात् बहुजनवर्ग सचमुच ही समष्टिरूपेण अल्पजनवर्ग से अधिक अच्छा हो) तो ऐसी स्थिति मे उस नियमनिर्माता को, जो कि यथाशक्ति सर्वोत्तम नियम बनाना चाहता है, किस प्रकार नियम बनाने चाहिये ? क्या उसको उत्तम लोगो के हित को दृष्टि में रखकर कानून बनाने चाहिये अथवा बहुसख्यकवर्ग के हित की दृष्टि से ? (इसके उत्तर में कहा जा सकता है) कि न्याय्य अथवा उचित का अर्थ 'समान रूप से उचित' किया जाना चाहिये, और 'समान रूप से उचित' वह है जो समग्र नगर (राष्ट्र) के, तथा उसके सब नागरिकों के सामान्य हित के लिये होता है। और नागरिक शब्द का सामान्य अर्थ है वह व्यक्ति जो शासन करने और शासित होने दोनो ही में भागीदार है। विशिष्ट अर्थ में वह नागरिक पृथक् पृथक् व्यवस्थाओ के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार का होता है, पर सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था मे नागरिक वह व्यक्ति होता है जो सद्वृत्तिमय (साधुतामय) जीवन-यापन करने के लिये शासित होने एवं शासन करने की क्षमता और इच्छा दोनो ही से युक्त है।[१]

किन्तु यदि कोई मनुष्य ऐसा हो (अथवा एक से अधिक मनुष्य—पर इतने अधिक नही जो राष्ट्र की पूर्णता घटित कर सकें—ऐसे हो) जो सज्जनता में इतना बढ़ा-चढ़ा

हो कि उसकी (अथवा उनकी) साधुता और राजनीतिक योग्यता की अन्य सब लोगो की योग्यता से कोई तुलना ही न हो सके, तो वह अथवा वे व्यक्ति राष्ट्र के सामान्य अश मात्र नही माने जा सकते। अन्य लोगो की अपेक्षा साधुता और राजनीतिक योग्यता मे उनके इतने अधिक बढे होने पर भी यदि उनको अन्य लोगो के समान भाग के ही योग्य माना जायगा तो यह उनके प्रति अन्याय होगा, क्योकि ऐसा व्यक्ति तो मनुष्यो के मध्य मे देव-तुल्य माना जा सकता है। अत यह स्पष्ट है कि नियम (अथवा कानून) अवश्यमेव उन्ही लोगो से सबध रखता है जो कि जन्म और क्षमता (=योग्यता) मे समान हो। तथा जो व्यक्ति साधुता मे अतीव श्रेष्ठ है उनके लिये कोई नियम-बधन नही होता, वे स्वत अपने लिए नियम-स्वरूप होते है।[४] उनके लिये नियम बनाने का प्रयत्न करनेवाला व्यक्ति उपहास का पात्र बन जायगा। (किसी के ऐसा प्रयत्न करने पर) स्यात् वे वही उत्तर देगे जो कि अन्तिस्थैनीस्[५] की कथा मे उस समय सिहो ने दिया था, जब कि खरगोश व्याख्यान देते हुए सब पशुओ की बराबरी का दावा कर रहे थे (कि 'तुम्हारे नख और दॉत कहाँ है ?')। इसीलिये जनतत्रात्मक (नगर-) राष्ट्रो ने जो निर्वासन का नियम निर्धारित किया है, वह भी इसी कारण है। अन्य सब बातो की अपेक्षा बराबरी (को उपलब्ध करना) उनका लक्ष्य माना जाता है। और इसीलिये वे उन लोगो को एक निर्धारित समय के लिये बहिष्कृत करके निर्वासन का दण्ड दे दिया करते थे जो उनके विचार मे धन के कारण, अथवा बहुत से मित्रो के कारण या अन्य किसी प्रकार के राजनीतिक बल के कारण अत्यधिक प्रभावशाली प्रतीत होते थे। पुराण कथाओ मे भी उल्लेख मिलता है कि अर्गानाउतो[६] ने हेराक्लीस्[७] को इसी कारण अपने साथ नही लिया था, अर्गो नामक नौका (जो बोलती थी) ने स्वय उसको अन्य लोगो के साथ इसीलिये नही लेना चाहा कि वह अन्य सायात्रिको की अपेक्षा बहुत बढकर व्यक्ति था। इसलिये तानाशाही की निन्दा करनेवालो को, जिन्होने कि थ्रासीबूलस[८] नामक तानाशाह को पेरियाण्डर[९] नामक तानाशाह द्वारा दिये हुए परामर्श पर आक्षेप किया है, बिलकुल ठीक नही माना जा सकता। कथानक के अनुसार पेरियाण्ड्रॉस् ने उस दूत से जो थ्रासीबूलस द्वारा उसके पास परामर्श करने के लिये भेजा कुछ भी नही कहा, प्रत्युत (मूक-भाव से) उसने खेत के अन्न की सबसे अधिक ऊँची बालो को काटकर खेत को समतल कर दिया। दूत की समझ मे इस कार्य का अर्थ कुछ भी नही आया, बस उसने जो कुछ देखा था उसे थ्रासीबूलस् को अवगत कर दिया, जिसने इसका अर्थ इस प्रकार लगाया कि उसको नगर के प्रमुख व्यक्तियो को काट डालने की सलाह दी गई है। यह नीति केवल तानाशाहों के लिये हितकर

नही है, और न केवल तानाशाहो के ही द्वारा इसका व्यवहार किया जाता है, प्रत्युत इस नीति के प्रति तो अल्पजनतत्र और प्रजातत्र की भी एक सी ही स्थिति है। बहिष्कार भी अत्यन्त उच्च गुणवाले व्यक्तियो की शक्ति को काट-छाँट करके एव उनको निर्वासित करके, एक प्रकार से उपर्युक्त प्रकार का ही प्रभाव उत्पन्न करता है। तथा जो राष्ट्र सर्वोच्च शक्ति प्राप्त कर लेते है वह अन्य राष्ट्रो के प्रति इसी प्रकार की नीति बरतते है, जैसा कि अथेन्सवालो ने सामौस्, खियौस् तथा लैस्बौस्[*] वालो के साथ किया था। ज्योही साम्राज्य-सत्ता सुदृढतया उनकी मुट्ठी मे आई त्योही उन्होने सन्धि की शर्तों के विरुद्ध अपने सभी सहायक (देशो, जनो) को नीचा दिखलाया। इसी प्रकार फारस देश के राजा (सम्राट्) ने अनेको बार मीदी और बाबिलोन निवासियो एव अन्य ऐसे लोगो की शक्ति को काट-छाँटकर संक्षिप्त कर दिया जो कि अपने पूर्वकालीन साम्राज्य की स्मृति से कुछ धृष्ट होने लगे थे।

यह समस्या वास्तव में एक सर्वव्यापक समस्या है तथा राष्ट्र-व्यवस्था के सभी प्रकारो से—चाहे वे भले (सच्चे) हो चाहे बुरे (झूठे)—इसका सबध है; और यदि विकृत व्यवस्थावाले लोग अपने स्वार्थ के लिये इस नीति को काम में लाते है, तो जो लोग (अच्छी व्यवस्था के अन्तर्गत) सार्वजनिक हित को दृष्टि मे रखते है उनका मार्ग भी कुछ इसी प्रकार का होता है। यही बात अन्य शिल्पो और विद्याओ से भी स्पष्ट हो जाती है। कोई चित्रकार अपनी चित्रगत मूर्ति के पैर को यथाप्रमाणता का उल्लघन करनेवाला नही होने देगा, चाहे वह स्वत. कितना ही सुन्दर क्यो न हो; न कोई नाव बनानेवाला नाव के पृष्ठभाग अथवा किसी अग का अनावश्यक रूप से बडा होना सहन करेगा, और न गीतनेता अपनी गायक-मण्डली में किसी ऐसे व्यक्ति को सम्मिलित करेगा जो मण्डली के अन्य सब गायकों की अपेक्षा अधिक उच्च और सुन्दर स्वर से गाता है। इस सर्वव्यापी नियम को दृष्टि में रखते हुए (यह कहा जा सकता है) कि जो एकतत्र शासक इस उपर्युक्त नीति का उपयोग करता है, तो यदि उसका शासन राष्ट्र के लिये हितकर हो तो, यह नीति उसको राष्ट्र मे शान्तिपूर्वक रहने से रोक नही सकती। अतएव (सर्व-)सम्मत उत्तमता के प्रसग में इस बहिष्कारवाली युक्ति (तर्क) में एक प्रकार का राजनीतिक औचित्य उपलब्ध होता है। अधिक अच्छा तो निश्चयमेव यह होगा कि नियम-निर्माता आरभ से ही अपने राष्ट्र की व्यवस्था ऐसी बनाये कि ऐसे उपचार (ऐसी चीरफाड) की कभी आवश्यकता ही न पडे। पर यदि आवश्यकता आ पडे तो सर्वश्रेष्ठ से उतरकर दूसरे नम्बर का उपाय, बुराई को उपर्युक्त उपाय से अथवा इसी के सदृश किसी अन्य उपाय से सुधारने का प्रयत्न करना

होगा। पर वास्तव मे नगर-राष्ट्रो ने इस सिद्धान्त का प्रयोग इस भावना से नही किया है, उन्होने अपनी राष्ट्र-व्यवस्था के हित पर दृष्टि नही रक्खी है, प्रत्युत बहिष्कार का प्रयोग कलह की भावना से किया है।

यह स्पष्ट है कि विकृत-राष्ट्र-व्यवस्थाओं मे, और उनके अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के अनुसार यह बहिष्कार का व्यवहार उपयोगी एव समुचित होता है, पर स्यात् यह भी (उतना ही) स्पष्ट है कि यह नितान्त न्यायोचित नही है। पर श्रेष्ठ राष्ट्र-व्यवस्था मे किसी ऐसे व्यवहार के विषय मे महान कठिनता का सामना करना पडेगा। यह कठिनाई शक्ति की अधिकता, सपन्नता अथवा (सहायको की) सबधियो की अधिकता इत्यादि के सदृश गुणो के प्राधान्य के प्रसग में उपस्थित नही होती। प्रत्युत कठिन प्रश्न तो यह है कि "जब किसी ऐसे व्यक्ति का प्रसग उपस्थित हो जो साधुता में सर्वोपरि है तो क्या हो?" कोई भी मनुष्य ऐसा नही कह सकेगा कि ऐसे व्यक्ति को बहिष्कृत और निर्वासित कर दिया जाय। दूसरी ओर, ऐसा व्यक्ति अन्य लोगो द्वारा शासित भी नही होना चाहिये। यह तो प्राय ऐसी ही बात होगी कि मानो मनुष्य द्यौस्[११] के पदाधिकार को आपस मे बाँटकर उस पर शासन करने का दावा करें। बस एकमात्र शेष विकल्प—तथा जो प्रकृत्यनुरूप भी है—यह है कि सबको सहर्ष ऐसे व्यक्ति के प्रति श्रद्धावनत होना चाहिये। अत ऐसे साधुजनो को अपने नगर मे (आजीवन) स्थायी राजा होना चाहिये।

टिप्पणियाँ

१. नगर में पदाधिकार और सम्मान का दावा करनेवाले विविध दावेदार यहाँ निम्नलिखित बतलाये गये है (क) धनिक लोग (ख) स्वतंत्र और कुलीन नागरिक, (ग) चारित्रियक उत्तमता से समन्वित व्यक्ति और (४) बहुजनों की सामूहिक अच्छाई। यह सभी तत्व नागरिक जीवन में उपयोगी सिद्ध होते है।

२. विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ तो सर्वोच्चसत्ता को किसी एक तत्त्व में स्थापित करती है। पर अरिस्तू की न्यायपरायण बुद्धि सभी तत्त्वों के दावों के प्रति न्याय करना चाहती है अथवा विभिन्न विरोधी तत्त्वों के मध्य में सम्मान और पदाधिकार का न्यायोचित एव समन्वित वितरण करना चाहती है।

३. अरिस्तू की परिभाषा सचमुच विचारणीय और मननीय है।

४. गीता की परिभाषा में "तस्य कार्यं न विद्यते।"

५. अन्तिस्थैनी (ने) स्, सॉक्रातेस का शिष्य और मित्र था। उसने ४४० ई० पू० में अथेंस् में एक दार्शनिक पद्धति को प्रचलित किया था जो सी (कुइ) निक नाम से प्रसिद्ध है। यह सदाचार और सद्गुण को ही सर्वोपरि मानता था। संभव है कि उसने इस कथा को अपनी "कुइरॉस अथवा राज्यतत्व" नामक पुस्तक में उद्धृत किया हो। वैसे यह इसी प्रकार ईसॉप् की नीति कथाओं में मिलती हैं।

६. ७. थेसाली में इयॉल्कॉस् नामक एक राज्य था। यहाँ का राजा अएसॉन् को होना चाहिये था पर उसके सौतेले भाई पैलियास् ने इस राज्य पर अनुचित प्रकार से अधिकार जमा लिया। अएसॉन् का पुत्र इयासन् (अंग्रेज़ी जैसन्) बड़ा होने पर पैलियास् की राजसभा में पहुँचा और अपने पिता के राज्य को पाने का दावा किया। पैलियास् ने उससे कहा कि यदि तुम कॉल्खिस् से सुनहरी ऊन की खाल ले आओगे तो तुम्हारे पिता का राज्य तुमको दे देंगे। इयासन् अर्गो नामक नौका में सवार होकर अनेकों साथियों के सहित कॉल्खिस् पहुँचा। वहाँ के राजा इएतेस् ने उसको अनेको असंभव कार्य कर दिखलाने के उपरान्त सुनहरी ऊन की खाल देने का वचन दिया। उसने राजा की पुत्री मेदिया की सहायता से सब कार्य कर दिखलाये। अन्त में वह मेदिया के साथ विवाह करके और सुनहरी खाल लेकर लौट आया। मेदिया को जादू भी आता था। पर कुछ समय पश्चात् इयासन् ने मेदिया का परित्याग कर दिया और दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया। मेदिया ने इसका प्रतिकार इयासन् की सन्तान की हत्या करके किया। यह कथा अनेकों काव्यों और नाटकों का विषय बनी। अर्गोनाउत् इयासन् के साथ जानेवाले अन्य साथी थे। हेराक्लेस् भी उनमें एक था। पर क्योंकि वह सबसे अधिक बलवान् और योग्य व्यक्ति था अतएव उसका अन्य लोगों ने बहिष्कार कर दिया। हेराक्लेस् के पराक्रमों की कहानियाँ भी यूनानी साहित्य में और यूरोपीय साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

८. थ्रासीबूलस् मिलेतस् का तानाशाही शासक था। पेरियाण्डर कौरिन्थ का तानाशाह था। इसका समय ई० पू० ६२५–५८५ माना जाता है। यह अत्यन्त समर्थ और योग्य था। पेरियाण्डर उसके नामका अंग्रेज़ी रूपान्तर है। उसका ग्रीक नाम पेरियाण्ड्रॉस् था।

१०. सामौस्, खियौस् और लेस्बौस्। (१) सामौस् लघु एशिया के दक्षिण पश्चिम में एक द्वीप है। (२) खियौस् भी एक द्वीप है जो सामौस् से उत्तर की ओर है। यह होमर का जन्मस्थान भी कहा जाता है। (३) लेम्बौस लघुएशिया के पश्चिम में एक बड़ा द्वीप है और और खियौस् के उत्तर में है।

११. ज़ौस् अर्थात् ज़ेंउस् यूनानी लोगो का सबसे बड़ा देवता है।

वि. प्लातोन और अरिस्तू दोनों ही राजनीतिक विचारो में न्याय का स्थान सर्वोपरि है। यूरोप की राजनीति-संबंधी विचारों की नींव इन्हीं दोनों विचारको ने डाली है। अरिस्तू और उसके गुरु दोनों ने इस विषय का अच्छा मन्थन किया है। न्याय के बिना समाज का कार्य भली प्रकार नहीं चल सकता अतएव यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। न्याय से सामाजिक जीवन की सत्ता की ही रक्षा नहीं होती प्रत्युत समाज में अच्छा जीवन भी न्याय के आधार पर निर्मित होता है। अतएव एक प्रकार से न्याय को सब सद्गुणो की समष्टि कह सकते हैं। कवि के शब्दों में "न्याय में सद्गुण भरे रहते ठसाठस।"

१४

पाँच प्रकार के राजतंत्र

स्यात् पूर्ववर्ती विवेचन के पश्चात् यह अच्छा होगा कि विषयान्तर[1] करके राजत्व (बसीलेइया) का विचार कर लिया जाय। हम राजा के द्वारा शासन को शासन-व्यवस्था के सम्यक् प्रकारो के अन्तर्गत मानते है। विचारणीय बात यह है कि किसी नगर अथवा प्रदेश के सुशासित होने के लिये इस प्रकार की शासन-पद्धति उपयुक्त है या नही, अथवा यदि यह उपयुक्त नही है, तो अन्य कोई पद्धति अधिक उपयुक्त है—अथवा कुछ प्रसगो में तो यह (राजत्व) प्रणाली उपयुक्त है ही चाहे अन्य कुछ प्रसगो मे उपयोगी न भी हो। पर सबसे पहले तो हम को यह निर्धारित करना चाहिये कि यह राजकीय शासन-पद्धति[2] केवल एक प्रकार की होती है अथवा अनेक प्रकार की। यह देख पाना तो सरल काम है कि इसके प्रकार अनेको है तथा सब प्रकारो मे शासन-प्रणाली एक-सी नही है।

लाकोनिकी[3] शासन-व्यवस्था मे जो राजकीय पद्धति है वह नियमानुमोदित पद्धतियो मे श्रेष्ठ प्रकार की मानी जाती है। स्पार्टा के राजा लोग सब बातो में सर्वोपरि नही होते; परन्तु जब वे स्पार्टा-प्रदेश के बाहर अभियान पर होते है तो उनको सेना पर अनुशासन करने भर का अधिकार अवश्य होता है। धर्म–(देव-) सबधी विषयो का निर्धारण भी राजा के ही अधीन होता है। इस प्रकार का राजपद वास्तव मे ऐसा है जैसा कि पूर्णतया स्वाधीन और सनातन सेनानायक का पद होता है। इस प्रकार के राजा को (जीवन और) मृत्यु का अधिकार नही होता, यदि होता भी है तो इन राजाओ मे किन्ही विशेष प्रकार के राजाओ को ही होता है—उदाहरणार्थ

प्राचीन काल मे राजा लोग युद्धाभियान मे बाहुबल के नियमानुसार ऐसा कर (=प्राण ले) सकते थे। होमर ने इस विषय का स्पष्ट वर्णन किया है। उसने यह वर्णन किया है कि अगामेम्नन्[४] राज्यपरिषद् मे तो सब आक्षेप वचनो (अथवा गालियो) को धैयपूर्वक सुन (सह) लेता है, परन्तु जब सेना युद्ध करने के लिये जाती है तो उसको (जीवन) और मरण की शक्ति प्राप्त हो जाती है। कम से कम इतना तो वह कहता ही है—

"मै पाऊँगा जिसे युद्ध से करते हुए पलायन ।
कुत्तो, गीधों से बचने का उसके कोई उपाय न ।
है मुझको अधिकार मृत्यु का . ।(इलियड् २।३९१–९२।)

इस प्रकार राजत्व का एक रूप है—आजीवन सेनापति होना। इस प्रकार का राजपद दो श्रेणियो में विभक्त होता है, (१) वशानुक्रमिक अथवा जन्म से (२) निर्वाचन द्वारा दिया हुआ।

इसके अतिरिक्त राजपद का एक प्रकार और भी होता है जो कि कुछ असभ्य जातियो मे पाया जाता है। इस प्रकार के राजत्व की शक्ति या क्षमता (=अधिकार) पूर्णतया तानाशाही के अधिकार से मिलती-जुलती होती है; तथापि यह राज्यपद नियमानुमोदित और पितृक्रमागत दोनो ही होता है।[५] इसका कारण यह है कि यह बर्बर लोग हैलेनीस लोगो की अपेक्षा अधिक दासवृत्तिपरायण होते है, जैसे कि एशियावासी यूरोपीयन लोगो की अपेक्षा अधिक दब्बू होते हैं, अतएव वे उद्दण्डशासन को बिना असन्तोष के सह लेते है। इस प्रकार का राजपद स्वरूपत. तानाशाही जैसा होता है, पर नियमानुमोदित और वशानुगत होने के कारण वह स्थायी होता है। इसी कारण उनके अंगरक्षक भी ऐसे होते हैं जैसे कि राजाओं के लिये न कि तानाशाहो के लिये उपयुक्त होते है। राजाओ की रक्षा उनकी प्रजा के शस्त्रास्त्रो द्वारा की जाती है, तानाशाहो की (वेतनार्थी) विदेशियो के आयुधो द्वारा। राजा लोग अपनी प्रजाओ पर नियमानुसार और उन्ही की इच्छानुसार शासन करते है, तथा तानाशाह प्रजाओ की इच्छा के प्रतिकूल उन पर शासन करते हैं, अत वे (राजा तो) प्रजा के द्वारा रक्षित रहते है और इन (तानाशाहो) की प्रजा से (अर्थात् प्रजा के विरोध से) रक्षा की जाती है।

राजपद के यह दो प्रकार है, पर एक तीसरा प्रकार और भी था जो कि पुरातन हैलेनीस् (ग्रीक) जाति मे पाया जाता था तथा ऐसुम्नेतेइया (अर्थात् अधिनायकता[६]) कहलाता था। इसको स्थूलरूपेण तानाशाही का निर्वाचित प्रकार कह सकते है।

बर्बर जाति मे जो राजपद है यह उस से भिन्न है पर भेद यह नही है कि यह राजत्व नियमानुमोदित नही होता, प्रत्युत केवल इतना भेद है कि यह राजपद वशानुगत न था। कुछ अधिनायकों ने तो आजीवन शासन किया, कुछ ने एक निर्धारित समय तक अथवा किसी निश्चित कर्तव्य की पूर्ति के समय तक। उदाहरणार्थ मितीलीन[७] के निवासियो ने उन निर्वासित जनो के आक्रमण का सामना करने के लिये पित्ताकस्[८] को अधिनायक चुना था जो अन्तिमैनिदीस्[९] और कवि अल्कइयस् के नेतृत्व में आक्रमण करने आ रहे थे। पित्ताकस् के अधिनायक चुने जाने के तथ्य को तो स्वय अल्कइयस् ने ही स्पष्टतया प्रमाणित कर दिया है; अपने एक आपानक-गीत मे उसने अपने नागरिको को कटुतापूर्ण उलाहना देते हुए कहा है—

> "नीच जात पित्ताकस, नायक, सब की भूरि प्रशसा पाकर ।
> इनके द्वारा गया बनाया, पित्तशून्य दुर्भग नगरी पर ॥"

यह अधिनायक-पद द्विस्वभाव हैं और पूर्वकाल मे ऐसे ही थे, अनियन्त्रित शक्ति सपन्न होने के कारण यह तानाशाह है और निर्वाचित एव प्रजा की सम्मति के अनुकूल होने के कारण राजा है।

राज-शासन का एक चौथा प्रकार भी है। यह वीरता के युग का राजपद है, जो कि वैधानिक (नियमानुमोदित), जनसम्मति पर आश्रित और वंशानुगत है। इन राजवशो के आदि पुरुष किसी शिल्प (=कला) अथवा युद्ध में जनता का हित करनेवाले थे, उन्होने या तो उनको एक समाज के रूप में सघटित किया था अथवा उनके लिये भूमि प्राप्त की थी, और इस प्रकार वह जनता की इच्छानुसार राजा बने और उनका राजपद वशानुक्रम से चल पड़ा। इन राजाओं के तीन प्रमुख कार्य थे; वे युद्ध मे सेना की अध्यक्षता करते थे, ऐसे यज्ञो में प्रमुख बनते थे जिनमें पुरोहित की आवश्यकता नही होती थी, और अभियोगो के निर्णय करने का भी काम करते थे। इन अभियोगो का निर्णय वह कभी बिना शपथ के किया करते थे और कभी शपथ के साथ, एवं उनकी शपथ का प्रकार राजदण्ड को उठाना होता था। प्राचीन काल में तो सभी बातें—यथा नगर सबधी शासन, देहात का प्रबध एव, विदेशों के मामले—उन्ही की सत्ता के क्षेत्र के अन्तर्गत थी, पीछे उन्होने अपने कुछ विशेषाधिकार स्वय छोड दिये और कुछ जनता ने उनसे छुडवा दिये (अथवा छीन लिये), यहाँ तक कि अन्त मे यह परिणाम हुआ कि कुछ नगरो में उनका एकमात्र विशेषाधिकार यज्ञो का प्रबध करना रह गया। और जहाँ कही यह भी कहा जा सकता था कि उनका वास्तविक

राजपद विद्यमान है वहाँ भी उनका अधिकार केवल विदेशी अभियानो में सेनापति-पद तक सीमित था।

इस प्रकार राजपद चार प्रकार का है—(१) प्रथम आदि वीरयुग का राजपद जो कि जनता की सम्मति के अनुकूल था और केवल थोडे से कार्यों तक सीमित था। राजा सेनाध्यक्ष, न्यायाधीश और धार्मिक कृत्यो के सचालक का कार्य करता था। (२) द्वितीय बर्बर जातियो मे पाया जानेवाला राजपद, जिसमें कि राजा वशानुक्रमिक, अधिकार के बल पर स्वच्छद शासन करता है पर यह शासन नियमानुमोदित होता है। (३) तीसरे वह राजपद जो कि अधिनायक पद कहलाता है तथा जो तानाशाही का निर्वाचनाश्रित-प्रकार है। (४) चौथा लाकैदायमौन पद्धति का राजपद है जो कि वास्तव मे वशानुगत सनातन सेनापतिपद है। यह चारो प्रकार के राजपद एक दूसरे से पूर्वोक्त प्रकार से भिन्न (माने जाते) है।

(५) पर इनके अतिरिक्त एक पाँचवे प्रकार का राजपद भी है (जो इन सबसे भिन्न है।) यह राजपद ऐसा है कि इसमें एक ही व्यक्ति (राजा) को सब विषयों पर (परिपूर्ण) आधिपत्य प्राप्त होता है। यह आधिपत्य ठीक इसी प्रकार का होता है जैसा कि किसी जाति अथवा नगर को अपने सार्वजनिक विषयों पर प्राप्त होता है। यह प्रकार गृहस्वामी द्वारा गृहस्थो के प्रबध से समानता रखता है। जिस प्रकार कि गृहस्थी का प्रबध घरेलू राजकीय शासन है, इसी प्रकार यह शासन अर्थात् नगरी का राजकीय शासन एक नगरी अथवा जाति अथवा जाति-समूह का पितृतुल्य शासन होता है।[१०]

टिप्पणियाँ

१. प्रस्तुत खंड एक प्रकार से विषयान्तर है भी, और नहीं भी है। पिछले खंड के अन्त में यह बतलाया जा चुका है कि यदि कोई व्यक्ति सब प्रकार से श्रेष्ठ हो तो उसके प्रति सब को श्रद्धावन्त होना चाहिये और उसको राजा का पद देना चाहिये। ऐसे व्यक्ति को प्रकृत राजा कह सकते है। इस प्रसंग को इस प्रकार प्रस्तुत करके इस १४ वें खंड में उसका विवेचन करना विषयान्तर नहीं है। तथापि क्योंकि मुख्य विषय न्याय के स्वरूप का विवेचन था उसको छोड़कर प्रकृत राजा के शासन का विवरण उपस्थित करना विषयान्तर करना है।

२. राजकीय शासन-पद्धति से तात्पर्य ऐसे एक व्यक्ति के शासन से है जो सब प्रकार से श्रेष्ठ और परिपूर्ण मानव है तथा जिसको सब प्रजाजन ऐसा मानते हैं। "राजा प्रकृतिरंजनात्" ऐसा कालिदास ने भी कहा है।

३. लाकोनिकी = लाकैदायमौन् (अर्थात् स्पार्टा द्वीप) के राजाओ की शासन-पद्धति। इस विषय में द्वितीय पुस्तक के खण्ड ९ और उसकी टिप्पणियो को देखना चाहिये।

४. अगामेम्नन् होमर के "इलियाद्" काव्य में ट्राय पर आक्रमण करनेवाली सेनाओ का संचालन करता है। वह अत्र्यूस का पुत्र और मीकेनाये का राजा था।

५. यह सम्पूर्ण वाक्य अरिस्तू का जात्यभिमान और अज्ञान दोनो को सूचित करता है।

६. ऐसुम्नेतेस् दो प्रकार के होते थे, एक साधारण पदाधिकारी दूसरे असाधारण अधिनायक। अरिस्तू यहाँ दूसरे प्रकार के अधिनायको का वर्णन कर रहा है।

७. मितीलीन अथवा मितीलेने लैस्बौस द्वीप का मुख्य नगर था। यह कवियित्री साप्फो और अल्कइयस् का जन्म-स्थान था।

८. पित्ताकस् की गणना ग्रीक जाति के सप्तर्षियों में की जाती है। वह ई० पू० ७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लेस्बौस् द्वीप में जनतंत्र-शासन का नेता था।

९. अन्तिमेनीदीस् अथवा अन्तिमेनीदास और कवि अल्कइयस् भाई थे। कवि की ख्याति अधिक है। अल्कइयस् कलम और कृपाण दोनो का धनी था। उसने अथेंस के विरुद्ध और तानाशाहों के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था और उसका जीवन कठोर कष्टों से भरा रहा। उसने एक कविता साप्फो के प्रति भी लिखी थी।

१०. इस शासन-पद्धति में राजा अपनी प्रजा की भलाई का ध्यान इसी प्रकार रखता है जैसे कि पिता अपनी सन्तान के हित का ध्यान रखता है।

१५

एकराट्तंत्र, बहुजनतंत्र और नियमतंत्र

इन उपर्युक्त प्रकारो मे से केवल दो ही ऐसे है जिनका हमको विचार करना चाहिये, एक तो वह जिसका वर्णन हमने अभी किया है तथा दूसरा लाकैदायमौन् मे पाया जानेवाला राजपद। अन्य प्रकारो मे से अधिकाश इन्ही दोनो के मध्यवर्ती हैं। वे सर्वाधिपराजपद (पाम्बसिलेइया) की अपेक्षा कम और लाकैदायमॉन् राजपद की

अपेक्षा अधिक सत्ताशाली होते है। इस प्रकार हमारे अनुसधान के लिये दो बाते रह जाती है। प्रथम बात यह है कि क्या किसी नगर-राष्ट्र के लिये एक स्थायी सेनाध्यक्ष का होना कल्याणकारी है अथवा नही, और यदि ऐसा है तो क्या वह वशानुगत होना चाहिये अथवा नागरिको मे से पर्यायक्रम से चुना होना चाहिये ? दूसरी बात यह है कि क्या एक ही व्यक्ति का सब विषयो मे पूर्णाधिपति होना हितकर है अथवा नही ?

उपर्युक्त प्रश्नो मे से सेनाध्यक्ष पद के प्रश्न का सबध राष्ट्र-व्यवस्था की अपेक्षा नियम-निर्माण (कानून) से अधिक है। स्थायी सेनाध्यक्ष तो किसी भी प्रकार की (सभी प्रकार की) राष्ट्र-व्यवस्था मे हो सकता है, अतएव इस प्रसग को हम इस समय छोड दे सकते है। रहा अवशिष्ट राजपद (सर्वाधिपराजपद) का प्रकार[1], सो वह तो एक प्रकार की राष्ट्र-व्यवस्था (पॉलितेइया) है। अतएव हमको इसका निरीक्षण करना चाहिये और सक्षेप मे यह भी देख लेना चाहिये कि इसमे क्या-क्या कठिनाइयाँ है।

हम इस अनुसधान को इस प्रश्न की विवेचना से प्रारभ करेंगे "क्या श्रेष्ठ व्यक्ति के द्वारा शासित होना अधिक कल्याणकारी है, अथवा श्रेष्ठ नियमो द्वारा ?" जो लोग राजपद को हितकारी मानते है उनके मत मे नियम तो सामान्य विषयो पर ही विधान बतलाते है, विविध प्रकार की विभिन्न परिस्थितियों के विषय में कोई निर्देश नही कर सकते। अतएव किसी भी कला के क्षेत्र मे नियम के अक्षरो का शासन निरी मूर्खता है (फिर चाहे वह कला राजनीति हो, आयुर्वेद हो या अन्य कोई कला हो।) और ऐगिप्तौंस प्रदेश (मिश्र) मे वैद्य को चौथे दिन के उपरान्त उपचार-पद्धति को बदल देने की अनुमति प्राप्त है; हाँ यदि इसके पूर्व कोई वैद्य उपचार पद्धति को बदले तो दुर्घटना का उत्तरदायित्व स्वयं उसी पर रहता है। यदि हम इस तर्क का अनुसरण करें तो यह स्पष्ट है कि नियम के लिखित अक्षर और विधि का अनुसरण करनेवाली व्यवस्था (=शासन) श्रेष्ठ व्यवस्था उसी कारण से नही है (जिस कारण कि कठोर नियम का अनुसरण करनेवाली उपचार-पद्धति श्रेष्ठ पद्धति नही है।) पर निश्चयमेव यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि सामान्य सिद्धान्त भी शासक के मस्तिष्क में रहने चाहिये। वह (व्यक्ति) जिसमे मनोविकारो का एकान्त अभाव होता है उस (व्यक्ति) की अपेक्षा अच्छा होता है जिसको कि मनोविकार चिपटे रहते है। नियम में तो मनोविकार का अश होना सभव नही है; पर मानव के मन में तो उसका अश सर्वदा ही विद्यमान रहता है। इस (तर्क) के उत्तर मे कहा जा सकता है कि इसके विपरीत व्यक्ति विशिष्ट प्रसगो पर (नियम की अपेक्षा) अधिक अच्छा विचार और निर्णय कर सकता है।

(इन सब विचारो से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि) श्रेष्ठ जन अवश्यमेव नियम-निर्माता होना चाहियें और नियम भी अवश्यमेव निर्धारित (=स्थापित) होने चाहिये, पर जब कभी यह नियम प्रसगोपात्त नही होगे तब इन नियमो को प्रमुखता नही दी जायेगी, —यद्यपि अन्य सब अवसरो पर नियमो की सत्ता (शक्ति=अधिकार) अक्षुण्ण बनी रहेगी। पर जब किसी विषय का निर्णय नियम द्वारा या तो बिलकुल न किया जा सके अथवा भली प्रकार न किया जा सके (तो यह प्रश्न उठता है कि) ऐसे अवसर पर कौन निर्णय करे ? क्या यह निर्णयाधिकार एक श्रेष्ठ व्यक्ति को दिया जाय अथवा सब (जनता) को ?

और आजकल की रीति तो यह है कि जनपरिषद् एकत्रित होकर निर्णय करती है, विचार करती है और निर्धारण करती है, तथा उनके निर्णयों का सबध सर्वथा व्यक्तिगत मामलो से ही होता है। इन परिषदो का कोई भी एक सदस्य व्यक्तिगत रूप मे श्रेष्ठ (बुद्धिमान्) व्यक्ति से अपेक्षाकृत स्यात् बुरा ही होता है। पर नगर (-राष्ट्र) की सघटना तो बहुत-से व्यक्तियों से मिलकर होती है, और जिस प्रकार वह भोज जिसके लिये बहुत-से आदमी अश प्रदान करते है, एक व्यक्ति के द्वारा प्रस्तुत किये भोज से बढकर होता है ठीक उसी प्रकार और उसी कारण से बहुसंख्यक लोग बहुत-से प्रसगो मे किसी भी एक व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अच्छा निर्णय कर सकते है।

फिर, अल्पसंख्यक जनता की अपेक्षा बहुसंख्यक जनता के भ्रष्ट होने की सभावना भी कम होती है। जैसे कि जल की विपुलराशि के दूषित होने की सभावना थोडी-सी मात्रा की अपेक्षा कम होती है, इसी प्रकार बहुसख्यक जनता के भ्रष्ट होने की सभावना भी थोडे लोगों की अपेक्षा कम होती है। एक व्यक्ति का तो रोष अथवा किसी अन्य मनोवेग द्वारा अभिभूत हो जाना सभव है और ऐसी दशा में उसका किया हुआ निर्णय भी अवश्यमेव विकृत होगा, पर सब (बहुत-से) मनुष्यो का युगपद् क्रुद्ध होना और गलती कर बैठना कठिन काम है। हमको यह मान लेना चाहिये कि बहुसंख्यक जन सब के सब स्वाधीन है, कभी नियमविरुद्ध कार्य नही करते हैं; केवल उन्ही प्रसंगो में नियमों का अतिक्रमण करते है जो नियमों से अनिवार्यतया छूट गये है। और यदि यह कहो कि बहुसंख्यक जनता मे इस प्रकार के गुण (अथवा सयम) का पाया जाना सरल नही, तो भी यदि बहुसख्यक भले मानस और नेक नागरिक हो तो तब कौन कम भ्रष्ट होने योग्य होगा—एक अच्छा शासक या बहुजन जो कि सबके सब भले हैं ? क्या स्पष्ट ही वह नहीं जो कि बहुसंख्यक है ? पर बहुसख्यक जनता में दलबन्दी हो

सकती है और एक व्यक्ति दलबन्दी से मुक्त होता है। इसका उत्तर स्यात् यह होना चाहिये कि जनता का चरित्र (=आत्मा) इतना ही अच्छा हो सकता है जितना कि व्यक्ति का। (अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है) कि यदि हम ऐसे बहुसख्यक जनो के शासन को, जो कि सब के सब भले आदमी हो, श्रेष्ठजनतत्र (अरिस्तॉक्रातिया) कहें और एक जन के शासन को राजतत्र (बसिलेइया) नाम दें, तो नगर (-राष्ट्रो) के लिये राजतत्र की अपेक्षा श्रेष्ठजनतत्र अधिक वरेण्य होगा, चाहे शासन-शक्ति द्वारा समर्थित हो अथवा न हो, पर शर्त्त यह है कि समान रूप से भले बहुत-से व्यक्ति उपलब्ध हो सके।

आरभ-काल के शासन स्यात् इस कारण राजतत्रात्मक थे कि उस समय गुणातिरेक से सपन्न (अधिक) मनुष्य विरल थे और उनको पाना कठिन था—और क्योकि उस समय नगर बहुत सघन बसे हुए नही थे अत यह कार्य और भी अधिक कठिन हो गया था। फिर, वे इस कारण भी राजपद पर नियुक्त किये जाते थे क्योकि वे भलाई करनेवाले लोग थे, और ऐसा करना भले आदमियो का काम (कर्तव्य) है (पर उस समय कोई एकाध व्यक्ति ही ऐसा कर सकता था।) पर जब पीछे बहुत-से समान सद्गुण-सपन्न व्यक्ति उत्पन्न हो गये तो उन्होने एक ही व्यक्ति की प्रमुखता को सहन न करके, कुछ ऐसी वस्तु चाही जिस पर सबका समान अधिकार हो, अत उन्होंने नगर-व्यवस्था (पॉलितेइया) की स्थापना की। कुछ काल और व्यतीत होने पर यह (शासक) लोग आचरण मे गिर गये, इन्होने सार्वजनिक सम्पत्ति (अथवा कोष) से अपने को श्रीमान् (सपन्न) बना लिया, इस प्रकार जब से धनसपत्ति प्रशसा-प्राप्ति का उपाय हो गयी तब से अल्पजनतत्र (अथवा धनिकतत्र=ऑलिगार्किया) की उत्पत्ति हुई। कुछ समय और बीत जाने पर, प्रथम तो धनिकतत्र से परिवर्त्तन होकर तानाशाही का जन्म हुआ और फिर तानाशाही से जनतत्र का। कारण इसका यह हुआ कि शासक-वर्ग की लोलुपता उनकी सख्या को कम करती गयी, और परिणामत. जनता की शक्ति बढती गयी, अन्ततोगत्वा जनता ने विद्रोह कर दिया और इस प्रकार लोकतत्र की स्थापना हुई। अब, क्योकि नगर और भी अधिक बडे हो गये है, अत अब तो स्यात् लोकतत्र के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की व्यवस्था की स्थापना करना सरल कार्य नही रह गया है।[२]

यदि यह सिद्धान्त भी मान लिया जाय कि नगर (-राष्ट्रो) के लिये राजतत्रात्मक शासन-पद्धति ही सर्वश्रेष्ठ है, तो भी यह प्रश्न उठता है कि राजा के परिवार

(=सन्तान) की क्या स्थिति होगी ? क्या राजा की सन्तान को उसके स्थान पर राजा होना चाहिये ? परन्तु यदि वे अन्य साधारण मनुष्यो के समान निकले तो परिणाम हानि-कारक होगा। इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि चाहे राजा को अपनी सन्तान को राज देने की शक्ति प्राप्त हो तो भी वह अपना अधिकार अपनी सन्तान को नही देगा। पर ऐसा विश्वास करना सरल नही है, यह कठिन कार्य है और ऐसा करने के निमित्त हम मानव-स्वभाव से उतने से अधिक सद्गुण की माँग कर रहे है जितने की उससे आशा की जा सकती है। फिर उसके अगरक्षको का (सेना का) प्रश्न भी है जिसके विषय मे कठिनाई उत्पन्न होती है। प्रश्न यह है, क्या राजा को अपने पास (अग) रक्षको को रखना चाहिये, जिनके द्वारा वह उन लोगो का दमन कर सके जो उसकी आज्ञा नही मानना चाहते ? यदि नही रखने चाहिये, तो वह राज का शासन-प्रबध किस प्रकार कर सकेगा ? यदि वह न्याय के अनुसार आचरण करनेवाला अधि-पति हो, तथा जो कभी भी अपनी मनमानी न करता हो और न नियम का अतिक्रमण करता हो तो भी उसको नियम (कानून) की रक्षा के लिये रक्षको को अनिवार्यतया रखना ही पडेगा। इस प्रकार नियम के अनुसार शासन करनेवाले राजा के विषय मे तो इस प्रश्न का निर्णय करना कठिन नही है। उसको कुछ (सैन्य) बल तो रखना ही चाहिये—पर यह बल किसी एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियो के समूह से तो अधिक होना चाहिये, और समग्र जनता की शक्ति से कम। प्राचीन काल मे जब कोई व्यक्ति अधिनायक अथवा तानाशाह के रूप मे नगर-राष्ट्र का प्रमुख बनाया जाता था[३] तो उसको जो अङ्गरक्षक दल दिया जाता था वह इसी प्रकार का होता था। और जब सिराकूस के अधिनायक दियॉनिसियस् ने सिराकूस-निवासियो से रक्षकदल माँगा तो किसी (पारिषद्) ने उनको इसी प्रकार का रक्षक-दल देने की सम्मति दी।

टिप्पणियाँ

१. मूल ग्रीक भाषा में इसके लिये "पाम्बसिलेइया" शब्द आया है। हमने इसका अनुवाद "सर्वाधिपपद" किया है। इस प्रकार के राजा को या तो अपने प्रजाजनों पर सब अधिकार इस प्रकार प्राप्त होते हैं जिस प्रकार समग्र समाज को अपने सार्वजनिक कार्यों पर सर्वाधिकार प्राप्त होता है अथवा वह शासित समाज के पिता के तुल्य होने के कारण उसका सब प्रकार से संरक्षक होता है और इसी कारण उसको शासित समाज पर सब प्रकार का आधिपत्य प्राप्त होता है।

२. यहाँ पर अरिस्तू ने विविध प्रकार की शासन-पद्धतियो के ऐतिहासिक विकास का जो विवरण उपस्थित किया है वह उसके इसी विषय पर अन्यत्र इसी ग्रंथ में

प्रकट किये गये विचारो से मेल नही खाता। सभवतया यह भेद संदर्भ-भेद के कारण उत्पन्न हुआ है।

३. वास्तविकता यह है कि तानाशाह बनाया नहीं जाता। व्यक्ति की योग्यता, महत्त्वाकांक्षा और परिस्थितियों के योग से कोई व्यक्ति तानाशाह बन जाता है। "विक्रा-र्माजितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता" वाली उक्ति ही उसके विषय में चरितार्थ होती है।

वि० कुछ लोगो का विचार है कि अरिस्तू ने जो राजतंत्र के प्रति इतना झुकाव दिखलाया है वह स्यात् उसके मकैदौनिया के राजकुल के संबध के प्रभाव के कारण है।

१६

सर्वाधिकारी राजा का शासन और नियम का शासन

हमारे विवेचन मे इस स्थान पर अब हमको जो अनुसधान करना चाहिये उसका संबध ऐसे राजा से है जो सब काम अपनी इच्छा के अनुसार करता है। तथाकथित नियमानुसार शासन करनेवाला राजतत्र (जैसा कि कहा जा चुका है) शासन-व्यवस्था का कोई विशिष्ट प्रकार नही है। स्थायी सेनाध्यक्ष का पद तो किसी भी प्रकार की शासन-व्यवस्था मे सभव होता है—उदाहरणार्थ जनतत्र-व्यवस्था और श्रेष्ठ-जनतत्र मे भी (ऐसा सभव है।) और बहुत से नगर (–राष्ट्र) घरेलू (नागरिक) शासन के लिये एक व्यक्ति को अधिपति (सत्ताधीश) बना देते है। उदाहरण के लिये इसी प्रकार का एक शासकपद एपीदाम्नस[1] नगर मे है और दूसरा औपस् नामक नगर मे है पर औपस्वाले शासक का अधिकार कुछ अधिक सीमित है। रहा सर्वाधिप राजपद या जैसा कि उसको नाम दिया गया है—पाम्बसिलेइया, सो यह ऐसे प्रकार की व्यवस्था है जिसके अनुसार राजा सबका शासन स्वय अपनी इच्छा के अनुसार करता है। कुछ लोगो की सम्मति मे एक ही व्यक्ति का (उस) नगर के सब नागरिको का अधिपति होना प्रकृति के अनुकूल नही है, जहाँ कि नगर समान नागरिको से मिलकर बना है। इस सम्मति के अनुसार जो लोग प्रकृत्या समान है उनके अधिकार और मूल्य (कीमत) भी अवश्य ही समान होने चाहिये, तथा इसी कारण जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के शरीरों के लिये एक ही समान भोजन और वस्त्रो की व्यवस्था हानिकर होती, इसी प्रकार (शासन-व्यवस्था मे) सम्मान और पदो के वितरण करने मे असमान व्यक्तियो को समान भाग देना, अथवा इसके विपरीत समान मनुष्यो को असमान भाग देना भी हानिकारक होगा। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि समान व्यक्तियो मे न्यायो-

चित व्यवस्था यह होगी कि प्रत्येक व्यक्ति शासित भी हो और शासन भी करे (न कि अधिपति की तरह सर्वदा शासन करता रहे) और सब बारी बारी से ऐसा करे। यह तो बस एक नियम ही है, क्योकि क्रम-व्यवस्था ही तो नियम (कानून) है। तो इस उपर्युक्त सम्मति के अनुसार नियम का शासन किसी एक नागरिक के शासन की अपेक्षा अधिक वरणीय है। इसी सम्मति के अनुसार यह भी तर्क उपस्थित किया जाता है कि यदि किन्ही व्यक्तियो[२] का शासन करना अधिक अच्छा समझा जाय, तो उनको नियमरक्षक[३] अथवा नियम-सचिव के रूप मे नियुक्त कर देना चाहिये। क्योकि यह तो मानी हुई बात है कि राष्ट्र मे शासकपद तो अवश्य ही होगे, पर यह कहा जाता है, न्यायानुसार यह पद (जब कि सब व्यक्ति परस्पर समान हो) एक ही व्यक्ति को नही दिये जा सकते।

पर वास्तव मे ऐसे प्रसंग हो सकते है जिनका निर्णय करने मे नियम (कानून) समर्थ प्रतीत नही होता, पर यह भी इतना ही सत्य है कि मनुष्य भी ऐसे प्रसगो का निर्णय जानने मे असमर्थ रहेगा। नियम तो पदाधिकारियो को इसी अभिप्राय से शिक्षित बनाता है और तब उनको उन बातो के निर्णय करने के कार्य मे लगाता है जिनको वह स्वय बिना निर्णय किये छोड देता है कि वे उनका अधिक से अधिक न्यायपूर्ण निर्णय करे।[४] इससे भी आगे नियम उनको यह भी आज्ञा प्रदान करता है कि वे विद्यमान नियमो मे अनुभव के द्वारा सुझाए हुए सुधार भी कर सकते है। अतएव जो नियम (=कानून) को शासन करने का आदेश करता है उसको तो यह आदेश करता माना जा सकता है कि केवल ईश्वर और विवेक शासन करे, पर जो यह आदेश करता है कि मनुष्य (व्यक्ति) शासन करे वह (उपर्युक्त तत्त्वो के साथ) पशुतत्त्व को भी सम्मिलित कर देता है। क्योकि वासना (कामना) इसी प्रकार की (पशुतत्त्व से युक्त) वस्तु है; तथा राजस् भावना भी पदाधिकारी को विकृत कर देती है चाहे वह कितना ही श्रेष्ठ व्यक्ति क्यो न हो। अत. नियम की परिभाषा (यह है) कि वह कामना (वासना) से रहित विवेक है।

अन्य कलाओ (विद्याओ) के साथ तुलना (उदाहरणार्थ वैद्यविद्या के साथ तुलना) करना झूठी बात है। स्पष्ट ही पुस्तक मे लिखे के अनुसार किसी का उपचार करना बुरी (तुच्छ) बात है तथा ऐसे व्यक्ति की सेवा का उपयोग करना (=डाक्टर की सेवा से लाभ उठाना) कही अधिक अच्छा होगा जो वैद्यविद्या को जानता है। (पर हमको यह नही भुला देना चाहिये कि वैद्य और राजनीतिज्ञ मे मौलिक भेद है), वैद्य

तो मित्रता (अथवा पक्षपात) के कारण विवेक के विरुद्ध कोई भी काम नही करेगा, वह तो केवल रोगी को चगा करके अपना शुल्क उपार्जन करता है, जब कि पदारूढ राजनीतिज्ञ बहुत से काम निष्कारण द्वेष अथवा पक्षपातवश होकर किया करते है। और यदि रोगी को वैद्य के विषय मे यह सन्देह हो जाय कि वह उसके वैरियो से मिलकर लोभवश उस (के जीवन) को नष्ट करना चाहता है तो ऐसी दशा मे तो वह पुस्तक के नियमो को पढकर उपचार की खोज करना अच्छा समझेगा। और फिर वैद्य लोग स्वय रोगग्रस्त हो जाते है तो अन्य वैद्यो को उपचार के लिये अपने यहाँ बुलाते है, और शिक्षक लोग जब किसी कार्य को सीखना चाहते है तो अन्य शिक्षको को बुलाते है, क्योकि उनको ऐसा लगता है कि वे मनोविकारो के वशीभूत हुए स्वय अपने विषय मे निर्णय करते समय सत्य का निर्णय करने की क्षमता नही रखते। अत. यह स्पष्ट है कि न्याय की खोज करना एक मध्यस्थ अथवा निष्पक्ष अधिकारी की खोज है और नियम अर्थात् कानून ही वह निष्पक्ष या मध्यस्थ अधिकारी हैं। तिस पर भी लिखित नियमो की अपेक्षा वे नियम जो परम्परागत रीतियो पर आश्रित होते है और अलिखित होते है, अधिक महत्वशाली होते है तथा उनका सबध और भी अधिक महत्वपूर्ण विषयो से होता है, जिससे यह तथ्य निष्पन्न होता है कि चाहे मनुष्य का शासन लिखित नियम से अधिक भयरहित हो, तथापि वह परम्पराश्रित अलिखित नियम की अपेक्षा अधिक सुरक्षित नही हो सकता।

इसके अतिरिक्त, एक व्यक्ति के लिये एक समय, एक साथ अनेक विषयों पर अध्यक्षता पूर्ण दृष्टि रखना सरल काम नही है। अत. उसके लिये बहुत से अपने अधीन निचले आधिकारियो को नियुक्त करना आवश्यक होगा। तो फिर क्या इन दो बातो मे कोई वास्तविक अन्तर है कि (१) यह अनेक अधिकारी आरभ से ही सीधे नियुक्त हो (२) अथवा पीछे से एक व्यक्ति के द्वारा चुने जाकर इस प्रकार नियुक्त किये जायँ? और फिर, वह तर्क भी तो है ही जो हम पहले ही स्थापित कर चुके है, कि यदि एक अच्छे आदमी को, अन्य लोगो से अधिक अच्छा होने के कारण शासन करने का न्यायोचित अधिकार है तो दो अच्छे आदमी तो एक अच्छे आदमी से अधिक ही अच्छे होगे। यही बात निम्नलिखित पक्ति मे कही गयी है :—

"दो चलते हों एक साथ" (तो अधिक एक से देखेंगे) (इलियड् १०।२२४) एव अगामैम्नॉन् की निम्नाकित प्रार्थना भी :—

ऐसे होते दस सुमत्रणा देनेवाले मुझे, भला। (इलियड् २।३७२)

और आजकल भी कुछ ऐसे अधिकारी होते है—जैसे कि न्यायाधीश—जिनको ऐसे प्रसगो के निर्णय करने का अधिकार प्राप्त होता है जिनका निर्णय करने मे नियम समर्थ नही होते, पर यह अधिकार केवल ऐसे ही प्रसगो तक ही सीमित होता है, क्योकि इस तथ्य के विषय मे किसी को सदेह नही है कि नियम (कानून) जिन प्रसगो का निर्धारण कर सकता है उनके विषय मे वह सर्वोत्तम आदेष्टा (शासक) और न्यायकारी होता है। परन्तु क्योकि कुछ बाते तो नियम की परिधि मे सन्निविष्ट हो जाती है और कुछ उसके क्षेत्र के अन्तर्गत नही हो सकती, अतएव एक किकर्तव्यविमूढता की अवस्था उत्पन्न होती है और यह प्रश्न उठता है कि कौन-सी स्थिति अधिक वरणीय है—श्रेष्ठ नियम का शासन करना या श्रेष्ठ मनुष्य का शासन करना ? जिन अवान्तर विस्तार (तफसील) की बातो का समावेश विवेचन की सीमा के भीतर होता है वे स्पष्ट ही ऐसी बाते है, जिनके विषय मे नियम-निर्माण करना सभव नही है। इस तथ्य का निषेध भी कोई नही करता कि ऐसी बातो का निर्णय अवश्यमेव मनुष्य के द्वारा किया जाय, वह तो यह चाहते है कि उनका निर्णय बहुत से मनुष्यो द्वारा किया जाय न कि केवल एक व्यक्ति के द्वारा । नियम के द्वारा शिक्षित प्रत्येक व्यक्ति भली प्रकार निर्णय किया करता है, और निश्चय ही यह बात अनोखी प्रतीत होगी कि बहुत से मनुष्यो के बहुत से अगो की अपेक्षा एक मनुष्य अपने दो नेत्रो से अधिक अच्छा देख सकेगा, दो कानो से अधिक अच्छा सुन सकेगा तथा दो हाथ पैरो से अधिक अच्छा काम कर सकेगा । सच तो यह है कि राजाओ मे इस बात का चलन रहा है कि वे (मानो) अपने बहुत से नेत्र, कान, हाथ और पैर बना लेते है, क्योकि वे उन लोगो को अपना सहकारी बना लेते है जो उनके तथा उनके शासन के मित्र होते है। यह सहकारी लोग राजा के मित्र अवश्य होने चाहिये, यदि वे उसके मित्र नही होगे तो उसकी इच्छा के अनुकूल काम नही करेगे। पर यदि वे उसके एव उसके शासन के मित्र[५] हुए तो वे उसके समान और सदृश भी होगे। और इसी कारण यदि वह विश्वास करता हो कि इन (उसके मित्रो) को शासन करना चाहिये तो इसी के समान उसको यह भी विश्वास करना होगा कि जो लोग उसके समान और सदृश है उनको भी उसी के समान शासन करना चाहिये।

लगभग यही वह प्रमुख युक्तियाँ है जो राजपद का विरोध करनेवाले लोग प्रस्तुत किया करते है।

टिप्पणियाँ

१. एपीदाम्नस् और औपस् नामक नगर-राष्ट्रो की शासन-पद्धति अल्पजन-तंत्रात्मक थी।

२. अरिस्तू यहाँ व्यक्तिगत शासन की अपेक्षा व्यक्तिनिरपेक्ष शासन की भलाइयों को बतला रहा था। अब वह कहता है कि यदि व्यक्तिगत शासन की उपेक्षा न की जा सके तो अधिकार एक व्यक्ति की अपेक्षा अनेक व्यक्तियों को दिया जाय।

३. अथेंस में ७ व्यक्तियों का एक नियमरक्षक-मंडल (बोर्ड) होता था जो पुराने कानूनों के पालन पर दृष्टि रखता था और संविधान का उल्लंघन नहीं होने देता था।

४. अथेंस न्यायकर्ता इस प्रकार की शपथ भी किया करते थे।

५. अपनी सदाचारशास्त्र नामक पुस्तक में अरिस्तू ने बतलाया कि मित्रता समान व्यक्तियों में हुआ करती है। संस्कृत में भी एक लोकोक्ति है "समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।"

वि० इस प्रस्तुत खंड और पिछले खंड में अरिस्तू इस=विषय का=विवेचन कर रहा है कि वास्तविक शासक कौन हो, राजा अथवा नियम (कानून)। उसने दोनों पक्षों को पूर्ण निष्पक्षता के साथ प्रस्तुत किया है।

अथेन्स में नियम-निर्माण और नियम परिवर्तन का कार्य अत्यन्त सावधानी के साथ किया जाता था। पेरीक्लेस के सुधारो के पश्चात् उपर्युक्त कार्य की विधि निम्न-लिखित थी। प्रतिवर्ष ६ थैस्मोथेते नामक पदाधिकारी नियमो की दशा का निरीक्षण करके उनके विषय में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते थे और यदि नवीन नियम की आवश्यकता होती थी तो उसका प्रारूप भी बना देते थे। यह प्रतिवेदन और प्रारूप विचार और विवेचना के लिये जनपरिषद् के समक्ष प्रस्तुत होता था। यदि जनपरिषद् भी नवीन नियम निर्माण की आवश्यकता अनुभव करती थी तो उसका प्रस्ताव न्याय-कर्ताओ के मध्य में से चुने हुए नियमरक्षक मंडल के समक्ष उपस्थित किया जाता था। यदि ये लोग नवीन नियम की आवश्यकता के विषय में आश्वस्त हो जाते थे तब नया नियम स्वीकृत होता था।

१७

समाजों का स्वभाव और तदनुकूल शासन-पद्धतियाँ

पर स्यात् उपर्युक्त उपाय किन्ही प्रसगो (किसी समाज) मे तो ठीक ठीक घटेंगे पर अन्य कुछ प्रसगो मे ठीक नही होगे। एक समाज स्वभावत प्रभुशासन (=वह

शासन जो दासो का स्वामी दासो पर चलाता है) के लिये उपयुक्त होता है, दूसरा राजशासन के, और तीसरा व्यवस्था-शासन के लिये, तथा न्यायोचित और उपयोगी (=श्रेयस्कर) बात भी यही है कि प्रत्येक समाज का शासन उसके स्वभाव के अनुकूल हो। पर ऐसा कोई समाज नही है जो स्वभावत तानाशाही प्रकार के शासन अथवा अन्य किसी विकृत व्यवस्था पर आश्रित शासन के लिये उपयुक्त हो। जो समाज ऐसे शासनो द्वारा शासित है वे अस्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गये है।[१] पर जो कुछ कहा जा चुका है उससे यह तो स्पष्ट है कि जिस मनुष्य-समाज मे सब व्यक्ति एक से और समान हो उसमें यह बात न तो श्रेयस्कर होगी और न न्यायोचित, कि एक मनुष्य सर्वोपरि सत्ताशाली बन जाय। फिर चाहे भले ही नियम न हो, और एक अकेला व्यक्ति स्वत नियमरूप से शासन कर रहा हो, अथवा नियमों की सत्ता हो भी, तो भी उपर्युक्त कथन की सत्यता में अन्तर नही पडता। यह कथन तब भी सत्य रहेगा जब कि एक भला आदमी अनेक भले आदमियो पर शासन करता हो अथवा एक बुरा आदमी बहुत से बुरे आदमियो पर, और तब भी ठीक होगा जब कि अकेला शासन करनेवाला सद्गुण (=सद्वृत्ति) में दूसरो से बढकर हो, पर यदि उसका सद्गुण विशिष्ट प्रकार का (अनन्यसामान्य) हो तो दूसरी बात है। किस विशिष्ट प्रकार का हो यह विचारणीय है।—यद्यपि इस विषय का कथन पहले भी एक प्रकार से किया जा चुका है।

सब[२] से पहले यह निर्धारित किया जाना चाहिये कि किस स्वभाव के मनुष्य (अथवा किस प्रकार का समाज) प्रकृत्या राजकीय शासन के लिये उपयुक्त है, तथा किस प्रकार के व्यक्ति श्रेष्ठजनतत्र के लिये उपयुक्त एव कौन से वैधानिक शासन के योग्य है। राजकीय शासन के लिये उपयुक्त वह जनसमूह होता है जो स्वभाव से ही ऐसे कुल को जन्म देने की योग्यता रखता है जो राजनीतिक नेतृत्व की क्षमता मे प्रमुख हो। श्रेष्ठजन-शासन के लिये उपयुक्त समाज वह है, जो ऐसे जनवर्ग को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति रखता है जो स्वतत्रजनो के रूप मे (स्वत स्वतत्र होते हुए स्वतत्र जनो के अनुरूप) ऐसे मनुष्यो द्वारा शासित होने की योग्यता रखते है जो राजनीतिक (=नागरिक) शासन के लिये आवश्यक नेतृत्व-गुण से सपन्न हो। (तथैव) वैधानिक शासन के लिये उपयुक्त समाज वह है जिसके अन्तर्गत प्रकृत्या ही एक ऐसा योद्धा-जनो का वर्ग विद्यमान रहता है, जो सपन्न जनो मे उनकी पात्रता के अनुसार शासनपदो को वितरण करनेवाले नियम के अनुसार पर्यायक्रम से शासित हो सकते है और शासन कर सकते है।[२] जब कोई पूरा कुल (गण) अथवा केवल एक व्यक्ति भी ऐसा हो जाय कि उसकी योग्यता इतनी उच्च हो कि अन्य सब लोगों की योग्यता से बढकर हो, तो यह

न्यायोचित बात है कि यह कुल राजकुल बना दिया जाय और सर्वोच्च सत्ता से समन्वित हो अथवा वह एक व्यक्ति ही राष्ट्र का राजा एव सर्वोपरि-सत्ताधारी शासक बना दिया जाय (अथवा हो)। क्योकि, जैसा कि मै पहले कह चुका हूँ, उनको (उसको) अधिकार सौप देना केवल न्यायानुकूल ही नही है, न्यायोचितता की युक्ति तो ऐसी है जिसको सभी प्रकार की शासन-पद्धतियो के सस्थापक प्रस्तुत किया करते है—चाहे वह पद्धति श्रेष्ठजनतत्र हो, चाहे धनिकतत्र अथवा चाहे जनतत्र ही क्यो न हो, इन सभी पद्धतियो को उत्तमता का दावा तो समान रूप से मान्य है, पर सब मे उत्तमता का प्रकार एकमेवाद्वितीय नही है—प्रत्युत इस (श्रेष्ठ कुल अथवा श्रेष्ठ व्यक्ति के) प्रसग मे तो एक वह विशेष युक्ति भी है जिसका हम पहले ही उल्लेख कर चुके है—अर्थात् ऐसा होना समुचित है। क्योकि इस प्रकार व्यक्ति को मार डालना, निर्वासित कर देना, अथवा बहिष्कृत कर देना तो निश्चय ही उचित नही हो सकता।[३] इसी प्रकार न यही उचित होगा कि पर्ययिक्रम की शासन-प्रणाली मे उसको शासित होना पडे। अवयव प्रकृत्या ही अवयवी से बढकर नही होता, तथा जो व्यक्ति अन्य लोगो की अपेक्षा उत्तमता मे इतना प्राधान्य रखता है उसका उनके साथ अवयवी और अवयव के तुल्य सबध होता है। यदि ऐसा है तो केवल एक यही विकल्प शेष रह जाता है कि उसको सबकी विधेयता प्राप्त हो और बिना किसी प्रकार सीमा और परिमिति के सर्वोच्च सत्ता उपलब्ध हो—पर्यायक्रम से (अथवा अशत.) नही। राजकीय शासन और उसके विभिन्न प्रकारों के विषय मे तथा उसी के सबंध मे यह जो प्रश्न है कि यह पद्धति राष्ट्रों के लिये हितकर है अथवा नही ? यदि हितकर है तो किन राष्ट्रो (समाजो) के लिये ? और किस प्रकार ? इन सबके विषय में हमारे निर्णय यही (उपर्युक्त) हैं।

टिप्पणियाँ

१. अरिस्तू को भी अन्य सद्बुद्धिसंपन्न मनीषियों के समान यह विश्वास है कि मनुष्य और मानवसमाज स्वभाव से भला ही होता है। हाँ, विशेष परिस्थितियों में इनमें विकार आ सकता है।

२—२. यह सब वाक्य ऐक समस्या है। किसी किसी के मत में यह क्षेपक हैं। अन्तिम वाक्य की जटिलता को सुलझाने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। संभवतया यहाँ अरिस्तू ने उस सिद्धान्त का पूर्वाभास सूत्ररूप में दिया है जिसको उसने चतुर्थ पुस्तक के १३ वें खंड में विस्तार से समझाया है। अरिस्तू के मत में युद्धकला में परिवर्त्तन होने से शासन-पद्धतियों में भी परिवर्तन हो जाता है तथा व्यवस्था "पौलितेइया" नामक

शासन-पद्धति का संबंध भारी हथियारधारी पदाति सेना से है। ऐसी शासन-व्यवस्था जो व्यक्ति इतने पैसेवाले होंगे कि अपने को कवच और हथियारो से लैस कर सकें पद और सम्मान उन्ही के मध्य मे वितरित होंगे तथा जो उनमें अधिक योग्य होंगे उनको और भी विशेष पद और सम्मान प्राप्त होगा।

३. उचित ही नहीं प्रत्युत प्रकृति अथवा परमेश्वर के दिये हुए वरदान का तिरस्कार करना होगा। पर मानव-समाज ने सॉक्रातेस्, क्राइस्ट, लिंकन तथा गाधी के साथ किया ऐसा ही है।

१८

सर्वश्रेष्ठ शासन-पद्धति

अत हमने यह निर्धारित किया है कि सम्यक् प्रकार की व्यवस्थाओ के तीन भेद हैं और इनमे भी अवश्यमेव सर्वोत्तम वह व्यवस्था होगी जिसका प्रबध श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा किया जाता है, तथा जिसमे सयोगवश, एक व्यक्ति, अथवा एक गण (या कुल) अथवा कुछ मनुष्यो का समूह ऐसा होता है जो अन्य सब मनुष्यो की समष्टि से गुणो मे बढकर होता है, और शासित एव शासक दोनो ही परम वाछनीय प्रकार के जीवन की उपलब्धि के लिये समर्थ होते है। इस विवेचन के आरभ मे हमने यह भी दिखलाया था कि भले आदमी का सद्गुण (सद्वृत्ति) अवश्यमेव श्रेष्ठ राष्ट्र के नागरिक के सद्गुण (सद्वृत्ति) से अभिन्न है।[1] अत यह स्पष्ट है, जिन उपायो और साधनो से मनुष्य नेक बन जाता है उन्ही उपायो और साधनो से वह नगर(—राष्ट्र) की भी स्थापना करेगा, फिर चाहे उसका शासन श्रेष्ठ जनतत्र पद्धतिवाला हो अथवा राजकीय पद्धतिवाला। और इस प्रकार वह शिक्षा और काम करने की आदते जो अच्छे आदमी का निर्माण करती है, सामान्यतया वही होगी जो कि एक अच्छा राजनीतिज्ञ[2] और अच्छा राजा भी निर्माण करेगी।

इन विषयो का निर्णय हो जाने के उपरान्त हमको श्रेष्ठ प्रकार की व्यवस्था के विवेचन का प्रयत्न करना चाहिये और यह बतलाना चाहिये कि किस प्रकार की अवस्थाओ मे उसका प्रादुर्भाव हुआ करता है और उसकी स्थापना किस प्रकार की जा सकती है? इस विषय का सम्यक् प्रकार से अनुसधान करने के लिये यह आवश्यक है[3] (कि परम वाछनीय जीवन के स्वरूप का निर्णय हो जाय।)

टिप्पणियाँ

१. नगर की उत्पत्ति और विकास का वर्णन करते हुए अरिस्तू ने बतलाया था कि परिवार, ग्राम और नगर का क्रम-विकास बिलकुल स्वाभाविक है। मनुष्य भौतिक जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति और सुरक्षा की उपलब्धि से प्रेरित होता हुआ छोटे से संघटन से आरंभ करके उत्तरोत्तर महत्तर समाजों और सघटनो का विकास करता जा रहा है। पर जैसे जैसे संघटनों का विकास होता गया वैसे ही वैसे मानव-जीवन का उद्देश्य भी विकसित होता गया। नगर में मानव को अनुभव हुआ कि उसके जीवन का उद्देश्य केवल भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति पर ही नहीं रुक सकता। मानव-जीवन का लक्ष्य अच्छे जीवन की उपलब्धि है। पर देखा गया कि व्यक्ति के जीवन की श्रेष्ठता और नागरिक के जीवन की श्रेष्ठता सब प्रकार की नागरिक शासन-पद्धतियो में अविरोधी नहीं होती। अतएव इस बात की खोज आरंभ हुई कि क्या कोई ऐसी शासन-व्यवस्था हो सकती है जिसमें श्रेष्ठ व्यक्ति के जीवन और श्रेष्ठ नागरिक के जीवन का विरोध मिट जाय? इस प्रश्न का उत्तर अरिस्तू ने इस खंड में दिया है।

२. मूल मे "पौलितिकौस्" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अंग्रेजी अनुवाद "स्टेट्समैन" किया गया है। हिन्दी में इसके लिये राजनयिक शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है। यहाँ अरिस्तू ने एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना की है जो श्रेष्ठ जनो के आदर्श श्रेष्ठ जनतंत्र (अरिस्तोक्रातिया) में अपने समान व्यक्तियों में शासन-कार्य चलाता है। ऐसे शासन में श्रेष्ठ मानव और श्रेष्ठ नागरिक के गुणों में कोई विरोध संभव नहीं है।

३. इस खंड की समाप्ति एक खंडित वाक्य से होती है। कुछ आलोचक इस खंड के अन्त अथवा समग्र खंड को ही प्रक्षिप्त मानते हैं। पर यह विचित्र संयोग है कि इस खंड के अन्तिम शब्द ठीक इसी प्रकार सातवीं पुस्तक के आरंभ में दोहराये गये हैं। पर यहाँ पर जो राजकीय शासन अथवा श्रेष्ठ जनतंत्र को आदर्श व्यवस्था के रूप में वर्णित किया है उसकी संगति ७वी और ८वीं पुस्तक से नहीं बैठती। हाँ, तृतीय पुस्तक के ७वें खंड से इसका मेल अवश्य है। उस खंड में अविकृत शासन-पद्धतियों में राजकीय शासन-पद्धति और श्रेष्ठ जनतंत्र को प्रथम और द्वितीय स्थान् दिया गया है।

चतुर्थ पुस्तक

१

विज्ञान एवं राजनीति-विज्ञान

सभी ऐसी कलाओ और विद्याओ मे, जो किसी विषय का अशत प्रतिपादन करते हुए उत्पन्न नही होती प्रत्युत जो कि उस विषय को पूर्णतया व्याप्त कर लेती हैं, यह प्रत्येक कला अथवा विद्या का अपना कार्यक्षेत्र होता है कि वह उन सब बातों का विचार करे जिनका उसके अपने विशिष्ट विषय से सबध है। उदाहरण के लिये शारीरिक व्यायाम की कला को यह विचार करना होता है कि किस प्रकार के शारीरिक गठन के लिये किस प्रकार की व्यायाम-शिक्षा ठीक होगी, और यह भी कि किस प्रकार की शिक्षा एकान्तत श्रेष्ठ होगी। क्योकि जो एकान्तत श्रेष्ठ प्रकार की व्यायाम-शिक्षा होगी वह ऐसे शरीरगठन के लिये अवश्यमेव सर्वोत्तम होगी जो प्रकृति से सर्वविध वरदान पाये हुए हैं तथा जिसको श्रेष्ठ साधन-सामग्री भी प्राप्त है। उसको ऐसे सर्व-सामान्य व्यायाम-शिक्षण का भी विचार करना होगा जो अधिकाश मनुष्यो के लिये उपयुक्त हो; क्योकि यह भी व्यायाम-कला का ही एक भाग (अथवा समस्या) है। इतना ही नही प्रत्युत ऐसे भी आदमी हो सकते हैं जो कि शरीर के श्रेष्ठ स्वास्थ्य और उतनी योग्य चतुरता की कामना न करते हो जितनी कुश्तियो के लिये आवश्यक होती है, फिर भी व्यायाम-शिक्षक को उपर्युक्त प्रकार की शिक्षा से कुछ घटकर प्रकार की शिक्षा—जिससे सामान्य शारीरिक क्षमता प्राप्त हो सके—देने मे समर्थ होना चाहिये।[१] ठीक इसी प्रकार के सिद्धान्त वैद्यविद्या (औषधि-विज्ञान), नौका-निर्माण, वस्त्र-निर्माण इत्यादि के क्षेत्रो और अन्य सब कलाओ के क्षेत्रो मे भी प्रत्यक्षतया लागू होते हुए उपलब्ध होते हैं।

अत यह स्पष्ट है कि राजनीति को भी, जो कि इसी प्रकार की एक व्यावहारिक विद्या है, इसी प्रकार व्यापक होना चाहिये। इसको यह विचार करना होगा कि कौन-सी शासन-पद्धति श्रेष्ठ है और यदि बाहर की विघ्न-बाधाएँ न हो तो हमारी आकाक्षा (प्रार्थना) के आदर्श के समीपतम पहुँचने के लिये उसको कैसा (किन गुणो से युक्त) होना चाहिये, तथा यह भी विचार करना होगा कि किस प्रकार की व्यवस्था

किस प्रकार के जनसमूह से मेल खाती है। और क्योकि अधिकाश साधारण राष्ट्रो के लिये श्रेष्ठ शासन-पद्धति को उपलब्ध कर लेना स्यात् सभव नही होता, अतएव भले नियम-निर्माता और सच्चे राजनीतिज्ञ को अपनी दृष्टि न केवल एकान्तत सर्वश्रेष्ठ शासन-पद्धति पर ही रखनी चाहिये, प्रत्युत उस पद्धति को भी अपनी दृष्टि से ओझल नही होने देना चाहिये जो किसी वास्तविक परिस्थिति मे श्रेष्ठ हो। इसके अतिरिक्त (राजनीति-शास्त्र) को ऐसी शासन-व्यवस्था का भी विचार करना होगा जो विशिष्ट परिकल्पित अवस्थाओ पर आश्रित होती है। अर्थात् राजनीति के विद्यार्थी को यह भी निरीक्षण कर सकने के योग्य होना चाहिये कि (कोई) अमुक व्यवस्था किस अवस्था मे विद्यमान है, मूलत उसकी उत्पत्ति किस प्रकार से हुई तथा किस प्रकार से वह सुदीर्घकाल तक सुरक्षित रह सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस कल्पित नगर-राष्ट्र का हम विचार कर रहे है वह ऐसा है कि न तो उसकी व्यवस्था (विधान) ही श्रेष्ठ शासन करने के योग्य है और न उसको उन परिस्थितियो का सद्भाव प्राप्त है जो आदर्श व्यवस्था के लिये आवश्यक है, न जो विद्यमान परिस्थितियो मे ही सर्व-श्रेष्ठ व्यवस्था कही जा सकती है, प्रत्युत जिसकी व्यवस्था एक घटिया प्रकार की व्यवस्था है।

इन सब के परे राजनीतिशास्त्र (अथवा राजनीतिज्ञ) को ऐसे प्रकार की व्यवस्था की भी जानकारी प्रदान करनी चाहिये जो सामान्यतया सभी नगरो के लिये समुपयुक्त हो, क्योकि राजनीति के विषय का प्रतिपादन करनेवाले बहुत से लेखक—यद्यपि अन्यथा वे बहुत अच्छी बातें करते है—व्यावहारिक (उपयोगिता की[२]) बातो मे अस-फल हो जाते है। हमको केवल श्रेष्ठ व्यवस्था का ही विचार नही करना चाहिये, प्रत्युत ऐसी व्यवस्था का भी विचार करना चाहिये जो व्यावहारिक (अथवा सभाव्य) भी हो एव जो समानरूपेण प्राय सभी राष्ट्रो द्वारा अपेक्षाकृत सरलता से प्राप्त करने के योग्य हो। कुछ (लेखक) लोग ऐसे है जो केवल सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था के अनुसधान मे ही लगे रहते है, ऐसी व्यवस्था के लिये (बहुत से प्रारभिक) साधनो की आवश्यकता होती है। दूसरे लोग अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक व्यवस्था का प्रतिपादन करते हुए भी अधिकाश विद्यमान व्यवस्थाओ को तिरस्कृत करके या तो लाकैदायमॉन् (=स्पार्टा) की व्यवस्था की, अथवा अन्य किसी एक व्यवस्था की प्रशसा करते है। प्रस्तावित की जानेवाली व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये जिसको मनुष्य अत्यन्त शीघ्रता और सरलता से अपनी विद्यमान व्यवस्था पर आरोपित करने और अङ्गीकार करने के लिये मनाये जा सके। क्योकि प्रारभ से ही नयी व्यवस्था के निर्माण की अपेक्षा पुरानी

व्यवस्था को सुधारने का कार्य भी कुछ कम कठिन नही है, जैसे कि किसी सीखी बात को भुला देना, नये सिरे से सीखने की अपेक्षा कम कठिन नही होगा। अतएव जैसा कि पहले कहा जा चुका है राजनीतिज्ञ को उपर्युक्त योग्यताओ के अतिरिक्त विद्यमान व्यवस्था की (सुधार द्वारा) सहायता करने की क्षमता भी रखना चाहिये। परन्तु ऐसा वह तब तक नही कर सकता जब तक वह यह न जानता हो कि शासन-व्यवस्था के कितने विभिन्न प्रकार होते हैं। प्राय लोगो का विचार यह है कि जनतत्र-पद्धति का एक ही प्रकार है और एक ही प्रकार धनिकतत्र (या अल्पजनतत्र)-पद्धति का भी है। पर यह विचार सत्य नही है। इस भ्रान्ति के परिहार के लिये यह बात ध्यान से ओझल नही होनी चाहिये कि व्यवस्थाओ के कितने भेद होते हैं, उनकी सख्या कितनी है, तथा वे कितने प्रकारो से सघटित (अथवा सम्मिश्रित) होती है।

इसी राजनीतिक बुद्धिमत्ता के द्वारा, राजनीतिज्ञ को यह भी विदित होने लगेगा कि कौन से नियम सर्वश्रेष्ठ है तथा कौन से प्रत्येक प्रकार की व्यवस्था के लिये समुचित है। क्योकि नियम ही विधान-सापेक्ष्य होने चाहिये,—जैसे कि वे व्यवहार मे सर्वदा होते भी है—न कि विधान नियम-सापेक्ष्य होने चाहिये। विधान (की परिभाषा यह है कि वह) किसी राष्ट्र के अन्तर्गत शासक पदो की व्यवस्था है, जिसके द्वारा उन पदो का वितरण निर्धारित किया जाता है, यह निर्णय किया जाता है कि राष्ट्र मे सर्वोच्च सत्ता क्या (कौन) होगी, और यह निश्चित किया जाता है कि प्रत्येक समाज द्वारा स्वीकृत लक्ष्य क्या होना चाहिये। परन्तु नियम (=कानून), जो कि विधान से स्पष्ट ही पृथक् होते है, वह नीति है जिनके अनुसार शासक लोग शासन-कार्य करते है और अपराधियो की चौकसी और रोकथाम करते है।[१] इस (विधान और नियम की परिभाषा) से यह स्पष्ट है कि कम-से-कम नियम निर्धारित करने के लिये ही हमको विधानो (व्यवस्थाओ) के विविध प्रकार और उनकी सख्या अवश्यमेव जानना चाहिये। क्योकि एक ही नियम-सग्रह सब धनिकतत्रो अथवा सब जनतत्रो के लिये समानरूपेण उपयोगी नही हो सकता, कारण कि जनतत्र शासन-पद्धति भी एक प्रकार की नही अनेक प्रकार की होती है और धनिकतत्र-पद्धति भी केवल एक ही प्रकार की नही होती।

टिप्पणियाँ

१. इस विवरण के अनुसार राजनीति की कला और विद्या के भी चार कार्य होंगे—(१) यह मालूम करना कि किस प्रकार के नागरिक-समाज के लिये किस प्रकार की

शासन-व्यवस्था ठीक होगी; (२) यह पता लगाना कि श्रेष्ठ समाज के लिये श्रेष्ठ शासन-पद्धति कौन होगी; (३) ऐसी शासन-पद्धति को ज्ञात करना जो सामान्य-रूपेण अधिकांश समाजो के लिये उपयुक्त हो और (४) ऐसी शासन-व्यवस्था का पता लगाना जो श्रेष्ठ से कुछ घटकर हो तथा ऐसे समाजो के लिये उपयुक्त हो जो आदर्श से कुछ नीची व्यवस्था से सन्तुष्ट रहनेवाले हो।

२. अरिस्तू की राजनीति की चतुर्थ, पंचम और षष्ठ पुस्तकें राजनीति के व्यावहारिक पक्ष का ही प्रतिपादन करती है।

३. अरिस्तू की यह परिभाषाएँ विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

२

विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ

नगर-व्यवस्थाओ के अपने पूर्व विवेचन मे हमने सम्यक् प्रकार की व्यवस्था के तीन विभाग किये थे---राजतत्र, श्रेष्ठजनतत्र और विधानतत्र, और इनमे से प्रत्येक के सवादी विकृत रूप भी तीन ही बतलाये थे---राजतत्र का तानाशाही, श्रेष्ठजनतत्र का धनिकतत्र, विधानतत्र का जनतत्र। श्रेष्ठजनतत्र और राजतत्र का प्रतिपादन तो किया जा चुका। श्रेष्ठ व्यवस्था का प्रतिपादन करना, और ऊपर नामाकित दोनो व्यवस्थाओ को वर्णन करना, यह दोनो एक ही बात है क्योकि दोनो ही व्यवस्थाओ का लक्ष्य ऐसी भलाई (सद्वृत्ति) है जो स्व-व्यवहार के लिये आवश्यक (बाह्य) उपकरणो से सज्जित होती है। इसके आगे हमने यह भी पहले निर्धारित कर लिया है कि श्रेष्ठ-जनतत्र और राजतत्र किस बात मे एक दूसरे से भिन्न है, और कब राजतत्र की स्थापना की जानी चाहिये। अब केवल विधानतत्र का वर्णन करना शेष रह गया है जो सब विधानो (अथवा व्यवस्थाओ) के सामान्य नाम द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है और (विकृत व्यवस्थाओ के अन्तर्गत) धनिकतत्र, जनतत्र और तानाशाही का वर्णन शेष रह गया है।

यह तो स्पष्ट ही है कि कौन-सी पद्धति इन विकृत पद्धतियो मे निकृष्टतम है और कौन बुराई मे दूसरे स्थान पर आती है। वह पद्धति जो सम्यक् प्रकार की पद्धतियो मे से श्रेष्ठतम और दिव्यतम पद्धति का विकृत रूप है वही अवश्यमेव निकृष्टतम है। राजतत्र अवश्य ही या तो कोरा नाम मात्र होगा अन्यथा वह राज्यकर्ता (राजा) की महान् व्यक्तिगत उत्तमता के आधार पर आश्रित होगा। अतएव तानाशाही

पद्धति (जो कि राजतत्र का विकृत रूप है) सबसे निकृष्ट और विकृत पद्धतियो में सम्यक् प्रकार की पद्धति से सबसे अधिक दूरस्थ रूप होगी। (विकृत पद्धतियो मे दूसरा स्थान धनिकतत्र को प्राप्त है, क्योकि यह श्रेष्ठजनतत्र से बहुत दूर पर स्थित है, और इनमे सबसे अधिक मध्यस्थितिवाली पद्धति जनतत्र-पद्धति है (जो सबसे कम बुरी है)।

मेरे एक पूर्ववर्ती (लेखक प्लातोन ने अपनी 'पौलितिकस्'[1] नामक रचना मे) पहले ही इन विचारो का प्रतिपादन कर दिया है, पर उसका दृष्टिकोण वही नही है जो मेरा है। उसने यह निर्धारित किया है कि सभी व्यवस्थाओ के अच्छे प्रकार भी होते हैं (और बुरे भी), उदाहरण के लिये धनिकतत्र का अच्छा प्रकार भी हो सकता है (और बुरा भी), इसी सिद्धान्त के आधार पर उसने जनतत्र के अच्छे प्रकार को अच्छे व्यवस्था-प्रकारो मे सबसे बुरा कहा है और उसके बुरे प्रकार को बुरे व्यवस्था-प्रकारो मे श्रेष्ठ माना है। इसके विपरीत हमारा कहना यह है कि यह दोनो व्यवस्थाएँ (=धनिकतत्र और जनतत्र) सदोष (=त्रुटिपूर्ण) है, तथा यह कहना शोभन नही है कि धनिकतत्र का एक प्रकार दूसरे से अधिक अच्छा है, प्रत्युत यही कहना ठीक है कि एक प्रकार दूसरे से कम बुरा है।

पर इस विषय (अर्थात् व्यवस्थाओ की अच्छाई-बुराई के तारतम्य) को इस समय छोड सकते है। हमको तो सबसे पहले यह निर्धारित करना चाहिये कि सब व्यवस्थाओ के कितने विभिन्न प्रकार होते हैं, क्योकि जनतत्र और धनिकतत्र के अनेको प्रकार होते ही हैं। तदनन्तर यह निश्चय करना है—सर्वश्रेष्ठ आदर्श व्यवस्था को छोडकर—ऐसी कौन-सी व्यवस्था है जो सामान्यतया अधिकतम ग्रहणीय और वरिष्ठ हो, तथा यह भी देखना है कि क्या उसके अतिरिक्त कोई और भी ऐसी व्यवस्था उपलब्ध हो सकती है जो श्रेष्ठजनतत्रात्मक और सुघटित हो, पर साथ ही साथ बहुत से नगर-राष्ट्रो के लिये उपयुक्त हो। और तत्पश्चात् अन्य पद्धतियो के विषय मे यह निर्णय करना है कि कौन सी पद्धति किस प्रकार (के समाज-सस्थान) के लिये वाछनीय है। उदाहरणार्थ यह नितान्त सभव है कि किन्ही सस्थाओ की आवश्यकताओ के लिये धनिकतत्र की अपेक्षा जनतत्र अधिक उपयुक्त हो और दूसरी सस्थाओ के लिये जनतत्र की अपेक्षा धनिकतत्र। इसके आगे हमको यह विचार करना है कि जो व्यक्ति इन व्यवस्था-प्रकारो में से किसी की स्थापना करने की इच्छा रखता है—चाहे तो वह प्रकार जनतत्र के प्रकारो मे से कोई हो, या चाहे फिर धनिकतत्र के अवान्तर भेदो मे से—उसको किस पद्धति से यह कार्य आरभ करना चाहिये। और इन सबके अन्त में, जब

कि हम इन विषयो का यथाशक्ति सक्षिप्त विवेचन कर चुके, हम इस विषय से भिडने का प्रयत्न करे कि समष्टिरूपेण (अथवा सामान्यरूपेण) एव व्यष्टिरूपेण (अथवा पृथक् पृथक्) व्यवस्थाओ का विनाश और सरक्षण किस प्रकार हुआ करता है, तथा किन कारणो के द्वारा ऐसे परिणाम विशेषतया घटित हुआ करते है।[२]

टिप्पणियाँ

१. प्लातोन की रचना "पौलितिकस्" एक छोटी सी पुस्तक है। राजनीति के विषय में प्लातोन की बड़ी रचनाएँ पौलितेइया (रिपब्लिक) और नैमॉस् (नियम) है। पौलितिकस् में प्लातोन ने शासन-व्यवस्थाओ का निम्नलिखित विभाजन किया है।

(१) परिपूर्ण ज्ञान पर आश्रित सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था (जो पौलितेइया में वर्णित है)।

(२) नियमो के अनुसार चलनेवाली व्यवस्थाएँ।

(क) एकराट्तंत्र अथवा नियमव्यवस्थित राजतंत्र। मौनार्किया।

(ख) अल्पसंख्यक सत्पुरुषो का शासन। अरिस्तौक्रातिया।

(ग) बहुसंख्यक-जनशासन। दैमौक्रातिया।

(३) अनियंत्रित शासन-व्यवस्थाएँ--

(क) एक व्यक्ति की तानाशाही। तिरान्निया।

(ख) अल्पसंख्यक धनिकतंत्र। (औलिगार्कि(खि)या।

(ग) बहुसंख्यक जनतंत्र। परले सिरे का जनतंत्र।

२. इस खंड में अरिस्तू ने यह बतलाया है कि वह आगे अपने विषय का किस प्रकार विकास करने का विचार कर रहा है। पर उसने (जैसा कि आगे चलने पर पता चलेगा इस योजना के अनुसार विषय का विवरण उपस्थित नहीं किया है। इस प्रकार की स्थिति उसकी रचनाओ में प्राय: देखने को मिलती है।

३

(राष्ट्रों मे मिलनेवाले विविध तत्त्व)

शासन-व्यवस्थाओ के इतने बहुत से प्रकार होने का कारण यह है कि सभी राष्ट्रो मे बहुत से विभिन्न तत्त्व (=अश, भाग) होते है। सबसे प्रथम तो हम यह देखते है कि सभी राष्ट्र गृहस्थियो के समूहो से मिलकर बनते है। फिर इसके पश्चात् यह जन-समूह अवश्यमेव धनवान्, निर्धन और मध्यवित्तवाले वर्गो मे विभक्त होगा। धनवान् और निर्धनो में से धनवान् तो भारी शस्त्र-सज्जा से समन्वित होगे पर निर्धन नही होगे।

साधारण प्रजाजन विभिन्न व्यापारो मे सलग्न होगे—कुछ कृषक, कुछ व्यवसायी तथा कुछ शिल्पी होगे। और जो विख्यात (सम्भ्रान्त) जन है उनमे भी भेद होगे, एव यह भेद उनकी धन और सम्पत्ति की मात्रा पर आश्रित रहनेवाले होगे, यथा अश्वपालन कार्य, जो यदि वे धनवान् न हो तो उनके लिये सरल काम नही है। और इसी कारण प्राचीन काल मे जिन नगर-राष्ट्रो की शक्ति अश्वारोही सेना में निहित थी वे धनिकतत्रात्मक राष्ट्र थे, तथा यह राष्ट्र अपनी अश्वारोही सेना का उपयोग अपने पडोसी राष्ट्रो के विरुद्ध युद्ध मे किया करते थे। उदाहरणार्थ ऐरेत्रिया[१], खाल्किस्, माइन्द्रा[२] नदी पर बसे मग्नेशिया तथा लघु एशिया के अनेको नगरो का नाम प्रस्तुत किया जा सकता है। धन के कारण उत्पन्न हुए भेदो के अतिरिक्त इन लोगो मे आभिजात्य और गुण-वत्ता (योग्यता) पर आश्रित भेद भी हुआ करते हैं। इनके अतिरिक्त इसी प्रकार के अन्य तत्त्वो पर आश्रित और भी कुछ भेद हुआ करते है, जिनका वर्णन हमने श्रेष्ठ-जनतत्र का विवेचन करते समय नगर-राष्ट्र के मौलिक तत्त्वो की गणना करते हुए किया था एव जो सब राष्ट्रो (के जीवन) के लिये अनिवार्य है।

इन तत्त्वो से राष्ट्रो का निर्माण होता है, कभी-कभी तो यह सभी तत्त्व शासन-कार्य मे भागीदार होते है, कभी थोडी सख्या मे और कभी अधिकाश मे। इससे स्पष्ट ही यह निष्कर्ष निकलता है कि शासन-व्यवस्थाएँ अवश्यमेव अनेक प्रकार की होगी और वे परस्पर एक दूसरे से रूप मे भिन्न होगी। और ऐसा तो होना ही चाहिये क्योकि जिन तत्त्वो से राष्ट्रो का निर्माण होता है (तथा जो शासन-पद्धति मे भागीदार होते है) उनमे भी तो प्रकार-भेद होता है। शासन-पद्धति (=शासन-व्यवस्था) किसी राष्ट्र के शासक-पदो की व्यवस्था को (ही तो कहते है।) इस व्यवस्था के अनुसार नागरिक-जन या तो पदो को पानेवालो की शक्ति (=क्षमता) के आधार पर अथवा उन (पदो को पानेवालो) मे पाई जानेवाली समानता के आधार पर पदो का वितरण (विभाजन) किया करते है, अर्थात् निर्धन अथवा धनवानो की शक्ति के आधार पर, अथवा धनी और निर्धन दोनो वर्गो मे पाई जानेवाली समानता के आधार पर पद-विभाजन किया जाता है। इसलिये शासन-व्यवस्थाओ के भेद भी अनिवार्यतया उतने ही होगे जितने भेद राष्ट्र के घटक तत्त्वो के तारतम्य और भेदो पर आश्रित पद-विभाजन-व्यवस्था के हो सकते है।

सामान्यता अधिकाश लोगो का विचार यह है कि शासन-व्यवस्थाएँ केवल दो प्रकार की होती है। ठीक जिस प्रकार वायु के (विषय मे) सामान्य बोलचाल मे

मनुष्य केवल दो भेद बतलाते है —उत्तरी और दक्षिणी, और शेष सब प्रकार की वायु इन्ही दो के अवान्तर प्रकार मानी जाती है, इसी प्रकार शासन-व्यवस्थाओ के भी दो भेद माने जाते है—प्रजातत्र और धनिकतत्र (अथवा (बहु-) जनतत्र और अल्पजनतत्र)। इस विभाजन के आधार पर श्रेष्ठजनतत्र को अल्प जनतत्र का ही एक प्रकार माना जाता है, क्योकि वह थोडे से ही व्यक्तियो का शासन होता है, और तथाकथित विधान-व्यवस्था को जनतत्रात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत समझा जाता है; जैसे कि पवनो मे पश्चिमी वायु को उत्तरी वायु के एव पूर्वी वायु को दक्षिणी के अन्तर्गत माना जाता है। इसी प्रकार, कुछ विचारको का (कहना है) विश्वास है कि सगीत के विषय मे भी यही बात है—उसके भी केवल दो ही प्रकार होते है–(१) दोरीय और (२) फ्रीगीय[3]। अन्य सब सगीत-विन्यासों को या तो दोरीय कहा जाता है अथवा फ्रीगीय। किन्तु, यद्यपि साधारणतया शासन-पद्धतियो के विषय मे प्रचलित सम्मति ऐसी ही है, तथापि अधिक सत्य के समीप एव अपेक्षाकृत अधिक अच्छी बात तो यही होगी कि हम उनका विभाजन उसी प्रकार से करे जिस प्रकार मैने पहले सुझा दिया है। इस सुझाव के अनुसार दो या एक व्यवस्थाएँ तो शुद्ध या सम्यक् प्रकार की होगी और अन्य सब इन्ही (इसी) श्रेष्ठ व्यवस्थाओ के विकृत रूप होगे, (जिस प्रकार कि सगीत के ससिद्ध प्रकार के भी विकृत रूप हो सकते है), एव यह विकृत रूप जब अपेक्षाकृत अधिक कठोर और प्रभविष्णु होते है तो अल्प (=धनिक-) तत्र कहलाते है, और जब अपेक्षाकृत अधिक शिथिल और मृदुल होते है तो जनतत्र।

टिप्पणियाँ

१. ऐरेट्रिया और खाल्किस् यह दोनो नगर इयूबोइया द्वीप में स्थित है। यह द्वीप अत्तिका के उत्तर में स्थित है।

२. माइन्द्रा नदी लघु एशिया के दक्षिण में है तथा पश्चिम को बहती हुई ईजियन् सागर में सामौस् द्वीप के पास (समुद्र में) इसका मुहाना है।

३. ग्रीक जगत् में तीन संगीत-पद्धतियो का चलन था। इनमें से दोरीय अथवा दोरियन् पद्धति ग्रीक लोगो की अपनी राष्ट्रीय पद्धति थी। फ्रीगीय अथवा फ्रीगियन् एवं लीदीय अथवा लीदियिन् परदेशी पद्धतियाँ थी। इनमें दोरीय पद्धति पौरुषपूर्ण और गंभीर थी। फ्रीगीय पद्धति भड़कीली और उद्वेगजनक थी एवं लीदीय पद्धति करुण और परिवेदनापूर्ण थी।

४

जनतत्रात्मक शासन-व्यवस्था को, (जैसा कि कुछ लोग आजकल एकान्तत यों ही मानने के अभ्यस्त हो गये है) ऐसी व्यवस्था नही मानना चाहिये कि जिसमे अधिकाश जनता सत्ताधारी होती है। क्योकि धनिकतत्र मे भी—और सच तो यह है कि सभी तत्रो मे—अधिकाश जनता ही शासन करती है, और न धनिकतत्र उस व्यवस्था का ही नाम है जहाँ अल्पसख्यक लोग सत्ताधारी हो। कल्पना करो कि किसी नगर की समूची जनसख्या १३०० है और इनमे से १००० धनवान् है तथा ये लोग शेष ३०० मनुष्यो को जो कि जन्म से स्वतत्र और सब बातो मे उन्ही के समकक्ष है, शासन-कार्य मे कोई भाग प्रदान नही करते—तो ऐसे शासनतत्र को कोई भी प्रजातत्र नाम नही देगा। इसी प्रकार से यदि निर्धन लोग अल्पसख्यक हो पर वे धनिको की अपेक्षा, जो कि अधिक सख्यावाले है, अधिक शक्तिशाली हो—तो कोई भी व्यक्ति ऐसी शासन-पद्धति के लिये, जिनमे धनिक बहुसख्यको को शासन-कार्य मे और सम्मान मे कोई भाग नही मिलता "अल्पजनतंत्र" नाम का प्रयोग नही करेगा। अपेक्षाकृत अधिक अच्छा यह कहना होगा कि जनतत्र वह है कि जहाँ जन्मना स्वतत्र जनता सत्ताधीश होती है और अल्पतत्र वह जहाँ की सत्ता धनपात्रो के हाथ मे होती है। यह तो केवल सयोग की बात है कि वे बहुसख्यक होते है और यह अल्पसख्यक—अर्थात् स्वतत्रजन्मा बहुत से होते है और धनपात्र थोडे। अन्यथा, यदि शासन-पदो का वितरण शरीर की विशालता (लम्बेपन) के आधार पर होता (जैसा कि कुछ लोगो के कथनानुसार ऐथियोपिया[1] मे होता है) या सुन्दरता के आधार पर होता, तो ऐसी व्यवस्थाओ को भी अल्पजनतत्र कहा जाता, क्योकि सुन्दर मनुष्यो और विशालकाय मनुष्यो की सख्या तो थोडी ही हुआ करती है। तिस पर भी केवल निर्धनता और सधनता की कसौटी (अथवा सख्या के आधार) पर जनतत्र और धनिकतत्र का भेद करना पर्याप्त नही है। जनतत्र और धनिकतत्र दोनो मे ही अनेको तत्त्व होते है, अतएव ठीक प्रकार से उनका भेद निरूपण करने के लिये हमको अभी थोडा अधिक विश्लेषण करना चाहिये। उदाहरणार्थ हम ऐसी शासन-व्यवस्था को, जिसमे अल्पसख्यक स्वतत्रजन्मा लोग बहुसख्यक अस्वतत्रजन्मा लोगो पर शासन करते हो, प्रजातत्र नही कह सकते। इस प्रकार की व्यवस्था किसी समय इयोनिया के उपसागर के तट पर बसी हुई अपोलोनिया नगरी मे और थेरा (द्वीप) मे पाई जाती थी। इन दोनो ही नगर-राष्ट्रो में विशेष

सम्मान अभिजात लोगो के लिये सुरक्षित था जो कि मूल उपनिवेशकारो के वशधर होने के कारण कुलीन माने जाते थे यद्यपि उनकी सख्या अत्यल्प थी। और न प्रजातत्र नाम का प्रयोग ऐसी व्यवस्था के लिये किया जा सकता है जिसमे धनिक लोग केवल अधिकसख्यक होने के कारण शासनसत्ता के अधिकारी होते है। इस प्रकार की व्यवस्था भूतकाल मे कॉलॉफौन[२] मे थी जहॉ कि लीडिया[३] के युद्ध से पूर्व अधिकाश जन विशाल सम्पत्तियो के स्वामी थे। परन्तु कोई शासन-व्यवस्था 'प्रजातत्र' तब होती है, जब स्वतत्रजन्मा और निर्धन लोग, अधिकसख्यक होते हुए शासनारूढ होते हैं, एव धनिकतत्र तब होती है जब कि धनवान् और अभिजात लोग अल्प-सख्यक होते हुए सत्ताशाली होते है।

इस तथ्य का कि शासन-व्यवस्थाएँ बहुत प्रकार की होती है, तथा इस अनेकता का कारण, इन दोनो का ही कथन हो चुका। जिन (दो प्रकार की) व्यवस्थाओ का प्रति-पादन हो चुका उनसे अधिक प्रकार की व्यवस्थाएँ क्यो है, कौन-सी है और उनकी उत्पत्ति कहॉ से (अथवा किसके द्वारा) होती है, मै अब इन प्रश्नो का विवेचन पहले ही कहे हुए सिद्धान्त से आरभ करते हुए करूँगा कि प्रत्येक राष्ट्र के अन्तर्गत एक नही अनेको अग होते है। यदि हमको प्राणियो की विविध जातियो का वर्णन (अथवा वर्गीकरण) करना अभीष्ट हो तो हमको सबसे पहले उन अगो का पृथक् पृथक् निर्देश करना पडेगा जो प्रत्येक प्राणी के लिये आवश्यक है। उदाहरण के लिये इन अगो मे से कुछ ज्ञानेन्द्रियाँ होगी, और कुछ भोजन को ग्रहण करने और पचाने का काम करनेवाली इन्द्रियॉ भी होगी जैसे कि मुख और उदर है, इनसे आगे चलकर उनमे गमनेन्द्रिय का भी समावेश होगा जो कि प्रत्येक प्राणी के द्वारा प्रयुक्त होती हैं। अब यदि यह मान ले कि अगो (इन्द्रियो) के केवल इतने ही प्रकार है, और इससे आगे यह भी कल्पना कर ले कि इनके विविध भेद हो सकते है—अर्थात् मुख, उदर, ज्ञानेन्द्रिय और गमनेन्द्रिय—इन सबके विविध भेद हो सकते है—तो हम इस निर्णय पर पहुँचेगे कि इन विविध करणो के सभी सभव सघातो की सख्या अवश्य ही प्राणियो की बहुत-सी जातियो को उत्पन्न (प्रस्तुत) कर देगी। क्योकि जिन प्राणियो के मुख और कान एक दूसरे से भिन्न हो वह अभिन्न प्राणी नहीं हो सकते। इस प्रकार से अगो की विविधता से बननेवाले सभी संभव सघात विभिन्न प्रकार के प्राणियो की उत्पत्ति में कारण होगे, और जीवो की विभिन्न जातियो की सख्या उतनी ही होगी जितने कि आवश्यक अगों के सभव सघात हो सकते हैं।

ठीक यही बात पूर्व-वर्णित शासन-व्यवस्थाओ के विषय मे भी लागू होती है। जैसा कि हमने अनेक बार कहा है, (नगर-)राष्ट्र भी एक अग से नही अनेक अगो के सम्मिलन से निर्मित होते है। इनमे से एक अग है भोजन (अन्न) उत्पन्न करनेवाले मनुष्यो का वर्ग जो कृषकवर्ग कहलाता है। दूसरा (अग) कहलाता है शिल्पकारो का वर्ग, इसका सबध उन शिल्पो से है जिसके बिना किसी नगर का बसना असभव है। इन शिल्पो मे से कुछ ऐसे होते है जो नितान्त आवश्यक है, और कुछ ऐसे होते है जो विलासिता अथवा जीवन की सुघडता के पोषक होते है। तीसरा अग वह है जिसको व्यापारी वर्ग कह सकते है, तथा व्यापारी-वर्ग से मेरा तात्पर्य उन सब लोगो से है जो या तो थोकदारो अथवा रेजगारो के रूप मे क्रय-विक्रय के काम मे लगे रहते है। चौथा अग बँधुआ चाकरो का है। पाँचवाँ अग योद्धादल (रक्षकदल) है, और जो वर्ग (यदि किसी राष्ट्र को आक्रान्ताओ का दास न बनना हो तो) पूर्वोक्त चारो वर्गो मे किसी से भी कम आवश्यक नही है। क्योकि जो नगर प्रकृत्या दास हो उसको औचित्य के साथ 'नगर' नाम से निर्दिष्ट करना योग्य नही है। (नगर-)राष्ट्र स्वाधीन होता है और दास होना स्वाधीनता नही है।

इसीलिये (प्लातोन) की 'पॉलितेइया' नामक पुस्तक मे नगर के अगो (अथवा तत्त्वो) का जो वर्णन किया गया है वह चतुरतापूर्ण तो है पर पर्याप्तरूपेण सतोषप्रद नही है। सॉक्रातेस ने कहा है कि नगर का सघटन चार नितान्त अनिवार्य अगो से मिलकर होता है। इनके नाम वह बुनकर, कृषक, चर्मकार तथा वास्तुकार बतलाता है। तत्पश्चात्, क्योकि यह वर्ग पर्याप्त प्रतीत नही होते वह इनके साथ लोहारो तथा (आवश्यक पशुओ की देखभाल के लिये) पशुपालको के वर्ग को और जोड देता है। इनके अतिरिक्त थोक और रेजगारी के व्यापारियो को भी वह बढा देता है। यही सब वर्ग मिलकर प्रथम 'नगर के सपूरक होते है,' जैसे मानो नगरी की स्थापना केवल आवश्यकताओ की उपलब्धि के लिये ही हुई हो, न कि सत् की प्राप्ति के लिये अथवा उस (=नगर) को चर्मकार (=जूता बनानेवाले) और कृषक दोनो की समान आवश्यकता हो। पर योद्धावर्ग को तो वह अपने राष्ट्र मे उस समय के पूर्व प्रविष्ट नही होने देता[1], जब तक कि नगर (राष्ट्र) की भूमि का विस्तार बढकर पडोसी राष्ट्र की सीमा को चॉपकर दोनो राष्ट्रो को युद्ध मे लिप्त नही कर देता। तथापि नगर (राष्ट्र) के इन चार (मौलिक वर्गो) मे—अथवा जो कुछ भी इन समाजीभूत तत्त्वो की सख्या हो उनमे—कोई व्यक्ति (अथवा तत्व) न्याय-प्रदान करने और न्याय-निर्धारण करने के लिये अवश्य ही होना चाहिये। और यदि प्राणधारियो की आत्मा (=मन) को उनके

शरीर की अपेक्षा अधिक सारभूत तत्त्व माना जाय तो राष्ट्र के पक्ष मे भी तत्स्थानीय तत्त्व को उन तत्त्वो की अपेक्षा अधिक आवश्यक मानना चाहिये जो कि उसकी शारीरिक (=स्थूल) आवश्यकताओ की पूर्ति करते है, तथा ऐसे तत्वो से हमारा तात्पर्य योद्धावर्ग, न्याय की व्यवस्था से सबद्ध वर्ग तथा (राष्ट्र-हित के) चिन्तन मे लगे हुए वर्ग से है, क्योकि राजनीतिक सूझ-बूझ का विशेष कार्य यही है। यह तीनो कार्य—(अर्थात् युद्ध, न्याय और राष्ट्रहित-चिन्तन)—पृथक् पृथक् नागरिकवर्गो से सबध रखते है अथवा एक ही वर्ग से, इन दोनो विकल्पो से प्रस्तुत विवेचन मे कोई अन्तर नही पडता। ऐसा प्राय होता है कि एक ही जनवर्ग को युद्ध और कृषि दोनो ही कर्म करने पड़ते है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि यदि यह (उच्च) वर्ग और वह (स्थूल आवश्यकताओ की पूर्ति करनेवाला) वर्ग समानरूपेण राष्ट्र के अग हो तो स्पष्ट ही कम से कम योद्धावर्ग को तो राष्ट्र का अनिवार्य (आवश्यक) अग मानना चाहिये।

सातवाँ वर्ग उन लोगो का है जो सम्पत्तिशाली होते है तथा अपनी सम्पत्ति से राष्ट्र की सेवा करते ह। आठवाँ वर्ग जनकर्मा (दीम्यूर्गिको) लोगो का तथा उन लोगो का है जो शासक-पद ग्रहण करके राष्ट्रसेवा करते है, क्योकि शासको के बिना तो नगर-राष्ट्र की सत्ता ही असभव है। अतएव कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य होने चाहिये जो शासक-पद ग्रहण करने की क्षमता रखते हो तथा या तो निरतर या बारी बारी से राष्ट्र की सेवा कर सके। केवल दो ही अग अब शेष रह जाते है जिनका हमने अभी अभी यो ही सयोगात् चलताऊ विवेचन किया था—एक तो राष्ट्र-चिन्तन करनेवाला अग और दूसरा वह अग जो न्यायार्थी अभियोक्ताओ के झगड़ो मे न्याय का निर्णय करता है।[४] यदि इन सब अगो को नगर-राष्ट्रो मे वास्तव मे होना ही चाहिये और सौष्ठव एव औचित्य के साथ होना चाहिये, तब तो अवश्यमेव कुछ ऐसे व्यक्ति भी होने ही चाहिये जो राजनीतिक योग्यता से सम्पन्न हो। बहुधा मनुष्यो का यह विचार रहता है कि विभिन्न प्रकार की क्षमताएँ सम्मिलित रूपेण एक ही व्यक्ति मे उपलब्ध होना सभव है। उदाहरण के लिये एक ही जनवर्ग योद्धा भी हो सकता है, कृषक भी और शिल्पी भी; फिर इसी प्रकार वही जनसमूह राष्ट्र-चिन्तक भी हो सकता है और न्याय करनेवाला भी। इस राजनीतिक योग्यता से सम्पन्न होने का दम्भ (दावा) तो सभी करते है और प्रत्येक व्यक्ति अपने को बहुत से शासन-पदो को अलकृत करने के योग्य समझता है। पर एक व्यक्ति का एक साथ निर्धन और धनवान् होना ही एक ऐसी बात है जो असभव है। इसी कारणवश यह दो वर्ग—सम्पन्न जनो का वर्ग तथा असम्पन्न जनों का वर्ग—विशेष प्रकार से राष्ट्र के दो विस्पष्ट अग माने जाते है।

और फिर इतनी ही बात नही है, इनमे से एक अग के बडे और दूसरे के छोटे होने के कारण वे एक दूसरे के प्रतिकूल भी प्रतीत होते है। यही कारण है कि (इन अगो मे से जिसका पक्ष सबल हो जाता है) वही पक्ष अपने हित के अनुकूल विधान की स्थापना कर लेता है। तथा यह जो मनुष्य विचार किया करते है कि विधान-व्यवस्थाएँ केवल दो ही प्रकार की होती है—जनतत्रात्मक और अल्पजनतत्रात्मक—इस विचार का भी कारण यही है।

(पर) यह बात पहले ही स्थापित की जा चुकी है कि व्यवस्थाएँ बहुत प्रकार की होती है और यह भी बतलाया जा चुका है कि वे किन कारणो से अनेक प्रकार की होती है। अब मै यह बतला दूँ कि जनतत्र और अल्पजनतत्र (=धनिकतत्र) के भी बहुत से प्रकार होते है। जो कुछ पहले कहा जा चुका है उससे भी यह बात स्पष्ट हो गयी होगी। यह दोनो व्यवस्थाएँ भी विविध प्रकार की इसलिए होती है क्योकि साधारण जनता और प्रतिष्ठित जनवर्ग दोनो के अन्तर्गत विविधता पायी जाती है। उदाहरण के लिये साधारण जनता मे एक जनसमूह कृषको का है तो दूसरा शिल्पियो का, तीसरा व्यवसायियो का जो क्रयविक्रय के काम मे लगा रहता है, एक अन्य जनसमूह सामुद्रिक जीवन से सबध रखनेवाला है, जिसमे से कुछ नौसैनिक है, कुछ सामुद्रिक व्यापारी है, कुछ नौका-वाहक है और कुछ मछली पकडनेवाले। बहुत से स्थानो (=नगरो) मे इनमे कोई सा भी एक जनसमूह जनता का एक बहुत बडा भाग है, उदाहरण के लिये तारेन्तम[५] और बीजान्तियम्[६] मे मछुओ, अथीन्स् मे नौसैनिक, अइगिना[७] और खियौस्[८] मे सामुद्रिक व्यापारी और तैनेदॉस् मे नौकावाहक लोगो के समूह जनता के अच्छे बडे अग है। इन जनसमूहो के प्रकारो के अतिरिक्त एक प्रकार प्रतिदिन के श्रमजीवियो का है और ऐसे मनुष्यो का है जो अल्पवित्त होने के कारण अवकाश भोगने की क्षमता नही रखते (अर्थात् जिनको जीविका के लिए निरन्तर परिश्रम करना पडता है।) इसके अतिरिक्त इस समूह मे वे लोग भी आते है जो उभय पक्ष मे (माता और पिता के पक्ष मे) स्वतत्र जनो की सन्तान नही है। इसी प्रकार ऐसे ही अन्य समूह-भेद भी हो सकते है। प्रतिष्ठित (अथवा ख्यातिलब्ध) लोगो मे भी, सपन्नता, कुलीनता, सद्गुण और शिक्षा-दीक्षा एव इसी प्रकार के अन्य गुणो के आधार पर प्रकार-भेद हुआ करते है।

जनतत्र का प्रथम प्रकार वह है जो समानता के आधार पर अत्यधिक आश्रित रहता है। लोक के इस प्रकार मे नियम (कानून) समानता की यह व्याख्या करता है कि निर्धन लोगो की सम्पन्न लोगो को अपेक्षा अधिक महत्त्व न दिया जाय , (सपन्न

और निर्धन) दोनो मे से कोई सर्वशक्तिशाली प्रभु न हो, किन्तु दोनो एक समान हो। (यह नियम अनुमोदन करने के योग्य है), क्योकि यदि हम यह मानते हो (जैसा कि कुछ लोग सोचते है) कि स्वाधीनता और समानता दोनो मुख्यतया लोकतत्र मे ही उपलब्ध होती है, तो यह दोनो सर्वोत्तम प्रकार से तभी उपलब्ध होगी, जब कि व्यवस्था के अधिकारो मे सबको अधिक से अधिक मात्रा मे एक समान भाग प्राप्त हो। क्योकि जनसाधारण की सख्या अधिक होती है, और अधिकाश लोगो का मत ही सर्वोपरि होता है, अतएव इस प्रकार की व्यवस्था अवश्यमेव लोकतत्रात्मक होनी ही चाहिये। इस प्रकार लोकतत्र का एक भेद तो यह हुआ। जनतत्र का दूसरा भेद वह है, जिसमे सम्पत्ति के आधार पर शासन-पदाधिकारियो का चुनाव (=नियुक्ति) किया जाता है पर यह सम्पत्ति-सबधी विशेषता निम्न मात्रा की ही होती है, जो लोग निर्धारित सम्पत्ति की मात्रा के स्वामी होते है उनको शासनपदो मे भाग मिलता है, पर जो अपनी सम्पत्ति गँवा देते है उनको शासन-कार्य मे भी भाग नही मिलता। लोकतत्र का एक और (तीसरा) प्रकार वह है जिसमे सभी निर्दोष व्यक्तियो को शासन-कार्य मे भाग मिलता है, परन्तु जहाँ सर्वोपरि शासक-नियम (कानून) ही होता है। एक अन्य (अर्थात् चौथा) प्रकार वह है जिसमे सब किसी को (यदि वह केवल नागरिक=पौरजन हो) शासन मे अधिकार प्राप्त होता है, पर इसमे भी सर्वोपरि शासक पूर्ववत् नियम (=कानून) ही होता है। लोकतत्र का एक और (पाँचवाँ) प्रकार (जो कि अन्य बातो मे चौथे के समान होता है) वह है जिसमे कि सर्वोपरि शासक लोकवर्ग होता है, कानून नही। ऐसा तब हुआ करता है जब कि लोकादेश सर्वोपरि शक्तिशाली हो जाते है और नियमो का प्रभुत्व नही रहता। इस प्रकार की स्थिति लोकनायको के द्वारा उत्पन्न की जाती है। उन प्रजातत्रो मे, जिनका शासन-कार्य नियमो (कानूनो) के अनुसार चलता है, लोकनायक नही होते, प्रत्युत श्रेष्ठ श्रेणी के नागरिक ही अध्यक्ष-पद पर आरूढ होते है। जहाँ कही नियम (कानून) सर्वशक्तिमान नही होते वही लोकनायक उत्पन्न हो जाते है। ऐसी स्थिति मे जनता ही एकराट् हो जाती है—पर यह एकराट्ता सहत हुए बहुतो के एक सघात की एकराट्ता होती है, जिसमे कि सर्वोपरिसत्ता अनेक के हाथ मे रहती है—तथापि यह सत्ता उनके हाथ मे व्यक्तिश नही रहती, उनकी समष्टि मे निहित रहती है। होमेर ने कहा है, "बहुत जनो का शासन अच्छा नही,"[१] परन्तु यह स्पष्ट प्रतीत नही होता कि इससे उसका तात्पर्य बहुतो की समष्टि के शासन से है अथवा अनेक पृथक् पृथक् व्यक्तियो के शासन से है। उसका तात्पर्य कुछ भी रहा हो (वस्तु-स्थिति तो यह है कि) ऐसा जनतत्र जो कि अब एकराट्तत्र बन गया है, तथा

नियम (कानून) का वशवर्ती नही है, एकच्छत्र शासन करन की चेष्टा करता है और अनियन्त्रित शासक बन बैठता है। चापलूसो का सम्मान होने लगता है, और इस प्रकार का लोकतत्र एकतत्री तानाशाही के समनुरूप हो जाता है। दोनो का स्वभाव एक समान होता है तथा दोनो ही अच्छे प्रकार के नागरिको के प्रति अनियन्त्रित शासक के समान व्यवहार करते है। इस (जनतत्र) के आदेश उस (तानाशाही शासन) के आज्ञापत्रो के समान होते है। जननायक की स्थिति इस प्रकार के लोकतत्र में वैसी ही होती है जैसी चापलूस व्यक्ति की एकतत्री तानाशाही मे होती है। तथा उभय शासनो मे इन दोनो दाक्षिण्यभाजनो का प्राबल्य हो जाता है—तानाशाहो के शासन मे चाटुकारो का एव इस प्रकार के लोकतत्र मे लोकनायको का। लोकादेशो के सर्वोपरि होने, तथा नियमो के सर्वोपरि न होने के कारण यही (लोकनायक) लोग होते है क्योकि वे सब बातो को जनता के निर्णयार्थ उसके समक्ष प्रस्तुत कर दिया करते है। परिणाम यह होता है कि वे (लोकनेता) स्वत महान् बन जाते है, क्योकि सब बातो मे जनता सर्वोपरि हो जाती है और जनता की सम्मति (वोट) उनकी मुट्ठी मे रहती है, एव जनसमूह उन्ही की बात मानता है। इसके अतिरिक्त वे लोग भी जो कि शासको की निन्दा करते है जनता से यही कहते है कि उसी को निर्णय करना चाहिये, और जनता तो ऐसे निमत्रण को सहर्ष (तत्काल) स्वीकार करने को प्रस्तुत रहती ही है। परिणामत इस प्रकार सभी शासको का अधिकार विध्वस्त हो जाता है। इस प्रकार की लोकतत्रात्मक पद्धति के विषय में यह दोषारोपण तो समुचित प्रकार से किया जा सकता है कि यह कोई शासन-व्यवस्था है ही नही। (कारण कि) जहाँ नियम का शासन न हो वहाँ कोई विधान-व्यवस्था नही होती। सब विषयो में सर्वोपरि शासन नियमो का ही होना चाहिये, शासको और जनपरिषदो (लोकसमूहो) को तो व्यक्तिश (ब्यौरे की) बातो का ही निर्णय करना चाहिये। अतएव यदि जनतत्र-पद्धति एक प्रकार की शासन-व्यवस्था हो, तो यह विशिष्ट प्रकार का लोकतत्र, जिसमे सब बाते लोकादेशो से निर्णय की जाती है, स्पष्ट ही लोकतत्र के अधिकृत अर्थ मे लोकतत्र नही है। लोकादेशो का सामान्य (व्यापक) होना सभव नही है। जनतत्र के प्रकारो और उन प्रकारो की परिभाषा के सबध मे इतना ही बस है।

टिप्पणियाँ

१. ऐथियोपिया प्रदेश होमेर के मतानुसार इजिप्ट के दक्षिण में था। पर ऐतिहासिक ऐथियोपियावासी आधुनिक अबीसीनिया से कुछ उत्तर की ओर निवास करते थे। अरिस्तू ने उनके विषय में जो कुछ लिखा है वह सुनी सुनाई बात है।

२. यह नगर लघु एशिया के पश्चिमी तट के मध्य में स्थित था।

३. लीडिया अथवा लीदिया राज्य कॉलॉफौन् के उत्तर में था और इसकी राजधानी सार्दिस् थी। यह एक पुराना राज्य था पर इसकी सीमाओ का ठीक पता नही चलता। कहते हैं कि लीदिया ने मुद्रा का चलन सबसे पहले आरंभ किया था।

४. यद्यपि अरिस्तू ने राष्ट्र के दस तत्त्व गिनाये हैं तथापि उसने यह स्पष्टतया नहीं बतलाया कि छठा तत्त्व कौन-सा है।

वि० कुछ आलोचको के मत में यह नगर-राष्ट्र के दस तत्त्वो का लम्बा विवरण संभवतया प्रक्षिप्त है, अथवा किसी संपादक द्वारा जोड़ दिया गया है।

५. तारेन्तम नगर इटली के दक्षिण में था।

६. बीजान्तियम् बौस्पौरस के यूरोपियन तट पर स्थित एक प्रसिद्ध नगर था।

७. अइगिना एक छोटा द्वीप है जो अथेन्स से दक्षिण पश्चिम की ओर स्थित है।

८. खियौस् भी एक द्वीप है। यह लघु एशिया के पश्चिमी समुद्र-तट के मध्य भाग के पास समुद्र में स्थित है।

९. तुलना कीजिये "नश्यन्ति बहुनायकाः।"

वि० अरिस्तू के दस सामाजिक अथवा नागरिक तत्त्व निम्नलिखित हैं :—

(१) कृषक (२) शिल्पकार (३) व्यापारी (४) बँधुआ चाकर
(५) योद्धारक्षक (६) ? (७) सम्पन्न लोग (८) जनकर्मा
(९) राष्ट्रचिन्तक (१०) न्यायकर्ता।

प्लातोन की "पौलितेइया" में एक स्थान पर सॉक्रातेस् ने नागरिक तत्त्वों का विवेचन उनके ऐतिहासिक उद्भव और विकास की दृष्टि से किया है। दूसरे स्थान पर मानव के मानस का त्रिभागात्मक विश्लेषण करके पुनः राष्ट्र के घटकों का विवरण उपस्थित किया है। प्रो० उर्वीक ने इस दूसरे विवेचन को प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था से प्रभावित माना है।

जनतत्र के ५ प्रकार संक्षेप मे निम्नलिखित है :—

(१) नियमानुमोदित समानता के आधार पर आश्रित।
(२) निम्न मात्रा की संपत्ति की योग्यता के आधार पर पदाधिकार देनेवाला।
(३) जिसमे शासन-कार्य निर्दोष व्यक्तियो के हाथ में होता है पर सर्वोपरि शासक नियम (=कानून) होता है।
(४) जिसमें सर्वोपरि शासक कानून ही होता है, शासन में अधिक सबको प्राप्त होता है।

(५) जिसमें कानून नहीं जनता का आदेश ही सर्वोपरि होता है। इस प्रकार की स्थिति लोकनायको द्वारा उत्पन्न की जाती है। लोकनायक के लिए मूल में "देमागोग्" शब्द आया है जिसका अर्थ होता है "जनता का अगुआ"। इन लोगो का उदय अथेन्स में पेरीक्लेस् की मृत्यु के पश्चात् हुआ था। यह लोग पदारूढ़ नहीं होते थे, स्वतत्र रूप से ही नवीन नीतियो को प्रस्तुत करते थे।

५

अल्पजनतंत्र (औलिगार्किया) के प्रकार

अल्पजनतत्र के भेदो मे से (१) एक भेद वह है जिसमे पदाधिकार की प्राप्ति के लिये इतनी अधिक आर्थिक योग्यता की शर्त लगी रहती है कि निर्धन जनता बहुसख्यक होते हुए भी राजनीति मे भागीदार नही हो सकती, पर जो कोई विहित अर्थिक योग्यता को प्राप्त कर ले तो उसको उपर्युक्त अधिकार मिल जाता है। (२) दूसरा भेद वह है, जिसमे पद-प्राप्ति के लिये ऊँची आर्थिक योग्यता की आवश्यकता होती है तथा रिक्त पदो पर इन्ही उच्च आर्थिक योग्यता रखनेवाले लोगो द्वारा चुने हुए व्यक्तियो की नियुक्ति हुआ करती है। यदि चुनाव उन सभी व्यक्तियो मे से किया जाता है जो आर्थिक योग्यता रखते है तो ऐसा विधान श्रेष्ठ लोकतत्र की ओर झुकता हुआ माना जा सकता है, पर यदि चुनाव केवल सुविधा-भोगी वर्ग मे से किया जाता है तो ऐसी व्यवस्था अल्पजनतत्र (=धनिकतत्र) ही समझी जाती है। अल्पजनतत्र का एक (३) अन्य प्रकार तब होता है जब कि पुत्र पिता का स्थान ग्रहण कर लेता है। (४) चौथा प्रकार कुलक्रमागत होने मे तो उपर्यक्त (तृतीय) प्रकार के ही समान है, पर इसमे नियम शासन नही करता, प्रत्युत शासको का व्यक्तिगत शासन चला करता है। अल्पजनतत्रो मे इस प्रकार का वही स्थान है जो एकतत्र शासको मे तानाशाही का है अथवा जो जनतत्रो के मध्य मे उस जनतत्र का है जिसका हमने सबसे पीछे वर्णन किया है। इस प्रकार के अल्पजनतत्र को दीनास्तेइया (कुलपुत्रतत्र) कहा जाता है।

अल्पजनतत्र के और प्रजातत्र के यही विविध प्रकार है। फिर भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राय वास्तविक जीवन ऐसा होता है कि जो विधान नियमानुसार (कानूनन) जनतत्रात्मक नही होते वे भी लोगो की आदतो और शिक्षा-दीक्षा के कारण जनतत्रात्मक ढग से शासित किये जाते है, एव इसके विपरीत अन्य बहुत से राष्ट्रो मे नियमानुसार स्थापित व्यवस्था का झुकाव भले ही जनतत्र की ओर हो तथापि

जनता की शिक्षा-दीक्षा और आदतो के कारण व्यावहारिक शासन का झुकाव अल्पतत्रता की ओर हो सकता है। ऐसी स्थिति विशेषरूप से क्रान्ति के पश्चात् घटित होती है। क्योकि नागरिक (=नागरिको के स्वभाव) एकदम तो बदल नही जाते, और प्रारम्भ मे विजयी दल अपने विपक्षियो की थोडी-सी शक्ति के अपहरण से सन्तुष्ट रहता है, अन्य वस्तुओ को प्राय बिना छेडछाड किये रहने देता है। परिणामत पुराने नियम चालू बने रहते हैं यद्यपि वास्तविक शक्ति क्रान्तिकारीदल के हाथ में रहती है।

टिप्पणियाँ

इस खंड के अनुशीलन से पता चलता है कि अरिस्तू ने कितनी बारीकी से जनतंत्र एवं अल्पतंत्र के वास्तविक और प्रतीयमान स्वरूपो का अध्ययन किया है।

६

जनतंत्र और धनिकतंत्र=अल्पजनतंत्र के प्रकार

(जनता में तथा लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियो मे पाये जानेवाले वर्गो के विषय मे) हमने जो कुछ अब तक कहा है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जनतत्र और अल्प-जनतत्र (=धनकितत्र) के यह सब भेद होने ही चाहिये। या तो उपर्यक्त सब वर्गों को शासन-कार्य में अवश्य भाग प्राप्त होना चाहिये, अथवा कुछ को प्राप्त होना चाहिये और कुछ को नही; (यही दो विकल्प सभव है।) जब कि शासन-सत्ता कृषक-वर्ग के हाथ मे होती है, अथवा साधारण मध्यवित्त लोगों के हाथ में होती है तो वे शासन-कार्य को नियमानुसार चलाते है, क्योकि ऐसे लोग कार्यसलग्न जीवनव्यतीत करने के अभ्यस्त (के लिये विवश) होते हैं उनको अवकाश (अथवा) छुट्टी का अवसर प्राप्त हो नही सकता। परिणाम यह होता है कि वे कानूनो (नियमो) को ही सर्वोपरि बना देते हैं तथा अनिवार्य हो जाने पर ही परिषदो में एकत्रित होते हैं। जनता के अन्य लोगो को वैधानिक अधिकार में भाग उसी समय से मिलने लगता है जब कि वे नियम (कानून) द्वारा निर्धारित आर्थिक योग्यता को प्राप्त कर लेते हैं। सामान्यतया यह माना जा सकता है कि जो व्यवस्था सबको (प्रत्येक नागरिक को) वैधानिक अधिकार मे भाग नही प्रदान करती अल्पजनतत्रात्मक होती है तथा जो ऐसा करती है वह जनतंत्रात्मक होती है। अतएव ऐसे प्रत्येक नागरिक को अधिकारो मे भाग दिया जाना चाहिये जिसने आर्थिक योग्यता प्राप्त कर ली है। पर पर्याप्त (सापत्तिक) साधनो के अभाव में उनको

(उस) अवकाश को भोगने की योग्यता प्राप्त नही होती (जो राजनीतिक कार्यों के करने के लिए आवश्यक है।) जनतत्र का एक प्रकार यह है तथा यह इन उपर्युक्त कारणो से उत्पन्न होता है। दूसरा प्रकार ऐसी कसौटी अथवा विशेषता पर आश्रित है जो क्रमानुसार दूसरे स्थान पर आती है—अर्थात् जाति अथवा कुल की कसौटी। यहाँ (इसमें) प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को, जिसकी जाति (=कुल अथवा जन्म) अनिन्द्य हो, नियमत अधिकाराश दिया जाता है, पर यथार्थ में वह शासन-कार्य में तभी भागीदार हो सकता है जब कि उसको अवकाश मिल सकता हो। अतएव ऐसे जनतत्र में नियमो मे शासनाधिकार निहित रहता है, (अथवा नियमो=कानूनो का शासन चला करता है) क्योंकि राज्य की आय इतनी नही होती कि वह अधिकारियों को धन दे सके (और इस प्रकार उनको शासन-कार्य के लिए अवकाश जुटा सके।) तीसरा प्रकार वह है जिसमें सब स्वतत्र जनता को शासन-कार्य में अश प्राप्त होता है, पर वास्तव में सब शासन-कार्य मे, पूर्वोक्त कारणो से भाग नही लेते। अतएव इस व्यवस्था-प्रकार में भी अवश्य ही नियमो का ही शासन चलता हैं। जनतत्र का चौथा प्रकार वह है जो (नगर-) राष्ट्रो के इतिहास में सबसे अन्तिम समय में उत्पन्न होता है। (हमारे अपने ही समय मे) जब कि नगर अपने मौलिक (प्रारम्भिक) आकार से बढकर अत्यन्त विशाल हो गये है और उनका राजस्व भी बहुत बढ गया है (हम देखते है) कि जनसख्या की वृद्धि के कारण सभी नागरिक शासन-कार्य में भाग लेते हैं, निर्धन लोगो के सहित (जिनको शासनाधिकार के उपयोग के लिए धन देकर अवकाश की उपलब्धि कराई जाती है) वे सभी शासन मे अश प्राप्त करते हैं। सच तो यह है कि जब निर्धन जनो को (राष्ट्र की ओर से) वेतन मिलता है तो उनको अत्यधिक अवकाश प्राप्त हो जाता है, क्योकि सम्पत्ति की वह चिन्ता जो कि धनवानो के लिये बाधक होती है उनके लिये तनिक बाधा नही डालती, इसी चिन्ता के कारण सम्पत्तिशाली लोग प्राय. परिष और न्यायालयो के अधिवेशनो में भाग नही ले पाते। परिणामत राष्ट्र का शासन बहुमतवाले निर्धन लोगो के हाथ में आ जाता है, नियमो के अनुसार नही चलता। जनतत्रो के इतने प्रकार है और वे (उपर्युक्त) अनिवार्य कारणो से उत्पन्न होते है।

धनिकतत्र (=अल्पजनतत्र, ऑलिगार्किया) का एक प्रकार वह होता है जिसमे अधिकाश जनता के पास कुछ सम्पत्ति होती है, यद्यपि यह सम्पत्ति थोडी-सी होती है, बहुत अधिक नही होती, यह इस प्रकार की व्यवस्था का प्रथम भेद है। इस पद्धति मे जो कोई भी व्यक्ति निर्दिष्ट मात्रा की सम्पत्ति का स्वामी होता है उसको शासन-कार्य में भाग प्राप्त हो जाता है। एव क्योकि शासन-कार्य में भाग पाये हुए

लोगो की सख्या बहुत बडी होती है, अतएव अवश्यमेव व्यक्तियो (मनुष्यो) का शासन नही चलता प्रत्युत शासन-सत्ता नियमो मे निहित रहती है। क्योकि जितनी ही जनता एकतत्र से दूर होती है, (तथा क्योकि) उसकी सम्पत्ति न तो इतनी अधिक होती है कि उनको धन्धो से पूर्ण अवकाश प्राप्त होकर निश्चितता हो जाय और न इतनी कम कि उसको राष्ट्र के पोषण की आवश्यकता पडे,) अतएव अवश्य ही उतना ही वह नियमो को शासन करने देती है न कि स्वय शासन करती है। पर यदि राष्ट्र मे सम्पत्तिशाली लोगो की सख्या पूर्वोक्त से अपेक्षाकृत कम हो तथा उनकी सम्पत्ति की मात्रा अधिक हो तो धनिकतत्र का दूसरा प्रकार उत्पन्न हो जाता है। क्योकि वे लोग जितने अधिक शक्तिशाली होते हैं उतनी और अधिक शक्ति को हस्तगत करने का दावा करते है। इस उद्देश्य को दृष्टि मे रखते हुए वे स्वय अन्य वर्गो के उन लोगो को चुना करते हैं जिनको शासन-सस्थान मे सम्मिलित किया जाता है। परन्तु अभी तक नियमो के बिना शासन करने की शक्ति न रखने के कारण ही वे अपनी इच्छाओ का प्रतिनिधित्व नियमो से करवाते हैं। जब उनकी सख्या घट जाने से तथा उनकी सम्पत्ति बढ जाने से उनकी शक्ति और घनीभूत हो जाती है तो धनिकतत्र के विकास की तीसरी कोटि का उदय होता है, जिसमे शासकवर्ग अधिकार पदो को अपनी मुट्ठी में रखते हैं तथा नियम की (शाब्दिक) मर्यादा मे रहकर काम करते हैं चाहे वह नियम केवल यही हो कि पुत्र पिता के पद का उत्तराधिकारी होगा। और फिर जब (शासको की) सम्पत्ति बहुत अधिक बढ जाती है और उनके मित्र भी बहुसख्यक हो जाते है तो यह इस प्रकार का कौटुम्बिक शासन एक (राट्) तत्र (मौनार्किया) बन जाता है तथा सत्ता (एक) व्यक्ति के हाथ मे चली जाती है, नियम का शासन नही रहता। और यही धनिकतत्र का चौथा प्रकार है, एव यह जनतत्र अन्तिम प्रकार का प्रतिरूप है।

७

श्रेष्ठ (जन-)तंत्र के प्रकार[१]

जनतत्र और धनिकतत्र के अतिरिक्त अभी शासन-व्यवस्था के दो भेद और है, उनमे से एक ऐसा है जो सर्वमान्य (=सर्वविदित) है और जिसका राजनीति के चार मुख्य प्रकारो मे समावेश है। ये चार प्रकार निम्नलिखित है (१) एकजन (=एकराट्) तत्र (२) धनिक (अल्पजन) तत्र (३) बहु जनतत्र और (४) वह प्रकार जो श्रेष्ठजनतत्र कहलाता है। पर एक पॉचवॉ प्रकार भी है जो इन प्रकारो

के सामान्य नाम को धारण किये रहता है और (केवल) व्यवस्थातत्र (पौलितेइया) कहलाता है। पर बहुधा उपलब्ध न होने के कारण उन लेखको के द्वारा इसकी ओर दृष्टिपात नही किया गया है जो शासन-व्यवस्था के भेदो की गणना करने की चेष्टा करते है। वे तो, (जैसा प्लातोन् ने किया है) अपनी राजनीति-सबधी पुस्तको मे केवल चार भेदो को ही स्वीकार करते है। 'श्रेष्ठजनतत्र' नाम तो यथार्थ मे ठीक प्रकार से उसी शासन-व्यवस्था के लिये प्रयुक्त हो सकता है जिसका वर्णन हमारे इस ग्रथ के पूर्वभाग मे[२] किया गया है, क्योकि श्रेष्ठजनतत्र (अरिस्तौक्रातिया) नाम तो यथार्थ मे केवल उसी शासन-व्यवस्था को दिया जा सकता है जो परमार्थत. श्रेष्ठ जनो से घटित हो न कि ऐसे व्यक्तियो से जो कि किसी निर्दिष्ट कसौटी के अनुसार ही तो भले हो (पर निरपेक्षत =परमार्थत) भले न हो।) परिपूर्ण राष्ट्र मे नेक आदमी परमार्थत भले नागरिक से अभिन्न होता है जब कि अन्य राष्ट्रो मे नेक नागरिक अपने राष्ट्र के मानदण्ड अथवा कसौटी के अनुसार भला हुआ करता है। (अर्थात् अपने राष्ट्र के शासनतत्र के प्रकार की सापेक्ष्यता के अनुसार भला हुआ करता है।) पर कुछ शासनतत्र ऐसे भी होते है जो अल्पजनतत्र से भिन्न होते है और तथाकथित पॉलि-तेइया (=व्यवस्थित शासन) से भी भिन्न होते है, इनको श्रेष्ठजनतत्र नाम दिया जाता है और इनमे शासको का चुनाव केवल सम्पत्ति के आधार पर ही नही प्रत्युत गुणो के आधार पर भी किया जाता है। यह शासन उन दोनो प्रकार की व्यवस्थाओ से भिन्न है जिनका अभी उल्लेख किया गया है, और श्रेष्ठजनतत्र कहलाता है। क्योकि वास्तव मे उन राष्ट्रो मे, जो कि सात्विकता (सद्‌गुणो) की चिन्ता को सामाजिक जीवन का लक्ष्य नही बनाते, ऐसे मनुष्य उपलब्ध हो सकते है जो कि सत्ख्यातिवाले और योग्यता-सम्पन्न हो। अतएव जहॉ कही शासन-व्यवस्था की दृष्टि सम्पत्ति, सद्‌गुण और सख्या (बहुजनप्रियता) पर रहती है (जैसा कि कार्खीदॉन=कार्थेज मे देखा जाता है), तो उस व्यवस्था को श्रेष्ठजनतत्र कहते है, तथा वहॉ का भी शासनतत्र ऐसा ही होता है जहॉ कि इन तीन विशेषताओ में से केवल दो ही पर दृष्टि रहती है (जैसा कि लाकेदायमॉन=स्पार्टा मे देखा जाता है) अर्थात् सद्‌गुणो और सख्या का ही विचार किया जाता है, एव ऐसी परिस्थिति मे जनतत्र-पद्धति और सद्‌वृत्ति दोनो के तत्त्वो का सम्मिश्रण हो जाता है। (इस प्रकार) पूर्वोक्त श्रेष्ठ राष्ट्र-व्यवस्था के अतिरिक्त श्रेष्ठजनतत्र[३] के यह (अभी ऊपर बतलाये हुए) दो प्रकार और होते है, और फिर तीसरा प्रकार भी है जो कि सामान्य व्यवस्था के नाम से पुकारा जाता है पर जो तथाकथित 'व्यवस्था' की अपेक्षा अल्पजनतत्र की ओर अधिक झुका हुआ है।

टिप्पणियाँ

१. आदर्श और यथार्थ में अन्तर होना स्वाभाविक है। इस खंड में अरिस्तू आदर्श श्रेष्ठजनतंत्र और व्यावहारिक जगत् में श्रेष्ठजनतंत्र नाम से कही जानेवाली व्यवस्थाओं का विवरण उपस्थित कर रहा है।

२. अर्थात् तीसरी पुस्तक के विभिन्न स्थलो पर। विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओ के विवरण की दृष्टि से तृतीय पुस्तक प्रथम भाग और चतुर्थ तथा पंचम पुस्तक द्वितीय भाग मानी जा सकती हैं।

३. श्रेष्ठजनतंत्र के प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) आदर्श श्रेष्ठजनतंत्र जहाँ केवल अच्छाई (भलाई) का ही शासन चलता है।

(२) जहाँ भलाई के साथ धन और संख्या के आधार पर शासनाधिकार प्राप्त होता है।

(३) जहाँ शासनाधिकार के लिए भलाई और संख्या दोनों पर दृष्टि रहती है।

(४) जहाँ व्यवस्थातंत्र में (३) की अपेक्षा संख्या को कम ध्यान दिया जाता है।

८

पौलितेइया[1] अथवा व्यवस्था नामक शासन-पद्धति

अभी हमारे लिये 'तथाकथित व्यवस्था' और तानाशाही का विवरण प्रस्तुत करना शेष है। यहाँ हम दो प्रकार की शासन-पद्धतियो को एक पक्ति मे रख रहे है परन्तु इसका कारण यह नही है कि यह तथाकथित व्यवस्था उपर्युक्त श्रेष्ठजनतत्रों के प्रकारो से किसी प्रकार अधिक विकृत है। सच बात तो यह है कि यह सभी पद्धतियाँ सर्वोत्तम प्रकार की परिपूर्ण पद्धति से घटकर हैं और इसीलिए विकृत पद्धतियो के अन्तर्गत गिनी जाती है, तथा जैसा कि मैंने प्रथम (पूर्वभाग) मे कहा है, वास्तव मे विकृत प्रकार (जिनमें इनकी भी गिनती होती है) वे है जो इनसे उत्पन्न होते है। सबसे अन्त मे तानाशाही का विवरण प्रस्तुत करना उचित है, क्योंकि हम शासन-पद्धतियो के स्वरूपान्वेषण मे लगे हुए है एवं इस तानाशाही मे व्यवस्था का स्वरूप सबसे कम उपलब्ध होता है।

जिस विवेचना-क्रम का हम अनुसरण करना चाहते है उसकी व्याख्या हमने इस प्रकार कर दी। अब हमको "व्यवस्था" नामक पद्धति का विवरण प्रस्तुत करने मे प्रवृत्त होना चाहिये। इसका लक्षण अब स्पष्टतर प्रकट हो जायगा क्योकि हमने अल्पजनतत्र (=धनिकतत्र) और जनतत्र के स्वरूप की परिभाषा पहले ही प्रस्तुत कर दी है। सामान्यरूपेण "व्यवस्था" को धनिकतत्र एव जनतत्र का सम्मिश्रण (सकर) कहा जा सकता है। पर साधारण व्यवहार मे यह नाम ("व्यवस्था") उन मिश्र शासन-पद्धतियो को दिया जाता है जो जनतत्र की ओर झुकती हुई होती है, तथा जो धनिकतत्र की ओर अधिक झुकती हुई होती है उनको 'श्रेष्ठजनतत्र' कहा जाता है, क्योकि (श्रेष्ठजनतत्र की दो विशेषताएँ) शिक्षा और आभिजात्य प्राय सम्पत्ति की ही सहचरी होती है। और फिर इसके अतिरिक्त प्राय यह भी देखा जाता है कि धनवान् लोगो को तो वे सुविधाये पहले से ही प्राप्त होती है जिनके अभाव मे दुराचारी लोग दुराचार करने के लिये प्रवृत्त होते है, यही कारण है कि वे 'सज्जन' और 'विख्यात' पुरुष कहे जाते है। और क्योकि श्रेष्ठजनतत्र श्रेष्ठ नागरिको को ही प्रमुखता प्रदान करता है, अतएव धनिकतत्र के विषय मे भी लोग यह कहने लगते है कि वह भी सज्जनो अथवा श्रेष्ठजनो का ही तत्र है। यह बात तो असभव प्रतीत होती है कि जो नगर श्रेष्ठ जनो से शासित नही होता प्रत्युत दीन-हीन (निर्धन) जनो से शासित होता है, सुशासित (अच्छे नियमोवाला) हो, इसी प्रकार यह भी समानरूपेण असभव है कि जिस नगर मे सुशासन (सुनियमितता) न हो उसमे श्रेष्ठजनतत्र की सत्ता हो। जिन अच्छे नियमो का वास्तव मे पालन नही किया जाता उन नियमो की स्थापनामात्र से सुशासन (सुनियमितता) की उपलब्धि नही हो सकती। सुशासन (सुनियमितता) का एक अर्थ तो समझा जाना चाहिये विहित (स्थापित) नियमो का पालन, तथा दूसरा अर्थ समझा जाना चाहिये यह कि जो नियम मनुष्यो को पालने है वे भले प्रकार से विधान (स्थापित) किये गये है, वैसे (कुविहित नियमो का भी पालन किया जाना (सभव) है ही।) इस (सुनिर्मित नियम वाले) विकल्प के भी दो विभाग सभव है, एक तो यह कि मनुष्य ऐसे नियमो का पालन करे जो (सापेक्षतया) उनके लिये श्रेष्ठ है और दूसरा यह कि ऐसे नियमो (=कानूनो) का पालन करे जो निरपेक्षतया (परमार्थत) श्रेष्ठ है।

सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि शासन-पदो का योग्यतानुसार विभाजन श्रेष्ठजनतत्र का विशेष लक्षण है, क्योकि योग्यता ठीक इसी प्रकार श्रेष्ठजनतत्र की कसौटी है जिस प्रकार सम्पत्ति धनिकतत्र की एव स्वतत्रता जनतत्र की। बहुमत द्वारा

निर्णय करने का नियम तो सभी प्रकार के विधानो मे पाया जाता है, एव धनिकतत्र, श्रेष्ठजनतत्र तथा जनतत्र सब मे ही जो लोग राज्य-शासन मे भाग पाये होते है उनके बहुमत का निर्णय समानरूपेण अन्तिम और सर्वोपरि होता है। बहुत से नगरो मे 'व्यवस्था' नामक शासन-पद्धति के प्रकार को ही शोभन नाम दे दिया जाता है, क्योकि इस प्रकार जो मिश्रित पद्धति प्रस्तुत की जाती है उसका लक्ष्य केवल धनी और निर्धन--अथवा सम्पत्ति और स्वतत्रता का सश्लेषण करना मात्र होता है, पर अधिकाश लोगो की सम्मति मे सम्पत्तिशाली लोग ही भद्र पुरुषो का स्थान ग्रहण कर लेते है। [और जिस व्यवस्था मे ये लोग इस प्रकार सम्मिलित कर लिये जाते है उसको "श्रेष्ठजनतत्र" ऐसा शोभन नाम दे दिया जाता है।--बार्कर] और क्योकि वास्तव मे मिश्र शासन-व्यवस्था मे समान भाग का दावा करनेवाले तीन तत्त्व---स्वाधीनता, सम्पत्ति और सद्वृत्ति---होते है (चौथा तत्त्व, जो कुलीनता कहलाता है, वह तो उपर्युक्त अन्तिम दो तत्त्वो का परिणाम है, चिरन्तन सम्पत्ति-शालिता और सद्वृत्ति का मिश्रण ही तो कुलीनता है,) अत यह स्पष्ट है कि केवल दो तत्त्वो के मिश्रण को---सधन और निर्धन के मिश्रण को---"व्यवस्था" का नाम देना चाहिये, एव तीनो के मिश्रण के लिये "श्रेष्ठजनतत्र" नाम का व्यवहार करना चाहिये---प्रथम एव सच्चे श्रेष्ठजनतत्र (जिसमे केवल सद्वृत्त और योग्यता पर ही ध्यान दिया जाता है) को छोडकर यह (तीनो तत्त्वो के मिश्रणवाली) शासन-पद्धति अन्य तथाकथित[२] सब श्रेष्ठजनतत्रो से बढकर है।

इस प्रकार हमने दिखला दिया कि एकराजतत्र, जनतत्र एव धनिकतत्र के अतिरिक्त शासन-पद्धतियो के और भी प्रकार होते है, और इन प्रकारो का स्वरूप कैसा होता है, श्रेष्ठजनतत्रो मे परस्पर क्या अन्तर है तथा "व्यवस्थाओ" और "श्रेष्ठजनतत्रो मे क्या भेद है और (अन्त मे यह भी दिखला दिया) यह दोनो (व्यवस्था एव श्रेष्ठ-जनतत्र) परस्पर बहुत भिन्न (दूरवर्ती) नही है।

टिप्पणियाँ

१. ग्रीक भाषा में पौलितेइया शब्द का अर्थ है नगर की व्यवस्था अथवा शासन। यह शब्द पौलिस=नगर शब्द से बना है। प्लातोन की सुविख्यात पुस्तक जिसको अंग्रेजी रिपब्लिक नाम दे दिया गया है ग्रीक भाषा मे "पौलितेइया" नाम से पुकारी

जाती है। पर अरिस्तू ने प्रस्तुत खंड में इस शब्द का प्रयोग इस सामान्य अर्थ में नहीं प्रत्युत एक विशिष्ट शासन-व्यवस्था के अर्थ में किया है।

२. अर्थात् कार्थेज और स्पार्टा में प्रचलित श्रेष्ठजनतंत्र से।

९

पौलितेइया अथवा व्यवस्था नामक पद्धति

इसी विवेचन-क्रम मे अब हमको यह विचार करना है कि "व्यवस्था" नामक शासन-पद्धति जनतत्र और धनिकतत्र के साथ किस प्रकार उत्पन्न होती है और इसका सघटन किस ढग से किया जाना चाहिये। इस विवेचन के द्वारा वे लक्षण भी एकदम स्पष्ट हो जायँगे जो जनतत्र और धनिकतत्र की सीमा को निर्दिष्ट करते है, क्योकि प्रथम तो हमको इन दोनो पद्धतियो के भेदो को निर्धारित करना होगा और तत्पश्चात् दोनो मे से उनके पूरकाशो (टल्लियो) को लेकर एक नवीन सयोग घटित करना पडेगा। इस प्रकार के सयोजन अथवा समिश्रण के तीन ढग है। प्रथम ढग तो यह देखने से मालूम हो जायगा कि यह दोनो शासन-पद्धतियाँ नियम अथवा कानून किस प्रकार बनाती है—उदाहरण के लिये न्याय-वितरण के नियम किस प्रकार बनाती है। धनिकतत्रो मे धनिक लोग यदि न्यायालय मे न्याय-वितरण के लिये उपस्थित न हो तो उनको दण्ड भरना पडता है और निर्धन लोगो को (न्याय-वितरण के लिये) कोई वेतन नही मिलता। पर जनतत्रो मे निर्धन लोगो को इस कार्य के लिये वेतन मिलता है और धनवानो को दण्ड नही भरना पडता। इन दोनो प्रकारो का सयोग इन दोनो मे समानरूपेण उपलब्ध उनकी मध्यवर्ती मीमा होगी, जो कि व्यवस्था-पद्धति का लक्षण होगी क्योकि यह पद्धति इन दोनो पद्धतियो का सम्मिश्रण है। इस प्रकार दोनो के सम्मिश्रण का एक ढग तो यह है। दूसरा ढग दोनो के (विभिन्न) नियमो के मध्य की स्थिति या औसत को निकाल लेना है। उदाहरणार्थ एक (=जनतत्र) पद्धति तो परिषद् की सदस्यता के लिये या तो कुछ भी साम्पत्तिक योग्यता की शर्त्त नही रखती अथवा स्वल्प सम्पत्ति की योग्यता निर्धारित करती है, जब कि दूसरी (=धनिकतत्र) पद्धति अधिक सम्पत्ति की योग्यता नियत करती है। इन दोनो नियमो से कोई उभय-निष्ठ नियम प्राप्त नही हो सकता अतएव दोनो के बीच मे औसत निकालना पडेगा। तोसरा ढग यह है कि कुछ नियम तो धनिकतत्र मे से ले लिये जायँ और कुछ प्रजातत्र मे से और इस प्रकार दोनो का समिश्रण प्रस्तुत कर दिया जाय। उदाहरणार्थ शलाका-

ग्रहण[1] द्वारा शासको की नियुक्ति जनतत्रात्मक नियम समझा जाता है एव मतदान द्वारा उनका चुनाव धनिकतत्रात्मक। और फिर (किसी पद के लिये) साम्पत्तिक योग्यता का न होना जनतत्रात्मक माना जाता है तथा साम्पत्तिक योग्यता का होना धनिकतत्रात्मक समझा जाता है। अतएव श्रेष्ठजनतत्र अथवा "व्यवस्था"नामक शासन-पद्धति के लिये इन प्रत्येक पद्धतियो मे से एक एक तत्त्व ग्रहण कर लेना उपयुक्त होगा—अर्थात् धनिकतत्र मे से शासको के निर्वाचन का नियम तथा प्रजातंत्र में से साम्पत्तिक योग्यता के न होने का नियम। इनके सम्मिश्रण के प्रकार यही (उपर्युक्त) हैं।

जनतत्र और धनिकतत्र का मिश्रण सुमिश्रण तो तब कहा जा सकता है जब कि ऐसी व्यवस्था को निर्विशेष भाव से जनतत्र अथवा धनिकतत्र दोनों नामो में से किसी से भी अभिहित करना सभव हो। स्पष्ट है कि जब कहनेवाले दोनो नामो को सहन कर लेते है तो ऐसा सम्मिश्रण की अच्छाई के कारण ही हो सकता है। सामान्यतया यह बात दो विप्रकृष्ट छोरो की मध्यवर्ती स्थिति के विषय मे कही जा सकती है, मध्यवर्तिनी स्थिति मे दोनो आत्यन्तिकी सीमाओ की झलक पाई जा सकती है। उदाहरण-स्वरूप लाकैदायमॉन् (स्पार्टा) की व्यवस्था को ले सकते है जिसको बहुत से लोग जनतत्र कहते है, क्योकि उसमे जनतंत्र-पद्धति के बहुत से तत्त्व उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ पहले बच्चो के पालन-पोषण के विषय मे ही (यह देखा जाता है कि) धनी लोगो के बच्चो का पोषण भी निर्धनों के बच्चो के समान ही होता है तथा धनवानो के बालको को ऐसे प्रकार से शिक्षा दी जाती है जिससे धनहीनों के बच्चे भी उनके समान शिक्षा पा सकें। बाल्यकाल के पश्चात् कुमारावस्था मे भी इसी नीति का अनुसरण किया जाता है, एव जब वे पूर्ण वयस्क मनुष्यता को प्राप्त हो जाते हैं तब भी यही पद्धति चालू रहती है। धनवान् और निर्धन के बीच कोई भेदभाव नही बरता जाता। सह-भोजों मे सबके लिये एक-सा भोजन मिलता है, तथा धनवानो के वस्त्र भी ऐसे होते हैं जैसे कि निर्धन लोग भी अपने लिये प्रस्तुत करा सकते है। स्पार्टा को जनतत्र मानने का दूसरा आधार यह है कि राष्ट्र की सर्वोच्च (महत्तम) परिषदो मे से एक के लिये साधारण जनता को प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है तथा दूसरी मे भाग लेने का अधिकार है, क्योकि वे वृद्ध-परिषद् के लिये प्रतिनिधि चुन सकते है और निरीक्षक सभा मे भाग ले सकते हैं। दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे भी है जो इस (स्पार्टा) की शासन-पद्धति को इस कारण धनिकतत्र कहते हैं कि इसमे धनिकतत्र के बहुत से तत्त्व पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ सभी शासन-पदाधिकारी चुनाव द्वारा नियुक्त किये जाते है, शलाकाग्रहण द्वारा नही, फिर मृत्युदण्ड एव निर्वासदण्ड का अधिकार थोडे से ही

(धनिक) लोगो के हाथ मे है, एव इसी प्रकार अन्य भी बहुत-सी बाते है। सुमिश्रित व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि उसमे दोनो प्रकार (जनतत्र और धनिकतत्र) के तत्त्व प्रतीत हो और दोनो ही न हो, तथा उसकी स्थिरता उसकी अपनी (आन्तरिक) शक्ति पर निर्भर होनी चाहिये न कि बाह्य सहायता पर, एव उसकी अपनी आन्तरिक शक्ति का आधार भी यह तथ्य नही होना चाहिये कि बहुमत उसके अनुकूल है (क्योकि ऐसी स्थिति तो हीन कोटि की व्यवस्था मे भी भले प्रकार सभव है) प्रत्युत यह तथ्य होना चाहिये कि सारे राष्ट्र का कोई अग ऐसा न हो जो कि अन्य प्रकार की व्यवस्था को चाहता हो।

"व्यवस्था" नामक शासन-पद्धति एव मिश्र पद्धतियो के अन्य प्रकारो का, जो कि श्रेष्ठजनतत्र है, सघटन किस प्रकार से होना चाहिये, अब हम इसका वर्णन कर चुके।

टिप्पणियाँ

१. पूरकांश अथवा टल्लियो (=tallies) के लिये मूल ग्रीक भाषा में "सीम्बौलोन्" शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन काल में ग्रीक लोगों में यह प्रथा प्रचलित थी कि आपस में किसी प्रकार का ठहराव करनेवाले पक्ष एक मुद्रा (=सिक्के) को तोड़कर दो टुकडे कर लेते थे और प्रत्येक पक्ष एक खड को अपने पास रखता था। यह दोनों खंड एक दूसरे के पूरक होते थे। प्रस्तुत प्रसंग में जनतत्र और धनिकतत्र में से ऐसे पूरकांशो को ग्रहण करना है जिनसे पौलितेइया नामक व्यवस्था को प्रस्तुत किया जा सके।

२. "शलाकाग्रहण" के लिए मूल में क्लेरॉस् एवं उसके अन्य समासो का प्रयोग हुआ है। अत्यन्त प्राचीन काल में इसके लिए गुटिका अथवा टहनी अथवा ककड का प्रयोग होता था। कालान्तर में इसी कार्य के लिए पाँसे का भी उपयोग होने लगा था।

१०

तानाशाही शासन पद्धति

अभी तानाशाही का वर्णन करना मेरे लिये शेष है। यद्यपि इसके विषय मे कहने के लिये सारवान् तत्त्व कुछ अधिक नही है, फिर भी क्योकि इसको भी हमने व्यवस्थाओ के भेदो मे परिगणित किया है, अतएव इसे भी हमारे विवेचन मे अपना उचित स्थान मिलना ही चाहिये। राजकीय शासन (जिसका विकृत रूप यह तानाशाही है) का वर्णन तो हम इस पुस्तक के पूर्वभाग मे कर चुके है। वहाँ पर इसके परीक्षण के सिलसिले

मे हमने राजकीय शासन का विवेचन इस शब्द के सामान्यतम अर्थ के अनुसार किया था, और यह विचार किया था कि यह शासन-पद्धति (नगर) राष्ट्रो के लिए लाभदायक है अथवा नही, राजकीयता किस प्रकार की होनी चाहिये (अर्थात् राजा किस प्रकार का व्यक्ति होना चाहिये) कहाँ से (=किस उद्गम से) उसकी स्थापना की जानी चाहिये, और किस प्रकार से स्थापना की जानी चाहिये।

राजकीयता के विवेचन मे हमने तानाशाही के दो प्रकारो का भी विवरण प्रस्तुत किया था, क्योकि वे दोनो ही प्रकार नियमानुसार सचालित शासन-पद्धतियो के भेद होने के कारण राजकीय शासन-पद्धति के स्थान को ग्रहण करते प्रतीत हो सकते थे (अथवा उनके और राजकीय शासन के स्वरूपो मे व्यभिचार हो सकता था)। यह दो प्रकार निम्नलिखित थे —एक तो कतिपय बर्बर जातियो मे पाये जानेवाले निर्वाचित किन्तु सर्वसत्ताधारी एकच्छत्र राजा लोग और दूसरे इसी प्रकार के एकच्छत्र राजा लोग जो कि अइसिम्नेती[१] (तानाशाह) कहलाते थे और प्राचीन काल मे पुरातन हैला (ग्रीक) जाति मे पाये जाति थे। परस्पर तुलना करने पर इन दोनो प्रकारो मे कुछ भेद भी पाये जाते थे, पर वे इस कारण तो राजकीय पद्धति (जैसे) थे कि शासन नियमाश्रित होता था और सहमत प्रजाजनो के ऊपर किया जाता था लेकिन क्योकि शासन पूर्ण प्रभुत्व के ढग से और एकमात्र शासक की स्वेच्छा के अनसार होता था अतएव तानाशाही प्रकार का भी था। पर तानाशाही का एक तीसरा प्रकार भी है जो कि इस शब्द से अत्यन्त सामान्यतया समझा जाता है, यह प्रकार श्रेष्ठ राजकीय शासन-पद्धति का बिलकुल उलटा है। यह तानाशाही अनिवार्यतया वहाँ होती है जहाँ कि कोई एकाधिपत्य-धारी व्यक्ति (तानाशाह) अपने समान अथवा अपने से भी उच्च (अधिक अच्छे) व्यक्तियो पर, बिना किसी उत्तरदायित्व की भावना के केवल अपनी सुविधा (लाभ) की दृष्टि से शासन करता है, न कि शासितो के हितो की दृष्टि से। अतएव वह उनपर उनकी इच्छा के विरुद्ध शासन करता है। कोई भी स्वतत्र व्यक्ति स्वेच्छा-पूर्वक ऐसे शासन को सहन नही करेगा।

हमारे द्वारा ऊपर बतलाये गये कारणो से तानाशाही के प्रकार यही है और इतने ही है।

टिप्पणियाँ

१. अइसि(सु)म्नेतेस् शब्द का अर्थ है प्रजाजनो द्वारा चुना हुआ शासक अथवा न्यायाधीश। यह शासक नियमानुसार शासन करते थे और प्रजाजन भी इनके शासन से सन्तुष्ट ही रहते थे।

कुल मिलाकर तीन प्रकार के तानाशाही शासक होते थे--

(१) बर्बर जातियो पर शासन करनेवाले चुने हुए तानाशाह।

(२) हैला जाति (ग्रीक जाति) पर शासन करनेवाले तानाशाह।

(३) मनमाना स्वेच्छाचारी शासन करनेवाले तानाशाह।

११
श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था तथा श्रेष्ठ जीवन

अब हमको यह विचार करना है कि अधिकाश नगर-राष्ट्रो के लिये तथा अधिकाश मनुष्यो के लिये श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था और श्रेष्ठ जीवन किस प्रकार का (हो सकता) है।[१] इस विवेचन मे हम न तो सामान्य मनुष्य की पहुँच से परे की सद्‌वृत्ति (उत्तमता) को ही मानकर चलेगे, न ऐसी शिक्षा को ही मानकर चलेंगे जिसके लिये विशिष्ट प्रकार की नैसर्गिक योग्यता एव सौभाग्य-सम्पदा आवश्यक होती है और न ऐसी शासन-व्यवस्था को ही स्वीकार करके चलेगे जो प्रार्थयितव्य ही रहती है, प्रत्युत ऐसे ही जीवन का विचार दृष्टि मे रखेगे जिसके भागीदार अधिकाश मनुष्य हो सकते है, तथा ऐसे ही प्रकार की शासन-व्यवस्था का विवेचन करेगे जिसका उपभोग बहुत से राष्ट्र समान रूप से कर सकते है। जहाँ तक तथाकथित श्रेष्ठजनतत्रो का सबध है, जिनका हम अभी वर्णन कर रहे थे, वे या तो एक ओर बहुत से नगर-राष्ट्रो की पहुँच की सभावना से परे रहते है, अथवा दूसरी ओर व्यवस्था नामक शासन-पद्धति के अत्यन्त समीप पहुँच जाते है, अतएव दोनो को एक ही समझा जाना चाहिये और उनका विवेचन पृथक् पृथक् नही किया जाना चाहिये। इन सब विषयो के सबध मे अन्तिम निर्णय एक ही आधारभूत सिद्धान्तो पर निर्भर (आश्रित) है। यदि हम सदाचार-दर्शन मे वर्णित सिद्धान्तो को सत्य मानें कि अबाध सद्‌वृत्ति[२] के अनुसरण मे बिताया हुआ जीवन ही सुखी जीवन है, और सद्‌वृत्ति (अनतिगामी) मध्यम[३] (-मार्ग) है तो यह निष्कर्ष निष्पन्न होगा कि मध्यममार्ग का अनुसरण करनेवाला जीवन ही अनिवार्य-तया श्रेष्ठ जीवन है, और यह मध्यममार्ग भी ऐसा है जिसको प्राप्त कर लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिये सभव है। और जो लक्षण नागरिकसमाज के जीवन की सद्‌वृत्ति अथवा दुर्वृत्ति का निर्धारण करने मे देखे जाते है वही नगर की शासन-पद्धति मे भी देखे जाने चाहिये क्योकि शासन-पद्धति नागरिक समुदाय की जीवन-पद्धति ही तो है।

सब नगर-राष्ट्रो मे नागरिक-समुदाय मे तीन खड अथवा वर्ग पाये जाते है--(एक) अत्यन्त सम्पन्न, (दूसरे) अत्यन्त निर्धन और (तीसरे) इन दोनो के बीच का

मध्यवित्त-वर्ग। यह बात सर्वसम्मत है कि परिमितता और मध्यमस्थिति सर्वोत्तम है, अतएव यह स्पष्ट है कि सौभाग्य-सपदा के वरदानो को परिमित मात्रा मे प्राप्त करना सर्वश्रेष्ठ बात होगी। जो मनुष्य ऐसी (मध्यम) स्थिति मे होते है वह विवेक की आज्ञा को सरलता से पालन करनेवाले होते है। पर जो लोग अत्यन्त रूपवान्, बलवान्, उदारजन्मा, अथवा धनवान् होते है—अथवा दूसरे सिरे पर अत्यन्त निर्धन, निर्बल अथवा नितान्त निरादृत होते है, वे कठिनता से ही विवेक का अनुसरण कर पाते है। इन दोनो प्रकारो मे से प्रथम प्रकार के मनुष्यो का झुकाव बलात्कारो एव महान् अपराधी बनने की ओर अधिक होता है, तथा दूसरे प्रकार के मनुष्यो की प्रवृत्ति धूर्तता और तुच्छ अपराधो की ओर अधिक होती है। और अधिकाश अपराध या तो बलात्कार के कारण उत्पन्न होते है या धूर्तता के कारण। और फिर मध्यमवर्ग के शासन-कार्य से सकुचाने अथवा उसके विषय में अत्युत्सुक होने की भी सभावना बहुत कम है, और यह दोनों प्रवृत्तियाँ (सकुचाना अथवा अत्युत्सुक होना) राष्ट्र के लिये सैनिक और नागरिक-शासन के क्षेत्र मे हानिकारक है।* तथा फिर जो लोग बल, सम्पत्ति, मित्र, एव इसी प्रकार के अन्य सौभाग्यातिशयो का उपभोग अत्यधिक मात्रा मे करते है वे न तो आज्ञाकारिता (आज्ञापालन करने) के इच्छुक ही होते है और न ऐसा करना जानते ही हैं। एव यह (दोष) उनमे सीधे उनके बालकपन मे ही घर से ही आरभ हो जाता है, विलास-दुर्ललित होने के कारण वे (विद्यालय मे) शिक्षा के सबध में भी अनुशासन (अथवा आज्ञाकारिता) की आदत नही प्राप्त करते। दूसरी ओर जो लोग अभावातिशय से पीडित है उनमे भी दोष पाये जाते है—वे अत्यन्त दीन-हीन होते है। इस प्रकार, एक-ओर तो वे लोग है जो शासन करना नही जानते किन्तु केवल दासो के समान शासित होना ही जानते है, दूसरी ओर वे लोग है जो किसी प्रकार के अधिकारियो की आज्ञा को मानना नही जानते, केवल (दासो के ऊपर) प्रभु के समान शासन करना ही जानते है। परिणाम-स्वरूप नगर-राष्ट्र केवल दासो और स्वामियो का नगर हो जाता है (न कि स्वाधीन मनुष्यो का)—एक ओर से (अर्थात् निर्धन पक्ष की ओर से) ईर्ष्या और दूसरी ओर से (अर्थात् सम्पन्नपक्ष की ओर से) घृणा (तिरस्कार) का नगर हो जाता है, जो मित्रता और सभ्य नागरिक समाज की भावना से बहुत ही दूर की चीज है। सामाजिकता तो मित्रता पर निर्भर होती है, तथा जब मनुष्य एक दूसरे से घृणा करते है तो परस्पर एक साथ एक राह पर तक नही चलना चाहते। नगर का लक्ष्य तो यथासंभव एक बराबर और एक से मनुष्यो का समाज होता है (अथवा होना चाहिये) और मध्यवित्त लोगो में ही ऐसा होना सबसे

अधिक सभव है। अतएव यह निष्कर्ष सिद्ध हुआ कि जो नगर मध्यम वर्ग पर आश्रित होता है वह उन तत्त्वो की दृष्टि से (जो कि हमारे मत मे नगर के नैसर्गिक सघटक हैं) अवश्य ही श्रेष्ठ नगर होगा। यह मध्यवित्त-वर्ग नगर मे अन्य वर्गों की अपेक्षा सबसे अधिक सुरक्षित रहता है, क्योकि वे न तो निर्धन लोगो के समान अन्य लोगो की सम्पत्ति की स्पृहा ही करते है और न जिस प्रकार निर्धन लोग सम्पन्न लोगो की सम्पदा की लालसा करते है उस प्रकार अन्य लोग इन मध्यवित्त लोगो की सम्पत्ति के लिये लालायित रहते है। न तो यह स्वय किसी के विरुद्ध (प्रतारणा का) षड्यत्र रचते है और न दूसरो के द्वारा इनके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा जाता है, अतएव यह लोग निर्भय जीवन-यापन करते हैं। इस कारण हम फोकिलिदीस[1] की इस प्रार्थना की भली भाँति प्रशसा कर सकते है कि,

"मध्यमार्ग मे बहुत भलाई। चहूँ नगर में मध्यमताई।"

तब, यह बात तो स्पष्ट हो गई कि श्रेष्ठ नागरिक समाज वह है जो मध्य स्थिति-वाले नागरिको द्वारा घटित होता है और यह स्पष्ट हो गया कि उत्तम शासन की संभावना भी उन्ही नगर-राष्ट्रो मे अधिक है जिनमे मध्यमवर्ग बडा होता है—और यदि सभव हो सके तो अन्य दोनो वर्गों से अधिक शक्तिशाली होता है, और नही तो कम-से कम उन दोनो से पृथक् पृथक् तो अधिक बड़ा होता ही है, क्योकि ऐसी स्थिति मे मध्यमवर्ग किसी भी पक्ष से मिलकर पलडा उसकी ओर झुका देता है और किसी भी अतिगामी विरोधी पक्ष को प्रबल हो जाने से रोक सकता है। अत यह परम सौभाग्य की बात है कि किसी राष्ट्र के नागरिको के पास परिमित (मध्यम) मात्रा मे पर्याप्त सम्पत्ति हो। क्योकि जब कुछ लोगो के पास बहुत अधिक धन होता है और अन्य कुछ के पास कुछ नही होता तो परिणाम या तो परले सिरे का जनतत्र होता है अथवा विशुद्ध धनिकतत्र–, अथवा इन दोनो आत्यन्तिकी अवस्थाओ से (इन दोनो की प्रतिक्रिया-स्वरूप, परोक्षरूपेण) स्वेच्छाचारिता (=तानाशाही) का जन्म हो सकता है। तानाशाही का जन्म तरुणतम (अत्यन्त उद्धत) जनतत्र से भी हो (सक) ता है और धनिक तत्र से भी, पर मध्य स्थितिवाले शासन-तत्रो अथवा उनके समीपतम शासन-तत्रो से इसकी उत्पत्ति की सभावना बहुत कम है। इसका कारण हम आगे चलकर राष्ट्रो के परिवर्तनो का वर्णन करते हुए बतलाएँगे।

यह स्पष्ट बात है कि राष्ट्रो की मध्यम स्थिति ही श्रेष्ठ स्थिति है, क्योकि एक-मात्र यही स्थिति ऐसी है जो प्रतिद्वन्द्वी दलबन्दी से मुक्त है, जिस राष्ट्र मे मध्यवित्त-

वर्ग बहुत बड़ा होता है उस राष्ट्र के नागरिको मे द्वन्द्व और कलह की सभावना बहुत कम होती है। बडे बडे राष्ट्र इसीलिए द्वन्द्व से अपेक्षाकृत अधिक मुक्त होते है क्योकि उन मे मध्यम वर्ग बहुत बडा होता है, जब कि (इसके विपरीत) छोटे राष्ट्रो मे सब जनता का केवल दो दलो—निर्धन और धनवान् मे विभक्त हो जाना और दोनो दलो के मध्य मे कुछ न रह जाना—बडी सरल बात है। और जनतत्र जो धनिकतत्र की अपेक्षा अधिक सुदृढतया सुरक्षित और अधिक काल तक स्थायी रहता है उसका कारण भी यही मध्यमवर्ग है जो कि जनतत्र शासन-पद्धति मे बहुसख्यक होता है और धनिकतत्र पद्धति की अपेक्षा अधिक शासनाधिकार का उपभोग करता है। जिन जनतत्रो मे मध्यम वर्ग नही होता और वित्तहीन जनता की सख्या बढकर बहुत अधिक हो जाती है तो असफलता का जन्म होता है और सर्वनाश सत्वर ही आ उपस्थित होता है। इस वर्ग की महत्ता का एक प्रमाण यह भी है कि श्रेष्ठ नियम-निर्माता (अथवा स्मृतिकार) मध्यवित्त-वाले वर्ग मे ही उत्पन्न हुए हैं। सौलॉन् (जैसा कि उसकी कविता से प्रकट होता है) इन्ही में से एक था; दूसरा लीकरगॉस् था (वह, जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है, राजा नही था); यही बात खारौन्दास और बहुत से अन्य नियमनिर्माताओ के विषय मे भी ठीक है।[६]

इन उपर्युक्त विचारो से यह बात स्पष्ट समझ मे आ जायगी कि अधिकाश शासन-पद्धतियाँ क्योकर या तो जनतत्रात्मक होती है और या धनिकतत्रात्मक। प्रथम तो ऐसा इस कारण से होता है कि बहुधा राष्ट्रो मे मध्यमवर्ग बहुत छोटा होता है, अतएव परिणाम यह होता है कि जब कभी मुख्य वर्गो मे से कोई एक अथवा दूसरा—सम्पत्ति-शालीवर्ग अथवा (साधारण) जनवर्ग—प्रबल हो उठता है तो वह मध्यम स्थिति का अतिक्रमण कर जाता है एव अपने स्वभावानुसार विधान-व्यवस्था बनाकर या तो जनतत्र की स्थापना करता है अथवा धनिकतत्र की। दूसरा कारण यह है कि साधारण जनवर्ग और सम्पत्तिशाली वर्ग के बीच मे शीघ्र ही दलगत कलह और झगडे उत्पन्न हो जाते हैं और फिर चाहे कोई भी दल बलवान् क्यो न हो (चाहे जिस दल की विजय हो) वह सर्वहितकारी व्यवस्था की स्थापना नही करता और समता के सिद्धान्त पर आश्रित व्यवस्था की ही स्थापना करता है, प्रत्युत राजनीतिक प्राधान्य को ही विजयोपहार मानकर, (अपने अपने सिद्धान्तानुसार) या तो जनतत्र का निर्माण करता है या धनिक-तत्र का। फिर हैलेनीस जाति मे जिन दो राष्ट्रो (अथेन्स और स्पार्टा) का प्राधान्य रहा उनकी नीति भी निन्दायोग्य रही है। इनमे से प्रत्येक ने अपनी अपनी नीति पर ध्यान दिया है, एक ने अपने अधीन राष्ट्रो में जनतत्र की स्थापना की है, दूसरे ने

(स्पार्टा ने) धनिकतत्र की, उन्होने जनता के हितो को नही देखा प्रत्युत अपने पृथक् पृथक् हितो पर ही दृष्टि रक्खी।[७] इन कारणो से यह बात समझ मे आ जाती है कि क्योकर मध्यमवर्ग की शासन-पद्धति कभी स्थापित नही हो सकी, अथवा यदि हो भी सकी तो बहुत थोडे अवसरो पर और बहुत थोडे से राष्ट्रो मे। ... अब तक जितने मनुष्यो को (हैलेनीस जाति मे) प्रभुत्व प्राप्त हुआ है उनमें से एक और केवल एक ही व्यक्ति ऐसा हुआ है जिसने इस प्रकार की शासन-पद्धति की स्थापना के लिये अपने को सहमत होने दिया था।[८] और अब तो प्रत्येक राष्ट्र (अथवा राष्ट्र के नागरिको) का यह स्वभाव बन गया है कि वे समानता को चाहते तक नही प्रत्युत या तो वे दूसरो पर आधिपत्य जमाना चाहते हैं, या (यदि पराजित हो गये तो) चुपके से अधीनता स्वीकार कर लेते है।

(अधिकाश राष्ट्रो के लिए) सर्वोत्तम प्रकार की शासन-पद्धति कौन-सी है और और उसके सर्वोत्तम होने के क्या कारण है, यह बात उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो गई। और क्योकि अब, जब कि हमने एक बार यह निश्चय कर लिया है कि कौन-सी पद्धति सर्वश्रेष्ठ है, अन्य सब शेष प्रकार की पद्धतियो को (जनतत्र और धनिकतत्र दोनो ही के उन विविध प्रकारो के सहित, जिनका वर्णन हम पहले ही कर चुके है) लेकर उनके गुणो की अपेक्षाकृत अच्छाई और बुराई के अनुसार उनको—प्रथम, द्वितीय इत्यादि क्रमकोटि मे व्यवस्थित करना कोई कठिन कार्य नही होगा। यदि हम विशेष परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर विचार (परीक्षण) न करे प्रत्युत सामान्य दृष्टि से ही विवेचना करे तो वह पद्धति अन्य सब पद्धतियो की अपेक्षा अधिक अच्छी होगी जो कि श्रेष्ठ पद्धति के समीपतम है तथा जो मध्यम स्थिति से नितान्त विप्रकृष्ट है वह सर्वदा अन्य पद्धतियो से अपेक्षाकृत बुरी होगी। "विशेष परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए" इस वाक्याश का प्रयोग मैंने इसलिये किया है कि बहुधा ऐसा होना सभव है कि किसी विशेष परिस्थिति मे अथवा विशिष्ट लोक-समूह के लिए) एक प्रकार की पद्धति अपेक्षाकृत अधिक वरणीय हो पर तो भी किसी दूसरी ही पद्धति को उनके लिये अधिक उपयक्त होने से कोई न रोक सके।

टिप्पणियाँ

१. अरिस्तू प्लातोन की अपेक्षा यथार्थवादी है अतएव उसको सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक शासन-पद्धति का विवेचन आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। पर साथ ही साथ वह इस प्रकार की व्यवस्था का संबंध जीवन-पद्धति से जोड़ता है।

२. अर्थात् जब सद्वृत्तिमय जीवन बिताने के मार्ग में निर्धनता, रोग एवं अन्य भौतिक अभावों की बाधाएँ न हों।

३. सद्वृत्ति का मार्ग मध्यममार्ग है जो अनतिगामी है। अरिस्तू "अति सर्वत्र वर्जयेत्" का पोषक है। प्रत्येक सद्गुण मर्यादा का अतिक्रमण करके दुर्गुण बन जाता है।

४. सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक शासन-पद्धति में, अरिस्तू के मतानुसार मध्यमवर्ग का प्राधान्य होगा क्योकि मध्यमवर्ग सब प्रकार की अतिगामी प्रवृत्तियों से मुक्त होता है।

५. फोकिलिदी(दे)स् मिलैतस् का निवासी था और स्यात् ई० पू० ६ठी शताब्दी में हुआ था। इसकी स्फुट कविता आजकल थोड़ी मात्रा में उपलब्ध होती है। इसने अपनी स्फुट रचनाओ में सर्वत्र अपना नाम डाला है।

६. इन सब नियम-निर्माताओं अथवा स्मृतिकारों का परिचय पीछे टिप्पणियों में दिया जा चुका है।

७. इन विचारों से स्पष्ट लक्षित होता है कि अरिस्तू दलगत राजनीति की अपेक्षा सर्वोदयी विचारधारा का पक्षपाती है।

८. केवल एक व्यक्ति जिसकी ओर यहाँ संकेत किया गया है कौन था। इस विषय में न्यूमैन ने थेरामेनेस् का नाम बतलाया है। यह व्यक्ति ई० पू० ४११ के लगभग अथेन्स में मध्यमार्गी नेता था। इसने अथेन्स में शासनसत्ता ऐसे ५००० व्यक्तियो में निहित करने का प्रस्ताव रखा जो अपने को अपने व्यय से शस्त्रास्त्र से सज्जित करने की क्षमता रखते हों। पर इसको अथेन्स के शासन में प्रभुत्व प्राप्त नहीं था।

बार्कर ने अन्तिपातेर का नाम सुझाया है जो अलेक्ज़ाण्डर के विजयाभियान-काल में ग्रीस में उसके स्थान पर शासक नियुक्त किया गया था। यह अरिस्तू का मित्र भी था। पर इसने उपर्युक्त प्रकार की व्यवस्था अरिस्तू की मृत्यु के पश्चात् स्थापित की थी। पर संभव है कि अरिस्तू ने अपने जीवन-काल में उसको उपर्युक्त प्रकार की व्यवस्था को स्वीकार कर लेने के लिये मना लिया हो।

१२

गुण और मात्रा का संतुलन

हमारी योजना के अनुसार अब इसके उपरान्त जिस प्रश्न पर विचार करना है वह यह है कि "कौन से और किस प्रकार के मनुष्यो के लिए कौन सी और किस प्रकार की शासन-पद्धति उपयुक्त होती है?"[१] सर्वप्रथम हमको इस व्यापक सिद्धान्त को मान लेना चाहिये कि किसी भी राष्ट्र में किसी शासन-पद्धति (व्यवस्था) के स्थायित्व की

इच्छा करनेवाला (लोगो का) भाग उसका स्थायित्व न चाहनेवालो की अपेक्षा अधिक बलवान् होना चाहिये। प्रत्येक नगर-राष्ट्र की सघटना (रचना) मे गुण और मात्रा (Quality और Quantity) दोनो का योग होता है। "गुण" से मेरा तात्पर्य स्वतत्रता, सम्पत्ति, शिक्षा एव सत्कुलोद्भवता से है एव "मात्रा" से मेरा तात्पर्य सख्या की अधिकता (प्रमुखता) से है। ऐसा होना सभव है कि नगर-राष्ट्र के घटक अगो मे से गुण की सत्ता एक अग मे हो तथा मात्रा की दूसरे मे। उदाहरणार्थ निम्न श्रेणी मे उत्पन्न हुए लोगो की सख्या सत्कुलोत्पन्न लोगो की अपेक्षा अधिक हो सकती है अथवा निर्धन लोग सम्पत्तिशालियो की अपेक्षा बहुसख्यक हो सकते है, पर एक पक्ष (अग) का सख्या-गौरव (मात्रा-गौरव) दूसरे पक्ष के गुण-गौरव की अपेक्षा घटकर हो सकता है। अतएव इन दोनो (गुण और मात्रा) की परस्पर तुलना की जानी चाहिये। जहाँ भी निर्धन लोगो की सख्या दूसरे अग के उत्तम गुण (धनिको के धन) के अनुपात से बहुत अधिक होगी वहाँ स्वाभाविकतया जनतत्र की उत्पत्ति होगी, तथा किस प्रकार का प्रजातत्र उत्पन्न होगा यह बात प्रत्येक परिस्थिति मे इस बात पर निर्भर होगी कि किस प्रकार की जनता का आधिक्य है। उदाहरणार्थ यदि जनता मे कृषको का आधिक्य है तो जनतत्र के "प्रथम" प्रकार अर्थात् कृषको के जनतत्र का उदय होगा, यदि नीच टहल चाकरी करनेवाले प्रतिदिन के वेतन पर मजदूरी करनेवाले श्रम-जीवियो का बाहुल्य हुआ तो "आत्यन्तिक" प्रकार के जनतत्र की उत्पत्ति होगी। यही बात "प्रथम" और "चरम" प्रकार के मध्यवर्ती जनतत्रो के विषय मे भी लागू होगी। जहाँ धनवानो और (ख्यातिलब्ध) गण्यमान पुरुषो का गुणगौरव उनकी सख्या की हीनता की अपेक्षा अधिक होता है तो वहाँ अल्पजन (= धनिकजन)-तत्र का जन्म होता है, तथा कौन-से प्रकार का अल्पजनतत्र उत्पन्न होगा यह बात भी उपर्युक्त प्रकार से इस बात पर निर्भर होगी कि अल्प जनसमूह द्वारा किस प्रकार की प्रधानता प्रदर्शित की जाती है।

नियम बनानेवाले को मध्यमवर्ग को सर्वदा शासन-व्यवस्था मे अपने साथ सह-योगी के रूप मे ग्रहण कर लेना चाहिये। यदि वह अल्पजनतत्रात्मक नियमो की स्थापना करता है, तो उसका लक्ष्य मध्यमवर्ग के हित को दृष्टि मे रखना होना चाहिये, और यदि वे नियम जनतत्रात्मक हो तो भी उसको इन जनतत्रात्मक नियमो द्वारा इस वर्ग को व्यवस्था से सपृक्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। जहाँ कही मध्यमवर्ग के लोगो की सख्या अन्य दोनो वर्गो की सख्या से अधिक होती है,—अथवा अन्य दोनो में से एक की सख्या से भी अधिक होती है तो ऐसी अवस्था में स्थायी व्यवस्था की स्थापना

सभव होती है। ऐसी दशा मे यह भय कभी नही हो सकता कि धनीधोरी वर्ग निर्धनो के साथ मिलकर इनके विरुद्ध (मध्यमवर्ग के अथवा शासकवर्ग के विरुद्ध) उठ खडे होगे। दोनो वर्गों मे से कोई भी कभी दूसरे की आधीनता (=सेवा) स्वीकार करना नही चाहेगा। और यदि वे किसी ऐसी शासन-व्यवस्था की खोज करेगे जो उन दोनो (धनी और निर्धन) वर्गो के हितो के लिये इस पद्धति की अपेक्षा अधिक उपयुक्त हो तो इससे बढकर पद्धति उनको प्राप्त नही हो सकेगी। इन दोनो वर्गो मे परस्पर एक दूसरे का अविश्वास होने के कारण वे ऐसी किसी शासन-पद्धति को भी धैर्यपूर्वक सहन नही कर सकते जिसके अनुसार दोनो पक्ष बारी बारी से शासन कर ले। निष्पक्ष पच वही हो सकता है जो उभय पक्षो का अधिकतम विश्वासभाजन हो, (स्पष्ट ही) ऐसा पच मध्यवर्ग (का मनुष्य) ही हो सकता है। शासन-व्यवस्था मे विविध तत्त्वो (=सामाजिक वर्गों) का जितना अच्छा सम्मिश्रण होगा उतनी ही अधिक स्थायी वह व्यवस्था हो सकेगी। यहॉ पर बहुत से वे लोग भी गलती कर बैठते है जो "श्रेष्ठ-जनतत्र" की स्थापना करना चाहते है, वे यही नही करते कि सपन्न लोगो को अधिक सत्ता (शक्ति) दे देते है प्रत्युत वे साधारण जनता को (झूठे दिखावे भर के अधिकार प्रदान करके) ठगने का भी उपक्रम करते है। अनिवार्य तया अन्त मे एक समय ऐसा आता है कि जब छलनापूर्ण भलाई से वास्तविक बुराई उत्पन्न होती है, क्योकि शासन-व्यवस्था के लिये इस प्रकार के छलछद्म द्वारा की गयी धनिको की आपाधापी साधारण जनता की आपाधापी की अपेक्षा कही अधिक विनाशकारी होती है।[२]

टिप्पणियाँ

१. अरिस्तू यहाँ पर इस पुस्तक के द्वितीय खंड के अन्त में की हुई प्रतिज्ञा की पूर्ति कर रहा है।

२. कोई भी व्यक्ति सबको सदा के लिए धोखा नही दे सकता।

१३

दलों की चालें और मध्यम मार्ग

शासन-व्यवस्थाओं[१] में साधारण जनता की प्रतारणा के लिये जिन चालबाजियो का प्रयोग किया जाता है उनकी सख्या पाँच है। वे (१) समिति-सबधी (२)

शासनाधिकृत-सबधी (३) न्यायालय-सबधी (४) शस्त्रधारण-सबधी तथा (५) मल्ल-व्यायाम-सबधी है। समिति-सबधी चाल यह है कि समिति मे उपस्थित होने का अधिकार तो सबको समान रूप से प्राप्त होता है, परन्तु समिति मे उपस्थित न होने पर अर्थदण्ड (जुर्माना) या तो केवल धनवानो पर ही डाला जाता है अथवा उन पर बहुत अधिक मात्रा मे डाला जाता है। शासनाधिकृत-सबधी चालबाज़ी यह है कि धनसबधी योग्यतावाले व्यक्तियो को शपथपूर्वक शासनाधिकार पद अस्वीकार करने की आज्ञा नही दी जाती, पर निर्धन लोगो को ऐसा करने दिया जाता है।[२] और न्यायालयो के सबध मे ऐसा है कि न्यायालय मे (न्यायवितरण की) सेवा मे अनुपस्थित होने पर धनवानों पर अर्थदण्ड डाला जाता है तथा निर्धन अनुपस्थित होने पर अदण्डित रहते है, अथवा, जैसा कि खारोन्दास[३] की स्मृति (विधान) मे नियम है, धनवानो पर बहुत अधिक दण्ड डाला जाता है और निर्धनों पर बहुत थोडा। कुछ स्थानो (राष्ट्रो) मे वे सब नागरिक, जिन्होने अपना नाम सूची मे प्रविष्ट (रजिस्टर्ड) करा लिया है, समिति मे उपस्थित होने और न्यायालय मे न्याय-निर्णय करने का अधिकार रखते है, परन्तु यदि सूची-प्रविष्ट होने के उपरान्त वे समिति मे उपस्थित न हो अथवा न्यायालय मे सेवा न करे तो उन पर भारी दण्ड (जुर्माना) डाला जाता है। (इसका मन्तव्य यह होता है) कि जुर्माने के डर से वे लोग (निर्धन लोग) अपना नाम सूची-मुक्त न कराएँ और तब सूचीमुक्त न होने के कारण वे न समिति मे उपस्थित हो सकें और न न्यायालय मे बैठ सके। इसी प्रकार के ढंगों का प्रयोग शस्त्रास्त्रो की प्राप्ति और व्यायाम और मल्लकर्म के विषय मे नियम बनाने के लिये भी किया जाता है। निर्धनो को तो बिना शस्त्रास्त्र प्राप्त किये रहने की छूट होती है परन्तु यदि धनवान् लोग शस्त्रास्त्र न प्राप्त करे तो उन पर दण्ड (जुर्माना) डाला जाता है। और यदि निर्धन लोग व्यायामशाला मे व्यायाम करने के लिये उपस्थित न हो तो उन पर कोई जुर्माना नही डाला जाता, पर धनवानो पर अर्थदण्ड डाला जाता है। इसीलिये जुर्माने के कारण यह (धनवान्) लोग तो व्यायाम-क्रिया मे भाग लेते है पर निर्धन लोगो को कोई डर नही रहता अतएव वे व्यायाम मे भाग नही लेते।

जो नियम-सबधी चालबाजियाँ ऊपर वर्णन की गयी है वे अल्पजनतत्र (धनिक-तत्र) की व्यवस्था मे बरती जाती है। जनतत्रो मे इनसे उलटी चालो का प्रयोग किया जाता है। निर्धन लोगो को समिति और न्यायालयो मे उपस्थित होने के लिए वेतन दिया जाता है, पर धनवानो से अनुपस्थित होने पर कोई जुर्माना नही लिया जाता। अतः यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि यदि हम दोनों पक्षो का समुचित सम्मिश्रण करना चाहें

तो दोनो दलो के व्यवहार का सयोग करना आवश्यक होगा, अर्थात् निर्धन लोगो को उपस्थिति के लिए वेतन देना होगा और धनवानो पर अनुपस्थिति के कारण दण्ड डालना पडेगा। इस उपाय से ही सब लोग समान शासन-व्यवस्था मे भाग ले सकेंगे, अन्यथा ऐसा न होने पर शासन-व्यवस्था केवल किसी एक पक्ष की वशवर्तिनी हो जाती है। "व्यवस्था" नामक शासन-पद्धति केवल उन्ही लोगो से घटित होनी चाहिये जो शस्त्रास्त्र प्राप्त किये हुए है (और इसके लिये धनसबधी योग्यता की आवश्यकता स्पष्ट ही है।) पर इस आर्थिक योग्यता की मात्रा को प्रत्येक अवस्था मे निरपेक्ष भाव से निर्णय करके बतला देना सभव नही है। प्रत्येक अवस्था मे यह ध्यान रखना पडेगा कि किस प्रकार अधिक से अधिक आर्थिक योग्यता निर्धारित की जाय जिससे कि शासन-व्यवस्था में भाग लेनेवाले लोगो की सख्या भाग न लेनेवालो से अधिक हो सके। निर्धन लोग, (यदि उनके प्रति हिसात्मक अत्याचार न किया जाय एवं उनको उनकी सम्पत्ति (सत्त्व) से वञ्चित न किया जाय) तो शासन-व्यवस्था मे बिना भाग लिये हुए चुपचाप सन्तुष्ट रहना चाहते है। पर (निर्धन लोगो के प्रति) यह (मृदुल) व्यवहार उपलब्ध होना सरल कार्य नही है। जो लोग राजकीय सत्ता का उपभोग करते है वे दीनो के प्रति सर्वदा दयालु नही रहा करते। जब युद्धकाल होता है तो यदि निर्धन लोगो को भोजन न मिले तो वे सामान्यतया सेवा करने से आनाकानी किया करते है और इस प्रकार अकिंचन रह जाते है। पर यदि उनका भरण-पोषण किया जाता है तो लडने को (लडाई मे सेवा करने को) प्रस्तुत हो जाते है।

कुछ शासन-व्यवस्थाएँ ऐसी भी है जिनमे शासन-सत्ता मे भाग लेने का अधिकार न केवल विद्यमान समरसेवी (शस्त्रधारी) जनता को प्राप्त होता है प्रत्युत भूतकाल में युद्धसेवारत लोगों को भी प्राप्त होता है।[४] (थैसली के दक्षिण मे "मलिय" राष्ट्र में शासन-व्यवस्था मे इनको मतदान का अधिकार प्राप्त था पर पदाधिकारी-गण (मजिस्ट्रेट लोग) वर्तमान युद्धसेवारत लोगो में से चुने जाते थे। प्राचीन काल मे ग्रीस देश में एकराट् शासन-व्यवस्था की समाप्ति के पश्चात् जो आदि (प्रथम) शासन-व्यवस्था बनी उसमें योद्धावर्ग ही मतप्राप्त नागरिक-वर्ग था (अथवा वह व्यवस्था योद्धावर्ग में से ही घटित हुई थी।) और आरभ मे तो यह (शासन-व्यवस्था) अश्वारोही सामन्तो से ही बनी थी। उस समय सैनिक शक्ति और श्रेष्ठता अश्वारोहियो का ही विशेषाधिकार था। पैदल सेना तो बिना विशिष्ट व्यूह-रचना के व्यर्थ ही थी। और क्योंकि उस पुरातन काल में इस व्यूह-रचना का अनुभव और तत्सबधी नियमो का ज्ञान उपलब्ध नही था अतएव उस समय की सेनाओ की शक्ति अश्वारोही दल में ही निहित

थी। पर जब नगरो का आकार बढने लगा और शस्त्रधारी पैदल सेना की शक्ति बढ़ गयी तो शासन-सत्ता (राजनैतिक अधिकारो) का भोग करनेवालो की सख्या भी बढ़ गयी। यही कारण है कि जिस शासन-पद्धति को हम आजकल "व्यवस्था" का नाम देते है उसको उस आरम्भिक काल में "जनतत्र" नाम दिया गया था। जैसा कि उचित ही है, पुरातन शासन-पद्धतियाँ धनिकतत्र (=अल्पजनतत्र) और राजतत्रात्मक थी। उस समय नगरो की जनसख्या बहुत कम होने के कारण उनका मध्यमवर्ग बहुत बडा नही होता था। जनता सख्या मे बहुत थोडी और संघटन की दृष्टि से भी बहुत दुर्बल थी अतएव ऊपर के लोगो द्वारा शासित होने में सन्तुष्ट थी।

मैंने इस प्रकार यह समझा दिया कि शासन-व्यवस्थाओं के इतने विभिन्न प्रकार किन कारणों से है और यह भी बतला दिया कि उनकी सख्या सामान्यतया बतलायी गयी संख्या से अधिक क्यो है। जनतत्र की सख्या केवल एक नही है (प्रत्युत अधिक है) और अन्य व्यवस्था-प्रकारों के विषय में भी यही बात ठीक है। यह भी बतला दिया गया है कि उनमे क्या भेद है और किन कारणो से यह भेद उत्पन्न होते हैं। हमने यह भी समझा दिया कि सामान्यतया अधिकाश अवस्थाओमे श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था कौन-सी हो सकती है, तथा अन्य सब शासन-पद्धतियो के विषय मे यह बतला दिया कि कौन-सी पद्धति किस प्रकार के समाज के लिये उपयुक्त होती है। इन सब उपर्युक्त तथ्यो का वर्णन हो चुका।[5]

टिप्पणियाँ

१. यहाँ शासन-व्यवस्थाओं से तात्पर्य मिश्र व्यवस्थाओं तथा धनिकतंत्र के मिश्र रूपों दोनो से ही है।

२. अर्थात् निर्धनों को यह शपथ करने की छूट दी जाती है कि "उनका स्वास्थ्य और साम्पत्तिक अवस्था ऐसी हीन है कि वे अपने पद का कार्य नहीं कर सकते।" पर धनवानों को इस प्रकार की शपथ करने की स्वतंत्रता नहीं होती।

३. खारोन्दास् का परिचय दिया जा चुका है।

४. अरिस्तू यहाँ शासन-व्यवस्था का युद्ध-संघटना से क्या संबंध है इस विषय का विवेचन करने की ओर भटक जाता है और ऐतिहासिक टिप्पणी प्रस्तुत कर देता है। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि सैन्यसंघटना और युद्धकला का शासन-व्यवस्था से अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है। आधुनिक इतिहास भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है।

५. प्रस्तुत पुस्तक के द्वितीय खंड के अन्त में अरिस्तू ने जो विषय-विवेचन-संबंधी प्रतिज्ञा की थी वह थोड़े बहुत विषयान्तर के साथ निभती चल रही। शेष प्रतिज्ञा की पूर्ति चतुर्थ पुस्तक के अवशिष्ट भाग और पंचम पुस्तक में की जायगी।

१४

शासन-व्यवस्था के तीन तत्त्व-विचार-तत्त्व

इस प्रकार विवेचना के लिये समुचित आधार प्राप्त करके हम अब क्रम-प्राप्त विषय (शासन-व्यवस्था की स्थापना की पद्धतियो) का विवरण उपस्थित कर सकते है। हमको इस विषय का वर्णन सामान्य रूपेण भी करना होगा और विशिष्ट प्रकार की व्यवस्थाओ के सबध मे पृथक् पृथक् भी। सब शासन-व्यवस्थाओं में तीन तत्त्व होते है, और इनके विषय मे प्रत्येक नियम-निर्माता को यह देखना चाहिये कि किसी भी व्यवस्था में इन तीनो तत्त्वो के लिये क्या बात (प्रबध) लाभदायक (या व्यवहार्य) हो सकता है। यदि ये (तीनो तत्त्व) सुव्यवस्थित होते है तो नगर (–राष्ट्र) भी अवश्यमेव सुव्यवस्थित होता है, और यदि ये विभिन्न प्रकार से घटित होते है तो शासन-व्यवस्थाएँ भी विभिन्न प्रकार की होती है। इन तीन तत्त्वो मे से प्रथम तत्त्व सार्वजनिक अथवा सामाजिक विषयो की चिन्ता अथवा विचारणा से सबध रखनेवाला है। दूसरा तत्त्व शासनाधिकारियो (मजिस्ट्रेटो) का है। इनके विषय मे विचारणीय प्रश्न यह है कि यह शासनाधिकारपद क्या है, किन किन विषयो पर उसकी सत्ता होनी चाहिये और इन पदो के अधिकारी किस प्रकार चुने जाने चाहिये ? इत्यादि। तीसरा तत्त्व वह है जिसको न्यायाधिकार प्राप्त है।

विमर्शक अथवा विचारक तत्त्व को, विग्रह और शान्ति, सन्धि और विश्लेष, नियम-निर्धारण, मृत्यु-दण्ड, निर्वासन, सपति-अपहरण, शासनाधिकारियो की नियुक्ति और उनके कार्यकाल की समाप्ति पर उनके कार्य की पडताल, इन सब विषयो पर सर्वोपरि सत्ता प्राप्त होती है। अवश्य ही इन सब विषयो पर निर्णय का अधिकार या तो सब नागरिको को दिया जा सकता है, अथवा कुछ (थोडे से लोगो को) सब विषयो पर निर्णय का अधिकार दिया जा सकता है (उदाहरणार्थ, उनको या तो एक पदाधिकारी को सौंप दिया जाता है या एक पदाधिकारी मण्डल को, अथवा पृथक् पृथक् विषयो को पृथक् पृथक् पदाधिकारियो को सौंप दिया जाता है) अथवा कुछ विषयो के निर्णय का अधिकार सब नागरिक लोगो को दिया जा सकता है और अन्य कुछ विषयो के निर्णय का अधिकार केवल कतिपय लोगो को दिया जा सकता है।

सब विषयो का निर्णय सब नागरिको द्वारा किया जाना जनतन्त्रात्मक पद्धति का विशेष लक्षण है। साधारण जनता इसी प्रकार की समानता को चाहती है (खोजती है)।

पर सब लोगो के शासन-कार्य में भाग ले सकने के लिये भी अनेको विभिन्न उपाय सभव है। एक उपाय यह है कि सब लोग किसी समस्या पर एक ही बार विचार न करें, प्रत्युत टोलियो में बँटकर बारी बारी से विचार करें। मिलेतस् निवासी "तीलेक्लीस"[१] की शासन-पद्धति मे यही योजना थी। (कुछ अन्य शासन-पद्धतियो में पदाधिकारियों के विभिन्न पटल एक साथ मण्डलीभूत होकर किसी विषय पर विचार किया करते है, पर इन पदाधिकारियो के पटलो मे जनता की सभी जातियो और जातियो के भी छोटे छोटे से वर्ग के लोग बारी बारी से चुने जाकर आया करते हैं, यहाँ तक कि अन्ततोगत्वा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी बारी मिल जाती है)। नागरिक लोग तो केवल नियम बनाने के लिये, विधानसबंधी बातों पर विचार करने के लिये तथा शासनाधिकारियो के शासनादेश सुनने के लिये ही एकत्रित हुआ करते है।[२] एक अन्य उपाय, जिसके अनुसार प्रथम योजना सिद्ध हो सकती है, यह है कि सब नागरिक विचार करने के लिये एक समिति-समूह में एकत्रित हो पर वे केवल पदाधिकारियो की नियुक्ति और परीक्षण, नियम-निर्माण एव युद्ध तथा शान्ति पर विचार करने के लिये एकत्रित हो। अन्य विषय (यथा, मृत्युदण्ड, निर्वासन एव स्वत्वापहरण इत्यादि) उन पदाधिकारियों को सौंप दिये जाते है जो क्रमश उन विषयो पर विचार करने के लिये सब नागरिको के मध्य में से या तो मतदान द्वारा निर्वाचित किये जाते है अथवा शलाकाग्रहण द्वारा नियुक्त किये जाते है। तीसरा ढग यह है कि सब नागरिक लोग पदाधिकारियो की नियुक्ति और परीक्षण के लिये तथा विग्रह और सधि के विषयो पर विचार करने के के लिये एकत्रित हो और अन्य विषय (जैसे कि नियम बनाना अथवा बडे दण्ड देना इत्यादि) शासनाधिकारियों को सौंप दिये जायँ—जो शासनाधिकारी यथासभव चुने हुए हो। यहाँ चर्चा उन पदाधिकारियों की है जिनका अनुभवी और ज्ञानसपन्न होना आवश्यक है। चौथा उपाय यह है कि सब नागरिक सब विषयो पर विचार करने के लिये एकत्रित होते है। शासनाधिकारियो को किसी विषय के निर्णय करने का अधिकार नही होता, केवल प्रारभिक परीक्षण (अन्वेषण) करने का अधिकार होता है। और यही वह ढग है जिसके अनुसार जनतत्र का आत्यन्तिक प्रकार आजकल शासन-पद्धति के रूप में चल रहा है—जनतत्र का यह प्रकार हमारे मत में तो वशानुगत अल्पजनतत्र और एकराजतत्र के तानाशाही प्रकार के अनुरूप है।

यह सब उपर्युक्त पद्धतियाँ जनतंत्रात्मक है। दूसरी ओर, वह पद्धति जिसके अनुसार थोडे से व्यक्ति सब विषयो का विचार करते है, अल्पजनतंत्रात्मक धनिकतत्रात्मक) होती है। इस पद्धति के भी (जनतत्र के समान) बहुत से भेद

हैं। जब कि विचारक-समिति के सदस्य परिमित (मर्यादित) सम्पत्ति की योग्यता के आधार पर चुने जाते हैं और इसी कारण पर्याप्त रूप मे बहुसख्यक होते हैं, तथा जिस विषय में (परिवर्तन करने के लिये) नियम निषेध करता है उसमे कोई परिवर्तन नही करते, प्रत्युत नियम का ही अनुसरण करते है, और जब उन सब मनुष्यो को विचारक-समिति में भाग लेने का अधिकार प्राप्त हो जाता है जो साम्पत्तिक योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, तो यद्यपि यह पद्धति यों तो अल्पजनतत्र है तथापि इस मर्यादा या परिमिति के कारण इसका झुकाव तथाकथित "व्यवस्था" की ओर है। जब राष्ट्रहित के चिन्तन का अधिकार (परिमित साम्पत्तिक योग्यतावाले) सब व्यक्तियो को नही होता प्रत्युत थोडे से चुने हुए व्यक्तियो को ही होता है, पर यह व्यक्ति पूर्वोक्त व्यक्तियो के सदृश नियमानुसार कार्य-संचालन करते है, तो भी यह पद्धति अल्पजनतंत्रात्मक ही होती है। और जब वे लोग जिनको राष्ट्रीय कार्यों का विचार करने का अधिकार प्राप्त होता है स्वयं अपने को निर्वाचित करते हैं और जब पुत्र पिता का स्थान ग्रहण कर लेता है तथा जब सर्वोपरि सत्ता स्वय ये लोग ही होते हैं, नियमो की सत्ता सर्वोपरि नही होती तो इस प्रकार की व्यवस्था अनिवार्यतया अल्पजन (=धनिक)-तत्रात्मक होती है।

और जब कुछ लोगो को कुछ ही विषयो पर विचार करने का अधिकार होता है—उदाहरणार्थ जब सब नागरिक लोग युद्ध और शान्ति के विषय में विचार करने का अधिकार रखते है और शासनाधिकारियो के कार्यों के परीक्षण का अधिकार भी रखते हैं—पर अन्य सब कार्यों के प्रबन्ध का अधिकार शासनाधिकारियो को होता है, एवं यह शासनाधिकारी मतदान द्वारा (अथवा गुटिका द्वारा)[1] नियुक्त किये जाते हैं—तो यह शासन-व्यवस्था श्रेष्ठजनतंत्र होती है। यदि कुछ प्रश्नों का निर्णय मतदान द्वारा नियुक्त शासनाधिकारियों के अधिकार में हो और अन्य कुछ का निर्णय गुटिका द्वारा नियुक्त किये अधिकारियो के अधिकार में (और गुटिका द्वारा नियुक्त होने का अधिकार या तो निरपेक्ष भाव से सबको हो अथवा पहले से ही चुने हुए कुछेक व्यक्तियो को ही हो) अथवा सभी विचारणीय प्रश्न मतदान द्वारा नियुक्त एवं गुटिकापात द्वारा नियुक्त सत्ताधारियों के मिश्रित पटल के समक्ष निर्णय के लिये जायें और वे एक साथ उन पर विचार करें तो इस प्रकार की व्यवस्था अंशत श्रेष्ठजनतत्रात्मक पद्धति जैसी होती है और अंशतः विशुद्ध "व्यवस्था" नामक पद्धति के सदृश होती है।

विचारक-समिति "बूले" के यही (उपर्युक्त) विविध प्रकार हैं जो विभिन्न प्रकार की शासन-पद्धतियों के अनुरूप हैं। प्रत्येक शासन-पद्धति हमारे द्वारा ऊपर वर्णन किये हुए व्यवस्था-संस्थानों के अनुसार व्यवस्थित की जाती है। जनतंत्र के हित की,

(अर्थात् उस जनतत्र के हित की जो कि आजकल विशेष प्रकार से जनतत्रात्मक समझा जाता है, तथा जिसमे जनता की सत्ता सर्वोपरि होती है, और वे नियमो पर भी शासन करते है) बात यह है कि विचारक-समिति की योग्यता को सुधारने के लिये वह उसी योजना को अगीकार कर ले जो कि धनिकतत्र न्यायालय के सबध में प्रयुक्त करते हैं। न्यायालय मे (न्याय-निर्णय के लिये) जिनकी उपस्थिति आवश्यक है उनकी उपस्थिति के निमित्त वे (धनिक लोग) उन पर अर्थदण्ड (जुर्माना) डालते है—जब कि दूसरी ओर जनतत्र न्यायालयो मे निर्धनो की उपस्थिति के लिये उनको वेतन देते है। जनतत्र को इस योजना का प्रयोग विचारसभा (ऐक्लीसिया) के सबध में करना चाहिये, क्योकि जब सब लोग एक साथ मिलकर विचार करते है—अर्थात् जब साधारण जनता गण्यमान (सुविख्यात) पुरुषो के साथ और गण्यमान पुरुष साधारण जनता के साथ मिलकर विचार करते है तो अपेक्षाकृत अधिक अच्छा विचार होता है। जनतत्र के लिये यह भी लाभदायक अथवा हितकारी बात होगी कि राष्ट्र के सभी (भागों, खण्डो) वर्गों में से समान सख्यावाले प्रतिनिधि विचार-समिति (मत्रणा-समिति) में उन वर्गों का प्रतिनिधित्व करे और वे प्रतिनिधि या तो मतदान द्वारा निर्वाचित हो अथवा गुटिकापात द्वारा नियुक्त।[४] और यदि साधारण जनता की सख्या राजनीतिक (नागरिक) अनुभव-प्राप्त गण्यमान लोगो की अपेक्षा बहुत अधिक हो तो यह बात जनतत्र के लिये लाभदायक होगी कि विचार-समिति में उपस्थिति के लिये दिया जानेवाला वेतन सब साधारण लोगो को न दिया जाय केवल उतने लोगो को दिया जाय जितने कि गण्यमान लोगो की सख्या को अपनी सख्या से सतुलित कर सकें, अथवा गण्यमान सदस्यो की सख्या जनसाधारण की सख्या जितनी अधिक हो उतनी को गुटिका-प्रयोग द्वारा निवारित कर दिया जाय।

अल्प (=धनिक)-जनतत्रो मे या तो जनता के कुछ लोग विचार-समिति के लिये चुन लिये जाने चाहियें अथवा एक ऐसी अधिकारियों की सस्था निर्माण कर ली जानी चाहिये जैसी कि कुछ राष्ट्रो में प्राग्विचार-समिति और नियमरक्षिणी समिति के नाम से पाई जाती है, और तब विचार-समिति (नागरिक-समिति) को उन प्रश्नों के विषय मे व्यापृत (सलग्न) होने देना चाहियें जिन पर प्राग्विचार-समिति विचार कर चुकी हो। इस प्रकार साधारण समूह को राष्ट्र-चिन्तन में भाग प्राप्त हो जायेगा पर वे शासन-व्यवस्था के किसी भी तत्त्व अथवा नियम को भी शिथिल नही कर सकेंगे। फिर, अल्प (=धनिक)-जनतंत्रो में जनता को या तो उन्ही विषयो पर मतदान देना चाहिये जो सरकार द्वारा सम्मत हों अथवा जो कम से कम सरकार द्वारा प्रस्तुत योजनाओ के

प्रतिकूल न हो, अथवा यदि विकल्परूपेण सबको एकत्रित होकर विचारने (= मंत्रणा देने) का अधिकार दिया जाय तो अन्तिम विचार (निर्णय) का अधिकार शासनाधिकारियो की समिति को ही होना चाहिये। (यदि इस अन्तिम विकल्प को स्वीकार किया जाय तो) उसका उपयोग इस प्रकार से किया जाना चाहिये कि वह "व्यवस्था" नामक शासन-पद्धति मे इसके प्रयोग का उलटा हो। प्रस्तावो के निषेध के लिये जनता के बहुमत को सर्वोपरि माना जाना चाहिये, पर प्रस्तावो को स्वीकार करने मे उसकी सर्वोपरिता नही होनी चाहिये। जिन प्रस्तावो को जनता का बहुमत मान ले वे पुन. शासनाधिकारियो की अनुमति के लिये भेजे जाने चाहिये। "व्यवस्था" नामक शासन-पद्धतियो मे इससे उलटी कार्यप्रणाली बरती जाती है। अल्पवर्गीय (= शासनाधिकारी) लोगो को प्रस्तावो के निषेध का सर्वोपरि अधिकार होता है, स्वीकार करने का नही, जिस किसी प्रस्ताव को वे स्वीकार करते है उसको बहुसख्यक लोगो की स्वीकृति के लिये भेजा जाता है।

राष्ट्रो की व्यवस्था के विचारणात्मक अथवा सर्वोच्च तत्त्व के विषय मे हमारे निर्णय यही (उपर्युक्त) है।

टिप्पणियाँ

१. तीलैक्लीस् अथवा तेलैक्लेस् के विषय में जो कुछ यहाँ कहा गया है उससे अधिक ज्ञात नहीं हो सका है।

२. इस वाक्य को यदि इसके पहले के वाक्य के साथ मिलाकर पढ़ें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह दोनों वाक्य उस सिद्धान्त को बहुत कुछ सीमित कर देते है जिसको इस अनुच्छेद (पैराग्राफ) के प्रथम दो वाक्यों में प्रस्तुत किया गया है; क्योंकि नगर-निवासी पारियों में थोड़े से विषयों पर विचार कर सकेंगे। इस प्रकार तो सब विषयों का निर्णय सब नगरवासियों द्वारा नहीं होगा। देखा जाय तो शेष पैराग्राफ में जो कहा गया है वह प्रारम्भिक कथन का सीधा विरोध करता है।

३. (अथवा गुटिका द्वारा) यह शब्द प्रक्षिप्त प्रतीत होते है। क्योकि इन शब्दों को मौलिक ग्रंथ का भाग मानने पर तो यह वाक्य जनतंत्र का वर्णन हो जायगा न कि श्रेष्ठजनतंत्र का।

(४) यह प्रतिनिधि-प्रणाली के संबंध में सुझाव है।

वि०—(क) कुछ व्यक्तियों को ऐसा प्रतीत हो सकता है कि प्राचीन यूनान में शासन-व्यवस्था में आधुनिक प्रकार का विधान-निर्माण (लेजिस्लेटिव), कार्यसम्पादन (एग्ज़ीक्यूटिव), न्याय-प्रतिपादन (जुडीशियरी) वृत्तियों का विभाजन विद्यमान था।

पर ऐसा समझना ठीक नहीं होगा। क्योंकि विचार-(क) परिषद् विशुद्धरूप से नियम-निर्माता नहीं थी। उसका कार्य न्याय करना और कार्य सम्पादन करना भी था। मजिस्ट्रेटो के ऊपर विचारक-परिषद् का हस्तक्षेप चलने के कारण वे कार्यसम्पादन में पूर्णतया स्वतंत्र नहीं थे। इसी प्रकार न्याय करने का कार्य विधिपूर्वक नियुक्त न्यायाधीशो के द्वारा नहीं प्रत्युत जनसाधारण द्वारा निर्मित न्यायालयों द्वारा किया जाता था। एक प्रकार से देखा जाय तो विचारक तत्त्व का सर्वोपरि प्राधान्य था। चुनाव में मतदान और गुटिका प्रयोग किस प्रकार होता था इसको भली भाँति समझने के लिए अरिस्तू के अथेन्स के संविधान को देखना चाहिये।

(ख) विभिन्न प्रकार की समिति और परिषदों के लिए तीन नाम प्रचलित थे—(१) ऐक्ली(ले)सिया समग्र जनता की परिषद् थी। (२) बूले यह नगर के विभागों में से चुने हुए व्यक्तियों की परिषद् थी। (३) प्रू (प्री)तानेइया कार्य-कारिणी परिषद् थी। यह नाम अथेंस में प्रचलित थे। स्पार्टा में बूले को गैरूसिया= स्थविर परिषद् कहते थे। इनके विषय में अरिस्तू ने अथेन्स के संविधान में विस्तार-पूर्वक लिखा है।

१५

शासनाधिकारी और उसकी नियुक्ति

इसके पश्चात् हमको राष्ट्र-व्यवस्था के दूसरे विभाग अर्थात् शासनाधिकारियों के विभाग का विचार करना है। शासन-व्यवस्थाओ का यह विभाग (मत्रणा अथवा विचारणा-विभाग के समान) अनेको प्रकार से व्यवस्थित हो सकता है। शासनाधि-कारियो की सख्या कितनी हो? उनकी सत्ता किन किन विषयो पर होनी चाहिये? और समय के विषय में भी (यह प्रश्न है) कि प्रत्येक का कार्य-काल कितना हो? कही (अथवा कभी) तो उनका कार्य-काल ६ महीने होता है, कही (कभी) इससे भी कम; कही (कभी) एक वर्ष होता है, और कही (कभी) इससे दीर्घतर काल होता है। और क्या शासनाधिकार-पद का कार्यकाल सर्वदा (आजीवन) चल सकता है अथवा बहुत वर्षों तक चलना चाहिये, अथवा यदि यह दोनों विकल्प न माने जायँ किन्तु शासना-धिकारियो की नियुक्ति अनेक बार (थोडे थोडे समय के पश्चात्) हुआ करे तो क्या एक ही व्यक्ति अनेकश (उस) पद पर नियुक्त किया जा सकता है, अथवा कोई भी व्यक्ति दो बार नही केवल एक बार नियुक्त हो सकेगा? शासनाधिकारियों की नियुक्ति के विषय में विचारणीय यह है कि उनका चुनाव किन लोगों में से हो, वे किन

लोगों के द्वारा चुने जायँ और कैसे चुने जायँ ? इन सब प्रश्नो के विषय मे प्रथम तो यह निर्धारित किया जाना चाहिये कि कितने विविध प्रकार के ढग उनके लिये प्रयुक्त होने सभव है; और तब हम यह निर्धारण करने के योग्य हो सकेंगे कि किस प्रकार की शासन-पद्धति के लिये किस प्रकार के शासनाधिकारी समुपयुक्त होगे। पर (सब से पहले) यही निर्णय करना सरल नही है कि शासनाधिकारी शब्द से किसका बोध होना चाहिये। किसी भी नागरिक (राजनीतिक) समाज को बहुत से शासनाधिकारियो की आवश्यकता होती है। अतएव वे सभी व्यक्ति जो या तो निर्वाचन द्वारा चुने जाकर अथवा गुटिका द्वारा नियुक्त किये जाते है शासनाधिकारी नही माने जाने चाहिये। पहले पुरोहितो को लें, तो इनको राजनीतिक शासनाधिकारियो से इतर (भिन्न) माना जाना चाहिये।[1] यही बात गायक मण्डली के नायको[2] और घोषको[3] के विषय में भी लागू होती है, और निर्वाचन तो राजदूतों[4] तक का होता है। पर कुछ अध्यक्षता सबधी कार्य राजनीतिक होते है, जो या तो किसी (विशिष्ट) कार्यक्षेत्र में समग्र जनता की अध्यक्षता से सबध रखते हैं, जैसे कि सेनानायक युद्ध-क्षेत्र में सेना का सचालन करता है, अथवा नागरिकों के एक अशमात्र की अध्यक्षता से सबध रखते है, जैसे कि स्त्रियो और बालको के निरीक्षक उनकी देखभाल करते हैं। अन्य कुछ कार्य गृहप्रबध संबंधी होते है, जैसा कि अनेको राष्ट्रो में उपलब्ध होनेवाला अन्न-मापक का पद है, तथा जिसके पदाधिकारी निर्वाचित होते हैं। कुछ कार्य निम्न कोटि के भी होते हैं, जिनको सम्पन्न (नगरो में) दासो के द्वारा निष्पन्न कराया जाता है। साधारण बोलचाल में इन सब पदाधिकारियो में से शासनाधिकारी नाम का प्रयोग उनके लिये होना चाहिये जिनको किसी विशेष क्षेत्र मे विचार करने, निर्णय करने और आदेश (=आज्ञा) करने के कार्य के लिये—विशेषकर इस अन्तिम कार्य के लिये नियुक्त किया गया हो; क्योंकि आदेश करना ही शासनाधिकारी का विशेष लक्षण है। पर इससे व्यवहार में तो कुछ अन्तर पड़ता नही, ऐसा कह सकते है। अभी तक इस नाम से संबंध रखनेवाले विवाद पर न्यायालयों में कोई निर्णय नही दिया गया (अभी तक इस नाम के संबंध में विवाद करनेवालो को कोई निर्णय नही मिला है) हाँ (इसके अर्थ की मीमासा) का महत्त्व बौद्धिक विवेचना के सबध में अवश्य है।

किस प्रकार के और कितने शासनाधिकार पद किसी राष्ट्र के अस्तित्व के लिये परम आवश्यक (अनिवार्य) हैं, तथा कौन से ऐसे हैं जिनका होना अनिवार्य तो नही है पर जो अच्छी व्यवस्था की प्राप्ति के लिये उपयोगी हैं ? यह प्रश्न ऐसे हैं जो यों तो सभी राष्ट्रों की व्यवस्था की विवेचना के संबध में महत्त्वपूर्ण हैं पर विशेष रूप से छोटे

राष्ट्रो के सबध मे तो इनका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। विशाल राष्ट्रो मे तो यह सभव भी है और समुचित भी कि प्रत्येक पृथक् कार्य के लिये पृथक् शासनाधिकार-पद हो। नागरिको की सख्या अधिक होने के कारण ऐसा सभव है कि बहुत से लोग पदाधिकार प्राप्त कर सकते है। अतएव ऐसा हो सकता है कि कुछ शासनाधिकार-पदो को तो लोग सुदीर्घ काल के पश्चात् एक से अधिक बार प्राप्त कर सके पर अन्य कुछ को जीवन भर मे केवल एक ही बार प्राप्त कर सकेंगे। और यह तो निश्चय ही है कि वही कार्य अपेक्षाकृत अधिक अच्छा होगा जो कि एक अविभाज्य विचार (अथवा चिन्तन के) साथ किया जायगा, न कि वह जो अन्य बहुत से कार्यों के साथ किया जायगा।

पर छोटे राष्ट्रों में तो अवश्य ही बहुत से शासनाधिकार-पद थोडे से मनुष्यों के हाथों में इकट्ठे सौंपने पडते है। नागरिको की सख्या कम होने के कारण, बहुत से व्यक्तियो का एक साथ शासनपदारूढ होना सरल कार्य नही होता। और यदि ऐसा हो भी तो फिर उनका उत्तराधिकारी कौन हो सकेगा? पर तो भी यह सत्य है कि कभी कभी छोटे राष्ट्रो को भी उन्ही अधिकार-पदो और (तत्सबधी) उन्ही नियमो की आवश्यकता होती है जिनकी आवश्यकता बडे राष्ट्रों को हुआ करती है। अन्तर केवल इतना है कि बडे राष्ट्रो को शासनाधिकार-पदो (शासनाधिकारियो) की आवश्यकता बहुधा हुआ करती है और छोटे राष्ट्रो को केवल कभी-कभी सुदीर्घ काल के उपरान्त। अतएव ऐसी कोई बात नही है, (जो छोटे राष्ट्रो में) पदाधिकारियो के ऊपर एक साथ अनेकों कार्यो के भार को डालने के मार्ग में बाधक हो सके; क्योकि वे (कार्य तो) परस्पर एक दूसरे के मार्ग मे बाधक नही होगे। जब राष्ट्रो की जनसख्या थोडी हो तो शासनाधिकार-पद अवश्य ही ऐसे सूचीमुख-दीप[४]-स्तम्भ के समान होना चाहिये जो दीवट का भी काम दे सके।

यदि हम पहले ही यह निश्चयपूर्वक जान सकें कि प्रत्येक (=सभी) राष्ट्र के लिये कितने शासनाधिकार-पद अनिवार्यरूपेण आवश्यक हैं, तथा कितने ऐसे है जो अनिवार्य न होते हुए भी उपयोगिता की दृष्टि से (राष्ट्र मे) होने चाहिये तो फिर यह जानना सरलतर हो जायगा कि एक अधिकार-पद में कितने कार्य एक साथ सम्मिलित किये जा सकते है। फिर हमको यह बात भी दृष्टि से ओझल नही होने देनी चाहिये कि कौन से विषय ऐसे हैं जिनके लिये विभिन्न स्थानो पर काम करनेवाले स्थानीय शासनाधिकारियो के ध्यान की आवश्यकता है, तथा कौन से ऐसे है जिनके लिये समग्र शासन-क्षेत्र पर अधिकार रखनेवाली केन्द्रीय सत्ता सर्वोपरि होनी चाहिये।[१] उदाहरण

के लिये यदि सु-व्यवस्था को ले तो यह प्रश्न हो सकता है कि क्या एक व्यक्ति हाट में सु-व्यवस्था का प्रबध करे और दूसरा मनुष्य दूसरे स्थान मे अथवा एक ही व्यक्ति सब स्थानो मे व्यवस्था का प्रबध करे ? यह प्रश्न भी विचारणीय है कि क्या पदो के कार्यों का विभाजन विषयो के आधार पर किया जाय अथवा तत्सबद्ध व्यक्तियो के आधार पर ? कहने का तात्पर्य यह है कि क्या उदाहरण के लिये एक ही व्यक्ति सर्वत्र सु-व्यवस्था के लिये नियुक्त होना चाहिये अथवा बच्चो की व्यवस्था के लिये एक अलग ही पदाधिकारी होना चाहिये और स्त्रियो के लिये एक और ही होना चाहिये, इत्यादि ? फिर, विभिन्न राष्ट्रो मे क्या शासनाधिकार-पदो की योजना प्रत्येक राष्ट्र में दूसरे से भिन्न है अथवा नहीं ? उदाहरण के लिये (जनतत्र, अल्पजनतत्र, श्रेष्ठ जनतत्र और एकराट्तत्र में) यद्यपि शासनाधिकारी न तो समान सामाजिक वर्गों मे से चुने जाते हैं और न एक से वर्गों में से प्रत्युत प्रत्येक शासन-पद्धति में विभिन्न वर्गों मे से चुने जाते हैं—यथा श्रेष्ठजनतत्र मे सस्कृति-सपन्न वर्ग मे से चुने जाते हैं, अल्पजनतत्र में धनिकवर्ग मे से एवं जनतत्र मे स्वतत्र जनवर्ग से, तथापि क्या इन सब शासन-पद्धतियो मे समान रूप से एक से शासनाधिकार-पद होने चाहिये ? अथवा ऐसा होता है कि कुछ बातो में पृथक् पृथक् राष्ट्रो में (=शासन-पद्धतियो में) शासनाधिकार-पद (और शासनाधिकारी) भिन्न प्रकार के होते है; और कुछ राष्ट्रो (शासन-पद्धतियो) में एक ही प्रकार के शासनाधिकार-पद उपयोगी होते है और अन्य स्थानो में वे भिन्न प्रकार के होते है। उदाहरणार्थ कुछ राष्ट्रो मे (=शासन-पद्धतियो मे) शासनाधिकार-पदो का महान् (अधिक व्यापक अथवा शक्तिशाली) होना ही समुचित होता है तथा कुछ में छोटा (थोडा व्यापक अथवा अल्पशक्तिशाली) होना।

तथापि, यह सत्य है कि कुछ शासनाधिकार-पद विशिष्ट प्रकार की शासन-पद्धतियों के लिये ही उपयुक्त होते है। उदाहरण के लिये "प्रोबूली"[*] (पूर्वपरिषद्) को ले सकते है जो कि जनतत्रात्मक सस्था नही है; (यद्यपि बूली=साधारण परिषद् जनतंत्रात्मक है।) वास्तव में तो कोई सस्था इस प्रकार की होनी ही चाहिये जो जनसाधारण के हित के लिये आवश्यक बातो पर प्रारभिक प्रकार से विचार किया करे, अन्यथा वे अपने साधारण (दैनिक) कार्यों के सपादन मे दत्तचित्त नही रह सकेगे। पर यदि यह सस्था अल्पसख्यावाली हुई तो अवश्य ही अल्पजनतत्रात्मक होगी। और पूर्वपरिषद् तो अनिवार्यतया नित्य ही अल्पसख्यक सस्था होगी, तथा इसीलिये अल्पजनतत्रात्मक ही होगी। परन्तु जहाँ कही भी यह दोनो (प्रोबूली=पूर्वपरिषद् और बूली=परिषद्) सस्थाऐं पाई जाती हैं वहाँ पर पूर्वपरिषद् (दूसरी) परिषद् के प्रति प्रतिबध का

काम करती है। क्योकि साधारण परिषद् के सदस्य जनतत्रात्मक होते है और पूर्व-परिषद् के सदस्य अल्पजनतत्रात्मक (धनिक जनतत्रात्मक) होते है। तथापि जनतत्र के उस अतिगामी प्रकार मे इस पूर्वपरिषद् की शक्ति भी क्षीण हो जाती है जिसमें सभी जनसाधारण एकत्रित होकर राष्ट्र के सभी कार्यों का सचालन किया करते है। यह स्थिति सामान्यतया तब (वहाँ) उपस्थित होती है जब कि (जहाँ कि) साधारण परिषद् मे उपस्थित होनेवालो को अधिक वेतन मिलता है। (अधिक वेतन मिलने के कारण) उनके पास प्रचुर अवकाश रहता है, अतएव वे प्रायेण एकत्रित होते रहते है और सब विषयो के सबध मे स्वयमेव निर्णय कर लिया करते है। कुमाराध्यक्ष, महिला-ध्यक्ष एव इसी प्रकार अन्य क्षेत्रो की अध्यक्षता करनेवाले अधिकारी जनतत्रात्मक-पद्धति की अपेक्षा श्रेष्ठजनतत्रात्मक-पद्धति के लिये अधिक उपयोगी है, भला ये पदाधिकारी निर्धन लोगो की स्त्रियो का बाहर जाना कैसे रोक सकते हैं ? न इस प्रकार के अधिकारी अल्पजनतंत्रात्मक पद्धति के ही अनुकूल है, क्योकि अल्पजनतत्रात्मक पद्धति के धनिको की पत्नियो का जीवन (इतना) विलासितामय होता है (कि उनका नियंत्रण नही किया जा सकता)।

पर इन बातो का तो पर्याप्तिरूपेण वर्णन हो चुका। अब तो शासन-पदाधिकारियों की नियुक्ति के विषय का आरभ से ही वर्णन करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके भेद तीन मर्यादाओ (नियमो) पर निर्भर है, जो तीनो मिलकर सब संभव विधियों को अवश्यमेव अपने में सन्निविष्ट कर लेती ह। यह तीन मर्यादाएँ यह है—एक तो यह कि पदाधिकारियो को नियुक्त करनेवाला कौन है ? दूसरे यह कि किन लोगो में से उनकी नियुक्ति होती है ? शेष (तीसरी मर्यादा) यह है कि किस ढग से उनकी नियुक्ति की जाती है ? इन तीन मर्यादाओ मे से भी प्रत्येक के तीन तीन अवान्तर भेद (विकल्प) है। या तो सब नागरिक पदाधिकारियो की नियुक्ति करें अथवा कतिपय नागरिक ही उनकी नियुक्ति करे। और या तो उनकी नियुक्ति सभी नागरिको में से हो अथवा कुछ थोडे से विशिष्टतासपन्न व्यक्तियो में से—यथा सपन्नता, कुलीनता, सद्वृत्ति अथवा अन्य किसी ऐसी ही विशिष्टता से सपन्न व्यक्तियो मे से (जैसे कि मैगारा में शासनाधिकार-पदो के लिये केवल वही व्यक्ति निर्वाचित हो सकते थे जो कि निर्वासन से एक साथ मिलकर लौटे थे तथा जनता (जनतत्र) के विरुद्ध साथ साथ (कन्धे से कन्धा भिडाकर) लडे थे। और फिर या तो निर्वाचन द्वारा नियुक्ति हो अथवा गुटिका द्वारा। इसके साथ ही साथ हम उपर्युक्त विविध विकल्पों का संयोग भी कर सकते हैं। मेरे कथन का तात्पर्य यह है कि कुछ पदाधिकारी कुछ थोड़े से नागरिको के द्वारा

चुने जायँ और कुछ सब नागरिको द्वारा , कुछ अधिकारी सब नागरिको मे से चुने जायँ और कुछ थोडे से नागरिको मे से तथा कुछ चुनाव द्वारा नियुक्त किये जायँ एव कुछ गुटिका द्वारा।

उपर्युक्त विभिन्न विकल्प-प्रकारो मे से प्रत्येक की चार प्रयोग-विधियाँ है। या तो सब नागरिक सब नागरिको मे से निर्वाचन द्वारा चुनकर पदाधिकारियो की नियुक्ति कर सकते है, अथवा सब नागरिक सब नागरिको के मध्य मे से गुटिका द्वारा चुनकर उनकी नियुक्ति कर सकते है (और यदि पदाधिकारी सब नागरिको मे मे चुने जायँ तो दोनो ही अवस्थाओ मे वे या तो बारी बारी से विविध जनवर्गो मे से—यथा कबीलो, मुहल्लो अथवा बिरादरियो मे से—चुने जायँ और यह बारियाँ तब तक चालू रहे जब तक कि सब जनता की बारी न आ जाय और या यो ही बिना किसी भेद-भाव के सब मे से चुन लिये जायँ), अथवा कुछ एक पदो की नियुक्तियाँ उपर्युक्त प्रकारो मे से एक के अनुसार हो और कुछ एक की दूसरे प्रकार से। अथवा ऐसा हो सकता है कि सब नागरिक थोडे से नागरिको मे से पदाधिकारियो को नियुक्त करे। फिर यदि केवल थोडे (कुछ ही) लोग नियुक्ति करे तो वे या तो सब नागरिको मे से उनको निर्वाचन द्वारा नियुक्त करेंगे, अथवा सबमे से गुटिका द्वारा नियुक्त करेंगे, अथवा वे उनको कुछ ही नागरिको मे से या तो निर्वाचन द्वारा नियुक्त करेंगे या कुछ ही में से गुटिका के द्वारा नियुक्त करेंगे , अथवा कुछ पदो की नियुक्ति एक (इस) प्रकार से करेंगे और कुछ अन्य की दूसरे (उस) प्रकार से। अर्थात् सब नागरिको मे से कुछ लोग निर्वाचन द्वारा नियुक्त किये जायँगे और कुछ पदो पर गुटिका द्वारा नियुक्तियाँ की जायँगी और कुछ मे से कुछ पदो पर निर्वाचन द्वारा नियुक्तियाँ की जायँगी और कुछ पदो पर गुटिका द्वारा। इस प्रकार यदि पूर्वोक्त पैराग्राफ मे वर्णित तीन सयोगो मे से प्रथम को ही ले और शेष दो को छोड दे तो इन नियुक्तियो के बारह प्रकार उत्पन्न होगे।

इन प्रकारो मे से दो जनतन्त्रात्मक है—एक तो यह कि सब नागरिक, सब नागरिको में से पदाधिकारियो को या तो निर्वाचन द्वारा नियुक्त करे या गुटिका द्वारा; अथवा दूसरा यह कि सब नागरिको मे से दोनो ही पद्धतियो से नियुक्त करे, अर्थात् कुछ की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा और कुछ की गुटिका द्वारा हो। निम्नलिखित विविध नियुक्ति के प्रकार "व्यवस्था" नामक शासन-पद्धति के लिए समुपयुक्त है । एक यह कि जब सब नागरिक सभी नागरिको मे से पदाधिकारियो की नियुक्ति, निर्वाचन द्वारा, गुटिका द्वारा अथवा दोनों के द्वारा एक बार ही न करें प्रत्युत कुछ खडो मे से एक के पश्चात्

एक से करे। दूसरे यह कि सब नागरिक सब मे से कुछ पदो के लिये नियुक्तियाँ करें और अन्य पदो के लिये किसी नागरिको के विभाग मे से नियुक्त करे (और यह नियुक्तियाँ या तो निर्वाचन द्वारा हो, या गुटिका द्वारा अथवा दोनो ही प्रकार से हो)। तथा यह पद्धति, कि कुछ थोड़े से ही नागरिक, सब नागरिको के मध्य मे से कुछ पदो पर निर्वाचन द्वारा नियुक्तियाँ करे और अन्य पदो पर गुटिका द्वारा, है तो "व्यवस्थात्मक" ही पर उपर्युक्त दोनो पद्धतियो की अपेक्षा अल्पजनतत्रात्मकता की ओर अधिक झुकती हुई है। अन्तिम प्रकार, जो कि ऐसी "व्यवस्था" के लिये समुचित है जो श्रेष्ठ-जनतत्र को लगभग स्पर्श करनेवाली है, यह है कि कुछ नागरिक दोनो प्रकार से नियुक्तियाँ करते हैं—अर्थात् कुछ पदो के लिये सब नागरिको में से नियुक्तियाँ करते हैं और कुछ अन्य पदो के लिये थोडे से नागरिको में से (फिर चाहे भले ही यह नियुक्तियाँ पूर्णतया निर्वाचन द्वारा हो या पूर्णतया गुटिका द्वारा, या कुछ पदो के निर्वाचिन द्वारा और कुछ के लिए गुटिका द्वारा)। अल्प-जनतत्रात्मक प्रकार यह है कि कुछ नागरिक कुछ नागरिको मे से पदाधिकारियो का चुनाव करे, चाहे वह उन थोडे से नागरिको में से गुटिका से नियुक्ति करें (ऐसा वास्तव मे न भी हो तो भी है यह रीति अल्पजनतंत्रात्मक ही), या निर्वाचन द्वारा अथवा दोनो के समिश्रण के द्वारा। और जब थोडे से नागरिक सब नागरिको मे से पदाधिकारियो की नियुक्ति करते है (तो यह पद्धति अल्पजनतत्रात्मक नही होती) अथवा जब सब नागरिक कुछ लोगो मे से निर्वाचन द्वारा नियुक्ति करते है तो यह पद्धति श्रेष्ठजनतत्रात्मक होती है।

शासन-पदाधिकारियो को नियुक्त करने के विविध प्रकारो की सख्या और उनका विविध प्रकार की शासन-पद्धतियो मे विभाजन इसी (उपर्युक्त) विवरण के अनुसार कौन सी रीति किसके लिये समीचीन है और प्रत्येक स्थिति मे नियुक्ति किस प्रकार की जानी चाहिये यह बात तब स्पष्ट होगी जब कि हम विविध शासन-पदो के अधिकार (व्यापार) को निर्धारित कर लेंमे। अधिकार से तात्पर्य शासन-पदाधिकारियो की उस शक्ति से है जो वे, उदाहरणार्थ, राजस्व अथवा रक्षा-सेना के ऊपर रखते है। (विभिन्न पदाधिकारियो की शक्तियाँ विभिन्न प्रकार की हुआ करती है।) उदाहरणार्थ सेनापति का सत्ताधिकार उस पदाधिकारी की सत्ता से भिन्न होता है जो बाजार में किये हुए ठहरावो (करारो) की देखभाल करने का कार्य करता है।[१]

टिप्पणियाँ

१. यूनान में पुरोहित और पुरोहिताओं की नियुक्ति देवी-देवताओं के लिये बलि, पूजा इत्यादि कार्य करने के लिए और भक्तों की पूजाविधि बतलाने के लिए की जाती

थी। उनको न तो विशेष धार्मिक अधिकार प्राप्त होते थे और न विशेष धर्म-संबंधी ज्ञान की आवश्यकता होती थी। कभी इनकी नियुक्ति एक सीमित समय के लिए होती थी और कभी-कभी जन्म भर के लिए। जो देव और देवी अविवाहित माने गये थे उनके पुजारी और पुजारिन भी ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियाँ होती थीं। कुछ देवताओ के पुजारी नपुंसक होते थे। कुछ प्रसिद्ध मन्दिरो के पुजारियो का पद कुलक्रमागत भी होता था। इन लोगों की जीवन की आवश्यकताएँ तो निर्माल्य और चढ़ावे से ही पूरी हो जाती थीं और उसके अतिरिक्त इनको कुछ वेतन भी मिलता था।

२. सार्वजनिक नाटकोत्सव के अवसर पर नाटकों के लिए गायक-मण्डली का प्रबन्ध करना प्रभूतव्ययसाध्य कार्य था इसके लिए जाति-मण्डल पैसा एकत्रित किया करते थे।

३. घोषक का कार्य घोषणा करना और सन्देश-वहन करना था। यूनानी भाषा में उसको "केरीक्ष" अथवा में "केरुक्ष" कहते थे।

४. राजदूत के लिए ग्रीक भाषा में "प्रेस्ब्यूतेस्" शब्द प्रयुक्त हुआ है।

५. सूची मुखदीप-स्तम्भ के लिए मूल ग्रन्थ में "ओबेलिस्कोली-खूनिया" शब्द आया है। भाव यह है कि जिस प्रकार ऐसा दीप-स्तम्भ कई कार्यों के लिए उपयोगी हो सकता है इसी प्रकार छोटे नगरों के पदाधिकारी कई प्रकार के काम करने में समर्थ होने चाहिये।

६. इससे यह प्रकट होता है कि यूनानी नगर-राष्ट्रो में केन्द्रीय और स्थानीय शासन का भेद था।

७. प्रोबूली (ले) नामक संस्था बूली अथवा बूले से छोटी परिषद् होती थी। इसका कार्य बूले के लिए कार्य-योजना प्रस्तुत करना था। पर यह अथेन्स में केवल एक बार ई० पू० ४१३ में एक वर्ष के लिये स्थापित की गई थी।

८. मूल में इनके लिए फीले (=कबीला) देमॉस् (=मुहल्ला) तथा फ्रात्रिया (=बिरादरी) शब्दो का प्रयोग किया गया है। इनके स्वरूप को समझने के लिए अरिस्तू का अथेन्स का संविधान देखना चाहिये।

९. इस खंड के अन्तिम दो अनुच्छेदों का पाठ गड़बड़ है। इसके लिये न्यूमैन के संस्करण की चौथी जिल्द के ३० पृष्ठ पर छोटे अक्षरों की पादटिप्पणी द्रष्टव्य है।

१६

न्यायालय और न्यायकर्ता

राष्ट्र के तीन अंगो (अर्थात् राष्ट्र-चिन्तन, कार्य-संचालन और न्याय) मे से अब न्याय का विचार करना शेष है। इस विषय के निर्धारण में भी उसी पद्धति का

अनुसरण किया जाना चाहिये जो कि पूर्वोक्त विषय के लिये व्यवहृत हुई है। न्यायालयो की विभिन्नता तीन मर्यादाओ पर निर्भर है। (१) न्यायालय के सदस्य किन लोगो मे से नियुक्त किये जाते हैं ? (२) किन विषयो से उनका सबध है ? और (३) उनकी नियुक्ति किस प्रकार से होती है ? "किन लोगो मे से" कहने का तात्पर्य यह है कि न्यायाधीश सब नागरिको मे से लिये जायेंगे अथवा थोडे से नागरिको में से, किन विषयो से सबध का भाव यह है कि न्यायालय कितने प्रकार के होते हैं, और "नियुक्ति किस प्रकार हो" का अर्थ यह है कि उनकी नियुक्ति गुटिका द्वारा होगी अथवा निर्वाचन द्वारा।

प्रथम हमको यही निर्णय कर लेना चाहिये कि न्यायालय कितने प्रकार के होते हैं। इनकी सख्या आठ है। इनमें से पहला न्यायालय शासनाधिकारियो के कार्य (आचरण) की प्रत्यालोचना करनेवाला है। दूसरा किसी भी सार्वजनिक अपराध का निर्णय करने के लिये है। तीसरा वह है जिसका संबध शासन-व्यवस्था सबधी व्यवहारो (अपराधो) से है। चौथा (जिसके कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत, शासनाधिकारी और साधारण जन दोनो आते हैं) वह है जो कि दण्डशुल्क के व्यवहारो से सबध रखता है। पाँचवें का क्षेत्र ऐसे जनसाधारण के व्यक्तिगत ठहराव है जिनमें विपुल राशि सबद्ध होती है। छठा न्यायालय हत्या-सबधी अपराधों से सबध रखता है और सातवाँ विदेशियो के मामलो से। हत्या के अपराधो का निर्णय करनेवाला न्यायालय कई प्रकार का होता है जो या तो एक सम्मिलित (एकत्रित) न्यायाधीशो के अधीन रह सकता है अथवा अलग अलग न्यायाधीशो के अधीन रह सकता है। (अथवा हत्या के विविध प्रकारों का निर्णय या तो एक ही न्यायालय में हो सकता है अथवा पृथक् पृथक् न्यायालयो में)। प्रथम प्रकार की हत्या वह है जो सोच-विचारकर की गई हो, दूसरी वह जो अनिच्छा से यो ही हो गई हो, तीसरे प्रकार के हत्यापराध वह है जिनमें अपराध को तो स्वीकार कर लिया गया हो पर जिसका औचित्य विवादग्रस्त हो। चौथा प्रकार हत्या के अपराधो का वह है जिसमें उस हत्याकारी के दण्ड का निर्णय किया जाता है जो पहले हत्या करने पर निर्वासित कर दिया गया था (अथवा भाग गया था) और अब लौट आने पर जिसने पुन हत्या की है। इस प्रकार के निर्णय करनेवाला न्यायालय अथेन्स में "फ्रेयत्तो का न्यायालय"[१] नाम से पुकारा जाता है। पर इस प्रकार के मामले तो बडे बडे नगरो में भी बहुत ही विरल होते हैं। विदेशियो के विवादो के न्यायालय भी इसी प्रकार दो विभागो वाले होते है, एक वह जिनमें विदेशियो के विदेशियों से ही होनेवाले विवादो का निर्णय किया जाता है, दूसरे वह जिनमें विदेशियों और नागरिकों

के विवादो का निर्णय होता है। और इन सबके अतिरिक्त (आठवाँ) न्यायालय साधारण जनता के उन ठहरावो के विवादो के विषय से सबध रखता है जिसमे एक, या पॉच, या इससे थोडे अधिक द्राख्मो[2] के अल्प धन के झगडो का निर्णय करना होता है। पर ऐसे न्यायालयो मे न्यायाधीशो की बहुत बडी सख्या की आवश्यकता नही होती।

इस अन्तिम छोटे मामलो के न्यायालय, हत्या सबधी न्यायालय और विदेशियो से सबंध रखनेवाले न्यायालयों के विषय में तो अब कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नही। मै अब प्रथमोक्त पाँच न्यायालयो का ही विवरण प्रस्तुत करूँगा जो कि राजनीति (=नगर-नीति) से सबध रखते है, क्योकि इनके अन्तर्गत ऐसे विषय आते है जिनका सुप्रबन्ध न होने पर कलह-द्वन्द्व और राजनीतिक उथल-पुथल उत्पन्न हुआ करते हैं।

यदि सब नागरिक सभी नागरिको के, हमारे द्वारा उपर्युक्त विषयों मे न्याय करने के लिये अधिकृत हो तो निश्चयमेव न्यायाधीशों की नियुक्ति या तो निर्वाचन द्वारा होनी चाहिये अथवा गुटिका द्वारा। अथवा सब नागरिकों को सभी विषयों पर निर्णय करने का अधिकार हो पर कुछ न्यायाधीशो की नियुक्ति गुटिका के द्वारा हो और अन्य कुछ मतदान द्वारा निर्वाचन से। अथवा जब नागरिको को उपर्युक्त विषयों के वर्ग-विशेष का ही निर्णय का अधिकार हो तो उस वर्ग-विशेष से सबंध रखनेवाले न्यायाधीश भी इसी प्रकार—अर्थात् कुछ निर्वाचन द्वारा और कुछ गुटिका द्वारा—नियुक्त किये जाने चाहिये। इस प्रकार न्यायाधीशों को (समग्र नागरिक-समुदाय में से) नियुक्त करने के चार प्रकार हुए। इसी प्रकार न्यायाधीशो को नागरिको के एक खण्ड में से नियुक्त करने के भी चार प्रकार होंगे। उपर्युक्त प्रकार के प्रतिकूल इनमें ऐसे न्यायाधीश होगे जो कुछ ही नागरिकों में से सब प्रकार के अभियोगों का निर्णय करने के लिये निर्वाचन द्वारा नियुक्त होगे अथवा कुछ नागरिकों में से सब विषयों का निर्णय करने के लिये गुटिका द्वारा नियुक्त होंगे। अथवा ऐसे न्यायाधीश होगे जो कुछ नागरिकों में से मतदान द्वारा कुछ अभियोगो का निर्णय करने के लिये नियुक्त हुए हैं, और अन्य कुछ अभियोगो के निर्णय के लिये कुछ नागरिकों में से गुटिका द्वारा नियुक्त किये गये हैं। अथवा ऐसे न्यायाधीश होंगे जो कुछ ही न्यायालयो में आसीन होगे (अर्थात् उपर्युक्त विषयों में से कुछ का ही निर्णय करेंगे) तथा जो कुछ नागरिकों में से अंशतः मतदान द्वारा तथा अंशत. गुटिका द्वारा नियुक्त किये जायगे। जैसा कि अभी कहा गया था, यह चारो प्रकार हमारे द्वारा पूर्वोक्त चारों प्रकारों के ठीक प्रतिसंवादी हैं।

फिर इन उपर्युक्त नियुक्ति की प्रणालियो का सम्मिश्रण किया जा सकता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि उदाहरण के लिये ऐसे कुछ न्यायालय हो सकते है जिनके न्यायाधीश समग्र जनता मे से नियुक्त किये गये हो, अन्य कुछ ऐसे हो सकते है जिनके न्यायाधीश थोडे से नागरिको मे से नियुक्त किये गये हो तथा कुछ ऐसे हो सकते है जिनके न्यायाधीश उभय प्रकार से नियुक्त किये गये हो, उदाहरणार्थ एक ही (वही) न्यायालय ऐसे हो सकते है जिनके न्यायाधीशो के मण्डल मे से कुछ सब नागरिको में से और कुछ थोडे से नागरिको में से या तो मतदान द्वारा, या गुटिका द्वारा या उभय प्रकार से नियुक्त हुए हो।

कितने सभव प्रकारो से न्यायालयो की सघटना हो सकती है, इसका विवरण हो चुका। इनमे से प्रथम प्रकार, जनतत्रात्मक है जिसके न्यायाधीश सब नागरिको मे से चुने जाते है और सब विषयो का निर्णय करते है। दूसरा प्रकार, जिसमे न्यायाधीश कुछ ही नागरिको मे से चुने जाते है और सब प्रकार के अभियोगो का निर्णय करते है, अल्पजन (धनिकजन)-तत्रात्मक है। तीसरा प्रकार, जिसमे कुछ न्यायालयो के सदस्य सब नागरिको मे से और कुछ के थोडे से नागरिको में से नियुक्त किये जाते है, श्रेष्ठ-जनतत्रात्मक अथवा "व्यवस्थात्मक" है।

टिप्पणियाँ

१. फ्रेयत्तो का (अथवा पर) न्यायालय अथेन्स का अनोखे प्रकार का न्यायालय था। इसमें न्यायाधीश समुद्रतट पर पृथ्वी पर स्थित होते थे और अपराधी जहाज में। अपराधी ऐसा व्यक्ति होता था जो अनजाने में हत्या करने के कारण एक वर्ष की अवधि के लिए निर्वासित किया जा चुका था, परन्तु जिसने इस निर्वासन-काल में जान-बूझकर हत्या अथवा आक्रमण का अपराध किया था। इसको सामुद्रिक अथवा जलीय न्यायालय कह सकते है। इस विषय का सविस्तर वर्णन अथेन्स के संविधान में किया गया है।

२. द्राख्मा यूनानी सिक्के का नाम है। इसका संस्कृत रूपान्तर द्रम्भ।' फारसी में इसको दिरम् या दिरहम् कहते है।

पंचम पुस्तक

१

व्यवस्था-परिवर्तन

जिस कार्यक्रम की हमने पहले प्रस्तावना की थी वह अब लगभग पूर्ण हो गया।[1] हमारे द्वारा वर्णित क्रम में इसके पश्चात् अब राष्ट्रो की क्रान्तियों का विषय आता है। देखना यह चाहिये कि राष्ट्रो में परिवर्तन (या क्रान्तियाँ) किन कारणो से उत्पन्न होती है, कितने प्रकार की होती है और उनका स्वरूप क्या है। तथा हमको यह भी विचार करना है कि प्रत्येक राष्ट्र का पतन (= विनाश) किस विशिष्ट रीति से हुआ करता है, और किस अवस्था से वह प्रायेण किस अवस्था में बदल जाते है। इसके साथ ही हमको यह भी विचार करना है कि सामान्यरूपेण सब राष्ट्रों की और व्यष्टिरूपेण पृथक् पृथक् राष्ट्रो की सुरक्षा किस नीति से हो सकती है, और प्रत्येक राष्ट्रकी रक्षा किन उपायो के उपयोग से सबसे अच्छे प्रकार से हो सकती है।[2]

सबसे पहले हमको अपनी विवेचना के प्रारभिक आधार के रूप में इस तथ्य को स्वीकार करके चलना चाहिये कि जो विविध प्रकार की शासनपद्धतियाँ उत्पन्न होती है उनके मूल मे यह तथ्य है—(जिसको मै पहले ही बता चुका हूँ) कि जब कि न्याय और न्याय से उत्पन्न होनेवाले आनुपातिक समानता के सिद्धान्त को तो सभी स्वीकार करते है, पर व्यवहार-क्षेत्र में इसका प्रयोग करने में वे असफल रहते है। जनतंत्र की उत्पत्ति इस सम्मति के आधार (बल) परहोती है कि जो लोग किसी एक बात में बराबर होते है वे निरपेक्ष भाव से सभी बातो में समान होते है। क्योकि वे सब समानरूपेण स्वतत्र है अतएव वे सोचने लगते है कि निरपेक्ष भाव से (सभी बातो में) बराबर हैं। अल्पजन (= धनिकजन) तत्र इस सम्मति के आधार पर उत्पन्न हुआ है कि जो लोग एक बात में असमान है वे सब बातो में असमान होते हैं। सम्पत्ति में असमान होने पर वे यह मान लेते है कि वे निरपेक्ष भाव से सभी अन्य बातो में भी असमान है। इस मान्यता के आधार पर जनतत्रवादी अपनी समानता के आधार सभी वस्तुओ में बराबर का भाग बाँटने का दावा करते है, अल्पजनतत्रवादी असमान होने के कारण सबके बराबर से अधिक भाग पाने की चेष्टा करते है—अर्थात् वे अपनी असमानता को अन्य लोगो से अधिक होना (बडा होना) मानते हैं। इन सब शासनपद्धतियों में

एक प्रकार का न्याय पाया जाता है पर आत्यन्तिक न्याय की अपेक्षा यह सब सदोष होती है। और इसी कारण से दोनो ही पक्ष जब कभी उनमे से किसी को भी शासन मे प्राप्त होनेवाला भाग उसके पूर्व स्वीकृत न्याय की भावना से मेल नही खाता प्रतीत होता, विद्रोह[3] खडा कर देते है। जो लोग सद्गुणो मे अन्य लोगो से बढकर होते है उनको विद्रोह खडा करने का सवश्रेष्ठ अधिकार होता है, क्योकि परमार्थरूपेण तो केवल वे ही अन्य लोगो की अपेक्षा विशिष्टता-सपन्न माने जा सकते है, पर वे (वास्तव मे) विद्रोह का प्रयत्न करने मे सबसे अन्तिम व्यक्ति होते है। तथा जो व्यक्ति उच्चकुल मे जन्म के कारण ऊँचे माने जाते है उनके पक्ष मे भी कुछ औचित्य रहता है, क्योकि वे इसी सुविधा के आधार पर अपने को अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक अश के भागी मानते है। कुलीन वही माने जाते है जो सद्गुणी और सम्पत्तिशाली पूर्वजो के कुल मे जन्म लेते है।

सामान्यरूपेण बस यही तो राज्यक्रान्तियो का उद्गम और स्रोत है, जिनसे कि विप्लव की उत्पत्ति हुआ करती है। इन्ही कारणो से राष्ट्रो के शासन मे दो पृथक् पृथक् प्रकार के परिवर्तनो का जन्म हुआ करता है। एक प्रकार की क्रान्ति वह होती है जो स्थापित शासन-पद्धति के स्थान पर दूसरे प्रकार की पद्धति को स्थापित करने के लिये होती है। जैसे कि जनतत्र से बदलकर धनिकतत्र को स्थापित करने के लिये, अथवा धनिकतत्र से बदलकर जनतत्र को स्थापित करने के लिये अथवा इन (जनतत्र और अल्पजनतत्र) को "व्यवस्था-पद्धति" और श्रेष्ठजनतत्र मे बदलने के लिये, अथवा इसके विपरीत इन ("व्यवस्था-पद्धति" और श्रेष्ठजनतत्र) को उन (जनतत्र और अल्पजन-तत्र) मे बदलने के लिये (क्रान्तियाँ हुआ करती है)। दूसरी प्रकार की क्रान्ति वह होती है जो स्थापित शासन-पद्धति के विरुद्ध नही होती, जब कि क्रान्तिकारी दल स्थापित शासन-पद्धति को ज्यो का त्यो (जैसा का तैसा) बना रहने देने का निर्णय करता है—उदाहरण के लिये वह अल्पजनतत्र अथवा एकराट्तत्र को जैसा है वैसा ही रहने देने का निर्णय करता है—पर शासन-कार्य को अपने सदस्यो के हाथ मे लेना चाहता है। फिर विप्लव कभी अपेक्षाकृत अधिकता और अल्पता के विषय मे भी हो सकता है। उदाहरणार्थ वे धनिकतत्र को अपेक्षाकृत अधिक अथवा कम धनिकतत्रात्मक बना देना चाहते ह, अथवा जनतत्र को अपेक्षाकृत अधिक, कम जनतत्रामक बना देना। इसी प्रकार वे अन्य किसी अवशिष्ट प्रकार की शासन-पद्धति को भी पूर्वापेक्षा अधिक कठोर अथवा अधिक शिथिल बनाना चाह सकते हैं। अथवा क्रान्तिकारी दल शासन-पद्धति के किसी एक अश को बदलने के लिये प्रवृत्त हो सकता है, उदाहरण के लिये उसका प्रयोजन किसी शासन-पद की स्थापना अथवा निर्मूलन हो सकता है। जैसा कि कहा जाता है कि

लाकैदायमॉन (स्पार्टा) मे लीसान्दर[४] ने राजपद को तथा पौसानियास्[५] ने पचो के पद को निर्मूल कर देने की चेष्टा की थी। और ऐपीदाम्नस्[६] मे भी शासनप्रणाली मे आशिक परिवर्तन हुआ था—अर्थात् गणज्येष्ठो के स्थान पर (जनतत्रात्मक प्रकार की) परिषद् नियुक्त कर दी गई थी। पर आज भी यह नगर (पूर्णतया जनतत्रात्मक नही है यहाँ तक कि) जब किसी शासनाधिकार-मडल की नियुक्ति के विषय मे निर्वाचन (मतदान) होता है तो नागरिक अधिकारियो मे से केवल शासनाधिकारी वर्ग का ही सर्वोच्च परिषद् मे (हेलीयाइया मे) मतदान के लिये जाना अनिवार्य होता है। इस राष्ट्र की शासन-प्रणाली का एक दूसरा धनिकतत्रात्मक लक्षण वहाँ (अनेक मुखियो के स्थान पर) एकमात्र मुखिया का पद होना है। (इस प्रकार) सर्वत्र ही क्रान्ति का कारण असमानता ही होती है, पर वह असमानता नही जिसमे समानुपात होता है (अर्थात् जब असमान व्यक्तियो के प्रति उनकी असमानता के अनुपात से व्यवहार किया जाता है तो कोई असमानता नही होती), उदाहरणार्थ यदि समान लोगो के मध्य मे सनातन (कुलक्रमागत) राजपद पाया जाय तो वह असमानता होगी। सर्वदा लोग समानता की ही कामना से विद्रोह (क्रान्ति) किया करते है।

समानता दो प्रकार की होती है, एक सख्यागत दूसरी योग्यता सबधी। सख्यागत समानता से मेरा तात्पर्य संख्या अथवा महत्ता की मात्रा में समानता से है; योग्यता सबधी समानता से प्रयोजन आनुपातिक समानता से है।[७] उदाहरणार्थ सख्या की दृष्टि से तीन से दो उतना ही अधिक है जितना दो एक से, जब कि आनुपातिक दृष्टि से चार दो से उतना ही बडा है जितना दो एक से, क्योकि दो चार का वही भाग है जो एक दो का; अर्थात् आधा भाग है। जैसा कि मै पहले कह चुका हूँ, मनुष्य इस बात पर तो एकमत हो जाते है कि निरपेक्ष न्याय योग्यता के अनुपात मे होना चाहिये पर (व्यावहारिक क्षेत्र में वे) योग्यता के प्रश्न पर एक दूसरे से मतभेद रखते है। कुछ का विचार यह है कि यदि मनुष्य किसी एक बात में समान हों तो वे सभी बातो में समान माने जाने चाहिये, दूसरे लोगो का विचार है कि यदि वे एक बात में अन्य लोगो से बढकर है तो सभी बातो मे दूसरे से बढकर होने चाहिये। अतएव शासन-पद्धतियो के दो प्रमुख भेद हो जाते है, एक जनतत्र और दूसरा अल्पजन-(धनिक) तत्र। कुलीनता (सद्जन्म) और सद्वृत्ति तो बहुत थोडे से लोगो में पाई जाती है, पर जिन गुणो पर जनतत्र और धनिकतत्र आश्रित है—अर्थात् सख्याधिक्य और धन—वे बहुतों में मिल जाते हैं। एक सौ सुजात और अच्छे आदमी कही भी (किसी भी नगर में) नही मिलेंगे पर बहुतेरे धनवान् बहुत से नगरो में मिल जायँगे। किंतु कोई भी शासन-पद्धति

जो कि सब बातो मे विशुद्धरूपेण इन दोनो प्रकारो (जनतत्रात्मक अथवा धनिक-तंत्रात्मक) मे से किसी एक की समानता की भावना पर आश्रित होती है, त्रुटिपूर्ण होती है। यह तथ्य घटनाओ से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है, इस प्रकार की शासन-पद्धतियाँ (व्यवस्थाएँ) कदापि स्थायी नही होती। कारण यह है कि जब किसी चीज मे आरभ से दुर्बलता होती है और मूल मे ही दोषपूर्णता होती है, तो अन्त में उसका बुरा हुए बिना नही रह सकता। अतएव होना यह चाहिये कि कही तो सख्या सबधी समानता का उपयोग होना चाहिये और अन्य स्थलो मे योग्यता सबधी समानता का (अर्थात् योग्यता के अनुपात के अनसार व्यवहार का)।

फिर भी यह माना ही जाना चाहिये कि जनतत्रात्मक शासन-पद्धति धनिकतंत्रात्मक पद्धति की अपेक्षा अधिक स्थिर और कम क्रान्तिप्रवण होती है। धनिकतत्रो मे दो प्रकार के विद्रोह उत्पन्न हो सकते है, एक तो उनमें परस्पर विद्रोह उठ खडा हो सकता है, दूसरे धनिको और जनता के दलो के मध्य मे विद्रोह हो सकता है। पर जनतत्रात्मक पद्धति में केवल एक ही ओर से—धनिको के पक्ष की ओर से ही विद्रोह सभव है। प्रजातत्री दल में, अपने भीतर अपने ही विरुद्ध ऐसा विद्रोह जो कि उल्लेख करने योग्य हो, घटित नही होता। इसके अतिरिक्त जनतत्रात्मक शासन-पद्धति, धनिकतत्र की अपेक्षा उस शासन-पद्धति—मध्यमवर्गों पर आश्रित "व्यवस्था" नामक प्रणाली के अधिक समीप है जो इन (अपूर्ण और श्रेष्ठ आदर्श प्रणालियो) मे सबसे अधिक स्थायी है।

टिप्पणियाँ

१. इस प्रस्तावना का संकेत चतुर्थ पुस्तक के दूसरे खंड के अन्त में दी हुई योजना की ओर है। वहाँ अरिस्तू ने जिन पाँच बातों का विवेचन करने की प्रतिज्ञा की थी उनमें से चार का वर्णन चतुर्थ पुस्तक के अन्त तक हो चुका।

२. अब पाँचवां विषय शेष है। अर्थात् यह वर्णन करता रह गया है कि राष्ट्रों का पतन और राष्ट्रो में क्रान्तियाँ किन कारणों से उत्पन्न होती है और राष्ट्रों की रक्षा किस प्रकार संभव है। अतएव राष्ट्रों के पतन और क्रान्तियों के कारण का विवेचन पंचम पुस्तक में और राष्ट्रों की रक्षा की विधि का वर्णन षष्ठ पुस्तक में किया गया है।

३. मूल ग्रीक् भाषा में विद्रोह के लिए "स्तासिस्" शब्द का प्रयोग किया गया। मूलतः स्तासिस् का अर्थ है राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए दल खड़ा (स्थापित) करना।

४. लीसान्दर अथवा लीसान्द्रॉस् स्पार्टा का नौसेनाध्यक्ष था। वह अत्यन्त कुशल और साहसी था पर साथ ही साथ अत्यन्त क्रूर भी था। उसने अथेन्स को जीता था। उसके दुष्प्रबन्ध के कारण स्पार्टा के एफौर्स ने उसको पदच्युत कर दिया। उसकी मृत्यु ई० पू० ३९५ में हुई।

५. पौसानियास् ई० पू० ४७९ से स्पार्टा का प्रबन्धक था। उसने फारस के विरुद्ध युद्ध में बीजान्तियॉन् को जीत लिया था। इसके उपरान्त वह अत्यन्त अभिमानी हो गया। उसके विरुद्ध फारस के सम्राट् से मिल जाने का अभियोग दो बार लगाया गया। पर उसके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिल सका। पर जब दूसरी बार अभियोग चल रहा था तब एक दूत के पास उसका वह पत्र मिल गया जो उसने फारस के सम्राट् को छिपाकर भेजा था। इस पर स्पार्टा के लोगों ने उस धार्मिक स्थान की दीवार-बन्दी करवा दी जिसमें उसने शरण ले रखी थी। वह स्पार्टा के वंशानुगत राजपद के स्थान पर योग्यतम व्यक्ति को राजा बनाने के पक्ष में था।

६. एपीदाम्नस् आर्गोलिस् प्रदेश में है। हेलीयाइया यहाँ के परिषद् के अधिवेशन के स्थान का नाम है।

७. अरिस्तू ने सर्वत्र आनुपातिक समानता का समर्थन किया है।

२

क्रान्तियों के कारण

क्योकि हमको उन कारणो का विचार करना है जिनसे विद्रोह उत्पन्न होते है और शासन-व्यवस्थाओ मे परिवर्तन हुआ करते है अतएव हमको प्रथम उन (विद्रोहो और परिवर्तनो) के मूलोद्भव और कारणो पर सामान्यतया विचार कर लेना चाहिये। उनकी सख्या बस तीन है, ऐसा कहा जा सकता है, और अब हमको इनमे से प्रत्येक के बाह्य रेखाकन द्वारा इनकी सीमा के निर्धारण का आरभ करना चाहिये। जिन (तीन) बातो का अन्वेषण करना है वे हैं—(१) वह मनोदशा (अथवा मनोवेग) जिनके वशीभूत होकर मनुष्य विद्रोह किया करते है, (२) वे निमित्त जिनके कारण विद्रोह हुआ करते है, और (३) वे प्रसग (या अवसर) जिन पर राजनीतिक उपद्रव पारस्परिक विद्रोह फूट पडते (प्रारभ हो जाते) हैं। क्रान्तिकारी (विद्रोही) मनोवृत्ति का अथवा परिवर्तनकारी मनोदशा का सर्वव्यापी और प्रमुख कारण वही है जो हम बतला चुके है। कुछ मनुष्य ऐसे होते है जिनके हृदय समानता की भावना से ओतप्रोत

होते है, वे यह मानते हुए विद्रोह खडा किया करते है कि यद्यपि वे उन लोगो के समान है जो उनसे अधिक (धन-सपत्ति इत्यादि) पाय हुए है, तथापि उनको स्वय अन्य लोगो से कम (सुविधाएँ) प्राप्त है। दूसरे कुछ लोग जो विद्रोह खडा किया करते है, वे होते है जिनका हृदय असमानता (अर्थात् अपनी उच्चता) की भावना से भरा होता है, क्योकि वे यह समझते है कि यद्यपि वे अन्य मनुष्यो की अपेक्षा बढकर है, तथापि उनको अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक कुछ नही मिलता प्रत्युत या तो दूसरो के बराबर या उससे भी कम (धन इत्यादि) मिलता है। हो सकता है कि यह दोनो मनोविकार न्यायानुमोदित हो और यह भी हो सकता है कि (न्यायानुकूल) न हो। इस प्रकार छोटे व्यक्ति बराबर होने के लिये विद्रोही बना करते है, और बराबर स्थितिवाले लोग बडे बनने के लिये। यही वह मनोदशा है जिससे क्रान्तियो की उत्पत्ति होती है।

जिन निमित्तो से विद्रोह उत्पन्न होते है वे लाभ और सम्मान की कामना है, अथवा इसके विपरीत इच्छाएँ।—अर्थात् निरादर और हानि का भय, क्योकि राजनीतिक (नागरिक) क्रान्ति करनेवाले व्यक्ति अपने अथवा अपने मित्रो के ऊपर से किसी अपमान अथवा अर्थदण्ड (जुर्माने) को हटाने के लिये नगर मे विप्लव खडा कर देते है।

उपद्रवो के अवसर और आरभ—वे प्रसग जो कि मनुष्यो की मनोदशाओ को उपर्युक्त प्रकार की बना देते है (=जिनसे मनुष्य उपर्युक्त प्रकार से प्रभावित होते है), तथा जिनके कारण वे ऊपर कहे हुए निमित्तो की ओर प्रवृत्त होते है—एक प्रकार को विचार दृष्टि से सख्या में सात माने जा सकते है, तथा दूसरे प्रकार की दृष्टि से इस सख्या से अधिक भी हो सकते है। इनमे से दो तो वही है जिनका वर्णन किया जा चुका है (अर्थात् लाभ और सम्मान), पर जब उन पर क्रान्ति के प्रसग के रूप में विचार किया जाता है तो वे वैसे नही रहते। जब लाभ और सम्मान लक्ष्य-स्वरूप होते है तो वह मनुष्यो में परस्पर द्वेष को इसलिये भडकाते है क्योकि प्रत्येक व्यक्ति इनको अपने ही लिये चाहता है, पर जब वे अवसर (प्रसग-) स्वरूप होते है तो वह प्रथमोक्त प्रकार से द्वेष को नही भडकाते, प्रत्युत इसलिए भडकाते है कि लोग यह देखते है कि दूसरे लोग—न्याय्य अथवा अन्याय्य उपायो से—इन (लाभ और सम्मान) को बहुत अधिक मात्रा में स्वायत्त किये हुए है। (लाभ और सम्मान के अतिरिक्त क्रान्ति के अन्य कारण धृष्टता (दर्प), भय, अत्यधिक प्रमुखता, तिरस्कार तथा राष्ट्र के किसी भाग मे समानुपात से अधिक वृद्धि हैं। दूसरे (अर्थात् आनुषगिक) प्रकार के कारण है चुनावो के

षड्यत्र (छल, कपट), असावधानी, छोटी बातो के सबध मे प्रमाद, (राष्ट्र-सघटना मे तत्त्वो की असदृशता। (इस प्रकार कुल मिलाकर विद्रोह भडकने के ११ प्रसग हो सकते है।)

३

स्वल्प प्रसगों के गंभीर परिणाम

उपर्युक्त अवसरो में से (शासनाधिकार-सम्पन्न व्यक्तियो की) धृष्टता और लाभ की च्छा क्या प्रभाव रखती है और किस प्रकार से विद्रोह का कारण होती है, यह बात लगभग स्पष्ट ही है।[१] जब शासनपदारूढ व्यक्ति धृष्टताप्रवण होते हैं तथा अपने न्यायोचित भाग से अधिक पाने के इच्छक होते हैं तो जनता विद्रोह कर बैठती है—यह विद्रोह परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध भी होता है और उस शासन-व्यवस्था के विरुद्ध भी जो ऐसे (पदाधिकारियो) को ऐसी शक्ति प्रदान करती है। अपने न्यायोचित भाग से अधिक पाने की इच्छा का लक्ष्य या तो व्यक्तियो को हानि पहुँचाकर अपना घर भरना हो सकता है अथवा सार्वजनिक हित को हानि पहुँचाकर। और फिर यह भी स्पष्ट ही है कि सम्मान पाने की इच्छा कितनी बलवती होती है और किस प्रकार विद्रोह का कारण बन जाती है। जब (कुछ) मनुष्य स्वय तो अपमान भोगते है और दूसरो को सम्मानित हुआ देखते है तो वे विद्रोही बन जाते हैं। यह दोनो ही बातें न्याय के प्रतिकूल तब होती है जब किसी का बिना योग्यता के ही सम्मान अथवा अपमान किया जाता है, पर जब सम्मान अथवा अपमान योग्यतानुसार किया जाता है तो यही बातें न्यायानुकूल होती है। किसी प्रकार की प्रमुखता का भाव विद्रोह का कारण तब होता है, जब कोई एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियो का गुट इतनी शक्ति प्राप्त कर लेता है कि वह शक्ति नगर-राष्ट्र की शक्ति और नागरिक समाज की शक्ति से भी अधिक हो जाती है। ऐसी ही परिस्थितियो मे से एकराट्ता अथवा आनुवशिक धनिकतत्र की उत्पत्ति हुआ करती है। इसीलिए कुछ स्थानो में—उदाहरणार्थ ऑर्गास और अथेन्स में निर्वासन–नीति का अनुसरण किया जाता है। पर इससे अधिक अच्छी नीति तो यह होगी कि आरभ से ही इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि इस प्रकार की प्रमुखतावाले व्यक्ति उत्पन्न ही न हो, न कि यह कि प्रथम तो ऐसे व्यक्तियो को उत्पन्न होने दिया जाय, और पीछे से उनका उपचार सोचा जाय।

भय के कारण वे लोग विद्रोह किया करते है, जो या तो अपराध किये होते है पर दण्ड से भय खाते है, या जिनको अपने प्रति अन्याय किये जाने की आशका (सभावना) होती है तथा जो अपने प्रति किये जानेवाले अन्याय के पूर्व ही उसका प्रतिकार करना चाहते है। जैसा कि र्‌होड्स[२] में साधारण जनता के किये हुए बहुत से अभियोगो के आरोप की आशका से वहाँ के गण्यमान लोगो ने वहाँ की जनता के विरुद्ध विद्रोह (षड्यत्र) कर दिया था। तिरस्कार के कारण भी लोग क्रान्ति और विद्रोह किया करते है, उदाहरणार्थ धनिकतत्र पद्धति मे उस समय क्रान्ति होती है जब कि बहुसख्यक लोग ऐसे होते है जिनको नागरिक (राजनीतिक) अधिकार प्राप्त नही होते, और वे अपने को अधिक शक्तिशाली अनुभव करते है, और जनतत्रो मे तब विद्रोह होता है जब सम्पत्तिशाली व्यक्तियो को राष्ट्र मे फैली हुई अव्यवस्था और अराजकता के प्रति घृणा हो जाती है। जैसे कि थेबैस् नगर मे औइनोफीता[३] के युद्ध के पश्चात् प्रजातत्र-पद्धति कुशासन होने के कारण विनष्ट हो गई। मैगारा[४] मे जनतत्र का नाश अव्यवस्था और अराजकता के कारण हुई पराजय से हुआ। सीराकूज मे गैलोन[५] की तानाशाही के उदय के पूर्व जनतत्र के विरुद्ध घृणा की भावना के कारण जनतत्र का क्षय हुआ। र्‌होड्स मे पूर्व-वर्णित गण्यमान व्यक्तियो के विद्रोह के पूर्व जनतत्रात्मक पद्धति का पतन हुआ। (इस प्रकार घृणा अथवा तिरस्कार की भावना से प्रजातत्रो के पतन के अनेको उदाहरण मिलते है।)

राष्ट्र के किसी अग की असगत वृद्धि भी शासन-व्यवस्था के परिवर्तन का कारण बन जाती है। उदाहरण के लिये (मानव-) शरीर को ही लीजिये, शरीर विभिन्न अगो से मिलकर बनता है, और यदि शरीर का सतुलन बना रहना है तो सब अगो को सगत प्रकार से बढना चाहिये। यदि ऐसा नही हुआ—यदि पैर बढकर चार हाथ लम्बा हो गया और शेष शरीर केवल दो बालिश्त का रह गया—तो वह नष्ट हो जायगा।[६] और यदि यह असगत वृद्धि केवल मात्रागत न होकर गुणगत भी हुई तो कभी ऐसा भी हो सकता है कि परिवर्तन किसी अन्य प्राणी का आकार धारण कर ले। यही बात राष्ट्र के विषय मे भी ठीक बैठती है—राष्ट्र भी अनेको अगो से मिलकर बनता है, तथा कोई भी एक अग अज्ञात भाव से असगत वृद्धि को प्राप्त हो सकता है। उदाहरण के लिये जनतत्र-प्रणाली और "व्यवस्था" नाम की प्रणाली मे निर्धन लोगो की सख्या अनुचित रूप से बढ सकती है। ऐसी घटना कभी कभी आकस्मिकतया भी घट सकती है। उदाहरणार्थ तरैन्तम् नगर मे मीडिक (पर्शिक) युद्ध के थोडे समय उपरान्त इयापिगो लोगो के विरुद्ध युद्ध मे पराजय होने के कारण बहुत से गण्यमान पुरुषो के मर

जाने से नगर की शासन-पद्धति "व्यवस्था" से बदलकर जनतन्त्रात्मक हो गई।[*] और आर्गोस मे सप्तमी[८] के मनुष्यो की लाकैदायमॉन् के राजा क्लियोमेनीस द्वारा हत्या हो जाने पर, आर्गोस निवासियो को, अपने कुछ ग्राम-निवासियो को नागरिको की श्रेणी मे सम्मिलित करने के लिये बाध्य होना पडा (और इस प्रकार शासन-प्रणाली का पलडा जनतन्त्रात्मकता की ओर झुक गया)। एव अथेन्स मे पैलोपौनेसस के युद्ध[९] के समय पयादो के युद्ध की पराजय से गण्यमान लोगो की सख्या अत्यन्त क्षीण हो गई, क्योकि प्यादे सिपाहियो की भर्ती नागरिको की सूची मे से की जाती थी (इस प्रकार वहाँ भी जनतन्त्र-प्रणाली की ओर प्रवृत्ति हो गई)। इन्ही कारणो से इसी प्रकार के परिवर्तन जनतन्त्र-प्रणाली मे भी घटित होने सभव हैं—पर अपेक्षाकृत ऐसा कम होता है। जब सम्पन्न लोगो की सख्या बढ जाती है, अथवा सम्पत्तियो की वृद्धि हो जाती हैं तो जनतन्त्र-प्रणाली धनिकतन्त्र अथवा कुलपुत्रतन्त्र (दीनास्तेइया) मे बदल जाती है।

कभी कभी शासन-व्यवस्थाएँ बिना क्रान्ति के भी निर्वाचन सबधी छल-कपट के कारण बदल जाती है, उदाहरण के लिये जब हेराइया मे निर्वाचन का परिणाम छलपूर्ण दलबन्दी पर निर्भर देखा गया तो मतदान का स्थान गुटिका-पद्धति ने ले लिया (और इस प्रकार शासन-पद्धति मे परिवर्तन हो गया)। प्रमाद भी परिवर्तन का कारण हो सकता है, ऐसा तब होता है जब कि ऐसे व्यक्ति सर्वोच्च सत्ता के पदो पर आरूढ हो जाने दिये जाते हैं जो व्यवस्था के प्रति निष्ठावान् नही होते। यूबोइया का ओरेयस्[१०] नगर इस विषय मे उदाहरण-स्वरूप है, जहाँ हेराक्लियोडोरस् को सत्तारूढ हो जाने दिये जाने पर उसने धनिकतन्त्र को उखाड फेका और उसके स्थान पर व्यवस्थापरक और जनतन्त्रात्मक शासन-पद्धति के निर्माण का श्रीगणेश कर दिया।

फिर एक कारण स्वल्प परिवर्तनो के प्रति प्रमाद भी है। यदि स्वल्प परिवर्तनो की ओर ध्यान न दिया जाय तो बहुधा सभी सस्थाओ के मडल मे (अथवा सभी नियमो मे) बडा भारी परिवर्तन अलक्षित प्रकार से हो जाना सभव है। उदाहरण के लिये अम्ब्राकिया मे, आरभ में शासन-पदाधिकार के लिये बहुत थोडी साम्पत्तिक योग्यता नियत की गई थी पर अत मे उस योग्यता को बिलकुल शून्य हो जाने दिया गया क्योकि विचार यह किया गया कि थोडी योग्यता और योग्यता के अभाव मे कुछ भी अन्तर नही है।

और यदि किसी राष्ट्र के निवासियो मे एक जाति की भावना न हो तब भी विद्रोह हो सकता है, कम से कम उस समय तक तो इसकी सभावना रहती ही है जब तक कि

एक राष्ट्र मे रहनेवाली विभिन्न जातियाँ मिलकर एक जाति की भावना का अनुभव नही करने लगती ।[11] क्योकि कोई भी राष्ट्र न तो आकस्मिक एकत्रित हुई भीड से निर्मित होता है और न इसी प्रकार किसी आकस्मिक कालाश में बन सकता है । अतएव जो कोई नगर-राष्ट्र या तो नगर की स्थापना के समय अथवा उसके पश्चात् विजातियो को नगर मे वास देता है (या विदेशियो का अपने नगर मे स्वागत करता है) प्राय विद्रोह से कष्ट पाता है । उदाहरण के लिये सिबारिस[12] नामक नगर को त्रौइज़ेनी लोगो के साथ मिलकर अखैयी लोगो ने बसाया था , पर जब अखैयी लोगो की सख्या बहुत बढ गई तो उन्होने त्रौइज़ेनियो को निकाल बाहर किया । इसी कारण (तभी से) सिबारिस पर अभिशाप छा गया । थुरियायी[13] नगर मे सिबारिसवालो का उन अन्य जातिवाले लोगो के साथ झगडा हुआ जिनके साथ मिलकर उन्होने इस उपनिवेश को बसाया था , इस मान्यता के आधार पर कि भूमि पर उनका अधिकार था उन्होने विशेष सुविधाओ को पाने का दावा किया, (परिणाम यह हुआ कि) वे वहाँ से निकाल दिये गये । बिजान्तियम्[14] मे पीछे आकर बसनेवाले लोग आद्य उपनिवेशको के विरुद्ध षड्यत्र मे लिप्त पाये गये थे और उनको बलात्कार से निकाला गया था । अन्तिस्सा[15] नगर के निवासियो ने प्रथम तो अखियॉस नगर के निर्वासितो को अपने नगर मे प्रवेश करने दिया पर पीछे उनको लडकर निकाल दिया । पर जाङ्कली[16] के आदिवासी तो (जिन्होने साभी लोगो को अपने नगर मे प्रवेश करने दिया) पीछे उन्ही के द्वारा अपने नगर से निकाल दिये गये । यूक्षीन (कृष्ण सागर) के तट पर बसी हुई अपौलोनिया नामक नगरी के निवॉसियो मे नवीन आकर बसनेवाले लोगो के कारण क्रान्ति हुई । सिराकूज नगरवालो ने तानाशाहो के शासन की समाप्ति पर विदेशियो और वेतनार्थी (सिपाहियो) को नागरिकता के अधिकार दे दिये, परिणाम हुआ विद्रोह और आन्तरिक कलह । अम्फीपोलिस नगर मे वहाँ के मूल निवासी तो, खाल्किदौन के उपनिवेशको को अपने यहाँ बसाकर स्वय उनके द्वारा लगभग पूर्णतया निर्वासित कर दिये गये ।

जैसा कि हम पहले ही कह आये है, धनिकतत्र मे तो जनसाधारण इस कारण विद्रोह खडा किया करते है कि उनके साथ उचित व्यवहार नही किया जा रहा है , क्योकि वे है तो सबके समान पर उनको समान अधिकार प्राप्त नही है । प्रजातत्र मे गण्यमान लोग इस कारण विद्रोह किया करते हैं कि यद्यपि वे गुणो (योग्यता) में अन्य लोगो से बढकर है तथापि उनको अन्य लोगो के समान मात्र अधिकार मिले हुए हैं ।

कभी कभी स्वय नगर की स्थिति के कारण भी विद्रोह घटित हुआ करते हैं , ऐसा तब हुआ करता है जब कि नगर का भूमि-विन्यास प्रकृत्या राजनीतिक एकता के अनुकूल नही होता । उदाहरण के लिये क्लाजोमेनाए मे खित्रस् के उपनगर के निवासी, द्वीप-निवासियो से सहमत होकर नही रह सके, इसी प्रकार का कलह कोलोफन नगर और उसके बन्दरस्थान नोतियम् के निवासियो के बीच भी था। और अथेन्स मे भी इसी प्रकार अन्तर पाया जाता है , बन्दरस्थान पाइरायस के रहनेवाले ऊँचे नगर के निवासियो की अपेक्षा (अथेन्स-निवासियो की अपेक्षा) अधिक जनतन्त्रात्मक है। जिस प्रकार युद्धक्षेत्र मे खाई को पार करने मे,फिर चाहे वह खाई कितनी ही छोटी क्यो न हो, सेना को तितर-बितर हो जाना पडता है, इसी प्रकार, नगर मे प्रत्येक प्रकार का भेद (अथवा अन्तर) कलह उत्पन्न कर देता है। सबसे बडा विरोध तो स्यात् सद्-वृत्ति और दुर्वृत्ति (सदाचार और दुराचार) के बीच मे है, तदुपरान्त सम्पन्नता और निर्धनता का विरोध है। इनके अतिरिक्त अन्यान्य कारणो से उत्पन्न (अन्यान्य भेदो से उत्पन्न) होनेवाले और भी छोटे-मोटे विरोध होते है, जिनमे से एक विरोध यह ऊपर कहा गया (स्थानकृत) विरोध भी है।

टिप्पणियाँ

१. पिछले खंड के अन्त में अरिस्तू ने राज्यक्रान्ति के ११ प्रसंगो का जिस क्रम से उल्लेख किया है उसका अनुसरण उनके वर्णन में यहाँ उसने नहीं किया है। यहाँ उस क्रम को उसने थोड़ा बदल दिया है।

२. इस प्रसंग का अधिक विवरण इसी पुस्तक के ५वें खंड के आरंभ में दिया गया है।

३. ओइनोफी(फे) ता का युद्ध ई० पू० ४५६ की घटना है।

४. इस घटना के समय के विषय में मतभेद है। या तो यह घटना ई० पू० ४४७ में अथवा ई० पू० ४२४ में हुई।

५. गैलोन् से संबध रखनेवाली घटना ई० पू० ४८५ के आसपास की है।

६. न्यूमैन् के मत में ग्रीक लोगों की धारणा थी कि शरीर की विकृति से मानवता के गुण में भी विकृति उत्पन्न हो जाती थी।

७. यह घटना ई० पू० ४७३ की है। स्वयं भारतवर्ष में कुछ लोगों की धारणा है कि महाभारत में कुरुक्षेत्र के युद्ध में जो श्रेष्ठ वीरों के जीवन-नाश से क्षति हुई वह आगे कभी पूरी नहीं हो सकी। गीता के प्रथम अध्याय के अन्त में अर्जुन ने इस प्रकार की आशंका को स्पष्टतया व्यक्त किया है।

८. सप्तमी का अर्थ स्पष्ट नही है। दो अर्थो की कल्पना की गई है (१) सप्तमी तिथि को जिनकी हत्या की गई थी वे मनुष्य अथवा (२) सातवें कबीले के मनुष्य। विलयोमेनी (ने)स का समय ई० पू० ५२० से ई० पू० ४९० के लगभग माना जाता है।

९. पैलोपौनेशियन् युद्ध का समय ई० पू० ४३१ से ई० पू० ४०४ तक है। यह युद्ध मुख्यतया अथेन्स और स्पार्टा के बीच में हुआ था और इसमें अथेन्स की पराजय हुई थी।

१०. औरेयस् का पहला नाम हैस्तियाइया था। यहाँ जिस घटना की ओर संकेत है वह ई० पू० ३७७ की घटना है।

११. यह चेतावनी भारतवर्ष के लिये ध्यान देने योग्य है।

१२. सीबारिस दक्षिण इटली में था।

१३. यह यूरियाई नगर सीबारिस के समीप था।

१४. बीजान्तियन् (म्) का परिचय दिया जा चुका है।

१५. अन्तिस्सा नगरी एओलिस् में थी।

१६. ज़ाङक्ली (ले) सिसिली द्वीप के उत्तरपूर्व भाग में अवस्थित था।

१७. अम्फ़ीपोलिस मकैदौनिया के पूर्व में है।

वि० अरिस्तू ने विजातीय शब्द का प्रयोग अन्य नगर-निवासी के अर्थ में किया है।

१८. क्लाज़ोमेनाए नगर का एक भाग एक द्वीप पर बसा हुआ था, दूसरा भाग मुख्य स्थल पर था और इन दोनों भागो के निवासियों में झगड़ा बना रहता था।

वि० इस खंड से अरिस्तू के इतिहास-संबंधी ज्ञान की विशदता का पता चलता है। जिस प्रकार जातियो की कलह प्राचीन काल में अनेक युद्धों का कारण बनी उसी प्रकार आज भी एक बड़े पैमाने पर वही स्थिति है। जब तक मानव मात्र मानव को बन्धु मानना नहीं सीखेगा तब तक यही स्थिति बनी रहेगी।

४

क्रान्तियों के अन्य प्रसंग

चाहे विद्रोह (क्रान्ति) कितने ही छोटे (या तुच्छ) प्रसग से क्यो न आरभ हो उसका परिणाम छोटा नही होता। जब उनका सबध सत्ताधारियो से होता है तब छोटी छोटी बातें भी महत्त्वपूर्ण बन जाती है। जैसी कि प्राचीन काल मे सिराकूज़ मे घटना घटित हुई कही जाती है, कि प्रेम-प्रसग के कारण दो शासन-सत्तारूढ नवयुवको के बीच में होनेवाले झगडे के परिणामस्वरूप नगर की शासन-व्यवस्था ही बदल गयी। जब उन दोनो में से एक अपने घर पर नही था तो दूसरे व्यक्ति ने (प्रथम व्यक्ति का सहयोगी

होते हुए भी) उसके मित्र के प्रणय को फुसलाकर अपने लिये प्राप्त कर लिया[1] और फिर उस वंचित व्यक्ति ने मारे क्रोध के अपने सहयोगी की पत्नी को फुसलाकर, अपनी हानि का बदला लिया। तब उन दोनो ने समग्र नगर के शासकवर्ग को अपने झगडे मे घसीट लिया और सारे नगर को दो विद्रोही दलो में विभक्त कर दिया। इस कथा से हमको यह शिक्षा मिलती है कि ऐसी कलहो के आरभ से ही बडी सावधानी बरती जानी चाहिये और नेतृत्वपूर्ण एव प्रभावशाली व्यक्तियो के झगडे शीघ्र ही समाप्त कर दिये जाने चाहिये। गलती तो आरभ मे ही हो जाती है, और क्योकि (जैसा कि लोकोक्ति मे कहा जाता है) प्रारभ किसी भी कार्य का आधा होता है, अतएव आरभकी थोडी-सी गलती शेष कार्य की सारी गलतियो के बराबर होती है।[2] सामान्य रूपेण यह कहा जा सकता है कि जब प्रमुख गण्यमान व्यक्ति झगडते है तो उनके झगडे मे सारा नगर लिप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ मीडिक युद्ध के उपरान्त हैस्तियाइया[3] मे ऐसी ही घटनाएँ घटित हुई। दो भाई अपने पिता की सम्पत्ति के विभाजन के विषय मे लडे, उन दोनो मे से अधिक निर्धन ने (इस कारण से कि, दूसरा भाई न तो सम्पत्ति को ही प्रकट कर रहा है और न पिता के द्वारा स्थापित कोष की मात्रा को ही उद्घाटित कर रहा है) सार्वजनिक दल को अपने पक्ष मे मिला लिया, दूसरे; भाई ने (जिसके पास विशाल सम्पत्ति थी) धनिक-वर्ग को अपनी ओर कर लिया।

डैल्फी[4] मे सब पश्चात्कालीन झगडो के मूल मे जो विवाद था वह एक विवाह के प्रसग मे घटित हुआ था। वधू के घर पर हुई कुछ घटना को अपशकुन मानकर वर वधू को लेने के लिये आया तो सही पर बिना उसको साथ लिये लौट गया। इस पर वधू पक्षवालो ने अपने को अपमानित मानकर, जब वह (वर) यजन कर रहा था उसकी पूजा-सामग्री मे देव-सबधी धन मिला दिया और तदुपरान्त दिव्य सम्पत्ति की चोरी के अपराध के व्याज से उसकी हत्या कर डाली। इसी प्रकार मितीलीनी[5] नगर में भी एक उत्तराधिकारिणी कन्या के विवाह का विवाद पीछे के अनेक विवादो (दुर्भाग्यो) का श्रीगणेश सिद्ध हुआ—इसी के परिणामस्वरूप इस (नगर) का अथेन्स-वासियो से युद्ध हुआ, जिसमे पाखी (वीर योद्धा) ने उसके नगर पर अधिकार कर लिया। तिमोफानीस नामक एक सम्पन्न नागरिक ने अपनी मृत्यु के उपरान्त दो कन्याएँ छोडी। एक दूसरा नागरिक था देक्षान्द्रॉस, जो उन लडकियो को अपने लडको के साथ ब्याहना चाहता था, परन्तु जब उसका एतद्विषयक अभियोग अस्वीकार कर दिया गया, तो उसने विद्रोह खडा कर दिया और अथेन्स निवासियो का उस नगर में मत्री होने के नाते उसने उनको इस विषय मे हस्तक्षेप करने के लिये भडकाया। फोकिस[6] नामक

नगर मे भी इसी प्रकार उत्तराधिकारिणी कन्या के विषय मे म्नासन के पिता म्नासिया और ओनोमार्कस के पिता यूथीक्रातीस् के बीच मे झगड़ा हो गया जो कि उस धर्मयुद्ध का श्रीगणेश सिद्ध हुआ जिसमे समग्र फोकिस नगर फँस गया। ऐपीदाम्नस[७] नामक नगर मे भी एक विवाह-सबधी झगडा शासन-तन्त्र मे परिवर्तन (क्रान्ति) का कारण हुआ। किसी पुरुष ने अपनी कन्या की सगाई एक दूसरे व्यक्ति के साथ कर दी थी, जिसके साथ सगाई की थी उसके पिता ने सत्ताधिकारी (मजिस्ट्रेट) हो जाने पर वाग्दत्ता कन्या के पिता पर अर्थदण्ड (जुर्माना) किया, उसने अपने को अपमानित हुआ समझकर (शासन-व्यवस्था को उलटने के लिये) नगर के मतसत्तारहित लोगो को अपनी ओर मिला लिया।

किसी शासनपद अथवा राष्ट्र के किसी विभाग की ख्याति या शक्ति मे वृद्धि होने के कारण भी शासन-व्यवस्था धनिकतत्र, जनतत्र अथवा व्यवस्थातत्र की दिशा मे बदल जाती है। उदाहरण के लिये अरियोपागस्[८] की परिषद् की ख्याति मीदिक (पर्शिक) युद्धो के समय बहुत बढ गयी थी। इसका परिणाम यह प्रतीत हुआ कि शासन-व्यवस्था कुछ समय के लिये कसी हुई और कठोर हो गयी (अर्थात् उसका झुकाव धनिकतत्र की ओर हो गया।) दूसरी ओर, जब नौसेना में नौकरी करनेवाली साधारण जनता सालामिस्[९] की लडाई मे विजय का कारण बनी, और उसने नौशक्ति पर निर्भर साम्राज्य (अथेन्स) को प्राप्त करा दिया तो इसका परिणाम यह हुआ कि जनतत्र की शक्ति पूर्वापेक्षा अधिक हो गई। और आर्गोस् मे गण्यमान लोगो ने मान्तीनिया[१०] के युद्ध में जो कि लाकैदायमॉन् निवासियो के विरुद्ध लडी गई थी, विशेष ख्याति (= कीर्त्ति) प्राप्त की, परिणामत उन्होने जनतत्र शासन-पद्धति को दबाने का प्रयत्न किया। सिराकूज नगर मे जनसाधारण के कर्तृत्व से ही अथेन्स निवासियो के विरुद्ध युद्ध मे विजय प्राप्त हुई थी अतएव जनता ने व्यवस्था-प्रणाली को जनतत्र-प्रणाली के रूप मे बदल दिया।[११] खाल्किस नगर मे फोक्षस्[१२] नामक तानाशाह को हटाने के लिये (समाप्त करने के लिये) साधारण जनवर्ग गण्यमान लोगो के साथ मिल गया और उसने अविलम्ब शासनतत्र को हस्तगत कर लिया। और फिर अम्ब्राकिया मे भी बहुत कुछ इसी प्रकार से जनता पेरियाण्डर नामक तानाशाह को निकालने के लिये षड्यन्त्रकारियो से मिल गयी और उसने शासनतत्र को बदलकर जनप्रिय रूप दे दिया।[१३] सामान्य रूपेण अनुभव यह सिखाता है कि यह तथ्य कदापि नही भुला देना चाहिये कि जो कोई भी राष्ट्र की शक्ति को बढाने (राष्ट्र को शक्ति प्रदान करने का) कारण होता है—चाहे वह व्यक्ति हो, चाहे अधिकारी-मण्डल हो, चाहे कोई जाति (कबीला) हो, चाहे राष्ट्र का कोई खण्ड हो और चाहे किसी प्रकार का जनसमूह हो—उसकी प्रवृत्ति विद्रोह खडा

करने की ओर हो सकती है। क्योकि या तो इन (महत्त्व-प्राप्त लोगो) के गौरव की ईर्ष्या से अन्य लोग विद्रोह करने के लिये आकृष्ट हो जाते है, अथवा स्वय यही लोग अपने बडप्पन के गर्व से अन्य लोगो के साथ समानता के नाते से नही रहना चाहते।

क्रान्तियाँ तब भी हुआ करती है जब कि राष्ट्र के परस्पर विरुद्ध समझे जानेवाले भाग—जैसे कि धनिकवर्ग और साधारण धनहीन जनता—सतुलित हो, तथा दोनो का मध्यवर्ती दल या तो बहुत छोटा हो अथवा उसका पूर्णतया अभाव हो। क्योकि जहाँ उभय पक्षो मे से कोई-सा पक्ष स्पष्ट ही दूसरे पक्ष से शक्ति मे बढकर होता है, तो दूसरा पक्ष कभी प्रबल पक्ष के साथ लडाई का भय मोल लेने का इच्छुक नही हुआ करता। यही कारण है कि जो व्यक्ति अन्य लोगो से सद्वृत्ति अथवा सद्गुणो में बढकर होते है वे कदापि विद्रोह खडा नही करते, क्योकि वे तो बहुसख्यक साधारण लोगो की तुलना मे अल्पसख्यक हुआ करते है। साधारण रूप मे सब प्रकार के राष्ट्रो मे उपद्रवो और क्रान्तियो के उद्गम और कारण इसी प्रकार के होते है।

राष्ट्रो की क्रान्तियाँ कभी बल-प्रयोग के द्वारा और कभी प्रवचना के द्वारा घटित होती है। बल-प्रयोग या तो क्रान्ति के आरभ में किया जाता है अथवा पीछे किसी अन्य अवसर पर। प्रवचना दो प्रकार की होती है। कभी ऐसा होता है कि प्रथम तो नागरिक लोग स्वेच्छा से सर्वसम्मति से शासनतत्र के परिवर्तन को मानने के लिये (छल से) तैयार हो जाते (अथवा कर लिये जाते) है, पर पीछे वही नागरिक लोग क्रान्तिकारी व्यक्तियो द्वारा उन (नागरिको की इच्छा) के विपरीत बलात् (अधीनता में) रखे जाते है। जैसे कि अथेन्स के ४०० व्यक्तियो ने जनता को यह कहकर धोखा दिया कि फारस का सम्राट् अथेन्स वासियो को लाकैदायमॉन से लडने के लिये धन देगा, और इस प्रकार जनता को धोखा देकर भी वे बराबर शासनतत्र को अपने अधीन बनाये रखने का उद्योग करते रहे। कभी ऐसा भी होता है कि जनता को आरभ में बहला फुसलाकर मना लिया जाता है, और पीछे भी बार बार फुसलाकर उन (नागरिको) की अनुमति से ही उनपर शासन किया जाता है। सामान्यरूपेण सभी राष्ट्रो में जो क्रान्तियाँ घटित हुआ करती है वे सब उपर्युक्त कारणो से ही घटित होती है।

टिप्पणियाँ

१. पुरुष-संभोग की ओर संकेत है। यह घटना ई० पू० ४८५ से कुछ पहले की है और संभवतया "गमौरी" के शासन-काल में हुई थी।

२. ग्रीक भाषा में "आरंभ" और "शासनाधिकारी" दोनो के लिये "आर्खे" शब्द का प्रयोग होता है। अतएव श्लेष द्वारा यह ध्वनित होता है कि आरंभ की भूल या त्रुटि मानो अधिकारियों द्वारा की गई भूल मानी जानी चाहिये।

३. हेस्तियाइया नगर (इ) यूबोइया प्रदेश में है और यह घटना ई० पू० ४४६ से कुछ थोड़े समय पूर्व की प्रतीत होती है।

४. डैल्फ़ी अथवा दैल्फी में वर्णित विवाह के अवसर पर मदिरापात्र टूट गया। इस अपशकुन के कारण दुर्घटनाओ की शृंखला आरंभ हो गई।

५. मितीलीनी (लेने) का परिचय दिया जा चुका है। अरिस्तू स्वयं कुछ समय के लिये इस नगर में रहा था, अतएव संभव है कि उसने इस कहानी को तिमोफ़ानीस् के किसी वंशधर से सुना हो।

६. फोकिस् की घटना के संबंध में भी यह कहा जाता है कि म्नासन् अरिस्तू का मित्र था और संभव है, उसने स्वयं यह कहानी अरिस्तू को सुनाई हो।

७. एपीदाम्नस् नगर के संबंध मे जिस घटना का उल्लेख यहाँ किया गया है वह सभव है कि वही घटना है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

८. अरि (रे) योपागस् से तात्पर्य अरियोपागस् की परिषद् अथवा न्यायालय से है। इसके विषय में अथेन्स के संविधान को देखना चाहिये।

९. सालामिस् अथेन्स के पश्चिम में एक छोटासा द्वीप है। ई० पू० ४८० में यहाँ पर अथेन्स ने फ़ारस के सम्राट् ज़रक्सीस को सामुद्रिक युद्ध में परास्त किया था। इसके उपरान्त नाविकों का महत्त्व अथेन्स के शासन में बढ़ गया।

१०. मान्तीनिया (नेइया) अर्कादिया में है। जिस युद्ध का यहाँ उल्लेख किया गया है उसका समय ई० पू० ४१८ है।

११. यह घटना ई० पू० ४१३ की है।

१२. फोक्सस् संबंधी घटना के संबंध में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

१३. यह घटना ई० पू० छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की है। पेरियान्द्रॉस् के विषय में लिखा जा चुका है।

५

जनतंत्रात्मक व्यवस्थाओं की क्रान्तियाँ

अब हमको शासन-पद्धतियो के प्रत्येक प्रकार को पृथक् पृथक् लेना चाहिये और क्रमशः यह अध्ययन करना चाहिये कि उपर्युक्त सामान्य सिद्धान्तो से प्रत्येक प्रकार के शासनतत्र के सबध में क्या निष्कर्ष निकल सकते हैं।

जनतत्रो मे क्रान्तियाँ प्रायेण लोकनायको के उच्छृङ्खल व्यवहार के कारण हुआ करती है। वे या तो अपने आप (व्यक्तिगत प्रकार से) धनवान लोगो की चुगली खाते रहते है, जिससे कि वे लोग (उनके विरुद्ध) सबद्ध होने के लिये विवश हो जायें (क्योकि सामान्य भय तो घोरतम (कटुतम) शत्रुओ को भी मिला देता है), या वे उनके (धनिक-) वर्ग पर आक्रमण करते हुए साधारण जनता को उनके विरुद्ध भडकाते है। इस प्रकार के कार्य का परिणाम बहुत से उदाहरणो मे देखा जा सकता है।[1] कॉस् नामक नगर मे जनतत्र मे परिवर्तन इसी कारण हुआ कि दुष्ट प्रकृतिवाले लोकनेता पैदा हो गये और गण्यमान लोग (उनके विरुद्ध) सगठित हो गये। सेड्स[2] में भी ऐसा ही हुआ, वहाँ के लोकनायको ने प्रथम तो जनसाधारण के लिये (परिषद् मे उपस्थित होने के निमित्त) वेतन बँधवाया, और इस कार्य के लिये रुपया प्राप्त करने के निमित्त उन लोगो को नौ शासको का (नौका प्रस्तुत करने मे हुआ) व्यय देने से रोक दिया, परिणाम यह हुआ कि अपने विरुद्ध लगाये गये अभियोगो से उद्विग्न होकर वे आपस मे सगठित होने के लिये विवश हो गये और सगठित होकर उन्होने जनतत्र को मिटा दिया। हेराक्लिया[3] नामक नगर में तो उपनिवेश की स्थापना के अनन्तर ही लोकनायकों के अन्यायपूर्ण व्यवहार के कारण जनतत्र का विनाश हो गया, इनके दुर्व्यवहार के कारण गण्यमान[4] बड़े लोग नगर से बाहर निकाल दिये गये, निर्वासित हुए उन लोगो ने अपनी शक्ति को एकत्रित किया और फिर लौटकर उन्होने प्रजातत्र को समाप्त कर दिया। मैगारा मे भी प्रजातत्र का विनाश लगभग इसी प्रकार से हुआ। वहाँ के लोकनायको ने विशिष्टजनो की सम्पत्ति को सार्वजनिक सम्पत्ति बनाने के लिये बहुत से गण्यमान लोगो को निर्वासित कर दिया, यहाँ तक कि निर्वासितो की सख्या बहुत अधिक बढ गयी, और उन्होने लौटकर जनता को युद्ध में परास्त कर दिया एव धनिकतत्र स्थापित कर दिया। कीमे[5] नगर के जनतत्र की भी यही दशा हुई, इस जनतत्र को थ्रासीमाकस ने समाप्त कर दिया। और अन्य बहुत से (ग्रीक) राष्ट्रो के निरीक्षण से भी यही पता चलता है कि उनमे जो शासनतत्र में परिवर्तन हुए हैं वे इसी प्रकार के है। कभी कभी तो लोकनायक जनता की अनुकूलता सपादन करने के लिये सम्पन्न प्रतिष्ठित व्यक्तियो के प्रति अन्याय करके उनको सगठित करने के लिये विवश कर देते है—वे या तो उनकी सपत्ति का विभाजन कर देते है अथवा उनकी आय पर सार्वजनिक सेवा का भार डालकर उनकी आय को घटा देते है। कभी वे (लोकनायक) सपन्न लोगो की सम्पत्ति को सार्वजनिक सपत्ति बना देने के लिये (न्यायालयो में) उनके विरुद्ध झूठे आरोपो का भी अभियोग किया करते है।

प्राचीन काल मे, जब कि लोकनेता सेनानायक भी हुआ करता था, तब जनतत्र शासन तानाशाही के रूप मे बदल जाता था। प्राचीन समय के बहुत से तानाशाह लगभग वही व्यक्ति थे जो आरभ मे लोकनायक थे। उस समय ऐसा होता था पर अब नही होता। इसका कारण यह है कि उस समय (जब कि भाषण-कला बलवान नही हुई थी) लोकनायक प्राय सेनानायको मे से निकलते थे, पर अब तो भाषण-कला की बहुत अधिक उन्नति हो गई है, अतएव जिनको वाक्शक्ति प्राप्त होती है वही अपने को लोकनायक बनाते है, पर युद्धकला के अनुभवी न होने के कारण वे शक्ति को हडपकर तानाशाह बनने का प्रयत्न नही करते, ––अपवाद स्वरूप भले ही कोई विरला उदाहरण इसके विपरीत हुआ हो। प्राचीन काल मे आजकल की अपेक्षा अधिक तानाशाहियाँ इस कारण भी थी कि बडे बडे शासनाधिकारपद उस समय व्यक्तियो के हाथो मे रहते थे। उदाहरणार्थ मिलैतस् मे (थ्रासीबूलस्[६] की) तानाशाही उसके मुख्याधिष्ठाता पद पर पहुँचने के कारण प्रादुर्भूत हुई, इस पद को बहुत से विशाल अधिकार (सत्ताएँ) प्राप्त थी। और फिर उन दिनो नगरो का आकार प्रकार बहुत बडा न होने के कारण, जनसाधारण सामान्यतया अपने कृषिकार्य मे लगे हुए खेतो पर रहा करते थे, और उनके मुखिया लोग (यदि युद्ध-सबधी योग्यता से सपन्न होते थे तो) अपनी तानाशाही की स्थापना करने मे सफल हो जाते थे। और यह सब वे लोग जनसाधारण का विश्वास सपादन करके ही कर पाते थे और जनता का विश्वास उनको धनवानो के प्रति द्वेष प्रदर्शित करने से प्राप्त हो जाता था। उदाहरणार्थ अथेन्स मे पाइसिस्ट्राटस[७] मैदान मे रहनेवाले धनिको के दल के विरुद्ध असपन्न लोगो के विद्रोह का नेतृत्व करके तानाशाह के पद पर पहुँचा था, और मैगारा मे थियागैनीस[८] ने धनवान लोगो के पशुओ की हत्या की जिनको उन्होने नदी के किनारे दूसरो की भूमि मे चरने छोड दिया था, और इस प्रकार से (असपन्न जनता का विश्वासभाजन बनकर उसने तानाशाह का पद प्राप्त किया।) तथा (सिराकूज़ नगर मे) दियौनिसियस् ने डाफ्नाइयस्[९] और अन्य सम्पत्तिशाली लोगो की भर्त्सना की, धनवानो के प्रति उसकी द्वेष-भावना से उसको जनता का विश्वास प्राप्त हुआ और वह तानाशाह बनने के योग्य समझा गया।

पुरातन अथवा पैतृक जनतत्रात्मक पद्धति से परिवर्तन होकर उसका रूप नवीनतम जनतत्र का भी हो सकता है। जहाँ शासनपदो पर निर्वाचन द्वारा नियुक्ति होती है, निर्वाचन के लिये आर्थिक योग्यता नियत नही होती, और सभी जनता को चुनने का (मतदान का) अधिकोर होता है, तो शासनपद को पाने के इच्छुक लोग ही लोकनायक बनने का अभिनय करने लगते हैं और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि नियम तक की

शक्ति जनता के अधिकार के अन्तर्गत आ जाती है। ऐसी परिस्थिति को न उत्पन्न होने देने, अथवा कम उत्पन्न होने देने का इलाज यह है कि विभिन्न जातियाँ शासनाधिकारियो का चुनाव करे, न कि सारी जनता। जनतन्त्र-पद्धतियो में प्राय सभी परिवर्तनो के कारण मुख्यतया यह ही है।

टिप्पणियाँ

१. कॉस् के शासन-परिवर्तन की तिथि का पता नहीं है। यह द्वीप है जो लघु एशिया के दक्षिण पश्चिम में है।

२. रोड्स अथवा रौदॉस् यूनानी द्वीपों में सबसे अधिक पूर्व की ओर है और लघु एशिया के दक्षिण पश्चिम में है। कॉस् द्वीप इससे उत्तर की ओर है।

३. हेराक्लिया कृष्णसागर के दक्षिण तट पर अवस्थित है।

४. गण्यमान के लिये मूल ग्रीक "ग्नोरिमॉस्" शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ सुविज्ञात है।

५. कीमे अथवा क्यूमे नाम के दो नगर थे एक लघु एशिया में था और दूसरा इटली में। इटली का क्यूमे नगर लघु एशिया के नगर का उपनिवेश था।

६. थ्रासीबूलस् का परिचय पहले दिया जा चुका है।

७. पाईसिस्त्रातस् ने अथेन्स में ई० पू० ५७० में मैगारा के विरुद्ध में पराक्रम दिखलाकर ख्याति प्राप्त की। कुछ समय उपरान्त वह तानाशाह बन गया। इसका शासन अच्छा ही रहा। उसकी मृत्यु ई० पू० ५२७ में हुई। इसके विषय में अधिक जानकारी के लिये अथेन्स का संविधान देखिये।

८. थियागैनी (ने) स् के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

९. डाफ्नाइयस् अथवा दाफ्नाइयस् नौसेनाध्यक्ष था। वह कार्थेज के अभियान से अग्रीगैन्तुम की रक्षा नहीं कर सका। दियौनिसियस् ने उसको पदच्युत करवाकर उसका स्थान प्राप्त कर लिया और फिर उसके विरोधी बन जाने पर उसको मरवा डाला।

६

धनिकतंत्रो मे क्रान्ति के कारण

धनिकतत्रो मे क्रान्तियाँ होने के दो विशेष और स्पष्टतम ढग (उपाय) है। एक है (शासन-सत्ता द्वारा) जनता के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार। ऐसी परिस्थिति मे कोई भी व्यक्ति समुपयुक्त अग्रणी वीर बन जाता है, विशेषकर तब जब कि नेता स्वय

उन धनिकतत्रियो मे से ही निकल आता है, जैसा कि नाक्षॉस् द्वीप के लिग्दामिस् नामक नेता के प्रसग मे घटित हुआ, जो आगे चलकर उस द्वीप का तानाशाह बन गया। पर जो विद्रोह शासक-दल के बाहर उत्पन्न होता है, उसके अनेको भेद (प्रकार) होते है। कभी कभी तो धनिकतत्र का अत स्वय उन धनिक लोगो के द्वारा कर दिया जाता है जो शासन-कार्य मे सम्मिलित नही होते। ऐसा तब होता है जब कि शासन करनेवालो की सख्या बहुत ही थोडी होती है, जैसा कि मस्सालिया[1] इस्त्रॉस्, हेराक्लिया एव अन्य नगरो मे हो चुका है। (इन सब धनिकतत्रो मे) जिन लोगो को शासन-तत्र मे भाग नही मिला था वे तब तक उत्पात करते रहे जब तक कि अन्ततोगत्वा पहले बडे भाइयो और पीछे छोटे भाइयो को भी शासन-सत्ता मे कुछ भाग प्राप्त न हो गया। क्योकि, कुछ स्थानो (नगरो) मे तो पिता और पुत्र एव कुछ स्थानो मे बडे और छोटे भाई एक साथ शासन-सत्ता मे भागीदार नही हो सकते। परिणाम यह हुआ कि वहाँ (मस्सालिया मे) तो धनिकतत्र बदलकर बहुत कुछ "व्यवस्थातत्र" जैसा हो गया, इस्त्रॉस् मे अन्तिम परिणति जनतत्र के रूप मे हुई, और हेराक्लिया नगरी मे शासक-दल की सख्या थोडे से बढकर ६०० तक पहुँच गई। क्नीदॉस्[2] नगरो के धनिकतत्र मे भी क्रान्ति हुई, यहाँ गण्यमान लोगो ने स्वय अपने दल के लोगो के प्रति विद्रोह किया, इसका कारण यह था कि शासन-सत्ता मे बहुत थोडे लोगो को भाग प्राप्त था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उन लोगो मे यह नियम था कि यदि पिता को शासनकार्य मे अधिकार प्राप्त होता था तो पुत्र को अधिकार नही मिलता था, और यदि कई भाई होते थे तो केवल सबसे बडे भाई को ही अधिकाराश प्राप्त होता था। धनिको के इस आन्तरिक विद्रोह मे साधारण जनता ने भी दखल दिया और लाभ उठाया, उन्होने गण्यमान लोगो मे से ही एक को अपना अग्रणी बनाया और धनिकतत्रियो पर आक्रमण करके उनको जीत लिया, क्योकि उनमे फूट के कारण विभाजन था और विभाजन तो सदा ही दुर्बलता का कारण होता है। और एरीथ्राए नामक नगर में पुराने समय में बसी-लीदाए[3] नामक कुल का धनिकतत्र भली भाँति शासनतत्र चला रहा था और शासन-प्रबध अच्छा था, तो भी साधारण जनता शासको की अत्यन्त सीमित सख्या से रुष्ट हो गई और उसने शासनतंत्र को बदल डाला।

धनिकतत्र मे स्वत अपने भीतर[4] से जो क्रान्ति हुआ करती है उसका कारण धनिकतंत्री शासको की पारस्परिक ईर्ष्या है, जिससे वे स्वयमेव लोकनेता का स्वाँग भरने लगते हैं। यह लोकनेतृत्व दो प्रकार का होता है. एक तो है लोकनायक-कला को स्वय धनिकतंत्री शासको पर ही चरितार्थ करना क्योकि लोकनायक एक सीमित

समाज मे भी उत्पन्न हो सकता है , जैसे कि अथेन्स मे तो खरीक्लीस[५] और उसके अनुयायियो ने "तीस"[६] के दल को फुसलाकर ही (ई० पू० ४०५ मे) शक्ति हस्तगत कर ली थी, और "चार सौ" के शासन-काल मे (४११ ई० पू०) फ्रीनीकस्[७] और उसके पक्षवालो ने भी इसी उपाय से शक्ति प्राप्त की थी। दूसरा प्रकार है धनिकतत्री शासको द्वारा लोकनायक कला का साधारण जनता पर प्रयोग होना। ऐसा प्रसग (उदाहरणार्थ) लारिस्सा[८] नगरी मे घटित हुआ था जहाँ कि जनरक्षा का कार्य करनेवाले शासनाधिकारियो ने जनता के द्वारा चुने जाने के कारण उसके प्रति इसी कला का प्रयोग करके जनता को फुसलाया था। तथा ऐसा तो उन सभी धनिकतत्रो मे सामान्यतया हुआ करता है जिनमे शासनपदाधिकारी केवल अपने वर्ग के ही द्वारा नही चुने जाते, प्रत्युत जहाँ वे चुने तो बहुत सम्पत्तिशाली लोगो के वर्ग मे से अथवा राजनीतिक दल-विशेष मे से है, पर चुने जाते है (एक विशाल मतदाताओ के समूह द्वारा) जिसम सारा सैन्य-समूह अथवा समग्र जनवर्ग भी सम्मिलित रहता है ; जैसा कि अबीदॉस्[९] नामक नगर में होता था। और ऐसी ही स्थिति वहाँ भी उत्पन्न हुआ करती है जहाँ न्यायालय के अधिकारी शासनसत्ताधारियो के ही वर्ग मे से नही होते , ऐसी दशा मे धनिकतत्री लोग अपने अनुकूल निर्णय प्राप्त करने के लिये लोकनायको की चालो का प्रयोग किया करते है और शासन-पद्धति में क्रान्ति कर देते हैं। पौन्तस् (काले सागर) के तट पर स्थित हेराक्लिया नामक नगर मे ऐसा ही हुआ था। और फिर उस समय भी धनिक-तत्र मे परिवर्तन हुआ करता है जब कि शासक-वर्ग के कुछ सदस्य अपने वर्ग को और भी छोटा (सकुचित) बनाने का प्रयत्न करते है, क्योकि ऐसी स्थिति में जो लोग समाना-धिकार के लिये उद्योगशील होते है वे जनता की सहायता अपने पक्ष मे प्राप्त करने के लिये बाध्य हो जाते है।

धनिकतत्र मे उस समय भी क्रान्ति हुआ करती है जब कि धनिकतत्र के सदस्य अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति को विलासितापूर्ण अपव्ययी जीवन-क्रम में नष्ट कर देते है, क्योकि ऐसे ही व्यक्ति (नवीनता =) क्रान्ति को लाने के लिये उद्योगशील हुआ करते है, और या तो वे स्वय अपने आपको तानाशाह के रूप मे स्थापित करते है अथवा अन्य किसी को तानाशाह बना देते है, जैसे कि सिराकूज़-नगर मे हिप्पारिनस्[१०] ने दियौनी-सियस् को तानाशाह बनाया था, और इसी प्रकार अम्फीपोलिस् (आम्भीकपुर) में क्लियोतिमस्[११] नामक व्यक्ति ने (क्षीणवित्त होने पर) प्रथम तो नगर में खल्कीदॉन् के उपनिवेशिको को प्रवेश कराया और पीछे उनके बस जाने पर उनको धनवानो के विरुद्ध भडका दिया। एव अएगिना[१२] मे जो व्यक्ति खारेस् के साथ सन्धि-व्यवहार

चला रहा था उसने भी शासन-पद्धति को लौटने का उद्योग इसी कारण से किया था। इस प्रकार के लोग कभी कभी सीधे ही (प्रत्यक्षरूपेण) परिवर्तन के लिये प्रयत्न किया करते है, कभी वे सार्वजनिक कोष की चोरी किया करते है, और इसका भी परिणाम अन्ततोगत्वा विप्लव (विद्रोह) ही होता है, क्योकि या तो यह चोर ही शासको से झगडा छेड देते है अथवा (जैसा कि काले सागर के तट की नगरी अपोलोनिया मे हुआ) वे लोग विद्रोह खडा किया करते है जो इन चोरी करनेवालो का विरोध करते है। जो धनिकतत्र अपने मे ऐक्यपूर्ण होता है वह स्वत सरलता से अपने द्वारा नष्ट नही किया जा सकता। इसका उदाहरण फार्सालिस्[१३] नगर की शासन-व्यवस्था है, वहाँ के शासक लोग थोडे से होते हुए भी बहुत बडी (नगरी की) जनता पर इसलिए शासन-सत्ता चलाते है क्योकि वे परस्पर एक दूसरे (शासको के) प्रति अत्यन्त अच्छा व्यवहार करते है।

जब एक अल्पजनतत्र (धनिकतत्र) के भीतर दूसरा धनिकतत्र उत्पन्न हो जाता है तब भी उसका विनाश हो जाया करता है। ऐसा होता है तब जब कि राजनीतिक अधिकार-प्राप्त जनसमूह के थोडे होने पर भी वे महान् शासन-पदो मे समान रूप से भागीदार नही होते। एक समय ऐलिस[१४] नगर मे ऐसा ही हुआ। शासन-व्यवस्था थोडे से वृद्धो (सीनेटर्स) की परिषद् के हाथ मे थी, पर इस परिषद् मे बहुत थोडे (नये) व्यक्तियो की नियुक्ति कभी ही स्यात् होती थी, क्योकि इस वृद्ध परिषद् की सख्या ९० थी और इसके सदस्य आजीवन पदारूढ रहते थे एव इनका चुनाव, लाकैदायमॉन (स्पार्टा) की परिषद् के चुनाव के समान कतिपय परिवारो के हित की दृष्टि से हुआ करता था।

धनिकतत्रो मे (आन्तरिक कारणो से) युद्धकाल मे और शान्तिकाल मे दोनो मे ही परिवर्तन (=क्रान्ति) हो सकता है। युद्धकाल मे तो क्रान्ति इसलिए होती है कि धनिकतंत्र मे शासक-वर्ग अपने नगर के लोगो का विश्वास न कर सकने के कारण (बाहरी) वेतनार्थी सैनिको को नियुक्त करने के लिये बाध्य हो जाते है; और जिस किसी एक व्यक्ति को इन वेतनार्थी सिपाहियो क नायकत्व का कार्य सौपा जाता है वह अन्ततोगत्वा तानाशाह बन जाता है, जैसे कि तिमौफानीस[१५] कॉरिथ नगरी में तानाशाह बन गया था। और यदि उनका नेतृत्व अनेक सेनानायको को सौंपा जाता है तो वे सब मिलकर अपने को शासको का एक गुट बना लेते है। कभी कभी, इसी परिणाम की आशका से, धनिकतत्री शासक जनता को भी शासनतत्र मे से कुछ भाग प्रदान कर

देते हैं क्योकि जनता की सेवा उनके लिये अनिवार्य हो जाती है। शान्तिकाल मे परिवर्तन (क्रान्ति) तब हुआ करते हैं जब धनिकतत्री शासको के दो प्रतिपक्षी दल एक दूसरे के अविश्वास के कारण रक्षाकार्य वेतनार्थियो की सेना को और दोनो दलो के बीच मध्यस्थता करनेवाले व्यक्ति को सौंप देते है जो कभी कभी दोनो झगडनेवाले दलो के ऊपर प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। ऐसा लारिस्सा नगर मे तब हुआ जब अल्यूआद् कबीले का सिमियास्[१६] मध्यस्थ सरपच के रूप में वहाँ शासन कर रहा था, एव अबीदॉस् नगर मे ऐसी ही घटना इफियादीस[१७] (की मध्यस्थता) के काल में राजनीतिक दलो (के कलह के कारण) घटी थी।

धनिकतत्री शासन-व्यवस्था में विवाहो और अभियोगो के प्रसग को भी लेकर आतरिक विद्रोह उत्पन्न हुआ करते है, जिनके कारण एक दल दूसरे दल के द्वारा अपदस्थ कर दिया जाता है और झगडो की जड जम जाती है। विवाह के कारण उत्पन्न हुए झगडो के उदाहरण तो मै पहले ही वर्णन कर चुका हूँ, पर (इसी सबध में) दियागोरास्[१८] के द्वारा ऐरैट्रिया नगर के अश्वारोही सरदारो के धनिकतत्र के निपात का भी उल्लेख किया जा सकता है जो उसने एक विवाह सबधी अन्याय से रुष्ट हो जाने के कारण किया था। (कालेसागर के तट पर स्थित) हेराक्लिया नगरी में तथा थीबैस नगरी मे तो व्यभिचार[१९] के अभियोग में किये हुए न्यायनिर्णय के कारण क्रान्तियाँ हुईं। दोनो ही प्रसगो मे अभियोग व्यभिचार-सबधी ही था और जो दण्ड दिया गया था वह उचित था पर दोनो ही स्थानो मे—हेराक्लिया में यूरीतियॉन् को और थीबैस मे आर्क्रियास् को —दण्ड दलगत पक्षपात की भावना से चरितार्थ किया गया। अपराधियो के शत्रुओ ने इतनी कलह-प्रियता दिखलाई कि उन्होने उनको खुले हाट मे गल-बन्ध दिलवाया। बहुत से धनिकतत्र तो अपने अतिशय स्वेच्छाचारित्व के कारण ही, दुर्व्यवहार से उद्विग्न हुए शासक-दल के सदस्यो के रुष्ट हो जाने से नष्ट हो गये। उदाहरणार्थ क्नीडॉस् और खियौस् नगरो के धनिकतत्रो के साथ ऐसा ही प्रसग घटित हुआ।

कभी कभी व्यवस्था-विषयक क्रान्तियाँ आकस्मिक दुर्घटनाओ के कारण भी हो जाया करती है। ऐसा या तो तथाकथित "व्यवस्था" (पालितेइया) नामक शासन-पद्धति मे हुआ करता है या ऐसी धनिकतत्री व्यवस्था में हुआ करता है, जिसमें परिषद्, न्यायालय और अन्य शासन-पदो की सदस्यता के लिये आर्थिक योग्यता आवश्यक होती है। आरभ में योग्यता (=आर्थिक योग्यता) तत्कालीन परिस्थिति को दृष्टि मे

रखते हुए इस प्रकार नियत की गयी होगी कि जिससे धनिकतत्र-पद्धति मे थोडे से व्यक्ति एव (तथाकथित) व्यवस्था-पद्धति मे केवल मध्यवित्त लोग शासन-कार्य मे भागीदार हो सके। पर इसके कुछ समय पश्चात् चाहे तो शान्ति काल के कारण अथवा अन्य किसी शुभ सयोग से समृद्धिकाल आ जाता है, जिससे कि पूर्वकालीन सम्पत्ति का मूल्य बढकर पहले की अपेक्षा अनेक गुना अधिक हो जाता है, परिणाम यह होता है कि सबको सब शासन-कार्यो मे भाग प्राप्त करने का अधिकार मिल जाता है। कभी तो ऐसा परिवर्तन धीरे धीरे थोडा थोडा करके अनजाने प्रकार से हो जाता है पर कभी ऐसा बडी शीघ्रता से भी हो(सक)ता है।

धनिकतत्रो मे क्रान्ति और विद्रोह इन्ही कारणो से हुआ करते है। जनतत्र (प्रजातत्र) और धनिकतत्र (अल्पजनतत्र) के विषय मे सामान्यरूपेण यह कहा जा सकता है कि वे कभी कभी परिवर्तित होकर अपने पूर्वरूप का विरोधी रूप धारण नही करते, प्रत्युत अपने ही किसी अवान्तर प्रकार मे परिणत हो जाते है। उदाहरणार्थ नियम से नियत्रित जनतत्र और प्रजातत्र नियमातीत रूप ग्रहण कर सकते है और यह (नियमातीत) पद्धतियाँ नियमनियत्रित पद्धतियो का।

टिप्पणियाँ

१. मस्सालिया अथवा मस्सीलिया नगरी आधुनिक काल में मार्सेइ (Marseilles) कहलाती है। यह फ्रांस के दक्षिण में है। जिन तीन नगरियो का यहाँ उल्लेख किया गया है वहाँ ऐसा नियम था कि एक समय पिता-पुत्र अथवा एक से अधिक भाई शासनपदाधिकारी नहीं हो सकते थे। यह सब नगर-राष्ट्र ग्रीक सभ्यता के छोरो पर बसे हुए थे।

२. क्नीदॉस् में भी उपर्युक्त प्रतिबन्ध लागू था।

३. बसीलीदाए वंश के लोग कई स्थानों पर बसे हुए थे। संभवतया, जैसा कि इनके नाम से सूचित होता है, यह लोग पुराने राजाओ के वंशधर थे।

४. अब तक जो उदाहरण इस खंड में दिये गये गये है उनमें तो क्रान्ति के कारण धनिकतंत्र से बाहर उत्पन्न हुए थे। अब ऐसे प्रसंगो का विचार किया जायगा जिनमें परिवर्तन के कारण स्वयं धनिकतंत्र के भीतर ही उत्पन्न हुए थे।

५. खरीक्लीस पहले निर्वासित कर दिया गया था। जब वह लौटकर आया तो उसका विचार अथेन्स को स्पार्टा का दास बनाने का और उस पर स्वयं शासन करने का था। यहाँ पर जिस घटना का उल्लेख किया गया है वह ई० पू० ४०५ की है।

६. अथेन्स जब स्पार्टा से पराजित हो गया तो क्रीतियास् के नेतृत्व में "तीस" धनिकवर्ग के लोगो का शासन आरंभ हुआ।

७. यह घटनाएँ भी स्पार्टा के युद्ध के समय से सबंध रखती है। फ्रीनीक(ख)स् धनिकतंत्र का एक सदस्य था जो ४०० की परिषद् में से एक था। यह अतिवादी नेता था। स्यात् थ्रासीबूलस् द्वारा इसकी हत्या कर दी गई।

८. लारिस्सा नगरी थेसालिया में पेनेयस् नदी के तट पर बसी हुई थी।

९. अबीदॉस हैलैस्पोण्ट के एशियावाले तटपर बसा हुआ है।

१०. हिप्पारिनस् एक सेनाध्यक्ष था। यह दियौनीसियस् का संबंधी भी था।

११. क्लियोतिमस् के विषय में केवल इतना ही ज्ञात है कि उसने अपना धन उड़ा दिया था और वह या तो स्वयं तानाशाह बनना चाहता था अथवा किसी व्यक्ति को बनाना चाहता था।

१२. अएगिना की घटना संभवतया ई० पू० ३६७ की है। इसके अतिरिक्त इस विषय में और कुछ पता नहीं है। संभवतया यहाँ भी उद्देश्य तानाशाही की स्थापना ही था।

१३. फार्सालस् नगरी थैसाली में लारिस्सा से दक्षिण दिशा में है।

१४. ऐलिस् पैलोपोनेसस् के उत्तर-पश्चिम में है।

१५. तिमौफ़ानी(ने)स् वास्तव में तानाशाह नहीं बना पर वह तानाशाह के सदृश कार्य अवश्य करता था।

१६. लारिस्सा में सिमियास् सभवतया ई०पू० चौथी शताब्दी में अधिनायक बना।

१७. इफ़ियादी(दे)स् एक चतुर सैनिक भी था।

१८. संभवतया यह फारस के युद्ध से पूर्व की घटना है।

१९. व्यभिचार के लिये अथेन्स एवं अन्य यूनानी नगर-राष्ट्रों में बड़ा कठोर दण्ड दिया जाता था। यदि कोई पुरुष परस्त्री के साथ व्यभिचार करते हुए पकड़ा जाता था तो उस स्त्री के पति को उस व्यक्ति को मार डालने का अधिकार था। यदि स्त्री अविवाहिता अथवा विधवा होती थी तो उसके पिता अथवा भाई अथवा पितामह को भी यही अधिकार था। गलबन्ध एक प्रकार का लकड़ी का जुआ होता था जो दण्डित व्यक्ति की ग्रीवा के पीछे रख दिया जाता था। इससे उसकी गर्दन भले प्रकार सीधी उठ नहीं पाती थी। इसी प्रकार का दण्ड चोरों को भी दिया जाता था।

७

श्रेष्ठजनतंत्र मे क्रान्तियों के कारण

श्रेष्ठजनतत्र में थोडे से मनुष्यो के शासन-व्यवस्था में सम्मान के भागी होने के कारण विद्रोह हुआ करते है। यह एक ऐसा कारण है जो, (जैसा कि हम वर्णन

कर चुके है) अल्पजनतत्र (=धनिकतत्र) मे भी हलचल पैदा किया करता है, क्योकि श्रेष्ठतत्र भी एक प्रकार के अल्पजनतत्र (धनिकतत्र) ही होते है। दोनो ही प्रकार की व्यवस्थाओ मे शासन-कार्य करनेवाले थोडे से व्यक्ति हुआ करते है—यद्यपि उनके थोडा होने का कारण दोनो मे भिन्न होता है। इसी कारण ऐसा होता है कि श्रेष्ठजनतत्र अल्पजनतत्र (=धनिकतत्र) जैसा प्रतीत हुआ करता है। इस (उपर्युक्त) कारण पर आश्रित विद्रोह विशेष प्रकार से अनिवार्यतया तब घटित होते है जब कि जनसमूह मे ऐसे मनुष्यो का बाहुल्य होता है, जो अत्यधिक ओजस्विता से परिपूर्ण होते है और जिनका यह विचार होता है कि वे (स्वय भी) योग्यता मे अपने शासको के समान है। उदाहरण के लिये लाकैदायमॉन (स्पार्टा) मे पार्थेनियाए कहलानेवाले लोगो के सबध मे ऐसा ही हुआ। ये लोग स्पार्टा के सामन्तो की (अवैध, जारज) सन्तान थे और इन्होने अपने अधिकारो के स्थापनार्थ षड्यत्र रचा, पर उसका पता लग जाने पर वे तारैन्तम[2] नामक स्थान पर उपनिवेश बसाने के लिये भेज दिये गये। और फिर जब अधिक सम्मानित और उच्च शासन-पदो पर स्थित व्यक्तियो के द्वारा ऐसे मनुष्यो का अपमान किया जाता है जो महान् होते है और योग्यता मे (=गुणो में) किसी से कम नही होते, तब भी इसी प्रकार के विद्रोह उत्पन्न हुआ करते है। उदाहरणार्थ लीसान्दर स्पार्टा के राजा के द्वारा इसी प्रकार अपमानित किया गया था। अथवा उस समय भी विद्रोह का जन्म होता है जब कि वीर पुरुषो को शासक-पद पर आरूढ होने का सम्मान प्राप्त नही होता, जैसा कि स्पार्टा के राजा अगीसिलाउस्[3] के समय मे किर्नादौन के सबध मे हुआ और जो स्पार्टा के उच्च जनो के विरुद्ध विद्रोह का नेता बना। और फिर तब भी विद्रोह हुआ करता है जब (शासक-वर्ग के लोगो मे से) कुछ बहुत निर्धन हो जाते है और कुछ अन्य लोग बहुत सम्पन्न बन जाते है, ऐसी अवस्था प्राय युद्धकाल मे हो जाया करती है। स्पार्टा मे इस प्रकार की सामाजिक अवस्था मैसिनिया[4] के युद्ध के समय हो गई थी। यह तथ्य तिर्तेइयस्[5] नामक कवि की "सुनियमा" शीर्षक कविता से स्पष्टरूपेण लक्षित होता है। इस कविता मे उसने यह वर्णन किया है कि जो लोग युद्ध में बर्बाद हो चुके थे उन्होने भूमि के पुनर्विभाजन की मॉग प्रस्तुत की थी। इसके अतिरिक्त, जब कोई व्यक्ति महान् पद पर आरूढ होता है, एव उसमे और भी अधिक महान् होने की क्षमता होती है तो वह इसलिए विद्रोह खडा किया करता है कि जिससे वह एकच्छत्र शासक बन सके, जैसा कि मीडिक युद्ध मे स्पार्टा के सेनापति पौसानियास्[6] और कार्खीदौन् (कार्थेज) में हन्नो[7] का उदाहरण दिया जा सकता है।

वास्तव मे व्यवस्था नामक पद्धति और श्रेष्ठ जनतत्र का पराभव प्रायेण मुख्यतया स्वय व्यवस्था के न्याय के मार्ग से भ्रष्ट हो जाने से होता है। (दोनो ही पद्धतियो मे) आदि या मूल कारण विभिन्न तत्त्वो की सुसगति स्थापित न कर पाना है; "व्यवस्था" में यह तत्त्व जनतत्र और धनिकतत्र होते हैं, तथा श्रेष्ठजनतत्रमे इन दोनो के साथ सद्वृत्त अथवा सद्गुण और मिल जाता है। पर फिर भी मुख्य तत्त्व तो दो ही हैं— अर्थात् जनतत्र और धनिकतत्र (अल्पजनतत्र), क्योकि इन्ही दो तत्त्वो को तो व्यवस्था नामक पद्धति और अधिकाश मे तथाकथित श्रेष्ठजनतत्र परस्पर मिलाने का प्रयत्न किया करते है। व्यवस्था नामक पद्धतियो और श्रेष्ठजनतत्रो मे भेद केवल इन तत्त्वो के मिश्रण के प्रकार मे ही होता है। और इसी भेद के कारण एक कम और दूसरी अधिक स्थायी होती है। वे शासन-पद्धतियाँ जो (इन तत्त्वो का इस प्रकार मिश्रण करती है) कि उनका झुकाव धनिकतत्र की ओर अधिक होता है श्रेष्ठ जनतत्र कहलाती है तथा जिनमे मिश्रण का झुकाव जनता की ओर अधिक होता है "व्यवस्था" कहलाती है। इसीलिए यह "व्यवस्थाएँ" उन (श्रेष्ठजनतत्रो) की अपेक्षा अधिक स्थिर और सुदृढ होती है। क्योकि जितनी ही अधिक जनता की सख्या (शासन-व्यवस्था की सहायता करनेवाली होती है) शासन-व्यवस्था उतनी ही शक्तिशाली होती है, और जनता उस समय शासन-व्यवस्था के साथ सहमत होने को अधिक तैयार रहती है जब कि उनको शासन-कार्य मे समान भाग प्राप्त होता है। जहाँ तक सम्पत्तिशाली लोगो का सबध है उनकी बात दूसरी है, जब शासन-व्यवस्था उनको उच्च सत्तापूर्ण स्थान प्रदान करती है तो उनकी प्रवृत्ति और अधिक उच्छृखल और उद्दण्ड बनने की ओर तथा पूर्वपेक्षा अधिक लोलुप (परिग्रहशील) बनने की ओर हो जाती है। सामान्यरूपेण, यह कहा जा सकता है कि शासन-व्यवस्था जिस ओर झुकी होती है, उसकी प्रवृत्ति उसी दिशा मे परिवर्तित होने की होती है, दोनो तत्त्वो मे से जिसकी भी शक्ति बढती जाती है उसकी ही दिशा मे शासन-व्यवस्था भी झुकती जाती है, उदाहरणार्थ "व्यवस्था" नामक पद्धति बदलकर प्रजातत्र का रूप धारण कर लेती है और श्रेष्ठ-जनतत्र अल्पजनतत्र के रूप मे बदल जाती है।

पर यह भी सभव है कि परिवर्तन विरोधी दिशा में हो, उदाहरण के लिये यह सभव है कि श्रेष्ठजनतत्र प्रजातत्र के रूप मे बदल जाय, क्योकि जब निर्धन लोगो को ऐसा अनुभव हुआ करता है कि उनके प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार किया जा रहा है तो वे शासन-व्यवस्था की प्रवृत्ति को हठात् प्रतिकूल दिशा में मोड देते हैं। इसी प्रकार "व्यवस्था" नामक पद्धति का रूपान्तर धनिकतत्र के रूप में हो सकता है। शासन-

व्यवस्था के स्थायित्व का सिद्धान्त केवल यह है कि सर्वत्र आनुपातिक (योग्यतानुसार) समानता बरती जाय, और प्रत्येक व्यक्ति को अपना योग्य भोग्याश (अधिकार) मिले।[८] उपर्युक्त प्रकार का (विरोधी दिशा मे जानेवाला) परिवर्तन थूराई[९] नामक नगरी मे घटित हुआ, जहाँ आरभ मे शासन-पदाधिकार की आर्थिक योग्यता बहुत ऊँची होने के कारण घटा दी गई और परिणामत इसके साथ ही शासनाधिकारियो की सख्या में भी वृद्धि हो गई। गण्यमान लोगो के, नियम के प्रतिकूल, सारी भूमि को खरीद लेने के कारण (क्योकि शासन-व्यवस्था की धनिकतत्रात्मक प्रवृत्ति ने उनको ऐसी मनचाही करने दी और वे उसको आत्मसात् कर सके) गृहयुद्ध छिड गया। जनता तो युद्धो के कारण कठोर और सबल हो चुकी थी, नगर-रक्षको से अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुई और अन्ततोगत्वा जिन लोगो के पास नियमानुमोदित मात्रा से अधिक भूमि थी उनको उसे छोडना पडा। इसके अतिरिक्त, क्योकि सभी श्रेष्ठ जनतत्रो का झुकाव धनिकतत्र (अल्पजनतत्र) की ओर हुआ करता है, अतएव इसका परिणाम यह होता है कि गण्यमान लोगो मे अधिक लोलुप और परिग्रही बनने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिये लाकैदायमॉन मे सम्पत्ति के थोडे से मनुष्यो के हाथो मे केन्द्रित होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वहाॅ उन लोगो को अपने इच्छानुसार कुछ भी करने की तथा किसी के भी साथ इच्छानुसार विवाह-सबध जोडने की अत्यधिक शक्ति प्राप्त है। और इसीलिए (दक्षिण इटली का) लौक्री नामक नगर तो वहाँ के एक व्यक्ति की पुत्री के साथ सिराकूज़ के दियौनीसियस् का विवाह होने से विनाश को प्राप्त हो गया (और अन्ततोगत्वा उस नगर पर सिराकूज की तानाशाही स्थापित हो गई)। इस प्रकार की घटना न तो प्रजातत्र-व्यवस्था मे घटित हो सकती थी और न सुसतुलित श्रेष्ठजनतत्र मे।

यह सामान्य उक्ति, कि क्रान्तियो के (प्रसगोपात्त) कारण छोटी छोटी बाते भी हो सकती है, जिसका उल्लेख हम सभी शासन-व्यवस्थाओ के सबध में पहले ही कर चुके हैं, श्रेष्ठजनतत्र के विषय मे विशेष प्रकार से लागू होती है। धीरे धीरे थोडे थोडे (क्षीण) खोखले होकर श्रेष्ठजनतत्र विशेषतया अज्ञातभाव से परिवर्तित हो जाया करते हैं। जब नागरिक लोग एक बार व्यवस्था के किसी अग को त्याग देते हैं, तो फिर इसके पश्चात् कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण अग को त्यागना उनके (जनता अथवा शासन-सत्ता) के लिये अधिक सरल हो जाता है, अन्त में यहाँ तक होता है कि सारी व्यवस्था पूर्णतया परिवर्तित हो जाती है। थूराई नगर की व्यवस्था के विषय में यही बात वास्तव में घटित हुई। वहाँ नियम यह था कि सेनापतियों का (चुनाव एक बार हो जाने पर)

दूसरा चुनाव पाँच वर्ष पश्चात् होना चाहिये। कुछ नवयुवको ने समरोचित वीरता के कारण सैनिक-समूह मे अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी। कार्य-सचालको की बिलकुल अवहेलना करके इन लोगो ने (इस विश्वास के आधार पर कि उनका मन्तव्य सरलता से सिद्ध हो जायगा) प्रथम तो इस नियम को हटाने का प्रयत्न किया, क्योकि इनकी इच्छा थी कि सेनापतियो को लगातार पदारूढ रहने दिया जाय, एव यह जानते थे कि साधारण जनता बडे हर्षपूर्वक हाथ उठाकर इन्ही को मतदान देगी। इस पर, जिन लोगो के कर्तव्य में इस प्रस्ताव पर विचार करना था तथा जो पारिषद् कहलाते थे, उन्होने आरभ मे तो (पूर्वकालीन नियम के) हटाने का विरोध करने का प्रयत्न किया, तथापि, पीछे वह इस विचार से इस-नियम को हटाने के लिये सहमत हो गये कि यदि इस नियम मे यह परिवर्तन कर लिया जायगा तो शेष व्यवस्था अछूती बनी रहेगी। (पर यह सब भ्रम था) अन्य परिवर्तनो के प्रस्ताव इसके पश्चात् शीघ्र ही प्रस्तुत किये गये जिनका विरोध करने का प्रयत्न करने मे यह लोग कुछ सफलता नही पा सके, और सम्पूर्ण व्यवस्था की योजना ही बदल गई तथा शासन-सत्ता क्रान्तिकारीदल के हाथ में चली गई जिन्होने एक कुलक्रमागततत्र की स्थापना की।[११]

सभी व्यवस्थाओ का पतन (विनाश) या तो आन्तरिक कारणो से होता है अथवा बाह्य कारणो से। बाह्य कारणो (=प्रभावो) से पतन तब होता है जब किसी राष्ट्र का विरोध किसी ऐसे विरोधी व्यवस्थावाले राष्ट्र के द्वारा किया जाता है जो या तो उसका निकटवर्ती पडोसी होता है या दूर होते हुए भी अत्यन्त बलशाली होता है। पुराने समय मे अथेन्स और लाकैदायमॉन् के साम्राज्यों में ऐसा ही प्रसग घटित हुआ। अथेन्सवालो ने सर्वत्र धनिकतत्र का दमन किया एव लाकैदायमॉनवालो ने प्रजातत्रो का।

अब मैं लगभग इस बात का वर्णन कर चुका कि शासन-व्यवस्थाओ में क्रान्ति और विद्रोह किन (मुख्य) कारणो से हुआ करते है।

टिप्पणियाँ

१. तारैन्तम की स्थापना ई० पू० ७०८ में हुई थी।

२. लीसान्दर अथवा लीसान्द्रॉस् के विषय में पहले लिख आये हैं।

३. अगी(गे)सिलाउस् का समय ई० पू० ४४४-३६१ है। यह स्पार्टा का राजा था। इसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की। शरीर से यह लँगड़ा था। अन्त में यह मिस्र के सम्राट् की ओर से फ़ारस के विरुद्ध लड़ते हुए मारा गया। किनादौन् इसी के समय का एक योग्य व्यक्ति था पर उसको शासन-कार्य में भाग नहीं दिया गया था।

४. मैसिनिया के युद्ध में अरिस्तौमेनेस् के आक्रमणों से स्पार्टा के खेतों को बहुत अधिक हानि पहुँची।

५. तिर्तेइयस् का समय लगभग ई० पू० ६५० है और उसकी पुस्तक का नाम इयुनोमिया=सुनियमा था।

६. पौसानियास् स्पार्टा का राजा था। संभवतया वह स्पार्टा की "एफौर" मण्डली को हटाकर स्वयं एकच्छत्र शासक बनना चाहता था।

७. अन्नो अथवा हन्नो कार्खीदौन् (कार्थेज) का एक सेनापति था।

८. अरिस्तू शासन-व्यवस्था में सर्वदा समानुपातिक समानता का पृष्ठपोषक है।

९. थूराई दक्षिण इटली के लूकानिया प्रदेश में ४४३ ई० पू० में बसाया हुआ अथेन्स का उपनिवेश था।

१०. लौक्री के एक सम्भ्रान्त नागरिक की कन्या का विवाह दियोनीसियस् के साथ हुआ। इस विवाह के ४० वर्ष पश्चात् सिराकूज के शासक द्वितीय दियौनीसियस् ने ई० पू० ३५६ में सिराकूज को त्यागकर लौक्री को अपनी राजधानी बनाया और वहाँ ६ वर्ष तक अत्यन्त अत्याचारपूर्ण शासन किया। लौक्री की जनता ने इसके पश्चात् उसकी अनुपस्थिति में भयंकर विप्लव खड़ा कर दिया और उसकी पत्नी और परिवार के लोगो से उसके कुकृत्यों का बदला लिया।

११. तुलना कीजिये संस्कृत की लोकोक्ति से—
यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्रतत्रोपविश्यते।
तथा चलितवृत्तस्तु शेषवृत्तं न रक्षति॥

८

पूर्वोक्त शासन-व्यवस्थाओं को स्थायी बनाने के उपाय

अब इसके पश्चात् यह विचार करना है कि सामान्यरूपेण सभी प्रकार की व्यवस्थाओ की एव विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओ की पृथक् पृथक् प्रकार से रक्षा करने के क्या उपाय है ? प्रथम तो यह स्पष्ट ही है कि यदि हम उन कारणो को जान ले जो व्यवस्थाओ को नष्ट करनेवाले है तो यही व्यवस्थाओ की रक्षा करनेवाले कारणो को जान लेना भी है। विरोधी कारणो से विरोधी परिणाम उत्पन्न होते है, एव विनाश सरक्षण का विरोधी है। सुगठित अगोवाली व्यवस्था मे अन्य किसी बात के विषय में इतनी सावधानी नही बरती जानी चाहिये जितनी इस विषय में कि कभी नियम-

विरोध नही होना चाहिये, छोटी छोटी बातो के विषय मे यह सावधानी और भी अधिक बरती जानी चाहिये। इस प्रकार से नियमहीनता अज्ञात भाव से राष्ट्र मे प्रविष्ट होकर उसको (इसी प्रकार नष्ट कर देती है) जिस प्रकार थोडे से ही (अप-) व्यय के बार बार होने से (विशाल) सम्पत्ति का विनाश हो जाता है। क्योकि यह व्यय (अथवा नियम-विरोध) एक साथ बहुत सा नही होता अतएव यह अज्ञात रहता है, हमारा ध्यान इससे इसी प्रकार धोखा खा जाता है जिस प्रकार इस हेत्वाभास (कुतर्क) से कि "यदि प्रत्येक अश छोटा होता है तो समग्र अशी भी छोटा होगा।"[1] एक प्रकार से यह सच है पर दूसरे प्रकार से सच नही है, क्योकि समग्र अशी अथवा सब (चाहे वे छोटे छोटे अवयवो से ही मिलकर क्यो न बने हो) छोटा नही होता।

प्रथम सावधानी जो बरती जानी चाहिये वह यही है कि नियमहीनता के छोटे छोटे कार्यो को आरभ मे ही रोक दिया जाय। दूसरी बात यह है कि उन चालाकियों का विश्वास कदापि नही किया जाना चाहिये जो जनसाधारण की आँखो मे धूल झोकने के लिये रची जाती है, क्योकि व्यवहार मे उनकी कलई खुल जाया करती है। यहाँ जिन राजनीतिक चालो की ओर मेरा सकेत है उनका वर्णन मैं पहले ही कर चुका हूँ।

फिर हमको यह भी ध्यानपूर्वक देखना चाहिये कि कुछ शासन-व्यवस्थाएँ (और वह भी केवल श्रेष्ठजनतत्र ही नही, प्रत्युत अल्पजनतत्र भी) किसी अपनी आन्तरिक दृढता (स्थिरता) के कारण स्थायी नही बनी रहती, प्रत्युत उनकी स्थिरता का कारण शासक-वर्ग का वह सुव्यवहार होता है जो वह नागरिकता से बाहरवाली[2] और नागरिकता के अधिकार भोगनेवाली जनता के प्रति किया करते है। ऐसे राष्ट्रो में नागरिकताके अधिकार से वचित जनताके प्रति कभी अनुचित व्यवहार नही किया जाता; प्रत्युत उस जनता मे से जो व्यक्ति अग्रणी होते है उनको राजनीतिक अधिकारो में प्रविष्ट कर लिया जाता है। जो लोग सम्मान को प्रेम करनेवाले (= महत्त्वाकाक्षी) होते है, ऐसे राष्ट्रो मे उनके सम्मान को ठेस पहुँचानेवाला कोई अनुचित व्यवहार उनके प्रति नही किया जाता, तथा साधारण जनता के प्रति धन और लाभ के विषय मे कोई अन्याय नही बरता जाता। (इसी प्रकार) इन व्यवस्थाओ (= राष्ट्रो) मे शासक-वर्ग एव नागरिकता के अधिकार भोगनेवाला जनसमूह परस्पर जनतत्रात्मक समानता की भावना से व्यवहार किया करता है। जनतत्री लोग जिस समानता (के सिद्धान्त) को सब जनता के लिये लागू करने का प्रयत्न करते है, उसका (अपने) समान लोगो मे प्रयोग करना न केवल उचित ही है, प्रत्युत उपयोगी भी है।

अतएव किसी भी ऐसे राष्ट्र मे, जिसमे राजनीतिक अधिकारो से सम्पन्न लोगो की सख्या अधिक हो, बहुत सी जनतत्रात्मक सस्थाओ (अथवा नियमो) का होना लाभदायक होता है। उदाहरण के लिये, ऐसे राष्ट्रो मे शासन-पदाधिकार का काल छ मास के लिये नियमित करने देना उपयोगी होगा जिससे वे सब लोग जो एक समान है पदाधिकार का भोग कर सके। समान लोगो का एक विशाल समूह स्वयमेव एक प्रकार का जनतत्र ही तो है। इसीलिए तो, (जैसा हमने पहले ही कहा है) इसी वर्ग मे से बहुधा लोकनायको की उत्पत्ति हुआ करती है। इस (अल्पकालीन पदाधिकार की) नीति को अपनाने से अल्पजनतत्र (=धनिकतत्र) और श्रेष्ठजनतत्र के वशानुक्रम-व्यवस्था के रूप मे पतित हो जाने की प्रवृत्ति (सभावना) कम हो जाती है। थोडे से समय के लिये शासन-पद पर आरूढ व्यक्ति के लिये उतनी हानि करना सरल काम नही जितनी कि दीर्घकालीन शासक के लिये, दीर्घकालीन पदाधिकार के कारण ही अल्पजन-तत्रो एव प्रजातत्रो मे तानाशाहियो का जन्म होता है। जो व्यक्ति इन दोनो ही प्रकार की व्यवस्थाओ मे तानाशाही स्थापित करने की महत्त्वाकाक्षा रखते हैं, वे या तो प्रमुख व्यक्ति हुआ करते है (जो जनतत्र मे लोकनेता और धनिकतत्र में अभिजात कुलो के स्वामी होते है) अथवा ऐसे लोग हुआ करते है जो किसी उच्च शासन-पद पर सुदीर्घ काल से आरूढ रहे हैं।

राष्ट्रो (=व्यवस्थाओ) की रक्षा केवल इसी कारण नही होती कि उनको विनष्ट करनेवाला दूर होता है, (प्रत्युत कभी कभी तो) उसके समीप होने के कारण भी हुआ करती है। (विनाशक के समीप होने के कारण) भयभीत हुए लोग अपनी राष्ट्र-व्यवस्था को अधिक अच्छे प्रकार से अपनी मुट्ठी (हाथ) मे रखते है। अतएव जो (शासक) लोग राष्ट्र (की रक्षा) के लिये चिन्तित हो उनको चाहिये कि वे भयो की सृष्टि करते रहा करे, जिससे कि लोग चौकन्ने रहे, तथा राष्ट्र की चौकीदारी मे अपनी सावधानता इसी प्रकार कभी शिथिल न करे जिस प्रकार रात्रि के पहरेदार अपनी चौकसी को कभी शिथिल नही करते। और इस प्रकार उनको जो दूर हैं (उस भय को) समीप ला देना चाहिये। इसके अतिरिक्त नियम-निर्धारण एवं व्यक्तिगत कार्य द्वारा गण्यमान लोगों की कलहप्रियता और पारस्परिक झगडो से राष्ट्र की रक्षा का प्रयत्न किया जाना चाहिये, वे लोग जो झगडों में अभी तक नही फँसे है, उन पर भी उनके इन झगडो मे लिप्त होने के पूर्व ही सजग दृष्टि रखी जानी चाहिये जिससे कि वे इनमे कभी लिप्त न हो सकें। बुराई के आरभ को पहले से ही जान लेना ऐरे गैरे आदमी का काम नहीं है, प्रत्युत यह काम सच्चे राष्ट्रदक्ष व्यक्ति का ही है।

धनिकतत्र (अल्पजनतत्र) और "व्यवस्था"-तत्र में आर्थिक योग्यता के आधार पर होनेवाले परिवर्तनो के सबध मे, (जब भी ऐसा परिवर्तन आर्थिक योग्यता की मर्यादा मे बिना हेर-फेर हुए, सार्वजनिक व्यवहार मे चालू धन की वृद्धि के कारण ही घटित हो) यह अच्छा होगा कि जिन नगरो में सामान्य सम्पत्ति की पडताल वार्षिक होती है उनमे सामान्य सम्पत्ति के वर्त्तमान अकन को पिछले वर्ष के अकन से तुलना करके देख लिया जाय[1], और बडे नगर-राष्ट्रो मे जहाँ कि सामान्य आर्थिक पडताल तीसरे या पाँचवे वर्ष मे हुआ करती है वहाँ इन्ही अतरालो के अकन की तुलना की जानी चाहिये और यदि इस तुलना से यह पता चले कि उस पूर्वकालीन सामान्य आर्थिक अकन की अपेक्षा (जब कि व्यवस्थान्तर्गत विहित आर्थिक योग्यता स्थिर की गई थी) इस समय का आर्थिक अकन अनेकगुना अधिक अथवा अनेक गुना कम हो गया है तो आर्थिक योग्यता को भी तदनुरूप बढा देने या घटा देने का नियम होना चाहिये। यदि आर्थिक अकन बहुत ऊँचा उठ गया हो तो आर्थिक योग्यता को भी उतने ही गुना बढा देना चाहिये और यदि आर्थिक अकन घट गया हो तो आर्थिक योग्यता को भी घटाकर उसके अनुरूप बना देना चाहिये। धनिकतत्र (अल्पजनतत्र) में और "व्यवस्था"-तत्र मे जहाँ भी यह नीति नही बरती जायगी वहाँ परिवर्तन (=क्रान्ति) अवश्यमेव होकर रहेगा। कभी तो (अर्थात् जब अकन घट जायगा पर आर्थिक योग्यता पूर्ववत् रहेगी) ऐसा होगा कि "व्यवस्थातत्र" अल्पजनतत्र मे बदल जायगा और अल्पजनतत्र कुलतत्र (दिनास्ते-इया) मे; और कभी (अर्थात् जब आर्थिक अकन बढ जायगा और आर्थिक योग्यता ज्यो की त्यो बनी रहेगी) यह होगा कि "व्यवस्थातत्र" बदलकर जनतत्र हो जायगा और धनिकतंत्र हो जायगा "व्यवस्थातत्र" अथवा जनतत्र।

एक नियम जो कि सामान्यरूपेण जनतत्र एव धनिकतत्र तथा (एकराट्तत्र)—सभी तत्रो में लागू होता है, यह है कि राष्ट्र को किसी भी एक व्यक्ति को कभी अनन्य-सामान्य रूप से बढावा नही देना चाहिये। अधिक अच्छी बात यह है कि थोडे समय मे बहुत सा सम्मान देने की अपेक्षा थोडे थोडे सम्मान सुदीर्घ काल तक प्रदान किये जायँ। मनुष्य बहुत जल्दी बिगडते हैं; और सब सम्पत्ति को सहन नही कर सकते। यदि इस नियम का अनुसरण न किया जाय, तो कम से कम इतना तो होना ही चाहिये कि एक साथ प्रदान किये हुए ढेर के ढेर सम्मान एकदम सब के सब न लौटा लिये जायँ प्रत्युत शनै शनैः थोडे थोडे करके लौटाये जायँ। यह भी बडी अच्छी नीति है कि नियम-निर्माण द्वारा इस बात का प्रयत्न किया जाय कि कोई भी व्यक्ति, चाहे तो मित्रो के सहारे और चाहे धन के बल पर, अत्यधिक शक्तिशाली न बन जाय। यदि ऐसा न हो

सके तो जिस व्यक्ति ने ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लिया है उसको देश से निर्वासित करके उस स्थिति से हटा देना चाहिये। क्योकि मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन की परि-स्थितियो के कारण भी क्रान्तिकारी हो जाया करते है, अतएव एक ऐसे पदाधिकार (मजिस्ट्रेसी) की सृष्टि की जानी चाहिये जो ऐसे लोगो के जीवन पर दृष्टि रखे जो राष्ट्र की शासन-व्यवस्था से विसवादी प्रकार से जीवन यापन करते है—अर्थात् जो जनतत्र मे जनतान्त्रिक ढग से नही रहते, धनिकतत्र मे धनिकतत्री ढग से नही रहते, इसी प्रकार प्रत्येक अन्य प्रकार के शासनतत्र मे भी जिनका जीवन स्थापित तत्र से विसवादी है। इसी प्रकार के कारणो से समाज के उस अग पर भी चौकसी की दृष्टि रखी जानी चाहिये जो किसी समय विशेषरूप से फल फूल रहा हो। इस बुराई का इलाज यह है कि सर्वदा कार्यो का प्रबध और शासनपदो का उपभोग उपर्युक्त अग के विरोधी अग के हाथ मे सौप दिया जाय (ऐसे विरोधी अग या तो (थोडे से) सद्गुणी और बहुत से सामान्य जन समझे जाने चाहिये या निर्धन और धनवान् लोग)—और इस प्रकार से निर्धन और धनवानो का सतुलन अथवा सम्मिश्रण कर दिया जाय, अथवा इन दोनो (विरोधी अगो के मध्यवर्ती) मध्यम श्रेणी की शक्ति को बढाने का प्रयत्न किया जाय। इस नीति से असमानता के कारण उत्पन्न होनेवाले विद्रोहो की समाप्ति हो जायगी।

पर सभी प्रकार की व्यवस्थाओ मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि न केवल कानून के द्वारा प्रत्युत साधारण आर्थिक व्यवस्था द्वारा भी ऐसा प्रबध किया जाना चाहिये कि जिससे शासनाधिकारी लोग (=मजिस्ट्रेट लोग) अपने पद का उपयोग अपने लिये धन कमाने के लिये न करे। धनिकतत्र मे इस विषय पर सबसे अधिक ध्यान देना चाहिये। जन साधारण शासनपदो से पृथक् रखे जाने से अधिक अप्रसन्न नही होते—(सच तो यह है कि अपने व्यक्तिगत कार्यो को ध्यान देने का अवकाश पाने पर वे प्रसन्न ही होते है) पर जिस बात से वे रुष्ट होते है वह यह है कि शासनपदारूढ लोग सार्वजनिक धन की चोरी करते है। ऐसा होने पर उनको दुगुनी पीडा होती है, क्योकि न तो उनको शासकपद के सम्मान मे भाग मिलता है और न सार्वजनिक सम्पत्ति मे—(यह उनकी दोहरी हानि है।) यदि कोई ऐसा प्रबन्ध हो सके जिसके द्वारा पदाधि-कारियो (मजिस्ट्रेटो) को अपने पद से आर्थिक लाभ उठाने से रोका जा सके तो केवल इसी उपाय से जनतत्र और श्रेष्ठजनतत्र का सम्मिलन सभव हो सकता है, क्योकि ऐसा होने पर गण्यमान लोग और जन साधारण दोनो ही की इच्छाएँ पूरी हो सकती है। इस प्रकार से सब कोई पदाधिकार प्राप्त कर सकेंगे, जैसा प्रजातत्र मे होना उचित है; औ (वास्तव में) श्रेष्ठजन पदारूढ रहेंगे, जैसा कि श्रेष्ठ जनतत्र में होना चाहिये।

यदि पदाधिकार का धनोपार्जन का साधन बनना असभव कर दिया जाय तो यह उपर्युक्त परिणाम प्राप्त हो सकता है। जब पदो से कुछ भी आर्थिक लाभ नही होगा तो निर्धन लोग पदाधिकार की कामना नही करेंगे—इसकी अपेक्षा वे तो अपने धधो पर ही अधिक ध्यान देना चाहेंगे। धनवान् लोग उन (पदो) को ग्रहण कर सकेंगे क्योकि उनको अपने व्यक्तिगत खर्चे के लिये सार्वजनिक सम्पत्ति मे से कुछ भी लेने की आवश्यकता नही होगी। इस प्रकार निर्धन लोगो को अपने कार्य मे ध्यान लगाकर धनवान् बनने की सुविधा प्राप्त हो जायगी, गण्यमान लोगो को यह सतोष होगा कि उनको किसी ऐरे-गैरे से शासित नही होना पडा। सार्वजनिक सम्पत्ति (=धन) का किसी व्यक्ति (पदाधिकारी) द्वारा हडपा जाना रोकने के लिये उसका हस्तान्तरीकरण सब नागरिको के सम्मेलन के समक्ष होना चाहिये, तथा उसकी विवरण सूची की प्रतिलिपियाँ सब बिरादरियो, मण्डलियो और कबीलो के पास जमा कर दी जानी चाहिये। शासनपदाधिकार से कोई व्यक्तिगत आर्थिक लाभ उठाया जा सके इसके लिये कानून के द्वारा उन लोगो को सम्मान प्रदान करने की व्यवस्था होनी चाहिये जिनको (निर्दोष होने की) सुख्याति प्राप्त हो।

जनतत्र मे धनवानो को छूट मिली होनी चाहिये। केवल इतना ही नही होना चाहिये कि उनकी सम्पत्ति विभाजित न की जाय, प्रत्युत उनकी जागीरो की आय भी सुरक्षित रहनी चाहिये। कुछ राष्ट्रो मे इस आय को विभाजित करने की जो पद्धति अज्ञातभाव से उत्पन्न हो गई है उसको चालू नही होने देना चाहिये। यह भी अच्छी नीति है कि धनवान् लोगो को, गायनमण्डली, मशालदौड और ऐसे ही अन्य अपव्यय-साध्य सार्वजनिक सेवा के कार्यो से उनकी इच्छा रहते हुए भी रोका जाय। इसके विपरीत धनिकतत्र मे निर्धन लोगो की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये, तथा जिन शासनपदो से धन की प्राप्ति हो सकती है वे उनको दिये जाने चाहिये। और यदि कोई धनवान् व्यक्ति उनके प्रति हिंसक (हिंसापूर्ण) अपराध करे तो उसको जितना दण्ड अपने वर्ग के व्यक्ति के प्रति अपराध करने पर दिया जाता उससे भी अधिक दण्ड दिया जाना चाहिये। उत्तराधिकार दान के आधार पर नही प्रत्युत सन्ततिक्रम से मिलना चाहिये एव किसी भी व्यक्ति को कभी भी एक से अधिक उत्तराधिकार नही मिलना चाहिये।[४] इस प्रकार से जागीरे अपेक्षाकृत अधिक समान (बराबर) हो जायँगी और निर्धन लोग अधिक संख्या मे सपन्न हो सकेंगे। लोकतत्र और अल्पजनतत्र दोनो ही प्रकार की व्यवस्थाओ मे यह अधिक उपयोगी नीति है कि जिन लोगो को शासन-तत्र में कम अधिकार प्राप्त हो (जैसे कि लोकतत्र में धनिक लोगो को और अल्पजनतत्र

मे निर्धन लोगो को) बराबरी अथवा उससे भी आगे का सम्मान उनको दिया जाय। बस, केवल सर्वोच्च सत्तावाले पद इस विषय मे अपवाद माने जाने चाहिये। यह पद या तो केवल या मुख्यतया पूर्ण नागरिक अधिकारवाले वर्ग के व्यक्तियो को सौपे जायँ।[५]

टिप्पणियाँ

१. इस हेत्वाभास का परिहार यह है कि प्रत्येक छोटा अश पृथक् पृथक् छोटा ही होता है पर इस प्रकार सब छोटे छोटे अंश मिलकर छोटे नही होते।

२. दास और निम्नकोटि के शिल्पकार इत्यादि।

३. धनिक-तंत्र और "व्यवस्था"–तंत्र में पदाधिकार की प्राप्ति के लिए विशिष्ट आर्थिक योग्यता की शर्त्त रहती थी। पर आर्थिक योग्यता कोई स्थायी तत्त्व तो है नहीं। कालान्तर में निर्धन लोग धनवान् हो जाते हैं और धनवान् निर्धन। अतएव यदि अल्पजनतंत्र राष्ट्र में अधिक लोगो की आर्थिक योग्यता (Property qualification) बढ़ जाय तो वह राष्ट्र स्वयमेव जनतंत्र में परिवर्त्तित हो जायेगा। अतएव अरिस्तू का सुझाव है कि समय समय पर होनेवाली साम्पत्तिक योग्यता के पड़ताल के अनुसार पदाधिकार के लिये निश्चित आर्थिक योग्यता की मात्रा भी परिवर्तित होती रहनी चाहिये।

४. दानक्रम से उत्तराधिकार दिये जाने के कारण सम्पत्ति के थोड़े से व्यक्तियो के पास राशिभूत होने की संभावना हो जाती है।

५. व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से यह खंड अरिस्तू की परिपक्व बुद्धिमत्ता का परिचायक है। यद्यपि व्यवस्थाओ की रक्षा का विवरण षष्ठ पुस्तक में दिया जाता है तथापि क्योकि व्यवस्थाओ के रोगो का निदान इस पुस्तक में दिया गया है अतएव निदानानरूप उपचार यहाँ बतलाया गया है। निदान-निरपेक्ष उपायों का वर्णन षष्ठ पुस्तक में किया जायगा।

वि० शासनपद को धनवान् बनने का साधन बनाना अरिस्तू के मत में व्यवस्थाओं का "राजरोग" है। पर अरिस्तू कोई नई बात नहीं कह रहा है और न अन्तिम बार कह रहा है। उससे पूर्व थूकीदिदेस् और प्लातोन इस विषय में चेतावनी दे चुके थे। सभी देशों और सभी कालों के मनीषियों ने इस रोग के विषय में चेतावनी दी है। जब तक शासन-व्यवस्था नाम की वस्तु संसार में रहेगी इस पतन के कगर पर 'सावधान!' की तख्ती लगानी पड़ेगी। तथापि भ्रष्टाचार क देख-भाल और रोक-थाम करनेवाले भी कभी कभी गिरेंगे। तभी तो कहा है कि तपस्या से राज्य और राज्य से नरक की प्राप्ति होती है।

९

व्यवस्था-रक्षा के अन्य उपाय

(राष्ट्र के शासन मे) जिन लोगो को उच्च सत्तापूर्ण पदो पर आसीन होना हो उनमे तीन गुणो का होना आवश्यक है।[1] प्रथम तो स्थापित शासनविधान मे उनकी श्रद्धा होनी चाहिये। इसके पश्चात् दूसरा गुण यह है कि उनमें अपने पद के कार्यों को सम्पादन करने की महती क्षमता हो। तीसरा गुण उस प्रकार का सद्वृत्त और न्याय है जो प्रत्येक प्रकार के शासनतत्र मे उस (शासनतत्र) के अनुरूप होता है। क्योकि यदि जो बात न्यायोचित है वह सब प्रकार की शासन-व्यवस्थाओ मे एक सदृश न हो तो यह अनिवार्य है कि न्याय का गुण भी विभिन्न शासनतत्रों में विभिन्न प्रकार का होगा।[2] जब यह उपर्युक्त तीनो गुण एक ही व्यक्ति में एक साथ घटित हुए न पाए जायें तो यह कठिनाई उत्पन्न हो जाती है कि (श्रेष्ठ शासनाधिकारी का) चुनाव किस प्रकार किया जाय? उदाहरणार्थ कोई मनुष्य ऐसा है कि वह बहुत अच्छा सेनाध्यक्ष है (अर्थात् उपर्युक्त गुणो मे से दूसरे गुण से युक्त है) पर बुरा आदमी है और शासनविधान में श्रद्धावान् भी नही है; एक दूसरा आदमी है जो न्याय परायण और व्यवस्था के प्रति श्रद्धालु है (पर क्षमता नही रखता) तो ऐसी अवस्था में चुनाव किस प्रकार करना चाहिये? ऐसा लगता है कि हमको दो बातो पर ध्यान देना आवश्यक है, एक तो यह कि कौन से गुण ऐसे हैं जो अधिक व्यापक रूप में मिलते हैं और दूसरे वह गुण कौन से है जो विरल है। इस प्रकार सेनाध्यक्ष के चुनाव में हमको किसी व्यक्ति के सद्वृत्त की अपेक्षा उसके अनुभव (सैन्य सबधी कौशल) पर अधिक ध्यान देना चाहिये। क्योकि रणकौशल सम्पन्न व्यक्ति बहुत थोड़े होते है तथा सद्वृत्त सपन्न लोगों की सख्या अपेक्षाकृत अधिक है। सपत्ति के सरक्षक के पद अथवा गृहाध्यक्ष (अथवा कोषाध्यक्ष) के पद के लिये इसके विपरीत नियम का अनुसरण करना चाहिये, क्योकि ऐसे पदों के लिये सामान्य से अधिक उच्च सद्वृत्त की आवश्यकता हुआ करती है और इनके लिये जिस कोटि के ज्ञान की अपेक्षा होती है वह सामान्यरूपेण सबको प्राप्त होता है।

इन तीन गुणो के सबध में एक और भी समस्या यह है कि यदि किसी मनुष्य मे नागरिक पद के लिए क्षमता (योग्यता) और शासनव्यवस्था के प्रति श्रद्धा, यह दोनो गुण हो तो उसको तीसरे गुण (सद्वृत्त) की क्या आवश्यकता है? और क्या यह दो गुण ही उसको सार्वजनिक हित (सपादन) करने योग्य नही बना देंगे? परन्तु क्या इन दोनो गुणो से सम्पन्न व्यक्तियो के लिए आत्मसयम से रहित होना सभव नही है?

और क्या जिस प्रकार अनात्मसयमी पुरुष अपने स्वार्थ को जानते हुए और उसमे श्रद्धा रखते हुए भी आत्मसयम के अभाव मे अपने ही स्वार्थ के साधन मे कृतकार्य नही होते, क्या ठीक उसी प्रकार यह लोग (आत्मसयम के अभाव मे) सार्वजनिक हितो (स्वार्थों) के साधन मे भी असफल (= अवरुद्ध) नही होगे ?

सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि जिन नियमो को हमने शासन-व्यवस्थाओ के लिए उपयोगी वर्णन किया है वे सब उनकी रक्षा करते है। और शासनतत्र की रक्षा का सबसे महान् सिद्धान्त जो कि कई बार वर्णित हो चुका है, यह है—(नित्य) इस बात का ध्यान रखा जाय कि शासनतत्र के पक्ष को चाहनेवाले की सख्या उसके न चाहनेवालो से अधिक (प्रबल) हो।

इन सब बातो के अतिरिक्त एक और बात है जिसको नही भुलाया जाना चाहिये पर जो आजकल विकृत शासन-व्यवस्थाओ मे वास्तव मे भुला दी जाती है। यह बात है मध्यस्थिति का महत्त्व। बहुत सी ऐसी बाते (कार्य, उपाय) है जो जनतत्रात्मक समझी जाती है पर वास्तव मे जनतत्र की जड़ खोदनेवाली है, (अन्य) बहुत सी ऐसी है जो अल्पजनतंत्रात्मक मानी जाती है (पर वास्तव मे) उसकी विघातक है। इन दोनो पक्षो को माननेवाले लोग यह विचार करते हुए कि सब अच्छे गुण उनके पक्ष मे है (समुचित मर्यादा का उल्लघन करके) व्यवहार मे अति कर देते है। वे यह नही जानते कि समुचित अनुपात (= मर्यादा) राष्ट्र के लिए इसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार नासिका के लिए। यह न समझते हुए कि नासिका सरलता के सुन्दरतम आदर्श से थोड़ा वक्रपन अथवा थोडा चिपटेपन की ओर हटकर भी देखने मे सुन्दर और सुलक्षण बनी रहती है। यदि इस (नाक) को उपर्युक्त विकारों की दिशा में और अधिक बढाया जाय (अर्थात् यदि नासिका अत्यधिक टेढी अथवा अत्यधिक चपटी हो जाय) तो पहले तो नासिका शेष आकृति की तुलना मे अपना आगिक (आशिक) अनुपात गवाँ बैठेगी। और इसी प्रकार अन्त में किसी दिशा मे अतिशय अथवा किसी अन्य दिशा में त्रुटि (दोष अथवा अभाव) के कारण नासिका को देखने से नासिका रह ही नही जायगी। यही बात (मानव-शरीर के) अन्य अगो के विषय में भी सत्य है। यही समानुपात (उचित मर्यादा) का सिद्धान्त शासन-व्यवस्थाओ के विषय में भी लागू होता है। अल्पजनतत्र और प्रजातत्र दोनो ही यद्यपि श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था से कुछ हटती हुई व्यवस्थाएँ है तो भी पर्याप्तरूपेण भली और सहन करने योग्य व्यवस्थाएँ हो सकती हैं। पर यदि इन दोनो में से किसी को भी उस दिशा में दूर तक

खीचा जाय जिसमे कि इनकी प्रवृत्ति है तो पहले तो यह दुर्व्यवस्था (बुरी व्यवस्था) बन जायगी और अन्ततोगत्वा कोई भी (कुछ भी) व्यवस्था शेष नही रह जायगी ।[३]

अतएव नियम बनानेवालो और राजनीतिज्ञो को इस विषय में अनभिज्ञ नही रहना चाहिये कि ऐसे कौन से जनतत्रात्मक कार्य है जिनसे जनतत्र का त्राण होता है तथा ऐसे कौन से कार्य है जिनसे जनतत्र का विनाश होगा, इसी प्रकार यह भी जानना उनका कर्त्तव्य है कि कौन से धनिकतत्रात्मक कार्यों से धनिकतंत्र की रक्षा अथवा विनाश होगा। इन दोनो मे से किसी का अस्तित्व बना रहना बिना (अल्पसख्यक) सपन्नजनों और बहुसख्यक साधारण जनो दोनो के ही समावेश के सभव ही नही है। अतएव यदि (इन दोनो प्रकार की व्यवस्थाओ में) सपत्ति की समानता का सिद्धान्त लागू किया जाय तो व्यवस्था अनिवार्यतया पूर्वापेक्षा दूसरा ही रूप धारण कर लेगी। क्योकि मर्यादा का अतिक्रमण करनेवाले कानूनो द्वारा अल्पसंख्यक धनिक तत्व और बहुसख्यक सामान्य जन तत्व दोनो ही तत्त्वो की समाप्ति हो जाने पर इन तत्त्वो के भेद पर आश्रित व्यवस्थाओ की समाप्ति कर दी जायगी।

(उपर्युक्त ज्ञान[४] के अभाव में) जनतत्रो और धनिकतत्रो दोनो में ही राजनीतिज्ञो द्वारा गलतियाँ तो की ही जाती हैं। उदाहरण के लिए लोकनायको द्वारा इस प्रकार की गलतियाँ उन प्रजातत्रो में की जाती हैं जिनमें जनसमूह नियमो (कानूनो) से अधिक सत्ताशाली होता है। वे (लोकनायक) सर्वदा नगर-राष्ट्र को दो भागो में विभाजित किये रहते है और धनवानो के विरुद्ध युद्ध छेडे रहते हैं। (पर जनतत्र की रक्षा के लिए इनको) इसके विपरीत आचरण करना चाहिये, उनको तो सर्वदा अपने को सम्पन्न लोगो के पक्ष का समर्थन करते हुए प्रदर्शित करना चाहिये। इसी प्रकार अल्पजनतत्रों में उसके समर्थकों को अपने को जनसाधारण के हितो का समर्थक दिखलाना चाहिये; तथा उनको ऐसी शपथें करनी चाहिये जो उनकी आजकल की शपथो से उलटी हो। कुछ नगरो में आजकल उनकी शपथ इस प्रकार की है, "मैं साधारण जनसमूह का द्वेषी बना रहूँगा, तथा उसके प्रतिकूल जितनी भी बुराई मैं कर सकता हूँ उसकी योजना करता रहूँगा।"[५] (पर अपनी शासनव्यवस्था की रक्षा के लिए) उनको इसके विपरीत सम्मति (= शपथ) को धारण और प्रदर्शित करना चाहिये; तथा उनकी शपथ में यह स्पष्ट घोषणा होनी चाहिये कि "मैं जनता के प्रति कोई अन्याय नहीं करूँगा।"

शासन-व्यवस्थाओ की स्थिरता की साधना के लिए जितने उपाय हमने बतलाये हैं उनमें सब अधिक महत्त्वपूर्ण—किन्तु आजकल जिसकी सर्वत्र अवज्ञा की जा रही है—

है लोक-शिक्षा को शासन व्यवस्था के अनुरूप बनाना । जब तक किसी राष्ट्र की जनता आदत के जोर और शिक्षा के प्रभाव से शासन-व्यवस्था की आत्मा मे रम नही जाती— अर्थात् यदि नियम जनतत्रात्मक हो तो जनतत्रात्मक और अल्पजनतत्रात्मक (धनिक-तत्रात्मक) हो तो धनिकतत्रात्मक नही बन जाती, तबतक श्रेष्ठ कानूनो से भी कोई लाभ नही हो सकता, चाहे उन नियमो को समग्र नागरिक जनता का अनुमोदन भी प्राप्त क्यो न हो । जिस प्रकार एक व्यक्ति मे आत्मसयम का अभाव हो सकता है उसी प्रकार राष्ट्र (शासनतत्र) मे भी होना सभव है । (अतएव जिस प्रकार व्यक्ति को शिक्षा की आवश्यकता होती है इसी प्रकार राष्ट्र को भी हो सकती है) । पर शासन-व्यवस्था की आत्मा के अनुरूप शिक्षित होने का भाव यह नही है कि वे लोग (जनता) उन कार्यो को करे जिनको प्रजातत्र के पक्षपाती अथवा धनिकतत्र के अनुगामी (माननेवाले) सहर्ष किया करते हैं , प्रत्युत इसका तात्पर्य यह है कि जनता उन कार्यो को करे जिनसे जनतत्र अथवा धनिकतत्र मे अपने को स्थायी बनाने की सामर्थ्य प्राप्त हो । आजकल धनिकतत्री व्यवस्थाओ मे शासको (मजिस्ट्रेटो) के पुत्र विलासितामय जीवन यापन करते है, जब कि निर्धन लोगो के लड़के व्यायाम और दैनिक परिश्रम के द्वारा कठोर और सशक्त बनते जा रहे है, और इस प्रकार नवीन क्रान्ति के लिए अधिक इच्छुक और सामर्थ्यवान् होते जा रहे है । दूसरी ओर परले सिरो के प्रजातत्रो मे—जो कि विशेष प्रकार से प्रजातत्रात्मक समझे जाते है—जो नीति बरती जा रही है वह उस नीति से बिलकुल उलटी है जो उनके लिए लाभदायक है । इस (स्खलन) का कारण स्वतत्रता की असत् भावना है । दो तत्त्व ऐसे है जो सामान्यतया प्रजातत्र के लक्षणरूप समझे जाते है, एक है (बहुमत मे) सत्ता का निहित होना तथा दूसरा है व्यक्ति की स्वतत्रता ।[६] (जनतत्र के पक्षपाती) यह मानकर चलते है कि न्याय का अर्थ बराबरी है और बराबरी बहुमत की सर्वोपरिता है । और अन्ततोगत्वा उसकी धारणा हो जाती है कि स्वतत्रता और समानता का अर्थ है मनमानी करना । परिणामत. ऐसे प्रजातत्रो मे प्रत्येक मनुष्य जैसा चाहता है (और जैसी उसकी आवश्यकता होती है) वैसा जीवन व्यतीत करता है। (अर्थात्) जैसा यूरीपिदेस ने कहा है "किसी यथेच्छ लक्ष्यानुसार" जीवन यापन करता है। पर स्वतत्रता की ऐसी भावना (अथवा धारणा) असत् (बुरी) भावना है। शासन-व्यवस्था के अनुसार जीवन-यापन करना दासता नही प्रत्युत त्राण (= मोक्ष) समझा जाना चाहिये ।[७]

सामान्यरूपेण, शासन-व्यवस्थाओ की क्रान्तियो और विनाशो के कारण तथा उनकी रक्षा और स्थायित्व के उपाय यही है जो मैंने वर्णन कर दिये ।

टिप्पणियाँ

१. पिछले खण्ड का ही विषय इस खण्ड में भी चालू रखा गया है। शासन-व्यवस्था के विघटन के कारणो से जो अन्य सामान्य निष्कर्ष उनकी रक्षा के लिये निकलते हैं उनका दिग्दर्शन इस खण्ड में कराया गया है।

२. जैसी राज्य-व्यवस्था वैसा न्याय। "राजा कालस्य कारणम्।"

३. अति सर्वत्र वर्जयेत्।

४. उन उपायो के भेद का ज्ञान जो वास्तव में व्यवस्था की रक्षा कर सकते हैं तथा जो रक्षा करनेवाले प्रतीत होते हैं पर यथार्थ में विघटन करते हैं।

५. इस प्रकार की शपथ उन धनिकतंत्रों में ली जाती होंगी जो जनता से लड़ाई के उपरान्त स्थापित होते थे।

६. परन्तु यह दोनों धारणाएँ एक दूसरे की विरोधी भी हो सकती है। बहुमत की सर्वोपरि सत्ता व्यक्ति की स्वतंत्रता को नियंत्रित अथवा समाप्त कर सकती है। आधुनिक नवीनजनतंत्र से यही तो कुछ लोगों को शिकायत है।

७. कहा नहीं जा सकता कि अरिस्तू की स्वतत्रता का लक्षण क्या है ? सभवतया उसके मत में स्वतंत्रता का अर्थ सुविहित नियमो का अनुसरण करना है।

१०

एक राट्तंत्र—१ राजतंत्र और २ तानाशाही

अब मुझे एकराट्तत्र के विषय में यह विवेचन करना शेष रह गया है कि कौन से कारणो से इसका विनाश तथा कौन से उपायो से इसका रक्षण हुआ करता है। जो कुछ पूर्वोक्त शासन-व्यवस्थाओ के विषय मे कहा जा चुका है, लगभग वही बाते राजतत्र और तानाशाही के विषय मे भी समानरूपेण लागू होती है। (एक-) राजतत्र स्वरूप मे श्रेष्ठ जनतत्र के ही समान है। तानाशाही (अधिनायकतत्र) धनिकतत्र और जनतत्र के आत्यतिक (पराकाष्ठा को पहुँचे हुए) रूपो का सम्मिश्रण है, अतएव यह शासितो के लिये (अन्य किसी भी शासनतत्र की अपेक्षा) अधिक हानिकारक है, क्योकि यह दो बुरे शासनतत्रो से मिलकर निष्पन्न होती है और इनमे दोनो की विकृतियाँ और त्रुटियाँ पाई जाती है। एक जनतत्र के यह दोनो प्रकार बिलकुल आरभ से ही एक दूसरे के बिलकुल उलटे है। राजतत्र की उत्पत्ति अपेक्षाकृत भले लोगो की साधारण जनता से रक्षा (=सहायता) के लिये होती है और वे लोग राजा को अपने मध्य मे से या

तो स्वय उसके अथवा उसके कुल के सद्गुण और सदाचार के प्रामुख्य के आधार पर चुना करते है, इसके विपरीत अधिनायक (तानाशाह) जनसाधारण अथवा लोकसमूह मे से उनकी गण्यमान लोगो से रक्षा के लिये चुना जाता है जिससे वे (जनसाधारण) उन (गण्यमान लोगो) के अन्याय से बचे रहे। यह तथ्य इतिहास की घटनाओ से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। लगभग सभी तानाशाह लोकनायको मे से ही निकले है और जैसा कि कहा जा सकता है उन्होने जनता के गण्यमान लोगो की निन्दा करके ही सर्वसाधारण की विश्वासपात्रता को प्राप्त किया है। कम से कम जिन दिनो मे नगरो की जनसख्या बहुत बढ गई थी उन दिनो तो तानाशाही की उत्पत्ति का ढग यही था। पर कुछ और भी तानाशाहियाँ थी जो अधिक पुरानी थी और जिनकी उत्पत्ति राजाओ के पैतृक मर्यादा का उल्लघन करके अधिनायक की शक्ति प्राप्त करने की आकाक्षा से हुई थी। कुछ तानाशाहियाँ ऐसे लोगो के द्वारा स्थापित की गई थी जो आरभ मे प्रमुख शासनाधिकार पदो के लिये चुने गये थे—(ऐसा अधिक सरलता से इसलिए हो सका) क्योकि उस पुरातन काल मे जनता शासनाधिकारियो को (चाहे तो वे सार्वजनिक कार्यकर्त्ता हो[२], चाहे अध्यक्षो[३] का कार्य करनेवाले) बहुत लबा कार्यकाल दिया करती थी। कुछ अन्य अधिनायकतत्र अल्पजनतत्रो मे प्रचलित उस प्रथा से उत्पन्न हुए जिसके अनुसार प्रमुख शासनाधिकारियो के ऊपर भी किसी व्यक्ति को अध्यक्ष नियुक्त किया जाता था। इन सब प्रकारो से किसी भी महत्त्वाकाक्षी व्यक्ति को, यदि उसकी इच्छा भर होती तो, अपना उद्देश्य सिद्ध करनेवाले (अधिनायक पद प्राप्त करने) को मिल जाता था। क्योकि कही राजा के रूप मे और कही किसी अन्य उच्च पदाधिकारी के रूप मे शक्ति तो उसके हाथ मे होती ही थी। उदाहरण के लिये, आर्गस मे फेइदोन[४] एव अन्य व्यक्ति, आरभ मे राजा थे पर अन्त मे अधिनायक हो गये। दूसरी ओर इयोनिया[५] के अधिनायको और अग्रिगैन्तुम के फालारिस्[६] ने अन्य पदो से आगे बढकर अधिनायकत्व प्राप्त किया। लियोन्तिनी नगर मे पनाएतियस्[७], कौरिन्थ मे क्युप्सेलस्[८], अथेन्स मे पिसिस्त्रातस[९], सिराकूज मे दियोनीसियस् तथा इनके अतिरिक्त और भी कई एक तानाशाह आरभ मे लोकनायक ही थे।

राजतत्र तो,जैसा कि हम पहले ही कह चुके है,(श्रेष्ठजनतत्र के अन्तर्गत गिना जाता है, क्योकि श्रेष्ठ जनतत्र के समान ही) यह योग्यता पर निर्भर करता है। इस योग्यता का आधार या तो व्यक्तिगत गुण होते है अथवा कुल के गुण, अथवा (जनता के प्रति किए हुए) भलाई के काम होते हैं , अथवा इन सब गुणो का सामर्थ्य (क्षमता, शक्ति) के साथ योग होता है। जिन लोगो ने इस (राजपद के) सम्मान को प्राप्त किया है

वे सब या तो ऐसे व्यक्ति थे जिन्होने अपने नगरराष्ट्र अथवा देश को लाभ पहुँचाया था या उनको लाभ पहुँचाने की योग्यता रखते थे। कुछ ने कौद्रस्[11] के समान अपने देश को युद्ध मे (पराजित होकर) दास बनने से बचाया था और कुछ कीरस्[12] के समान अपने देश को मुक्त करनेवाले थे। अथवा कुछ ऐसे थे जिन्होने लाकैदायमौन्[13] मकैदौनिया[14] अथवा मॉलौसिया[15] के राजाओ के समान अपने राज्य की भूमि (की सीमाओ) को निर्धारित किया था अथवा उसको प्राप्त किया था। राजा का लक्ष्य समाज का रक्षक होना होता है, वह सम्पत्ति के स्वामियो की अन्यायपूर्ण व्यवहार से रक्षा करता है और जन साधारण को (बडे लोगो की) धृष्टता और यत्रणा से बचाता है। इसके विपरीत अधिनायक (अथवा तानाशाह) सर्वसाधारण की भलाई की (यदि उससे अपनी व्यक्तिगत भलाई न हो तो) तनिक भी चिन्ता नही करता। अधिनायक का लक्ष्य होता है अपना प्रिय करना और राजा का लक्ष्य होता है शोभन (कार्य) करना।[16] अतएव वे अपनी इच्छाओ मे भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं, अधिनायक धन का लोलुप अधिक होता है और राजा सम्मान (ख्याति) अधिक चाहता है। राजा का रक्षकदल नागरिक जनो का होता है तथा अधिनायक का रक्षकदल विदेशी वेतनार्थी सिपाहियो का होता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि तानाशाही मे जनतत्र और धनिकतत्र दोनो की ही बुराइयाँ हुआ करती हैं। धनिकतत्र से यह अधिनायकतत्र अपने धन एकत्रित करने के लक्ष्य को प्राप्त करता है, क्योकि वह अपने रक्षकदल और विलासपूर्ण ऐश्वर्य को अवश्यमेव एकमात्र धन के द्वारा ही बनाये रख सकता है। साधारण जनसमूह का विश्वास न करने की आदत भी अधिनायकतत्र धनिकतंत्र से ही ग्रहण करता है। परिणामत उसको शस्त्रास्त्र से वंचित करने की नीति भी वही से लेता है। जन साधारण को पीडा पहुँचाने, उनको नगर से निकाल कर देहात मे खदेड देने मे धनिकतत्र और अधिनायक-तत्र दोनो एक समान हैं। गण्यमान्य लोगो के विरुद्ध युद्ध छेड देना, उनको प्रच्छन्न अथवा प्रत्यक्ष प्रकार से नष्ट कर देना, तथा क्योकि वे उसकी शक्ति के प्रतिद्वन्द्वी और उसके मार्ग मे बाधा डालते है अतएव उनको निर्वासित कर देना, यह सब बातें अधिनायकवाद जनतत्र से ग्रहण करता है। अधिनायकतत्र इसलिए भी गण्यमान्य लोगो के प्रति ऐसा व्यवहार करता है क्योंकि यही लोग उसके विरुद्ध सक्रिय रूप से षड्-यत्र के कारण हुआ करते हैं, और ऐसा इसलिए होता है कि उनमें से कुछ तो स्वय शासन करना चाहते हैं और कुछ दासता से बचना चाहते हैं (दासता नही करना चाहते)। इसी कारण तो पैरियाण्ड्रस् ने अपने साथी अधिनायक थ्रासीबूलस को बहुत अधिक

बढी हुई अन्न की बालियो को काट कर सलाह दी थी , जिसका सकेत यह था कि उस (थ्रासीबूलस) को सर्वदा उन नागरिको को नष्ट कर देना चाहिये जो अन्य समान नागरिको से बढे चढे हो ।[१७] अतएव, जैसा कि मै पहले ही कह चुका हूँ एकराट्तत्र मे भी क्रान्ति (अथवा परिवर्त्तन) के आरभिक कारण वही समझे जाने चाहिये जो व्यवस्थातत्र मे हुआ करते है । प्राय शासित लोग अपने राजा के विरुद्ध, अन्यायपूर्ण पीडा पहुँचाने के कारण, भय के कारण और तिरस्कार के कारण विद्रोह किया करते ह । बहुधा जिस अन्यायपूर्ण यातना के कारण विद्रोह हुआ करता है वह अनाचारपूर्ण तिरस्कार है , पर कभी कभी धन सपत्ति के अपहरण के कारण भी ऐसा हुआ करता है ।

एकराट्तत्र (चाहे वह अधिनायकतत्र हो चाहे राजतत्र) के विरुद्ध षड्यत्र (विद्रोह) जिन लक्ष्यो का अनुसरण करते है वे वही होते है जिनका अनुसरण अन्य शासनतत्रो के विरुद्ध होनेवाले षड्यत्रो के द्वारा किया जाता है । एकतत्री शासको के पास बहुत अधिक धन और सम्मान हुआ करता है , एव धन और सम्मान की एषणा सभी की होती है । (क्रान्तिकारियो के) आक्रमण कभी तो शासक के शरीर पर हुआ करते है और कभी उसके शासनपद पर । अपमान-जनित आक्रमण शरीर पर ही हुआ करते है । अपमान के बहुत से प्रकार होते है , पर उनमे से प्रत्येक क्रोध (उत्पन्न करने) का कारण हो जाता है । तथा जो लोग क्रोध के वशीभूत होकर (राजा पर) आक्रमण करते है वे प्राय बदला लेने की भावना से ऐसा करते है न कि किसी महत्वाकाक्षा के कारण । उदाहरणार्थ अथेन्स मे पैइसिस्त्रातम् के पुत्रो पर जो आक्रमण हार्मोदियस और (अरिस्तोगितन) के द्वारा किया गया था उसका कारण हार्मोदियस की बहन का अपमान और उस (हार्मोदियस) का धृष्टतापूर्ण तिरस्कार था । हार्मोदियस ने अपनी बहन को प्रतिष्ठा के कारण आक्रमण किया और अरिस्तोगितन ने अपने मित्र के कारण उसका साथ दिया ।[१८] अम्ब्राकिया के अधिनायक पैरियाण्ड्रस के विरुद्ध भी एक षड्यत्र इसलिए रचा गया था क्योकि एक समय अपने लडके (मित्र) के साथ मदिरापान करते समय उसने उससे यह प्रश्न पूछा था कि 'अभी तक क्या तुम्हे मेरे सहवास से गर्भ नही रहा ?"[१९] पौसानियास द्वारा जो आक्रमण फिलिप पर किया गया था वह इस कारण था कि फिलिप ने अत्तालम और उसकी मण्डली को पौसानियास पर अत्याचार करने दिया था । छोटे अमिन्तास पर दैर्दास का आक्रमण इसलिए हुआ था कि उसने यह दर्पोक्ति की थी कि मैने तेरे यौवन की बहार को भोगा था । कीप्रस के ऐवागौरस पर षण्ड (हिजडे) का आक्रमण भी इसी प्रकार की भावना से हुआ था— ऐवागौरस के पुत्र ने उसकी पत्नी का अपहरण कर लिया था, इस कारण उस (हिजडे)

ने क्रुद्ध होकर उसके पिता की हत्या कर डाली। एकतत्री राजाओ के अपने प्रजाजनो के शरीर के प्रति लज्जाजनक व्यवहार करने के कारण भी बहुत से आक्रमण (षड्यत्र) हुए है। उदाहरण के लिये माकैदौनिया के आर्खीलाउस पर क्रातेयस के आक्रमण को ले सकते है। क्रातेयस् को राजा के साथ अपन इस (यौन) सबध से सर्वथा बुरी घृणा थी। अतएव छोटा-सा कारण भी बदला लेने का पर्याप्त बहाना हो सकता था। पर स्यात् उसके आक्रमण का वास्तविक कारण यह था कि आर्खीलाउस ने अपनी दो कन्याओ मे से एक को उसके साथ ब्याह देने की प्रतिज्ञा करके भी किसी (एक) कन्या का विवाह उसके साथ नही किया। इसके विपरीत जब उसने अपने को सिर्रास और आर्राबेयस् के युद्ध मे बुरी तरह दबता हुआ देखा तो अपनी बडी कन्या का विवाह एलीमेइया के राजा के साथ कर दिया। तथा छोटी कन्या का विवाह उसने (अपनी पूर्वपत्नी से उत्पन्न हुए) पुत्र अमीन्तास के साथ इस विचार से कर दिया कि ऐसा करने से इस पुत्र और (उसकी दूसरी पत्नी) क्लियोपात्रा के पुत्र के बीच झगडा होने की सभावना बहुत कम रह जायगी। अस्तु, जो भी हो, उन दोनो के मनोमालिन्य के आरभ का वास्तविक कारण तो आर्खीलाउस के साथ उसकी इस अप्राकृतिक यौन सबध के कारण उत्पन्न घृणा और कुढन ही थी। इसी प्रकार के कारण से प्रेरित होकर लारिसा निवासी हैलानौक्रातीस ने इस षड्यत्र मे क्रातेयस् का साथ दिया। जब आर्खीलाउस ने उसके यौवन का भोग करके भी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसको उसके जन्मस्थान से वापिस नही भेजा तो उसने सोचा कि राजा के उसके साथ अप्राकृतिक (यौन) सबध किसी सच्चे प्रेम के आवेग के कारण नहो हुआ था प्रत्युत धृष्ट उच्छृखल शक्ति के दर्प के कारण था। अएनस् निवासी पारोन् और हैराक्लैदीस् ने अपने पिता (के प्रति किये गये अत्याचार) का बदला लेने के लिये कौतीस् की हत्या की थी। अदामास् ने कौतीस् के विरुद्ध विद्रोह उस उद्दण्डतापूर्ण अत्याचार का बदला लेने के लिये किया था जो उसकी आज्ञानुसार अदामास् के बाल्यकाल मे उसको अगभग द्वारा नपुसक बनाकर किया गया था।[२०]

बहुत से लोगो के शरीरो पर प्रहारो द्वारा यातना पहुँचाये जाने के कारण उन्होने अपने को अपमानित समझा और उन्होने क्रुद्ध होकर उन पदाधिकारियो अथवा राजकुल के पुरुषो को जिनके द्वारा वे पीडित किये गये थे, या तो मार डाला या तो उनको मारने का उद्योग किया। उदाहरण के लिये मितीलीन नगरी मे मैगाक्लीस् और उसके मित्रो ने मिलकर पैन्थैलिड् कुटुम्ब के लोगो पर (जो कि स्वय सोटे लिये घूमा करते थे और दूसरे नगरनिवासियो को मारा करते थे) आक्रमण किया और उनको मार डाला।

और कुछ समय पश्चात् स्मार्दिस् ने, जो कि कोडो से पीटा गया था और अपनी पत्नी से वियुक्त कर दिया गया था, पैन्थीलस् को मार डाला। आर्खीलाउस् के विरुद्ध षड्यत्र (विद्रोह) मे दैकाम्नीखस् आक्रमण का नेता बना और उसने ही (क्रातेयस् और हैलानौक्रातीस इत्यादि षड्यत्रकारियो की) कोपाग्नि को भडकाया और उनको उत्तेजित करनेवालो मे वही प्रथम था। वह आर्खीलाउस् के प्रति इसलिए क्रुद्ध था कि उसने दैकाम्नीखस को यूरीपिदीस (कवि के) हाथो मे कोडे लगाने के लिये सौप दिया था, कवि यूरीपिदीस दैकाम्नीखस से इसलिए रुष्ट था क्योकि उसने कवि के दुर्गन्धयुक्त श्वासोच्छ्वास के विषय मे कुछ अशोभन बात कह दी थी। इसी प्रकार और भी अनेको हत्याओ और षड्यत्रो के उदाहरण को उपस्थित किये जा सकते है जो उपर्युक्त प्रकार के कारणो से ही घटित हुए थे।[२१]

इसी प्रकार भय भी, जैसा कि हम कह चुके है, एकजनतत्र और अन्य प्रकार की शासन-व्यवस्थाओ मे भी,समान प्रकार से, विद्रोह का कारण होता है। उदाहरणार्थ पारसीक सेनापति आर्त्तपानीस् (स० आर्त्तपाणि) ने अपने स्वामी क्षरक्षीस् की हत्या इस भय के कारण की थी कि उस (आर्त्तपाणि) पर क्षरक्षीस् की आज्ञा के बिना दारियुस (दारा) को फाँसी देने का झूठा आरोप लगाया जायगा। पर ऐसा उसने किया इस विचार से था कि मदिरा-पान और भोजन के समय कही बात को भूल जाने के कारण क्षरक्षीस उसके अपराध को क्षमा कर देगा।[२२]

षड्यत्रो और विद्रोहो को तिरस्कार की भावना से भी प्रेरणा मिलती है। उदाहरणार्थ असीरिया के सार्दानापलस को एक ऐसे आदमी ने (तिरस्कार की भावना के वशीभूत होकर) मार डाला था जिसने उसको स्त्रियो के बीच मे ऊन को काढते हुए देखा था।[२३] उसके विषय मे यह कपोलकथा कही अवश्य जाती है फिर चाहे यह सत्य हो अथवा न हो, पर यदि यह कथा उसके विषय मे सत्य न भी हो तो अन्य किसी (राजा) के विषय मे सत्य हो सकती है। छोटे दियौनीसियस पर दियौन् ने तिरस्कार की भावना से ही आक्रमण किया था, उसने देखा कि उस (दियौनीसियस्) के प्रजाजन भी उसको तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे और वह सर्वदा मदिरा पीकर मत्त पडा रहता था।[२४] कभी कभी तो एकतत्री शासक के मित्र तक उसके प्रति तिरस्कार की दृष्टि रखते हुए उसपर आक्रमण किया करते है, राजा जो अपने मित्रो को अपना (अतरग) विश्वास-भाजन बना लेता है इस कारण से उनके मन मे उसके प्रति तिरस्कार-दृष्टि उत्पन्न हो जाती है, और वे यह समझने लगते है कि वह (राजा) कुछ नही

देख पायेगा। (अथवा वे यह समझने लगते है कि उनके द्वारा की हुई हत्या अथवा आक्रमण का पता नही चलेगा।) (विद्रोहियो का) यह समझ लेना भी कि वे राजशक्ति को हस्तगत कर सकते है, एक प्रकार की तिरस्कार की ही भावना है, क्योकि वे अपने को शक्तिशाली समझते है अतएव प्रहार करने के लिये सन्नद्ध रहते है एव अपनी शक्ति के ही आसरे वे सब प्रकार के खतरो (आशकाओ) को तुच्छ समझते है। यही तो कारण है कि (प्राय) सेनापति लोग राजाओ पर आक्रमण किया करते है। जैसे कि सेनापति कीरस् ने राजा अस्त्यागीस[३५] पर आक्रमण किया था, क्योकि उसको उसके विलासिता मे डूबे हुए जीवन और क्षीणता को प्राप्त हुई शक्ति के कारण उससे घृणा हो गई थी। और थ्राकनिवासी स्यूथीस ने भी, जब कि अमादोकस् का सेनापति था, इसी कारण से अमादोकस् पर आक्रमण किया था।[३६] कभी कभी इस प्रकार के आक्रमण अनेको कारणो से हुआ करते है, (केवल एक कारण से नही)। उदाहरणार्थ घृणा (तिरस्कार) के साथ धन के लोभ का भी सयोग हो सकता है, जैसा कि मिथ्रिदातीस् के द्वारा अपने (पिता) अरियौबारज़ानी पर किये आक्रमण में घटित हुआ था।[३७] पर इस प्रकार के विद्रोह का प्रयत्न बहुधा ऐसी प्रकृति के मनुष्यो द्वारा किया जाता है जो स्वभावत साहसी होते है तथा राजा के द्वारा उच्च सैनिक सम्मान के पद पर स्थापित किये जाते है। साहस के साथ शक्ति का सयोग होने से शौर्य (वीरता) उत्पन्न होता है। इन दोनो के सयोग के कारण ही, सरलतापूर्वक सफलता की प्राप्ति की आशा के आधार पर, विद्रोह की ओर प्रवृत्ति हुआ करती है।

ख्याति (= सम्मान, लोकैषणा) के कारण होनेवाले विद्रोहो का कारण उपर्युक्त विद्रोहो के कारणो से इतर प्रकार का ही हुआ करता है। जिस प्रकार कुछ लोग बडे लाभ और महान् सम्मान को दृष्टि मे रखते हुए अधिनायको के प्राण लेने का प्रयत्न किया करते है, उस प्रकार वे लोग नही करते जो कीर्त्ति (अथवा ख्याति) के प्रेम के कारण प्रत्येक प्रकार के भय का सामना करते हुए विद्रोह करने का उद्योग करते है। प्रथम प्रकार के मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार के कारणो (लोभ और महत्त्वाकाक्षा) से प्रेरित हुआ करते है। जो मनुष्य राजा पर आक्रमण कर नामवरी प्राप्त करने के लिये उसके प्राण लेने का प्रयत्न करते है वे तो कुछ इस प्रकार प्रवृत्त होते है जिस प्रकार वे अन्य मनुष्यो मे ख्याति (कीर्ति) प्राप्त करानेवाले किसी अन्य महान् पराक्रमपूर्ण कार्य के करने का अवसर प्राप्त होने पर उसको करने के लिये प्रवृत्त होते है। उनको एकतत्र राज्य को प्राप्त करने की चाह नही होती, वे तो नाम (= यश) प्राप्त करना चाहते हैं। यह सत्य है कि इस प्रकार के कारणो से प्रवृत्त होनेवाले लोगो की सख्या बहुत ही

थोडी हुआ करती है। यह तो उनके कार्य की पूर्वनिश्चित शर्त होती है कि यदि वे उसमे असफल हुए तो अपने जीवन की रक्षा का तो उनको कभी ख्याल ही नही करना चाहिये। उनके हृदय मे दियौन् की धारणा के सदृश दृढ सकल्प होना चाहिये, निश्चय ही बहुत से मनुष्यो के लिये ऐसा होना सरल नही है। उसने अपने थोडे से साथियो के सहित दियौनीसियस् के विरुद्ध अभियान-यात्रा करते समय कहा था, "मेरा तो यह विचार है कि इस उद्यम मे जितना आगे बढ सकूँ उतना ही अच्छा है। यदि (नाव मे से) पृथ्वी पर पैर रखते ही थोडी सी देर मे मेरा अन्त हो जाय तो भी इस प्रकार मेरी मृत्यु शोभन ही होगी।

एक और प्रकार (=उपाय) जिससे अन्य प्रकार की शासन-व्यवस्थाओ के समान तानाशाही विनष्ट हुआ करती है (राष्ट्र के) बाहर वाला है। ऐसा सभव है कि कोई दूसरा राष्ट्र जिसकी व्यवस्था तानाशाही की व्यवस्था के प्रतिकूल हो, उससे अधिक बलवान् हो। यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसा राष्ट्र विरोधी शासनसिद्धान्तो[२८] के कारण अधिनायकतत्र का विनाश चाहेगा, और जहाँ चाह होती है और उसके साथ सामर्थ्य भी होती है तो सब ही चाहा हुआ काम किया करते है। शासन-व्यवस्थाओ का विरोध (विविध प्रकार का हो सकता है)। जनतत्र (अपने अत्यन्तगामी रूप मे जनसाधारण की तानाशाही होने के कारण) उसी प्रकार अधिनायकतत्र का विरोध करता है जिस प्रकार हीसियॉडस् के शब्दो मे एक कुम्हार दूसरे कुम्हार से झगडा किया करता है। राजतत्र ौर श्रेष्ठजनतत्र विरोधी प्रकार की शासन-व्यवस्थाएँ होने के कारण अधिनायकतत्र का विरोध करते है। इसीलिए लाकैदायमॉन राष्ट्र ने (राज-तत्र होने के कारण) बहुत से अधिनायकतत्रो को कुचला था और सिराकूसवालो ने भी अपने सुशासनकाल मे ऐसी ही नीति का अनुसरण किया था।

फिर अधिनायकतत्र के नष्ट होने का एक प्रकार आन्तरिक कलह भी है। ऐसा तब होता है जब कि अधिनायक के साझेदार स्वय आपस मे ही लडने लगते है, जैसा कि (सिराकूस मे) गैलो के परिवार मे हुआ था और अभी (आजकल) फिर छोटे दियौनीसियस् के परिवार मे हो चुका है। गैलो के द्वारा स्थापित अधिनायक का विनाश थ्रासीबूलस ने किया। (थ्रासीबूलस गैलो और उसके उत्तराधिकारी हीरो का भाई था, हीरो की मृत्यु के पश्चात्) थ्रासीबूलस ने दूसरे उत्तराधिकारी (अर्थात् गैलोके पुत्र) की चापलूसी प्रारभ कर दी, एव उसके नाम से शासनतत्र को अपनी मुट्ठी में करने के लिए उसको फुसलाकर विलासितामय जीवन मे डाल दिया।

इस पर उसके कुटुम्बियो ने थ्रासीबूलस से पीछा छुडाने और अधिनायकतत्र की रक्षा करने के लिये अपना एक सघटित दल बनाया। पर (अन्त मे) उसके साथ षड्यत्र रचनेवाले लोगो ने उचित अवसर देखकर तानाशाह के सारे परिवार को ही निकाल बाहर किया। दियौनीसियस् का पराभव तो उसके सबधी (बहनोई) दियौन् के द्वारा किया गया। दियौन् ने दियौनीसियस् के विरुद्ध अभियान आरभ किया। और जनता की सहायता प्राप्त करके उसको निकाल दिया[९]—पर दियौन् अन्त मे स्वय मत्यु को प्राप्त हुआ।

ऐसे मुख्य कारण, जिनके निमित्त अधिनायकतत्र (तानाशाही) पर बहुधा आक्रमण किये जाते है, दो हैं—घृणा और तिरस्कार (नफरत और हिकारत)। घृणा की भावना तो सभी अधिनायकतत्र अवश्यमेव उत्पन्न करते ही है, पर तिरस्कार की भावना बहुधा इन तत्रो के पराभव का वास्तविक कारण हुआ करती है। इस तथ्य का प्रमाण यह है कि जो लोग अपने प्रयत्नो से अधिनायक-पद को प्राप्त करते है वे तो अधिकाश में उसकी रक्षा करने मे सफल रहते हैं, पर जो इस पद को उत्तराधिकार मे पाते है वे इसको तत्काल खो डालते है। विलासितामय जीवन व्यतीत करने के कारण वे अपने को तिरस्कार योग्य बना देते है और अपने ऊपर आक्रमण करने वालो को ऐसा करने के बहुत से अवसर प्रदान करते है। क्रोध को भी घृणा का ही एक स्वगत अश माना जाना चाहिये और यह क्रोध भी वैसा ही परिणाम उत्पन्न करता है जैसा कि घृणा करती है। इतना ही नही, सच तो यह है कि क्रोध प्राय घृणा से भी अधिक प्रबल (और प्रभावशाली) उत्तेजक है, क्रोधी मनुष्यो का तीव्र आवेग उनको शान्त-विवेचना नही करने देता अतएव वे अधिक आवेश के साथ आक्रमण किया करते है।[१०] अपमानित होने के कारण मनुष्य बहुत अधिक अपने आवेगो के वशीभूत हो जाते है, इसी कारण से पाइसिस्त्रातस् के पुत्रो के अधिनायकतत्र का तथा और भी अन्य अनेको तानाशाहियो का विनाश हुआ। पर घृणा अधिक (विचारपूर्ण होती है), किन्तु क्रोध के साथ पीडा का साहचर्य रहता है अतएव पीडा के रहते हुए विचार करना सरल नही होता, इसके विपरीत घृणा पीडारहित होती है।

सक्षेप में सार यह निकला कि वे सब कारण जिनको कि मैंने पहले धनिकतत्र के परम विशुद्ध और चरम प्रकार को तथा जनतत्र के आत्यन्तिक प्रकार को नष्ट करने-वाला कहा है, अधिनायकतत्र के लिए भी वैसे ही माने जाने चाहिये। वास्तव में शासन-पद्धतियो के यह प्रकार कई एक व्यक्तियो के मध्य में बँटी हुई तानाशाहियाँ ही

हो जाती हैं। राजतत्रव्यवस्था ऐसी शासन-पद्धति है जो बाह्य कारणो से सबसे कम नष्ट हो सकती है ; और इसीलिए यह चिरकाल तक स्थिर रहनेवाली होती है। प्रायेण यह व्यवस्था आन्तरिक कारणो से ही नष्ट हुआ करती है। यह विनाश दो प्रकार से सभव हुआ करता है ; एक तो प्रकार है राजपरिवार के सदस्यो मे ही कलह और विद्रोह उत्पन्न हो जाना ; दूसरा प्रकार है, राजा का बहुत कुछ अधिनायको के समान शासन का प्रबन्ध करने का प्रयत्न करना, और अपनी सत्ता को नियमों (कानूनो) की सीमा के परे बढ़ाने की चेष्टा करना। और फिर अब तो राजतत्र की उत्पत्ति भी नही होती; यदि इस प्रकार की कोई शासनपद्धति प्रकट भी होती है तो वह एकतत्र अथवा अधिनायकतत्र ही अधिक होती है। राजतत्र वह शासन-व्यवस्था है जो प्रजा-जनो के इच्छानुसार उनपर चला करती है तथा जिसमे महत्त्वपूर्ण विषयो की सर्वोपरि सत्ता (राजा के) हाथों में निहित होती है [इस प्रकार का शासन आजकल के समय में विपरीत है]। आजकल तो समता का बहुत अधिक प्रचार है, और कोई भी व्यक्ति अन्य लोगो से इतना भिन्न (बढ़कर) नही है जो राजा के पद की महत्ता और योग्यता के लिए पूरा पहुँच सके। अतएव इस कारण से जनता इस प्रकार के शासन को धैर्य-पूर्वक स्वेच्छा से सहन नही करेगी , और यदि छल अथवा बल से उसको जनता पर लाद भी दिया जाय तो वह उसको तत्काल तानाशाही का ही प्रकार समझ लेगी। कुलक्रमागत राजतंत्र का विनाश तो एक और कारण से भी होना सभव है, यह कारण अभी वर्णन किया जाना है। इस प्रकार के राजा बहुधा बडी सरलता से (अपने प्रजा-जनो के) तिरस्कार के पात्र हो जाते हैं; एव उनको यद्यपि अधिनायको की क्षमता प्राप्त नही होती, केवल राजपद का गौरवमात्र उनके पास होता है, तथापि वे इस बात को भूलकर दूसरों का अपमान और हानि कर(बैठते) है। बस तब उनका विनिपात एक सरल काम हो जाता है। ज्यो ही राजा के प्रजाजन उसके प्रजाजन नही बना रहना चाहते, त्यो ही राजा, राजा नही रह जाता; किन्तु अधिनायक तो, यदि उसके प्रजाजन भी चाहें तो भी, तानाशाह बना रह सकता है।

राजतंत्र का क्षय इन्हीं तथा इन्ही प्रकार के अन्य कारणों से हुआ करता है।

टिप्पणियाँ

१. एकराट्तंत्र से तात्पर्य एक व्यक्ति का शासन है। इसको एकजनतंत्र भी कह सकते हैं। प्राचीन यूनान में इसके दो प्रकार उपलब्ध होते हैं। एक को बसीलेइया

अथवा राजतंत्र कहते थे और दूसरे को तिरान्ने, तिराश्नी अथवा तानाशाही या अधि-नायकतंत्र।

२. सार्वजनिक कार्यकर्ताओ के लिये मूल में "देम्यगौंइ" शब्द का प्रयोग किया गया है। पर इस शब्द का अर्थ 'कारीगर' भी होता है।

३. अध्यक्षो के लिये "थियोरौइ" शब्द प्रयोग में आया है जिसका अर्थ दर्शक होता है।

४. फेइदोन् ई० पू० सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आर्गस् नगरी का राजा था। इसके शासन-काल में आर्गस् का महत्त्व बहुत बढ़ गया था।

५. थ्रासीबूलस् (मिलेतस में) इत्यादि व्यक्ति इयौनिया में अधिनायक थे।

६. फालारिस् सिसिली द्वीप की अक्रागास् अथवा अग्रीगैन्तुम् नामक नगरी में ई० पू० छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शासन करता था। इसके पास एक धातुनिर्मित साँड़ था जिसके भीतर यह उन व्यक्तियों को भून डालता था जो इसको रुष्ट कर देते थे। इससे इसकी असामान्य निर्दयता स्पष्ट है।

७. पनाएतियस् न केवल लोकनायक था प्रत्युत सेनाध्यक्ष भी था।

८. (क्यु की) प्सेलस् भी लोकनायक एवं सेनाध्यक्ष दोनों ही था।

९. पिसिस्त्रातस् अथवा पैइसिस्त्रातस् के विषय में पहले लिख आये हैं।

१०. दियोनीसियस् के विषय में भी लिखा जा चुका है। प्रायः वही लोकनायक तानाशाह बन सके जो या तो सेनाध्यक्ष भी थे अथवा अत्यन्त साहसिक योद्धा थे। आधुनिक युग के अधिनायकों के विषय में भी यही बात अधिकांश में चरितार्थ हुई है।

११. क्रौद्रस् के विषय में ऐसा कहा जाता है कि वह अथेन्स का राजा था और उसने दौरियन् लोगो के आक्रमण से उसकी रक्षा की थी और इस प्रयत्न में उसने अपने जीवन को बलिदान कर दिया था। ऐसा कहना संभवतया ठीक नहीं है कि उसने अपने नगर की रक्षा करके राजा का पद पाया था। संभवतया अरिस्तू का वर्णन इस विषय में त्रुटिपूर्ण है।

१२. कीरस् महान् ई० पू० छठी शताब्दी में ईरान में अत्यन्त प्रतापी सम्राट् हुआ है। यही फ़ारस के साम्राज्य का संस्थापक था। इसने लघु एशिया के यूनानी राज्यों को भी परास्त करके अपने साम्राज्य में मिला लिया था। इसके जीवन की अनेक घटनाएँ श्रीकृष्ण के चरित्र से मिलती हैं।

१३. लाकैदायमॉन् अथवा स्पार्टा ने ई० पू० ८वीं और ७वीं शताब्दी के युद्धों में मैसेनिया को जीता था।

१४. मकैदोनिया के राजाओ ने अपने राज्य को बहुत बढ़ाया था। विशेष फिलिप द्वितीय और उसके पुत्र अलैक्ज़ाण्डर ने तो उसको साम्राज्य ही बना दिया। फिलिप अरिस्तू का सखा और अलैक्ज़ाण्डर अरिस्तू का शिष्य था।

१५. इलियाद् काव्य के प्रसिद्ध योद्धा अखिल्लीस् के पुत्र नेयोप्तोलेमस् ने भूमि और अनुयायियो को प्राप्त किया और तब मॉलौसिया का राजा बन गया।

१६. कालिदास की उक्ति "राजा प्रकृति–रंजनात्" से तुलना कीजिये।

१७. इस कथा की ओर सकेत किया जा चुका है। पर हीरोदोतस् ने थ्रासीबूलस को उपदेष्टा और पैरियाण्ड्राल्ट्रास् को उपदिष्ट कहा है।

१८. इस कथा का उल्लेख किया जा चुका है।

१९. यह कथा यूनानियो में अप्राकृत-मैथुन-प्रथा के प्रचलन को सूचित करती है।

२०. न्यूमैन ने इन घटनाओ की तिथियाँ इस प्रकार दी है। (१) मकैदौनिया के आर्खीलाउस् की हत्या ई० पू० ३९९ में; (२) कीप्रस् के सालामिस् नगर के तानाशाह ऐवागौरास् की हत्या ई० पू० ३७४ में; (३) फैराए के यासन् की हत्या ई० पू० ३७० में; (४) सिकियॉन् के तानाशाह इयूफ्रौन् की हत्या ई० पू० ३६७ में; (५) फैराए के अलैक्ज़ाण्डर तथा औद्रीसाए के राजा कौतीस् की हत्याएँ ई० पू० ३५९ में; (६) कृष्णसागर के तट पर स्थित हेराक्लिया के तानाशाह क्लेआर्खस् की हत्या ई० पू० ३५२ में तथा मकैदौनिया के फिलिप् की हत्या ई० पू० ३३६ में हुई। इनमें से अधिकांश हत्याएँ उत्तर ग्रीस, मकैदौनिया और थ्राके में हुईं। इनके वर्णन करने का उद्देश्य यही है कि तिरस्कार और अपमान से भी वह आग प्रज्वलित होती है जो राजाओं और तानाशाहो को समाप्त कर देती है।

२१. यह कथाएँ भी अपमानो की कथायें हैं। यूरीपिदेस् की कथा के संबंध में चर्चा करना भी प्राचीन काल में सहन नहीं किया जाता था।

२२. आर्त्तपानी (ने) स् के संबंध में जो कथा यहाँ कही गई है उसका ऐतिहासिक स्वरूप बहुत कुछ विवादग्रस्त है।

२३. कहते हैं सार्दानापलस् को उसके सेनाध्यक्ष "अर्बाकेस्" ने ऊन काढ़ते हुए देखा। ऊन काढना स्त्रियो का काम माना जाता था। अतएव सेनापति ने ऐसे राजा का तत्काल वध कर डाला। इस कथा का एक दूसरा रूप यह है कि युद्ध में अपने सेनापति से हारकर सार्दानापलस् ने स्वयं आत्महत्या कर ली।

२४. यह घटना सिराकूज की है। पर आक्रमण का कारण इससे भी बढकर यह था दियौनीसियस् द्वितीय ने दियौन् की सम्पत्ति का अपहरण कर लिया था और उसकी पत्नी को भी एक दूसरे व्यक्ति तिमौक्रातेस् को दे डाला था।

२५. अस्त्यागी(गे)स् कीरस् का स्वामी था और कीरस् उसका सेनाध्यक्ष। यह घटना ई० पू० छठी शताब्दी के मध्यकाल की है।

२६. यह घटना ई० पू० ३९० और ३८६ के मध्य की प्रतीत होती है।

२७. एक अरियौबारजानी ई० पू० ३६३ से ३३६ तक पौन्तुस् का क्षत्रप था। दूसरा अरियौबारजानी ई० पू० ३६७ में हैलेस्पौण्त का क्षत्रप था। पता नहीं कि प्रस्तुत संकेत किस अरियौबारजानी के प्रति है।

२८. आजकल की परिभाषा में इसको विचार-पद्धतियों का द्वन्द्व कहा जा सकता है।

२९. यह घटना ई० पू० ३४४ की है। इसके पश्चात् दियौन् स्वयं तानाशाह बना और मारा गया।

३०. तुलना कीजिये—"क्रोधाद् भवति संमोहः"। गीता २।६३

वि०—इस खण्ड का अन्तिम भाग क्रमबद्ध नहीं लगता। फिर इसका कुछ भाग ऐसा भी है जिसको Mysteries of the courts of Greek kings ग्रीक राजाओं के दरबार के रहस्य कहा जा सकता है।

११

एकराट्तंत्र और तानाशाहियों की रक्षा के उपाय

सामान्यतया स्पष्टरूपेण ही कह सकते है कि उन(राजतत्रात्मक) व्यवस्थाओ की रक्षा, उपर्युक्त कारणो से उलटे उपायो से होती है। और यदि हम उन पर अलग अलग विचार करें एव सबसे पहले राजतत्र को ही लें तो कह सकते है कि राजतंत्र की रक्षा मध्यमनीति के अनुसरण से हो सकती है। राजा की सत्ता अपेक्षाकृत जितनी थोडी(=सीमित) होगी उतने ही अधिक समय तक उसकी शासन-शक्ति अनिवार्यतया अक्षुण्ण (पूरी) बनी रहेगी। ऐसा होने पर वे स्वय प्रभु-तुल्य व्यवहार कम करते हैं, अधिकाश में अन्य लोगों के साथ बराबरी का बर्त्ताव करते हैं, परिणामत शासितों के द्वारा उनके प्रति ईर्ष्या भी कम की जाती है। यही कारण है कि मॉलॉस्सस्[१] राष्ट्र में सुदीर्घकाल तक राजतंत्र बना रहा। तथा लाकैदायमॉन् राष्ट्र (स्पार्टा) के राजतत्र का स्थायित्व भी (कुछ तो) आरंभ से ही राजतत्र के दो भागो में बँट जाने के कारण सभव हुआ है और(कुछ)पीछे थियौपॉम्पस्[२] के द्वारा मध्यमनीति के बहुविधि अनुसरण के द्वारा, जिसमे अन्य बातो से विशेष बात थी अध्यक्ष अथवा निरीक्षक

मडल की स्थापना। उसने राजा की शक्ति को घटाया पर राजपद के काल मे (स्थायित्व) अवश्य व द्धि कर दी, परिणामत उसने उस (शक्ति) को एक अर्थ मे (=एक प्रकार से) कम नही किया, प्रत्युत उसका महत्त्व और बढा दिया। वह तथ्य उसके अपनी पत्नी को दिये हुए उत्तर से स्पष्ट है। उसकी पत्नी ने उससे पूछा "जितनी राज-शक्ति तुमने अपने पिता से पाई थी उससे कम राजशक्ति अपने पुत्रो को देने मे, क्या तुमको लज्जा नही लगती ?)" उसने उत्तर दिया, "नही, मुझे तो (कुछ भी लज्जा) नही लगती (क्योकि) मै उनको चिरकाल तक स्थायी रहनेवाली शक्ति दिये जा रहा हूँ।"

जहॉ तक अधिनायकतत्र का प्रश्न है उनकी रक्षा दो प्रकारो (उपायो) से हो सकती है जो एक दूसरे के नितान्त विरोधी हैं। इनमे से प्रथम उपाय तो वही परम्परागत उपाय है जिसके अनुसार अधिकाश अधिनायक लोग अब भी अपने शासन का प्रबध किया करते है। कहते है कि इस (उपाय) की बहुत सी विधियाँ कौरिन्थ-निवासी पैरियाण्ड्रस ने स्थापित की थी और ऐसी बहुत सी विधियाँ पारसीक लोगो की शासन-पद्धति से भी ग्रहण की जा सकती है। इनमे से कुछ विधियॉ तो वही है जिनका वर्णन हमने पहले अधिनायकतत्र की रक्षा (जहाँ तक उसकी रक्षा सभव है) के सबध मे किया था। उदाहरण के लिए अत्युच्च प्रमुख व्यक्तियो को काट (छाँट) डालना और तेजस्वी लोगो को दूर कर देना इत्यादि (ऐसी ही विधियॉ है)। इनके अतिरिक्त उसको सार्वजनिक भोजन, सामाजिक सम्मेलन (अर्थात् क्लब इत्यादि), सम्मिलित शिक्षा और इसी प्रकार की अन्य किसी भी बात का निषेध कर देना चाहिये। दूसरे शब्दो मे ऐसी सब बातो से अपनी रक्षा के लिए सावधान रहना जो साहस और पारस्परिक विश्वास—इन दो गुणो को जनता मे उत्पन्न कर सकती है। उसको अवकाशजन्य सास्कृतिक सभा-समाजो का एव इसी प्रकार के अन्य सम्मेलनो का निषेध कर देना चाहिये, एव प्रत्येक ऐसे उपाय को काम मे लाना चाहिये जिससे प्रजाजनो मे से प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के लिए इतना अधिक अपरिचित हो कि जितना हो सकता है ; क्योकि पारस्परिक परिचय मनुष्यो मे पारस्परिक विश्वास उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त उसको प्रत्येक प्रजाजन को नित्य सबके सामने प्रकट होने, एव राज-द्वार पर अपना समय बिताने के लिए विवश करना चाहिये। इस प्रकार उनको यह पता चल जायगा कि वे (=जनता) क्या कर रहे है एव इस नित्यप्रति की थोडी दासता के अभ्यास से उनका स्वभाव विनीत बने रहने का पड जायगा। इसी भॉति और भी अन्य अनेको उपाय है जो पारसीक और बर्बर लोगो मे समान रूप से पाये जाते हैं एव जिनका एकमात्र सामान्य प्रभाव अधिनायकतत्र को पुष्ट करना है।

फिर अधिनायक को यह भी जान लेने का उद्योग करना नही भुला देना चाहिये कि प्रजाजनो मे से प्रत्येक व्यक्ति क्या कह और कर रहा है , इसके लिए उसको गुप्तचरो की नियुक्ति करनी चाहिये, जैसे कि सिराकूस नगर मे स्त्रियो की गुप्तचर सस्था थी जो 'पौटागोगिदीस' कहलाती थी , अथवा जैसी कि कानाफूसी सुननेवाली गुप्त प्रणिधि सस्था हीरो की थी जिसको वह सामाजिक सम्मेलनो और सार्वजनिक सभाओ मे (भेद लेने के लिए) भेजा करता था। (एक तो) गुप्तचरो के भय से लोग बडी स्वतत्रता से यो ही नही बोलते और यदि वे स्वतत्रतापूर्वक बोले भी तो (गुप्तचरो के होते हुए) उनके न पहचाने जाने की बहुत कम सभावना रहती है। इसके अतिरिक्त अधिनायक को चाहिये कि वह मित्र और मित्र मे, साधारण जनता और गण्यमान्य लोगो मे एव सम्पन्न लोगो के मध्य मे एक दूसरे में फूट और कलह करवा दे। अधिनायको की एक नीति अपने शासित जनो को निर्धन बनाने की भी रही है, जिससे जनता के पास नागरिक रक्षकदल के भरण-पोषण की सामर्थ्य ही न रहे और दूसरे वे अपनी दैनिक जीविका कमाने में ही इतनी तल्लीन रहें कि तानाशाह के विरुद्ध षड्यत्र करने का अवकाश ही न मिले। मिस्र देश के पिरामिड्[१] (शकुमदिर) इसी नीति के उदाहरण हैं, किप्सेलस के परिवार द्वारा मदिरो पर चढाई हुई बहुमूल्य भेंटें, पैइसिस्त्रातस् के परिवार द्वारा ऑलिम्पिया के द्यौसमन्दिर का निर्माण, तथा सामॉस् में पॉलीक्रातीस् द्वारा निर्मित महान् भवन—यह सब भी इसी नीति के निदर्शन हैं। इन सब कार्यों का उद्देश्य एकमात्र यही है कि शासितो को कार्य मे सलग्न रहने के कारण अवकाश न रहे और उनकी निर्धनता बढे। कर लगाने का भी परिणाम यही होता है जैसा कि सिराकूस नगर मे हुआ, कि बडे दियौनीसियस् के अधिनायकतत्र में ऐसी योजना बनाई गई कि पाँच साल मे प्रजाजनो को अपनी सपत्ति सरकारी कोष में दे देनी पडी।[४] इसी कारण तानाशाह युद्धप्रिय भी होता है जिससे उसके शासित जन सदा किसी न किसी काम मे लगे रहें और उनको निरन्तर एक नेता की आवश्यकता बनी रहे। (अविश्वास फैलाना तो अधिनायको की नीति का इतना विशिष्ट अग है कि) जब राजतत्र की रक्षा मित्रो द्वारा की जाती है, तानाशाह यह जानते हुए कि सब मेरा विनिपात चाहते है तथा मेरे मित्रो मे ऐसा करने की सबसे अधिक क्षमता है, उन्ही का सबसे अधिक अविश्वास करता है।

परले सिरे को पहुँचे हुए तथा सबसे बुरे जनतत्र मे जो बुराइयाँ (बुरे कार्य) पाई जाती है वे सब की सब अधिनायकतत्र में उपलब्ध होती है। उदाहरण-स्वरूप दोनों (जनतत्र और अधिनायकतत्र) गृहस्थी में स्त्रियों की शक्ति को प्रोत्साहित करते हैं

जिससे वे अपने पतियो का भण्डाफोड कर दे एव इसी कारण यह दोनो शासनतत्र दासो को भी ढील देते है कि वे अपने स्वामियो के भेदों को बतला दे । दास और स्त्रियाँ तो अधिनायको के विरुद्ध षड्यत्र रचते नही, इतना ही नही प्रत्युत क्योकि उनको अधिनायकतत्र मे सुदिन का अनुभव होता है अतएव वे उसके प्रतिकूल इसी प्रकार रहते है जिस प्रकार जनतत्र के ।[५] और साधारण मनुष्य भी तो एकतत्री राजा बनने की चाह रखता है । यही कारण है कि इन दोनो तत्रो मे चापलूस व्यक्ति सम्मानित होता है । जनतत्र मे लोकनायक होता है जिसको जनतत्र का चाटुकार दरबारी कहा जा सकता है, अधिनायकतत्र मे भी विनीत सहचर हुआ ही करते है—ये लोग चाटुकार दरबारियो के समान व्यवहार किया करते है ।

इस प्रकार अधिनायकतत्र दुर्जनों को मित्र (प्रियजन) माननेवाली शासनपद्धति है । तानाशाहो को चाटुकारी अच्छी लगती है , तथा ऐसा कोई भी मनुष्य जिसकी अन्तरात्मा स्वतत्र है अपने को चाटुकारी द्वारा नीचा नही बनायेगा । भला आदमी मित्र तो हो सकता है, पर कम से कम वह किसी की चापलूसी नही करना चाहेगा । और बुरे आदमी बुरे कामों के लिए उपयोगी होते है , कहावत भी है "काँटा काँटे को निकालता है" (कण्टकेनैव कण्टकम्)।[६] अधिनायक का यह स्वभाव होता है कि वह कभी किसी सम्मानवाले और स्वाधीनता की भावना रखनेवाले मनुष्यो को पसन्द नही करता । इस प्रकार की योग्यताओ को तो वह अपना ही एकाधिकार मानता है , जो कोई अन्य व्यक्ति उसके बराबर (प्रतिस्पर्द्धा में) सम्मान की भावना और स्वाधीनता की भावना का प्रदर्शन करता है तो वह ऐसा मानता है कि मानो वह व्यक्ति उस (अधिनायक) के विशेषाधिकारो और एकाधिपत्य का अपहरण कर रहा हो, तथा वह (तानाशाह) उसको ऐसी घृणा की दृष्टि से देखता है जैसे वह उसकी शक्ति (पद) का विनाश करनेवाला हो । अपने नगर के लोगो की अपेक्षा विदेशियों के साथ खानपान करना एवं अपने दिन उन्ही की सगति मे अपेक्षाकृत अधिक व्यतीत करना यह भी अधिनायको का स्वभाव होता है, क्योकि उन्हे ऐसा लगता है कि नागरिक लोग तो हमारे शत्रु है पर विदेशी कभी हमारा विरोध नही करेंगे । यही अधिनायक की कला है और इसी के द्वारा वह अपनी शासनशक्ति की रक्षा का उपाय किया करता है । किसी भी नीचता (दुष्टता) को वह शेष नही छोड़ता । जो कुछ कहा गया है उसका सक्षेप तीन शीर्षकों में किया जा सकता है जो तीनो अधिनायको के जीवन के तीन लक्ष्यो के संवादी हैं । उसका प्रथम लक्ष्य शासित जनो की आत्मा को हीन बनाना होता है, क्योंकि वह जानता है कि हीनात्मा लोग कभी किसी के विरुद्ध षड्यंत्र नही करते ।

दूसरा ध्येय प्रजाजनो के बीच मे पारस्परिक अविश्वास उत्पन्न करना होता है , क्योकि जब तक लोग एक दूसरे का विश्वास नही करने लगते तब तक अधिनायक का विनिपात नही हो सकता । इसी कारण अधिनायको की सदा भले आदमियो से ठनी रहती है, वे यह समझते है कि नेक आदमी उनकी शक्ति के लिये केवल इसी लिए हानिकारक नही होते कि उनके ऊपर ऐसा शासन नही चल सकता जैसा स्वामी का दास के ऊपर चला करता है , प्रत्युत इसलिए भी हानिकारक होते है कि वे आपस मे एक दूसरे के और अन्य लोगो के भी विश्वासभाजन है और न तो आपस मे किसी को धोखा देकर उनकी चुगली खाते है और न अन्य किसी व्यति की। अधिनायक का तीसरा और अन्तिम लक्ष्य होता है अपने शासित जनो को किसी भी कार्य के अयोग्य बना देना। असभव कार्य को करने का तो उद्योग कोई भी नही करता है । अतएव जब कोई भी किसी कार्य को करने की क्षमता नही रखता होगा तो वे अधिनायकतत्र को उखाड फेकने का प्रयत्न नही करेंगे । अधिनायको की सब व्यवहार-नीतियाँ इन्ही तीन सिद्धान्तो में अन्तर्भुक्त की जा सकती है तथा उनके द्वारा प्रयुक्त सब उपाय इन्ही में से किसी न किसी एक उद्देश्य से सबद्ध किये जा सकते है—अर्थात्' शासितो में पारस्परिक अविश्वास उत्पन्न करना, (२) उनको असमर्थ बना देना और (३) उनकी आत्मा को दीन-हीन बना देना ।

तो यह उपर्युक्त उपाय उन दो उपायो मे से एक है, जिससे अधिनायकतत्र की रक्षा की जा सकती है ।' पर एक दूसरा उपाय भी है जिसमे उपयोग में आनेवाली कार्यप्रणाली उपर्युक्त कार्य-प्रणाली से बिलकुल उलटी है। इस उपाय के स्वरूप को हम राजतत्रो के विनाश के कारणो के,तुलनात्मक अध्ययनसे भली भाँति समझ सकेंगे। जिस प्रकार कि राजतंत्र के नष्ट होने का एक कारण राजपद का अधिनायक-पद में बदल जाना था, ठीक उसी प्रकार अधिनायक-पद की रक्षा का एक उपाय उसका राजपद में बदल जाना है। केवल एक बात के विषय मे अधिनायक को सावधान रहना चाहिये, इतनी शक्ति तो सुधरे हुए तानाशाह को भी अपने पास सुरक्षित रखनी चाहिये कि अपने प्रजाजनो पर—चाहे उनकी उससे शासित होने की इच्छा हो और चाहे न हो—शासन कर सके। इस शक्ति को छोड देना तो अधिनायकता को ही छोड देना है । इस प्रकार अधिनायकतत्र की सत्ता की आधारशिला (मुख्य शर्त) के रूप मे यह शक्ति स्थिर रहनी चाहिये, अन्यथा अन्य सब बातो में अधिनायक को राजा की भूमिका के अच्छे अभिनेता के समान कार्य करना चाहिये अथवा कम से कम इस प्रकार कार्य करते हुए प्रतीत होना चाहिये । प्रथम तो उसको सार्वजनिक धन के विषय में अपने को अत्यधिक चिन्ता-परायण प्रकट करना चाहिये । उसको ऐसे उपहारो के देने में धन का अपव्यय नही करना

चाहिये जिससे जनसाधारण मे कटुता और रोष उत्पन्न होता है (और जब यह धन खेती-बाडी और मेहनत-मशक्कत करनेवाले लोगो से थोडा थोडा करके निचोडा जाता है और फिर मुक्त हस्त से वारागनाओ, विदेशियो और विलासिता की कलाओ पर उडाया जाता है तो कटुता और रोष उत्पन्न होना अवश्यभावी है)। अपने आय-व्यय का लेखाजोखा भी उसको (सबके समक्ष) प्रस्तुत कर देना चाहिये—यह ऐसी नीति है जिसको कुछ अधिनायको ने व्यवहार मे अपनाया है। इस प्रकार के शासनप्रबन्ध मे वह एक गृहप्रबधक प्रतीत होगा न कि तानाशाह और जब तक वह नगर के शासन पर अपनी सत्ता बनाये रखता है तब तक उसको यह भी भय नही खाना चाहिये कि उसको कभी धन की कमी पडेगी। और यदि उसको अपने घर से बाहर जाना पडे तो पीछे कोषसग्रह छोड जाने की अपेक्षा उसके लिये यही उपयोगी होगा कि वह कुछ भी न छोड जाय, क्योकि ऐसी स्थिति मे, वह जिन शासन-रक्षको को अपने पीछे नगर की रक्षा के लिये छोड जायगा, उनकी उसकी शक्ति के प्रति विद्रोह करने की बहुत कम सभावना होगी। जो अधिनायक बाहर विदेश मे आक्रमण करने जाता है उसको नागरिको की अपेक्षा शासनरक्षको से अधिक भय खाना आवश्यक है, क्योकि नागरिक तो अभियान मे अपने शासक के साथ रहते है पर शासन-रक्षक पीछे घर पर ही रह जाते है। फिर, दूसरी बात यह है कि कर लगाने मे और अन्य प्रकार के चदे और सेवाएँ माँगने मे यही प्रकट करना चाहिये कि यह सब (धन) सार्वजनिक कार्यों के निमित्त सचित किया जा रहा है अथवा आवश्यकता आ पडने पर इसका उपयोग युद्ध सबधी कार्यों के लिये किया जायगा। सामान्यतया उसको सार्वजनिक कार्यों के रक्षक अथवा प्रबन्धक के रूप मे न कि अपने निजी कार्य को सपादन करनेवाले के रूप मे कार्य करने के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये।

(जनता के साथ व्यक्तिगत सपर्क में उसको) कठोर नही किन्तु प्रशान्त (गभीर) दिखलाई देना चाहिये, उसकी मुद्रा ऐसी होनी चाहिये कि जो भी व्यक्ति उसके सपर्क मे आये वह भयभीत न हो किन्तु श्रद्धावनत हो। पर यदि वह जनता के हृदय में श्रद्धा की भावना उत्पन्न न कर सके तो उसके लिये इस लक्ष्य (श्रद्धाभाजन होने) की प्राप्ति सरल कार्य नही होगा। अतएव यदि वह चाहे तो अन्य किसी भी गुण की उपेक्षा कर सकता है, पर उसको योद्धा के गुणों को अपने मे अवश्य विकसित करना होगा, और दर्शकों मे यह धारणा (भावना) उत्पन्न करनी होगी कि वह योद्धा के गुणो से युक्त है। उसको यौन अपराधो से भी सदा बचना चाहिये; उसको स्वय अपनी शासित प्रजाओ में से किसी युवक अथवा युवती के प्रति ऐसे अपराध करने के सन्देह से मुक्त

होना चाहिये, और इसी प्रकार उसके पारिषदो को भी इस प्रकार के दोषो से मुक्त होना चाहिये। एव उसके अवरोध (अन्त पुर) की रमणियो को भी अन्य स्त्रियो के प्रति ऐसे ही नियम (सयम) का व्यवहार करना उचित है। स्त्रियो की धृष्टता बहुत से अधिनायकतत्रो के विनाश का कारण हुई है। (भोजन सबधी) शारीरिक सुखोपभोग के विषय मे तो उसको आजकल के कुछ अधिनायको से बिलकुल उलटा आचरण करना चाहिये। ये लोग न केवल बडे तडके से आरभ करके कई दिन तक लगातार इस प्रकार के सुखोपभोग मे निमग्न रहते है, प्रत्युत वे ऐसा करते हुए अपने को दूसरो को दिखाना भी चाहते है जिससे वे (दूसरे लोग) उनके सौभाग्य और सौख्य की सराहना कर सके। परन्तु बहुत अच्छा तो यही है कि अधिनायक इन सुखोपभोगो में मध्यमवृत्ति का अनु-सरण करे, यदि ऐसा न कर सके तो कम से कम उसको उनके अन्य लोगो के समक्ष प्रदर्शन से तो बचना ही चाहिये, (अथवा अन्य लोगो के सामने तो उसको अपने आपको इन बातो से बचनेवाला ही प्रकट करना चाहिये। क्योकि जो लोग अप्रमत्त और जागरूक होते है उन पर आक्रमण करना अथवा उनका अपमान करना सरल काम नही प्रत्युत जो लोग प्रमत्त और ऊँघनेवाले होते है उन्ही पर सरलता से आक्रमण किया जा सकता है और उन्ही का अपमान भी हो सकता है।

वास्तव मे उसका आचरण लगभग उन सभी बातो का उलटा होना चाहिये जो हमने पहले अधिनायको के आचरण के विवरण मे वर्णन की हैं। उसको अपने नगर की योजना और सजावट ऐसे अच्छे ढग से करनी चाहिये मानो वह नगर-राष्ट्र का अधिनायक नही प्रत्युत सरक्षक (=ट्रस्टी) है। इसके अतिरिक्त उसको देवताओ के सबध में तो अपने को विशेषरूप से अत्यन्त उत्साहपूर्ण प्रकट करना चाहिये। यदि प्रजाजन यह ख्याल करते है कि उनका शासक देवताओ से भय खानेवाला और उनके प्रति श्रद्धावान् है तो वे उसके किये हुए अन्याय को सह लेने में अधिक भय नही खाते, और यदि उनको ऐसा भासित होता है कि स्वय देवता उसके पक्ष में युद्ध करते है तो वे उसके विरुद्ध षड्यत्र करने में भी बहुत कम प्रवृत्त होते है। इसके साथ ही साथ उसका यह (धार्मिक आचरण) मूर्खता से रहित प्रतीत होना चाहिये। (नागरिक जीवन के किसी भी विभाग के) भले अथवा गुणी जनो का उसको सम्मान करना चाहिये, और इस प्रकार (अथवा इतना) सम्मान करना चाहिये जिससे वे यह ख्याल न करें कि स्वतत्र प्रकार की शासन-व्यवस्था होने पर उनका अधिक सम्मान होता। सम्मानो का वितरण उसको स्वय करना चाहिये, पर दण्ड अन्य शासनाधिकारियो अथवा न्यायालयो द्वारा दिलवाना

चाहिये। यह सतर्कता तो सभी एकतंत्र-व्यवस्थाओ मे समान रूप से पाई जाती है, कि कोई एक ही व्यक्ति बहुत ऊँचे पद पर नही चढा दिया जाना चाहिये , पर यदि इस प्रकार की पदोन्नति आवश्यक ही हो जाय तो बहुतो की पदवृद्धि करनी चाहिये जिससे वे परस्पर एक दूसरे पर चौकसी की दृष्टि रखे। पर यदि फिर भी किसी को अत्युच्च (महत्त्वपूर्ण) पद पर स्थापित करना पडे ही तो वह व्यक्ति बहुत अधिक साहसी स्वभाव का नही होना चाहिये, क्योकि इस प्रकार के स्वभाव वाले व्यक्ति सभी कार्यक्षेत्रो में बडी शीघ्रता के साथ प्रहार किया करते है। दूसरी ओर यदि किसी व्यक्ति को उसकी (पदशक्ति) अधिकार-शक्ति से वचित करने का निर्णय करना हो तो उसकी शक्ति को क्रमश धीरे धीरे घटाना चाहिये, राशिभूत समग्र सत्ता को उससे एक साथ अपहृत नही कर लेना चाहिये।अधिनायक को (यो तो) सब प्रकार के अत्याचारो से बचना चाहिये—पर सबसे अधिक दो प्रकार के अत्याचारो से—एक शारीरिक दण्ड देने से, और दूसरे युवक (और युवतियो) के सतीत्वापहरण से। जो सम्मान को प्रेम करनेवाले व्यक्ति हो उनके साथ व्यवहार मे उसको विशेष सावधानी बरतनी चाहिये। जिस प्रकार धन के प्रति तिरस्कारपूर्ण व्यवहार से धनवान् लोग रुष्ट हो जाते है इसी प्रकार सम्मान के प्रेमी और साधुजन अपमानपूर्ण व्यवहार से कुपित हो जाया करते हैं। अतएव अधिनायक को इस प्रकार के कार्यो से दूर ही रहना चाहिये , अथवा दण्ड देते समय उसको कम से कम ऐसा अवश्य भासित करना चाहिये कि दण्ड देने मे उसकी दृष्टि सुधार के लिये दड देनेवाले पिता की दृष्टि के सदृश है, न कि वह दर्प अथवा अपमान करने की भावना से प्रेरित हो रहा है। तथा युवको के सहवास के उपभोग में उसको ऐसा प्रकट करना चाहिये कि वह ऐसा अधिकार मद के कारण नही प्रत्युत सच्चे प्रेम के कारण कर रहा है। सामान्यरूपेण ऐसे सब प्रसगो में उसको प्रातिभासिक अपमान की पूर्ति बहुत अधिक सम्मान-वृद्धि के द्वारा कर देनी चाहिये।

जो लोग प्राणनाश करने का प्रयत्न करते है उनमें से सबसे अधिक भयकर और जिनकी सबसे अधिक चौकसी करने की आवश्यकता होती है वे व्यक्ति होते है जो अपना कार्य पूरा करने के पश्चात् अपने प्राणो को बचाने की भी चिन्ता नही करते। अतएव जो लोग ऐसा ख्याल करते हैं कि या तो स्वय उनका अथवा जिनके विषय मे उनको चिन्ता है उनका अपमान किया गया है, ऐसे लोगो के प्रति विशेष सतर्कता बरती जानी चाहिये। जो लोग आवेश में आकर कोई कार्य करने का उद्योग किया करते है वे अपने विषय में कोई चिन्ता नहीं करते। जैसा हेराक्लीतस् ने कहा है, "(रोष=)आवेश के विरुद्ध

लडकर पार पाना कठिन है क्योकि वह तो प्राणो का भी मूल्य चुकाकर (प्रतिशोध) लेना चाहता है।"[१]

समाजनीति के सबध में उसको सर्वदा यह ध्यान रखना चाहिये कि क्योकि राष्ट्र दो अगो—निर्धन मनुष्य और धनवान् मनुष्यो—से घटित होता है, अतएव उसको उन दोनों अगो को इस प्रकार की धारणा बनाने देनी चाहिये कि वे उसी के शासन के कारण सुरक्षित है और उसी के कारण एक के ऊपर दूसरे का अन्याय (अनाचार) नही हो रहा है। इन दोनो अगो में जो भी अग प्रबल हो, अधिनायक को चाहिये कि वह उसको ही अपने (शासनतत्र के) पक्ष से सम्पृक्त कर ले, क्योकि इस कार्य के सिद्ध हो जाने पर (अर्थात् उसको प्रबल पक्ष का समर्थन प्राप्त हो जाने पर) उसको न तो दासो को स्वाधीन करने की आवश्यकता पड़ेगी और न नागरिको का निश्शास्त्रीकरण करना पड़ेगा। जो शक्ति पहले से ही उसके पास है उसमें किसी एक अग की शक्ति का योग हो जाने से वह अपने विरुद्ध आक्रमण करनेवालो से अधिक बलवान् हो जायगा।

पर इस प्रकार की बातो मे से प्रत्येक का सविस्तर वर्णन करना व्यर्थ है। अधिनायक का लक्ष्य स्पष्ट है। शासितो के समक्ष उसको अपने आपको अधिनायक के रूप में नही प्रत्युत प्रजाओ के गृहप्रबंधक और राजा के रूप में प्रदर्शित करना चाहिये। उसको उनकी सम्पत्ति को आत्मसात् नही कर लेना चाहिये, प्रत्युत उनका रक्षक होना चाहिये। उसके जीवन का लक्ष्य मध्यममार्ग होना चाहिये न कि अति करना। उसको गण्यमान लोगो की सगति की कामना होनी चाहिये पर साथ ही साथ उसको जनसाधारण को भी फुसलाकर अपने अनुकूल बना लेना चाहिये। ऐसा होने से अवश्यमेव न केवल उसका शासन शोभन और (ईर्ष्या के योग्य) सुखमय होगा, उसके द्वारा शासित प्रजाजन अपेक्षाकृत अधिक भलेमानस होगे और उनकी आत्मा दलित नही होगी, वह उनके लिये निरन्तर घृणा और भय का पात्र नही बना रहेगा, प्रत्युत उसका शासन चिरकाल तक स्थायी रहेगा। इसके अतिरिक्त स्वय उसका अपना स्वाभाविक चरित्र भी या तो (पूर्णतया) सचमुच सद्वृत्तिमय हो जायगा अथवा कम से कम अर्द्धसद्वृत्ति-मय तो हो ही जायगा, तथा वह पूर्णतया बुरा नही रहेगा; केवल आधा बुरा होगा।

टिप्पणियाँ

१. मॉलॉस्सस् अथवा मॉलॉत्तस् लोगों के नगर-राष्ट्र में राजा और प्रजा समय-समय पर परस्पर शपथ किया करते थे। राजा प्रजाजनों के प्रति शपथ किया करता

था कि मै नियम या कानून के अनुसार शासन करूँगा और प्रजाजन राजा के प्रति शपथ किया करते थे कि हम राजपद की रक्षा करेंगे।

२. थियौपॉम्पस् ई० पू० आठवीं शताब्दी के मध्य में स्पार्टा का राजा था। कुछ लेखक निरीक्षक-मंडल का स्थापक अन्य किसी व्यक्ति को मानते हैं। स्पार्टा के अतिरिक्त प्राचीन यूनान में और भी अनेक नगर ऐसे थे जहाँ एक से अधिक राजा शासन करते थे।

३. अइरिप्त (मिश्र) के पिरामिड्, क्रिप्सेलस् की भेंटें जिनमें एक विशालकाय स्वर्णनिर्मित जियुस् की मूर्त्ति भी थी, पैइसिस्त्रातस् का द्यौस् (जियस्)-मन्दिर, तथा सामॉस् में पालीक्रातीस् के प्रासाद इत्यादि जनता के शोषण से प्राप्त धन और बेगार से बने थे। इन सब का उद्देश्य था जनता को निर्धन और काम में लगा रखना जिससे उसको संघटित होकर तानाशाहो का विरोध करने का अवकाश न मिले।

४. दियोनीसियस् ने जनता की सम्पत्ति पर २० प्रतिशत कर लगाया था। पर यह उसके शासन के आरंभिक-काल की बात है जब कि वह कार्थेज के विरुद्ध युद्ध में संलग्न था और जिस समय उसको एक विशाल जल और स्थल सेना का पोषण करना पड़ रहा था।

५. स्त्रियो, बच्चो इत्यादि को पतियो और गुरुजनो का जासूस बनाना तो आधुनिक अधिनायकतंत्र में भी पाया जाता है।

६. (चाणक्य) कौटिल्य ने भी तो ऐसे ही उपायो से "कण्टकशोधन" का उपदेश दिया है।

७. क्योकि शेरो की अपेक्षा पूंछ हिलानेवाले कुत्ते पालना सरल काम है।

८. यहाँ अधिनायकतंत्र की रक्षा के नीच उपाय बतलाये गये। अब उच्च प्रकार के उपाय प्रस्तुत किये जाते हैं।

९. यह उक्ति हेराक्लीतस् की खंडित रचनाओ में उपलब्ध होती है।

१२

प्लातोन के व्यवस्था-परिवर्तन के सिद्धान्त की आलोचना

[तो[1] भी कोई भी शासन-व्यवस्थाएँ इतनी अल्पस्थायी नही होती जितनी अल्पतत्र-व्यवस्था और तानाशाहियाँ हुआ करती है। जो अधिनायकतत्र सबसे अधिक लबे काल तक चला वह सिकीयौन[2] नगर मे औथौगौरस और उसके वशधरो का शासनतत्र था, यह अधिनायकतत्र सौ बरस तक चला। इस स्थायित्व का कारण उनका शासितो

के प्रति सयमपूर्ण बर्ताव और बहुत कुछ नियमो की आज्ञानुवर्तिता मे चलना था। क्लैइस्थिनीस[३] (जो कि सिकीयोन मे उत्तरकालीन अधिनायक था) तो ऐसा वीर योद्धा था कि कोई उसकी उपेक्षा (तिरस्कार) कर ही नही सकता था, और उसके अतिरिक्त भी इस कुटुम्ब ने प्रजाजनो के हित-चिन्तन के द्वारा उनका आनुकूल्य प्राप्त किया था। क्लैस्थिनीस के विषय मे कहा जाता है कि उसने (राष्ट्रीय) खेलो में अपने विरुद्ध निर्णय देनेवाले निर्णायक को मुकुट प्रदान किया था, और कुछ लोग तो यहाँ तक कहते है कि सिकीयोन के बाजार के चौक मे बैठे हुए मनुष्य की मूर्ति उस निर्णायक की ही मूर्ति है। इसी प्रकार की एक कथा पाइसिस्त्रातस के विषय मे भी कही जाती है कि उसने एक समय अपने को अरियौपागस न्यायालय के समक्ष आदेशानुसार अभियोग मे न्यायार्थ उपस्थित किया था।

दीर्घकालीनता की दृष्टि से दूसरा अधिनायकतत्र कौरिन्थ[४] नगर मे कीप्सैलस के कुल का था, जो ७३ वर्ष और ६ महीने तक चला। कीप्सैलस् ने स्वय ३० वर्ष तक अधिनायकतत्र चलाया, पैरियान्ड्रस् ने साढे चालीस वर्ष तक और गार्दियास के पुत्र प्साम्मितिखस् ने तीन वर्ष। इनके शासनकाल की दीर्घता के कारण भी वही (उपर्युक्त) थे। कीप्सैलस् लोकप्रिय नेता था, जिसने समग्र शासनकाल में अगरक्षको के दल को नही रखा, और पैरियाण्ड्रस्! यदि वह स्वेच्छाचारी शासक था तो एक महान् योद्धा भी था। दीर्घकाल की दृष्टि से तीसरा अधिनायकतत्र पैइसिस्त्रातस् के वश का था जो अथेन्स मे राज्य करता था, पर यह शासन लगातार नही चला। अपने राज्यकाल मे पैइसिस्त्रातस् को दो बार देशनिकाला हुआ और वह तैंतीस वर्ष के समय मे केवल सत्रह वर्ष तक शासन कर सका। उसके पुत्रो ने सब मिलाकर अठारह वर्ष तक राज्य किया—इस प्रकार सारे वश ने कुल पैंतीस वर्ष शासन किया। शेष अधिनायकतत्रो मे से सबसे अधिक स्थायी अधिनायकतत्र था सिराकूस नगर में हीरो और गैलो के द्वारा स्थापित अधिनायकतत्र। पर यह भी कुछ बहुत अधिक समय तक स्थायी नही रहा—सब मिलाकर कुल अठारह वर्ष चला। गैलो सात वर्ष तक अधिनायक रहा और अपने शासन के आठवें वर्ष में मर गया। हीरो ने दस वर्ष राज्य किया। थ्रासीबूलस अपने शासन के ग्यारहवें महीने में निर्वासित कर दिया गया। सच तो यह है कि (यह) तानाशाहियाँ सर्वथा बहुत अल्पकाल तक स्थायी रही हैं।[५]]

अब मै उन सब कारणों का लगभग वर्णन कर चुका जिनसे शासन-व्यवस्थाओ और एकराट्तत्रो का विनाश और सरक्षण हुआ करता है।

प्लातोन की पौलितेइया (रिपब्लिक) नामक पुस्तक मे साक्रातेस ने क्रान्तियो (परिवर्तनो) का वर्णन किया है पर वह वर्णन ठीक नही है। प्रथम तो वह यही नही बतला सका है कि उसकी आदर्श अथवा प्रथम (श्रेष्ठ) व्यवस्था मे परिवर्तन उत्पन्न करनेवाला विशिष्ट कारण क्या है। वह केवल इतना ही बतलाता है कि कारण यह है कि (ससार मे) कोई वस्तु सर्वदा स्थायी नही रहती, किसी नियत समय पर सब वस्तुएँ बदल जाती है। इसके आगे वह कहता है कि इस परिवर्तन का मूलारभ ऐसी सख्याओ से होता है जिनमे ४ के प्रति ३ का वर्गमूलात्मक अनुपात ५ के साथ विवाहित (सबद्ध) होने पर दो सवादिताओ को प्रस्तुत करता है; उसके कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसा तब होता है जब कि आकृति का अकात्मक मूल्य घन हो जाता है।[७] उसका विचार यह है कि (जब मनुष्य सन्तति-प्रजनन-कार्य मे आदर्श गणित-सिद्धान्त का अनुसरण नही करते तो) कभी ऐसी गुणहीन सन्तानो का जन्म हुआ करता है जो शिक्षा के अनुशासन मे नही आती (अथवा जो शिक्षा को ग्रहण करने की योग्यता नही रखती।) स्यात् यह विचार स्वत गलत नही है, क्योकि ऐसे कुछ मनुष्यो का होना बिलकुल सभव है जो कि सभवतया सुशिक्षित और भलेमानस नही बनाये जा सकते।[८] पर परिवर्तन का यह कारण, अन्य सब प्रकार की व्यवस्थाओ के प्रसग में सामान्यतया लागू होने की अपेक्षा, अथवा ससार मे उत्पन्न होनेवाली सभी वस्तुओ के सबध मे लागू होने की अपेक्षा, उसके द्वारा रिपब्लिक मे वर्णित श्रेष्ठ अथवा आदर्श नगर-व्यवस्था के विषय में ही क्यो विशेष प्रकार से लागू होना चाहिये? और क्या समय के कारण, (जो कि सब वस्तुओ में परिवर्तन उत्पन्न करता कहा जाता है)[९] यह भी सभव है कि जिन वस्तुओं की उत्पत्ति एक साथ न हुई हो उनमे एक साथ परिवर्तन उत्पन्न हो जाय? उदाहरण के लिये क्या, जो वस्तु नियत कालवृत्त के परिवर्तन से एक दिन पहले उत्पन्न हुई है वह अपने से पूर्व उत्पन्न हुई वस्तुओ के साथ परिवर्तन को प्राप्त होगी?

और फिर, आदर्श अथवा श्रेष्ठ नगर-व्यवस्था, किस कारण से, बदलने पर लाकैदायमॉन (स्पार्टा) की व्यवस्था का ही रूप ग्रहण करेगी? सभी व्यवस्थाएँ बदलने पर सजातीय रूप ग्रहण करने की अपेक्षा बहुधा विरोधी रूप ग्रहण किया करती हैं। इसी प्रकार प्लातोन ने जो अन्य परिवर्तनो का विवरण उपस्थित किया है—अर्थात् उसने जो लाकैदायमॉन व्यवस्था से अल्पजनतत्र (धनिकतत्र), धनिकतत्र से प्रजातत्र, प्रजातत्र से तानाशाही के रूपान्तरो का वर्णन किया है उनके विषय में भी यही तर्क लागू होता है। इससे बिलकुल उलटे क्रम मे परिवर्तन होने की भी इतनी ही सभावना है, उदाहरणार्थ जनतंत्र धनिकतत्र के रूप में परिवर्तित हो सकता है एव एक जनतंत्र

के रूप मे परिवर्तित होने की अपेक्षा इसका धनिकतत्र मे परिवर्तित होना अधिक सभव-पर है।

इसके अतिरिक्त, अधिनायकतत्रो के विषय मे वह कभी (कही) यह नही बतलाता कि उनमे भी परिवर्तन होता है या नही, और न यही बतलाता है कि यदि उनमें फेरफार होता है तो किन कारणो से होता है और वे किन व्यवस्थाओ के रूप में बदल जाते हैं। इस चुप्पी का कारण यह है कि इस विषय मे कोई भी विवरण देना सरल नही था। उसकी युक्तियों मे इस समस्या के समाधान के लिये नियम-निर्देश नही थे। क्योकि उसकी तर्कसरणि के अनुसार तो परिवर्तन की शृखला और क्रमचक्र की पूर्ति के लिये अधिनायकतत्र को लौटकर प्रथम और श्रेष्ठ व्यवस्था के रूप में बदल जाना चाहिये।[10] पर जहाँ तक वास्तविकता का सबघ है एक अधिनायकतत्र दूसरे प्रकार के अधिनायकतत्र के रूप मे बदल जा सकता है, जैसे कि सिकीयोन नगर का अधिनायक-तत्र मीरो[11] के अधिनायकतत्र से क्लैइस्थिनीस के अधिनायकतत्र में बदल गया। यह (अधिनायकतत्र) बदलकर धनिकतत्र (अल्पजनतत्र) भी हो सकता है, जैसा खाल्किस में अन्तिलियौन्[12] के अधिनायक के विषय में हुआ। इसका रूपान्तर जन-तत्र में भी होना संभव है जैसे कि सिराकूस नगर में गैलो के अधिनायकतत्र के विषय में हुआ। तथा यह बदलकर श्रेष्ठजनतत्र भी बन सकता है, जैसे कि लाकैदायमॉन् में खारीलौस[13] के अधिनायकतत्र और कार्खीदौन्[14] (कार्थेज) नगर के अधिनायक-तत्र के विषय में हुआ। और फिर अधिनायकतत्र धनिकतत्र के पश्चात् उत्पन्न हो सकता है (न कि जनतंत्र के पश्चात् जैसा प्लातोन ने सुझाया है), जैसा कि सिकैलिया (सिसिली) के बहुत से प्राचीन धनिकतत्रो के विषय मे घटित हुआ। उदाहरण के लिये लियौन्तिनी नगर में धनिकतत्र के पश्चात् पनाएतियस्[15] का अधिनायकतत्र स्थापित हुआ, गैला नगर में धनिकतत्र का उत्तराधिकारी क्लियान्द्रॉस् का अधिनायकतत्र हुआ, एव रेगियम् नगर का धनिकतत्र अनाक्षीलाउस् के अधिनायकतत्र के रूप में बदल गया।[16] और भी बहुत से अन्य नगरो में परिवर्तन का क्रम इसी प्रकार का रहा है।

प्लातोन का यह विश्वास करना "कि (स्पार्टा के ढग की व्यवस्था का) धनिकतत्र में बदल जाना केवल शासनाधिकारियो के धनलोलुप और धनोपार्जक हो जाने के कारण होता है न कि अधिक सम्पत्तिशाली लोगो की इस धारणा के कारण होता है कि अत्यन्त निर्धन लोगो का भी शासन-कार्य में उन धनी लोगों के बराबर भाग होना अन्याय है" बड़ी विचित्र (बेहूदा)[17] सी बात लगती है। वास्तविकता यह है कि बहुत से धनिक-

तन्त्रो मे लाभार्जन का निषेध है और इस (लाभार्जन) को रोकने के लिये विशिष्ट नियम है। पर कार्खीदोन मे, जिसका शासन जनतन्त्रात्मक प्रकार का है, लाभार्जन का प्रचलन है, तो भी वहाँ की शासन-व्यवस्था के रूप मे अभी तक कुछ भी क्रान्ति (परिवर्तन) नही हुई है। फिर प्लातोन का यह कहना भी मूर्खतापूर्ण (बेहूदा) है कि अल्पतन्त्रात्मक दो राष्ट्रो से मिलकर घटित होता है जिनमे से एक धनवानो का राष्ट्र होता है और एक निर्धनो का। क्या अल्पजनतन्त्र मे यह द्विधापरक लक्षण लाकैदायमॉन की शासन-व्यवस्था की अपेक्षा, अथवा अन्य उन सब राष्ट्रो की अपेक्षा, जिनमे सब बराबर सम्पत्तिशाली अथवा सब एक समान भलेमानस नही होते, कुछ अधिक मात्रा मे पाया जाता है? पूर्वापेक्षा बिना किसी मनुष्य के अधिक निर्धन हुए भी यदि निर्धनो की सख्या अधिक हो जाय तो सब कुछ पूर्ववत् रहते हुए भी इतने मात्र से ही अल्पजनतन्त्र कुछ कम प्रजातन्त्र मे परिणत नही हो जायगा। और इसी प्रकार यदि धनवान् लोग निर्धन लोगो की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो, तथा निर्धन लोग (निश्चिन्त) असावधान हो और सम्पत्तिवान् लोग दत्तचित्त हो तो प्रजातन्त्र भी धनिकतन्त्र मे परिणत हो जायगा।

जिन कारणो से यह परिवर्तन (धनिकतन्त्र की प्रजातन्त्र मे परिणति) घटित होता है वे बहुत से है, पर प्लातोन ने उनका वर्णन नही किया, केवल एक कारण का उल्लेख किया है—अर्थात् लोगो का अपव्यय के कारण ऋणी होकर निर्धन हो जाना—मानो वह यह मानता है कि सब मनुष्य अथवा अधिकाश मनुष्य आरभ मे धनवान् होते है। पर यह बात वितथ है। तथ्य यह है कि जब कोई नेता लोग अकिचन हो जाते है तो वे क्रान्तिकारी बन जाते है पर जब अन्य लोग अपनी सम्पत्ति गँवाकर अकिचन हो जाते है तो कोई भयावह परिणाम नही होता। और तब भी जो परिवर्तन उपस्थित होता है उसके अन्य किसी प्रकार की व्यवस्था का रूप ग्रहण करने की अपेक्षा जनतन्त्र के रूप को ग्रहण करने की अधिक सभावना कभी नही होती। इसके अतिरिक्त, चाहे प्लातोन के मतानुसार मनमाना करने की स्वाधीनता की अति के कारण धन का अपव्यय न भी हुआ हो, तथापि यदि प्रजाजनो को नागरिक सम्मान मे भाग न मिले, उनके प्रति अन्याय किया जाय, अथवा उनका अपमान हो तो वे विद्रोह कर बैठते है और शासन-व्यवस्था को बदल देते है।

(अन्तिम बात यह है कि) यद्यपि धनिकतन्त्रो और प्रजातन्त्रो के बहुत से भेद है, तथापि सॉक्रातेस उनके परिवर्तनों का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत करता है मानो इनमें से प्रत्येक केवल एक एक प्रकार ही हो।

टिप्पणियाँ

१. न्यूमैन् एवं अन्य सम्पादको ने इस खड के प्रारंभिक भाग को क्षेपक मानकर कोष्ठक में बन्द कर दिया है। अनुवाद में भी हमने ऐसा ही किया है।

२. सिकीयौन् मैगारा के उत्तर-पश्चिम में है।

३. क्लैइस्थिनी (ने) स् औरथागोरस् का प्रपौत्र था। यह ऑर्गस् का कट्टु-विरोधी था। इसका समय ई० पू० छठी शताब्दी है।

४. कौरिन्थ नगर सिकीयौन् से दक्षिण पूर्व की ओर है।

५. पैइसिस्त्रातस् का वर्णन अथेन्स के संविधान में विस्तार के साथ किया गया है।

६. इस विवरण में उन तानाशाहियों का वर्णन नहीं दिया गया है जो अरिस्तू के समय में विद्यमान थीं और पर्याप्त दीर्घ जीवन प्राप्त कर चुकी थीं। इसी कारण इस विवरण की प्रामाणिकता में सन्देह है।

७. इस उद्धरण के विस्तृत विवरण के लिए प्लातोन की "आदर्श नगर-व्यवस्था" (रिपब्लिक के हिन्दी अनुवाद) की आठवीं पुस्तक का तासरा खंड पृष्ठ ५०६–५०९ देखिये। यह पुस्तक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुई है। यद्यपि इस प्रजनन के गणितशास्त्र के विषय में विद्वानो ने पर्याप्त माथापच्ची की है पर इसका कोई हल नहीं निकल सका है।

८. प्लातोन का भाव यह था कि शासकों को विवाह और सन्तति-नियमन के द्वारा सुसन्तति उत्पन्न करनी चाहिये।

९. यह प्लातोन के प्रति अन्याय है। प्लातोन का भाव यह नहीं था। उसका भाव यह था कि गणित के शाश्वत नियमों की अवहेलना की जायगी तो सभी वस्तुएं कालान्तर में बदल जायेंगी।

१०. प्लातोन ने इस प्रकार की चक्राकार गति का संकेत किया है। चक्र के लिये यूनानी भाषा में किक्लॉस् शब्द आया है जो उसका सजातीय है।

११. मीरो नाम के दो व्यक्ति हुए हैं एक क्लैइस्थिनीस् का दादा था, दूसरा उसका भाई था। यहाँ भाई की ओर संकेत है।

१२. अन्तिलियौन् के विषय में केवल इतना ही ज्ञात है जितना यहाँ दिया हुआ है।

१३. खारीलौस् के शासन को कुछ लोगो ने मृदुल बतलाया है और कुछ ने अत्यन्त कठोर। अरिस्तू दूसरे मत को मानता प्रतीत होता है।

१४. यह बात अरिस्तू के एतद्विषयक पूर्वकथन के विरुद्ध है।

१५. पनाएतियस् के विषय में लिखा जा चुका है।

१६. लियोन्तिनी और गेला दोनों नगर सिसिली द्वीप के दक्षिण भाग में हैं। रेगियम् इटली के दक्षिण में है और इसको सिसिली से छोटी पतली सी जलप्रणाली पृथक् करती है।

१७. बेहूदा के लिये मूल अतौपॉन् शब्द आया है जिसका अर्थ बेहूदा या मूर्खता-पूर्ण होता है। संस्कृत में इसका अनुवाद अ-स्थाने किया जा सकता है।

वि० संक्षेप में अरिस्तू का कहना यह है कि व्यवस्थाओ के परिवर्त्तन के कारण, पद्धति और क्रम इतनी सीधी सरल बात नहीं है जितना उसको प्लातोन ने माना है। अरिस्तू वास्तविकता का भक्त है; उसको अवास्तविक सरलीकरण ग्राह्य नहीं है।

प्रस्तुत खंड कुछ अधिक सुव्यवस्थित रचना प्रतीत नहीं होता। इसमें कुछ बातें तर्कसंगत नहीं हैं और कुछ पूर्वापर-विरोधी हैं। अन्तिम वाक्य भी अधूरा ही छूट गया है।

छठी पुस्तक

१

प्रजातंत्र के प्रकार

हम राष्ट्र के विचार परिषद् के, जो कि व्यवस्था का सर्वोपरि सत्ताशाली अग है, शासनकारी पदो की सघटना के तथा न्यायालयो के विभिन्न प्रकारों की सख्या एव उनके स्वरूपो का विवरण प्रस्तुत कर चुके। इसी सबध मे हमने प्रत्येक प्रकार की शासन-व्यवस्थाओके लिये उपर्युक्त अगो के समुचित प्रकारो का भी विचार कर लिया।[१] इसके अतिरिक्त विविध प्रकार की शासन-व्यवस्थाओ का विनाश और रक्षण किस प्रकार से और किन कारणो से हुआ करता है इसका भी विचार हम कर चुके।[२]

प्रजातत्र के एव अन्य प्रकार की शासन-व्यवस्थाओ के बहुत से भेद होते है, अतएव अब हमको इस प्रत्येक भेद के विषय मे जो कुछ कहना शेष रह गया है उसका विचार कर लेना चाहिये, विशेषकर इस बात का विवेचन कर लेना अच्छा होगा कि इनमे से प्रत्येक भेद के लिये सघटना का कौन-सा ढग समुपयुक्त और लाभदायक (सुविधापूर्ण) होगा। इसके अतिरिक्त इन उपर्युक्त तीन (अगो) या शक्तियो की सघटना के जो समग्र ढग हो सकते है उनके सभी सभव सयोगो का भी विचार हमको अवश्य करना चाहिये, क्योकि इस प्रकार के सयोगो के परिणाम-स्वरूप शासन-व्यवस्थाएँ परस्पर उपहित (सश्लिष्ट) हो जाती है—परिणामत श्रेष्ठजनतत्र में धनिकतत्र के लक्षणो का सम्मिश्रण हो जाता है तथा "व्यवस्थातत्र" बहुत कुछ जनतत्र की ओर झुकता पाया जाता है।

वे (सभव) सयोग, जिनका विचार किया जाना चाहिये पर अभी तक किया नही गया है, निम्नलिखित उदाहरणो से स्पष्ट हो जायगे। जसे, विचार-परिषद् की सघटना और शासन-पदाधिकारियो के चुनाव का ढग तो धनिकतत्र पर आश्रित हो, तथा न्यायालयो की सघटना का आधार श्रेष्ठजनतत्रात्मक हो, अथवा, न्यायालयो और विचार-परिषद् की सघटना धनिकतत्र पर आश्रित हो और शासनाधिकारियो के चुनाव का ढग श्रेष्ठजनतत्र के आधार पर निर्भर हो, अथवा अन्य कोई ढंग जिसमे कि व्यवस्था के सब अगो मे पूर्ण सुसगतता न हो पाये।

किस प्रकार का प्रजातत्र किस प्रकार के नगर के लिये अनुरूप होता है, किस प्रकार का धनिकतत्र किस प्रकार के समाज के लिये उपयुक्त होता है , तथा शेष व्यवस्थाओ मे से कौन-सी व्यवस्था कौन-सी जनता के लिये ठीक होती है, यह सब बाते हम पहले ही बता चुके है।[3] तथापि केवल इतना ही स्पष्ट नही किया जाना चाहिये कि प्रत्येक नगर-राष्ट्र के लिये उपर्युक्त व्यवस्थाओ मे से कौन-सी व्यवस्था श्रेष्ठ है, प्रत्युत हमको सक्षेप मे यह भी विचार कर लेना है कि इन व्यवस्थाओ और अन्य व्यवस्थाओ की स्थापना किस प्रकार की जा सकती है। सबसे प्रथम हम प्रजातत्र से आरभ करे, ऐसा करने से इसके विपरीत व्यवस्था, (जिसको सामान्यतया धनिकतत्र के नाम से पुकारा जाता है) का स्वरूप भी स्वत स्पष्ट हो जायगा। इस अनुसधान के निमित्त हमको प्रजातत्र के सब तत्त्वो को ग्रहण करना चाहिये, एव उन लक्षणो का भी सग्रह करना चाहिये जो जनतत्र का अनुसरण करनेवाले समझे जाते है, क्योकि इन्ही के सयोग से प्रजातत्रात्मक शासन-व्यवस्थाओ के विविध प्रकारो की उत्पत्ति सभव हुआ करती है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जायगी कि प्रजातत्र के एक से अधिक भेद क्यो है तथा वे किस कारण एक दूसरे से पृथक् है।

प्रजातत्र के अनेक भेद क्यो होते है, इसके दो कारण है। इनमे से एक का वर्णन तो पहले ही किया जा चुका है[4]—यह है विभिन्न राष्ट्रो की जनता के लक्षणो की विभिन्नता। कही जनता मे अधिक सख्या कृषको की होती है, कही शिल्पियो की और कही प्रतिदिन मजदूरी करनेवाले श्रमिको की। (इनसे जिन प्रजातत्रो की सघटना होती है वे एक दूसरे से भिन्न होते है)पर यदि इनमे से प्रथम का दूसरे के साथ सयोग हो जाय और फिर पीछे तीसरे का इन दोनो से योग हो जाय तो इससे जिस जनतत्र की उत्पत्ति होती है वह केवल अच्छे या बुरे होने के कारण भिन्न नही होता प्रत्युत वह भिन्नता दो निसर्गत (नितान्त) भिन्न वस्तुओ की भिन्नता होती है।[5] (अर्थात् उनमे गुणकृत नही स्वभावकृत भेद उत्पन्न हो जाता है।) दूसरा कारण, जिसका अब वर्णन करना है, निम्नलिखित है , उन लक्षणो के (जो कि जनतत्र का अनुसरण करते है और उसके अपने गुण माने जाते है) विभिन्न सयोगो से भी जनतत्र विविध प्रकार का हो जाता है। जनतंत्र के किसी एक प्रकार मे इनमे से थोडे से गुण पाये जाते है, दूसरे मे कुछ अधिक और तीसरे मे यह सभी पाये जा सकते है। जनतत्र के इन सब लक्षणो का पृथक् पृथक् ज्ञान प्राप्त कर लेना दोनो ही प्रकार से उपयोगी है, उस नवीन प्रकार के जनतत्र की स्थापना के लिये भी जिसको कोई दैवात् सघटित करना चाहता है, तथा किसी पूर्व-स्थित जनतंत्र के सुधार के लिये भी। जो लोग शासन-व्यवस्था के निर्माण में सलग्न

होते है उनका यह उद्योग हुआ करता है कि जिम भावना पर व्यवस्था आश्रित होती है तत्सबधी सभी लक्षणो को एक साथ इकट्ठा कर लिया जाय।[६] पर, जैसा कि शासन-व्यवस्थाओ के विनाश और सरक्षण का विवरण उपस्थित करते समय हम पहले ही बतला चुके है, ऐसा करना भारी भूल है।

अब हम उपर्युक्त प्रकार की व्यवस्था (प्रजातत्र) के आधारभूत सिद्धान्त, नैतिक स्वभाव और उद्देश्यो का वर्णन करेगे।[७]

टिप्पणियाँ

१. पुस्तक ४ के १४-१६ खंडो में।

२. पुस्तक ५ में।

३. पुस्तक ४, खंड १२ में।

४. पुस्तक ४, खंड ४, ६ और १२ में तथा आगे इसी छठी पुस्तक के खड ४ में।

५. केवल एक वर्ग का जनतंत्र मिश्रित वर्गों के जनतत्र से भिन्न प्रकार का होता है।

६. देखो पुस्तक ५ खंड ९। पर ऐसा करना स्वयं उस व्यवस्था के हित में नहीं है।

७. आधारभूत सिद्धान्त (अक्षियम्), नैतिक स्वभाव और उद्देश्य इन तीनों से मिलकर किसी भी प्रकार की व्यवस्था की भावना अथवा धारणा का चित्र उपलब्ध होता है और लक्षणों से उसके व्यवहार का।

वि० पाँचवीं पुस्तक में व्यवस्थाओ के विनाश और संरक्षण के कारणो तथा उपायों का विवेचन किया गया। अब विभिन्न व्यवस्थाओं को सुरक्षित रखनेवाली उनकी संघटन-विधि का विचार किया जायगा। इस विवरण की दृष्टि से ४थी और ५वीं पुस्तकें पूर्वपुस्तको के नाम से अभिहित की जायगी।

२

स्वतंत्रता और समानता

प्रजातत्रात्मक शासन-व्यवस्था की मूलभूत भावना है "स्वतत्रता"। सामान्यतया यह कहा जाता है कि इस "स्वतत्रता" का उपभोग केवल इसी (प्रजातत्रात्मक) शासन-व्यवस्था मे किया जा सकता है—और प्रायेण यह भी कहा जाता है कि सब प्रजातत्रों का यही लक्ष्य है। स्वतत्रता के बहुत से प्रकारो में से एक प्रकार यह (भी) है

कि बारी बारी से शासित और शासक होना , एव जनतत्रात्मक न्याय की भावना है सख्यानुसार समानता को प्राप्त करना, न कि योग्यता के अनुपात में समानता को प्राप्त करना। न्याय की इस (सख्यात्मक) भावना के आधार पर जनसमूह ही अनिवार्यतया सर्वोच्च सत्ताधारी होना चाहिये , तथा जो कुछ बहुसख्यक जनता को प्रिय लगे वही चरम लक्ष्य और न्याय होना चाहिये । यह कहा जाता है कि प्रत्येक नागरिक को (अन्य नागरिको की) बराबरी प्राप्त होनी चाहिये । इसका परिणाम यह होता है कि (क्योकि निर्धन लोगो की सख्या अधिक होती है और बहुमत ही सर्वोपरि होता है) प्रजातत्र मे निर्धन लोग धनवानो की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते है। यह स्वतत्रता का प्रथम (एक) चिह्न है जिसको सभी प्रजातत्रवादी अपने इष्ट शासनतत्र का लक्ष्य बनाने के विषय मे एकमत है। स्वतत्रता का दूसरा रूप (नागरिक) है, प्रत्येक व्यक्ति जैसा चाहे वैसा जीवन-यापन कर सके । उन (प्रजातत्रवादियो) का कहना है कि इस प्रकार का जीवन स्वतत्र मनुष्य की विशिष्ट वृत्ति है, जिस प्रकार दास के जीवन की वृत्ति जैसा चाहे वैसा जीवन व्यतीत न कर सकना है । यह जनतत्र का दूसरा लक्षण है । इसका परिणाम यह निकलता है कि आदर्शरूपेण (अथवा जहाँ तक सभव हो) मनुष्य किसी से भी शासित न हो, पर यदि ऐसा सभव न हो तो वह पर्यायक्रम से शासन करे और शासित हो । यह दूसरा लक्षण इस प्रकार से समानता के आधार पर आश्रित स्वतत्रता के प्रति अशदान प्रदान करता है।

ऐसी तो इस प्रजातत्र की आधारभूत भावना है और ऐसा इसका आदिमूल है जिससे इसका विकास होता है (अतएव) इन्ही तथ्यो के आधार पर हम अब इसके घटक लक्षणो अथवा सस्थाओ का विवेचन आरभ कर सकते है । (शासनकार्य-सपादन विभाग मे) शासनपदाधिकारी सब जनता मे से सबके द्वारा चुने जाते है , सब प्रत्येक व्यक्ति पर शासन करते है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी बारी आने पर सब पर शासन करता है । सब पदो पर, अथवा कम से कम ऐसे पदो पर, जिनके लिये अनुभव-विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता नही होती, गुटिका द्वारा नियुक्ति होती है, शासन-पदो के लिये या तो बिलकुल ही आर्थिक योग्यता आवश्यक नही होती, अथवा बहुत ही कम आर्थिक योग्यता आवश्यक होती है । एक ही व्यक्ति एक ही पद पर दो बार अथवा अधिक बार आरूढ नही हो सकता, अथवा सैनिक-विभाग के पदो को छोडकर इस नियम के बहुत कम अपवाद है । या तो सभी पदो का या जितने अधिक से अधिक पदो का (सभव हो) कार्यकाल बहुत थोडा होना चाहिये । (न्यायविभाग मे) सार्वजनिक न्यायालयो की प्रथा हुआ करती है, जो समग्र जनता द्वारा घटित होते है 'अथवा सारी जनता मे से

चुने हुए व्यक्तियो द्वारा घटित होते है, जिनको सभी बातो (मामलो) का निर्णय करने का अधिकार होता है, अथवा अधिकाश बातो का (जो अत्यन्त महान् तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है, जैसे कि सरकारी बहीखातो की पडताल, शासन-व्यवस्था सबधी मामले तथा व्यक्तिगत ठेके और ठहराव इत्यादि का) निर्णय करने का अधिकार होता है। विचार-परिषद् अथवा मत्रणा-परिषद् के विषय मे यह नियम है कि यह सब विभागो के ऊपर सत्ताशालिनी होती है, अथवा कम से कम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बातो मे तो इसकी सत्ता सर्वोपरि होती ही है, इसके प्रतिकूल शासनकार्यवाहो (मजिस्ट्रेटो) को किसी विषय पर सत्ता प्राप्त नही होती—अथवा कम से कम विषयो पर प्राप्त होती है।

शासनकार्य-विभाग मे सबसे अधिक जनतत्रात्मक (जनप्रिय) सस्था (जहाँ कही, विचार-परिषद् मे सब मनुष्यो की उपस्थिति के लिये वेतन देने के लिये पर्याप्त धन नही होता) कार्यसमिति होती है।[२] पर जहाँ (विचार-परिषद् मे उपस्थित होने के लिये समग्र) जनता को वेतन या भृति देने की पर्याप्त व्यवस्था होती है वहाँ कार्यसमिति अपनी सत्ता (शक्ति) से वचित हो जाती है, क्योकि जहाँ साधारण जनता को वेतन मिला वे (तत्काल) सब बातो का निर्णय अपनी मुट्ठी मे करना आरभ कर देते है, जैसा कि मै एक पूर्व अधिकरण की विवेचना मे वर्णन कर चुका हूँ।[३] यह वेतन की व्यवस्था प्रजातत्र का एक और विशिष्ट लक्षण है। अधिक अच्छी बात (आदर्शस्थिति) यह मानी जाती है कि सबको—विचार-परिषद् (नगरसभा), न्याय-परिषद् तथा शासनकार्यवाह मण्डल (मजिस्ट्रेट) को—यथासभव वेतन मिले। पर यदि ऐसा सभव न हो तो कम से कम न्यायालय, समिति, तथा परिषद् की नियत बैठको मे उपस्थित होने के लिये, और शासनपदाधिकारियो की उपसमितियो मे सेवार्थ उपस्थित होने के लिये, अथवा कम से कम ऐसी उपसमितियो मे उपस्थिति के लिये जिनके सदस्यो के लिये सहभोज अनिवार्य है, भृति अवश्य मिलनी चाहिये। (फिर इसके अतिरिक्त जब कि धनिकतत्र के लक्षण है आभिजात्य, सपन्नता और सस्कृति=शिक्षा, जनतत्र के लक्षण इसके विपरीत नीचे कुल मे जन्म, निर्धनता और गँवारूपन है)।[४] प्रजातत्र का एक अन्य लक्षण आजीवन (सार्वकालिक) पदाधिकार का न होना है, अथवा यदि पुरातन शासन-व्यवस्था के परिवर्तन-काल से कोई ऐसे आजीवन पदाधिकार शेष बच रहे हो तो उनकी शक्ति को सर्वत कम कर देना चाहिये तथा इन पदो पर गुटिका द्वारा नियक्ति की जानी चाहिये, मतदान द्वारा नही।

यह उपर्युक्त लक्षण सब प्रजातत्रो मे सामान्य रूप से पाये जाते है। पर जनतत्र और जनता जैसे कि वह अपने सामान्यतया ठीक समझे जानेवाले रूप मे माने जाते है उस प्रजातत्रात्मक न्याय की भावना के साथ सबध रखते है जो सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त है---अर्थात् सख्या के आधार पर सबके अधिकारो की समानता। इसका अर्थ यह नही है कि निर्धन लोगो को धनवानो की अपेक्षा शासनकार्य का अधिक भाग प्राप्त होना चाहिये, दूसरे शब्दो मे यह कह सकते है कि समग्र शासनसत्ता केवल निर्धन लोगो के ही हाथ मे नही होनी चाहिये प्रत्युत सख्या के आधार पर सत्ता सब मे बराबर बॅटी होनी चाहिये। इस व्याख्या के आधार पर ही (प्रजातत्र के पक्षपाती) मान ले सकते है कि उनकी शासन-पद्धति के द्वारा समानता और स्वतत्रता प्राप्त कर ली गई है।

टिप्पणियाँ

१. विचारपरिषद् के लिये "एक्लेसिया" शब्द का प्रयोग किया गया है।

२. कार्य-समिति के लिये मूल में "बूले" शब्द आया है। अथेन्स की 'बूले' के सदस्यो की संख्या ५०० थी।

३. पुस्तक ४ खंड १५ में।

४. इस वाक्य को प्रक्षिप्त समझा जाता है।

३

समानता की उपलब्धि के उपाय

इसके उपरान्त यह प्रश्न आता है कि "इस समानता को वास्तविकता मे किस प्रकार प्राप्त किया जाय ?"[१] क्या ५०० धनवान् मनुष्यो की सम्पत्ति को १००० निर्धन मनुष्यो मे बॉट देना चाहिये और क्या हमको ५०० और १००० व्यक्तियो को समान मतदान की शक्ति प्रदान कर देना चाहिये ? अथवा यदि इस ढग को स्वीकार न किया जाय, तो भी क्या हमको इस समानता को स्थिर रखना चाहिये, पर विभाजन इस प्रकार करना चाहिये कि बराबर बराबर सपत्तिवाले इन पॉच सौ और १००० व्यक्तियो के जत्थो मे से बराबर बराबर सख्या मे प्रतिनिधि चुन लिये जायँ और इन प्रतिनिधियो को ही (शासन-पदाधिकारियो) के चुनाव तथा न्यायालयो पर अधिकार दे दिया जाय ? तो क्या इस प्रकार की शासन-व्यवस्था, प्रजातत्र द्वारा गृहीत न्याय की धारणा के अनु-

सार अधिक न्यायोचित है अथवा वह व्यवस्था जो कि केवल सख्या के आधार पर आश्रित है ? (क्योकि उपर्युक्त दोनो सुझावो में व्यवस्था सपत्ति पर आश्रित है।) प्रजातत्रवादी इस प्रश्न के उत्तर मे कहते है कि न्याय वह है जिसके पक्ष मे बहुमत हो, धनिकतत्रवादी कहते है कि जिसके पक्ष मे सम्पत्तिशालियो का बहुमत हो वह न्याय है, वे यह भी कहते है कि निर्णय सपत्ति की मात्रा के आधार पर किये जाने चाहिये। इन दोनो ही सिद्धान्तो मे कुछ असमानता और अन्याय (अनौचित्य) है। क्योकि यदि अल्पमत की इच्छा ही न्याय हो तो इसका परिणाम अन्ततोगत्वा अधिनायकतत्र होगा, और यह इस प्रकार कि यदि हम धनिकतत्री न्याय की धारणा का अन्त तक अनुसरण करे और उसके तर्कसम्मत परिणाम का विचार करे तो उस व्यक्ति को अकेले शासन करने का अधिकार मिलेगा जो अन्य व्यक्तियो की समग्र सम्पत्ति से भी अधिक सम्पत्ति का स्वामी हो। दूसरी ओर यदि बहुमत की इच्छा ही न्याय हो तो, जैसा कि हम पहले ही कह चुके है, यह बहुमत निश्चयमेव अन्यायपूर्वक काम करेगा और अल्पमतवाले सम्पत्तिशाली लोगो की सम्पत्ति का अपहरण कर उसको सार्वजनिक सपत्ति बना देगा।

दोनो पक्षो द्वारा प्रतिपादित न्याय की परिभाषाओ को दृष्टि मे रखते हुए अब हमको यह देखना चाहिये कि वह कौन सी समानता हो सकती है जिसके विषय मे दोनो पक्ष एकमत हो ? दोनो पक्षो का एक मत से कहना है कि नागरिको के बहुमत की इच्छा सर्वोपरि होनी चाहिये। यह बात हमको स्वीकार है—पर पूर्णतया नही, क्योकि राष्ट्र दो वर्गो—धनिक वर्ग और निर्धन वर्ग—से घटित होता है, अतएव हम दोनो वर्गो की इच्छा को अथवा दोनो के बहुमत को सर्वोपरि सत्ता मान सकते है। पर यदि दोनो पक्षो का मत परस्पर विरोधी हो तो हम ऐसे बहुमत को सर्वोपरि सत्ताशाली मानेगे जो अधिकाश सपत्ति का भी स्वामी होगा। उदाहरण के लिये मान लो कही १० व्यक्ति धनवान् है और २० निर्धन, अब कल्पना करो कि धनवानो में से ६ ने निर्धनो मे १५ के विरुद्ध मत (निर्णय) दिया है, इसका तात्पर्य यह निकला वि धनवानो मे से ४ का अल्पमत निर्धनो मे से १५ के बहुमत के साथ एकमत है और निर्धनो मे से ५ का अल्पमत धनवानो के बहुमत के साथ सहमत है। ऐसी स्थिति मे वह पक्ष सर्वोपरि सत्ताशाली माना जाना चाहिये जिसके सदस्य या घटक दोनो तत्त्वो के जोडने पर दूसरे पक्ष के सदस्यो अथवा घटको की अपेक्षा अधिक सपत्तिशाली हो। यदि दोनो पक्ष पूर्णतया समान हो तो अवरोध उत्पन्न हो जायगा, पर यह कठिनाई तो वैसी ही कठिनाई होगी (उससे अधिक बुरी कठिनाई नही होगी) जैसी आजकल नगर-परिषद् अथवा न्यायालय मे दो समान पक्षो में मत-विरोध उत्पन्न होने पर

सामान्यतया उत्पन्न हो जाया करती है। ऐसी परिस्थिति मे गुटिका द्वारा अथवा किसी ऐसे ही अन्य उपाय द्वारा निर्णय करना पडता है।

परन्तु फिर भी यद्यपि समता और न्याय के प्रसग मे सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से सत्य को खोज निकालना कठिन काम है, पर शक्तिशाली लोगो को अपने भाग से अधिक न हडप लेने को मनाने की अपेक्षा यह कार्य सरलतर है, क्योकि दुर्बल लोग सर्वदा समता और न्याय के लिये अनुसधान करते रहते है पर बलवान् लोग इन दोनो मे से किसी की तनिक भी चिन्ता नही करते।

टिप्पणी

१. इस विषय मे अरिस्तू का सुझाव यह है कि साम्पत्तिक योग्यता की पड़ताल करके सब नागरिकों के जत्थे बना देने चाहिये जो अपने समूह में से इष्ट मात्रा में कर प्रदान करेंगे और शासन मे प्रतिनिधित्व प्राप्त करेंगे। इस प्रकार की प्रथा ई० पू० ३७७ में अथेन्स में प्रचलित थी। सारी नागरिक जनता की साम्पत्तिक क्षमता १४ लाख पौड कूती गई थी और जनता १०० जत्थो में बॉट दी गई थी। यह जत्थे समान मात्रा में कर प्रदान करते थे। मान लीजिये कि जत्था ऐसे व्यक्तियो का था जिसमें से प्रत्येक व्यक्ति की साम्पत्तिक योग्यता १४० पौड थी और दूसरा जत्था ऐसा था जिसमें प्रत्येक की आर्थिक योग्यता ३५ पौंड थी तो प्रथम जत्थे के मनुष्यो की संख्या दूसरे जत्थे के मनुष्यो की संख्या से $\frac{1}{4}$ होगी।

४

जनतत्रो की स्थापना की विधियाँ

प्रजातत्र के चार प्रकारो मे से सर्वोत्तम प्रकार वह है जो (जैसा कि हमारे विवेचन मे पहले ही बतलाया जा चुका है) इनके वर्गीकरण मे सबसे प्रथम आता है।[१] यही सब प्रकारो मे सबसे पुराना भी है। मै उसको प्रथम जो कह रहा हूँ वह तो विभिन्न प्रकार की जनता के कोटिक्रम के अनुसार कह रहा हूँ। सर्वोत्तम जनता कृषक लोगो से घटित होती है[२], कारण यह है कि जहाँ अधिकाश जनता कृषि द्वारा अथवा पशु-चारण द्वारा जीवन-यापन करती है वहाँ जनतत्र का निर्माण सरल कार्य होता है (शब्दश वहाँ प्रजातत्र बनाना सभव होता है।) क्योकि इन लोगो के पास अधिक धन नही होता

इसलिए उनके पास अवकाश नही होता (वे प्राय कार्यो मे सलग्न रहते है) और इसी कारण वे प्राय परिषदो के रूप मे एकत्रित नही होते। उनके पास जीवन की आवश्यकताएँ न होने के कारण वे अपना सारा समय काम मे लगे हुए व्यतीत किया करते है तथा दूसरो की सपत्ति के प्रति ईर्ष्यालु नही होते। वास्तव मे उनको तो राजनीतिक कार्य और शासन-कार्य की अपेक्षा अपना कार्य ही अधिक आनन्द-प्रद प्रतीत होता है, जब तक कि शासन-कार्य मे फँसने पर महान् लाभ प्राप्त न हो। जनसमूह सम्मान की अपेक्षा (धन-) लाभ का अधिक लालची हुआ करता है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होने प्राचीन काल के अधिनायकतत्रो को धैर्यपूर्वक सह लिया और धनिकतत्र को भी सह रहे है, बशर्ते कि वे उनके कामो मे रुकावटे न डाले तथा उनको उनकी सम्पत्ति से वचित न करे, क्योकि (सुअवसर मिलने पर) कुछ तो उनमे से बडी शीघ्रता से धनवान् बन जाते हैं और कुछ कम से कम निर्धन न रहकर अच्छे खाते-पीते हो जाते हैं। यदि इन (साधारण लोगो) को सम्मान इत्यादि की कोई आकाक्षा भी होती है तो उसके अभाव की पूर्ति शासन-पदाधिकारियो (मजिस्ट्रेटो) के चुनाव, तथा उनके कार्य की पडताल के अधिकार की प्राप्ति से हो जाती है। कुछ प्रजातत्रो मे तो यद्यपि उनको शासन पदाधिकारियो मे भाग प्राप्त नही है, प्रत्युत यह अधिकार जनता मे से बारी बारी से चुने हुए व्यक्तियो को प्राप्त है, जैसा कि मन्तिनेइया[3] नगर मे होता है, तो भी यदि उनको विचारपरिषद् मे राष्ट्रहित का विचार करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है तो वे सतुष्ट हो जाते है। इस प्रकार की शासन-पद्धति भी प्रजातत्रात्मक ही मानी जानी चाहिये, और मन्तिनेइया नगरी मे यह ऐसी ही मानी जाती थी।

अतएव उपादेयता और प्रचलित व्यवहार दोनो ही की दृष्टि से यह उचित प्रतीत होता है कि इस उपर्युक्त (प्रथम) प्रकार के प्रजातत्र मे शासन-पदाधिकारियो को चुनने का, उनके कार्य की पडताल करने का तथा न्यायालयो मे बैठने का अधिकार सबको प्राप्त होना चाहिये, दूसरी ओर उच्च (महान्) शासन-पदो पर चुनाव के द्वारा नियुक्तियाँ होनी चाहिये तथा वे केवल उन्ही लोगो मे से चुने जाने चाहिये जो आर्थिक योग्यता रखते हो, जो पद जितना ही अधिक महत्वपूर्ण हो उसके लिये आर्थिक योग्यता भी उतनी ही अधिक हो सकती है, अथवा इसका एक विकल्प यह भी हो सकता है कि उपर्युक्त पदो के लिये किसी आर्थिक योग्यता की आवश्यकता न समझी जाय, प्रत्युत विशिष्ट-योग्यता-सम्पन्न व्यक्तियो की ही नियुक्ति की जाय। जो राष्ट्र इस प्रकार शासित होगा वह अवश्यमेव सुशासित होगा। (उसके पद श्रेष्ठ व्यक्तियो के हाथो मे होगे, जनता अपना मत सहर्ष उनको प्रदान करेगी और कोई भी गुणवान

व्यक्तियो से ईर्ष्या नही करेगा)। इस प्रबध से गुणवान् एव गण्यमान्य व्यक्ति भी सतुष्ट रहेगे, क्योकि वे दूसरे एव अयोग्य व्यक्तियो के द्वारा शासित होने से बच जायँगे, तथा अन्य लोगो को इन (गुणवान एव गण्यमान्य व्यक्तियो के कार्य की पडताल का अधिकार प्राप्त होने के कारण) ये लोग स्वय न्यायपूर्वक शासन-कार्य करेगे। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहना तथा जैसा मन चाहे वैसा सब कुछ न कर पा सकना लाभदायक है। मनमाना करने की शक्ति प्राप्त हो जाने पर तो प्रत्येक मनुष्य मे छिपी हुई जो बुराइयाँ है उनसे रक्षा का कोई उपाय ही नही रह जाता। (परन्तु) उत्तर-दायित्व (=पारस्परिक निर्भरता) के सिद्धान्त के व्यवहार से राष्ट्र मे जो सर्वोत्तम कल्याण है उसकी उपलब्धि होती है। शासन-कार्य योग्य (=गुणवान्) लोगो के द्वारा चलाया जाता है, तथा वे गलती करने से बचे रहते है, एव साधारण जनसमूह को भी उनके उचित अधिकार प्राप्त रहते है।

यह स्पष्ट है कि प्रजातत्र का यह (कृषिप्रधान जनसमुदाय पर आश्रित) प्रकार सर्वश्रेष्ठ है। तथा ऐसा क्यो है इसका कारण भी स्पष्ट है—अर्थात् यह शासन-पद्धति जिस जनसमूह पर आश्रित है वह एक विशिष्ट प्रकार का है। कुछ पुराने कानून जो कि पुरातन काल मे सामान्यतया प्रचलित थे वे सब के सब कृषिप्रधान जनता के निर्माण के लिये उपयोगी हो सकते है; उदाहरणार्थ, इन नियमो के अनुसार भूमि की एक निश्चित मात्रा से अधिक पर अधिकार करने का बिलकुल निषेध था, अथवा कम से कम नगर के केन्द्र अथवा नगर की चतुर्दिक् सीमा से एक निश्चित दूरी तक तो भूमि पर अधिकार रखने का निषेध था ही। पुराने समय मे बहुत से नगर-राष्ट्रो मे ऐसे नियम थे कि कोई भी अपने कुल की मूलत प्राप्त भूमि के भाग को न बेचे। (ऐलिस नामक नगर मे) भी इसी प्रकार का नियम है जो ऑक्षीलस का बनाया कहा जाता है। प्रत्येक भूस्वामी की धरती के एक निश्चित भाग पर गिरवी रखकर धन ऋण नही लिया जा सकता।[४] (इस प्रकार के क़ानूनो के अभाव से जो त्रुटियाँ उत्पन्न हो जाती है) उनके सुधार के लिये अकीतिस् नगर का नियम उपयोगी है, (क्योकि) इससे हमारे उपर्युक्त उद्देश्य की सिद्धि सभव है।[५] इस नगर के निवासी, यद्यपि सख्या मे बहुत अधिक है, एव उनके पास भूमि भी थोडी ही है, तथापि वे सब ही कृषिकर्म करते है। इसका कारण यह है कि उस नगर में जागीरो का मूल्याकन पूरी पूरी इकाइयो के रूप मे नही होता, प्रत्युत मूल्याकन के लिये जागीरो को ऐसे छोटे छोटे खडो में विभक्त किया गया है कि निर्धन भूस्वामी भी (नागरिकता के अधिकार की प्राप्ति के लिये आवश्यक आर्थिक योग्यता से) अधिक मूल्य का भूस्वामी है।

कृषक जनता के उपरान्त श्रेष्ठता में दूसरे स्थान पर पशुचारक जनता है जो कि पशुओ के समूह को चराकर अपनी जीविका चलाती है। इसके बहुत से लक्षण तो कृषक जनतासे मिलते-जुलते होते है, पर अपनी सुदृढ शरीर-दशा और खुले में रहने की सामर्थ्य के कारण यह लोग युद्ध के लिये विशेष प्रकारसे शिक्षित और कठोर हो जाते है। अन्य प्रकारकी लगभग सभी जनताएँ जिनसे अन्य प्रकारके जनतत्र निर्मित होते है, इनकी अपेक्षा बहुत निम्न कोटिकी होती है, क्योंकि उनका जीवन इनकी अपेक्षा निचली कोटि का होता है। ये जनताएँ जिन व्यवसायो का (जीविकार्थ) अनुसरण करती है—चाहे वे शिल्पी हो, व्यापारी हो अथवा दैनिक श्रम करनेवाले श्रमजीवी—उनमें सद्-वृत्ति की उत्तमता के लिये कोई अवकाश नही रहता। इसके अतिरिक्त, इस वर्ग की जनता, नगर के हाट के और केन्द्र के आसपास चक्कर लगाने के कारण, यो कहिये, बडी सरलता से नगर-परिषद् की बैठको मे एकत्र उपस्थित हो जाती है। दूसरी ओर इसके विपरीत कृषक लोग है, जो देहात मे बिखरे होने के कारण न तो बहुधा एकत्रित ही होते है और न इस प्रकार की सगति (अथवा समाज) की आवश्यकता का ही अनुभव करते है। जहाँ कृषियोग्य भूमि की स्थिति ऐसी होती है कि वह नगर से बहुत दूर तक फैली होती है तो वहाँ ऐसी स्थिति मे एक अच्छे प्रजातत्र अथवा 'व्यवस्था-तत्र' की स्थापना या निर्माण का कार्य सरल हो जाता है; क्योकि ऐसी स्थिति मे कृषक-समुदाय को अनिवार्यतया अपना निवास-स्थान नगर से बाहर अपने खेतो में बनाना पडता है। और यदि इसके पश्चात् ही नागरिक जनसमुदाय शेष रहे तो ऐसा (नियम) होना चाहिये जनतत्र व्यवस्था मे नगर-परिषद् की ऐसी बैठके नही हो सकती जिनमे समग्र भूजीवी कृषक-समुदाय उपस्थित न हो सकें।

इस प्रकार, इस बात का वर्णन हो चुका कि प्रजातत्र के प्रथम एव श्रेष्ठ भेद की स्थापना किस प्रकार की जानी चाहिये। (उपर्युक्त वर्णन से) यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि अन्य प्रकारो की स्थापना किस प्रकार होनी चाहिये। वे (अन्य) प्रकार इस उपर्युक्त श्रेष्ठ प्रकार से, प्रत्येक पग पर निचली श्रेणी की जनता के समावेश के कारण क्रमश अधिक दूर पड़ते जायँगे।

प्रजातत्र का अन्तिम भेद, जिसमें सब प्रकार के समुदाय समान रूप से समाविष्ट रहते है, ऐसा है जिसको सब नगर वहन (भरण) नही कर सकते, तथा जो स्वय, (यदि नियमो और रीतियो के आधार पर ठीक ठीक सघटित न हो) स्थायी नही हो सकता। जिन कारणो से इस और दूसरी शासन-व्यवस्थाओ का विघटन (विनाश)

घटित होता है वे अधिकाश मे पहले ही (पॉचवी पुस्तक मे) वर्णन किये जा चुके है। इस प्रकार के जनतत्र की स्थापना करने के लिये तथा नागरिक जनसमुदाय को प्रबल बनाने के लिये नेताओ की यह प्रवृत्ति रही है कि नागरिक वर्ग मे अधिक से अधिक सख्या की वृद्धि करे। वे न केवल उन लोगो को नागरिक बना लेते है जो नागरिको की वैध सन्तान है, प्रत्युत उनको भी जो वैध नागरिक सन्तान नही है तथा जिनके माता पिता मे से केवल एक ही—चाहे पिता अथवा माता—नागरिक था। वास्तविक बात तो यह है कि ऐसे जनतत्र मे इस प्रकार के (उपर्युक्त प्रकार के) सभी प्रबन्ध भले ठहरते है। इस प्रकार के प्रजातत्र की स्थापना के लिये लोकनायक इसी मार्ग का अनुसरण किया करते है, जब कि ग्रहण करने योग्य उचित मार्ग यह होना चाहिये कि नागरिको की सख्या मे तब वृद्धि की जाय जब कि सामान्य जनता की सख्या गण्यमान्य लोगो और मध्यवित्त लोगो की सम्मिलित सख्या से बढ जाय—इस सीमा से परे जाना ही नही चाहिये। जब जनता की सख्या मे इस अनुपात का अतिक्रमण हो जाता है तो वह शासन-व्यवस्था को अव्यवस्थित कर देता है, तथा गण्यमान्य व्यक्तियो को अधिक उग्र और उत्तेजित करके प्रजातत्र का विरोधी बना देता है—अर्थात् ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न कर देता है जैसी कि कीरीनी नगर मे विप्लव का कारण हुई थी।[६] अल्पमात्र बुराई की तो उपेक्षा की जा सकती है, पर बहुत अधिक बढ जाने पर तो वह दृष्टिगोचर हो ही जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य उपाय जो इस प्रकार के प्रजातत्र की स्थापना के लिये उपयोगी है वे उपाय है जिनका उपयोग क्लैस्थिनीस ने जनतत्र की शक्ति को बढाने की इच्छा से अथेन्स मे किया था, अथवा जिनका उपयोग कीरीनी मे जनप्रिय प्रजातत्र के सस्थापको ने किया था। इन उपायो का तात्पर्य यह है कि (पुरानी बिरादरियो के साथ साथ) नई बिरादरियो और कबीलो की स्थापना की जानी चाहिये। कुटुम्बो की व्यक्तिगत विधियो[७] की काट-छॉट कर उनकी सख्या कम कर दी जानी चाहिये और वे सार्वजनिक (केन्द्रो पर केन्द्रित) कर देनी चाहिये। ऐसी सब युक्तियो से काम लिया जाना चाहिये जिससे सारे नागरिक अधिक से अधिक परस्पर मिल-जुल सके, और पुरानी प्रथाओ और भावनाओ से अपना नाता तोड सके। फिर, अधिनायक-तत्र द्वारा उपयुक्त सभी उपाय जनतत्र के स्वभाव के भी उतने ही अनुकूल समझे जा सकते है, उदाहरण के लिये हम दासो की स्वच्छन्दता का (जो कि एक सीमा तक लाभदायक हो सकती है) तथा स्त्रियो और बच्चो की स्वतत्रता का उल्लेख कर सकते है। इसी प्रकार मनमाने ढग से जीवन बिताने की नीति की उपेक्षा करने का भी उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार की नीति बरतनेवाली व्यवस्था के बहुत से सहायक हो जाते है।

अधिकाश लोग सयत जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा अव्यवस्थित जीवन को अधिक प्रिय (मधुर) समझते है।

टिप्पणियाँ

१. यहाँ से विभिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं के निर्माण की विधि का विवेचन आरभ होता है।

२. अरिस्तू के हृदय में कृषको और कृषिकर्म के प्रति ममता है।

३. मन्तिनेइया नगरी आर्कादिया प्रदेश में है। इसकी व्यवस्था का वर्णन अरिस्तू ने ठीक नही दिया है। वहाँ प्राथमिक परिषद् विचार करने के लिये थी। तथा प्रतिनिधि ससद का उपयोग शासन-पदाधिकारियो के अप्रत्यक्ष चनाव के लिये होता था।

४. मूल मे 'ऐलिस' का नाम नहीं आया है। पर 'ऐलिस' निवासी ऑक्षीलस् के नाम से अनुमान किया जाता है कि यह नियम ऐलिस नगर में रहा होगा। ऐलिस पैलौप नेसस् के उत्तर पश्चिम में है।

५. अफीतिस् नगर ग्रीकजगत् के उत्तरी भाग में था।

६. कीरीनी अथवा कीरेने नगरी अफ्रीका के उत्तर में लीबिया प्रदेश में थी। ई० पू० ४०१ में इस नगरी में लगभग ६०० धनिक लोग मार डाले गये। बहुत से धनवान् नगर छोड़कर भाग गये। इसके पश्चात् दोनों वर्गों (धनवान् और निर्धन) वर्गो में भयंकर रक्तरंजित सग्राम हुआ। दोनो पक्षो के बहुत से लोग मारे गये। पर अन्त में धनवानो को लौटकर नगर में बस जाने दिया गया।

७. यूनान में जातियो, कबीलो और यजनमडलो में बहुत से अनुष्ठान होते थे। अरिस्तू इनको घटाने के पक्ष में था।

५

जनतंत्र की रक्षा और स्थायित्व के उपाय

नियम बनानेवालो (स्मृतिकारो) का तथा उन लोगो का, जो इस (आत्यन्तिक) प्रकार की शासन-व्यवस्था की स्थापना करने के इच्छुक है केवल इस व्यवस्था की स्थापना करना ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य नही है।[1] प्रत्युत इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि उसकी रक्षा किस प्रकार की जाय। एक, अथवा दो, अथवा तीन दिन तो सभी व्यवस्थाएँ टिक सकती है चाहे वे कितनी ही बुरी प्रकार से निर्मित क्यो न हों।

इसलिये नियम बनानेवालो को यह चाहिये कि वे शासन-व्यवस्थाओ की रक्षा तथा विघटन (विनाश) के सबध मे पूर्व-वर्णित सिद्धान्तो को ध्यान मे रखकर दृढता के निर्माण (की स्थापना) का उद्योग करे। उनको विनाशकारी तत्त्वो के विषय में अत्यन्त सावधान रहना चाहिये, तथा ऐसे नियमो को—चाहे तो वे अलिखित (=लोकाचार में प्रचलित) हो अथवा लिखित हो—निर्धारित करना चाहिये कि जिनमे सब रक्षणात्मक तत्त्वो का सग्रह हो। उनको यह नही मानना चाहिये कि प्रजातत्र एव धनिकतत्र के लिये एक समान सच्ची नीति वह है जो उनको अधिक से अधिक मात्रा मे जनतत्रात्मक अथवा धनिकतत्रात्मक बनाती है, प्रत्युत वह है जो उन दोनो को दीर्घतम काल तक स्थायी बनाती है। आजकल के लोकनायक, साधारण लोकवर्ग को प्रसन्न करने के लिये, न्यायालयो के द्वारा बहुत-सी सम्पत्ति को लोकायत्त कर लेते है। पर जो अपनी शासन-व्यवस्था का हित-चिन्तन करते है उनको इस प्रकार की नीति का निराकरण करना चाहिये, उनको ऐसा कानून बनाना चाहिये कि न्यायालय द्वारा दण्डचमान व्यक्तियो का दण्डशुल्क न तो लोकायत्त हो और न सार्वजनिक कोष मे सम्मिलित किया जाय प्रत्युत देवधन बना दिया जाय। ऐसा करने से एक ओर तो अपराध करनेवाले इस समय की अपेक्षा कम सावधान नही होगे, क्योकि उनको तो दण्डशुल्क देना पडेगा ही, और दूसरी ओर, क्योकि जनसमूह को कोई लाभ नही होगा अतएव वह सब अभियुक्तो को दडित करने के लिये कम प्रवृत्त होगे। सार्वजनिक अभियोग कम से कम सख्या मे होने चाहिये, एव अभियोक्ताओ को बिना विचारे अभियोगो को प्रस्तुत करने से रोकने के लिये भारी दण्ड दिया जाना चाहिये। इस प्रकार के अभियोग साधारण लोगो के विरुद्ध लगाये नही जाते प्रत्युत गण्यमान्य लोगो के विरुद्ध ही प्रायेण लगाये जाते है। किन्तु उचित रीति तो यह है कि सभी नागरिक लोग शासन-व्यवस्था के प्रति और तदनुमोदित शासनतत्र के प्रति श्रद्धावान् हो, यदि ऐसा न हो तो कम से कम इतना तो होना चाहिये कि जनसाधारण शासन-सत्ताधारियो को अपना शत्रु तो न माने।

क्योकि, जनतत्र के अन्तिम प्रकार मे नागरिक जनता की सख्या बहुत अधिक होती है और बिना वेतन दिये नागरिक परिषद् मे जनता का उपस्थित होना कठिन होता है, अतएव जब तक शासनतत्र के पास वेतन देने के लिये कोष मे पर्याप्त धन न हो इस प्रकार की शासन-व्यवस्था का व्यय-भार गण्यमान्य लोगो पर ही पडता है (और उनको बुरा लगता है)। क्योकि आवश्यक धन, सम्पत्ति पर कर लगाकर, धन को लोकायत्त करके और न्यायालय की दूषित प्रवृत्तियो से प्राप्त किया जायेगा, तथा यह सब

वही बाते है जो भूतकाल मे अनेको जनतंत्रो के विनिपात का कारण हुई है, (इससे यह निष्कर्ष निकला) कि जहाँ राजस्व की आय पर्याप्त न हो वहाँ नगर-परिषद् की बैठके बहुधा नही होनी चाहिये तथा न्यायालयो के पारिषदो की सख्या अधिक होनी चाहिये पर उनकी बैठके थोडे दिनो तक ही चलनी चाहिये। इस पद्धति से दो लाभ होगे, प्रथम तो यह कि यद्यपि स्वय धनवान् लोगो को वेतन न भी दिया जाय, केवल निर्धन लोगो को ही दिया जाय, तो भी धनवान् लोग इस व्यय से डरेगे नही (क्योकि यह व्यय अधिक नही होगा), दूसरे यह कि न्यायालयो मे व्यवहारो का निर्णय अपेक्षाकृत बहुत अच्छा हुआ करेगा, क्योकि यद्यपि धनवान् लोग अपने निजी व्यवसायो से बहुत दिनो तक दूर नही होना चाहते तथापि थोडे से दिनो के लिये अनुपस्थित रहने से अधिक चिन्तित नही होते (अतएव यदि न्यायालय की बैठकें थोडे दिन चले तो वे उनमे उपस्थित होना चाहते है।) दूसरी ओर जहाँ राष्ट्र के पास पर्याप्त धन हो तो आजकल लोक-नायको द्वारा जो नीति बरती जाती है उसका वर्जन किया जाना चाहिये, उनकी नीति तो बचे हुए धन को साधारण लोगो मे बाँट देने की होती है। साधारण लोगो की यह दशा है कि ज्यो ही उनको कुछ प्राप्त होता है त्यो ही वे फिर और माँगते (चाहते) है, इस प्रकार उनकी सहायता करना फूटे घडे को भरने के प्रयत्न समान है। तथापि सच्चे जनतत्रवादी (सच्चे जनता के मित्र) को यह ध्यान रखना चाहिये कि साधारण जन-समूह अत्यन्त निर्धन न हो, क्योकि अत्यन्त निर्धनता प्रजातत्र की दुरवस्था का कारण होती है। अतएव ऐसे उपाय काम में लाये जायँ जिनसे दीर्घ काल तक उनकी समृद्धि बनी रहे। क्योकि यह सभी वर्गों के लिये लाभदायक है और धनवानो के लिये भी (लाभदायक है) अतएव उत्तम नीति यह है कि बचे हुए राजस्व को इकट्ठा कर लिया जाय और तब अच्छी राशि में उसको निर्धन लोगो में बाँट दिया जाय। (यदि पर्याप्त धन एकत्रित किया जा सके) तो वितरण करने का सबसे अच्छा प्रकार यह होगा कि इतना धन प्रदान किया जाय जो छोटा-सा खेत खरीदने के लिये पर्याप्त हो, यदि इतना न हो सके तो इतना धन प्रदान किया जाय जो उनको कोई व्यवसाय अथवा खेती-बारी का कार्य आरंभ करने के योग्य बना दे।[१] यदि इस प्रकार का दान सब को एक साथ न दिया जा सके तो बारी-बारी से वर्गश अथवा अन्य किसी विभाजन-विधि के अनुसार उसको वितरित करना चाहिये; इसी बीच मे धनवानो को, निर्धन लोगो की परिषद् में अनिवार्य उपस्थिति के निमित्त भत्ता देने के लिये धन प्रदान करना चाहिये, और इसके बदले उन (सम्पत्तिशाली व्यक्तियो) को व्यर्थ की सामाजिक सेवाओ (जैसे कि नाटकीय उत्सवो में गायक-मडली—खोड़िये—का प्रबन्ध करने) से छुटकारा मिल जाना

चाहिये। कुछ इसी प्रकार की नीति का अनुसरण करते हुए कार्खीदोन (कार्थेज) की सरकार ने जनता के प्रेम को अपने वश मे कर रक्खा है (शब्दश —खरीद रक्खा है)। वे सदा साधारण लोगो मे से कुछ को जनपद के नगरो मे भेजते रहे है और इस प्रकार उनके सम्पन्न बनने मे सहायता करते रहे है।[3] सद्बुद्धि और भावनावाले गण्यमान्य सम्पत्तिशाली लोग अपने ऊपर निर्धन लोगो को परस्पर बॉटकर एक एक भाग को दान देकर जीविकोपार्जन मे लगाने का भार भी ले सकते है। तारेन्तम् के धनवानो का उदाहरण भी बहुत अच्छा और अनुकरण करने के योग्य है, यह धनवान् लोग निर्धनों के साथ मिलकर अपनी सम्पत्ति का उपभोग (=उपयोग) करते है और इस प्रकार जनसमूह की सदिच्छा का अपने पक्ष मे सम्पादन कर लेते है।[4] इसके अतिरिक्त, उन्होने अपने समग्र शासनाधिकार पदो को दो भागो मे विभक्त कर दिया है—एक भाग मे चुनाव द्वारा नियुक्तियाँ होती है, दूसरे मे गुटिकाग्रहण द्वारा, गुटिकाग्रहण द्वारा नियुक्ति से उनका आशय साधारण जनसमूह को शासन-कार्य मे भाग प्रदान करना है एव चुनाव द्वारा नियुक्तियो का प्रयोजन अच्छा शासन-प्रबन्ध उपलब्ध करना है। इसी परिणाम की प्राप्ति अधिकारिपटलो को दो भागो मे विभक्त करने से भी हो सकती है—एक भाग के अधिकारियो की नियुक्ति गुटिका ग्रहण द्वारा और दूसरे के अधिकारियो की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होनी चाहिये।

इस प्रकार, प्रजातत्रो की स्थापना (सघटना) किस ढग से की जानी चाहिये, इस विषय का वर्णन भले प्रकार हो चुका।

टिप्पणियाँ

१. अरिस्तू ने पिछले खंड में जनतंत्र व्यवस्थाओं की स्थापना की विधि का वर्णन किया। उसके पश्चात् अब वह उसकी सुरक्षा और स्थायित्व के उपायों का विचार करता है। पिछली पुस्तक में उसने इस विषय का सामान्यरूपेण वर्णन किया था, प्रजातंत्र के सबंध में इस विषय पर विचार नही किया था।

२. इस प्रकार की सामाजिक सेवा का नियम अथेन्स में लागू था। इसके लिये अथेन्स का संविधान देखना चाहिये।

३. उनको कोई शासनाधिकार का पद और वेतन इत्यादि देकर भेजते रहे हैं जैसे कि आजकल कें साम्राज्यवादी देश भी करते हैं।

४. अर्थात् इस नियम के अनुसार कार्य करते हैं कि "सम्पत्ति पर अधिकार व्यक्तियो का सम्पत्ति का उपयोग सब के लिये।"

६

धनिकतंत्र का संघटन

इस (प्रजातत्र की सघटना) से लगभग यह भी स्पष्ट हो गया कि धनिकतत्र की सघटना किस प्रकार होनी चाहिये। धनिकतत्र (अल्पजनतत्र) का प्रत्येक प्रकार प्रतिकूलता के आधार पर सघटित होना चाहिये—अर्थात् प्रत्येक प्रकार का ढाँचा तदनुरूप (अथवा अपने सवादी) प्रजातत्र के ढाँचे के स्वरूप से आकलित होकर रचा जाना चाहिये। धनिक तत्र का सुसयोजिततम (सुसघटित) और प्रथम भेद बहुत कुछ उस शासन-पद्धति का सजातीय-सा है जो "व्यवस्था" तत्र के नाम से पुकारी जाती है' इस प्रकार के धनिकतत्र मे आर्थिक योग्यता की दो पृथक् कोटियाँ होनी चाहिये, एक निम्न कोटि और दूसरी उच्च कोटि। जो लोग निम्नकोटि में सम्मिलित हो वे राष्ट्रसेवा के निम्न किन्तु अनिवार्य पदो पर नियुक्त होने योग्य समझे जाने चाहिये, तथा जो उच्च कोटि मे अन्तर्भुक्त हो वे अधिक सत्ताशाली पदो पर नियुक्त होने योग्य माने जाने चाहिये। जो कोई भी व्यक्ति उपर्युक्त कोटियो मे प्रवेश करने के लिये नियत धन प्राप्त कर लेता है उसको नागरिकता का अधिकार मिल जाना चाहिये। इस प्रकार से साधारण जनसमूह मे से इतने व्यक्तियो को नागरिकतासपन्न लोगो के वर्ग मे सम्मिलित कर लेना चाहिये जितनो से नागरिकता के अधिकारो को भोगनेवाला वर्ग अन्य अधिकार-रहित लोगो के वर्ग से अधिक बलशाली हो जाय। सामान्य जनसमूह मे से जो व्यक्ति नागरिक वर्ग मे लिये जायँ वे उनके अच्छे वर्ग मे से ही लिये जाने चाहिये।

धनिकतत्र का दूसरा भेद भी इसी प्रकार (पदग्रहण करने की योग्यता को) कुछ और संकुचित करके प्रस्तुत किया जाना चाहिये। इस क्रम से अन्त मे हम धनिकतत्र के उस रूप तक जा पहुँचेगे जो प्रजातत्र के आत्यतिक भेद का प्रतिरूप (Corresponding) होता है, अल्पजनतत्र का यह रूप स्वभावत गुटबन्दी और अधिनायकतत्र से अधिकतम मिलता-जलता है, और क्योकि यह सब से निकृष्ट प्रकार है अतएव इसको उतनी ही अधिक मात्रा में चौकसी की आवश्यकता पडती है। जिस प्रकार कि स्वस्थ दशावाला मानव-शरीर तथा अच्छे प्रकार से तैरने की दशावाला और अच्छे (योग्य) नाविको (मल्लाहो) से सपन्न जहाज, बहुत-सी दुर्घटनाओं मे भी पडकर उनसे नष्ट न होकर बच रह सकते हैं, पर रोगग्रस्त शरीर, एव शिथिल शरीर तथा विकृत नाविको से युक्त जहाज, थोडी सी गल्ती को नही सह सकते।

ठीक यही बात शासन-व्यवस्थाओ के विषय मे भी सत्य है, (अतएव) सबसे बुरी शासन-व्यवस्थाओ के लिये सबसे अधिक चौकसी की आवश्यकता है। प्रजातत्र व्यवस्था मे जनसकुलता सामान्यतया उसकी रक्षा कर लेती है, क्योकि प्रजातत्रो मे जनसख्या (=नागरिको की संख्या) की अधिकता, योग्यता के अनुसार न्याय के तत्त्व के स्थान पर काम देती है। इसके विपरीत धनिकतत्र को अपनी रक्षा के लिये स्पष्ट ही इसके विरोधी तत्त्व—सघटन के अच्छेपन पर निर्भर रहना चाहिये।[२]

टिप्पणियाँ

१. यद्यपि अरिस्तू अल्पजनतत्र अथवा धनिकतंत्र के प्रत्येक प्रकार को प्रजातंत्र का विप्रतिसंवादी मानकर इस खंड का आरंभ करता है। पर धनिकतंत्र के प्रथम अथवा सर्वोत्तम प्रकार का वर्णन करते हुए वह इस दृष्टिकोण का परित्याग कर देता हैं क्योकि वह उसको व्यवस्थातंत्र का निकटवर्ती मानता है और यह व्यवस्थातंत्र प्रजातंत्र के श्रेष्ठ प्रकार का भी समीपवर्ती है। अतएव धनिकतंत्र और जनतंत्र के उत्तम प्रकार परस्पर एक दूसरे के विरोधी नहीं निकटवर्ती ठहरते है।

२. अर्थात् उनको शासनपदों का वितरण गुणोत्कर्ष पर आश्रित व्यापक वितरणात्मक न्याय के आधार पर करना चाहिये।

वि०—यह दृष्टव्य है कि अरिस्तू कहीं भी अतिवादिता का समर्थक नहीं है। यही कारण है कि वह कोरी सिद्धान्तवादिता की बलिवेदी पर व्यवस्था के स्थायित्व और शासितो के सुखो की बलि देने को तैयार नहीं है।

७

धनिकतंत्र का सैन्य-संघटन

जिस प्रकार साधारण जनसमूह के चार विभाग होते हैं—कृषक, शिल्पी, दूकानदार तथा दैनिकवृत्तिवाले श्रमिक—इसी प्रकार सैनिक बल के भी चार प्रकार होते है, अश्वारोही दल, भारी शस्त्रधारी पदातिवर्ग, हलके शस्त्रवाले सिपाही एवं नौ-सेना। जहाँ भूखण्ड अश्वारोही दल के लिये समुपयुक्त होता है वहाँ धनिकतत्र के दृढ प्रकार की स्थापना (सघटना) के लिए अनुकूल स्थान होता है, क्योकि ऐसे स्थान के निवासियो को अपनी रक्षा के लिये अश्वारोही सैन्यदल की अपेक्षा हुआ करती

है, तथा घोडो का पालन-पोषण केवल अधिक सम्पत्तिवाले लोग ही कर सकते है। जहाँ भूमि ऐसी होती है कि युद्ध मे भारी शस्त्रधारी पदाति-दल का उपयोग उचित हो वहाँ धनिकतत्र का दूसरा भेद (स्थापित किया जाना) स्वाभाविक है। इस प्रकार की सैनिक सेवा निर्धनो की अपेक्षा धनवानो के लिये अधिक उपयुक्त है। पर हलके शस्त्रवाले सैनिक और नाविक तो पूर्णतया जनतत्रात्मक होते है। आजकल, जब कि यह (हलके सैनिक तथा नाविक) इतने बहुसख्यक है, यदि दोनो पक्षो (धनिकतत्र और जनतत्र) मे परस्पर कलह (युद्ध) छिड जाय तो धनिकतत्र पक्ष को प्रायेण मुँह की खानी पडती है।[1] इस स्थिति का सामना और उपचार कुछ ऐसे सेनापतियो की पद्धति के अवलम्बन के द्वारा किया जाना चाहिये जो अश्वारोही सैनिको तथा भारी शस्त्रधारियों के साथ हलके शस्त्रधारियो की उचित सख्या को सयुक्त कर देते है। गृह-कलह मे साधारण जनसमूह जो धनवानो को अभिभूत कर लेते है वह इस कारण से कि हलके शस्त्र धारण किये होने के कारण वे अश्वारोहियो और भारी-भरकम सैनिको की अपेक्षा युद्ध मे अधिक सरलता और सुविधा से शत्रुओ का सामना करके विजय प्राप्त कर लेते है। अतएव जो धनिकतत्र इस (हलके शस्त्रधारियो के) सैन्यबल को केवल निचले वर्गो मे से निर्माण करता है वह स्वय अपने विरोधी बल का निर्माण करता है। (उसको सेना की भर्ती की पद्धति मे परिवर्तन कर देना चाहिये) सैनिको का वर्गी-करण उनकी आयु के अनुसार होना चाहिये—एक वर्ग अधिक अवस्थावालो का और दूसरा युवको (थोडी अवस्थावालो) का होना चाहिये, जिससे कि धनिकतत्रवालो के पुत्र अपनी युवावस्था के समय मे हलके शस्त्रोवाले सैनिको की चपल गति और व्यायामो के अभ्यस्त हो सके, यह नवयुवक जब (अधिक अवस्था होने पर) वय प्राप्त सैनिको के वर्ग मे लिये जायँगे तो यह स्वय वास्तविक व्यवहार में हलके शस्त्रधारी सैनिको का कार्य कर सकेंगे।[2]

धनिकतत्र को नागरिक अधिकारो का कुछ भाग जनसाधारण को भी देना ही चाहियें और ऐसा या तो, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, उन लोगो के पक्ष में होना चाहिये जो नियत आर्थिक योग्यता प्राप्त कर लेते है, अथवा, जैसा कि थीबैस् मे होता है, नागरिक अधिकार उन लोगो को मिल जाने चाहिये जिन्होंने सुदीर्घ काल से निम्न कोटि का शिल्पकार्य छोड दिया है, अथवा, जैसी प्रथा मस्सालिया नगर में प्रचलित है उसका अनुसरण किया जाना चाहिये कि जो लोग योग्यता-सपन्न हो, (चाहे वे नागरिको के वर्ग में हो अथवा उसके बाहर हो), उनको चुनकर उनकी एक सूची बना ली जाय।[3]

इसके अतिरिक्त, अधिक महत्त्वपूर्ण और सत्ताशाली पदो के, (जो कि पूर्ण नागरिको (=शासकवर्ग) के हाथ मे ही रहने चाहिये), ऊपर बिना धन लिये सार्वजनिक सेवा का कर्तव्य भी आरोपित होना चाहिये, इसका परिणाम यह होगा कि जन-साधारण स्वेच्छापूर्वक शासन-कार्य मे भाग लेना नही चाहेगे, तथा वे शासको के प्रति सहिष्णु हो जायँगे क्योकि वे देखेगे कि इस प्रतिष्ठा के लिये उन्हे कितना अधिक व्यय करना पडता है। इन उच्च पदाधिकारियो को ऐसा करना भी उचित है कि पदग्रहण के समय एक महान् यज्ञ की योजना करे और पद पर रहते समय किसी सार्वजनिक भवन का निर्माण करे, जिससे कि इन उत्सवो मे सम्मिलित होनेवाले जनसाधारण नगर को श्रद्धोपहारो और प्रासादो से अलकृत होते देखकर हर्षपूर्वक इस (धनिकतत्र-) पद्धति का स्थायी बना रहना सहन कर लेगे। रहे धनी-मानी लोग, उनको तो उनके दान का प्रत्यक्ष फल स्मारको के रूप मे प्राप्त हो ही जायगा। पर आजकल धनिकतत्री इस नीति का अनुसरण नही करते, वे तो इसकी विरोधी नीति बरतते है। वे सम्मान की अपेक्षा लाभ के कुछ कम लोभी नही होते। अतएव (आजकल के) इन धनिकतत्रो को छोटे प्रजातत्र कहना ठीक होगा। प्रजातत्रो और धनिकतत्रो की स्थापना (=सघटना=रचना) किस प्रकार की जानी चाहिये यह बात इस (उपर्युक्त विवरण के) प्रकार से निर्धारित हो गई।

टिप्पणियाँ

१. अरिस्तू ने इस खड मे भौगोलिक परिस्थिति, समाजिक विभाजन और सैनिक पद्धतियो के संबंध पर विचार किया है। सैनिक पद्धतियों के विकास से शासन-व्यवस्था का अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है, यह अरिस्तू को मान्य है। इस सिद्धान्त का उल्लेख उसने चतुर्थ पुस्तक के तृतीय खंड में भी किया है।

२. इसका परिणाम यह होगा कि यदि निम्नवर्ग के सैनिक विद्रोह खड़ा करेंगे तो समग्र हलके अस्त्रधारियो की सेना धनिकतंत्र का विरोध नही करेगी। उसमें ऐसे सैनिक भी होंगे जो धनिकतंत्र का पक्ष ग्रहण करके निम्नवर्ग के सैनिको से लड़ेंगे और धनिकतंत्र की रक्षा करेंगे।

३. धनिकतंत्र की आन्तरिक सैनिक सुरक्षा का उपाय बतलाकर अब इस स्थान पर नागरिकता के विस्तार के उपाय और उपयोगिता का विवरण उपस्थित किया गया है।

८

शासक-पदों का विभाजन और सख्या

इस विवरण के पश्चात् क्रमप्राप्त विषय शासनाधिकार-पदो का समुचित वितरण है—अर्थात् अब यह विवेचन करना है कि उनकी सख्या, उनका स्वरूप तथा उनका कर्तव्य क्या है और यह विषय पहले भी विवेचित हो चुका है।[1] जो शासनाधिकारपद नितान्त आवश्यक है उनके बिना कोई राष्ट्र चल नही सकता। सुशासन और सुव्यवस्था के लिये जिन पदो की आवश्यकता है उनके अभाव मे राष्ट्र का सुप्रबन्ध-युक्त होना नही बन सकता। इसके अतिरिक्त छोटे राष्ट्रो मे अवश्य ही पदो की सख्या थोडी होनी चाहिये एव बडे राष्ट्रो मे अधिक, जैसा कि हम पहले ही कह चुके है।[2] अतएव यह बात भी ध्यान से छूट नही जानी चाहिये कि कौन से पदो को सयुक्त कर देना चाहिये और किनको पृथक् रखना चाहिये।

अनिवार्य पदो मे प्रथम स्थान उस पद का है जिसका कर्तव्य बाजार की देखरेख (चिन्ता) करना है। इसके लिये एक ऐसे पदाधिकारी के नियुक्त करने की आवश्यकता है जो परस्पर के ठहरावो (ठेको) की अध्यक्षता करे और सुव्यवस्था बनाये रक्खे। लगभग सभी राष्ट्रो मे, पारस्परिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये, खरीदना और बेचना समानरूप से आवश्यक होता है। तथा यही (क्रय-विक्रय) (राष्ट्र और व्यक्तियो के लिये) उस आत्म-निर्भरता (स्वत पर्याप्तता) के शीघ्रतम साधन है जो कि मनुष्यो के एक सामान्य राष्ट्र की शासन-छाया मे एकत्रित होकर बसने का (प्रमुख) उद्देश्य माना जाता है।

इसी प्रकार का, और इसी से बहुत कुछ मिलता-जुलता, एक दूसरा पद है जिसका कर्तव्य नगर मे सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत वास्तुओ[3] (भवनो) की, सुव्यवस्था की दृष्टि से देखभाल रखना, जीर्ण-शीर्ण मकानो और सडको की रक्षा और मरम्मत कराना, झगडे न हो इसलिये सीमा-रेखाओ की देखभाल (अध्यक्षता) करना, एव इसी ढग की ऐसी अन्य बातो की भी देखरेख करना जिनकी सार्वजनिक अध्यक्षता होनी चाहिये। साधारणतया इस पद को नगराध्यक्ष (वास्त्वध्यक्ष) का पद कहा जाता है, तथा इसके विभागो की सख्या अनेक हुआ करती है, तथा जो बडी जनसख्यावाले नगरो मे पृथक्-पृथक् अधिकारियो के नियत्रण में रहा करते है, उदाहरणार्थ प्राचीर-निर्माण

विभाग, सार्वजनिक जलयत्रो (फव्वारो) की देखभाल करनेवाला विभाग तथा नगर के पत्तनो की चौकसी करनेवाला विभाग।

एक और (तीसरा) अनिवार्य पद बहुत कुछ इस द्वितीय पद का सजातीय है, इस पद के कर्तव्य बिलकुल उपर्युक्त पद के समान ही ह, पर इस पद के कर्तव्य का प्रतिपादन नगर की प्राचीर के परे क्षेत्रो मे करना पडता है, इस पद पर आरूढ व्यक्ति को या तो क्षेत्राध्यक्ष (अग्रॉनौमस) या वनाध्यक्ष कहा जाता है।

अपने पृथक्-पृथक् कर्तव्यो के सहित इन तीन पदो के अतिरिक्त एक चौथा पद और है, जिसका कार्य सार्वजनिक राजस्व को ग्रहण करना और विविध विभागो को नियत मात्रा के अनुसार उसका वितरण करना है। इस पद पर आसीन व्यक्ति राजस्व-ग्रहीता अथवा कोषाध्यक्ष कहलाता है।

एक और (पॉचवॉं) पद व्यक्तिगत ठहरावो (ठेको) और न्यायालय के निर्णयो को लेखबद्ध करने का कार्य करता है। इसी पद के कार्यो में दोषारोपणो एव प्रारभिक कार्यकलापो का लेखा रखना भी (सम्मिलित) होना चाहिये। कभी-कभी (कुछ नगर-राष्ट्रो मे) यह पद भी अनेक विभागो मे विभाजित होता है, यद्यपि ऐसी अवस्था में एक पदाधिकारी (अथवा पदाधिकारीपटल) सब विभागो के ऊपर नियुक्त रहता है। इन पदो के अधिकारी धर्मलेखक, प्रभु, लेखक एव इसी प्रकार के अन्य नामो से अभिहित किये जाते है।

इसके पश्चात् अब एक ऐसा पद आता है जो अन्य सब पदो की अपेक्षा परम अनिवार्य और अत्यन्त कठिन है, इस पद का कार्य दण्डित अपराधियो पर दण्डाज्ञा को प्रतिपादित करना, सार्वजनिक सूचियो मे उल्लिखित जनो से जुर्माना (सरकारी ऋण) वसूल करना तथा बन्दी लोगो का निरोध करना है। यह पद कठिन इसलिये है कि इसके साथ बहुत अधिक घृणा (विद्वेष) चिपटी रहती है। अतएव जब तक बहुत अधिक लाभ-प्राप्तिकी सभावना न हो तब तक या तो कोई भी व्यक्ति इस पद को ग्रहण करने को प्रस्तुत नही होता और यदि प्रस्तुत भी होता है तो इस पद के कार्य नियमानुसार कठोरता के साथ प्रतिपादित नही कर पाता। तथापि यह परम आवश्यक (अनिवार्य) पद है, क्योकि यदि न्यायालय के निर्णय अन्तत कार्यान्वित न किये जा सके तो अभियोगो को निर्णय कराने के लिये न्यायालय मे ले जाने की कोई उपादेयता ही न रहे। और यदि पारस्परिक सामाजिक जीवन अभियोग-निर्णय-पद्धति के बिना सभव न हो तो उन निर्णयों को कार्यान्वित किये बिना भी सभव नही हो सकता। इस पद की

कठिनाई को दृष्टिमे रखते हुए इसको एक व्यक्ति (अथवा एक विशिष्ट व्यक्ति-मडल) को सौपना ठीक नही होगा प्रत्युत इस पद के कर्तव्यो को विभिन्न न्यायालयो से ग्रहण किये गये विभिन्न प्रतिनिधियो को सौपना अच्छा होगा। इसी प्रकार से, उन लोगों के नामो को जो कि सार्वजनिक कर्जदारो की सूची मे हैं, प्रदर्शित करने के कार्य को भी विभिन्न (पदाधिकारी) व्यक्तियो मे बॉटने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके अतिरिक्त शासनाधिकारियो के विविध पटल भी कुछ निर्णयो को कार्यान्वित करने मे कुछ सहायता दे सकते हैं, विशेष रूप से पदरिक्त करनेवाले अधिकारियो द्वारा आरोपित अर्थदण्ड को प्रवर्त्तित या कार्यान्वित करने का काम पदग्रहण करनेवाले अधिकारियो के ऊपर छोड दिया जाना चाहिये। और एक ही समय पदारूढ (वर्त्तमान काल मे पदारूढ) पदाधिकारियो द्वारा दिये गये अर्थदण्ड के सबध मे यह व्यवस्था होनी चाहिये कि उसको कार्यान्वित या प्रवर्त्तित करने का काम दण्ड देनेवाले अधिकारीपटल से भिन्न अधिकारी-पटल पर छोड दिया जाय, उदाहरणार्थ आपणाध्यक्ष द्वारा लगाये गये अर्थदण्ड को वास्तु-अध्यक्ष को वसूल करना चाहिये तथा इनके द्वारा लगाये गये अर्थदण्ड को अन्य अधिकारियो को वसूल करना चाहिये। किसी अर्थदण्ड को प्रवर्त्तित करने मे (= वसूल करने में) जितनी ही कम बदनामी होगी उतनी ही सरलता अन्तत उसको कार्यान्वित अथवा प्राप्त करने मे होगी। जब दण्ड का निर्णय करनेवाले और उसको कार्यान्वित करनेवाले अधिकारियो का वर्ग एक ही होता है तो वह दुगुनी घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, तथा जब एक ही अधिकारी-वर्ग को सब दण्डो को कार्यान्वित करना पडता है तो वे तो सब के ही शत्रु हो जाते हैं।

कई एक नगर-राष्ट्रो मे बन्दियो की चौकसी करनेवाला पद, दण्ड को कार्यान्वित करनेवाले पद से भिन्न है, जैसे कि अथेन्स मे बन्दियो की चौकसी रखना "एकादश" अधिकारियो का कर्तव्य था।[४] अतएव इस (जेलर के) पद को पृथक् रखना और फिर इसके लिए भी उन्ही उपर्युक्त चतुराइयो का प्रयोग करना अधिक अच्छा होगा जिनका प्रयोग दण्ड वसूल करने के लिए बतलाया गया (जिससे यह पद कम अप्रिय बना रहे।) यह जेलर का पद दण्ड को कार्यान्वित करनेवाले पद से कम अनिवार्य नही है। पर यह एक ऐसा पद है जिससे भले आदमी दूर भागने का भरसक प्रयत्न करते हैं, तथा बुरे आदमियो को यह सत्ता देना समुचित अथवा भला नही हो सकता क्योकि वे दूसरो की चौकसी कर सके इसकी अपेक्षा तो स्वय उनकी ही चौकसी अधिक की जानी चाहिये। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि इस पदके कर्तव्य को न तो इसी के लिए विशेष रूप से नियुक्त किसी एक अधिकारी (अथवा अधिकारीवर्ग) को सौंप देना चाहिये और न

लगातार सर्वदा के लिए ही सौप देना चाहिये, प्रत्युत यह ऐसा पद है जिसके कर्तव्य का पालन विभिन्न अधिकारियो द्वारा बारी बारी से किया जाना चाहिये। तथा यह अधिकारीवर्ग कुछ तो, (जहाँ युवको को कुछ सैनिको और पुलिस के कार्य की शिक्षा दी जाती हो वहाँ) युवको मे से लिये जाने चाहिये और कुछ शासन-पदाधिकारियो के पटलो मे से लिये जाने चाहिये।

यह छ पद अनिवार्य होने के कारण प्रथम कोटि के माने जाने चाहिये। इनके पश्चात् कई एक अन्य पद आते है जो इन्ही के समान अनिवार्य है, इनसे महत्त्व मे किञ्चिन्मात्र भी घटकर नही है, प्रत्युत जो महत्त्व की दृष्टि से इनसे ऊँचे है, एव जिनके लिए विशाल अनुभव और विश्वासपात्रता की अपेक्षा होती है। ऐसे पदो मे सब से प्रथम गणना उनकी होती है जिनमे नगर की रक्षा का भार निहित होता है तथा जिनमे सैनिक उपयोगिता के कार्य नियोजित रहते है। शान्तिकाल मे और युद्धकाल मे एक समान ऐसे मनुष्यो की आवश्यकता होती है जिनका कर्तव्य नगर के द्वारो और प्राचीरो की रक्षा एव अध्यक्षता करना एव नागरिको का सैनिक निरीक्षण और सघटन करना होता है। कुछ नगरो मे तो उन कार्यो के प्रतिपादन के लिए बहुत से पद होते है और कुछ मे थोडे से ही होते है, तथा छोटे नगरो मे इन कार्यो के लिए केवल एक पद रहता है। इन पदो पर आरूढ अधिकारी लोग युद्धाधिकारी अथवा सेनाध्यक्ष कहलाते है। फिर इसके अतिरिक्त जहाँ अश्वारोही दल, अथवा हलके शस्त्रो वाले सैनिको के दल, अथवा धनुर्धारियो की सेना अथवा नाविक-दल होता है तो कभी-कभी इनमे से प्रत्येक के लिए एक-एक पृथक् सेनानी नियुक्त किया जाता है तथा इनकी अध्यक्षता करनेवाला सेनानी (पदाधिकारी) नौसेनाध्यक्ष, या अश्वसेनाध्यक्ष अथवा हलके अस्त्र-धारी सैनिको का अध्यक्ष कहलाता है। फिर इनके पश्चात् इनके अधिनायक-पदाधिकारी होते है जो नौसेना-अधिनायक, शताधिकारी, अश्वसेनाधिनायक इत्यादि कहलाते है, और इसी प्रकार के नाम इससे भी छोटी-छोटी टुकडियो के अधिकारियो को दिये जाते है। यह सब पद-सघटना एक विभाग के अन्तर्गत होती है, जो है—युद्ध का विभाग। इस प्रकार इस सेना के शासन-प्रबन्ध के विषय मे इतना ही अल है।

पर क्योकि, इनमे से यदि सब नही तो बहुत से पदाधिकारी लगातार सार्व-जनिक धन का उपयोग किया करते है, अतएव इसके लिए अनिवार्यतया एक दूसरे पद की आवश्यकता होती है जिसका कार्य अन्य पदो के लेखे-जोखो को सग्रह करना और उनका निरीक्षण-परीक्षण करना होता है, तथा इसके अतिरिक्त उसका अन्य कोई

कार्य नही होता। इस पद के अधिकारी कही तो आय-व्यय-निरीक्षक कहलाते है, कही गणक कहलाते है, कही परीक्षक और कही समर्थक (वकील) कहलाते है।

इन उपर्युक्त सब पदो से परे एक ऐसा पद है जो इन सबके ऊपर अपनी सत्ता रखता है। बहुत से नगरो मे इस पद मे नवीन विषयो को आरभ (प्रस्तुत) करने और अन्त मे उनको स्वीकार करने का अधिकार न्यस्त होता है। अथवा कम से कम, जहाँ शासनतत्र जनता के हाथ मे होता है, वहाँ यह पद नगर-परिषद् का सभापतित्व करता है, क्योकि कोई ऐसी समिति (सस्था) होनी चाहिये जो नगर की शासन-सत्ता की सयोजना कर सके। कही कही इस पद के अधिकारी प्रोबूली (प्राग्विचारक) कहलाते है क्योकि वे राष्ट्र के हित का विचार सबसे पहले प्रारभ करते है। पर जहाँ जन परिषद् होती है वहाँ वे 'बूली' अथवा समिति कहलाते है। राजनीतिक पदो का स्वरूप कुछ इसी प्रकार का होता है।

पर इसके अतिरिक्त सार्वजनिक कार्यो अथवा पदो का एक और क्षेत्र है जो देव और धर्म सबधी कार्यो की देखरेख करता है। इसके लिए पुजारियो और सरक्षको जैसे पदाधिकारियो की आवश्यकता होती है—इन सरक्षको का कर्तव्य देवालयो की रक्षा करना, तथा पतनोन्मुख होने पर उनकी मरम्मत कराना, एव देव सबधी अन्य ऐसी ही बातो का प्रबध करना होता है। कही कही, (जैसे कि छोटे नगर-राज्यो मे) यह समग्र कर्तव्य-भार एक ही पद (=पदाधिकारी) को सौंप दिया जाता है, पर अन्य (बडे) राष्ट्रो मे (इस क्षेत्र मे) बहुत से पद होते है और यह पद पुजारी के पद से पृथक् होते है, उदाहरणार्थ सार्वजनिक धर्मकृत्यो के अध्यक्ष, देवधामो के सरक्षक, धार्मिक अथवा देव सबधी सम्पत्ति के प्रबधको (अथवा कोषाध्यक्षो) के पद (भी हुआ करते है)। इन उपर्युक्त पदो से निकट सबध रखनेवाला एक पृथक् पद भी हो सकता है, जिसका कर्तव्य उन सब सार्वजनिक यज्ञो का सपादन होता है, जो कानून द्वारा (साधारण) याजको को नही सौंपे जाते है, तथा जिनको सार्वजनिक यज्ञशाला (अग्निशरण) मे सपादित किये जाने का सम्मान प्राप्त होता है। इस पद को ग्रहण करनेवाले कही आर्खन्, कही बसिलियस् (राजा) और प्रीतानैइस् (पुरोहित) कहलाते है।

अतएव जो पद सब राष्ट्रो मे अनिवार्यतया आवश्यक हुआ करते है उनको सक्षेप मे इस प्रकार वर्णन कर सकते है, प्रथम तो सार्वजनिक पूजा अथवा धर्म सबधी पद, युद्ध सबधी पद, राजकीय आय (राजस्व) और व्यय सबधी पद, हाट-बाजार सबधी

पद, नगरवास्तु सबधी पद, पत्तन (बन्दर) सबधी पद एव भूक्षेत्र सबधी पद है, इनके पश्चात् न्यायालय सबधी पद, ठेको अथवा ठहरावो के लिपिबद्ध करनेवाले पद, दण्डो को प्रवृत्त अथवा कार्यान्वित करानेवाले पद, बदियो की चौकसी करनेवाला पद, पदाधिकारियो के खातो की पडताल, देख-रेख और निरीक्षण करनेवाले पद आते है, और अन्त मे सार्वजनिक मामलो पर विचार करने से सबध रखनेवाले पद है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे पद भी है जो अपेक्षाकृत अधिक अवकाश और अधिक समृद्धिवाले राष्ट्रो मे ही, जो सुव्यवस्थाके लिए भी चिन्ताशील रहते है, विशेष रूप से पाये जाते है—यह है, महिलाध्यक्ष का पद, नियमाध्यक्ष का पद (जिसका कार्य जनता से नियमो=कानूनो का पालन कराना है), शिशु-रक्षक का पद, शारीरिक व्यायाम सबधी पद। इनके अतिरिक्त व्यायाम सबधी प्रतियोगिताओ, दियौनीसियस् के उत्सव के सबध मे होनेवाली नाटच प्रतियोगिताओ एव इसी प्रकार के अन्य सब सभव खेल-तमाशो और मनोरजनो के अध्यक्षो के पद भी इन्ही के साथ जोडे जा सकते है। इनमे से कुछ पद—उदाहरणार्थ महिलाध्यक्ष और शिशुअध्यक्ष के पद-स्पष्ट ही जनतत्रात्मक नही है, निर्धन लोगो को (क्योकि उनके पास दास नही होते) अपनी स्त्रियो और बच्चो से अनिवार्यतया नौकरो का जैसा काम लेना ही पडता है।

फिर, जिन पदाधिकारियो के निर्देश के अनुसार (कुछ) राष्ट्रो मे निर्वाचको द्वारा सर्वोच्च पदाधिकारियो का निर्वाचन किया जाता है, वे तीन है, प्रथम—नियमाध्यक्ष, दूसरे—नगर-परिषद् (प्राक्-परिषद्), तीसरे समिति। इनमे से नियमाध्यक्ष श्रेष्ठ-जनतत्रात्मक, प्राक्-परिषद् धनिकतत्रात्मक तथा समिति जन-तत्रात्मक शासन-पद्धति से सबध रखनेवाली सस्थाएँ है।

इस प्रकार हम लगभग सभी प्रकार के शासनाधिकार-पदो का सक्षिप्त रेखाचित्र के रूप मे वर्णन कर चुके, परन्तु [५]

टिप्पणियाँ

१, २. चतुर्थ पुस्तक के १५ वें खंड में।

३. वास्तु के लिये मूल ग्रीक भाषा में आस्तु अथवा अस्ती शब्द का प्रयोग किया गया है। लिडेल् और स्कॉट के ग्रीक भाषा के कोश में इसको संस्कृत के "वास्तु" का सजातीय बतलाया है। इसके अर्थ वसति = नगरी और मकान दोनों है।

४. इनका कर्तव्य इसके अतिरिक्त मृत्युदण्ड को कार्यान्वित करना भी था।

५. यह अन्तिम वाक्य अधूरा ही रह गया है। इस प्रकार के अधूरे वाक्य अरिस्तू की रचनाओ मे अनेक स्थानो पर मिलते है। जैसा कि हम पहले बतला चुके है अरिस्तू की उपलब्ध रचनाएँ उसके प्रवचनो की रूपरेखा अथवा टिप्पणियाँ है। उसके स्वय पूर्णरूपेण लिखे हुए ग्रथ उपलब्ध नही होते।

सातवीं पुस्तक

१

सौख्य और सम्पत्ति का विवेचन

श्रेष्ठ अथवा आदर्श प्रकार की शासन-व्यवस्था के स्वरूप के खोजने का कार्य समुचित प्रकार से आरभ करने के पूर्व अभीष्टतम जीवन-पद्धति के स्वरूप को निर्धारित कर लेना परमावश्यक (अनिवार्य) कार्य है। इस (अभीष्टतम जीवन-पद्धति) के अस्पष्ट रहने पर वह आदर्श व्यवस्था भी अवश्यमेव अनिश्चित ही रहेगी। अतएव यह आशा की जा सकती है कि यदि कोई अप्रत्याशित अनोखी घटना न घटे तो सर्वश्रेष्ठ जीवन-पद्धति तथा किसी नियत परिस्थिति में सभव सर्वोत्तम शासन-व्यवस्था का साहचर्य होगा।[1] अत हमको सबसे पहले जीवन-पद्धति का वह सर्वसम्मत प्रकार खोज निकालना चाहिये जो सब अवस्थाओ मे सब मनुष्यो के लिए सबसे अधिक वाछनीय हो, और तत्पश्चात् यह पता लगाना चाहिये कि क्या वही जीवन प्रकार, जो व्यक्ति के प्रसग मे वाछनीय है, समग्र समाज के प्रसग मे भी वाछनीय है अथवा नही।

यह मान लेते हुए कि श्रेष्ठ जीवन के सबध में हमारे द्वारा बाह्य (सार्वजनिक) रचनाओ मे[2] पर्याप्तरूपेण बहुत सा विवेचन (कथन) किया जा चुका है, अब हमको यहाँ उसी का उपयोग कर लेना चाहिये। श्रेष्ठ जीवन के तत्त्वों के एक विभाजन के प्रति तो निश्चय ही किसी को कोई आपत्ति नही हो सकती। यह तत्त्वविभाजन जीवन सम्पत् को तीन सम्पदाओ—बाह्य सम्पदा, शारीरिक सम्पदा, और आध्यात्मिक सम्पदा—मे विभक्त करता है। यह बात भी साधारणतया सर्वसम्मत है कि सुखी मनुष्य को यह सबकी सब सम्पदाएँ प्राप्त होनी चाहिये। कोई भी मनुष्य ऐसा नही होगा जो ऐसे व्यक्ति को सुखी कहे जिसमें कि साहस, औचित्य (विवेक) न्याय और सूझबूझ तो लेशमात्र भी नही है, प्रत्युत जो पास उडनेवाली मक्खियो तक से भय खाता है, जो क्षुधा और तृषा की उत्कण्ठा किसी भी अति को वर्जित नही करता, जो एक पैसे के लिये अपने प्रिय से भी प्रिय मित्र की बलि दे सकता है, तथा जिसकी बुद्धि (अथवा ध्यान) इतनी बेसमझ और विक्षिप्त (दुर्बल, झूठी) है जितनी कि किसी बच्चे अथवा पागल मनुष्य की होती है। यह सभी कथन ऐसे हैं जो उच्चारण

किये जाने पर प्राय सभी मनुष्यो द्वारा तत्काल स्वीकार कर लिये जायेगे। पर मत-भेद तो तब उत्पन्न होता है जब यह प्रश्न पूछा जाता है कि प्रत्येक (उपर्युक्त सपदा) में से प्रत्येक मनुष्य को कितनी मात्रा अधिकृत करनी चाहिये ? अथवा इन सम्पदाओ का आपेक्षिक तारतम्य क्या है ? भलाई (अर्थात् आध्यात्मिक सम्पदा) का तो अल्पाश-मात्र पर्याप्त मान लिया जाता है, पर धन, सम्पत्ति, सामर्थ्य, ख्याति और इसी प्रकार की अन्य वस्तुओ की लोग असीम कामना किया करते है। ऐसे मनुष्यो के प्रति हमारा उत्तर यह है कि, 'इस विषय मे आप लोगो को सरलतापूर्वक आश्वस्त करा देने के लिये (अथवा विश्वास प्राप्त करा देने के लिये) वास्तविक तथ्य स्वयमेव समर्थ है। आप स्वय देखते ही है कि सद्वृत्ति (आध्यात्मिक सपदा) की प्राप्ति और रक्षा बाह्य धनदौलत से नही होती, प्रत्युत इस (बाह्य-सम्पत्ति) की रक्षा उस (आध्यात्मिक सपदा) के द्वारा होती है। आप स्वयमेव देख सकते है कि सुख—चाहे तो उसके प्रेय के अन्तर्गत मानो, चाहे सद्वृत्त के अन्तर्गत, और चाहे उभयगत (=उन लोगो की अपेक्षा (जिन्होने बाह्य-सम्पत्ति को उपयोगिता की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा मे उपलब्ध कर लिया है पर जो आध्यात्मिक सम्पदा की उपलब्धि मे पिछडे हुए है) उन मनुष्यों को अधिक उपलब्ध होता है जिन्होने अपने आचरण और बुद्धि का तो अत्यधिक विकास किया है पर जिन्होने बाह्य-सम्पत्ति की प्राप्ति को साधारण (मध्यम) सीमा मे रहने दिया है। [यह तो जीवन के वास्तविक अनुभव का दिया हुआ उत्तर है।] पर फिर भी विचार द्वारा भी इसको एक दृष्टिपात मे युक्तिसगत सिद्ध किया जा सकता है।

अन्य सब उपकरणो के समान बाह्य सम्पत्तियो के आकार की एक सीमा हुआ करती है; सच तो यह है कि सभी उपयोगितापूर्ण वस्तुएँ ऐसी होती है कि जहाँ कही उनकी अति हुई वही या तो वे अपने अधिकारी की कोई हानि कर देती है, अथवा उसको कोई लाभ नही पहुँचाती। इसके प्रतिकूल आध्यात्मिक सम्पत्तियाँ जितनी ही अधिक मात्रा में होती है उतनी ही अधिक उनकी उपयोगिता भी होती है, बशर्ते कि हमको इस प्रसग मे केवल मूल्य शब्द का प्रयोग न करना हो और वास्तव मे 'उपयोगिता' विशेषण तनिक भी उपयुक्त हो। सामान्यरूपेण हम स्पष्ट ही निम्नलिखित कथन को स्वय-सिद्ध कथन के रूप में प्रस्तुत कर सकते है, कि "दो वस्तुओ की सर्वोत्तम अवस्थाओ की यदि हम उनके उत्कर्ष के तारतम्य की दृष्टि से तुलना करे तो उनका परस्पर एक दूसरे के प्रति वैसा ही अनुपात होता है जैसा कि उन दो वस्तुओ मे अन्तर (दूरी) है जिन वस्तुओं की अवस्थाएँ हम इन अवस्थाओ को बतलाते है।" अतएव यदि आत्मा,

एकान्तत: भी और हमारे सबध से भी हमारी सम्पत्ति और हमारे शरीरो से अधिक मूल्यवान् वस्तु है, तो आत्मा की सर्वोत्तम अवस्था का भी हमारी सपत्ति और शरीरो की सर्वोत्तम अवस्था के प्रति अवश्यमेव यही अनुपात होगा (अर्थात् आत्मा की सर्वोत्तम अवस्था हमारी सम्पत्ति और शरीरो की सर्वोत्तम अवस्था से अनिवार्यतया अधिक मूल्यवान् होगी।) और इसके अतिरिक्त आत्मा ही के लिये यह अन्य वस्तुएँ (अर्थात् सम्पत्ति और शरीर) वाछनीय हुआ करती है, तथा सब सद्बुद्धिवाले व्यक्तियो को उनकी अभिलाषा इसी (आत्मा के) निमित्त करनी चाहिये, न कि इनके निमित्त आत्मा की आकाक्षा।[४]

अतएव हमको इस विषय मे एकमत होना मान लेना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्य के भाग्य मे जो सुख उपलब्ध होता है वह उतना ही होता है जितनी उसमें भलाई और सद्बुद्धि होती है तथा जितने भले और सद्बुद्धिपूर्ण कार्य वह किया करता है।[५] भगवान् (का स्वरूप) स्वयं इस तथ्य का साक्षी है। वह आनन्दमय और मगलमय है, तथापि वह ऐसा किसी बाह्य सम्पत्ति के कारण नही है प्रत्युत वह स्वत. और अपनी सत्ता के स्वरूप के कारण ऐसा है। इससे यह बात समझ में आ जायगी कि सौभाग्यशाली होना और सुखी होना अवश्य ही एक दूसरे से भिन्न बातें हैं। आत्मा से बाहर की जो सम्पदाएँ है उनके कारण (उनको जन्म देनेवाले) यदृच्छा और दैव है (अतएव मनुष्य के सौभाग्य-शाली होने के कारण भी यही हैं) पर कोई भी व्यक्ति केवल दैवात् 'अथवा दैव द्वारा न्यायपरायण एव सयमी (अर्थात् सुखी) कभी नहीं हो सकता।

इसके अनन्तर इसी से मिलता-जुलता तथा इसी प्रकार की सामान्य युक्ति परम्परा पर आश्रित यह सिद्धान्त आता है कि जो नगर सदाचार की दृष्टि से श्रेष्ठ है तथा शोभन कार्य करता है वही सुखी (और सफल) है। भला कार्य करना तब तक नहीं बन सकता जब तक कि उचित कार्य करने का अभ्यास न किया जाय। (अथवा भला तब तक हो नही सकता जबतक भला किया न जाय।) तथा बिना भलाई और सद्बुद्धि के भला काम न तो व्यक्ति से ही बन सकता है और न नगर (—राष्ट्र) से। इस प्रकार नगर (—राष्ट्र) का साहस (शौर्य), न्याय और बुद्धिमत्ता वही शक्ति (सामर्थ्य) और आकृति रखते है जो कि उन गुणो में पाई जाती हैं जिनको धारण करनेवाले मनुष्य साहसी, न्यायपरायण और बुद्धिमान कहलाते हैं।

पर वह (उपर्युक्त) कथन, (वे जितने हैं उस सीमा तक) हमारे विवेचन के लिये तात्त्विक भूमिका का काम दे सकते हैं। इनका जिन विषयों से सबंध है उनको अछूता

छोड देना संभव नही है पर, साथ ही साथ यहाँ पर उन सब युक्तियो का प्रपच-विस्तार करना भी सभव नही है जो इस विषय से सबद्ध है। यह तो एक दूसरे ही पृथक् विज्ञान का काम है। यहाँ तो अब इतना ही मान लेना चाहिये कि पृथक्-पृथक् व्यक्तियो के लिए तथा समष्टिभूत नगर के लिये श्रेष्ठ जीवन वह है जो सद्वृत्तिमय हो तथा साथ ही साथ आवश्यक बाह्य उपकरणो की इतनी मात्रा से युक्त हो जिससे भलाई के कार्यो मे भाग लिया जा सके (अर्थात् भले काम किये जा सके)।[७] इस कथन का विरोध किया जा सकता है, पर इस प्रस्तुत विवेचन मे तो हम इस विरोध को सहन कर लेंगे, और यदि कुछ व्यक्ति ऐसे होगे जो हमारे इस कथन को स्वीकार नही करेंगे तो उनकी आपत्तियो का भविष्य मे उत्तर देने का प्रयत्न किया जायगा।

टिप्पणियाँ

१. विशुद्ध तर्क की दृष्टि से अरिस्तू की यह स्थापना बिलकुल ठीक है कि श्रेष्ठ जीवन-पद्धति और श्रेष्ठ (आदर्श) व्यवस्था का साहचर्य है। पर प्रश्न तो यह है कि क्या सार्वकालिक एवं विश्वजनीन श्रेष्ठ जीवन की कल्पना का श्रेय किसी के भाग्य मे बदा भी है ? अरिस्तू स्वयं पूर्णतया आश्वत प्रतीत नही होता अतएव उसने अप्रत्याशित घटना न घटने की शर्त्त लगाई। इसी कारण मनु ने भी कहा—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानरूपतः ॥१।८५

कुछ मनीषियो के विचार में जीवन की आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति में हम शाश्वत आदर्शों की स्थापना कर सकते हैं। जीवन का अथवा श्रेष्ठ जीवन का बाह्यरूप तो निरन्तर बदलता रहा है और बदलता रहेगा। बीसवी शताब्दी में आध्यात्मिक अनुभूति की शाश्वतता पर भी कम ही लोगो को आस्था है।

२. अपने विद्यालय में सायंकाल को अरिस्तू साधारण जनता के लिये उपयोगी और बोधगम्य विषयो पर सरल शैली में प्रवचन किया करता था। इन प्रवचनो का लिखित रूप भी था। पर वह आजकल उपलब्ध नहीं।

३. अर्थात् एक वस्तु को 'क' नाम दें और दूसरी को 'ख' तो इस वाक्य को इस अनुपात के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं :—

क की सर्वोत्तम अवस्था, ख की सर्वोत्तम अवस्था : : क : ख ॥

४. यह वाक्य तो बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।५ में याज्ञवल्क्य के निम्नलिखित वाक्य का साक्षात् अनुवाद जैसा प्रतीत होता है—"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

५. यद्यपि अरिस्तू ने अपने गुरु प्लातोन की बहुत आलोचना की है पर वह उसका पदे-पदे ऋणी भी प्रतीत होता है। भला होना ही सुखी होना है, यह सिद्धान्त प्लातोन की रचनाओं से ग्रहण किया गया है। अरिस्तू ने अपने गुरु की प्रशंसा में जो कविता लिखी थी उसकी दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:—

वाचा और कर्मणा जिसने प्रथम व्यक्त यह किया विचार।
जो है साधु सुखी है सोई, और सभी निष्फल नि.सार॥

पौलिटिक्स की अन्तिम दो पुस्तकों में तो प्लातोन का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। डॉ० विल ड्यूरैण्ट ने The Life of Greece नामक पुस्तक के ५२४ पृष्ठ पर अरिस्तू के विषय में लिखा है कि "He refuted Plato at every turn because he borrowed from him on every page" अर्थात् क्योंकि वह अपनी रचनाओं के प्रत्येक पृष्ठ पर प्लातोन का ऋणी है अतएव उसने जहाँ तहाँ उसका खंडन किया है।"

६. यहाँ दैव अथवा दैवात् से तात्पर्य यदृच्छा या भाग्य से है। तुलना कीजिये

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहंकरोमीति वृथाभिमान: स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥

७. यह है अरिस्तू का मध्यममार्ग, न केवल अध्यात्मवाद और न कोरा भौतिकवाद। फिर भी उसका झुकाव अध्यात्म की ओर है।

२

राष्ट्रीय जीवन का लक्ष्य सुख अथवा सैनिक-विजय ?

अब यह विवेचन करना शेष रह गया है कि व्यक्ति और नगर (—राष्ट्र) के सुख को एक और अभिन्न कहना चाहिये या नही। पर यह बात भी स्पष्ट है, इस विषय मे सब एक मत है कि (व्यक्ति और नगर का सुख) एक ही है। जो लोग यह मानते है कि व्यक्ति के जीवन की भलाई धन मे है वे यह भी मानते है कि समग्र नगर की भलाई उसके धनवान् होने मे है। जो लोग अधिनायक या तानाशाह के जीवन को सबसे अधिक आदरणीय मानते है, वे सबसे अधिक मनुष्यो पर शासन करनेवाले नगर को (सबसे बडे साम्राज्यवाले नगर को) सबसे अधिक सुखी बतलाते है, जब कि वह मनुष्य जो व्यक्ति के जीवन की श्लाघा उसकी भलाई (=सद्वृत्ति=साधुता) के आधार

पर करता है, जो नगर जितना ही अधिक सद्गुण-सम्पन्न होता है उसको उतना ही अधिक सुखी बतलाता है।

यहाँ दो विचारणीय प्रश्न उपस्थित होते है। प्रथम प्रश्न यह है कि अन्य नागरिकों के साथ मिलकर नगर के कार्यो मे भाग लेना, अथवा एक विदेशी के समान नागरिक जीवन के सब बन्धनो से स्वतत्र रहना, इन दोनो प्रकार के जीवनो मे कौन-सा जीवन (अधिक) वाछनीय है? दूसरा प्रश्न यह है कि किस प्रकार की शासन-व्यवस्था और नगर की कौन-सी अवस्था श्रेष्ठ है—फिर चाहे तो हम यह मानते हो कि नगर के सार्वजनिक कार्यो मे भाग लेना सबके लिये वाछनीय है, अथवा नही, या केवल अधि-काश लोगो के लिये वाछनीय है? क्योकि यह दूसरा प्रश्न, (अर्थात् किस प्रकार की शासन-व्यवस्था और नगर की अवस्था सर्वश्रेष्ठ है) राजनीति के ध्यान देने और चिन्तन करने का विषय है, और व्यक्ति के लिये क्या वाछनीय है यह विचारना राजनीति का काम नही है, तथा क्योकि हम इस समय इसी विषय के परीक्षण मे लगे हुए है, प्रथम प्रश्न का विषय हमारे लिये गौण महत्त्व रखता है, अतएव हम इसको (दूसरे प्रश्न के विषय को) प्रस्तुत अन्वेषण का कार्य मान सकते है।

सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था के विषय मे इतना बिलकुल स्पष्ट है कि श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था वह है जिसके प्रबन्ध मे प्रत्येक व्यवित, चाहे वह कोई भी क्यो न हो, श्रेष्ठ प्रकार से कार्य कर सकता है और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है। परन्तु जो लोग इस बात पर एकमत है कि भला जीवन (सद्वृत्तिमय जीवन) ही श्रेष्ठ जीवन है वे भी इस विषय पर विवाद खडा करते है कि जीवन की कौन-सी पद्धति अधिक वाछनीय है?—क्या राजनीतिक और व्यावहारिक जीवन वाछनीय है? अथवा सब बाह्य वस्तुओ से स्वाधीन जीवन (अर्थात् चिन्तनपरायण जीवन, जो कि तत्त्वज्ञ (दार्शनिक) के लिये एक मात्र समुचित प्रकार का जीवन कहा जाता है) अपेक्षाकृत अधिक वाछ-नीय है? यही दो प्रकार के जीवन—राजनीतिज्ञ का जीवन तथा दार्शनिक का जीवन—ऐसे है जो प्राचीन काल में और आजकल भी उन लोगो के द्वारा स्पष्टतया अधिक पसन्द किये गये है जो सद्वृत्ति (सदाचारमय जीवन की) की ख्याति प्राप्त करने के अत्यन्त उत्कठित रहे है। इन दोनो पक्षो मे से सत्य किसके साथ है यह तत्त्व कोई कम अन्तर डालनेवाला नही है। क्योकि चाहे तो एक व्यक्ति हो और चाहे नागरिक समाज हो, दोनो के समझदार होने का अनिवार्य कर्तव्य उत्तम लक्ष्य को प्राप्त करना ही है। कुछ लोग यह मानते है कि अपने पड़ोसी नगर-राष्ट्रो पर स्वेच्छा-

चारितापूर्ण शासन करना अन्याय की पराकाष्ठा है, और यदि शासन-पद्धति व्यवस्थात्मक हो तो भी यद्यपि वह उन (शासितो के लिये) अन्यायपूर्ण नही होती, तथापि वे इसको भी स्वय अपने कल्याण (=सुदिन) के लिये अच्छा नही मानते। कुछ अन्य लोगो की राय इसके विपरीत है, उनका विचार है कि मनुष्य के लिये तो क्रियात्मक और राजनीतिक जीवन ही (आदर्श जीवन है), उनका विश्वास है कि प्रत्येक सद्वृत्ति के व्यवहार के क्षेत्र मे एकान्त व्यक्तिगत जीवन, सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन की अपेक्षा अधिक अवकाश (अवसर) प्रदान नही करता। (क्रियात्मक और राजनीतिक जीवन के) कुछ समर्थक इतने से ही सन्तुष्ट हो जाते है, पर कुछ अन्य इससे भी आगे बढ जाते है, उनका तो (यहाँ तक) कहना है कि स्वेच्छाचारी और तानाशाही शासन-पद्धति का ही ढग एक मात्र ऐसा है जो सुख प्रदान करता है। वास्तव में कुछ राष्ट्र-व्यवस्थाएँ ऐसी है जिनमे शासन-पद्धति और नियम (कानून) दोनो का ही लक्ष्य यह होता है कि समीपवर्ती नगरो पर किस प्रकार स्वेच्छाचारी-शासन चलाया (=स्थापित किया) जाय।

और इसीलिए यद्यपि अनेको नगरो मे नियम (कानून) बहुत ही गडबड की दशा मे पडे हुए कहे जा सकते है, तथापि यदि वे सब कही किसी एक दिशा की ओर लक्ष्य रखकर प्रवृत्त होते भी है तो वह (दिशा) शक्ति की रक्षा करना है। उदाहरण के लिए लाकैदायमॉन और क्रीती मे शिक्षा-पद्धति और अधिकाश कानूनो की रचना युद्ध को दृष्टि मे रखकर की गयी है। इसके अतिरिक्त वे सब (बर्बर) जातियाँ जो कि दूसरी जातियो को अभिभूत करने की सामर्थ्य रखती है, युद्ध-संबधी शौर्य का ही सबसे अधिक सम्मान करती है, शक, पारसीक, थ्राकनिवासी और कैल्ट[1] इन जातियों के उदाहरण है। इन जातियो मे से कुछ के तो कानून ही ऐसे हैं जो युद्ध-सबंधी गुणो को प्रोत्साहन देते है, जैसे कि कार्खीदौन (कार्थेज) के विषय में कहा जाता है कि वहाँ जो योद्धा जितने युद्धो मे लडता है उसको उतने ककणो से अलकृत होने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। मकैदौनिया में एक समय ऐसा कानून था कि जिस व्यक्ति ने किसी शत्रु का कभी वध न किया हो उसको कटिपट्टिका के स्थान पर रस्सी (लगाम) पहननी पडती थी। शक लोगो में इस प्रकार की प्रथा थी कि जिस व्यक्ति ने किसी शत्रु की कभी हत्या न की हो उसको विशेष उत्सव (अथवा भोज) के अवसर पर चारो ओर सबके पास भेजे जानेवाले प्याले (अथवा सुराही) से मदिरा पीने का अधिकार नही होता था। इबेंरी[2] लोगो में, जो कि एक योद्धा जाति है, ऐसी प्रथा

है कि मृतक योद्धाओ की समाधियो के चारो ओर उतने ही शकु-स्तम्भो को पृथ्वी मे गाडकर खडा किया जाता है जितने शत्रुओ को उन्होने मारा हो।

इसी प्रकार बहुत सी विभिन्न प्रथाएँ विभिन्न जातियो मे प्रचलित है, इनमे से कितनी ही नियमो (कानूनो) द्वारा स्थापित की गई है और कितनी ही परम्परागत प्रथाएँ बन गयी है। तथापि जो भी व्यक्ति चिन्तन करने का इच्छुक होगा उसको यह बात बडी विचित्र (बेहूदी, बेतुकी) प्रतीत हुए बिना न रहेगी कि राजनीतिज्ञ का यह कार्य है कि वह यह पता लगा सके (देख सके) कि पार्श्ववर्त्ती राष्ट्रो पर किस प्रकार शासन और प्रभुत्व किया जा सकता है, फिर चाहे वे (पार्श्ववर्ती राष्ट्र) इस शासन को चाहते हो अथवा न चाहते हो। भला जो बात नियमानुमोदित भी नही है वह राजनीतिवेत्ता अथवा नियमनिर्माता के लिए समुचित किस प्रकार हो सकती है ? जो शासन केवल न्यायानुकूल नही, प्रत्युत अन्यायपरक है वह नियमानुसारी तो निश्चय ही नही है। ऐसे शासन मे बल का प्रयोग तो अवश्य होता है पर वह न्यायानुकूल नही होता। पर अन्य विद्याओ मे इस प्रकार का व्यवहार कभी नही देखा जाता। वैद्य अथवा निर्यामिक का यह कार्य कदापि नही होता कि वह रोगियो अथवा नाव के यात्रियो को बहलाये-फुसलाये अथवा धमकाये। पर राजनीति के क्षेत्र मे अधिकाश मनुष्यो का विचार ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरो पर स्वेच्छाचारी प्रभुत्व जमाना ही राजनीतिज्ञता है, तथा जिस बात को वे अपने प्रति किये जाने पर न तो न्यायोचित मानते है और न उपयोगी, उसी का दूसरो के प्रति व्यवहार करते हुए वे लज्जित नही होते। स्वय अपने लिए और अपने आपस के व्यवहार मे यह लोग न्यायोचित शासन की माँग (खोज) करते है, पर अन्य लोगो के प्रति व्यवहार करने मे यह लोग न्याय की तनिक भी चिन्ता नही करते। यदि (दुनिया मे) कुछ वस्तुएं (=तत्त्व) अधीन रखने योग्य और कुछ अधीन न रखने योग्य न हो तो यह बडी विचित्र (अनोखी) सी बात हो, यदि दुनिया का ढग वास्तव मे ऐसा ही हो तो सब पर ही प्रभुत्व चलाने का उद्योग नही किया जाना चाहिये, प्रत्युत यह उद्योग केवल उन्ही के प्रति किया जाना चाहिये जिन पर प्रभुत्व चलाना उचित है। उदाहरण के लिए भोज (अथवा भोजन) एव देवबलि के निमित्त कोई मनुष्य का शिकार तो कभी नही करता, प्रत्युत उन्ही का शिकार करता है जिनका इस निमित्त शिकार किया जाना चाहिये, और इस कार्य के लिए जिनके शिकार का विधान है, वे है वन्यपशु, जो कि खाये जाने योग्य हो। पर ऐसे नगर की कल्पना करना सभव है जो सब से पृथक् अकेला हो और अपने आप मे स्वय सुखी हो। मान लो कि ऐसा नगर कही न कही अलग निराले में स्थित है और सुन्दर

नियमो के नियत्रण मे है। इसका विधान स्पष्ट ही बडा अच्छा होगा, पर इस शासन-पद्धति की योजना का युद्ध से कोई सबध नही होगा, और न शत्रुओ को जीतने से उसका कोई सबध होगा, क्योकि हमारी मान्यता के अनुसार इन (युद्ध और शत्रु) का कोई अस्तित्व ही नही होगा।

अतएव यह स्पष्ट ही है कि युद्ध-सबधी समग्र अनुशीलन यदि शोभन माने भी जायँ तो मनुष्य जीवन के आत्यन्तिक उद्देश्य के (परमार्थ) के रूप मे नही, प्रत्युत परमार्थ की प्राप्ति के उपाय के रूप मे ही माने जाने चाहिये। अच्छे नियमनिर्माता को जिस लक्ष्य को दृष्टि मे रखना है वह यह है कि कोई, नगर अथवा मानवजाति अथवा अन्य सब समाज किस प्रकार भले जीवन के और उससे उत्पन्न होनेवाले सुख के सभोग करनेवाले बन सकते है। पर उसके द्वारा बनाये हुए कुछ नियम परिस्थितियो के अनुसार कुछ भिन्न प्रकार के भी होगे। यदि किसी नगर के पास कई पडोसी होगे तो नियमनिर्माता का कर्तव्य होगा कि वह यह देखे किस पडोसी के लिए किस प्रकार की युद्धविद्या व्यवहार मे लाई जानी चाहिये, तथा सामान्यतया प्रत्येक पडोसी के द्वारा प्रस्तुत की गई चुनौती का सामना किस प्रकार किया जाय। पर यहाँ पर प्रस्तुत की गयी समस्या को—अर्थात् श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था को किस लक्ष्य की प्राप्ति का उद्योग करना चाहिये—भविष्य मे विवेचन करने के लिए रख छोडना उचित होगा।[३]

टिप्पणियाँ

१. प्राचीनकाल में यूरोप के पश्चिम प्रदेश के निवासी कैल्ट कहलाते थे। यह आर्य परिवार की भाषा बोलते थे।

२. स्पेन, पोर्त्तुगाल और फ्रांस का दक्षिण पश्चिमी-भाग आइबेरी प्रायद्वीप कहलाता है। यहाँ के प्राचीन निवासी आइबेरियन् कहलाते थे।

३. यह विवेचन आगे चलकर १३ और १४ वें खण्डों में किया गया है।

३

राष्ट्ररत जीवन और आत्मरत जीवन

अब हमको उन लोगो के मतो का विचार करना चाहिये, जो इस बात में तो सहमत है कि भलाई (या सद्वृत्ति) का जीवन सबसे अधिक वाछनीय है, परन्तु जो इस सिद्धान्त के व्यवहार के ढग पर एकमत नही हैं। इस प्रकार दो पृथक्-पृथक मतो का विवेचन

करना है। एक वर्ग ऐसा है जो राजनीतिक पदो से दूर रहता है, तथा स्वतत्र व्यक्ति जीवन को राजनीतिज्ञ के जीवन से पृथक् मानते हुए, इसी जीवन को सबसे अधिक वाछनीय समझता है। पर दूसरा वर्ग राजनीतिज्ञ के जीवन को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है।[१] उनका कहना है कि कुछ न करनेवाले, भला करते नही कहे जा सकते, तथा उनके मत मे भला करना और सुख यह दोनो एक ही वस्तु है। दोनो ही पक्षो से हमारा कहना है कि आप दोनो अशत ठीक कहते है और अशत ठीक नही कहते। प्रथम वर्ग का यह मानना सत्य (ठीक) है कि स्वतत्र मनुष्य का जीवन (कितने ही दासो के) स्वेच्छाचारी प्रभु से अधिक अच्छा है, क्योकि दास के रूप मे दासो से काम लेना (अथवा दासो पर शासन चलाना) कोई बडी गौरवपूर्ण बात नही है, तथा परमावश्यक कार्यों के विषय मे दासो को आज्ञा देने मे भी शोभनता का लेशमात्र अश नही है। पर दूसरी ओर यह मान लेना कि सभी शासनकार्य दासो के ऊपर चलनेवाला स्वेच्छाचारपूर्ण प्रभुत्व ही है, गलत है। स्वतत्र लोगो पर किये जानेवाले शासन, और दासो पर किये जानेवाले शासन का अन्तर स्वभावत स्वतत्र मनष्य और स्वभावत परतत्र मनुष्य के अन्तर से कम नही होता। इस विषय मे इस पुस्तक के प्रथम अध्याय मे पर्याप्त रूप से विवेचन किया जा चुका है। (उपर्युक्त प्रथम वर्ग का) अक्रियता को सक्रियता से अधिक बढकर बताना भी ठीक नही है, क्योकि सुख तो सक्रियता ही है। इसके अतिरिक्त न्यायपरायण और सयमशील (अथवा बुद्धिमान) के कार्य एक बडी सीमा तक शोभनता की ही परिपूर्णता होते है।

अब हम जिस निश्चय पर पहुँचे है स्यात् उसका यह अर्थ किया जा सकता है कि सर्वोपरि सत्ता ही सर्वोपरि भलाई है, क्योकि यही (सर्वोपरि सत्ता) सबसे अधिक सख्या मे सबसे अधिक शुभ कार्यों के करने की शक्ति भी है। यदि ऐसा है तब तो इससे यह अनुमान सिद्ध होगा कि जो व्यक्ति शासन करने की सामर्थ्य रखता है उसको अपने पडोसी को अपनी शक्ति मे से कोई भी अश देना नही चाहिये (अथवा जिस शक्ति से वह अपने पडोसी पर शासन कर रहा है उसमे से कुछ भी शक्ति पडोसी के अधीन नही कर देनी चाहिये) प्रत्युत उसकी शक्ति का अपहरण ही करना चाहिये। पिता को अपने पुत्रो की ओर कुछ ध्यान नही देना चाहिये और न पुत्रो को पिता की ओर, तथा न किसी भी प्रकार के मित्रो को मित्रो के प्रति कोई ध्यान देना चाहिये, इस सर्वोपरि सिद्धान्तविन्दु को समक्ष रखते हुए किसी को किसी की भी कोई गणना नही करनी चाहिये। सबको इस सिद्धान्त के अनुसार काम करना चाहिये कि जो सबसे श्रेष्ठ है वही सबसे अधिक वाछनीय है और भलाई करना ही सबसे श्रेष्ठ (सम्पत्ति) है। इस

दृष्टिकोण मे स्यात् कुछ सत्य होना सभव था यदि ऐसा होता कि जो लोग लूटपाट और हत्या करते है उनको परम वाछनीय तत्व की उपलब्धि हो गयी होती। पर उनको इस प्रकार की सिद्धि की प्राप्ति असभव है, एव उनको इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त हुई मान लेना एक झूठी मान्यता है। कार्यों का भला होना तब तक सभव ही नही है जब तक कि उनको करनेवाला स्वय अन्य मनुष्यो से इतना बढकर नही है जितना कि पुरुष नारी की अपेक्षा, पिता अपने बच्चो की अपेक्षा अथवा प्रभु अपने दासो की अपेक्षा बढ कर होता है। अतएव नियम का अतिक्रमण करनेवाला भविष्य में कोई ऐसा लाभ प्राप्त नही कर सकता जो भलाई की उस हानि को पूर्ति कर सके जो उसके नियमातिक्रमण से हो चुकी है। बराबरीवाले समाज मे शोभन और न्यायानुमोदित मार्ग यही है कि सब शासनाधिकार पद को बारी-बारी से भोगें, जैसा कि समानता और सदृशता के सिद्धान्त के अनुकूल है। पर यह बात तो प्रकृति के प्रतिकूल है कि समान लोगो को समान भाग न मिले तथा जो परस्पर एक सदृश है, उनको सदृश भाग न मिले (अथवा उनके प्रति सदृशता का व्यवहार न किया जाय) और जो बात प्रकृति के प्रतिकूल है वह कभी शोभन हो नही सकती। अतएव यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जो सद्वृत्ति मे अन्य लोगो से अपेक्षाकृत अधिक अच्छा हो तथा श्रेष्ठ कार्य करने में सामर्थ्यवान् हो, तब ऐसा सयोग घटित होता है कि ऐसे अन्य (अपने से भिन्न) व्यक्ति का अनुसरण करना और विश्वास करना (आज्ञा पालन करना) न्यायोचित होता है। केवल भलाई ही पर्याप्त नही होनी चाहिये, प्रत्युत उसके साथ ही भलाई करने में सक्रिय होने के लिये क्षमता भी चाहिये।

यदि हमारा यह कथन (मत) ठीक है और यदि भले कार्य करना ही सुख माना जाय, तब यह निष्कर्ष निकलता है कि सामूहिक रूप से समग्र नगर के लिये तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिये सक्रिय जीवन ही सर्वोत्तम जीवन है। पर सक्रिय जीवन के लिये (जैसा कि कुछ लोगो का विचार है) यह अनिवार्य नही है कि उसका सबन्ध अन्य लोगो से हो ही, तथा ऐसा भी नही है कि वे ही विचार सक्रिय समझे जायें जो ऐसे पदार्थो के प्रति निर्दिष्ट हो जो कि करनी के द्वारा प्राप्त किये जाने हैं, प्रत्युत वे विचार जो स्वय अपना अन्तिम लक्ष्य है (जो अन्य लक्ष्य से मुक्त हैं) तथा वह चिन्तन और ध्यान की सरणियाँ जो स्वत. अपने में पूर्ण हैं तथा जिनका उद्देश्य स्वयं अपना अनुसरण करना, कही अधिक सक्रिय "विशेषण" के पात्र हैं। हमारा (अन्तिम) लक्ष्य है भलाई करना, अतएव किसी न किसी प्रकार का कार्य हमारा उद्देश्य है; पर बाह्य (भौतिक) कार्य के क्षेत्र में भी "कार्य करना" इस शब्द का प्रयोग पूर्णार्थ में

कार्यों के निर्देश करनेवाले मस्तिष्क (विचारो) के प्रति भी किया जा सकता है।[२] और न यही बात अनिवार्य है कि जो नगर अन्य नगरो से पृथक् स्थित है, तथा जिनका अकेला रहने का निश्चय है उनको निष्क्रिय समझा जाय, वे अपने (आन्तरिक) विभागो द्वारा इस (सक्रियता) को प्राप्त कर सकते है, नगरो के विभिन्न सामाजिक विभागो के परस्पर सपर्क के बहुत से प्रकार हो सकते है।[३] यही बात प्रत्येक मनुष्य के विषय में भी इसी के समान लागू होती है। यदि ऐसा न होता तो, ईश्वर और जगत, जिनमे स्वगत क्रियाकलाप के अतिरिक्त और कोई बाह्य कार्य नही है, दोनो मे ही कुछ न कुछ स्खलन अवश्य होता।

अतएव यह स्पष्ट है कि जो जीवन-पद्धति एक व्यक्ति के लिये श्रेष्ठ है, वही अनिवार्यतया समग्र नगर के लिये और उस नगर के सब मनुष्यो के लिये (व्यष्टित) भी श्रेष्ठ है।

टिप्पणियाँ

१. पिछले खंड के प्रारंभ में जो दो प्रश्न प्रस्तुत किये गये थे उनमें से प्रथम का विवेचन यहाँ आरंभ किया गया है।

२. अरिस्तू के मत में चिन्तन भी एक कार्य है।

३. आत्मतुष्ट नगर अरिस्तू के मत में सुखी और सक्रिय दोनो ही होता है।

४

आदर्श-नगर की जनसंख्या की मर्यादा

प्रस्तुत विवेचन की इतनी भूमिका (पूर्वपीठिका) को दृष्टि मे रखते हुए तथा, जो कुछ अन्य आदर्श राष्ट्रो के विषय मे हम पहले अन्वेषण कर चुके है उसको भी ध्यान मे रखते हुए हम अब अवशिष्ट विषय का विवरण आरभ कर सकते है, जिसमे सर्वप्रथम ज्ञातव्य बात यह है कि किसी आदर्श नगर-राष्ट्र के निर्माण के लिये परमावश्यक आधार क्या होने चाहिये ? आदर्श राष्ट्र की सत्ता समुचित उपादानो[१] के बिना तो सभव हो ही नही सकती। अतएव हमको बहुत सी ऐसी आदर्श अवस्थाओ की पूर्वकल्पना करनी चाहिये जो कि आदर्श होते हुए भी असभव न हो। इन आदर्श दशाओ मे से उदाहरणस्वरूप नागरिक जनसमूह और (निवास)-भूमि का उल्लेख किया जा सकता

है। जिस प्रकार अन्य शिल्पियो (कारीगरो) को, उदाहरणार्थ जुलाहो तथा जहाज बनानेवालो को अपने अपने शिल्प के अनुरूप और समुचित उपादान मिलने चाहिये (और जिस मात्रा मे यह उपादान अधिक अच्छे प्रस्तुत किये गये होगे, उतनी ही मात्रा मे शिल्प द्वारा प्रस्तुत शिल्पकृति भी अवश्य ही उत्तम होगी), इसी प्रकार राजनीतिज्ञ को और नियमनिर्माता को भी अपने कार्य के अनुरूप उपादान मिलने चाहिये जो उनके विशिष्ट उद्देश्य के लिये समुपयोगी हो।

नगरराष्ट्र के निर्माण मे राजनीतिज्ञ को जो उपादान चाहिये उनमे प्रथम उपादान मानव-समूह है, (जिसके विषय मे यह विचार करना है) कि स्वाभाविकतया उस (मानव-समूह) की मात्रा (सख्या) कितनी और उसका प्रकार (अथवा गुण) कैसा होना चाहिये। इसके उपरान्त दूसरा उपादान भूमि है, उसके विषय मे भी इसी प्रकार विचार करना है कि उसकी मात्रा और लक्षण कैसे होने चाहिये। बहुत से लोगों का विचार है कि सुखी नगर को बडा होना उचित है। यदि यह विचार ठीक भी हो तो भी वे लोग यह नही जानते कि वास्तव मे बडा अथवा छोटा नगर कौन-सा होता है। वे तो नगर के बडप्पन का निर्णय निवासियो के समूह की सख्या के आधार पर किया करते है, पर वास्तव मे उनको निवासियो के समूह की सख्या को नही प्रत्युत उनकी क्षमता (शक्ति) को देखना चाहिये (और उसके आधार पर महत्ता का निर्णय करना चाहिय)। अन्य वस्तुओ (अथवा व्यक्तियो) के समान नगर का भी कोई अपना कार्य होता है, अतएव जो नगर अपने नगरत्व के कार्य को सपादित करने में सबसे अधिक क्षमता का परिचय देता है उसको इसी प्रकार सबसे महान् नगर समझा जाना चाहिये, जिस प्रकार हिप्पौक्रातीस्[२] (अश्वबल) मनुष्य-शरीर में तो नही पर वैद्य के रूप में स्वाभाविकतया उस मनुष्य से बढकर कहा जायगा जो शरीर की विशालता में उससे बढकर हो। पर यदि हम किसी नगर की महत्ता का निर्णय उसके निवासियो के समूह को देखकर करे, तो भी हमको किसी भी निवासियो की सख्या पर विश्वास नही कर लेना चाहिये। क्योकि किसी भी नगर मे सर्वदा ही दासो की, बसे हुए विदेशियों और परदेशियो की एक बडी सख्या अनिवार्यतया होती है। अतएव यदि हम सख्या को निर्णय का आधार बनाये तो भी हमको नगर-निवासियो की गणना में उनको ही सम्मिलित करना चाहिये जो नगर के वास्तविक सदस्य हैं और नगर की रचना के सारभूत घटक है। ऐसे लोगो की सख्या की अत्यन्त अधिकता किसी नगर की महत्ता का चिह्न (प्रमाण) हो सकती है। पर वह नगर जिसमें से केवल शिल्पी ही बहुत बडी सख्या मे (युद्धक्षेत्र में जाते है) उत्पन्न होते हैं तथा जिसमें भारी शस्त्रास्त्र-

वाले योद्धा बहुत थोडी सख्या मे होते है, सभवतया महान नही हो सकता। नगर का महान होना तथा बहुत घना बसा होना दोनो एक बात नही है।

फिर एक बात यह भी है कि अनुभव से यह स्पष्ट पता चलता है कि किसी भी बहुत जनसख्यावाले नगर के लिये सुनियमित (नियमो का अनुसरण करनेवाला) होना यदि असभव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। निरीक्षण ने यह बतलाया है कि जो राष्ट्र सु-प्रबन्ध (सुशासन) के लिये विख्यात है उनमे कोई भी ऐसा नही है जो जन-सख्या के विषय मे अमर्यादित हो। यही तथ्य दार्शनिक युक्तियो के बल पर भी सिद्ध किया जा सकता है। नियम (कानून) किसी प्रकार की व्यवस्था ही तो है, और सुनियमता अवश्य ही सु-व्यवस्था होनी चाहिये, पर सख्या की अत्यन्त अधिकता का व्यवस्था का भागी होना शक्य नही है। असीम मे व्यवस्था की सृष्टि करना दैवी-शक्ति का काम है जो इस समग्र विश्व को एकत्र सघटित रखती है, जिस (विश्व मे) सौन्दर्य, सख्या और विशालता निहित पायी जाती है। अतएव, जो नगर विशालता के साथ उपर्युक्त व्यवस्था के आदर्श को समन्वित कर सकेगा, वही अनिवार्यतया सबसे सुन्दर नगर होगा। पर जिस प्रकार अन्य वस्तुओ मे—जैसे कि, प्राणी, उद्भिज, तथा करणो मे—एक (सीमित) मात्रा होती है इसी प्रकार नगरो के विस्तार (विशालता) की एक सीमित मात्रा है। और इनमे से प्रत्येक, अत्यधिक छोटा रहने पर अथवा अतिशय विशाल होने पर, अपना कार्य करने योग्य रह नही जाता। ऐसा होने पर कभी तो यह बिलकुल ही अपनी प्रकृति को खो बैठता है, और कभी दोषपूर्ण हो जाता है। उदाहरण के लिये यदि एक जहाज एक बालिश्त लम्बा हो तो वह कोई जहाज नही होगा और यदि वह दो स्तादियन् (१२०० फ़ीट) लम्बा हो तो भी जहाज नही होगा, और फिर इन दोनो आकारो के मध्यवर्ती आकार के जहाज भी ऐसे हो सकते है जो या तो बहुत अधिक छोटे होने के कारण अथवा अतिशय बडे होने के कारण तैरने के कार्य मे कठिनाई उत्पन्न (दोष उत्पन्न) कर सकते है। यही बात नगर के सबध मे भी ठीक है, जो कि बहुत छोटा होने पर आत्मनिर्भर न हो, जैसा कि उसको परिभाषानुसार होना चाहिये, और दूसरी ओर बहुत ही बडा नगर सब अनिवार्य भौतिक आवश्यकताओ में तो अवश्य ही आत्मनिर्भर हो सकता है जैसे कि कोई भी जाति होती है, पर तो भी वह (वास्तविक अर्थ में) नगर नही होगा, क्योकि उसकी शासन-व्यवस्था करना सरलता से सभव नही होगा। भला इतने अतिशय विशाल जन-समूह का सेनानायक कौन होगा? तथा जबतक किसी को स्तेन्तोर[२] का कण्ठ प्राप्त न हो तबतक उस नगर का आदेशक कौन होगा?

अतएव प्रारभ मे तो अवश्य ही नगर की जनसख्या ऐसी होनी चाहिये कि वह प्रारभिक जनसख्या नागरिक समाज की दृष्टि से सत् जीवन के निमित्त आत्मनिर्भर हो, जो नगर इस (प्रारभिक) जनसख्या का अतिक्रमण करता है वह फिर भी एक बडा नगर बना रह सकता है, पर जैसा कि मै कह चुका हूँ यह जन-वृद्धि सीमारहित नही हो सकती। वृद्धि की सीमा क्या हो, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर अनुभव (अथवा तथ्यो) के आधार पर देना सरल है। नगर के कार्यों में से कुछ तो शासको के कार्य होते है और कुछ शासितो के, शासको का कार्य आदेश (आज्ञा) करना और निर्णय करना होता है (तथा शासितो का कार्य शासको का निर्वाचन करना)। विवादग्रस्त विषयो का ठीक-ठीक निर्णय करने के लिये तथा योग्यता के अनुसार शासनाधिकार-पदो को (शासको मे) वितरण करने के लिये, किसी भी नगर के नागरिको को एक दूसरे का चरित्र (=यह बात कि कौन कैसा है) अवश्यमेव जानना चाहिये। जहाँ कही ऐसा ज्ञान घटित नही होता वहाँ शासनाधिकार-पदो पर शासको का निर्वाचन तथा विवादो का निर्णय, यह दोनो ही त्रुटि-(=दोष)पूर्ण रहेगे।[४] यह दोनो ही कार्य ऐसे है जिनमे यो ही बिना विचार किये निर्णय कर डालना ठीक नही, पर जहाँ जनसख्या बहुत अधिक होती है वहाँ प्रत्यक्षतया बहुत कुछ निर्णय इसी प्रकार किये जाते है। इसके अतिरिक्त, (अधिक जनसख्यावाले नगर मे) बसे हुए विदेशी और परदेशी लोग सरलता से नागरिकता के अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, बहुत अधिक सख्या में उनका ध्यान से विस्मृत हो जाना (अर्थात् यह तथ्य विस्मृत हो जाना कि वे नागरिक नही विदेशी है) कठिन नही है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्टतया सूचित होता है कि नगर की जनसख्या की सर्वोत्तम सीमा वह अधिकतम सख्या है जो जीवन की आवश्यकताओ की दृष्टि से आत्मनिर्भर हो तथा जो सन्निरीक्ष्य हो। नगर की जनसख्या के आकार की सीमा निर्धारण करने के विषय मे इतना विवेचन पर्याप्त है।

टिप्पणियाँ

१. उपादानो के लिये ग्रीक भाषा में "खोरेगिया" शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ व्यय अथवा सम्बल भी होता है।

२. हिप्पोक्राती(ते)स् का जन्म कॉस् नामक द्वीप में ई० पू० ४६० के लगभग हुआ था। इनको यनान का धन्वन्तरि कहना चाहिये। इनकी रचनाओं की संख्या

७२ कही जाती है। पर वास्तव में इनमें से अनेको रचनाएँ इनकी नहीं हैं। इनकी कुछ रचनाएँ सूत्रात्मक भी है। उदाहरण-स्वरूप एक सूत्र का अनुवाद इस प्रकार है "जीवन छोटा है, विद्या विशाल है, प्रयोग भयपूर्ण है, निर्णय कठिन है।" इनकी मृत्यु लम्बी आयु भोगकर लारिस्सा नगरी में हुई।

३. स्तैन्तोर त्रॉय में रहता था इसका कण्ठ-नाद पचास मनुष्यो के कण्ठनाद के समान था।

४. न्यायकर्ताओ को वादी-प्रतिवादियो से व्यक्तिगत रूप से परिचित होना चाहिये, नही तो वे ठीक निर्णय नही कर सकेंगे।

५. अरिस्तू ने आदर्श जन-संख्या की दो कसौटियाँ प्रस्तुत की है---(१) संख्या इतनी और इतने विविध प्रकार की हो कि अच्छे जीवन की आवश्यकताओ के सबंध में भले प्रकार और पूर्णतया आत्मनिर्भर हो सके; (२) इतनी अधिक न हो कि नागरिको को एक दूसरे से पूरा और अच्छा परिचय न हो सके।

वि० यद्यपि मकँदौनिया का फिलिप और उसका पुत्र अरिस्तू की आँखो के सामने ग्रीक नगर-राष्ट्र की स्वतंत्र सत्ता को मिटाकर साम्राज्य का निर्माण कर रहे थे पर ज्ञानियो का गुरु (master of those that know) अरिस्तू समय की गति को देखकर भी नहीं देख सका। वह साधुतापूर्ण आत्मनिर्भर सुव्यवस्थित नगर के सुन्दर स्वप्न को ही अपने हृदय से चिपटाये रहा। क्योकि यूनानी जगत् स्वेच्छा से नगर-प्रेम को त्यागकर अधिक विशाल राजनीतिक इकाई का निर्माण नहीं कर सका तथा अलैक्ज़ाण्डर की मत्यु अल्पायु में ही हो गई अतएव यूनान का विलय रोमन साम्राज्य में हो गया। २०वीं शताब्दी के मध्य का नागरिक इन विचारों पर केवल मुस्करा सकता है।

५

आदर्श नगर का भूमिक्षेत्र

लगभग यही विवेचन भूक्षेत्र के विषय मे भी लागू होता है। जहाँ तक इस प्रश्न का सबध है कि नगर का भूक्षेत्र कैसा हो तो इस सबध मे यह स्पष्ट है कि सब ऐसे भूक्षेत्र को प्रशसनीय बतलायेगे जो सबसे अधिक आत्मनिर्भर हो। ऐसी भूमि वही होगी जो सब प्रकार की वस्तुओ को उत्पन्न करती है, क्योकि आत्मनिर्भरता का लक्षण है सब कुछ अपने पास रखना तथा किसी वस्तु के अभाव से पीडित न होना। विस्तार और

आकार मे भूक्षेत्र ऐसा होना चाहिये उससे उस पर निवास करनेवाली जनता सयम और उदारता से समन्वित अवकाशपूर्ण जीवन बिता सके। यह सीमा-निर्धारण ठीक है या नही इस विषय का ठीक ठीक यथातथ्य अनुसधान हम आगे चलकर तब करेंगे जब कि हम सम्पत्ति और सम्पत्ति के अधिकार के प्रश्न का सामान्य विवरण प्रस्तुत करेंगे तथा इस विषय की मीमासा करेंगे कि सम्पत्ति (के स्वामित्व) और उपयोग का क्या सबध होना चाहिये।[१] यह एक ऐसा विषय है जो अत्यन्त विवाद-ग्रस्त है, क्योंकि सामान्यतया मनुष्यो का झुकाव कुछ इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने का है कि वह दो अतिशयो मे से एक न एक की दिशा में चला ही जाता है—या तो कजूसी की दिशा मे अथवा अपव्यय की दिशा में।

भूखड की सामान्य अवस्था का निर्धारण करना कठिन काम नहीं है (यद्यपि इस विषय से सबध रखनेवाली बहुत सी बाते ऐसी है जिन पर युद्धाध्यक्षो की सम्मतियों को भी ध्यानपूर्वक सुना जाना चाहिये।) नगर की भूमि ऐसी होनी चाहिये कि वह शत्रुओ के लिये दुष्प्रवेश्य हो और नगर-निवासियो के लिये उससे बाहर निकलना सरल हो। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हमने नगर-निवासियो की सख्या के विषय मे कहा था कि वह सन्निरीक्ष्य होनी चाहिये, वैसा ही भूखड के विषय में भी होना चाहिये। वह भूखड जो सुसन्निरीक्ष्य[२] होता है उसकी रक्षा भी सरलता से की जा सकती है। जहाँ तक (केन्द्रीय) नगर की स्थिति का प्रश्न है, यदि हमारे इच्छानुसार स्थान मिल सके तो उसको ऐसे स्थान पर स्थापित किया जाना चाहिये जहाँ जल (समुद्र) और स्थल दोनो से सरलता से पहुँचा जा सके। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, प्रथम बात तो यह होनी चाहिये कि वह ऐसी सुविधाजनक मण्डी (व्यापारिक केन्द्र) हो जहाँ सब प्रकार के फल और क्षेत्रो की उपज लाई जा सके तथा मकान बनाने की लकडी, और अन्य किसी स्थानीय कला-कौशल के लिये कच्चा माल सरलता से लाया तथा ले जाया जा सके।

टिप्पणियाँ

१. यह प्रतिज्ञा आगे चलकर पूरी नहीं की गई। पर इस विषय का विवेचन प्रथम और द्वितीय पुस्तक में किया जा चुका है। वहाँ यह सुझाया गया है कि सम्पत्ति का अधिकार व्यक्ति के हाथ में होना चाहिये तथा उसका उपयोग सार्वजनिक होना चाहिये।

२. जिसको भले प्रकार देखा और समझा जा सके।

६

नगर और पत्तन = बन्दरगाह

किसी सुव्यवस्थित नगर के लिये समुद्र का सपर्क लाभदायक होता है अथवा हानि-कारक, यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर बहुत अधिक विवाद होता रहा है। कुछ लोगो की धारणा है कि अन्य नियमो (काननो) की छत्रच्छाया मे पले हुए लोगो का आगमन और उसके फल-स्वरूप जनसख्या की वृद्धि यह दोनो ही बाते नगर की सुव्यवस्था के प्रतिकूल है। उनका कहना है कि जब बहुत से व्यापारी माल के आयात और निर्यात के लिये समुद्र का उपयोग करते है तो इससे जनसख्या मे उपर्युक्त (विदेशियों की) वृद्धि हो ही जाती है, तथा यह वृद्धि सुव्यवस्था की विरोधिनी है। पर दूसरी ओर यह बात भी अस्पष्ट नही है कि यदि जनता की यह वृद्धि घटित न हो तो किसी भी राष्ट्र के पुर और जनपद दोनो के लिये समुद्र से सम्पर्क होना, सुरक्षितता और आवश्यक वस्तुओ के प्रभूत आयात दोनो की दृष्टि से अधिक अच्छा है। (सुरक्षितता का उप-भोग करने के लिये) तथा शत्रुओ के आक्रमण का सरलता से सामना करने के लिये नगर की स्थिति ऐसी होनी चाहिये जिससे उसको स्थल तथा जल (समुद्र) दोनो ही ओर से सहायता पहुँचाकर बचाया जा सके। यदि नगर का सबध समुद्र से हो तो यह स्थिति आक्रमणकारी शत्रुओ का विरोध करके उनको हानि पहुँचाने के लिये भी अच्छी होती है, यदि नगर-रक्षक जल और स्थल दोनो का उपयोग कर सकते हो तो चाहे वे दोनो का एक साथ उपयोग न भी कर पाये तो (कम से कम) किसी एक क उपयोग कर (शत्रु को हानि पहुँचा सकते है।) फिर आवश्यक वस्तुओ की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि जिन वस्तुओ को कोई राष्ट्र स्वय उत्पन्न नही कर सकता उनको दूसरे राष्ट्रो से ग्रहण करे तथा जो वस्तुएँ अपने यहाँ आवश्यकता के अतिरिक्त हो उनको बाहर भेज दे, नगर को अपने लिये, न कि दूसरो के लिये, अवश्यमेव सौदागरी करनी ही चाहिये। जो नगर अपने आपको दुनिया भर के लिये हाट मे परिणत कर देते है वे ऐसा केवल लाभ (आय) के लिये करते है। और यदि किसी राष्ट्र को ऐसी लाभ-प्राप्ति का लोलुप नही होना चाहिये तो उसको अपने आपको ऐसा हाट भी नही बनाना चाहिये। आजकल हम प्रदेशो (जनपदो) और नगरो मे बहुधा ऐसे नौद्वार और नौशरण देख पाते है जो नगर से बडी ही सुविधाजनक स्थिति मे स्थित है, जो नगर से स्पष्टतया पृथक् है पर बहुत दूर नही है, पर प्राचीरो एव इसी प्रकार के अन्य रक्षा-साधनो से मुट्ठी (वश) मे रक्खे जा सकते है।[1] स्पष्ट है कि यदि नगर के

नौद्वार के साथ सबध से कोई लाभ (सुविधा) प्राप्त होना सभव है तो उसको यह नगर इस ढग से प्राप्त कर लेमे। यदि कोई असुविधा अथवा हानि होना सभव हो तो उसको ऐसे नियमो (काननो) के द्वारा बचाया जा सकेगा जो इस तत्त्व को घोषित और निर्धारित करेगे कि किसको किसके साथ परस्पर ससर्ग नही करना चाहिये और किसको करना चाहिये।

नौसेना की सामान्य मात्रा मे शक्ति को अधिकार में रखना नगर के लिये लाभदायक होता है, यह बात अस्पष्ट (सदिग्ध) नही है। यह केवल आत्मरक्षा का ही उपाय नही है, प्रत्युत जो कुछ निकटवर्ती अन्य पडोसी नगर हो तो हमारे प्रकृत नगर को उनको डराने की क्षमता रखनी चाहिये, अथवा (आवश्यकता पडने पर) जल और स्थल दोनो ही मार्गो से सहायता करने की क्षमता रखनी चाहिये। इस नौसेना की सख्या और विशालता (आकृति) नगर के जीवन-प्रकार पर निर्भर होगी। यदि कोई राष्ट्र (अन्य राष्ट्रो के मध्य मे) राजनीतिक जीवन मे नेतृत्व पाने का इच्छुक हो तो यह अनिवार्य होगा कि उसकी नौसेना की शक्ति इतनी हो जितनी इस प्रकार के कार्यो के लिये पर्याप्त मात्रावाली हो। नाविको के समूह से जनसख्या की वृद्धि होने के विषय मे हमारा यह कहना है कि नगर में ऐसा होना अनिवार्य नही है, क्योकि यह नाविक नगर के घटक (नागरिको के अधिकार पाये हुए) नही होने चाहिये।[१] पर नौसैनिक जो कि पूर्णतया स्वाधीन नागरिको की कोटि के अन्तर्गत है, पदाति सेना के भी अग होते हैं, तथा नौकाओ पर नियत्रण और आदेश किया करते हैं। पर यदि बँधुओ और भूमिहार कृषक-श्रमिको की बहुत बडी सख्या विद्यमान हो तो फिर तो ढेरो नाविक (मल्लाह, खेवट) अवश्य ही मिल जायँगे। और इस प्रथा का व्यवहार हम आजकल कुछ नगरो मे (वास्तव में) देखते हैं। उदाहरणार्थ, (कृष्णसागर के तट पर स्थित) हेराविलया नामक नगरी इसी प्रथा का अनुसरण करती है, यद्यपि इस नगरी मे (नागरिकता का अधिकारप्राप्त) जनसंख्या अन्य नगरो की अपेक्षा बहुत कम है, तथापि वह बहुत सी नौकाओ को पूर्णतया प्रस्तुत कर सकी है। भूखड (जनपद), बन्दरगाह, नगर (पुर), समुद्र और नौ-सेना की शक्ति के विषय में हमारे निर्णय इसी प्रकार के है।

टिप्पणियाँ

१. स्पष्ट ही इस कथन का उदाहरण स्वयं अथेन्स ही था। अथेन्स का पत्तन (बन्दरगाह) नगर से पाँच मील की दूरी पर था। उसका नाम पैइरायस् था। नगर

से इसका संबंध लम्बी दीवारो के द्वारा स्थापित किया गया था। यह दीवारें अथेन्स को पैइरायस् और फालेरस् से जोडती थी। पैरीक्लेस की आज्ञा से एक तीसरी दीवार और बनाई गई थी जो मध्यम दीवार कहलाती थी, पैइरायस् की दीवार के समानान्तर उससे २०० गज़ की दूरी पर स्थित थी। यह पैइरायस् को जोड़नेवाली दीवारें १२ फुट मोटी और ४ मील लम्बी थी। इनके टूटे-फूटे अवशिष्ट खँडहर १८ वी शताब्दी तक यात्रियो द्वारा देखे गये थे। इनका निर्माण ई० पू० ४०० और ई० पू० ४४५ में हुआ था।

२. अरिस्तू नाविको की उपयोगिता का तो अनुभव करता है पर वह उनको नागरिकता का अधिकार नही देना चाहता। उसको भय है कि नाविको को नागरिक बनाने से आदर्श नगर में अतिगामी जनतत्र-व्यवस्था स्थापित हो सकती है और वह इस व्यवस्था को वाछनीय नही मानता।

७

आदर्श नगर के नागरिकों का स्वभाव

नागरिक जनो की सख्या के विषय मे नगर का क्या मानदड होना चाहिये, इसका विवेचन हम पहले ही कर चुके है। अब हम यह बतलायेंगे कि नागरिको की प्रकृति किस प्रकार की होनी चाहिये। यदि हम ख्यातिप्राप्त हैलैनीस (ग्रीक) नगरो पर, तथा समग्र निवासयोग्य भूमडल पर बिखरी हुई मानव जातियो पर सामान्यतया दृष्टिपात करे तो यह बात (कि नागरिको की प्रकृति कैसी होनी चाहिये) लगभग भली प्रकार समझ मे आ जायगी। शीतप्रधान स्थानो मे रहनेवाली जातियो मे (सामान्य रूपेण) तथा यूरोप मे रहनेवाली जातियो मे विशेषरूपेण ओजस् (साहस[1]) तो भरा रहता है पर उनमें बुद्धिमत्ता[2] तथा कौशल का अपेक्षाकृत अधिक अभाव रहता है। अतएव वे अन्य लोगो की अपेक्षा लगातार स्वतत्र तो अधिक बने रहते है पर न तो स्वय ही उनका राजनीतिक विकास हुआ है और न वे अपने पडोसियो पर शासन करने की क्षमता ही रखते है। एशिया-निवासी बुद्धिमत्ता तथा कौशल इत्यादि आध्यात्मिक गुणो से युक्त होते है पर उनमे ओजस् (साहस) का अभाव होता है, अतएव वे निरन्तर शासित और दास बने रहते है। हैलैनीस जनता इन दोनो प्रदेशो (यूरोप और एशिया) के मध्य मे बसी हुई है अतएव उभय प्रकार की जातियो के गुणो से समन्वित है (अथवा उभय प्रकार की जातियो के गुणो का अश इसको प्राप्त है।) इसको ओजस् तथा बुद्धिमत्ता दोनो ही उपलब्ध है, अतएव यह निरन्तर स्वतत्र भी

बनी रहती है, तथा अन्य सब जातियो की अपेक्षा अधिक सुशासित है, और यदि यह जाति केवल एक बार राजनीतिक एकता प्राप्त कर ले तो सब (ससार) पर शासन करने की क्षमता (भी) रखती है।[3] (जिस प्रकार का भेद ग्रीक और अन्य जातियो मे पाया जाता है) कुछ इसी प्रकार का अन्तर ग्रीक (हैलैनीस) जातियो में भी परस्पर उपलब्ध होता है, उनमे से कुछ एकागी स्वभाववाली है, दूसरी कुछ जातियो मे दोनो उपर्युक्त क्षमताओ का शुभ सयोग घटित हुआ है।

अत यह स्पष्ट है कि नियम-निर्माता को जिन लोगो को सदाचार के मार्ग पर ले चल सकना सरल कार्य होगा वे वह लोग होगे जिनको यह बुद्धिमत्ता और ओज (साहस) का सयोग स्वभावत प्राप्त होगा। कुछ लोगो का कहना है कि रक्षको की प्रवृत्ति अपने परिचित व्यक्तियो के प्रति मित्रतापूर्ण होनी चाहिये तथा अपरिचितो के प्रति कठोर होनी चाहिये, इस प्रकार की प्रवृत्ति ओज पूर्ण स्वभाववाले व्यक्ति की हो सकती है।[4] यही (ओजस्) हमारी आत्मा की ऐसी शक्ति है जो प्रेम और मित्रता के रूप मे परिणत होती है। इसका प्रमाण यह है कि जब कभी हम अपने को किसी के द्वारा अवमानित हुआ अनुभव करते है तब हमारी यह राजस् (ओजस्) वृत्ति अपरिचितो की अपेक्षा परिचितो, मित्रो की ओर कही अधिक विक्षुब्ध हो उठती है। अतएव आर्खिलोखस,[5] अपने मित्रो के प्रति अधिक्षेप करते हुए अत्यन्त औचित्य के साथ अपनी राजस् वृत्ति को ही सम्बोधन करके कहता है—

निश्चय मित्रो के ही गृह मे तू आहत (क्षतपूर्ण) हुआ।

आदेश करने की (शासन करने की) और स्वतत्रता का अनुभव करने की शक्ति सब मनुष्यो मे इसी प्रवृत्ति पर निर्भर है, क्योकि रागवृत्ति आदेशपूर्ण और अजेय है। यह जो कहना है कि (रक्षको को) अपरिचितो के प्रति कठोर होना चाहिये, तो यह भी कोई अच्छी बात नही है, उनको किसी के भी प्रति कठोर नही होना चाहिये। उदारचेता महात्मा लोग स्वभावत किसी के भी प्रति कठोर नही होते, हाँ, कुकर्म करनेवाले इसके अपवाद है (अर्थात् उनके प्रति महात्मा रुष्ट और कर्कश हो सकते है)। तथापि यदि उनको ऐसा लगे कि उनके प्रति दुर्व्यवहार करनेवाले उनके परिचित व्यक्ति ही है तो, जैसा कि हम पहले ही वर्णन कर चुके है, वे सम्भवतया कही अधिक कठोरता प्रदर्शित करेगे तथा यह बात युक्तिसगत भी है। ऐसी स्थिति में हमको ऐसा लगता है कि जिन लोगो को हम पूर्व सेवाओ के कारण अपने प्रति उपकार करने के लिये बाधित

मानते हैं वह हमको अपमान के सहित हानि पहुँचा रहे हैं और कृतघ्नता के सहित हमारा अपकार कर रहे हैं। जैसा कि कहा है—

अति कठोर भाई भाई के होते विग्रह।[६]

और फिर,

अतिशय प्रणय किया करते जो, वही घृणा करते अत्यन्त।

इस प्रकार हमने (आदर्श) राष्ट्र के आधारभूत तत्त्वो—जनसख्या और भूक्षेत्र—के विषय मे सामान्यरूप से यह निर्धारित कर दिया कि उसके जनसमूह की समुचित सख्या कितनी होनी चाहिये तथा उनके स्वाभाविक गुण क्या होने चाहिये एव उसके जनपद का क्या आकार होना चाहिये तथा भूमि का लक्षण क्या होना चाहिये। 'सामान्य रूप से' इसलिये कहा क्योकि दार्शनिक विवेचन मे उतने ही यथातथ्य की आवश्यकता नही होती जितनी कि परिदृश्यमान पदार्थो के विवरण मे आवश्यक होती है।

टिप्पणियाँ

१. ओजस् अथवा साहस के लिये ग्रीक भाषा में थीमॉस् अथवा थ्यूमॉस शब्द का प्रयोग किया गया है। यह संस्कृत के धूम शब्द का सजातीय है।

२. बुद्धिमत्ता के लिये मूल में "दियानोइया" शब्द आया है एवं कौशल अथवा शिल्प-कौशल के लिये 'तेख्ने' शब्द का प्रयोग किया गया है। इन शब्दो की तुलना संस्कृत के ध्यान और तक्षण शब्दो से की जा सकती है।

३. अरिस्तू संभवतया मकैदोनिया के सम्राटो द्वारा आरोपित एकता को दृष्टि में रख कर यह लिख रहा है। पर वास्तविक एवं स्थायी एकता यूनानी नगर राष्ट्रो में स्थापित नहीं हो सकी।

४. यहाँ प्लातोन के आत्मत्रैगुण्य के सिद्धान्त की ओर संकेत किया है। इसके लिये प्लातोन की आदर्श नगर-व्यवस्था की चतुर्थ पुस्तक देखनी चाहिये।

५. यह ई० पू० ७ वीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध ग्रीक कवि का नाम है। यद्यपि इसके पिता का कुल अत्यंत विख्यात था तथापि इसकी माता दासी थी। इसका स्नेह लीकाम्बेस की पुत्री नेओबूले से था पर उसके पिता ने अपनी पुत्री का विवाह दासीपुत्र के साथ करना स्वीकार नहीं किया। इस पर कवि ने पिता और पुत्री के विषय में ऐसी तीक्ष्ण निन्दात्मक कविता लिखी कि वे दोनों आत्महत्या करके मर गये। इयुस्ताथियस् नामक आलोचक ने आखिलोखस् को वृश्चिक-जिह्व कहा है।

६. यह पंक्ति प्लूटार्क के मतानुसार यूरीपिदेस् की रचना से उद्धृत है। अगली पंक्तियो के रचयिता का पता नहीं चला।

८

नगर के सेवाकार्य और अग

जिस प्रकार अन्य प्राकृतिक (भौतिक) सयोगो मे देखा जाता है कि वे अवस्थाएँ (अथवा परिस्थितियाँ) जिनके बिना किसी अवयवी की सत्ता सभव नही होती, उस अवयव-सघात के अवयव नही होती, इसी प्रकार राष्ट्र की भी दशा है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो तत्त्व राष्ट्र की अथवा अन्य किसी पूर्ण अवयव सघातरूप अवयवी की सत्ता के लिये आवश्यक (अनिवार्य) है, वे राष्ट्र अथवा अवयवी के अग (अथवा अवयव) नही माने जा सकते।[१]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि कोई एक ऐसी वस्तु होनी चाहिये जो किसी सघात के सभी अवयवो मे सामान्य रूप से वर्त्तमान हो तथा उस एकमेवाद्वितीय का सबसे सबध हो, चाहे वे सब उसके समान अथवा असमान अश के भागी हो। (वह वस्तु स्वय विभिन्न प्रकार की हो सकती है) जैसे कि भोजन, भूखण्ड अथवा ऐसी ही अन्य कोई वस्तु। परन्तु जहाँ ऐसी दो वस्तुएँ होती है जिनमे से एक उपायरूप है और दूसरी उद्देश्य रूप तो उनमे उभयनिष्ठ अथवा उभयसपृक्त कोई वस्तु नही होती—इन दोनो का सबध तो इस प्रकार का होता है कि इनमे एक (उपाय) तो कुछ उत्पादन करता है तथा दूसरा (उद्देश्य) उस उत्पादन को ग्रहण कर लेता है। उदाहरण के लिये कारीगर, कारीगर के यत्रादि उपकरण तथा उनके द्वारा सम्पन्न कार्य के सबध को लीजिये। भवन-निर्माण करनेवाले कारीगर (वास्तुकार) और उसके द्वारा निर्मित भवन मे (दोनो मे) कोई एक सामान्य उभयनिष्ठ तत्त्व नही है, बस उनका नाता यह है कि वास्तुकार की कला भवन-निर्माण का उपाय है और वह कला वसतिगृह के निमित्त है जो उस कला का उद्देश्य है।[२] अतएव (यद्यपि) सम्पत्ति नगर के लिये आवश्यक तो है पर तो भी सम्पत्ति नगर का अग नही है। यह सत्य है कि सम्पत्ति के बहुत से सजीव अग (अर्थात् दास इत्यादि) होते है और निर्जीव भी, (फिर भी सम्पत्ति नगर का अग नही होती); क्योकि नगर तो केवल समान और सदृश तत्त्वो का सघात है, जिसका लक्ष्य ऊँचे से ऊँचा और अच्छे से अच्छा जीवन है (जिसके भागीदार दास लोग नही हो सकते)। सर्वोत्तम भलाई सुख है, और यह सुख सद्वृत्त

(सदाचार) की क्षमता एव परिपूर्ण व्यवहार है। पर वास्तविक जीवन मे जो होता है वह यह है कि कुछ लोग तो इसके (पूर्णतया) भागीदार होते है, कुछ केवल अशत (थोडे ही) भागीदार होते, अथवा बिलकुल ही भागीदार नही होते। इसका परिणाम स्पष्ट है कि मनुष्यो के गुणो की विविधता के कारण ही विविध प्रकार के राष्ट्रो की उत्पत्ति होती है और अनेक प्रकार की बहुसख्यक शासन-पद्धतियो का जन्म होता है। विविध प्रकारो एव विविध उपायो से सुख का अनुसधान करते हुए विविध मनुष्य अपने लिये विविध प्रकार के जीवनो और शासन-व्यवस्थाओ की सृष्टि किया करते है।

अब हमको यह भी परीक्षण करना चाहिये कि कितनी वस्तुओ के बिना नगर की सत्ता ही नही हो सकती। और जिनको हम नगर के अवयव कहते है वे नगर की सत्ता के लिये अनिवार्यतया अपेक्षित वस्तुओ की सूची के अन्तर्गत आ जायँगे। इस प्रकार की सूची प्रस्तुत करने के लिये हमको (प्रथम) राष्ट्र द्वारा किये जानेवाले सेवा-कार्यो की गणना करनी चाहिये, इससे राष्ट्र (नगर) के अनिवार्य तत्त्वो की सख्या स्पष्ट हो जायेगी।

प्रथम वस्तु जिसका प्रबन्ध नगर को करना चाहिये भोजन है, इसके पश्चात् (दूसरी वस्तु) कला-कौशल है, क्योकि जीवन के लिये बहुत से उपकरण होने चाहिये। तीसरी आवश्यक वस्तु हथियार है, क्योकि कुछ तो शासन-कार्य चलाने के लिये, शासनावज्ञा के दमनार्थ और कुछ बाहरी आक्रमणकारियो के उपद्रवो का सामना करने के लिये, राष्ट्र के सभी सदस्यो को स्वय (अपने शरीर पर) शस्त्र धारण करने चाहिये। इसके अतिरिक्त चौथी वस्तु, जिसका प्रबध किया जाना चाहिये कुछ धन-सम्पत्ति है जो स्वत राष्ट्र के आन्तरिक उपयोग के लिये भी आवश्यक है, और युद्धकार्य के लिये भी। पॉचवी (पर महत्त्व की दृष्टि से प्रथम) बात है देवसेवा-कार्य की देखभाल जिसको सामान्यतया देवपूजा भी कहा जाता है। छठी, और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है यह निर्णय करना कि सार्वजनिक हित क्या है तथा व्यक्तियो के पारस्परिक व्यवहार मे न्यायोचित बात क्या है?

यह छ सेवाकार्य ऐसे है जिनके विषय मे ऐसा कहा जा सकता है कि प्रत्येक राष्ट्र को इनकी आवश्यकता है। नगर (-राष्ट्र) कोई दैवात् एकत्रित हुए मनुष्यो का समूह मात्र नही है। वह तो, जो कि हम कह चुके है, ऐसा मानव-समाज है जो जीवन के उद्देश्य के लिये पर्याप्त है। अतएव यदि किसी नगर मे उपर्युक्त सेवा-कार्यो मे से किसी एक का भी अभाव हो तो उस नगर के समाज का पूर्णतया आत्मनिर्भर होना संभव

नही हो सकता। अतएव नगर की व्यवस्था (सस्थापना) इन उपर्युक्त सेवा-कार्यों के सम्पादन की दृष्टि से की जानी चाहिये। इसलिये (प्रत्येक नगर मे) बहुत से कृषक (जो कि भोजन प्रस्तुत कर सके), शिल्पीगण, योद्धा लोग, धनिकसमूह, पुरोहितगण एव (यह निर्णय करने के लिये कि क्या अनिवार्य है और क्या उपादेय) निर्णायक होने चाहिये।[3]

टिप्पणियाँ

१. यहाँ अरिस्तू ने एकाधिक दार्शनिक संज्ञाओ का प्रयोग किया है। वह इनका प्रयोग पीछे तृतीय पुस्तक के प्रथम खड के आरंभ में भी कर चुका है। यहाँ पर जिस शब्द का अनुवाद 'अवयवी' शब्द से किया गया है वह ग्रीक का "होलन्" शब्द है। अवयव के लिये मूल मे "मैरॉस्" शब्द का प्रयोग किया गया है एवं अवयव-सघात के लिये "सिस्तासिस्" शब्द आता है। वह आवश्यक परिस्थितियाँ जिनके बिना अवयवी का जीवन सभव नही होता पर जो उसकी अतरग अवयव नहीं होतीं उसकी अनिवार्य अथवा अपरिहार्य आवश्यक परिस्थितियाँ मानी जाती हैं।

२. पर काण्ट के दर्शन के अनुसार व्यक्ति कभी उपाय नहीं हो सकता।

३. अरिस्तू ने राष्ट्र के आवश्यक कार्यों का विवरण यहाँ पर आदर्श राष्ट्र की दृष्टि से दिया है। इसके अतिरिक्त उसने इस विषय का विवरण चौथी पुस्तक के तीसरे और चौथे खडो में भी दिया है। पर यह वर्णन परस्पर सुसगत नहीं प्रतीत होते।

९

नागरिक सेवा करनेवाले अंग और उपांग

इस बात का निर्धारण हो जाने के पश्चात् अब यह विचार करना शेष रह जाता है कि क्या उपर्युक्त सब सार्वजनिक सेवाओ मे सब लोगो को समान रूप से भाग लेना चाहिये। क्या यह सभव है वही सब लोग एक साथ कृषक, शिल्पकार, पारिषद् और न्यायाध्यक्ष इत्यादि हो सके? अथवा उपर्युक्त सेवाकार्यों में से प्रत्येक कार्य एक पृथक् व्यक्ति (अथवा व्यक्ति-समूह) को सौंपा जायगा? अथवा कुछ कार्यों को अलग अलग व्यक्तियो (अथवा व्यक्ति-समूहो) के लिये नियत कर दिया जाय और कुछ मे सब भागीदार हो सके? सब शासन-पद्धतियो मे एक ही प्रकार की प्रथा का अनुसरण नही किया जाता। जैसा कि हम कह चुके है, विभिन्न प्रकार की प्रणालियाँ

सभव है, सब (नागरिक) सब कार्यो मे भाग ले (हाथ बॅटा) सकते है, अथवा सब, सब कार्यो मे भाग न ले, प्रत्युत कुछ (नागरिक) कुछ ही कार्यो मे भागीदार हो। इन्ही विभिन्न सभावनाओ के कारण शासन-पद्धतियाँ विभिन्न प्रकार की हो जाती है। जनतत्रात्मक पद्धतियो मे सब लोग सब कार्यो मे भाग लेते है, जबकि अल्पजनतत्र-शासन-पद्धतियो की कार्यप्रणाली इससे उलटी है। पर क्योकि, इस समय तो हम सर्वश्रेष्ठ पद्धति का विचार कर रहे है, (अर्थात् उस पद्धति का जिसकी छत्रच्छाया मे नगर सबसे अधिक सुखी हो सकेगा), तथा सुख की सत्ता, जैसा कि हम पहले कह आये है, बिना सद्वृत्त (सदाचार, भलाई) के असभव है, अतएव यह स्पष्ट बात है कि उस नगर के नागरिक, जिसकी शासन-व्यवस्था सुन्दरतम है तथा जिसके सदस्य निरपेक्ष भाव से न्यायपरायण है——न कि किसी विशेष मानदण्ड की दृष्टि मे न्यायपरायण है, मजदूरो (श्रमिको) और दूकानदारो का जीवन-यापन नही कर सकते, क्योकि इस प्रकार का जीवन निकृष्ट प्रकार का एव सद्वृत्तिमय जीवन का विरोधी होता है। और न वे कृषक ही हो सकते है, क्योकि सदाचार के विकास तथा राजनीतिक कार्यो का सपादन दोनो के ही लिये अवकाश होना चाहिये।[१]

और फिर दूसरी ओर सैनिको का समूह, और सार्वजनिक हित का चिन्तन करने के लिये तथा न्याय सबधी बातो का निर्णय करने के लिये विचारको का समूह, यह दोनो ही स्पष्टतया एक नितान्त विशिष्ट अर्थ मे नगर (-राष्ट्र) के अग है। क्या यह दोनो अग एक दूसरे से पृथक् रक्खे जायँ अथवा दोनो को एक ही जनवर्ग को दे दिया जाय ? यह बात भी बिलकुल स्पष्ट है, इसलिये कि एक प्रकार से तो उनको एक ही जनवर्ग को सौप देना चाहिये, पर एक दूसरे अर्थ मे उनको पृथक् पृथक् वर्गो को दिया जाना चाहिये। एक ओर तो यह दोनो कार्य जीवन की पृथक् पृथक् प्रकार की पराकाष्ठाओ की अपेक्षा करते है——(हितचिन्तन के लिये) परिपक्व बुद्धिमत्ता की पराकाष्ठा और (युद्ध के लिये) यौवनसुलभ शक्ति की पराकाष्ठा अपेक्षित होती है——इस दृष्टिकोण से यह कार्य अलग अलग जनसमूहो को दिये जाने चाहिये। दूसरी ओर, जो मनुष्य शक्ति के प्रयोग और निरोध की क्षमता रखते है, उनके सर्वदा अधीनता मे रहने की आशा करना सभव नही है, इस दृष्टिकोण से दोनो कार्य एक ही लोक-वर्ग को सौपे जाने चाहिये, क्योकि जो लोग शस्त्रास्त्रो की शक्ति धारण करते है, राष्ट्र-व्यवस्था का स्थायी होना अथवा न होना भी उन्ही के वश की बात होती है। इस प्रकार हमारे लिये एक मात्र यही मार्ग बच रहता है कि इन दोनो व्यवस्थात्मक कार्यों को (सैन्य सबधी और चिन्तन सबधी कार्यो को) एक ही लोकवर्ग को दे दिया

जाय, पर ऐसा एक ही समय पर नही करना चाहिये, किन्तु आनुक्रमिक ढग से करना चाहिये जो कि प्रकृति का अनुसरण करनेवाला है। प्रकृति का क्रम यह है कि वह नवयुवको को बल और वृद्धो को बुद्धि प्रदान करती है।[२] अतएव इन कार्यों का इस प्रकार दोनो (युवको और वृद्धो के) वर्गो मे विभाजन करना उपयोगी और न्यायोचित दोनो ही है[३] क्योकि यह वितरण योग्यता के आधार पर अधिकार प्रदान करने के सिद्धान्त पर आश्रित है।

जो नागरिक इस प्रकार के अधिकारो को काम मे लाते है वे ही सम्पत्ति के स्वामी भी होने चाहिये, किसी भी नगर (-राष्ट्र) के व्यक्ति सुसपन्न होने चाहिये (जिससे कि उनको सद्वृत्ति के विकास और नागरिक कार्यों के लिये अवकाश प्राप्त हो सके, और केवल यही लोग (जो उपर्युक्त दोनो कार्य करने के अधिकारी है) वास्तविक नागरिक है। श्रमिको का नगर (-राष्ट्र) मे कोई भाग नही होता और न अन्य ही किसी ऐसे लोकवर्ग का होता है जो भलाई (अथवा सद्वृत्त) का निर्माता (अथवा सपादक) न हो। यह निष्कर्ष तो (आदर्श राष्ट्र के) आधारभूत सिद्धान्तो से ही स्पष्टतया निकलता है। वह सिद्धान्त यह है कि सुख का सबध अनिवार्यतया सद्वृत्त (भलाई) से होना चाहिये। और नगर को, उसके किसी एक अग को ही दृष्टि मे रखते हुए सुखी नही कहा जा सकता, प्रत्युत समग्र नागरिको को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है। तथा यह स्पष्ट ही है कि सम्पत्ति इन्ही (नागरिको) के हाथ में रहनी चाहिये, क्योकि कृषक लोग तो अवश्य ही या तो दास होगे या बर्बर (या) परिवासी होगे।[४]

जिन छ वर्गो की हमने ऊपर गणना की है उनमे से केवल एक वर्ग–पुरोहित वर्ग-शेष बचा है। जिस योजना पर यह वर्ग आश्रित होना चाहिये वह स्पष्ट है। पुरोहित पद पर न तो किसी कृषक की नियुक्ति होनी चाहिये और न किसी श्रमिक की। देवताओ का सम्मान (पूजा, अर्चना) तो नागरिको के द्वारा ही किया जाना उचित है। और क्योकि (उपर्युक्त योजना के अनुसार) नागरिक लोग दो भागो में विभाजित होते है––(युवावस्था के) योद्धा और (वृद्धावस्थावाले) हितचिन्तक, तथा क्योकि देवताओ की उपासना समुचित प्रकार से सपादित होना उचित है, एव जो लोग सुदीर्घावस्था के कारण सक्रिय सेवा को त्याग चुके है उनको सेवा से विश्राम भी मिलना ही चाहिये, अतएव पुरोहित-पद का कार्य इन्ही (वृद्ध) लोगो को सौंपा जाना चाहिये।

(इस प्रकार) हमने यह वर्णन कर दिया कि नगर की सघटना के लिये अनिवार्य परिस्थितियाँ क्या है एव राष्ट्र के घटक अग कौन से है।[५] कृषक, शिल्पकारवर्ग

एव सामान्य श्रमिकवर्ग, यह सब नगर की सत्ता के लिये अनिवार्यतया आवश्यक है (अर्थात् यह नगर-सघटना की अनिवार्य परिस्थितियाँ है) पर राष्ट्र के अग तो शस्त्र-धारी योद्धा तथा सार्वजनिक हित का चिन्तन करनेवाले पारिषद् ही है। इनमे से प्रत्येक (योद्धा और पारिषद्) एक दूसरे से पृथक् है—यह पृथक्ता कही तो सार्वकालिक है और कही आनुक्रमिक है—अर्थात् कुछ लोग अपनी आयु के पूर्वभाग मे एक वर्ग के अन्तर्गत रहते है और उत्तरकाल मे दूसरे वर्ग में।

टिप्पणियाँ

१. आदर्श राष्ट्र के नागरिक सुखी होने चाहियें और सुखी वही व्यक्ति हो सकते हैं जिनका जीवन क्रियात्मक अच्छाई अथवा सद्वृत्ति से युक्त होता है, अर्थात् जो अपने जीवन में (१) सहिष्णुता, (२) संयम, (३) न्याय और (४) बुद्धिमत्ता का नित्य व्यवहार करते हैं। ऐसा होना कृषको और श्रमिको के जीवन मे सभव नही है।

२. मनुष्य की अवस्था के विचार से अरिस्तू युवको मे शारीरिक बल की पूर्णता मानता था, वृद्धों में बुद्धि की पराकाष्ठा और अधेड अवस्थावालो में इन दोनो के सामंजस्य से उत्पन्न अभीष्ट मध्यम स्थिति।

३. उपयोगी इसलिये कि नगर-राष्ट्र को बलिष्ठ सेना की और बुद्धिमान् शासकों की उपलब्धि हो सकेगी और न्यायोचित इसलिये कि जो जिस योग्य है उसको वही पद प्राप्त हो जायगा।

४. प्लातोन ने अपनी "आदर्श नगर-व्यवस्था" नामक रचना में नगर के रक्षकों को और शासको को सम्पत्ति रखने का निषेध किया है और कृषको को सम्पत्ति का स्वामित्व दिया है। अरिस्तू ने इससे बिलकुल उलटे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार अरिस्तू के मत में प्लातोन ने राष्ट्र के रक्षको और शासको को सौख्य से भी वंचित कर दिया है।

"परिवासी" के लिये मूल में पेरि-ऑइकस् शब्द आया है जो संस्कृत के परि+विश् का सजातीय है। यूनान की समाज-व्यवस्था में इस शब्द से उन व्यक्तियो का बोध होता था जिनको सामाजिक स्वतंत्रता तो प्राप्त होती थी पर राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते थे।

५. आठवें खंड के अन्त में अरिस्तू ने राष्ट्र के सेवा-कार्यों को ६ विभागो में बाँटा था। उनमें से (१) भोजन उत्पन्न करने और (२) शिल्पकर्म करनेवाले कृषको को, शिल्पियों को तो उसने नगर-राष्ट्र की सत्ता की आवश्यक और अनिवार्य शर्त्त तो

माना पर नगर का अंग नही माना (३) योद्धाओ का कार्य उसने युवक नागरिकों को सौंपन की सलाह दी और (४) न्याय एव हितचिन्तन का कार्य अधेड अथवा मध्य अवस्थावाले नागरिको को। (५) सम्पत्ति का स्वामित्व भी इन्हीं नागरिकों का भागधेय बतलाया। (६) देव पूजा का कार्य वृद्धनागरिको को दिया गया। पिछले चार-कोटियोंवाले व्यक्ति नगर के अंग माने गये है। प्रथम दो को हम उपाग कह सकते हैं।

१०

सहभोज की प्रथा तथा कृषि-भूमि की व्यवस्था

शासन-व्यवस्था के तत्वज्ञान मे यह न तो आज की खोज है और न कोई नया आविष्कार है कि नगर विभिन्न जनवर्गो मे विभाजित होने चाहिये तथा योद्धा और कृषको के वर्ग एक दूसरे से पृथक् होने चाहिये। ईगिप्तॉस्[१] (मिस्र) देश मे यह प्रथा आजकल तक प्रचलित है, तथा क्रीती मे भी ऐसा ही है। कहते है कि मिस्र देश में इस प्रथा को सैसोस्त्रिस[२] ने स्थापित किया था, और क्रीती मे इस प्रकार का नियम मिनोस् ने बनाया था।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि सहभोज की प्रथा भी पुरातन व्यवस्था है, क्रीती में इसकी उत्पत्ति राजा मिनोस् के राज्यकाल मे हुई थी, पर इटालिया (के दक्षिण) मे यह प्रथा और भी अधिक पुरानी है। उस देश के इतिहासकारो का कहना है कि कभी ओयनोट्रिया मे कोई इटालस् नाम का राजा हुआ जिससे ओयनोट्रिया के निवासी नाम बदलकर इटालियन कहलाने लगे तथा जिसने यूरोप के उस समुद्र तट को इटालिया नाम प्रदान किया जो कि स्किलीतिकस् और लामीतिकस् आखातो के मध्य में विद्यमान है[४] —यह दोनो आखात एक दूसरे से आधे दिन की यात्रा की दूरी पर स्थित है। कहते है कि उसने (इटालस्ने) ओयनोट्रिया निवासियो को (जो कि घुमक्कड चरवाहे थे) कृषक बना दिया था, एव अन्य नियमो की स्थापना के अतिरिक्त उसने सबसे पहले सहभोज की प्रथा प्रचलित की। अतएव उसके अनुयायियो के वशधरो मे यह प्रथा और उसके कुछ नियम अभी तक बचे हुए हैं। उपर्युक्त स्थान से (इटालिया) से पश्चिमोत्तर की ओर तिर्रहीनिया[५] के पास तक औपिकस् जाति के लोग रहा करते थे, जो कि प्राचीन काल मे (आदि मे) और आज तक भी औसोनेस् उपनाम से पुकारे जाते है। इयापीगिया और इयोनिया के आखात की ओर अर्थात् उपर्युक्त स्थान के उत्तरपूर्व की ओर, उस प्रदेश मे जो कि सिरितिस् कहलाता है खोनैस् जाति के लोग निवास करते थे, यह खोनैस् भी मूलत औयनोट्रियन जाति के ही थे। इस प्रकार से

सहभोज की प्रथा मूलत इस स्थान (इटालिया) से प्रचलित हुई, नागरिक जनसमूह को विभिन्न वर्गो (गणो) मे विभाजित करने की प्रथा ईगिप्तास् से आरभ हुई, क्योकि सैसोस्त्रिस का शासन-काल राजा मिनोस् के समय की अपेक्षा बहुत अधिक प्राचीन-है। इसी प्रकार बहुत-सी अन्य प्रथाओ के विषय मे भी हुआ है। सुदीर्घ प्राचीन काल मे (युगयुगान्तरो मे) यह और इसी प्रकार की अन्य बहुत-सी प्रथाएँ विविध अवसरो पर—एक बार ही नही अनेक बार आविष्कृत हो चुकी है[६]—वास्तव मे असख्यो बार आविष्कृत हो चुकी है। स्वय आवश्यकता मनुष्य को अनिवार्य आविष्कारो को सिखा देती है ऐसा विचार युक्तिसगत है। एक बार इनकी प्राप्ति हो जाने पर इन्ही के आधार पर तत्पश्चात् यह युक्तिसगत और सभव है कि अन्य आविष्कार, जो कि जीवन को सुविभूषित और मडित करते है, शनै शनै वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। यह सामान्य नियम जिस प्रकार जीवन के अन्य क्षेत्रो मे लागू होता है उसी प्रकार राजनीति के विषय मे भी सत्य है। ईगिप्तास् से इन सब राजनीतिक सस्थाओ की प्राचीनता प्रमाणित होती है। ससार भर की जातियो मे ईगिप्तास्-निवासी सबसे अधिक प्राचीन प्रतीत होते है, तथा उनके यहाँ नियमो के समूह और शासन-व्यवस्था अनादि काल से चले आ रहे है। अतएव जो बात पहले ही भली भाँति अभिव्यक्त हो चुकी है हमको उसको ग्रहण करके उसका सदुपयोग कर लेना चाहिये और स्वय उसी बात का आविष्कार करने का प्रयत्न करना चाहिये जिसकी अभी कमी बनी हुई है।

यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि (हमारे आदर्श-राष्ट्र मे) भूमि पर शस्त्र धारण करने वाले योद्धाओ और शासन-व्यवस्था के सचालन मे भाग लेनेवाले नागरिको का अधिकार होना चाहिये। तथा यह भी समझाया जा चुका है कि कृषक-वर्ग इन उपर्युक्त वर्गो मे पृथक् होने चाहिये, एव जन-पद का भूविस्तार कितना होना चाहिये और भूमि किस प्रकार की होनी चाहिये। अब हमको भूमि के विभाजन का विवेचन करना चाहिये, और यह निर्णय करना चाहिये कि खेती किस प्रकार की जानी चाहिये और कृषक वर्ग किस प्रकार का होना चाहिये। क्योकि मेरा विचार है कि सम्पत्ति का अधिकार सार्वजनिक नही होना चाहिये (जैसा कि कुछ लोगो (प्लातोन) का कहना है) प्रत्युत उसका उपयोग सार्वजनिक होना चाहिये जिस प्रकार मित्र लोग अपनी सम्पत्ति का परस्पर उपयोग किया करते है। दूसरी ओर यह भी होना चाहिये कि कोई भी नागरिक जीविका के अभाव मे न रहे। सहभोज की प्रथा के विषय मे यह सर्वसम्मत बात है कि यह सब सुव्यवस्थित नगरो के लिये हितकारी प्रथा है। हम इस दृष्टिकोण से जिन कारणो से सहमत है उनको आगे चलकर समझायेगे।[७] इन सहभोजो मे

सम्मिलित होने का अधिकार सबन ागरिको को होना चाहिये। पर निर्धन लोगो के लिये अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति में से (जब कि उन्हें अपनी गृहस्थी के अन्य कार्यों के लिये भी व्यय करना पडता है) सहभोजो के व्यय के लिये अपना अश देना सरल नही होगा। (अतएव सहभोज का व्यय कोश से दिया जाना चाहिये) इसी प्रकार सार्वजनिक देवपूजा का व्यय भी सार्वजनिक धन मे से ही होना चाहिये।

अतएव भूक्षेत्र को अवश्य ही दो भागो मे बॉट देना चाहिये, इन मे से एक भाग सार्वजनिक सम्पत्ति और दूसरा व्यक्तिगत सम्पत्ति होना चाहिये। इन दोनो भागो में से प्रत्येक का पुन दो दो भागो मे विभाजन होना चाहिये। सार्वजनिक भूमि की आय का एक भाग देवार्चन के निमित्त समर्पित होना चाहिये तथा दूसरा भाग सहभोज पर व्यय किया जाना चाहिये। (जो भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति है उसका विभाजन इस प्रकार हो कि) एक भाग तो राष्ट्र की सीमा पर स्थित होना चाहिये तथा दूसरा नगर के समीप दोनो प्रकार के भागो मे से प्रत्येक को एक एक मिलाकर दो भाग प्राप्त होने से, सबके सब नागरिको को दोनो स्थानो पर सम्पत्ति मिलेगी। इस प्रकार का विभाजन समानता और न्याय दोनो ही से समन्वित है, तथा सीमासबधी युद्धो मे इसके कारण जनता मे ऐकमत्य का पोषण होता है। जहॉ इस प्रकार की विभाजन-व्यवस्था नही होती वहाँ कुछ नागरिक तो (जिनकी भूमि सीमा पर नही होती) सीमावर्ती राष्ट्र से शत्रुता करने की बहुत थोडी चिन्ता करते हैं, तथा दूसरे कुछ नागरिक (जिनकी भूमि सीमा पर स्थित होती है) इस युद्ध की इतनी अधिक चिन्ता करते है कि जितनी चिन्ता करना शोभन नही होता। इसी कारण कुछ (राष्ट्रो) मे ऐसा नियम है कि पडोसी राष्ट्रो से युद्ध करने के विषय मे मत्रणा करते समय सीमावर्ती निवासियो को उस मत्रणा मे भाग लेना मना है, इसका कारण यह है कि उनके व्यक्तिगत स्वार्थो के कारण परिषद् की मंत्रणा ठीक नही रह सकती।

अतएव पूर्वोक्त कारणो से, भूमि को अवश्यमेव इसी ढग से विभाजित करना चाहिये। कृषि कार्य करनेवालो के विषय मे यदि हमारी मनोकामना पूर्ण हो सके तो सबसे अच्छी बात यह होगी कि वे दास हो, सब एक ही जाति के न हो और न साहस-पूर्ण ही हो। यदि वे ऐसे होगे तो अपने कार्य के लिये उपयोगी होगे, तथा उनके क्रान्ति करने का भय बिलकुल नही होगा। यदि दास न मिले तो दूसरे स्थान पर यही अच्छा होगा कि वे विदेशी, असभ्य परिवासी हो जिनका स्वभाव उपर्युक्त दासो के स्वभाव के सदृश ही हो। इनमे से कुछ तो सम्पत्तिशाली व्यक्तियो के अपने (दास अथवा

सेवक) होने चाहिये जो उनके खेतो पर काम करे, तथा कुछ सार्वजनिक दास होने चाहिये जो सार्वजनिक भूमि पर कृषिकार्य करे। दासो के साथ किस ढग से बर्ताव करना चाहिये, तथा सब दासो के समक्ष उनके परिश्रम के पुरस्कार के रूप मे उनकी स्वतत्रता की आशा को रखना क्यो अच्छा (हितकर) है, इसका विवेचन हम आगे करेंगे।[८]

टिप्पणियाँ

१. इगिप्तॉस् अथवा अइगिप्तॉस् मिस्र देश का यूनानी नाम है।

२. सैसोस्त्रिस् नाम के दो राजा मिस्र में हुए हैं। प्रथम का नाम औसीर्तासैन् भी था। दूसरे का नाम रॅमैसेस् द्वितीय है। यह दूसरा राजा मिस्र के इतिहास में अत्यन्त विख्यात व्यक्ति हुआ है। एक भारतीय ईसाई सज्जन ने तो इसी को भगवान् रामचन्द्र माना है। देखिये विल्किन्सन् : ए पौपुलर अकाउण्ट ऑफ दी एनशियैण्ट इजिप्शियन्स् प्रथम जिल्द पृ० ३०७ और राम, दी ग्रेट फारोह आफ ईजिप्ट (ले. मल्लादि वेङ्कटरत्नम्)। पता नही कि अरिस्तू किस "सैसोस्त्रिस्" की ओर संकेत कर रहा है। एक सैसोस्त्रिस् का समय तो प्रथम ओलिपियद् सवत् से २९३६ वर्ष पूर्व माना जाता है। प्रथम ओलिपियद् ई० पू० ७७६ से आरंभ होता है।

३. क्रीती (अथवा क्रेते) और मिनोस् के विषय में पहले लिख चुके है।

४. जिसको आजकल इटली का अँगूठा कहा जाता है।

५. तिरंहीनिया इटली के उत्तर-पश्चिम प्रदेश को कहते हैं।

६. अरिस्तू का मत यह है कि एक प्रथा एक ही स्थान से अनको स्थानो पर नहीं फैलती। आवश्यकता के अनुसार एक ही प्रथा अनेको देशो में अनेक समयों पर स्वतत्र रूप से आविष्कृत और प्रचलित हो सकती है।

७. अरिस्तू ने इस प्रतिज्ञा को नहीं निबाहा। पर इतना तो मानता ही है कि सहभोज प्रथा से सम्पत्ति का सार्वजनिक उपभोग चरितार्थ होता है अतएव इतना कारण ही पर्याप्त माना जाना चाहिये।

८ यह प्रतिज्ञा भी पूरी नही की गई। पर अरिस्तू ने अपने वसीयतनामे मे अपने कुछ दासों को स्वतत्रता प्रदान करके इस सिद्धान्त को अपने व्यवहार में चरितार्थ किया।

वि० इस खड के आरंभ में जो इटली का प्राचीन भूगोल और इतिहास आदि वर्णन किया गया है वह कुछ सम्पादकों के मत में प्रक्षिप्त है। यहाँ पर जिन ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख किया गया है उनके आधार के विषय में भी बहुत कुछ मतभेद है।

११

नगर और दुर्ग की स्थिति और निर्माण

यह तो हम पहले ही वर्णन कर चुके है कि राष्ट्र का नगर, जहाँ तक सभव हो, स्थल और जल से तथा समग्र जनपद से समान रूप से सबद्ध और समवस्थित होना चाहिये । अपने आन्तरिक स्वरूप मे और वसति-स्थान में हमारे अभीष्ट नगर की योजना चार बातो[1] को दृष्टि मे रखते हुए की जानी चाहिये (अथवा सफल या सौभाग्यशाली होनी चाहिये) । सर्वप्रथम बात जिसको दृष्टि में रखना चाहिये तथा जो एक अनिवार्य आवश्यकता है, है स्वास्थ्य। जो नगर पूर्व की ओर ढलवाँ होते हैं तथा पूर्व की ओर से आनेवाली वायु (पवन) जिन पर बहा करती है वे नगर स्वस्थतर हुआ करते है । इससे उतरकर दूसरे स्थान पर वे नगर आते है जो उत्तरीय वायु (के झोको) से सुरक्षित होते है, ऐसे नगर शीतकाल में स्वास्थ्य के लिये हितकर होते हैं। नगर-स्थान के विषय मे दो शेष ध्यान मे रखने योग्य बाते है राजनीतिक और सामरिक कार्यों की दृष्टि की सुविधा । सामरिक दृष्टि से नगर की स्थिति ऐसी होनी चाहिये कि नगर-निवासी सरलता से नगर के बाहर जा सके तथा किसी भी शत्रु के लिये उसमें प्रवेश करना अथवा उस पर घेरा डालना कठिन (दु साध्य) हो । नगर में यथासभव प्राकृतिक जलाशयो और स्रोतो का बाहुल्य भी होना चाहिये । यदि ऐसा न हो तो इस अभाव की पूर्ति वर्षा के जल के सग्रहार्थ विशाल और विपुल जलाशयों के निर्माण द्वारा की जानी चाहिये, जिससे युद्धकाल मे शत्रु के द्वारा नगर का जनपद से सबध कट जाने पर भी जनता को जल का अभाव कभी न हो । नगर-निवासियो के स्वास्थ्य के विषय मे विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये, तथा अच्छा स्वास्थ्य नगर के स्वस्थ स्थान पर स्थित होने पर तथा इस बात पर निर्भर रहेगा कि नगर को स्वस्थ पवन का रुख मिलता है अथवा नही, दूसरे इस बात पर भी निर्भर होगा कि उनको स्वास्थ्यप्रद जल प्राप्त हो । स्वास्थ्यप्रद जल ऐसी बात नही है जिसका महत्त्व गौण समझा जाय । अपने शरीरो के पोषण के लिये जिन तत्त्वो का हम सबसे अधिक और बहुधा उपयोग करते है वे ही तत्त्व हमारे शरीरो के स्वास्थ्य में अत्यधिक योगदान करते हैं, तथा पानी और पवन इसी प्रकार का प्रभाव रखते है ।[2] अतएव बुद्धिमत्तापूर्ण ढग से व्यवस्थित सभी नगरो में ऐसा नियम बना देना चाहिये कि यदि सब स्रोतो का जल एक समान अच्छा न हो तथा स्वास्थ्यवर्द्धक जल पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध न हो तो पीने के जल को अन्य उपयोगो मे आनेवाले जल से पृथक् कर दिया जाय ।

गढ (दुर्ग)-निर्माण के विषय मे ऐसी कोई नीति नही है जो सब शासन-पद्धतियो के लिये एक समान उपयोगी (लाभदायक) हो। उदाहरण के लिये, धनिकतत्र और एकराट्तत्र के लिये ऊँचा दुर्ग (अक्रोपौलिस) उपयुक्त होता है पर जनतत्र-पद्धति के लिये खुला समतल मैदान ही ठीक होता है। श्रेष्ठ जनतत्र के लिये इन दोनो मे से कोई भी उपयुक्त नही होता, इसके लिये तो कई एक सुदृढ स्थान ठीक होते है। व्यक्तिगत भवनो की निर्माण-व्यवस्था, शान्तिकाल के कार्यकलापो को दृष्टि मे रखते हुए, तब मनोरम और उपयोगी (सुविधानजक) समझी जाती है जब वे हिप्पोदामस[३] द्वारा प्रचारित नवीन पद्धति के अनुसार सीधी (सडको की) पक्तियो के किनारे ठीक ढग से बनाये जाते है। पर युद्धकाल की सुरक्षा की दृष्टि से तो इसकी बिलकुल उलटी पद्धति ही ठीक है। प्राचीन काल की अनियमित भवन-निर्माण-पद्धति, जिससे विदेशी सैनिको को बाहर निकलना तथा आक्रमणकारियो का नगर मे प्रवेश करना दु साध्य हो जाता है, युद्धकाल के लिये अधिक उपयोगी है। अतएव नगरो को उपर्युक्त दोनो भवन-निर्माण-पद्धतियो के मिश्रण का उपयोग करना चाहिये। इस प्रकार की "अनियमित" भवन-निर्माण-व्यवस्था उस पद्धति को अगीकार करने से सभव हो सकती है जिसका अनुसरण अगूरो की कृषि करनेवाले द्राक्षाकुजो को लगाने मे करते है।[४] (इसका विकल्प यह हो सकता है) कि समग्र नगर की भवन-निर्माण-योजना सीधी भवन-पक्तियो मे न की जाय, प्रत्युत नगर के कुछ भागो और स्थानो के भवनो को इस प्रकार बनाया जाय। इस प्रकार सुरक्षा और सुन्दरता का दोनो का सुयोग एक साथ उपलब्ध हो सकेगा।

नगर की प्राचीरो के सबध मे जिन लोगो का यह कहना है कि यौद्धिक योग्यता का अभिमान (दावा) करनेवाले नगरो को इन प्राचीरो को नही रखना चाहिये, उनका मत अत्यन्त पुराना (खूसट) प्रतीत होता है। विशेषकर जब कि हम सब अपनी आँखो से देख रहे है कि जो नगर इस विषय मे बडा दर्प रखते थे वे तथ्यो द्वारा अभिभूत हो रहे है।[५] यह तो ठीक है कि जब शत्रु अपने ही समान हो और सख्या मे भी बहुत अधिक न हो तो दुर्ग की प्राचीर की आड मे सुरक्षितता पाने के प्रयत्न मे कोई शोभन (सम्मान की) बात नही है। पर कभी कभी ऐसा घटित हो जाता है—तथा ऐसा घटित होना सभव तो सर्वदा ही है—कि आक्रान्ता का बलातिशय्य साधारण मानवीय साहस से, और उस साहस से जो कि थोडे से ही व्यक्तियो मे पाया जाता है, दोनो से ही बहुत अधिक हो, तब ऐसी स्थिति में कोई राष्ट्र अपनी रक्षा किया चाहे, तथा पराजय भोगने और अपमान सहने से बचना चाहे, तो सुदृढतम प्राचीर ही को श्रेष्ठ युद्धनीति समझा जाना

चाहिये , विशेषकर आजकल जब कि युद्ध के यत्र---अर्थात् गोफण६ और अन्य अवरोध यत्र इतनी पूर्णता को प्राप्त कर चुके है । नगर के चारो ओर प्राचीर न बाँधना, तथा उसको ऐसे स्थान पर स्थापित करना जहाँ वह शत्रु के आक्रमण के लिये खुला हो एव ऊँचे स्थलो को खोदकर समतल कर देना यह बाते एक समान है। ऐसा करना मानो व्यक्तिगत घर के चारो ओर इस भय से दीवार न बनाने के समान होगा कि कही घर मे रहने वाले डरपोक न बन जायँ। फिर हमको यह बात भी कदापि न भुला देनी चाहिये कि जिन लोगो के नगर के चारो ओर प्राचीरे होती है उनको उभय विकल्पो की सुविधा प्राप्त होती है, वे चाहे तो नगर को परिवेष्टित मानकर (रक्षात्मक युद्ध कर सकते है) अथवा अपरिवेष्टित मानकर (आक्रमणात्मक) युद्ध कर सकते है । पर जिन लोगो का नगर प्राचीर से परिवेष्टित नही होता उनको कोई अन्य विकल्प अथवा गति शेष रहती ही नही ।

यदि इस युक्ति को स्वीकार कर लिया जाय तो इसका निष्कर्ष यही नही निकलेगा कि नगर प्राचीरावेष्टित हो; प्रत्युत यह भी निकलेगा कि दीवारो को इस प्रकार सुव्यवस्थित रखने की सावधानी बरती जानी चाहिये जिससे वे नगर के सौंदर्य की तथा सामरिक आवश्यकता की दृष्टि से सन्तोषप्रद हो, विशेषकर उन सामरिक आवश्यकताओ की दृष्टि से जो आजकल के आविष्कारो के कारण प्रकाश में आई है। जिस प्रकार नगर के आक्रान्ता यह जानने के लिये चिन्तित रहते है कि हम किस प्रकार से अधिक हितकर (सुविधाजनक) स्थिति ग्रहण कर सकते हैं, इसी प्रकार नगर के रक्षको को भी इस बात के लिये चिन्तित होना चाहिये कि जो आविष्कार हो चुके हैं उनका नगर की रक्षा के लिये उपयोग करें और अन्य उपायो को सोचे और उनका आविष्कार करें। जो लोग अपने नगर की रक्षा के लिये पहले से ही प्रस्तुत रहते है उनके शत्रु उनके नगर पर आक्रमण करने का यत्न ही नही करते ।

टिप्पणियाँ

१. चार बाते है (१) स्वास्थ्य, (२) नागरिक जीवन की आवश्यकताओं की दृष्टि से उपयोगिता, (३) सैनिक दृष्टि से उपयोगिता और (४) सौन्दर्य, यद्यपि इस अन्तिम तथ्य का अरिस्तू ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है।

२. स्वास्थ्य-संबंधी विषयो की विवेचना में अरिस्तू ने अपने प्रारंभिक जीवन में अपने पिता से प्राप्त किये हुए वैद्यकशास्त्र के ज्ञान का भी उपयोग किया है। संभव

है कि उसने हिप्पोक्रातेस की कही जानेवाली "पेरी अएरोन्, हुदातोन्, तौपोन्" (पवन, जल और स्थल के विषय मे) नामक पुस्तक का भी इस प्रसंग में उपयोग किया है। उत्तर की ठंडी वायु से बचने की ओर संकेत उत्तर की ठंडी हवा की कठोरता को सूचित करता है।

३. हिप्पोदामस् नगर-निर्माण-पद्धति का विशेषज्ञ था।

४. द्राक्षालताएँ पंचको में लगाई जाती थी। एक चोकोर वर्ग के चार कोणो पर चार लताएँ आरोपित की जाती थी और पाँचवी लता केन्द्र-स्थान में, जैसा कि निम्नलिखित आकृति से स्पष्ट होगा।

× ×
×
× ×
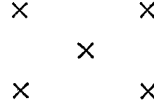
५. यह संकेत स्पार्टा की ओर है। स्पार्टा नगर को अपने योद्धाओं का बड़ा गर्व था और वह प्राचीर और दुर्ग का परिहास किया करता था। पर ई० पू० ३६९ में ऐपा-मिनौन्दास् ने उसके गर्व को खर्व कर दिया।

६. गोफण के स्थान पर मूल ग्रीक भाषा मे "कातापैल्तेस्" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका आविष्कार सिराकूस नगर में प्रथम दियौनीसियस् के शासन-काल में हुआ था। गोफण बिलकुल शब्दानुवाद नही है केवल यह सूचित करने के लिये है कि जिस प्रकार गोफण पत्थर फेंकने के लिये काम में आता है इसी प्रकार "कातापैल्तेस्" बड़े-बड़े पत्थर अथवा अन्य अस्त्र फेकने के काम आता था।

१२

सहभोजों की व्यवस्था

यदि यह मान लिया जाय कि नगर-निवासियो को सहभोज-मडलो मे विभाजित किया जाना चाहिये तथा प्राचीरो में समुपयुक्त स्थानो पर रक्षक-गृह और धवलगृह (धौरैरे) होने चाहिये, तो स्पष्ट ही इस विचार से यह दूसरा विचार उद्भूत होगा कि कुछ सहभोज-पट्टिकाएँ रक्षक-गृहो मे स्थापित की जानी चाहिये। सहभोजो की विभा-जन-व्यवस्था का एक प्रकार यह हो सकता है। नगर के शासनाधिकारियो के सहभोज का प्रबन्ध देवस्थानो के लिये नियत स्थलो पर किया जाना चाहिये, अथवा किसी ऐसे ही अन्य स्थान पर किया जाना चाहिये। अपवाद-स्वरूप वह मन्दिर और स्थान होगे

जो नियम के अनुसार अथवा पीथिया की देववाणी के अनुसार विशिष्ट और पृथक् रहने चाहिये ।[१] यह स्थान किसी ऐसे स्थल पर होना चाहिये जो ऊँचा हो और जहाँ पर मनुष्य सद्वृत्ति (भलाई) को भली प्रकार स्थापित हुआ देख सके, तथा जो पास पडोस के स्थानो से पर्याप्तरूपेण ऊँचा और सुदृढ हो। इस स्थान के कुछ नीचे सार्वजनिक चौक (अगोरा[२]) की व्यवस्था होनी चाहिये, वह ऐसा होना चाहिये जैसा कि थैसाली मे "स्वाधीन जनता का चौक" कहलाता है। यह स्थान सब पण्य वस्तुओ (सौदे सुलफ) से रिक्त होना चाहिये तथा जब तक कोई शासनाधिकारी न बुलाये तब तक किसी श्रमिक, कृषक अथवा अन्य किसी ऐसे व्यक्ति को यहाँ प्रवेश करने की आज्ञा नही होनी चाहिये। यदि इसी स्थान पर वयोवृद्ध लोगो के व्यायाम की व्यवस्था भी कर दी जाय तो यह स्थान अत्यन्त मनोरम हो जायगा। इस प्रकार के मनोरजन की व्यवस्था में विभिन्न आयुओ के व्यक्तियो को एक दूसरे से पृथक् रक्खा जाना चाहिये। यदि इस योजना का अनुसरण किया जाय तो कुछ शासनाधिकारी लोग तो नवयुवको के साथ (रक्षक गृहो के पास) रह सकते है तथा वयोवृद्ध लोग शेष शासनपदाधिकारियो के साथ (सार्वजनिक चौक मे) रह सकते है। शासनपदाधिकारियो की आँखो के सामने रहने से जनता के हृदय मे वह सच्ची विनय (लज्जा) और ग्लानि के भय की भावना का जन्म होगा जिससे प्रत्येक स्वतत्र जन अनुप्राणित होना चाहिये।[३] क्रय और विक्रय का बाजार इस चौक से भिन्न होना चाहिये और इससे कुछ दूरी पर पृथक् स्थान पर स्थित होना चाहिये, इस बाजार को ऐसा स्थान अधिकृत करना चाहिये जो समुद्र के पार से आयात की गई वस्तुओं के लिये तथा स्वय राष्ट्र के समस्त क्षेत्र मे उत्पन्न हुई वस्तुओं के लिये एक सुन्दर सग्रह-स्थल का काम दे सके।

नगर के जनसमूह[४] का विवरण उपस्थित करते समय (अथवा नगर के निर्देशको का विवरण करते समय) हमको शासनाधिकारियो के समान पुरोहितो का भी उल्लेख करना चाहिये, तथा इन लोगो के लिए भी, शासनाधिकारियो के समान ही देवमन्दिरो के समीप सहभोज का प्रबन्ध करना समुचित होगा। वह शासनाधिकारी जिनका सबध ठेको, दोषारोपणो, अदालत (न्यायालय) मे आमत्रणो तथा इसी प्रकार की अन्य बातो से है—इसके अतिरिक्त जिन शासनाधिकारियो का सबध बाजार की अध्यक्षता से है, और नगर की अध्यक्षता से है वे बाजार के पास अथवा किसी सार्वजनिक सम्मिलन के स्थान पर अवस्थित होने चाहिये। इस प्रकार की आवश्यकता के लिये व्यापारियो का बाजार सबसे अधिक उपयुक्त स्थान है ऊँचे पर स्थित जो सार्वजनिक चौक है उसको हमने सावकाश जीवन के लिये नियोजित किया है, तथा यह दूसरा

बाजारवाला चौक जीवन की व्यापारिक आवश्यकताओ के लिये । यही सामान्य व्यवस्था, जिसका हमने वर्णन किया है जनपद के विषय मे भी लागू होनी चाहिये । वहाँ पर भी विभिन्न शासनाधिकारियो के लिये, जो कि कही तो वनाध्यक्ष कहलाते है और कही ग्रामाध्यक्ष, उनके कार्य के सबध मे रक्षक गृहो और सहभोज पट्टिकाओ का प्रबन्ध अवश्य किया जाना चाहिये । इसके अतिरिक्त समग्र जनपद मन्दिरो से ग्रथित होना चाहिये, जिनमे से कुछ तो देवताओ के निमित्त सर्मापत हो और कुछ वीर पुरषो के निमित्त ।

पर अब इस विषय की बाल की खाल खीचते हुए तथा बारीक विवरण उपस्थित करते हुए इसी मे अटके रहना समय व्यर्थ खोना है । ऐसे विषय मे (नवीन) कल्पना अथवा विचार करना कठिन नही है किन्तु उन विचारो को कार्यरूप मे परिणत करना कही अधिक कठिन कार्य है । हम ऐसे विषयो पर अपनी इच्छा (= आवश्यकता) के अनुरूप बातचीत किया करते है, पर जो कुछ होना होता है वह सयोगात् (= दैवात्) घटित होता है । अतएव अब इस विषय मे अधिक कुछ कहने से हम विरत होते हैं ।

टिप्पणियाँ

१. इसका निष्कर्ष यह है कि पचास वर्ष से कम अवस्थावाले योद्धा नागरिकों का सहभोज रक्षको के कक्ष में होना चाहिये और उससे अधिक अवस्थावाले नागरिको का सहभोज मन्दिरों मे होना चाहिये । जो मन्दिर देल्फी की देववाणी की आज्ञानुसार सब से पृथक् रहते हैं उनमें सहभोज नहीं होना चाहिये ।

२. अथेन्स का सार्वजनिक चौक प्राचीन काल में दो भागो मे विभक्त था (१) दक्षिण भाग (२) उत्तर भाग । दक्षिण भाग नागरिक कार्यों के लिये काम में आता था और उत्तर भाग व्यापार इत्यादि के लिये काम में आता था । अरिस्तू समग्र चौक को व्यापार इत्यादि से मुक्त रखना चाहता था । व्यापार के लिये वह एक अन्य चौक का विधान करता है ।

३. यदि लोगों के आमोद-प्रमोद शासनाधिकारियों की दृष्टि के समक्ष रहेंगे तो उनमें अप्राकृतिक मैथुन जैसी निर्लज्ज प्रवृत्तियों को बाधा पहुँचेगी ।

४. इस स्थान पर एक पाठान्तर आया है । यदि "तो प्लेथॉस्" पाठ को स्वीकार करें तो अर्थ जनसमूह होगा, और यदि "तो प्रोएस्तॉस्" पाठ लें तो निर्देशक अर्थ होगा ।

१३

नगर (राष्ट्र) किन तत्त्वो से घटित हो ?

अब हमको स्वय शासन-व्यवस्था के विषय मे ही चर्चा करनी है, और यह बतलाना है कि यदि किसी नगर (राष्ट्र) को सौभाग्यशाली (सुखी) और सुशासित होना है तो वह किन और किस प्रकार के तत्त्वो से घटित होना चाहिये। दो बाते ऐसी है जिनमे सर्वत्र और सर्वदा सब भलाई सन्निहित रहती है। इनमे से एक तो अपने कार्यों का लक्ष्य और अन्तिम उद्देश्य ठीक प्रकार से निर्धारित करना है, दूसरे उन कार्यों का आविष्कार करना है जो उस अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उपयोगी होगे। यह दोनो तत्त्व—अन्तिम लक्ष्य और उसके साधन—परस्पर परविसवादी भी हो सकते है और सवादी भी। कभी कभी लक्ष्य का निर्धारण तो ठीक हो जाता है पर क्रियात्मक रूप मे उसको प्राप्त करने मे मनुष्य असफल रहा करते है। कभी ऐसा होता है कि अन्तिम लक्ष्य के साधनो की प्राप्ति मे सफलता प्राप्त हो जाती है, पर जो उद्देश्य मनुष्य अपने समक्ष रखते है वह दोषपूर्ण होता है। कभी कभी दोनो के ही विषय में असफलता रहती है। उदाहरण के लिये आयुर्वेद विद्या को ले सकते है, कभी कभी वैद्य न केवल प्राकृतिक स्वास्थ्य की अवस्था का निर्णय करने मे ही भूल करते है, प्रत्युत वह उन साधनो का आविष्कार करने मे भी असफल रह सकते है जो उसके लक्षित उद्देश्य को निष्पन्न कर सकते है। सब कलाओ और विद्याओ मे यह दोनो ही—अन्तिम लक्ष्य भी और उस लक्ष्य की सिद्धि के साधन-स्वरूप कार्य-कलाप—अपनी मुट्ठी मे (=सगृहीत) होने चाहिये।

सुन्दर अथवा सुखी जीवन अथवा सुख ही वह वस्तु है जो प्रत्यक्षेण सब (मनुष्यो) का अभीष्ट लक्ष्य है। पर कुछ मनुष्यो मे तो इस लक्ष्य को सिद्ध करने की शक्ति होती है, किन्तु अन्य मनुष्य किसी सयोग (दैवयोग) अथवा अपने ही प्रकृति-दोष के कारण उसको उपलब्ध नही कर पाते। सुन्दर जीवन के लिये बाह्य उपकरणो की आवश्यकता होती है, जब किसी की अपनी प्राकृतिक सपदा की स्थिति अच्छी हो तो इन बाह्य उपकरणो की आवश्यकता अपेक्षाकृत कम मात्रा मे हुआ करती है, पर जिसके प्रति प्रकृति की देन तुच्छ हो उसके लिये इनकी आवश्यकता अधिक मात्रा मे हुआ करती है। कुछ लोग ऐसे होते है कि यद्यपि उनको सुख-प्राप्ति के उपादान प्राप्त होते हैं, तथापि वे आरभ से ही सुख की खोज मे गलत मार्ग पर चल पडते है। पर क्योकि हमारा लक्ष्य श्रेष्ठ शासनव्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करना है, और श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था वह है

जिसके अनुसार नगर का शासन श्रेष्ठ प्रकार से हुआ करता है, श्रेष्ठ-शासित नगर वह है जिसमे नगर के सुखी होने की सभावना सबसे अधिक होती है, अतएव स्पष्ट ही हमको यह नही भुला देना चाहिये कि सुख का स्वरूप क्या है (अर्थात् हमको यह निश्चय रूप से जान लेना चाहिये कि सुख का स्वरूप क्या है[२]) ।

हमने ईथिकस् नामक पुस्तक मे (यदि उस पुस्तक मे निरूपित युक्तियो मे कुछ सार हो) ऐसा कहा है कि सुख भलाई का पूर्णता की सीमा तक पहुँचनेवाला क्रियात्मक व्यवहार और अभ्यास है, तथा यह व्यवहार और अभ्यास सापेक्षिक प्रकार का नही प्रत्युत आत्यन्तिक (निरपेक्ष) प्रकार का है । सापेक्षिक शब्द का प्रयोग मैने ऐसे कार्य के लिये किया है जो आवश्यक और बाधित हो और निरपेक्षिक से हमारा तात्पर्य उस कार्य से है जो स्वत अपने मे ही अच्छा हो । उदाहरण के लिये न्याय्य कार्यो को ही ले लीजिये , प्रतीकारात्मक यत्रणा और न्यायोचित दड यह दोनो ही सद्वृत्ति से ही उत्पन्न होते है , पर साथ ही साथ यह कार्य अनिवार्य भी है तथा इनमे जो भलाई है वह इनकी अनिवार्यता के कारण है । यह कही अधिक वाछनीय बात होती यदि न तो व्यक्ति को और न नगर को कभी इस प्रकार के कार्यो की शरण लेनी पड़ती। पर वह कार्य जो कि दूसरो को सम्मान और सम्पत्ति प्रदान करने की दृष्टि से किये जाते है निरपेक्षतया सर्वोत्कृष्ट भले कार्य है ।[३] (दण्ड देने का) पूर्वोक्त कार्य तो ऐसा कार्य है जिसमे कुछ बुराई का वरण करना पडता है (क्योकि पीडा पहुँचाना बुराई ही तो है), पर यह जो सम्मान और सम्पत्ति प्रदान करनेवाले कार्य है यह एक दूसरे विरोधी प्रकार के कार्य है वे भलाई की आधार-भित्ति और सृष्टि है। अच्छा मनुष्य, निर्धनता, रुग्णता और जीवन की ऐसी ही अन्य विपदाओ का भी भला से भला उपयोग कर सकता है , तथापि सुख तो इसके विपरीत अवस्थाओ मे ही प्राप्त हो सकता है ।[४] और यह बात तो हम सदाचार-सबधी युक्तियो (ग्रथो) मे वर्णन कर चुके है कि वही मनुष्य वास्तव मे भला होता है जो स्वय अपने सद्वृत्त के कारण भला होता है, तथा इसी कारण जिसको निरपेक्ष भाव से भली वस्तुएँ भली (प्रतीत) होती है । यह बात बिल-कुल स्पष्ट है, उसका इन सुविधाओ का उपयोग भी अवश्य ही निरपेक्ष भाव से सद्वृत्ति-मय और निरपेक्षभाव से शोभन होगा । इससे (कभी कभी) मनुष्यो का विचार यह हो जाया करता है कि यह बाह्य-साधन-(सपत्ति)ही सौख्य (सौमनस्य)का कारण है, जैसे मानो कोई यह कहे कि वीणा के सुस्पष्ट प्राजल वादन का कारण वह वाद्ययत्र है न कि बजानेवाले कलावन्त की कला ।

अतएव जो कुछ कहा जा चुका है उससे यह अनिवार्य निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्र के कुछ तत्त्व तो स्वत पहले से ही उपलब्ध होने चाहिये, तथा कुछ का प्रबध नियम-निर्माता को करना होगा । इसलिये हमको यह प्रार्थना (कामना) करनी चाहिये कि, जहाँ तक उन सपदाओ का सबध है जिनको प्रदान करना भाग्य की शक्ति मे है, हमारा राष्ट्र ऐसा सघटित हो कि वह उन सम्पदाओ से सपन्न हो—क्योकि प्राकृतिक देन के क्षेत्र मे हमको भाग्य की सत्ता मान्य है । इसके विपरीत जहाँ तक राष्ट्र मे भलाई की सत्ता का प्रश्न है, यह भाग्य का कार्य नही है , प्रत्युत मानवीय विज्ञान (विद्या) और उद्देश्य का परिणाम है ।[1] राष्ट्र तो तभी अच्छा हो(सक)ता है जब कि उसके शासन-प्रबध मे भाग लेनेवाले नागरिक भी भले हो । हमारे (आदर्श) राष्ट्र मे तो सभी नागरिक शासन-कार्य मे हाथ बँटाते है, (अतएव सभी को भलामानस होना चाहिये ।) इसलिए अब हमको यह देखना (विचार करना) चाहिये कि मनुष्य भले किस प्रकार बन सकते हैं । यद्यपि (नगर के) प्रत्येक व्यक्ति के भला न होते हुए भी सब नागरिको का समष्टिरूपेण भला होना सभव है, तथापि अधिक अच्छी बात यही है कि प्रत्येक नागरिक व्यक्तिश भला हो, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति की भलमनसाहत मे सबकी भलमनसाहत अनुस्यूत रहती है ।

पर मनुष्य भले और सदाचारी तीन उपायो से हुआ करते हैं । यह तीन उपाय है, जन्म के समय प्रकृति की देन, हमारे द्वारा बनाई हुई आदतें और मनुष्य में रहने-वाला विवेक-तत्त्व । सबसे प्रथम जन्म से प्रकृति की देन का विचार करें तो प्रथम बात यह है कि जन्मना हम अन्य किसी प्रकार के जीवधारी न होकर मनुष्य हैं और फिर मनुष्य भी कैसे कि जिनको शरीर और आत्मा की कुछ विशिष्टताएँ प्राप्त है । कुछ गुण ऐसे होते है कि उनका जन्म के साथ प्राप्त होना उपयोगी नही है । हमारी आदते उन गुणो को बदल डालती है । कुछ सहज गुण उभय वृत्तिवाले होते है, और वे हमारी आदतो से बुरे अथवा भले बना दिये जाते हैं । अन्य जीवधारी तो प्रायेण प्राकृतिक प्रेरणाओ के अनुसार जीवन व्यतीत करते है, यद्यपि उनमें से कुछ थोडी मात्रा मे आदतों का भी अनुसरण करते है , पर मनुष्य इन (सहज प्राकृतिक प्रेरणा और आदतो के अनुसरण) के अतिरिक्त विवेक-तत्त्व के अनुसार भी अपना जीवन-यापन करता है, पर यह (विवेक) केवल मनुष्य को ही प्राप्त है। इससे यह निष्कर्ष निष्पन्न होता है कि यह तीनो (उपाय) परस्पर सवादी (समन्वित) होने चाहिये । बहुधा जब मनुष्यो को विवेक द्वारा यह पता चल जाता है कि कोई अन्य मार्ग अच्छा है तो वह आदतो और सहज स्वभाव द्वारा बतलाये मार्ग का अनुसरण नही करते । यह तो हम पहले

ही (७वे अधिकरण मे) निर्धारित कर चुके है कि यदि हमारे नागरिको का स्वभाव नियम-निर्माताओ (स्मृतिकारो) की कला के द्वारा सरलता से ढाला जाने योग्य होना है तो उनके साहजिक गुणो का स्वरूप क्या होना चाहिये। यदि उनको यह साहजिक गुण प्राप्त हो तो शेष कार्य तो शिक्षा का कार्य रह जाता है। मनुष्य कुछ बातें तो आदतो के अभ्यास से सीखते है और कुछ शिक्षण-सस्थान से (=दूसरो से सुनकर)।

टिप्पणियाँ

१. अब तक नगर-राष्ट्र की पूर्वपीठिका का विवरण उपस्थित किया गया है। नाटयशास्त्र की भाषा में कह सकते है कि रंगभूमि का निर्माण हो चुका है, पात्रो की कल्पना भी की जा चुकी है, अब वास्तविक अभिनय की चर्चा होगी।

२. अरिस्तू श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था, श्रेष्ठ जीवन-पद्धति और सबसे अधिक सुखी जीवन इनको एक ही बात मानता है।

३. दण्डनीय व्यक्ति को दण्ड देना विवशता के कारण की हुई भलाई है अतएव स्वतंत्र अथवा निरपेक्ष भलाई नही है, पर दूसरो के प्रति भलाई करना निरपेक्ष भलाई है, स्वतत्र भलाई है।

४. निरपेक्ष भलाई के लिये नीरोगता, सम्पन्नता एवं अन्य आवश्यक वस्तुओ की सम्प्राप्ति आवश्यक है। यहाँ ग्रन्थो से तात्पर्य निकोमाखियन एथिक्स से भिन्न अन्य दो सदाचार सबंधी ग्रथो से है।

५. अर्थात् बाह्य साधन भाग्यायत्त है पर भलाई ("अरैते") पुरुषायत्त है, पुरुषार्थ है।

१४

क्या शासक और शासित एक दूसरे से पृथक् रहे ?

क्योकि सब राजनीतिक (नागरिक) समाज शासको और शासितो से मिलकर सघटित (निर्मित) होते है, अतएव हमको यह विचार करना है कि क्या शासक और शासित आजीवन एक दूसरे से पृथक् रहे अथवा दोनो एक ही रहे। स्पष्ट ही इस प्रश्न का जो उत्तर हम देगे उसी के अनुसार शिक्षा मे भी परिवर्तन अवश्यम्भावी होगा। यदि कोई मनुष्य ऐसे हो जो अन्य सब मनुष्यो से इतने अधिक अन्तरवाले हो जितने कि देवता और वीर पुरुष साधारण मनुष्यो से बढकर हुआ करते है (जो प्रथम तो शरीर

मे ही अन्य सबसे अतिशय महत्ता रखते है तथा दूसरे मस्तिष्क मे भी), जिससे कि शासको की उच्चता शासितो की अपेक्षा निर्विवाद स्पष्ट हो, तो ऐसी अवस्था मे यह निश्चयरूपेण स्पष्ट ही अच्छा होगा कि शासक और शासितो के बीच का अन्तर एक बार ही सर्वदा के लिये स्थापित (स्थिर) कर दिया जाय। पर क्योकि इस अवस्था को प्राप्त करना सरल नही है, और क्योकि हमारे यहाँ राजाओ और शासितो के बीच इतना महान् अन्तर नही है जितना कि स्किलाक्ष ने इण्डिया (भारत)[२] के राजाओ और प्रजा के बीच वर्णन किया है, अतएव यह अनेक कारणो से स्पष्ट है कि (हमारे यहाँ तो) सब नागरिको को समान रूप से बारी बारी से शासन-प्रबध मे भाग लेना चाहिये और पर्याय-क्रम से शासन करना और शासित होना चाहिये। बराबरीवाले सदस्यो के समाज में समानता का अर्थ होता है सदृश लोगो के साथ एक समान व्यवहार, तथा कोई भी सस्था न्याय के अतिक्रमण पर स्थापित होकर स्थायी नही हो सकती। क्योकि यदि शासन अन्याय पर स्थित हो तो सारे शासित नागरिक जन सब जनपदवासियो के साथ मिलकर क्रान्ति कर डालने की इच्छा पर एकमत हो जायँगे, तथा यह तो एक असभव बात है कि शासक-मडल की सख्या इतनी अधिक हो कि वे अपने सब एकत्रित शत्रुओ से अधिक शक्तिशाली हो। दूसरी ओर यह भी निर्विवाद (तथ्य) है कि शासको और शासितो मे (कुछ) अन्तर तो होना ही चाहिये। 'यह (अन्तर) किस प्रकार होगा और साथ ही साथ) वे (शासक और शासित) राज्य-प्रबध मे एक समान भाग ले सकेंगे, इस समस्या पर नियम निर्माताओ को विचार करना चाहिये। इस (समस्या) के विषय मे हम तो पहले ही अपने विचार प्रकट कर चुके है।[२]

हमने (वहाँ यह सुझाव प्रस्तुत किया है) कि एक ही जाति के जीवो में से कुछ को युवा तथा कुछ को वृद्ध बनाकर प्रकृति ने स्वय ही यह विभाजन प्रदान कर दिया है, जिनमे से एक को उसने शासित होने और दूसरे को शासन करने योग्य बनाया है। युवको को शासित होने पर अप्रसन्नता नही होती और न वे अपने को शासको की अपेक्षा अधिक योग्य ही समझते है, और जब वे यह जानते है कि समुचित अवस्था को प्राप्त करने पर शासन-कार्य को ग्रहण कर लेगे तो उनके रुष्ट होने की सभावना और भी कम हो जाती है।

अतएव इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि एक अर्थ मे शासको और शासितो को एक और अभिन्न कहना चाहिये, तथा दूसरे अर्थ में पृथक्। यही बात उनकी शिक्षा के विषय मे भी सत्य होगी कि एक दृष्टिकोण से सबकी शिक्षा एक ही होगी, तथा दूसरे

से भिन्न भिन्न होगी। इस विषय मे लोकोक्ति है "यदि तुम भले प्रकार शासन करना सीखना चाहते हो तो पहले तुमको आज्ञाकारिता (शासित होना) सीखना चाहिये।" जैसा कि हम अपनी इस पुस्तक के प्रारभिक भाग मे कह आये है कि शासन-कार्य एक तो शासको के हित मे होता है और दूसरा शासितो के हित मे।[३] प्रथम प्रकार की शासन-पद्धति प्रभु (का दासोपर) -शासन होता है, दूसरे प्रकार की शासन-पद्धति स्वतत्र लोक-शासन होता है। कुछ आज्ञाएँ एक दूसरी से, किये जानेवाले कार्य के कारण, भिन्न नही होती, प्रत्युत कार्य के उद्देश्य के कारण भिन्न होती हैं। अतएव बहुत सी ऐसी सेवाएँ, जो आपातत निकृष्ट कोटि की सेवाएँ समझी जाती है, ऐसी हो सकती है जिनको नवयुवक सम्मान के साथ सपन्न कर सकते है। कोई कार्य शोभन (सम्मानपूर्ण) है अथवा शोभन नही है, यह भेद कार्यो के अपने स्वरूप के कारण नही है, यह तो उस अन्तिम लक्ष्य अथवा उद्देश्य पर निर्भर है, जिसके निमित्त कोई कार्य किया जाता है।[४] पर क्योकि हम यह कह चुके है कि शासन-कार्य मे भाग लेनेवाले (पूर्ण) नागरिक की उत्तमता (भलाई) और श्रेष्ठ मनुष्य की भलाई दोनो एक और अभिन्न है[५] तथा यह भी कह चुके है कि एक ही मनुष्य प्रथम शासित रहेगा और (उचित आयु होने पर) वही पीछे शासक बनेगा, अतएव नियम-निर्माता का कार्य यह हो जाता है कि वह पता लगाये कि मनुष्य किस प्रकार नेक बन सकते है तथा किन उपायो (अथवा सस्थाओ) द्वारा इस उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है, एव श्रेष्ठ (पूर्ण) जीवन का अन्तिम (तलस्पर्शी) उद्देश्य क्या है।

मनुष्य की आत्मा दो भागो मे विभक्त है, इनमे से एक मे स्वान्तर मे स्वरूपत विवेक तत्त्व पाया जाता है, दूसरे मे वह तत्त्व इस प्रकार नही पाया जाता, पर वह इस विवेक तत्त्व की आज्ञा का पालन करने की क्षमता रखता है। जब हम यह कहते है कि कोई मनुष्य भला है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि उस मनुष्य को आत्मा के इन दोनो अशो की भलाई प्राप्त है। पर मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य इन दोनो मे से अपेक्षाकृत किसमे विशेषतया उपलब्ध होगा, यह बात उनको तो बिलकुल ही अस्पष्ट नही होगी जो हमारे सुझाये हुए इस विभाजन को स्वीकार करते है। कला के जगत् मे और प्रकृति के जगत् मे दोनो मे ही एक समान निकृष्ट की सत्ता उत्कृष्ट के लिये है।[६] (आत्मा का) उत्कृष्ट भाग वह है जिसमे विवेक-तत्त्व रहता है। पर हम सामान्यतया जिस विभाजन-पद्धति का अनुसरण करते है उसके अनुसार आत्मा के इस विभाग के फिर दो भाग हो सकते हैं। इस विभाजन-योजना के अनुसार विवेकतत्त्व का एक भाग व्यावहारिक (=क्रियात्मक) है और दूसरा विमर्शात्मक।[७] अतएव यह स्पष्ट है कि आत्मा का वह भाग, जिसमे इस विवेक तत्त्व का निवास है, इसी प्रकार दो भागो

मे विभक्त होना चाहिये। जिस प्रकार आत्मा के भागो का (उच्चावच) कोटिक्रम होता है इसी प्रकार उन भागो के कार्यो का भी कोटिक्रम होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो सब (=तीनो) प्रकार की कार्यावलियो को उपलब्ध कर सकते है, अथवा तीन मे से दो प्रकार के कार्यो को कर सकते है वे अनिवार्यतया उस भाग के कार्य को अन्य भागो के कार्यो की अपेक्षा अधिक वरेण्य मानेगे जो प्रकृत्या उच्चतर है, क्योकि जिस ऊँचे से ऊँचे तक हमारी पहुँच होती है वही हम सबके लिये वरेण्यतम होता है।[८]

फिर जीवन स्वय सामग्रचेण विभिन्न द्वन्द्वो मे विभक्त किया जा सकता है—जैसे कार्य और अवकाश, युद्ध और शान्ति, तथा कार्यों के क्षेत्र मे भी, अनिवार्यतया आवश्यक कार्य, उपयोगी कार्य तथा शोभन (सम्मानपूर्ण) कार्य (इत्यादि) कार्यभेद हो सकते हैं। जीवन के अगो तथा उनकी विभिन्न कार्यावलियो के वरण करने में हम जो अभिरुचियाँ प्रदर्शित करते है उनको अनिवार्यतया उसी सामान्य मार्ग का अनुसरण करना चाहिये जिसका अनुसरण आत्मा के भाग तथा उनकी विभिन्न कार्यावलियो को वरण करते समय हमारी अभिरुचियाँ किया करती है। अतएव युद्ध शान्ति के निमित्त होना चाहियें, कार्य अवकाश के लिये, तथा अनिवार्यतया आवश्यक कार्य और उपयोगी कार्य शोभन कार्यो[९] के निमित्त होने चाहिये। सच्चे राजनीतिज्ञको इन सब बातो को दृष्टि में रखते हुए नियम-निर्माण करना चाहिये। उसको आत्मा के भागो और उनकी कार्यावलियो को दृष्टि मे रखना चाहिये, तथा (इस क्षेत्र मे) उसको (निकृष्ट की अपेक्षा) उत्कृष्ट का, एव (साधनो की अपेक्षा) साध्य (अन्तिम लक्ष्य) का अधिक ध्यान रखना चाहिये। इसी ढग से उसको अपने नियमो के अन्तर्गत जीवन के विभिन्न भागो अथवा प्रकारो[१०] और कार्यों की विभिन्न कोटियो[११] को भी ध्यान मे रखना चाहिये। यह सत्य है कि हमारे आदर्श नगर के नागरिक सक्रियता और युद्ध का जीवन व्यतीत करने की क्षमता रखनेवाले होने चाहियें, पर इससे भी अधिक क्षमता उनमें शान्ति और अवकाश का जीवन-यापन करने की होनी चाहिये। फिर जो कार्य अनिवार्यतया आवश्यक हैं और जो कार्य उपयोगी है उनको करने की क्षमता उनमे होनी चाहिये, पर इससे भी अधिक क्षमता उनमे शोभन कार्य (शुभ कर्म) करने की होनी चाहिये। बच्चों की शिक्षा तथा युवावस्था की उन सब भूमिकाओ की शिक्षा (जिनको कि शिक्षा की आवश्यकता होती है) इन्ही उपर्युक्त लक्ष्यो के अनुसार होनी चाहिये।

पर जहाँ तक आजकल के हैलेनी लोगो की श्रेष्ठ मानी जानेवाली शासन-व्यवस्थाओ का तथा उन शासन-व्यवस्थाओ का निर्माण करनेवाले नियम-निर्माताओ का सबध है,

ऐसा प्रतीत नही होता कि उनकी व्यवस्थाएँ जीवन के उच्चतर लक्ष्यो को दृष्टि मे रखकर सघटित की गई है, अथवा उनका नियम-विधान और शिक्षाविधान सब सद्गुणो की उपलब्धि की दृष्टि रखकर बनाया गया है, प्रत्युत इसके विपरीत उनमे ऐसे गुणो की ओर एक गॅवारू झुकाव प्रतीत होता है जो कि उपयोगी और अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक माने जाते है। हमारे कुछ पिछले खेवे के उन लेखको मे लगभग ऐसी ही भावना पाई जाती है, जिन्होने इस प्रकार की सम्मति को अगीकार कर लिया है। यह लोग लाकैदायमौन (स्पार्टा) की शासन-व्यवस्था की प्रशसा करते हुए वहाॅ के नियम-निर्माता की इसलिए स्तुति करते है कि उसने अपने समग्र नियम निर्माण का लक्ष्य विजय और युद्ध बनाया है। यह एक ऐसी सम्मति है जो तर्क के द्वारा सरलता से खडित की जा सकती है और अब तो यह हाल की घटनाओ के आधार पर तथ्यो द्वारा भी खडित की जा चुकी है।[१२] क्योकि बहुत से मनुष्य तो इस आशा मे साम्राज्य-प्राप्ति के उद्योगी बन जाते है कि साम्राज्य के सौभाग्य से भौतिक समृद्धि की विपुल उपलब्धि होती है।[१३] इसी कारण थिब्रौन[१४] ने, स्पार्टा की शासन व्यवस्था के विषय मे लिखने वाले अन्य लेखको के समान, वहाॅ नियम-निर्माता की प्रशसा की है कि उसने मनुष्यो को भय का सामना करने मे शिक्षित करके, स्पार्टा के लिए एक साम्राज्य की सृष्टि कर दी। अब लाकैदायमौन (स्पार्टा) का साम्राज्य नष्ट हो चुका और यह स्पष्ट ही है कि वे सुखी नही हो सके, तथा न उनका नियम-निर्माता ही ठीक (पथप्रदर्शक) था। यह कैसी उपहासयोग्य स्थिति है कि यद्यपि सारी जनता उसके नियमो के पालन मे लगातार लगी रही है और उनके पालन करने मे कभी किसी प्रकार अडचन नही पडी है, तथापि जीवन मे जो कुछ सुन्दर है उसको यह जाति गॅवा बैठी है। नियम निर्माता को जिस प्रकार की शासन-पद्धति के प्रति आदर प्रदर्शित करना चाहिये इसके विषय मे भी यह स्पार्टा के पक्षपाती सही मार्ग पर नही है। स्वतत्र लोगो का शासनप्रबध कही अधिक शोभन होता है तथा स्वेच्छाचारी शासन के किसी भी प्रकार की अपेक्षा सद्वृत्त (अथवा सदाचार) से अधिक सबद्ध होता है। फिर, इसके अतिरिक्त, न तो उस नगर को सुखी माना जाना चाहिये और न उस नियम-निर्माता की ही प्रशसा की जानी चाहिये जो अपने नागरिको को यह शिक्षा देता है कि वे अपने पडोसियो को युद्ध मे जीतकर अपने अधीन करने के अभ्यस्त हो। इस नीति मे (स्वत अपने ही राष्ट्र के प्रति) एक महान् बुराई निहित है। क्योकि इसके अनुसार तो स्पष्ट ही किसी भी नागरिक को, (यदि उसमे ऐसा करने की सामर्थ्य हो) अपने ही नगर के शासन को हस्तगत (स्वायत्त) करने के उद्योग का अनुसरण करना चाहिये।[१५]

और यह वही अपराध है जिसके करने का दोष लाकैदायमॉन् (स्पर्टा) निवासी अपने राजा पौसानियास पर लगाते है—जो इतने महान् सम्मान का पद पाये हुए था।

इस प्रकार के कोई भी तर्क, तथा इस प्रकार के कोई भी नियम, न तो राजनीतिज्ञता के सूचक है, न उपयोगी है और न उचित (सत्य) ही है। चाहे तो एक व्यक्ति हो और चाहे समाज, दोनो के लिये जो श्रेष्ठ (या भला) है वह एक ही है। और प्रत्येक नियम-निर्माता को इस (भलाई) को ही अपने नागरिको की आत्मा मे आरोपित करना चाहिये। युद्धविद्या का अभ्यास इस दृष्टि से नही किया जाना चाहिये कि उन लोगो को भी दास बनाया जाय जो दास होने के योग्य नही है, प्रत्युत इसलिए किया जाना चाहिये कि प्रथम तो मनुष्य अपने को ही स्वय दास बनाये जाने से रोक सके, दूसरे इसलिए कि शासितो की भलाई के लिये (न कि सामान्य प्रभुता की स्थापना के लिये) नेतृत्व (अथवा साम्राज्य) की प्राप्ति का प्रयत्न किया जा सके और तीसरे इसलिये कि उन लोगो पर प्रभुत्व प्राप्त किया जा सके जो दास बनने के योग्य है।[१६] नियम-निर्माता को अपने समग्र युद्ध सबधी उपायो एव अन्य नियम-निर्धारित उपायो का लक्ष्य अवकाश और शान्ति (की प्राप्ति) को बनाना चाहिये—यह एक ऐसा तथ्य है, जिसका समर्थन घटनाओ के साक्ष्य (और तर्को) के द्वारा किया जा सकता है। अधिकाश ऐसे नगर (जो युद्ध को ही अपना लक्ष्य बना लेते है) तभी तक सुरक्षित (सकुशल) रहते है जब तक कि वे लडते रहते है, पर साम्राज्य प्राप्त करने के उपरान्त वे तत्काल विनष्ट हो जाते है, उपयोग से बहिष्कृत लोहे (तलवार) के समान, शान्तिकाल मे उनके स्वभाव की तीक्ष्णता कुठित हो जाती है।[१७] उनको अपने अवकाश का ठीक उपयोग करने की शिक्षा न देने का कारण इसका दोष नियम-निर्माता के मत्थे है।

टिप्पणियाँ

१. स्किलाक्ष कारिया प्रदेश में कर्यान्दा नगर का रहनेवाला था। उसको फारस के सम्राट् दारा (दारयवस अथवा दरियुस्) ने सिन्धु नदी से अरब प्रायद्वीप तक की यात्रा करने और भौगोलिक वृत्तान्त जानने के लिये भेजा था। उसने अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा था। न्यूमैन का कहना है कि इस समय जो पुस्तक उसकी यात्रा के वृत्तान्त के सम्बन्ध में मिलती है वह प्रामाणिक नहीं है और उसमें वह उल्लेख नही मिलता जिसकी ओर अरिस्तू संकेत कर रहा है। अरिस्तू के समय संभवतया उसकी असली पुस्तक अरिस्तू को प्राप्त रही होगी। इस पुस्तक और लेखक का समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी है।

२. देखिये इसी पुस्तक का खंड ९।

३. देखिये पुस्तक ३ खंड ४ और ६।

४. दासों और स्वतंत्र पुरुषो दोनो को ही आज्ञाकारिता और निम्न कहे जानेवाले कार्य सीखने और करने चाहिये। परन्तु दोनो के लिये उद्देश्य भिन्न होंगे। दास इन कार्यों को दास के रूप में करेगा। स्वतंत्र व्यक्ति इस आज्ञाकारिता इत्यादि को आगे चलकर शासन करने की योग्यता प्राप्त करने के लिये करेगा।

५. देखिये पुस्तक ३ खंड ४।

६. कला के जगत् में निकृष्ट की सत्ता उत्कृष्ट के लिये है। इसके दो अर्थ संभव हैं-(१) कलाकृति जो कलाकार से निकृष्ट है उत्कृष्ट (अर्थात् कलाकार) के लिये है (२) कलाकार अपनी कला के विकास-क्रम में पहले निकृष्ट रचनाएँ प्रस्तुत करता है पर वे धीरे धीरे उसको उत्कृष्ट रचनाओ की ओर अग्रसर करती हैं और इस प्रकार इस चरम उत्कृष्टता की सिद्धि के लिये (साधन) हैं। प्रकृति के जगत् में प्रत्येक निकृष्ट पदार्थ का विकास-क्रम अपने से उत्कृष्ट की ओर प्रकृति को प्रेरणा करता है। अमीबा से लेकर मनुष्य तक जीवो का विकास इसी प्रकार हुआ है।

७. ग्रीक भाषा में क्रियात्मक के लिए "प्राक्तीकस्" और विमर्शात्मक के लिये "थियौरेतिकस्" शब्द प्रयुक्त हुए है।

८. तीन प्रकार की कार्यावलियाँ यह हैं:---(१) विमर्शात्मक कोटि की सविवेक कार्यावलि, इसका फल बुद्धिमत्ता है; (२) व्यावहारिक कोटि की सविवेक कार्यावलि, इसका फल सदाचार-परक व्यावहारिक चतुरता है जिसको ग्रीक भाषा में फ्रौनेसिस् कहते हैं और (३) विवेक तत्त्व की आज्ञाकारिता-परक कार्यावलि, इसका फल आत्मसंयम होता है। अरिस्तू ने आत्मा के स्वरूप का विवरण इस प्रकार दिया है---
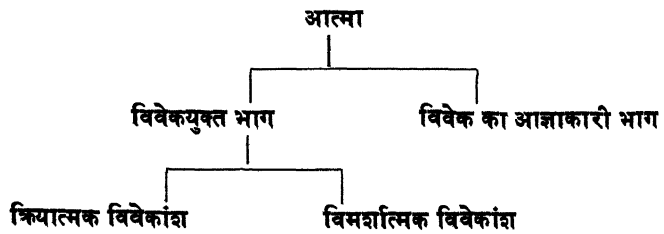
आत्मा के इन विभागों के अनुसार उपर्युक्त तीन प्रकार की कार्यावलियाँ उपलब्ध होती हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ कार्यावलि वह है जिसका फल बुद्धिमत्ता है। दूसरे स्थान पर व्यावहारिक बुद्धिमत्ता आती है। आत्मसंयम का स्थान तीसरा है।

९. ऐसा सत्कर्म जो स्वतः अच्छा हो।

१०. जीवन के भाग अथवा प्रकार है क्रियात्मक जीवन और अवकाशमय जीवन एवं युद्धरत जीवन और शान्तिपरायण जीवन।

११. कार्यों की कोटियाँ हैं जीवन के लिये आवश्यक कार्य एवं स्वतः शोभन कार्य या सत्कर्म।

१२. क्योंकि स्पार्टा की युद्धतत्पर व्यवस्था को ऐपामिनौन्दास द्वारा ध्वस्त किया जा चुका है।

१३. संभवतया अरिस्तू अपन समय के अथेन्स के युद्धदल और शान्तिदल की ओर भी सकेत कर रहा है। पर यह समस्या तो सनातन है और २०वीं शताब्दी में भी उग्रतम रूप में विद्यमान है। भौतिक समृद्धि के इच्छुक युद्धो की नींव पर साम्राज्य का भवननिर्माण किया करते है पर उसको नाम अच्छे अच्छे चुनकर दिया करते है।

१४. थिब्रौन के संबंध में अधिक ज्ञात नही है।

१५. तथाकथित दूसरो को सताने अथवा पददलित करने के लिये यदि बुराई का अभ्यास किया जायेगा तो वह अवश्य ही एक दिन अपने लिये भी घातक होगा। पर इस बुराई से बचने का एक मात्र मार्ग विश्वात्मैक्य के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

१६. अरिस्तू के मत में आदर्श ग्रीक नगर अन्य ग्रीक नगरो का हितचिन्तक नेता किन्तु बर्बर (ग्रीकेतर जातियो) का प्रभु हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि अरिस्तू बुराई की दीवार को अधिक दूरी पर स्थापित करने का पक्षपाती है बिलकुल दूर करने का पक्षपाती नहीं है। सारे पश्चिम की दृष्टि आज भी यही बनी हुई है और इसी समस्या से संसार दुःखी है।

१७. आज का जगत् भौतिक साधनो के बाहुल्य में आकण्ठ निमग्न होते हुए शान्तिपूर्वक रहना नहीं जानता।

१५

नागरिक कौन ?

क्योकि समष्टिरूप मे और व्यष्टि (व्यक्ति) रूप मे मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य एक (अभिन्न) है, अतएव श्रेष्ठ मनुष्य और श्रेष्ठ शासनव्यवस्था का मानदण्ड (अथवा मर्यादा) भी एक ही होना चाहिये, इसलिए यह स्पष्ट है कि अवकाश के सदुपयोग का गुण उन दोनो (व्यक्ति और नगर) मे ही होना चाहिये , क्योकि जैसा हमने बहुधा कहा है, युद्ध का चरम लक्ष्य है शान्ति और व्यापार का लक्ष्य है अवकाश। अवकाश के उपयोग के लिये तथा मानसिक परिष्कार के लिये जिन गुणो की आवश्यकता होती है

उनमे से कुछ तो ऐसे है जो अवकाश[1] के समय मे चालू रहते है तथा कुछ ऐसे है जो व्यापारकाल[2] मे भी चालू रहते है। अवकाश की प्राप्ति के सभव होने के लिये उसके पूर्व बहुत सी अनिवार्य आवश्यकताओ (अवस्थाओ) की उपलब्धि होनी चाहिये। इसलिए नगर को सयमवान, साहसी और सहिष्णु (अर्थात् तितिक्षावान्) होना चाहिये। जैसा कि लोकोक्ति मे कहा गया है, "दासो के लिये अवकाश नही होता", तथा जो लोग साहसपूर्वक मर्दो के समान भय का सामना नही कर सकते वे किसी भी आक्रान्ता के दास बन जाते है। साहस और सहिष्णुता (तितिक्षा) यह (दोनो) गुण व्यापार के लिये आवश्यक है, तत्त्वज्ञान (=बुद्धिमत्ता) अवकाश काल के लिये अपेक्षित है।[3] सयम और न्याय इन दो गुणो की आवश्यकता दोनो ही कालो मे हुआ करती है, यद्यपि विशेषरूप से उनकी आवश्यकता शान्ति और अवकाश के काल मे ही हुआ करती है। युद्ध तो मनुष्य को अनिवार्यतया स्वय ही न्यायपरायण और सयमी बना देता है, पर समृद्धि (सौभाग्य) का और शान्ति के साथ अवकाश का उपयोग ही मनुष्य को विशेषरूप से घमडी (ढीठ) बना दिया करता है। अतएव जो लोग सर्वोत्तम सौभाग्यदशा का उपभोग करते प्रतीत होते है, तथा जो उन सब पदार्थो को भोग रहे है, जिनका उपभोग सौख्यपूर्ण माना जाता है जिनकी दशा उन लोगो के समान है जिनको कवियो ने "सुखी द्वीपो वासी" कहकर गान किया है, उनमे विशेषरूप से बहुत अधिक मात्रा मे न्याय और सयम की आवश्यकता हुआ करती है। ऐसे अच्छे सुखोपभोगो के अतिशय के मध्य मे रहते हुए इन लोगो को जितना ही अधिक अवकाश प्राप्त होगा उतने ही अनुपात मे उनको तत्त्वज्ञान (बुद्धिमत्ता), सयम और न्याय की अधिक आवश्यकता पडेगी। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि जो नगर सुखी और अच्छा बनने की आकाक्षा करता है उसको इन गुणो का भागीदार क्यो बनना चाहिये। यदि जीवन को सुखी बनानेवाले पदार्थो का ठीक उपयोग न कर सकना (सर्वदा) लज्जाजनक समझा जाता हो, तो अवकाशकाल मे उनका ठीक ठीक उपयोग न कर सकना तो और भी अधिक लज्जाजनक माना जायगा, यह कितनी निन्दायोग्य बात है कि जो मनुष्य व्यापारकाल मे और युद्धकाल मे तो अपने को अच्छा प्रदर्शित करे वही शान्तिकाल और अवकाशकाल मे दासवत् व्यवहार करे। अतएव सद्वृत्ति (सदाचार, भलाई) की प्राप्ति का अभ्यास लाकैदायमॉननिवासियो की पद्धति के अनुसार नही किया जाना चाहिये। यह (स्पार्टा निवासी) अन्य (देशो के) मनुष्यो से इस बात मे तो भिन्न नही है कि यह जीवन की सबसे अधिक महान् वस्तु वही न मानते हो जो अन्य लोग मानते हो, अन्य लोगो से ये केवल इस बात मे भिन्न है कि इनका विचार है कि इस (सबसे

अधिक महान् वस्तु) की प्राप्ति केवल एक सद्गुण (के अभ्यास) के द्वारा हो सकती है (अर्थात् युद्ध-वीरता के द्वारा हो सकती है)। क्योकि इन (स्पार्टा-निवासियो) की दृष्टि मे बाह्य साधन-सम्पत्ति अन्य सम्पत्तियो की अपेक्षा महत्तर है और उनसे प्राप्त होनेवाला आनन्द भी उस आनन्द की अपेक्षा अधिक अच्छा है जो कि सद्वृत्ति के अभ्यास से प्राप्त होता है (अतएव यह लोग केवल उसी एक सद्गुण का अभ्यास करते है जो इन बाह्य साधन सम्पत्तियो की उपलब्धि का उपाय है। पर अभ्यास तो सकल सद्वृत्ति का ही किया जाना चाहिये)[४] और जैसा कि हमारे विवेचन मे स्पष्ट है यह अभ्यास ही स्वत अभ्यासार्थ ही किया जाना चाहिये। पर अब यह देखना शेष रह जाता है कि साग सद्वृत्ति के अभ्यास की प्राप्ति कैसे और किन साधनो द्वारा सभव हो सकती है।

जैसा कि पहले निर्णय किया जा चुका है, इस कार्य के लिये, प्राकृतिक देन, आदते और विवेक तत्त्व यह तीन वस्तुएँ होनी चाहिये। इन तीनो मे नागरिको की प्रकृति (की देन) कैसी होनी चाहिये इसका निर्धारण भी पहले ही किया जा चुका है। अब अन्य शेष दो उपायो का विचार करना और यह निर्णय करना बच रहता है कि विवेक तत्त्व मे शिक्षित होना प्रथम स्थान पर आना चाहिये, अथवा आदतो मे शिक्षित होना। इन दोनो प्रकार की शिक्षाओ को परस्पर सवादी होना चाहिये, तभी यह श्रेष्ठ सवादिता को प्राप्त कर सकेगे। अन्यथा विवेकतत्त्व से गल्ती हो सकती है और वह सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त करने मे असफल रह सकता है, एव आदतो के द्वारा दी जानेवाली शिक्षा भी इसी प्रकार त्रुटिपूर्ण हो सकती है। यह स्पष्ट है कि प्रथम तो मानव-जीवन के क्षेत्र मे (जैसे कि अन्य क्षेत्रो मे भी होता है) जन्म का एक पूर्वारभ (अर्थात् माता-पिता का सम्मिलन) होता है पर ऐसे आरभ से जिस लक्ष्य की सिद्धि होती है वह किसी अन्य भावी लक्ष्य का आरभ (अथवा साधन) बन जाता है। मानव-प्रकृति का अतिम लक्ष्य विवेक तत्त्व और विचार शक्ति (की प्राप्ति) है। अतएव नागरिको के जन्म तथा आदतो की शिक्षा का नियमन आरभ से ही उन्ही दोनो को दृष्टि मे रखकर प्रस्तुत किया जाना चाहिये।[५] दूसरे, क्योकि आत्मा और शरीर दो पृथक् वस्तुएँ है, और उसी प्रकार आत्मा के भी दो भाग है—सविवेक भाग और अविवेकी भाग, तथा इन भागो मे एतदनुरूप दो अवस्थाएँ भी है—एक कामना (-पूर्ण) दूसरे विचार (-पूर्ण)। जिस प्रकार कि उत्पत्तिकाल मे शरीर आत्मा से पूर्व उत्पन्न होता है, इसी प्रकार अविवेकी भाग सविवेक भाग का पूर्ववर्ती है। यह बात बिलकुल स्पष्ट है, क्योकि बच्चो मे कामना के सब लक्षण—जैसे क्रोध, इच्छा और कामना यह सभी बाते सीधे जन्मकाल से ही पाई जाती है, इसके विपरीत विवेक और बुद्धि इत्यादि शक्तियाँ उसके बडे होने

पर ही प्रकट होती है। अतएव शरीर-विषयक चिन्ता आत्म-विषयक चिन्ता के पूर्व की जानी चाहिये , और तदुपरान्त कामनात्मक भाग की चिन्ता की जानी चाहिये, तथापि कामनात्मक भाग की चिन्ता विचारात्मक भाग के निमित्त और देह की चिन्ता आत्मा के निमित्त होनी चाहिये।

टिप्पणियाँ

१. २. अवकाश के लिए ग्रीक भाषा मे "स्खौले" तथा व्यापार के लिये "अस्खौलिया" शब्द का प्रयोग किया गया है। पर अवकाश का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। अरिस्तू की धारणा के अनुसार अवकाश उच्चकोटि की चिन्तनात्मक क्रिया का नाम है जो मानवात्मा के विवेकाश की क्रिया है। इसका प्रतिपक्षी है "व्यापार" या अस्खौलिया जिसका अर्थ है ऐसे कार्य जो किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि के लिये किये जाते है।

३. ग्रीक लोग चार गुणो को सर्वोच्च मानते थे। (१) साहस और (२) सहिष्णुता इन दो गुणो की आवश्यकता व्यापार में होती है। तत्त्वज्ञान (विवेक की क्रिया) अवकाश-काल मे अपेक्षित है। न्याय और सयम की आवश्यकता अवकाश "स्कौले" और "अस्खौलिया" (व्यापार) दोनो ही के साथ होती है।

४. यह उस खिलाश का रूपान्तर है जिसको न्यूमैन् ने अपनी कल्पना द्वारा सुझाया है।

५. मानव जीवन के विकास की तीन कोटियाँ है--(१) जन्म, (२) बच्चे को अच्छी आदतो की शिक्षा और (३) समझदारी की अवस्था को पहुँचे हुए बच्चे को विवेक की शिक्षा।

१६

विवाह और सन्तानोत्पत्ति

क्योकि आरभ से ही नियमनिर्माता को यह देखना है कि राष्ट्र के बढते हुए (पालित) बच्चो के शरीर[1] किस प्रकार से सर्वश्रेष्ठ हो सकते है अतएव उसको सबसे पहले विवाह के विषय मे चिन्ता करनी चाहिये--अर्थात् उसको यह देखना चाहिये कि विवाह के भागीदारो, वरवधुओ, की कितनी आयु होनी चाहिये तथा उनमे किस प्रकार के गुण (अथवा लक्षण) होने चाहिये। विवाह के विषय मे नियम (कानून) बनाते समय सर्वप्रथम जिस बात पर ध्यान देना चाहिये वह यह है कि पतिपत्नी के कितने समय तक

साथ जीवित रहने की (अथवा जीवन व्यतीत करने की) सभावना है। उचित बात यह है कि वे दोनो अपने यौन-जीवन की समान भूमिकाओ पर एक साथ पहुँचे। उनकी शारीरिक क्षमता मे भी अन्तर नही होना चाहिये, ऐसा नही होना चाहिये कि पुरुष तो आधान करने की क्षमता रखता हो पर पत्नी धारण करने की क्षमता मे शून्य हो, अथवा पत्नी धारण की सामर्थ्य रखती हो पर पुरुष मे आधान की शक्ति न हो। इस प्रकार की स्थिति विवाहित स्त्री पुरुषो मे परस्पर कलह और भेद उत्पन्न करती है। दूसरी बात जो विचारणीय है वह यह है कि बच्चो और माता पिता की आयु मे कितना अन्तर है (और वे कितने समय पश्चात् माता-पिता का स्थान ग्रहण कर लेगे।) एक ओर न तो माता-पिता और सन्तान की आयु के बीच मे बहुत लम्बा अन्तराल होना चाहिये, क्योकि अत्यधिक आयुवाले माता-पिता अपनी सन्तानो (को अपने पथ-प्रदर्शन का लाभ न पहुँचा सकने के कारण उनके लिये) लाभदायक नही होते, तथा बहुत छोटी अवस्थावाली सन्ताने भी माता-पिता की सहायता (सेवा-सुश्रूषा) नही कर सकती, दूसरी ओर उनकी आयु एक दूसरे के बहुत समीप भी नही होनी चाहिये। ऐसा होने से भी बहुत सी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है, बच्चो का माता पिता के प्रति आदर-भाव इसलिए कम हो जाता है क्योकि वे उनके प्राय समकालीन जैसे होते है, फिर इसी कारण गृह-प्रबन्ध मे भी बहुत से झगडे उठ खडे होते है। तीसरी बात जिसको नियम निर्माता को ध्यान मे रखना चाहिये वह यह है—(अब हम फिर उसी बात की ओर लौट रहे है जिससे विषयान्तर हुआ था)—कि वह ऐसा प्रबन्ध करे जिससे नवजात शिशुओ के शरीर उस (नियम निर्माता) की इच्छा के अनुसरण के लिये (अथवा उसकी आकाक्षा की पूर्त्ति के लिये) पर्याप्त रूपेण स्वस्थ हो।

लगभग यह सभी बाते एक बात की चिन्ता करने से सभव हो सकती है। क्योंकि पुरुष के पक्ष मे प्रजननकाल सामान्यतया सत्तर वर्ष की अवस्था मे पूर्णतया समाप्त हो जाता है, तथा स्त्रियो के पक्ष मे पचास वर्ष की अवस्था मे, अतएव दोनो पक्षो के लिये समागम का आरभ इसी कालान्तर को दृष्टि मे रखकर स्थिर किया जाना चाहिये। (विवाह के समय पति की अवस्था पत्नी की अवस्था से २० वर्ष अधिक होनी चाहिये।) सन्तानोत्पत्ति के लिये थोडी अवस्थावाले मातापिता का समागम दोषपूर्ण होता है। समग्र प्राणि जगत् मे यह देखा जाता है कि थोडी आयुवाले माता-पिताओ की सतान सदोष होती है, वे प्राय स्त्रीलिगवाली और लघु आकारवाली होती है। अतएव मानव-जाति मे भी अनिवार्यतया इसी प्रकार का परिणाम होना सभव है। इसका अचूक प्रमाण यह है कि जिन नगरो मे अल्पायु युवको और युवतियो के विवाह की प्रथा है

वहाँ के निवासी पूर्णतया विकसित नही होते और आकार मे छोटे होते है । फिर, थोडी अवस्थावाली माताओ को बच्चे जनते समय बहुत अधिक पीडा होती है और उनमे से बहुत सी (माताएँ) मर भी जाती है । अतएव कुछ लोगो का मत है कि त्रायजीन[२] के निवासियो को देववाणी ने जो यह उत्तर दिया था कि ("अल्पायु धरती को मत जोतो") उसका कारण भी यही था कि अल्पायु मे विवाह होने के कारण बहुत सी लडकियाँ मर जाती थी , इस (देववाणी) का खेतीबाडी की देखभाल से कोई सबध नही था । इसके अतिरिक्त यदि लडकियो का कन्यादान अधिक अवस्था मे किया जाय तो यह सयम के लिये भी लाभदायक होता है । ऐसा ख्याल किया जाता है कि अल्पायु युवतियाँ समागम का अनुभव (उपभोग) करके प्राय असयत हो जाती है । और पुरुषो के विषय मे ऐसा समझा जाता है कि यदि पुरुष-बीज की वृद्धि के पूर्णता को पहुँचने के पूर्व ही स्त्री-समागम आरभ कर दिया जाता है तो पुरुष के शरीर की वृद्धि भी रुक जाती है (पूर्ण विकास को प्रप्त नही होती ।) पुरुषबीज की वृद्धि का समय नियत है, जिसका अतिक्रमण वह बहुत अधिक मात्रा मे नही करता । अतएव विवाहार्थ कन्यादान १८ वर्ष की अवस्था की कन्या का किया जाना चाहिये और पुरुष का विवाह ३७ वर्ष अथवा इसके आसपास की अवस्था मे होना चाहिये ।[१] यदि इन आयु-सीमाओ का पालन किया जायगा तो दोनो पक्षो के शरीरो की परिपक्वता के समय समागम-काल आरभ होगा तथा दोनो पक्षो मे प्रजनन शक्ति के समाप्त होने पर समकाल मे ही इसकी समाप्ति हो जायगी । फिर, बच्चे भी माता-पिता के स्थान को यथोचित समय पर ग्रहण करेगे । (जैसा कि युक्तियुक्त प्रकार से आशा की जा सकती है) यदि बच्चो का जन्म होना (विवाह के पश्चात्) शीघ्र ही आरभ हो जाता है तो, वे अपने जीवन के परिपक्वता के समय माता पिता का स्थान ग्रहण करने के लिये तैयार हो जायँगे, जब कि उनके पिता ७० वर्ष की अवस्था के लगभग अपने शक्तिपूर्ण जीवन की समाप्ति पर पहुँच रहे होगे ।

इस प्रकार विवाह के लिये समुचित अवस्था का विवेचन हम कर चुके । वर्ष की समुचित ऋतु का भी विचार कर लेना चाहिये , इस विषय मे तो उस समझदारी की प्रथा का अनुसरण करना ही सर्वोत्तम होगा, जिसका अनुसरण आजकल बहुसख्यक जनता करती है---अर्थात् विवाह के कार्य को (गृहारम्भ कार्य को) हिमऋतु मे सीमित कर देना चाहिये । बच्चो के प्रजनन के सबध मे डाक्टरो और प्रकृतिविदो से जो शिक्षा ग्रहण की जानी चाहिये उसको माता पिताओ को स्वय उसका ज्ञानार्जन कर लेना चाहिये । वैद्य लोग उनको शारीरिक अवस्था के समुचित समय के विषय में पर्याप्त

बोध करा देगे और प्रकृति-वेत्ता उनको पवनो के विषय मे ज्ञान प्रदान करेगे, उदाहरण के लिये वे दक्षिण-पवन की अपेक्षा उत्तरीय पवन को अधिक अच्छा मानते है।

माता-पिताओ की शरीर सबधी कौन सी आदते और अवस्थाएँ, उनकी भावी सन्तान की शरीरावस्था के लिये अत्यन्त लाभदायक होगी, यह एक ऐसा विषय है जिसके प्रति हम तब अधिक ध्यान देगे जब कि बच्चो के प्रबन्ध का विचार करेंगे।[४] इस समय तो इस विषय मे सामान्य बातो का ही वर्णन किया जायगा। पहलवानो की सी शारीरिक दशा न तो नागरिक जीवन की सुदशा के लिये उपयोगी है, न स्वास्थ्य के लिये और न शिशु-प्रजनन के लिये, इसी के समान उन लोगो की शरीर-दशा भी इतनी ही बुरी है जो नित्य रोगी रहते है और जो परिश्रम के योग्य नही रहते। श्रेष्ठ शरीर-दशा वह है जो इन दोनो (मल्ल और नित्य रोगी) की शरीर-दशाओ की मध्यवर्तिनी है। मानव-शरीर-गठन मे कुछ परिश्रम करने की योग्यता अवश्य होनी चाहिये, पर परिश्रम-शीलता न तो अत्यन्त उग्र प्रकार के श्रम के लिये होनी चाहिये और न केवल एक विशिष्ट प्रकार के श्रम की ही ओर प्रवृत्त होनी चाहिये, जिस प्रकार कि किसी मल्ल की परिश्रमशीलता होती है, साधारण नागरिक का शरीर-गठन ऐसा होना चाहिये कि वह स्वतत्र जनो के सब प्रकार के कार्य करने के योग्य हो। पुरुष और स्त्री दोनो ही के विषय मे यह बाते समान रूप से लागू होती है।

जो स्त्रियाँ गर्भवती हो उनको अपने शरीर की चिन्ता रखनी चाहिये, न तो उनको आल्सी होना चाहिये (प्रत्युत नियमित व्यायाम करना चाहिये) और न अपुष्टिकर भोजन ही करना चाहिये (अर्थात् पुष्टिकर भोजन करना चाहिये)। नियम-निर्माता उन गर्भवती स्त्रियो के लिये प्रतिदिन शिशु-जन्म की अधिष्ठात्री देवियो के मन्दिर मे पूजा के लिये जाने का विधान करके सरलता से उनकी नियमित व्यायाम की आदत डलवा सकता है।[५] तथापि उनको अपने मन को (शरीर के प्रतिकूल) लगातार शान्त बनाये रखना चाहिये, क्योकि स्पष्टतया ही जायमान शिशु अपनी माता से (अपना स्वभाव और पोषण) इसी प्रकार ग्रहण किया करते है जिस प्रकार पौदे पृथ्वी से ग्रहण करते है।[६]

बच्चो के परित्याग[७] और पोषण के विषय मे निश्चय ही ऐसा नियम होना चाहिये कि किसी भी विकृताकृति बच्चे का पोषण नही किया जाना चाहिये। इसके विपरीत, उन सब राष्ट्रो मे जहाँ कि जनता को सीमित, रखने का प्रबध है, ऐसा नियम होना चाहिये कि केवल जनसख्या को सीमित रखने के लिये ही बच्चो का परित्याग रोक

दिया जाय। इसके लिये उचित उपाय प्रत्येक परिवार के लिये बच्चो की सख्या को निर्धारित (अथवा सीमित) कर देना होगा, और यदि विवाहित दम्पतियो के निर्धारित सख्या से अधिक सन्ताने हो जायँ, तो गर्भगत बच्चे मे चेतना और जीवन के सचार के पूर्व ही गर्भपात कर देना चाहिये। गर्भपात कराना (प्रकृति के) नियम के अनुकूल है अथवा नही यह बात तो इस पर निर्भर होगी कि गर्भ मे चेतना और प्राण का सचार हुआ है अथवा नही। अब क्योकि हमने यह निर्धारित कर दिया कि पुरुष और स्त्रियाँ किस अवस्था से लेकर अपना वैवाहिक जीवन आरभ करे, अतएव अब यह निर्धारित करना शेष रह जाता है कि कितनी अवस्था तक शिशु-प्रजनन द्वारा राष्ट्र की सेवा करते रहे। अधिक अवस्थावाले माता-पिताओ की सन्तानें, थोडी अवस्थावालो की सन्तानो के समान ही, शरीर और मस्तिष्क दोनो मे ही अपरिपक्व (=अपूर्ण) हुआ करती है, तथा अत्यन्त बूढे माता-पिताओ की सन्तान तो दुर्बल होती ही है। अतएव प्रजनन-काल की सीमा मानसिक शक्ति की पराकाष्ठा की दृष्टि से निर्धारित कर सकते है। जैसा कि मानव-जीवन को सात वर्षो के युगदण्ड से नापने को कुछ कवियो ने सुझाया है, यह (मानसिक शक्ति की पराकाष्ठा) अधिकाश मनुष्यो मे, पचास वर्ष की अवस्था के लगभग प्राप्त होती है।[८] अतएव इस अवस्था की प्राप्ति के चार अथवा पाँच वर्ष पश्चात् उनको ससार मे बच्चो को उत्पन्न करने के कार्य से (स्पष्ट ही) छुट्टी मिल जानी चाहिये। इसके उपरान्त शेष आयु मे वह स्वास्थ्य के निमित्त अथवा अन्य किसी ऐसे ही कारण से पारस्परिक सहवास करते माने जा सकते है।

पति और पत्नी के लिये परस्त्री अथवा परपुरुष गमन करना—ऐसा उनके समग्र विवाहित जीवन-काल मे किसी भी समय और किसी भी प्रकार से घटित क्यो न हो, (जब तक वे परस्पर पति-पत्नी कहे जाते है) तब तक—यह घोर लज्जा की बात समझी जानी चाहिये। पर यदि इस प्रकार की कोई घटना शिशु-प्रजनन-काल मे घटित हुई प्रकट हो तो ऐसी अवस्था मे तो यह बात अपराध के ही अनुपात मे बदनामी के दण्ड से दण्डित होने योग्य मानी जानी चाहिये।

टिप्पणियाँ

१. इस खण्ड में अरिस्तू ने अपनी पैतृक वैद्यविद्या का अच्छा परिचय दिया है।

२. त्रायजीन और क्रेते (अथवा क्रीता) में विवाह अल्प अवस्था में हो जाते थे। देववाणी ने इसी विषय में उपदेश दिया था जिसका आशय यह था कि अपरिपक्वावस्था में सन्तानोत्पत्ति नहीं की जानी चाहिये। न्यूमैन ने पौलिटिक्स की तीसरी जिल्द के

पृ० ४६४ पर मॉ० कोरोसी का एक उद्धरण दिया है। कोरोसी ने ३०००० तथ्यो का अध्ययन किया था और उसके आधार पर उन्होने लिखा था --२० वर्ष से कम की माताओ और २४ वर्ष से कम के पिताओ की सन्तानें परिपक्वावस्थावाले माता-पिताओ की सन्तानो से दुर्बल होती है। इनकी सन्तानें श्वास-सबंधी रोगो को अधिक भोगती हैं। सब से अधिक स्वस्थ सन्ताने वह होती हैं जिनके पिताओ की आयु २५ और ४० वर्ष के मध्य में और माताओ की आयु २० और ३० वर्ष के मध्य मे हो।

३. रेतोरिक नामक पुस्तक में अरिस्तू ने बतलाया है कि पुरुष ३० वर्ष की अवस्था के लगभग शरीर की पूर्ण वृद्धि को प्राप्त होता है।

४. यह प्रतिज्ञा पूरी नहीं की गई।

५. इन देवियो के नाम ऐलैथिया और आर्त्तेमिस् हैं।

६. अरिस्तू के मत में गर्भिणी माता को अचेतन धरती के समान व्यवहार करना चाहिये।

७. ग्रीक लोगो में बच्चो को (विशेष कर नवजात लडकियो को) नगर के पास के पहाड़ो पर डाल देने की घटनाओ का अनेक बार उल्लेख मिलता है।

८. यह पति के संबंध में आयु की मर्यादा है, स्त्री के सबंध में नही।

१७

बच्चो के विकास का काल

बच्चो के जन्म के पश्चात्, उनके वृद्धिकाल मे, उनको किस प्रकार का पोषण दिया जाता है, इससे भी उनकी शारीरिक शक्ति मे बहुत अन्तर पड जाता है। अन्य पशुओ के उदाहरण से, तथा उन बर्बर जातियो के उदाहरण से, जो शरीर को युद्ध-क्षम बनाने का लक्ष्य रखती हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि वह भोजन जिसमे दुग्ध की मात्रा बहुत अधिक होती है, मानव-शरीर (शिशु-शरीर) के विकास के लिये सबसे अधिक उपयुक्त है। यदि उनको रोगो से बचा रहना है तो उनको जितनी कम मदिरा दी जाय उतना ही अच्छा। इसके अतिरिक्त बच्चो के नन्हे से शरीर जितने भी प्रकार की गति और हिलना-डुलना सभवतया कर सकते हैं वह सब उनके लिये लाभदायक है। पर उनके कोमल अगो को वक्र और विकृत होने से बचाने के लिये कुछ बर्बर जातियाँ अभी तक कुछ ऐसे यान्त्रिक साधनों का उपयोग करती हैं जो उनके गात्रो को सीधा रखते हैं। बच्चो को उनके शैशवकाल से ही शीत को सहने का अभ्यासी बना देना बडी अच्छी बात है,

यह आदत स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त लाभदायक है और उनके शरीर को युद्धकार्य के लिये कठोर (सहिष्णु) बना देती है। इसी लिये बहुत सी बर्बर जातियो मे बच्चो को जन्मते ही नदी की ठडी धारा मे डुबकी दे देने की प्रथा है, अन्य जातियो, जैसे कि कैल्ट लोगो मे बच्चो को थोडे (हल्के) वस्त्रो मे लपेटने की प्रथा है। जिन सब बातो की आदत डालना सभव है, उन सब की आदत बिलकुल आरभ से ही डालना अच्छा होता है, पर यह अभ्यास-क्रम शनै शनै बढाना चाहिये। बच्चो का प्राकृतिक शरीर-गठन, उनकी स्वाभाविक उष्णता के कारण शीत के सहन करने का सरलता से अभ्यस्त हो सकता है। बच्चो के आरभिक जीवन को इसी उपर्युक्त प्रकार की देखभाल (चिन्ता) रखकर अथवा इसी से मिलती-जुलती सावधानी करके विकसित करना उपयोगी है।

बाल्यावस्था का दूसरा खड, जो कि पाँचवे वर्ष (के अन्त) तक चलता है, ऐसा होता है कि उसमे कही किसी प्रकार बालक के विकास मे रुकावट न पडे इसलिये उसमे न तो उस पर पढाई का बोझ डालना अच्छा है और न कोई आवश्यक (अनिवार्य) परिश्रम का काम लेना। पर इस अवस्था मे शरीर से कुछ हिलने-डुलने का अभ्यास कराना आवश्यक होता है, जिससे शरीर के गात्र आलस्य के कारण निकम्मे होने से बच सके। इस अग-सचालन का प्रबध कुछ तो मनोरजक खेलो के द्वारा और कुछ अन्य उपायो द्वारा किया जाना चाहिये, तथापि खेल ऐसे होने चाहिये जो न स्वतत्र नागरिको के लिये अनुचित हो और न अत्यधिक श्रमसाध्य हो और न स्त्रियोचित सुकुमारता को बढानेवाले हो। इतनी अवस्थावाले बच्चो को किस प्रकार की कथाएँ और गल्पे सुननी चाहिये, इस विषय मे भी शिक्षा विभाग के अधिकारियो को (जो कि शिक्षा-निर्देशक कहलाते है) सावधान रहना चाहिये। इस प्रकार की सब बातो को भावी जीवन के व्यवसायो के लिये मार्ग तैयार करनेवाला होना चाहिये। अतएव बच्चो के खेल अधिकाश मे उन कार्यों की अनुकृति होना चाहिये जिनके विषय मे वे (बच्चे) भावी जीवन-काल मे दत्तचित्त होगे। बच्चो के चीखने और रोने को जो व्यक्ति (प्लातौन) अपने नियमों मे (नियम=कानून नामक पुस्तक मे) रोकने का उद्योग करता है उसका यह करना ठीक नही है। ऐसा करने से (अर्थात् चीखने और रोने से) उनके विकास को लाभ पहुँचता है, यह तो एक प्रकार से उनके शरीर का व्यायाम है। जिस प्रकार प्राणवायु (श्वास) को रोकना (युवको) को परिश्रम करने के लिये शक्ति प्रदान करता है इसी प्रकार फेफडो पर ज़ोर देना (और चीखना) बच्चो के लिये हितकर होता है।[२] शिक्षाध्यक्षो को इस बात पर दृष्टि रखनी चाहिये कि बच्चे अपना समय किस प्रकार (किस मनोरजन से) व्यतीत करते है। विशेषकर उनको

इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वे यथासभव कम से कम समय तक दासो के साथ मे रहे। सातवे वर्ष तक के बच्चो की अवस्था अवश्य ही घर पर के ही पालन-पोषण मे व्यतीत होगी। यद्यपि उनकी अवस्था अभी इतनी छोटी होती है, तथापि यह हो सकता है कि वे जो कुछ भी गँवारू (स्वाधीन पुरुषो के अयोग्य) बात सुने अथवा देखे उस कुप्रभाव से अछूते न रह सके। सक्षेप मे नियम-निर्माता को जितनी सावधानी राष्ट्र मे से अपशब्दो को बहिष्कृत करने मे बरतनी चाहिये उतनी अन्य किसी भी वस्तु के लिये आवश्यक नही है। किसी भी प्रकार की कुवाच्य वाणी का बेधडक प्रयोग करना कुकर्म करने के अत्यन्त निकट की वस्तु है। सुकुमार बच्चो को विशेष सावधानी के साथ किसी ऐसी बात को कहने अथवा सुनने से बचाना चाहिये। निषेध के होते हुए भी, जो लोग लज्जाजनक वाक्यो को बोलने और निन्दनीय कर्मों के करने के दोषी पाये जायँ (देखे जायँ) उनको यथोचित दण्ड दिया जाना चाहिये। यदि कोई ऐसा स्वतत्र युवक इस अपराध का दोषी हो जिसको सामान्य भोज की पट्टिकाओ पर शयन करने का अधिकार अभी प्राप्त नही है[३] उसको अपमानित होने और पीटे जाने का दण्ड दिया जाना चाहिये, और यदि कोई वृद्धावस्थावाला स्वतत्र व्यक्ति इस प्रकार के अपराध का दोषी हो तो उसको उसके दासोचित कार्य के निमित्त पदच्युति के अपमान से यथापराध दण्ड देना चाहिये। क्योकि हम इस प्रकार की भाषा को नगर से निर्वासित कर रहे है, अतएव स्पष्ट ही है कि हमको अनुचित (अश्लील) चित्रो के प्रदर्शन और अश्लील नाटको की भाषा को भी रग-मच पर अभिनीत होने से रोकना चाहिये। शासको को इस विषय मे सचेत (सावधान) रहना चाहिये कि कोई भी मूर्त्ति अथवा चित्र ऐसे न हो जो कि इस प्रकारके अशोभन (अश्लील) कार्यों की अनुकृतियाँ हो। इस नियम का अपवाद ऐसे देवताओ के मन्दिर अथवा उत्सव हो सकते है जिनके उत्सवो में अश्लील परिहास का भी नियम द्वारा विधान किया गया है।[४] पर इस विषय मे हमको यह ध्यान रखना चाहिये कि कानून ने एक विशिष्ट परिपक्व अवस्था को पहुँचे हुए पुरुषो को, अपने बच्चो और स्त्रियो के लिये और स्वय अपने लिये स्वयमेव देवमन्दिरो मे पूजा प्रदान करने की छूट दे रखी है।[५] नियम-निर्माताओ को युवको के लिये तब तक निन्दा नाटको और प्रहसनो के देखने का प्रतिषेध कर देना चाहिये जब तक वे उस अवस्था को प्राप्त न कर लें जिसमे कि उनको सार्वजनिक भोजो मे वृद्ध मनुष्यो के साथ शयन करने का एव मधुपान करने का अधिकार प्राप्त होता है, उस समय तक उनकी शिक्षा उनको इस प्रकार के सब अनु-करणो के कुप्रभाव से (आघात से) अभेद्य बना चुकेगी।

इस विषय का हमने इस समय यह चलताऊ सा सक्षिप्त विवेचन किया है। पर भविष्य मे हम इस विषय पर अवश्य ध्यान देगे और अधिक परिपूर्ण विवेचना के पश्चात् यह निर्धारित करेगे कि इस प्रकार वैधानिक नियमन होना चाहिये अथवा नही होना चाहिये, और यदि हो तो किस प्रकार का होना चाहिये। इस समय तो हमने इस विषय पर केवल इतना ही विचार किया जितना कि अनिवार्य था। स्यात् दुखान्त नाटको के अभिनेता थियोडोरस्[६] ने यह कुछ बुरी बात नही कही थी कि उसने अभी तक कभी भी किसी अभिनेता को (चाहे वह कितना ही निचले प्रकार का अभिनेता क्यो न हो) अपने से पूर्व रगमच पर उपस्थित (प्रविष्ट) नही होने दिया क्योकि दर्शक लोग जिन वाक्यो को (अथवा जिसकी वाणी को) पहले सुन लेते है उसी के अनुरागी हो जाते हैं। यही तथ्य हमारे मानवीय सपर्को के विषय मे भी घटित होता है और वस्तुओ के सम्पर्कों में भी, हम सर्वदा उसी वस्तु अथवा व्यक्ति मे अधिक अनुरक्त होते है जिससे हमारा प्रथम सम्पर्क होता है। अतएव युवको को उन सब बातो से जो कि बुरी है अपरिचित बनाये रखना चाहिये, विशेषकर ऐसी वस्तुओ से जो कि दुष्टता और दौर्मनस्य से युक्त हो। प्रथम पाँच वर्ष समाप्त हो जाने पर अगले दो वर्ष सातवे वर्ष की समाप्ति तक उनको अन्य लोगो को उन अध्ययनो मे लगे हुए देखना चाहिये जिनको इन्हे स्वय आगे चलकर सीखना होगा।

अवस्था के दो खण्डो को दृष्टि मे रखते हुए अनिवार्यतया शिक्षा को विभाजित किया जाना चाहिये, एक तो सात वर्ष की अवस्था से लेकर मसे भीगने तक और दूसरा मसे भीगने के पश्चात् से लेकर इक्कीस वर्ष की अवस्था तक। जो लोग मानवीय आयुष्य को सात वर्षो के सप्तको मे विभक्त करते है वे सामान्यतया सामग्र्येण ठीक ही करते (कहते) है। पर हमको (शिक्षा के क्षेत्र मे) स्वय प्रकृति द्वारा किये हुए विभागो का अनुसरण करना चाहिये। सारी कला और शिक्षा का उद्देश्य प्रकृति की कमियो को पूर्ण करने का प्रयत्न करना है।[७] प्रथम तो यह देखना चाहिये कि क्या (बच्चो की शिक्षा के नियमन) के लिये किसी प्रकार की व्यवस्था की जानी चाहिये (अथवा नही।) दूसरी बात यह है कि क्या इस विषय की देखरेख सार्वजनिक प्रकार से की जानी चाहिये अथवा व्यक्तिगत प्रकार से—जैसी कि आजतक अधिकाश नगरो मे प्रथा चली आ रही है। तीसरा प्रश्न जो विचारणीय है वह यह है कि शिक्षा-सबधी नियमो का स्वरूप कैसा होना चाहिये।

टिप्पणियाँ

१. अरिस्तू ने अन्य असभ्य कही जानेवाली जातियों की प्रथाओ का विस्तृत अध्ययन किया था।

२. इससे पता चलता है कि अरिस्तू को प्राणायाम की महिमा का कुछ कुछ पता था।

३. अधिक अवस्था के व्यक्ति यूनान में भोजन की मेज़ के पास पड़े हुए कोच पर अर्द्धशयित स्थिति में भोजन किया करते थे। कम अवस्थावाले युवकजन कुर्सियों पर बैठकर भोजन करते थे। युवकों के लिये अर्द्धशयित स्थिति में भोजन करना अशिष्ट व्यवहार का सूचक था।

४. इस प्रकार के देवता दियौनीसस्, देमेतर और कोरे इत्यादि हैं।

५. अर्थात् ऐसे अवसरो पर प्रत्येक व्यक्ति को यह छूट थी कि वह स्वयं जाकर अपने लिये तथा अपनी स्त्री के लिये एवं बच्चो के लिये पूजा कर आये।

६. थियोडोरस् अरिस्तू के समय से अव्यवहितपूर्व का श्रेष्ठ त्रागेदी का अभिनेता था। इसके अभिनय की प्रशंसा इसके उच्चारण की स्वाभाविकता के कारण एव करुण-रस का अत्यन्त मार्मिक अभिनय करने के कारण थी।

७. यह शिक्षा की परिभाषा मनन करने योग्य है।

आठवीं पुस्तक

१

समाज मे शिक्षा का स्थान

इस विषय मे तो किसी को कोई सन्देह (दुविधा) हो ही नही सकता कि नियम निर्माता को बच्चो की शिक्षा को अपना सबसे मुख्य कर्त्तव्य बना लेना चाहिये।[१] जिस नगर मे ऐसा नही होता (अर्थात् शिक्षा के प्रबन्ध के विषय मे प्रमाद किया जाता है) वहाँ की शासनव्यवस्था को हानि पहुँचती है। जिस नागरिक को जिस प्रकार की शासन-व्यवस्था की छत्रच्छाया मे अपना जीवन व्यतीत करना है उस नागरिक को (शिक्षा द्वारा) उसी के साँचे मे ढाल देना चाहिये।[२] क्योकि प्रत्येक शासनपद्धति का अपना विशिष्ट स्वभाव (ही वह शक्ति) होता है जो आरभ मे उसकी स्थापना करता है और तत्पश्चात् उसकी सत्ता को सुरक्षित रखता है। उदाहरणार्थ जनतत्रात्मक स्वभाव जनतत्रात्मक शासनपद्धति को तथा धनिकतत्रात्मक स्वभाव धनिकतत्रात्मक पद्धति को जन्म देता है और उसकी रक्षा करता है। इसी प्रकार सर्वदा जितना ही अच्छा स्वभाव होता है वह उतनी ही उत्तम शासनपद्धति का कारण बनता है। फिर इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रकार की क्षमता और कला के अभ्यास के लिये कुछ पूर्व शिक्षण और पहले से ही आदत डालने की आवश्यकता हुआ करती है। अतएव स्पष्ट है कि सद्वृत्ति के अभ्यास के लिये भी ऐसा ही होना चाहिये।

क्योंकि समग्र नगर का अन्तिम लक्ष्य एक ही होता है, अतएव स्पष्ट ही नगर मे सबके लिये अवश्यमेव एक ही शिक्षापद्धति होनी चाहिये। तथा इस शिक्षापद्धति की देख रेख (चिन्ता) सार्वजनिक विषय होना चाहिये न कि व्यक्तिगत।[३] ऐसा नही होना चाहिये जैसा कि आजकल होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने बच्चो की स्वय चिन्ता करता है; तथा जैसा जिसको उचित प्रतीत होता है वह वैसी ही शिक्षा अपने बच्चो को अलग व्यक्तिगत रूपसे दिलाता है। जो लक्ष्य (अथवा हित) सार्वजनिक है उनकी प्राप्ति के लिये दी जानेवाली शिक्षा भी सबके लिये एक समान होनी चाहिये। और न हमको प्रत्येक नागरिक को स्वय अपने ऊपर अधिकार रखनेवाला मानना चाहिये, प्रत्युत यह मानना चाहिये कि सब नागरिक नगर के है (अर्थात् नगर अथवा राष्ट्र का

स्वामित्व सब पर है)। प्रत्येक नागरिक नगर का अश है।[४] प्रत्येक अश के लिये जो चिन्ता अथवा प्रबन्ध होगा वह प्रकृत्या ही सब के लिये किये जानेवाले प्रबन्ध को दृष्टि मे रख कर होगा। इस विशेष क्षेत्र मे, और ऐसे ही कुछ अन्य विषयो की दृष्टि से लाकैदायमौन (स्पार्टा) के निवासी प्रशसा के पात्र है। क्योकि वे अपने बच्चो की शिक्षा के विषय मे अत्यन्त उद्यमशील और कष्ट उठाने वाले है तथा उनका यह सारा प्रयत्न सार्वजनिक होता है व्यक्तिगत नही। अतएव यह स्पष्ट हो गया कि शिक्षा के सबध मे भी नियम बनाये जाने चाहिये तथा शिक्षा सार्वजनिक (राष्ट्रीय) होनी चाहिये।

टिप्पणियाँ

१ मनुष्य को प्राकृतिक पशुता से उठाकर मनुष्य नाम का वास्तविक अधिकारी शिक्षा ही बनाती है अतएव सुव्यवस्थित समाज में शिक्षा का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

२. अरिस्तू के मत में शासन-पद्धति केवल शासनाधिकार के पदो की व्यवस्था ही नही है वह तो समग्र राष्ट्र की जीवन-पद्धति भी है। अतएव नागरिको के जीवन और नागरिक-शासन-पद्धति इन दोनो में सामंजस्य घटित करने के लिये शिक्षा द्वारा नागरिकों का जीवन अभीष्ट शासन-पद्धति के अनुकूल बना दिया जाना चाहिये।

३. यदि नगर-राष्ट्र का लक्ष्य एक है और उस लक्ष्य की प्राप्ति शिक्षा द्वारा होनी है तो यह आवश्यक है कि शिक्षा राष्ट्रायत्त होनी चाहिये।

४. अर्थात् नगर एक अवयवी है और प्रत्येक नागरिक उसका अवयव है।

वि० इस खंड में अरिस्तू ने पिछली पुस्तक के अन्त में उपस्थित किये गये प्रश्नों में से दो का उत्तर दिया है। संक्षेप में यह प्रश्न इस प्रकार है—(१) क्या बच्चों की शिक्षा के लिये नियम होने चाहिये? और (२) शिक्षा की व्यवस्था नगर की ओर से होनी चाहिये अथवा व्यक्तिगत नागरिको की ओर से? अरिस्तू ने इनका उत्तर अत्यन्त स्पष्टता और दृढ़ता के साथ दिया है। (१) शिक्षा के लिये नियम बनाना नियम निर्माता का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है (२) शिक्षा की व्यवस्था राष्ट्र की ओर से की जानी चाहिये।

२
शिक्षा का स्वरूप

शिक्षा[१] का स्वरूप क्या है और बच्चो को शिक्षा किस प्रकार दी जानी चाहिये,[२] यह प्रश्न विस्मरण नही कर देना चाहिये। आजकल शिक्षा के विषयों के सबध में

मतभेद है । सदाचार[३] को दृष्टि मे रखते हुए अथवा श्रेष्ठ जीवन की दृष्टि से नवयुवको (बच्चो) को क्या सिखाया जाना चाहिये, इस विषय मे सब लोग एक ही समझ नही रखते। न यही स्पष्ट है कि शिक्षा बुद्धि के (विकास) लिये होना अधिक उचित है अथवा आध्यात्मिक सदाचरण के लिये । यदि हम शिक्षा की वर्त्तमान प्रक्रिया पर दृष्टिपात करे तो परिणाम अत्यन्त भ्रान्तिकारक निकलता है । इस (वर्त्तमान प्रक्रिया) से यह स्पष्ट नही होता कि किन विषयो का अध्ययन किया जाना चाहिये—क्या उनका जो जीवन के लिये उपयोगी है, अथवा उनका जो सद्वृत्ति के विकास मे सहायक है, अथवा उनका जो उच्च ज्ञान की मात्रा को बढानेवाले है ? इन तीनो विकल्पो में से प्रत्येक को कुछेक लोगो की वरणीयता प्राप्त हुई है (यद्यपि स्पष्ट सर्वोपरि विशिष्टत्व किसी का नही है।) जो विषय सद्वृत्ति के विकास के लिये हितकर है उनके विषय मे भी ऐकमत्य का अभाव है । प्रथम तो जो लोग सद्वृत्त (सदाचार) का सम्मान करते है उन सबके लिये भी इसका कोई एक ही सीधा-सादा अर्थ नही है । और जब लोग सदवृत्त के अर्थ के विषय मे एकमत नही है तब तो उसके अभ्यास (व्यवहार) के ढग उनका भिन्न होना युक्ति-सगत है ही ।[४] इस विषय मे कोई सन्देह (अस्पष्टता) हो ही नही सकती कि बच्चो को वे उपयोगी विषय[५] तो पढाये ही जाने चाहिये जो अनिवार्य है । पर इसका तात्पर्य यह नही है कि शिक्षा मे प्रत्येक उपयोगी विषय का समावेश होना चाहिये । सब प्रकार के व्यापार दो भागो मे विभक्त किये जाते है, एक तो वे व्यापार जो स्वतत्र नागरिको के लिये उचित है दूसरे वे जो उनके लिये उचित नही है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बच्चो को केवल ऐसी शिक्षा का वितरण केवल इतनी ही मात्रा मे करना चाहिये जितनी मात्रा मे वह उनके लिये उपयोगी तो हो सके पर उनको श्रमिक मनो-वृत्तिवाला (गँवार) न बना दे। गँवारू (बनौसस्) शब्द का प्रयोग ऐसे व्यापार, कला अथवा विज्ञान के लिये होना चाहिये जो स्वतत्र मनुष्य के शरीर, आत्मा और बुद्धि को सद्वृत्त के अनुसरण एव व्यबहार के अयोग्य बना डालता है। इसलिए हम "गँवारू" शब्द से किसी भी ऐसे कलाकौशल को अभिहित कर सकते है जो कि मनुष्य की शारीरिक क्षमता को बिगाड डालता है, तथा ऐसे व्यापारों (कार्यो) को अभिहित कर सकते है जो वेतन के लिये किये जाते है तथा जो मनुष्य की बुद्धि को व्याप्त और पतित करके अवकाशरहित[६] बना देते है । कुछ उदार कलाएँ भी ऐसी है जो स्वतंत्रजनो के द्वारा प्राप्त किये जाने के योग्य है, पर एक सीमा तक ही इनका प्राप्त किया जाना गँवारूपन (अस्वतत्रजनौचित्य) के बिना हो सकता है पर यदि कोई व्यक्ति पूर्णता (तलस्पर्शिता) प्राप्त करने के लिये उनके प्रति अत्यधिक ध्यान लगायेगा तो परिणाम में वही बुराइयाँ

उत्पन्न होगी जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। जिस प्रयोजन के लिये कोई मनुष्य किसी कार्य को करता है अथवा किसी विषय का अध्ययन करता है उससे भी बहुत कुछ अन्तर पड जाता है। जो कोई भी कार्य स्वय अपने लिये, किसी मित्र के लिये अथवा सद्वृत्ति की प्राप्ति के लिये किया जाता है अथवा सीखा जाता है तो वह अस्वतत्रजनोचित नही होता। पर वही कार्य यदि दूसरो के द्वारा प्रेरित किये जाने पर बार बार बहुधा किया जाय तो कमीना और दासोचित गिना जाने लगता है। अध्ययन (शिक्षा) के क्रमागत विषय (जैसा कि मै पहले ही कह चुका हूँ) दोनो ओर झुकते हुए से है। (अथवा दो दृष्टिकोणो से देखे जा सकते है।)

टिप्पणियाँ

१. कुछ सस्करणो में इस खंड को उस वाक्य से आरंभ किया गया है जिसको हमने प्रथम खंड के अन्त में दिया है।

२. यह शिक्षा-संबंधी तीसरा प्रश्न है जो सातवी पुस्तक के अन्त में उठाया गया था। अरिस्तू ने इसका उत्तर आठवी पुस्तक के शेष भाग में देने का प्रयत्न किया है।

३. सदाचार के स्थान पर मूल में "अरैते" शब्द का प्रयोग किया गया है। बार्कर ने इसका अनुवाद "प्लेन गुड्नैस्" किया है। इसका अनुवाद सद्वृत्त भी हो सकता है।

४. अरिस्तू को जो व्यापक दुबिधा सब ओर दिखलाई पड़ रही है उसका कारण यह है कि यद्यपि सदाचार (अथवा सद्वृत्त), श्रेष्ठ जीवन एवं बुद्धि और उसका विकास इत्यादि शब्दों का प्रयोग तो विद्वान् लोग बड़ी "दरिया-दिली" से करते है पर इन शब्दो का कोई सुनिश्चित और सर्वसम्मत नपा तुला यथातथ्य अर्थ निर्णीत नहीं हो पाया है।

५. न्यूमैन के मत में उपयोगी विषय लिखना, पढ़ना, अंकगणित, भूमितिशास्त्र और गार्हस्थ्य शास्त्र है। पर यह सबके सब सबके लिये आवश्यक नहीं है।

६. अर्थात् बुद्धि उच्चचिन्तन के लिये अक्षम बना देते है।

३

शिक्षा के विषय और अवकाश

लगभग चार ऐसे विषय है जो प्रथानुसार पढाये जाते आ रहे है। वे है (१) पढना और लिखना (२) व्यायाम (३) सगीत और (कुछ लोगो के अनुसार) (४) चित्रकारी। इनमे से पढना लिखना और चित्रकारी यह दोनो अनेको विभिन्न प्रकारो

से जीवनकार्यो के लिये उपयोगी समझे जाते है। शारीरिक व्यायाम साहस के विकास के लिये उपयोगी होता है। सगीत की शिक्षा का उद्देश्य सदेह और विवाद का विषय है। आजकल तो बहुत से लोग इसकी शिक्षा केवल आनद के लिये ही ग्रहण करते है, पर मूलत (आदि से) इसकी व्यवस्था शिक्षा के अन्तर्गत इस कारण हुई थी कि स्वय हमारा स्वभाव ही (जैसा कि बहुधा कहा जाता है) यह अपेक्षा करता है कि हम न केवल भली प्रकार काम ही कर सके प्रत्युत अपने अवकाश का भी शोभन उपयोग कर सके। क्योकि यह बात मै पुन एक बार कहूँगा कि अवकाश का शोभन उपयोग ही अन्य सब कार्यों का मूलाधार है।[1] यह सत्य है कि (व्यापार और अवकाश) दोनो ही अपेक्षित है, तथापि व्यापार की अपेक्षा अवकाश अधिक उच्च है, और क्रिया-शीलता का लक्ष्य यही अवकाश होना चाहिये।[2] अतएव हमारी समस्या (अथवा प्रस्तुत प्रश्न) यह है कि अवकाश के समय हमको क्या करना चाहिये। निश्चयमेव हम अपने अवकाश को केवल क्रीडा (या मनोरजन) से ही नही भर सकते। ऐसा करना तो अवश्य ही क्रीडा (अथवा मनोरजन) को ही जीवन का लक्ष्य बना देना होगा। यदि ऐसा होना असभव हो, और यदि व्यापारकाल के मध्य मे ही मनोरजन (अथवा क्रीडा) का अधिक उपयोग हो (क्योकि परिश्रम करनेवाले को ही विश्राम की आवश्यकता होती है, तथा मनोरजन विश्राम देने के ही निमित्त है, जब कि व्यापार मे श्रम और प्रयत्न का साहचर्य रहता है) अतएव मनोरजन (और क्रीडा) का समावेश तो हमको केवल उचित समय और ऋतुओ को देखते हुए ही करना चाहिये एव उनका उपयोग श्रमापनोदनार्थ औषधि के रूप मे किया जाना चाहिये। मनोरजन और क्रीडा जिस मनोदशा (मनोगति) को उत्पन्न करते है वह व्यापार-दशा के तनाव के शैथिल्य की दशा है, तथा इस शैथिल्य मे जो आनन्द प्राप्त होता है वह विश्राम प्रदान करता है। पर अवकाश को स्वय अपने मे ही आनन्द देनेवाला, सुख प्रदान करनेवाला और जीवन को सौभाग्यपूर्ण बना देनेवाला समझा जाता है।[3] इस प्रकार आनन्दादि का उपभोग (अनुभव) व्यापार मे सलग्न मनुष्यो के द्वारा नही किया जाता, किन्तु अवकाशवान् मनुष्यो के द्वारा ही किया जा सकता है। जो व्यक्ति किसी व्यापार मे लगा होता है उसकी दृष्टि मे कोई ऐसा लक्ष्य होता है जो अभी सिद्ध नही हुआ होता। पर सौख्य एक (प्रस्तुत लक्ष्य) है, और सब कोई यह मानते है कि इससे सर्वदा आनन्द ही रहता है, पीडा नही। सौख्य के साथ जो आनन्द रहा करता है उसके स्वरूप के विषय मे सबका ऐकमत्य नही है, प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने व्यक्तित्व और स्वभाव के अनुसार इसके स्वरूप को पृथक् प्रकार का समझता है। श्रेष्ठ

जनो का आनन्द ही सर्वोत्तम हुआ करता है जो कि सुन्दरतम उद्गम से उत्पन्न होता है।

अतएव यह स्पष्ट है कि विद्याध्ययन और शिक्षा की कुछ ऐसी शाखाएँ है जिनका अनुशीलन मन सस्कार की प्राप्ति के लिये अवकाश का समुचित उपयोग करने के निमित्त किया जाना चाहिये। तथा यह भी स्पष्ट है कि यह शिक्षा और अनुशीलन स्वय अपने ही लिये होना चाहिये (अर्थात् इसका लक्ष्य वह स्वय ही होना चाहिये)। इसके विपरीत जो शिक्षा और अनुशीलन व्यापार के लिये है उसको अनिवार्यतया आवश्यक तथा परिनिमित्त माना जाना चाहिये। और इसी लिये हमारे पूर्वपुरुषो ने सगीत की व्यवस्था शिक्षा के अन्तर्गत की थी। उन्होने ऐसा इसलिये नही किया कि वह एक आवश्यक वस्तु है क्योकि यह आवश्यक तो बिलकुल नही है। और न इसी कारण से किया था कि यह उपयोगी है, क्योकि यह उस प्रकार उपयोगी नही है जिस प्रकार पढना लिखना, धन कमान, ज्ञान की प्राप्ति करने, गृह का प्रबन्ध करने, और अनेको प्रकार के राजनीतिक कार्यो के सपादन के लिये उपयोगी है, अथवा जिस प्रकार चित्रकला (ड्राइग) कलाकारो की कृतियो के भले प्रकार से परीक्षण करने के लिये उपयोगी है, या शारीरिक-व्यायाम-विद्या के समान उपयोगी है जो स्वास्थ्य और सामरिक साहस प्रदान करती है, क्योकि सगीत से इन दोनो पर कोई परिदृश्यमान प्रभाव नही होता।[४] अतएव अवकाश के समय मन सस्कार के लिये ही इसकी एकमात्र उपयोगिता शेष रह जाती है। स्पष्टतया इसके शिक्षा मे सम्मिलित किये जाने का कारण यही है। यह वास्तव में उन प्रकारो मे से एक है जिससे स्वतत्र मनुष्य अपने मन सस्कार पूर्वक अपना अवकाश व्यतीत किया करते हैं। अतएव होमेर ने इस प्रकार कहा है :—

ऐसे हैं वे जो केवल हो आमन्त्रित शुभ भोजो मे।[५]

इसके पश्चात् (अन्य अनेको अभ्यागतो का उल्लेख करके) वह यह कहता है कि—

और बुलाते वादक को भी, कर दे सबको सगीत-तृप्त।[६]

और फिर एक और स्थान पर ओडीसियस कहता है कि जब मनुष्य प्रसन्न हो तो सगीत से बढकर अन्य कोई विनोद नहीं है, तथा—

शाला में भोजन करते, सुनते होकर नीरव सगीत,
आसीन हुए क्रम मे सुन्दर,[७]

अतएव यह स्पष्ट है कि एक शिक्षा का प्रकार ऐसा है जिसमे माता-पिताओ को अपने पुत्रो को शिक्षित कराना चाहिये, पर इसलिये नही कि वह शिक्षा उपयोगी

है अथवा परमावश्यक (अनिवार्य) है, प्रत्युत इसलिए कि वह स्वतंत्रजनोचित और स्वयमेव अच्छी है। इस प्रकार की शिक्षा (का विषय) एक ही है अथवा अनेक (=बहुत), यदि बहुत है तो वे कौन कौन है और उनका अध्ययन किस प्रकार किया जाना चाहिये—इस सबका विवेचन आगे चलकर किया जाना चाहिये।[८] परन्तु इस समय इतना तो कहने का हम अवश्य साहस कर सकते है कि पुरातन लोगो का साक्ष्य हमारे दृष्टिकोण के पक्ष मे है, क्योकि प्राचीनकाल से अध्ययन के जो विषय निर्धारित किये हुए चले आ रहे है उनसे ऐसा ही सूचित होता है कि सगीत-विद्या को वह स्पष्ट ही एक परम्परागत अध्ययन का विषय मानते है। फिर इसके अतिरिक्त हम यह भी स्पष्टतया कह सकते है कि कुछ उपयोगी विषय—उदाहरणार्थ पढना-लिखना—बच्चो को इसलिये नही सिखाये जाने चाहिये कि वे उपयोगी है, प्रत्युत इसलिये भी सिखाये जाने चाहिये कि उनके द्वारा ज्ञान की अन्य बहुत-सी शाखाएँ प्राप्त करना सभव है। इसी प्रकार चित्रकला की शिक्षा का उद्देश्य मनुष्यो को अपने व्यक्तिगत क्रयविक्रय मे गलती करने से बचाना इतना नही है, और न वस्तुओ के क्रय-विक्रय मे उनको अवचनीय बनाना ही है, जितना कि (इसका उद्देश्य) मनुष्यो को शरीर के सौदर्य के विषय मे दृष्टिसपन्न बना देना है। सर्वत्र उपयोगी के ही अनुसधान मे लगे रहना महात्माओ और स्वाधीनचेताओ को सबसे कम शोभा देता है।[९]

अतएव यह स्पष्ट है कि बच्चो को पढाने मे विवेक के पूर्व अभ्यास (या आदत) का उपयोग करना चाहिये तथा बुद्धि के पूर्व शरीर को शिक्षित करना चाहिये। अतएव पहले पहल बच्चो को व्यायाम सिखानेवालो और खेल सिखानेवाले शिक्षको के हाथ मे सौपा जाना चाहिये, इनमें से प्रथम (अर्थात् व्यायामशिक्षक) उनको शरीर की स्वस्थ दशा प्रदान करेगा और दूसरा क्रिया-कुशलता।

टिप्पणियाँ

१. अवकाश में मानव की सर्वोच्च क्रिया चिन्तन संभव है। जीवन की भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति की दृष्टि से मानव-समूह को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) कुछ लोग ऐसे है जो भरपूर परिश्रम करते है पर उनकी भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति नहीं हो पाती। यह वर्ग निर्धन श्रमिको का है। (२) कुछ लोग ऐसे होते है जो भरपूर परिश्रम करते है और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है पर उनको इससे आगे कुछ करने के लिये अवकाश नहीं बचता।

यह वर्ग भी श्रमिकों का ही है पर इनकी स्थिति प्रथम कोटि के श्रमिको से कुछ अच्छी है। (३) कुछ लोग ऐसे होते है जो परिश्रम अथवा काम करते है जिससे उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति भी हो जाती है और अवकाश भी बचता है। (४) कुछ लोग ऐसे है जो कुछ नही करते पर उनको सब कुछ प्राप्त है और उनको अवकाश ही अवकाश है काम है ही नहीं। (५) कुछ लोग ऐसे भी होते है जो काम, अवकाश इत्यादि की चिन्ता से पूर्णतया मुक्त है। यह उस कोटि के प्राणी है जिनके विषय में कवि ने कहा है "अजगर करें न चाकरी पछी करें न काम।" इन सब कोटियो में से संसार की उन्नति न तो उन लोगो से हो सकी है जिनको अवकाश का पूर्णतया अभाव रहता है और न उन लोगो के द्वारा जो भौतिक आवश्यकताओ की चिन्ता से पूर्णतया मुक्त है। संसार की उन्नति उन लोगो के द्वारा हुई है जिनको समधिक अवकाश प्राप्त है और जिन्होने उसका सदुपयोग किया है।

२. अर्थात् ऐसी सामाजिक स्थिति उत्पन्न होनी चाहिये जिसमें श्रम और अवकाश का संतुलन हो सके।

३. अर्थात् व्यापार में आन्तरिक आनन्द नहीं होता अतएव उसकी थकान को मिटाने के लिये आमोद-प्रमोद की आवश्यकता होती है। पर अवकाश में आन्तरिक आनन्द रहता है और उसका अनुभव हमको प्रत्येक क्षण उपलब्ध होता है। भारतीय दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या यह होगी कि आत्मा स्वरूपतः निष्क्रिय है और सच्चिदानन्द है अतएव अवकाशावस्था में वह उपाधिरहित होकर अपने स्वरूप में "आनन्द" में स्थिति होता है।

४. पर आधुनिक समय में रोग-निवारण के लिये संगीत की परिमित उपयोगिता मानी जा चुकी है।

५. यह पंक्ति इसी रूप में होम (मे) र की ओडिसी में नहीं मिलती।

६. ओडिसी ९।७। वादक के लिये मूल में इसी का सजातीय शब्द "आओइदॉस्" प्रयुक्त हुआ है एव तृप्त करने के लिये इसी से मिलता हुआ "तॅरपो" धातु का रूप आया है।

७. ओडिसी १७।३८५।

८. यह प्रतिज्ञा पूरी नहीं की गई।

९. निकम्मे ज्ञान और काम ने भी संसार को बहुत कुछ दिया है।

४

शारीरिक व्यायाम की मर्यादा

उन नगरो मे जो कि आजकल बच्चो की शिक्षा के विषय मे सबसे अधिक चिन्ताशील समझे जाते है कुछ ऐसे है जो बच्चो मे मल्लो की-सी आदत उत्पन्न करना अपना लक्ष्य बनाये हुए है , पर ऐसा करके वे उनकी आकृति और शरीर की वृद्धि इन दोनो को ही बहुत अधिक हानि पहुँचाते है । यद्यपि लाकैदायमौन्-निवासियो ने इस प्रकार की त्रुटि करने की भूल तो नही की है, तथापि वे उनके ऊपर अत्यन्त कठोर व्यायामो को लादकर, यह समझते हुए कि इन व्यायामो से वे साहसी बन जायँगे, उनको पशुतुल्य नृशस बना डालते है । परन्तु, जैसा कि हमने बहुधा कहा है, बच्चो की शिक्षा एकान्तत और मुख्यतया केवल एक इसी गुण (साहसिकता) को दृष्टि मे रखते हुए कदापि प्रेरित नही होनी चाहिये । और यदि साहस को ही मुख्य उद्देश्य मान लिया जाय तो भी वे उसको प्राप्त करने मे सफल नही हुए है । अन्य पशुओ एव बर्बर जातियो मे भी निरीक्षण द्वारा यह देखा जा सकता है कि साहस (शौर्य) क्रूरता की सगति मे नही पाया जाता किन्तु एक मृदुल एव सिंह-तुल्य स्वभाव के साहचर्य मे पाया जाता है । (निस्सदेह) बहुत सी ऐसी बर्बर जातियाँ है जो हत्या और मनुष्य-भक्षण के लिये नित्य कटिबद्ध रहती है, जैसे कि कृष्णसागर के तट पर रहनेवाली जातियो मे अखैयी और हीनियोखी ऐसी ही जातियाँ है, तथा महाद्वीप के आन्तरिक भाग मे रहनेवाली अन्य कई जातियाँ इसी प्रकार की अथवा इनसे भी अधिक नृशस है जो कि दस्युकर्म किया करती है—पर वे वास्तव में साहसपूर्ण जातियाँ नही है । जैसा कि हमको अनुभव से ज्ञात है, स्वय लाकैदायमॉन-निवासी (स्पार्टा-निवासी) तब तक अन्य जातियो से साहस मे बढकर थे जब कि केवल वही कठोर परिश्रमपूर्ण व्यायाम का अभ्यास करनेवाले थे, परन्तु अब तो वे व्यायाम और युद्ध दोनो मे ही पराजित हो चुके है । उनकी प्राक्कालीन श्रेष्ठता उनके बच्चो की विशिष्ट प्रकार की शिक्षा के कारण नही थी, परन्तु केवल एक इस बात के कारण थी कि उनमे तो किसी न किसी प्रकार का अनुशासन और शिक्षा थी, पर उनके शत्रुओ मे इसका नितान्त अभाव था । इससे हम यह निष्कर्ष निकालते है कि प्रमुखता (प्रथम स्थान) उदाराशय व्यक्ति को न कि क्रूर स्वभाववाले व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिये । वास्तव मे किसी शोभन भय का सामना डटकर न तो कभी कोई भेडिया ही कर सकता है और न कोई अन्य वन्य पशु, इस प्रकार के भय का सामना करना वीर पुरुषो का काम है ।[२] बच्चों को अत्यधिक इस प्रकार के (कठोर)

अनुशासन-कार्य मे लगाकर उनको बर्बर बन जाने देना, तथा जो शिक्षा उनके लिये अनिवार्यतया आवश्यक है उससे उनको वचित रखना, वास्तव मे उनको असभ्य गॅवार बना डालना है। क्योकि इस प्रकार तो वे उनको केवल एक गुण मे ही राजनीतिज्ञ के काम के योग्य बना पाते है, तथा जैसा कि हमारी युक्तियो से सिद्ध होता है इस गुण मे भी वे अन्य प्रकार से शिक्षित व्यक्तियो से हीनतर ही बन पाते है। हमको स्पार्टा-निवासियो का परीक्षण उनके पूर्वकार्यों के आधार पर नही करना चाहिये, प्रत्युत हमको यह देखना चाहिये कि उनकी वर्तमान दशा क्या है। आजकल तो उनकी शिक्षा की प्रतिस्पर्धा करनेवाले (अनेक) प्रतिद्वन्द्वी है। पहले कोई भी प्रतिद्वन्द्वी नही था।

यह बात तो आजकल सर्वसम्मत है कि शारीरिक व्यायाम की शिक्षा उपयोगी और आवश्यक है तथा यह भी सर्वसम्मत है कि यह शिक्षा किस प्रकार दी जानी चाहिये। मसे भीगने के समय तक (यौवनागम के समय तक) व्यायाम हलके प्रकार का (दिया जाना) चाहिये, कठोर भोजन तथा उग्र परिश्रम को अपवर्जित कर देना चाहिये जिससे शरीर का ठीक ठीक विकास न रुक जाय। बच्चो के जीवन के आरभ मे ही अत्यधिक शारीरिक व्यायाम का बुरा प्रभाव तो बडी प्रबलता के साथ स्पष्ट सिद्ध है। ऑलिम्पिक विजेताओ की सूची[३] मे दो या तीन व्यक्ति ऐसे मिलते है जिन्होने पूर्ण पुरुषावस्था और बाल्यावस्था दोनो मे पुरस्कार जीते है, इसका कारण यह है कि जीवन के आरभ मे शारीरिक शिक्षा और अनिवार्य व्यायाम ने उनकी शक्ति को क्षीण (अपहृत) कर दिया। इस (यौवनागम की) अवस्था के प्राप्त हो जाने के उपरान्त, तीन वर्ष अन्य प्रकार के अध्ययन (यथा पढना-लिखना) मे व्यतीत किये जाने चाहिये, इसके उपरान्त आनेवाली अवस्था का भाग कठोर व्यायाम और बाधित (संयत) भोजन के निमित्त अर्पित किया जा सकता है। बुद्धि और शरीर दोनो से एक साथ परिश्रम नही किया जाना चाहिये, क्योकि दो पृथक् पृथक् प्रकार के परिश्रम पृथक् पृथक् प्रकार का परिणाम उत्पन्न करते है। शारीरिक परिश्रम बुद्धि को कुंठित कर देता है और बुद्धि का श्रम शरीर को।[४]

टिप्पणियाँ

१. यह दोनो जातियाँ कृष्णसागर के पूर्वी तट पर बसी हुई थीं। अखैयी जाति के लोगों ने अत्यन्त प्राचीन काल में ट्रॉय को जीता था। हीनियोखी लोग तो लाकैदायमौन-निवासियो की एक शाखा माने जाते थे।

२. वीरता और क्रूरता दो विरोधी गुण हैं।
३. अरिस्तू ने इस प्रकार की सूचियो को बड़ी खोज से प्रस्तुत किया था।
४. पर दोनों का सन्तुलन तो स्वास्थ्य और बुद्धि दोनो के लिये हितकर हो सकता है।

५

संगीत विद्या का अध्ययन

सगीत विद्या के सबध मे कुछ प्रश्न तो हमारे विवेचन मे पहले ही उठाये जा चुके है , यह अच्छा होगा कि हम इन्ही प्रश्नो के सूत्र को पुन हाथ मे ले और विवेचन के मार्ग मे आगे बढ चले, जिससे कि हमारे कथन उन सब विचारो की भूमिका (मूल ध्वनि) रूप मे काम दे सके जो कि इस विषय के पूर्ण निदर्शन के लिये प्रस्तुत किये जायँगे। सगीत के स्वरूप (अथवा प्रभाव) का ठीक ठीक निरूपण कर सकना कोई सरल काम नही है, और न यह बतला सकना ही सरल है कि अमुक उद्देश्य की सिद्धि के लिये इसका अध्ययन किया जाना चाहिये। क्या वह मनोरजन अथवा विश्राम के लिये है जैसा कि सोना और मदिरापान करना है? सोना और मदिरा पीना स्वत कोई अच्छी बाते नही है, किन्तु वे आनन्ददायक है, और जैसा यूरीपिदेस् ने कहा है, वे दोनो "चिन्ता को एकदम रोक देती हैं।"[१] इसी कारण कभी कभी सगीत को भी इन दोनो के साथ एक ही कोटि मे सम्मिलित कर दिया जाता है, तथा सोना, मद्यपान, एव सगीत (जिनके साथ नृत्य को भी जोड दिया जाता है) सब का एक सा उपयोग किया जाता है। अथवा (एक और दृष्टिकोण) इसके विषय मे यह है कि सगीत विद्या सद्वृत्ति की प्राप्ति के लिये उपयोगी है, क्योकि हमको ठीक ढग से आनन्दित होने का अभ्यस्त बनाकर यह हमारे चरित्र को इसी प्रकार विशिष्टता प्रदान करने की शक्ति रखती है जिस प्रकार शारीरिक व्यायाम शरीर को विशिष्टता प्रदान करने की शक्ति रखता है। अथवा (यह कह सकते हैं कि) सगीत विद्या मनोरजन द्वारा काल-यापन में योगदान देती है और बुद्धि के सस्कार मे सहायक होती है—यह हमारे बतलाये हुए विकल्पो में से तीसरा विकल्प है।[२]

यह बात अस्पष्ट नही है (अर्थात् नितान्त स्पष्ट है) कि बच्चो की शिक्षा मनोरजन के उद्देश्य से नही होनी चाहिये, क्योकि अध्ययन मनोरजन के साथ नही किया जाता प्रत्युत वह दु ख के साथ चलता है। किन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि मन का सस्कार ऐसा कार्य नही है जो बच्चो के लिये, अथवा सुकुमार अवस्था के नवयुवको के लिये समुचित (शोभन) हो; जो स्वय अभी अपनी पूर्णता (परिपक्वता) को प्राप्त नही हुए है

वे परिपूर्णता अथवा अन्तिम ध्येय (या लक्ष्य) को प्राप्त नही कर सकते । पर स्यात यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि बच्चो के गुरुतापूर्ण अध्ययन (जिनमे सगीत का भी समावेश है) मनोरजन के ही उपाय है, जिसका उपभोग वे बडे होकर—पूरे मनुष्य होने पर—करेगे। किन्तु यदि यह बात ऐसी हो तो फिर उनको स्वयमेव इस सगीत विद्या के अध्ययन करने का क्या प्रयोजन ? भला उनको पारसीक और मीडिक राजाओ के अनुसार ऐसे अन्य लोगो की कला का श्रवण करते हुए आनन्द और शिक्षा को प्राप्त क्यो नही कर लेना चाहिये जिनका व्यापार ही ऐसा (सगीत) है ? क्योकि निश्चय ही वे लोग (जिन्होने कि ऐसा करना ही अपना व्यापार और कलावृत्ति बना ली है) उन लोगो की अपेक्षा अधिक अच्छे कलावन्त होंगे जो इसका अभ्यास केवल इतने समय के लिये करते है जितने मे वे उसको सीख भर सके । यदि बच्चो को सगीत सीखने के लिये परिश्रम करना ही चाहिये, तब तो इसी सिद्धान्त के अनुसार उनको भोजन पकाने के व्यापार को सपरिश्रम सीखना चाहिये । पर यह एक बेहूदा-सी बात है ।

और यदि यह भी मान लिया जाय कि संगीत के द्वारा चरित्र का निर्माण किया जा सकता है तो भी यह कठिनाई तो बनी ही रहती है कि बच्चों को स्वयमेव सगीत का अभ्यास क्यो करना चाहिये ? भला दूसरो के संगीत को सुनकर ही हम ठीक आनन्द का उपभोग, सच्चा निर्णय करना क्यो नही प्राप्त कर सकते ? जिस प्रकार लाकैदायमॉन-निवासी कर लेते है ? वे स्वय सगीत का अध्ययन नही करते, तथापि कहा जाता है कि अच्छे और बुरे रागों के भेद का ठीक ठीक निर्णय करने की क्षमता रखते है । यदि सगीत को सुख-समृद्धि और उदार (स्वाधीन जनोचित) मन सस्कार के विकास के लिये उपयोगी माना जाय तो भी बहुत कुछ यही युक्ति उपस्थित की जा सकती है कि हम दूसरो की सगीत-कला के प्रदर्शनसे लाभान्वित न होकर, भला उसको स्वय क्यों सीखे ? हम देवताओ के स्वरूप के विषय मे जो विचार रखते है उस पर दृष्टिपात करना यहाँ ठीक होगा । कवियो (की रचनाओ मे) वर्णित द्यौस्[४] न तो स्वय गाता-बजाता है और सितार-वादन ही करता है ; (वह तो केवल अन्य लोगों के सगीत का आनन्द लिया करता है ।) जो लोग अन्यथा आचरण करते हैं उनको हम अशिष्ट (गँवार) समझा करते है ; और उनके व्यापार के विषय में हम ऐसा विचार किया करते है कि कोई भी भला आदमी, यदि वह मदमत्त न हो अथवा परिहास न कर रहा हो तो ऐसा आचरण नही करेगा । पर इन बातो पर तो फिर आगे चलकर विचार करना उचित होगा ।

प्रथम तो हमको इस विषय का अन्वेषण करना चाहिये कि सगीतविद्या को शिक्षा के अन्तर्गत स्थान दिया जाय अथवा न दिया जाय, तथा इसी से यह प्रश्न भी उठता है कि पूर्ववर्णित तीन प्रभावो मे से यह कौन-सा प्रभाव उत्पन्न करता है—शिक्षा, अथवा मनोरजन (क्रीडा) अथवा मन सस्कार ? इसका सबध तीनो से ही जोडना सयुक्तिक हो सकता है क्योकि स्पष्ट ही इसमे ऐसे तत्वो का समावेश है जो इन तीनो मे समान रूपेण पाये जाते है। मनोरजन विश्राम के निमित्त होता है, और विश्राम अवश्य ही आनन्ददायक (प्रिय, मधुर) होता है, क्योकि यह श्रम के कारण उत्पन्न हुई पीडा का उपचार(औषधि) है। फिर इसी प्रकार मन प्रसाधन(अथवा मन सस्कार) मे भी केवल शोभनता ही नही होती प्रत्युत आनन्द-तत्त्व भी पाया जाता है, क्योकि सच्चे सौमनस्य (अथवा सौख्य)का सघटन इन दोनो ही तत्त्वो(शोभनता और आनन्द)से होता है।यह तो सभी कहते है कि सगीत, (चाहे वह केवल यान्त्रिक हो, चाहे गीत के बोल के साथ)"ससार मे एक महान् से भी महान् आनन्द की वस्तु है। और मुसाइयस् ने कहा ही जो है कि

"मर्त्य मानव के लिये सगीत है सबसे मधुर"

इसीलिए और सकारण ही मनुष्य अपने सामाजिक समारोहो और मनोरजनो मे इसकी सहायता ग्रहण किया करते है, इसमे मनुष्यो के हृदयो को आह्लादित करने की क्षमता है। अतएव इस (आनन्द-प्रदता)के ही आधार पर हम यह निर्धारित कर सकते है कि बच्चो को सगीत की शिक्षा दी जानी चाहिये। सब निर्दोष आनन्द न केवल जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उपयुक्त होते है, प्रत्युत श्रमापनोदन करनेवाले विश्राम के लिये सहायक होते है। मनुष्य अपने अन्तिम लक्ष्य को तो अत्यन्त विरलतया प्राप्त कर पाते हैं पर विश्राम बहुधा कर सकते है एव मनोरजन से भी अपने को प्रसन्न कर सकते है (और ऐसा किसी अन्य लक्ष्य की सिद्धि के लिये नही, प्रत्युत इनसे प्राप्त होनेवाले आनन्द के लिये करते है), और इसीलिये बच्चो को भी सगीत से प्राप्त होने-वाले आनन्द मे विश्रान्ति और मनोरजन का उपभोग करने देना अच्छा ही होगा।

कभी कभी ऐसा हो सकता है कि मनुष्य मनोरजन को ही अपना ध्येय बना लेते है, क्योकि स्यात् जीवन के अन्तिम लक्ष्य मे कुछ आनन्द तत्त्व भी सम्मिलित रहता है, यद्यपि वह आनन्द साधारण कोटि का आनन्द नही होता, तथापि उस (परम)आनन्द की खोज करते हुए मनुष्य गलती से उसके स्थान पर साधारण कोटि के आनन्द को ही ग्रहण कर लेते है; और उनके ऐसा करने का कारण यह है कि साधारण कोटि के आनन्द और मानवीय कर्मों के अन्तिम लक्ष्य में साधारणतया एक प्रकार की कुछ समता पाई

जाती है। यह चरम लक्ष्य किसी भावी परिणाम के लिये वाछनीय नही होता, किन्तु स्वय अपने ही लिये इष्ट होता है , इसी प्रकार मनोरजन से प्राप्त होनेवाला आनन्द भी किसी भावी परिणाम के निमित्त वाछनीय नही होता, प्रत्युत भूतकाल मे घटित हुई बातो के—अर्थात् परिश्रम और पीडा के—निमित्त वाछनीय होता है। (यह आनन्द परिश्रम और पीडा को हलका करनेवाला होता है।) यह बात युक्तियुक्त समझी जा सकती है कि यही कारण है जिससे मनुष्य इस प्रकार के आनन्दो मे सुख की खोज किया करते है।

पर मनुष्य जो सगीत का अनुसरण करते है वह केवल आनन्द के कारण ही नही करते, उनके ऐसा करने का एक दूसरा कारण है विश्राम प्रदान करने मे उसकी उपयोगिता। इसके पक्ष की स्थिति कुछ इसी (उपर्युक्त) प्रकारकी है। पर तो भी यह अनुसधान किया जाना चाहिये कि क्या इस सगीत के जिन उपायोगो का वर्णन किया जा चुका है उनकी अपेक्षा इसका कोई अधिक उदार (महत्त्वपूर्ण) और साररूप उद्देश्य (उपयोग) है या नही। सगीत के उस आनन्द के अतिरिक्त जिसका अनुभव सबके द्वारा किया जाता है, तथा सभी जिसके भागीदार है (जो आनन्द सचमुच ही स्वाभाविक और साहजिक होता है, और जो इसी कारण इसका उपयोग सबअवस्थाओं और सब प्रकार के चरित्र-वाले मनुष्यो को प्रिय लगता है) हमको यह भी देख लेना चाहिये कि कही (=यदि) यह सगीतविद्या हमारे चरित्र और आत्मा पर भी तो कुछ प्रभाव न रखती हो। यदि हमारे चरित्र वास्तव में इससे प्रभावित होते हो तब तो स्पष्ट ही इसमे ऐसा प्रभाव है (यह मानना पडेगा)। हमारे चरित्र पर इसका ऐसा प्रभाव पडता है, यह बात तो बहुत सी अन्य राग-रागिनियोके प्रभाव से स्पष्ट ही है,पर विशेषकर यह बात औलिम्पस[1] के रागो से (कुछ कम) सिद्ध (=स्पष्ट) नही होती (अर्थात् औलिम्पस के रागो से यह बात विशेष रूप से स्पष्ट सिद्ध हो जाती है)। (औलिम्पिस के) यह राग, सर्वसम्मति से, सुननेवालो की आत्मा को उत्साह से परिपूर्ण कर देनेवाले हैं, तथा उत्साह की भावना आत्मा के चारित्रिक अश से सबध रखनेवाला मनोवेग है।[2] इसके साथ ही हम यह भी जोड सकते है कि सभी मनुष्य केवल अनुकरणात्मक शब्दो को सुनकर (जहाँ कि लय और सुर का कोई सबध नही होता) सहानुभूति से आप्लावित हो जाते हैं।

क्योकि सगीत एक प्रकार का आनन्द है (अथवा आनन्द से सबद्ध है) और सद्वृत्त ठीक प्रकार से आनन्दित होना और ठीक प्रकार से प्रेम और घृणा करना है, अतएव स्पष्ट ही हमको न तो किसी अन्य पाठ (अध्ययन) को सीखने की, और न किसी

अन्य आदत को प्राप्त करने की इतनी अधिक आवश्यकता है, जितनी कि उदार चरित्रो और शोभनकर्मों के विषय मे ठीक ठीक निर्णय करने की और इनके द्वारा आनन्दित होने की है।[८] फिर सगीत के लय और सुर हमको चरित्रदशाओ की प्रतिकल्पना (प्रतिमूर्ति) प्रदान करते है—क्रोध और शान्ति, सहिष्णुता और सयम इत्यादि चरित्रदशाओ तथा इन दशाओ की सब प्रतिकूल दशाओ की प्रतिमूर्तियाँ प्रदान करते है, इनके अतिरिक्त अन्य चारित्रिक गुणो की प्रतिकल्पना भी प्रदान करते है—तथा यह प्रतिमूर्तियाँ ऐसी होती है जो अन्य किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा वास्तविक दशाओ के अधिक समीप पहुँचती हैं। यह तथ्य स्वय हमारे अपने अनुभव से स्पष्ट सिद्ध है। ऐसी रागिनियो को सुनते हुए हमारी आत्मा (आन्तरिक मनोदशा) मे परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। और किसी अभिव्यक्ति अथवा प्रतिमूर्ति से (मे) पीडा और आनन्द अनुभव करने का स्वभाव (आदत) बना देना, वास्तविक सत्ता से पीडित अथवा आनन्दित होने से अत्यन्त निकटता का सबध रखना है। उदाहरणार्थ यदि कोई मनुष्य किसी वस्तु की मूर्ति को देखकर, अन्य किसी कारण से नही, प्रत्युत केवल उसकी आकृति से आनन्दित होता है, तो निश्चयमेव वह व्यक्ति उस वस्तु को देखकर भी आनन्दित होगा, जिसकी मूर्ति देखकर वह प्रसन्न हुआ था। अन्य इन्द्रियो के—जैसे कि त्वचा और स्वाद के—विषय चारित्रिक दशाओ की प्रतिमूर्ति अथवा सादृश्य उपलब्ध नही करा सकते। नेत्रेन्द्रिय के विषय ऐसा कर सकते है, पर बहुत थोडी मात्रा मे। वास्तव मे ऐसी आकृतियाँ होती हैं जो चरित्रदशाओ के साथ सादृश्य रखती हैं, पर यह सादृश्य अत्यन्त अल्प मात्रा मे होता है। फिर हमको यह भी याद रखना चाहिये कि सभी मनुष्यो को नेत्रेन्द्रिय प्राप्त होती है।[९] इसके अतिरिक्त, (दृश्यकलाओ के) आकृति और वर्णो मे चरित्रदशाओं का सादृश्यानुकरण नही होता, प्रत्युत चिह्न मात्र होते हैं, और चिह्न भी वे होते हैं जो कि किसी भावदशा मे शरीर पर प्रकट होते है। यो तो इनका चरित्र से कोई सबंध नही है, पर जहाँ तक विभिन्न कला-कृतियो के देखने मे उत्पन्न होनेवाले प्रभाव के अन्तर का नाता है यह कहा जा सकता है कि बच्चो को पाउसॉन् की कृतियो को देखने के लिये प्रोत्साहित नही किया जाना चाहिये, प्रत्युत पोलिग्नॉतस् की कृतियो को देखने के लिये उत्साहित किये जाना चाहिये, यही प्रोत्साहन उन कलाकारो—चित्रकारो और मूर्तिकारों—की कृतियो के विषय मे भी बरता जाना चाहिये जो चरित्र का चित्रण करते हैं।

इसके विपरीत रागों की बात ही दूसरी है। वे तो, स्वत. स्वभाव से ही चरित्रदशाओ के अनकरण हैं। और यह एक स्पष्ट बात है। प्रथम तो सगीत के राग

स्वभावत एक दूसरे से भिन्न होते है, अतएव विभिन्न रागो को सुनने से श्रोताओ पर पृथक् पृथक् प्रकार का प्रभाव पडेगा। इनमे से कुछ का प्रभाव सुननेवालो को अधिक विषण्ण और गभीर बना देना होता है, उदाहरणार्थ मिक्षोलीडियन[११] नामक राग का ऐसा ही प्रभाव होता है। अन्य रागो का (जो कि अधिक कोमल होते हैं) प्रभाव बुद्धि को अपेक्षाकृत मृदुल (अथवा शिथिल) कर देना होता है। तीसरे का प्रभाव मध्यम प्रकार का और अधिक स्थायी स्वभाव निर्माण करना होता है, दोरिकपद्धति के रागो का प्रभाव ऐसा समझा जाता है, इसके विपरीत फ्रीगियन रागो का प्रभाव स्फूर्ति और उत्साहवर्धन करना माना जाता है। शिक्षा की इस शाखा का विवेचन दार्शनिक लेखको ने बडे सुन्दर ढग से किया है, तथा उन्होने भी इस विषय से सबध रखनेवाली अपनी युक्तियो का वास्तविक तथ्यो के साक्ष्य से समर्थन किया है।

जो बात अभी सगीत की पद्धतियो के विषय मे कही गयी है वही बाते सगीत के लय के विषय मे भी लागू होती हैं। इनमे से कुछ का लक्षण स्थिरता (विश्रान्त) पूर्ण होता है और अन्य कुछ का लक्षण गतिमय होता है। जो गतिमय लक्षणवाली लय का सगीत उसका एक भेद गँवारू गतिमयता से और दूसरा स्वाधीन जनोचित गतिमयता से युक्त होता है। जो कुछ अब तक सगीत के विषय मे कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि सगीत मे अन्तरात्मा के चरित्र पर प्रभाव डालने की शक्ति रहती है। यदि यह इस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न कर सकता है तो स्पष्ट ही इसको पाठ्यक्रम के अन्तर्गत एक विषय के रूप मे सम्मिलित किया जाना और बच्चो को पढाया जाना चाहिये। सगीत की शिक्षा इतनी (अपरिपक्व) अवस्थावाले युवको की प्रकृति के भी अनुकूल है। अपनी सुकुमार अवस्था के कारण बच्चे किसी भी अमधुर वस्तु को स्वेच्छापूर्वक सहन नही करते, और सगीत तो प्रकृत्या ही मधुर होता है। सगीत की राग-रागिनियो और लयो का मानवात्मा के साथ सहज सबध है (सजातीयता है)। इसी लिए बहुत से विचारको मे से कुछ का कहना है कि आत्मा स्वय स्वरसंवादिता (हार्मनी) स्वरूप है,और कुछ अन्य का कहना है कि आत्मा में 'स्वरसवादिता' का निवास है।[१२]

टिप्पणियाँ

१. यह शब्द यूरीपिदेस् के "बक्खाए" नामक नाटक से उद्धृत किये गये हैं।

२. सच्चरित्र और सद्वृत्ति का निर्माण अच्छे कार्यों और अच्छे विचारों के अभ्यास से होता है। संगीत हमको ठीक ढंग से आनन्दित होने का अभ्यस्त बनाकर हमारे चरित्र के निर्माण में सहायक होता है।

३. मानवात्मा के तीनो विभाग इस प्रकार संगीत से संबद्ध और लाभान्वित होते हैं। जो भाग स्वयं विवेकरहित है तथा सविवेक भाग का आज्ञाकारी है, संगीत मनोरंजन और विश्रान्ति प्रदान करता है; क्रियात्मक विवेकांश को इसके द्वारा सदाचार के अभ्यास की आदत बनती है; एवं विमर्शात्मक विवेकांश के लिये यह बुद्धि के संस्कार में सहायक होता है। देखिये ७वीं पुस्तक के १४ वें खण्ड की ८वीं टिप्पणी।

४. गाने-बजाने का काम ग्रीक देवताओं में अपौलो और म्यूज़ों का है। देवाधिदेव द्यौस् (ज्यूस) तो संगीत का आनन्द लेता है।

५. यूनान में दो मुसाइयस् नाम के कवि हुए है। एक होमे (म)र का पूर्ववर्ती था। दूसरा कवि ई० पू० ५वीं अथवा ४ थी शताब्दी में हुआ था। इसने हेरो और लेआन्ड्रॉस की प्रेमकथा को काव्य में निबद्ध किया था।

६. औलिम्पस् फ्रीगिया का फ्लूट बजानेवाला था।

७. क्योंकि इससे मनुष्य कर्तृत्व प्रेरणा ग्रहण करता है अतएव इसका संबंध मनुष्य के चरित्र से है।

८. अच्छी प्रकार का संगीत हमारे मन में उचित प्रकार के कामों और व्यक्तियों के प्रति आनन्द की भावना उत्पन्न कर सकने के कारण अच्छाई को प्रादुर्भूत कर सकता है, क्योंकि उचित प्रकार से आनन्द का अनुभव करना ही तो भलाई (अच्छाई) है।

९. इन्द्रियों के विषयों में उपर्युक्त योग्यता का अभाव है।

१०. पाउसॉन् संभवतया अरिस्तौफानेस् का समकालीन था उसकी कलाकृतियो में चरित्र को प्रभावित करने की शक्ति नहीं थी। अरिस्तौफानेस् ने उसको "दुष्ट विकृति-चित्रक" (Perfectly wicked caricaturist) कहा है। अरिस्तू ने इन दोनों चित्रकारों का उल्लेख अपने "काव्यशास्त्र" (पोएटिक्स) में भी किया है और वहाँ यह बतलाया है कि पोलिग्नॉतस् ने मानव का चरित्र उदात्ततर अंकित किया है और पाउसॉन् उसको वास्तव से हीनतर चित्रित करता है। अन्य कलाओ की तुलना में पोलिग्नॉस् को होमे(म)र की कोटि का समझा जाता था और पाउसॉन् को हीन कवियो के सदृश।

११. इस प्रकार का संगीत रुदन और परिवेदन को व्यक्त करता था।

१२. पाइथागौरस् के अनुयायियों के मत में आत्मा स्वयं स्वरसंवादिता (हार्मनी) है और प्लातोन के मत में आत्मा में "स्वरसंवादिता" रहती है। अरिस्तू का मत इन दोनों का मध्यवर्ती है।

६

क्या बच्चो को गाना-बजाना सिखाया जाय ?

अब उस प्रश्न का उत्तर देना चाहिये जो पहले ही उठाया जा चुका है कि बच्चो को स्वय गाना बजाना सिखाया जाना चाहिये या नही। यह तथ्य तो अस्पष्ट नही है (अर्थात् यह सबको स्पष्ट ज्ञात है) कि किसी कार्य (=कला) के अभ्यास मे स्वय भाग लेने से मनुष्य के स्वभाव (चरित्र) मे महान् अन्तर पड जाता है। जिन लोगो ने स्वय किसी कार्य (कला) के अभ्यास (अथवा गाने बजाने) मे भाग नही लिया है उनके लिये अन्य व्यक्तियो के गाने बजाने का अच्छा परीक्षक होना यदि असभव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। फिर इसके अतिरिक्त बच्चो को सर्वदा कुछ न कुछ करने को भी चाहिये, इस दृष्टि से आर्खीतास्[1] के झुनझुने को (जिसको माता पिता बच्चो का ध्यान बटाने और घर की वस्तुओ को तोड फोड करने से रोकने के लिये बच्चो को दे देते है) बहुत ही प्रशसनीय आविष्कार माना जाना चाहिये। क्योकि बच्चे तो चैन से बैठ ही नही सकते। पर झुनझुना तो बच्चो के शैशव मे ही समुपयुक्त होता है। बडी आयु के बच्चो का झुनझुना तो शिक्षा (अथवा सगीत की शिक्षा) ही है। इन विचारो से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि बच्चो को सगीत की शिक्षा इस प्रकार से दी जानी चाहिये कि उनको इस कला का क्रियात्मक ज्ञान भी अशत प्राप्त हो जाय।

इस प्रश्न का निर्णय करना कि विभिन्न आयुवालो के लिये क्या उपयुक्त है और क्या उपयुक्त नही है, कोई कठिनाई नही है। तथा जो लोग यह कहते है (आपत्ति करते है कि सगीत का सक्रिय अध्ययन गँवारू (कमीना) काम है उनको उत्तर देना भी कठिन नही है। प्रथम तो बच्चो को जिस उद्देश्य से सगीत के सक्रिय ज्ञान मे भाग लेना चाहिये वह यह है कि उनको दूसरो के गाने बजाने का परीक्षण करने के योग्य होना चाहिये। इस कारण उनको सगीत का अभ्यास छोटी अवस्था से ही आरभ कर देना चाहिये , यद्यपि वृद्धावस्था मे (जब कि अपनी युवावस्था की शिक्षा के द्वारा वे अच्छे सगीत के ठीक ठीक परीक्षण करने और उसके द्वारा भली प्रकार आनन्दित होने की क्षमता प्राप्त कर ले) तब उनको सगीतकला के सक्रिय अभ्यास से छुटकारा मिल जाना चाहिये। और रही सगीत की इस निन्दा की बात जो कभी कभी प्रस्तुत की जाती है कि सगीत गँवारूपन का प्रभाव उत्पन्न करता है, इसका समाधान करना (उत्तर देना) तब कठिन नही होगा जब कि हम निम्न प्रश्नो का उत्तर प्राप्त कर लेंगे। जो व्यक्ति नागरिक सद्वृत्ति की प्राप्ति के लिये शिक्षित किये जा रहे है, उनको किस सीमा तक सगीत के

सक्रिय अभ्यास मे भाग लेना चाहिये ? दूसरे उनको कौन-से राग और कौन-सी लयो के अभ्यास मे भाग लेना चाहिये ? तीसरे उनकी सगीत की शिक्षा मे किस प्रकार के वाद्य-यत्रो का उपयोग किया जाना चाहिये ? (क्योकि इससे भी अन्तर पडना सभव है) । इन्ही प्रश्नो के उत्तर मे उपर्युक्त निन्दा का निराकरण निहित है । क्योकि ऐसा होना बिलकुल सभव है कि सगीत के (सीखने और सिखाने के) कुछ प्रकार मनुष्य को पतित करने का प्रभाव रखते है । अतएव यह स्पष्ट है कि सगीत के अध्ययन का अनुसरण इस प्रकार किया जाना चाहिये कि वह न तो आगामी परिपक्व अवस्था के कार्यों मे बाधक हो और न शरीर-दशा को ऐसा पतित बना दे कि वह सामरिक और नागरिक शिक्षा के लिये अनुपयुक्त हो जाय—अर्थात् आरभ मे तो शारीरिक व्यायाम के अयोग्य हो जाय और आगे चलकर अध्ययन द्वारा ज्ञानार्जन के अयोग्य हो जाय ।

यदि सगीत के विद्यार्थी उस प्रकार की कला का अभ्यास न करे जिसका व्यवहार सगीत व्यवसायियो की प्रतिस्पर्धाओ मे हुआ करता है, और न सगीत की प्रतिक्रिया मे उन असाधारण और चमत्कारपूर्ण कलाबाजियो को प्राप्त करने की चेष्टा करे जिनका उपर्युक्त प्रतिस्पर्धाओ मे चलन हो गया है तथा जो वहॉ से शिक्षा मे (भी) प्रविष्ट हो गयी है तो सगीत की शिक्षा उपर्युक्त मार्ग का अनुसरण कर सकती है । ऐसा होने पर भी सगीत का अभ्यास उस सीमा तक चालू रखना चाहिये जहाँ तक कि विद्यार्थी अच्छे रागो और लयो से आनन्दित होने की योग्यता प्राप्त कर ले , उनको सगीत के केवल उस साधारण अश से आमोदित होने से सतुष्ट नही हो जाना चाहिये जिससे कि कुछ पशु तक और प्राय सभी दास और बालक तक आनन्दित होते है ।

जो कुछ अब तक कहा गया है उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार के (वाद्य) यत्रों का उपयोग किया जाना चाहिये । सगीत की शिक्षा मे न तो वशी का उपयोग होना चाहिये और न किसी ऐसे वाद्ययत्र का उपयोग होना चाहिये जिसके लिये विलक्षण कौशल की आवश्यकता हो, जैसे सितार इत्यादि । इसी प्रकार के अन्य यत्रों का उपयोग भी नही होना चाहिये । जिन वाद्ययत्रो का प्रयोग किया जाय वह ऐसे हो, जो विद्यार्थियो को सगीत की शिक्षा अथवा अन्य किसी शिक्षा मे भी अच्छा (कुशाग्र-बुद्धि) बना सके । इसके अतिरिक्त वशी ऐसा वाद्ययत्र नही है जो चरित्रदशा की अभिव्यंजना करता हो, प्रत्युत यह तो बहुत अधिक उत्तेजना उत्पन्न करनेवाला है । अतएव इसका उपयोग ऐसे अवसरो पर होना चाहिये जब कि गायनवादन का उद्देश्य शिक्षा देना नही प्रत्युत दर्शको के आवेगो का विरेचन[२] (शमन) हो । शिक्षा के लिये वशी

के उपयोग के विरुद्ध, उपर्युक्त कारणो के अतिरिक्त एक और कारण यह भी है कि वशी का बजाना विद्यार्थी की वाणी के उपयोग मे बाधक होता है। अतएव हमारे पूर्वपुरुषो ने युवको और स्वतन्त्र नागरिको के लिये मुरली (वशी) के उपयोग का निषेध करके ठीक ही किया था—यद्यपि अत्यन्त पुरातनकाल मे कभी एक बार उन्होने इसके उपयोग की आज्ञा दे रखी थी। उस समय उनकी सम्पदा ने उनको अपेक्षाकृत अधिक सावकाश बना दिया था और उत्तमता की उपलब्धि के लिये उनकी आत्मा विशदतर हो गई थी, मीडिक युद्ध का पूर्ववर्ती और परवर्ती सफलताओ ने उनके अभिमान को बढ़ा दिया था, अतएव विवेक की अपेक्षा उत्साह से अधिक प्रेरित होकर उन्होने समग्र विद्याओ को अपना अध्ययनक्षेत्र बना डाला। इसलिए उन्होने वशीवादन को भी शिक्षा-विधान में सम्मिलित कर दिया है। लाकैदायमॉन् (स्पार्टा) मे तो यहाँ तक हुआ कहा जाता है कि गायकमडल के एक मुखिया[1] ने स्वय वशी बजाते हुए अपनी मडली का नेतृत्व किया था ; पर अथेन्स मे तो वंशी बजाना इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि लगभग सभी स्वतंत्र नागरिक इस चलन में भागीदार हो गये। वशीवादन की लोकप्रियता तो उस पट्टिका से स्पष्ट है जो थ्रासिप्पस ने (जिसने कि एक्फान्तिदीस् के सम्मान मे एक गायकमडल भी प्रस्तुत किया था) एक्फान्तिदीस् के सम्मानार्थ स्थापित की थी। कुछ समय के उपरान्त, जब कि मनुष्य इस बात का अधिक अच्छा निर्णय करने के योग्य हो गये कि क्या उत्तमता (सद्वृत्त) के लिये उपादेय है और क्या नही है, तब विशाल अनुभव के आधार पर इसका अन्तिम बार परित्याग कर दिया गया। इसी प्रकार और भी बहुत से पुराने वाद्ययन्त्र इसके साथ ही त्याग दिये गये—जैसे कि, (बीस तारोवाली) वीणा, विपची इत्यादि जो केवल श्रोताओ को मुग्ध करने के लिये उपयोगी हैं, अन्य किसी उपयोग के नही होते। इन्ही के साथ साथ सप्तकोण, त्रिकोण, साम्बुकस् (एक विशेष प्रकार का त्रिकोण) इत्यादि ऐसे सब वाद्ययन्त्र भी त्याग दिये गये जिनके बजाने के लिये असामान्य हस्तकौशल की आवश्यकता होती है। पुराने लोगों की वशी के विषय में जो दन्तकथा चली आती है उसमे भी (अत्यन्त) बुद्धिमत्ता प्रतीत होती है। इस कथा मे यह कहा गया है कि अथीनी (अथीन्स की अधिष्ठातृ देवी) ने स्वयं प्रथम वशी का आविष्कार किया और तदुपरान्त उसको फेंक दिया। शेष कथा में जो विचार है वह भी कुछ बुरा नही है कि इसको बजाते समय मुखाकृति के अभद्र दिखलाई पड़ने के कारण देवी इस वाद्ययंत्र से चिढ़ गयी (और उसने इसे फेंक दिया)। पर अथीनी वह देवी है जिसको ज्ञान और कला-कौशल की प्रदात्री माना जाता है अतएव यह कही अधिक युक्तियुक्त बात प्रतीत होती है कि उसने इस वाद्ययन्त्र

को इसलिए फेक दिया क्योकि वशीवादन-शिक्षा का बुद्धि (के विकास) से कोई सबध नही है।

तो इस प्रकार से हम यत्रो के सबध मे भी वाछित और कौशल के सबध मे भी व्यावसायिक शिक्षाविधि को अस्वीकार करते है (और व्यावसायिक शिक्षा-विधि से हमारा तात्पर्य उस शिक्षापद्धति से है जो विद्यार्थियो को प्रतिस्पर्धा के लिये प्रस्तुत करने का उद्देश्य रखती है)। इस पद्धति के अनुसार अभ्यास करनेवाला विद्यार्थी कला का अभ्यास आत्मोन्नति के उपाय के रूप मे नही करता, प्रत्युत अपने श्रोताओ को आनन्द—सो भी गँवारू आनन्द—प्रदान करने के लिये करता है। इसी लिए हम इस प्रकार के सगीत के अभ्यास को स्वतत्र नागरिक के लिये अनुचित समझते है, किन्तु वेतनभोगी व्यवसायी के ही लिये उचित मानते है, इसका परिणाम यह होता है कि इस प्रकार के वादन का अभ्यास करनेवाले स्वय गँवारू हो जाते है। जिस आदर्श को दृष्टि मे रखकर वे अपना लक्ष्य स्थिर करते है वह आदर्श ही बुरा है। दर्शको का गँवारूपन सगीत के गुण को भी गिरा देता है। कलाविद् स्वय भी अपने श्रोताओ की ओर दत्तदृष्टि होने के कारण, जैसे वे (श्रोता) होते है वैसे ही बन जाते है, और यह परिवर्तन (केवल मानसिक ही नही होता) शारीरिक भी होता है, क्योकि उन अपने श्रोताओ की रुचि के अनुकूल ही शरीर को हिलना डुलना पडता है।

टिप्पणियाँ

१. आर्खीतास् एक शिल्पकार था और उसको बच्चों के साथ खेलने का शौक था। पर यह कहना ठीक नहीं है कि वह झुनझुने का आविष्कारक था क्योंकि यूनान में झुनझुने का उल्लेख उसके समय से पहले भी मिलता है।

२. इसके स्थान पर मूल में "काथार्सिस्" शब्द का प्रयोग किया गया है। यह अरिस्तू के काव्यशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण संज्ञा है। सगीत और नाट्य के द्वारा मानवीय विकारों की विस्फोटक अवस्था का शमन होता है। इसके विषय में विस्तार सहित आगे चलकर अरिस्तू के काव्यशास्त्र के अनुवाद की भूमिका में लिखा जायेगा।

३. सामान्यतया गायकमंडली का मुखिया जो "खोरैगस्" कहलाता, गायकमंडली के साथ संगीत में भाग नहीं लिया करता था। गायकमंडली के सदस्य सामाजिक स्थिति में हीन माने जाते थे और मुखिया धनवान् और ऊँची स्थिति का व्यक्ति हुआ करता था। पर यहाँ जिस मुखिया का उल्लेख किया गया है वह वंशी बजाने से इतना आनन्दित होता था कि वह वंशी बजाते हुए अपनी मंडली का नेतृत्व किया करता था।

४. अथेंस मे दियौनीसियस् के उत्सव के अवसर पर जो नाटकों का अभिनय हुआ करता था उसमें धनवान् लोग कवियो की रचनाओ के लिये गायकमंडली (खोरस) का प्रबन्ध किया करते थे। यदि कवि को विजयोपहार मिलता था तो उसके नाम की पट्टिका भी दियौनीसियस् को अर्पित की जाती थी। थ्रासिप्पस् धनी खोरैगस का नाम है। एक्फान्तिदी (दे)स् अथेन्स का सुखान्त नाटक लिखनेवाला आरंभिक काल का कवि था।

७

संगीत की पद्धतियों का विचार

अब सगीत की विविध पद्धतियो और लयो का, एव शिक्षा मे उनके उपयोग का विचार करना शेष रह गया है। यह भी देखना है कि क्या सभी प्रकार की पद्धतियों और लयो का उपयोग किया जाना चाहिये अथवा उनमे कुछ भेद करना चाहिये। हमको यह भी निर्णय करना है कि जो लोग शिक्षा की दृष्टि से सगीत का अभ्यास करते हैं उनको भी उसी नियम का अनुसरण करना है (जिसका अनुसरण अन्य संगीतविद् किया करते है) अथवा अन्य किसी नियम का। हम देखते हैं कि संगीत दो वस्तुओं के योग से—राग (स्वर) और लय के योग से उत्पन्न होता है, अतएव हमको यह जान लेना चाहिये कि इनमें से प्रत्येक के द्वारा शिक्षा पर पृथक् पृथक क्या प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। तथा हमको यह भी मालूम कर लेना चाहिये कि सुस्वर और सुन्दर लयवाले सगीत मे से किसको वरणीय माना जाय। पर हमारा विश्वास है कि आजकल के कुछ सगीत-वेत्ताओ ने तथा दार्शनिको ने (जो कि सगीत-शिक्षा के विशेषज्ञ हैं) इस विषय का बहुत अच्छा वर्णन प्रस्तुत कर दिया है, अतएव इन विषयोमे से प्रत्येक के सबंध मे ठीक ठीक ज्ञान के इच्छुक विद्यार्थियो को हम इन व्यक्तियो के कथनों का अध्ययन करने की सम्मति देंगे, हम स्वय तो इस समय, नियमो की पद्धति के अनुसार इस विषय के सामान्यतया व्यापक नियमो का ही निर्धारण करेंगे।

रागो का जो विभाजन कुछ दार्शनिको ने किया है वह हमको स्वीकार है—इसके अनुसार राग तीन प्रकार के है (१) सदाचार सबधी राग (२) सक्रियतोत्तेजक राग (३) उत्साह (स्फूर्ति) वर्द्धक राग, तथा उनका यह कहना है कि इनमें से प्रत्येक विभाग से मेल खाता हुआ सगीत-पद्धतियो का स्वरूप है, अर्थात् प्रत्येक पृथक् संगीतपद्धति प्रत्येक पृथक् पृथक् विभाग के अनुरूप है। पर हमारा कहना तो यह

है कि सगीत का अनुसधान (अभ्यास) केवल किसी एक लाभ के निमित्त नही, प्रत्युत अनेक लाभो के लिये किया जाना चाहिये। अर्थात् (१) शिक्षासबधी लाभ के लिये (२) विरेचनात्मक लाभ के लिये ('विरेचन' शब्द को हम यहाँ तो यो ही बिना व्याख्या किये प्रयोग कर रहे है, पर जब पुन भविष्य मे काव्यप्रकरण मे हम इसका प्रयोग करेंगे तो इसकी अधिक स्पष्ट व्याख्या की जायगी), (३) मन सस्कार के लाभ के लिये, जिसके साथ मनोरजन और श्रमापनोदन का लाभ भी जोडा जा सकता है।[1] अत यह तो (हमारे कथन से) स्पष्ट ही है कि सभी सगीत-पद्धतियो का प्रयोग किया जाना चाहिये। पर सबका प्रयोग एक ही ढग से नही किया जाना चाहिये। शिक्षा के उद्देश्य को दृष्टि मे रखते हुए तो अत्यधिक सदाचारसबधी पद्धति का उपयोग किया जाना चाहिये, पर किसी दूसरे के सगीत-प्रयोग को सुनने का प्रसग हो तो कार्योत्तेजक और स्फूर्तिदायक पद्धति के सगीत को भी स्वीकार किया जा सकता है कोई भी आवेग जो कुछेक मनुष्यो की आत्मा को प्रबलतापूर्वक आन्दोलित करता है सबकी आत्मा को आवेगमय बना सकेगा, तथा एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के प्रसग मे उसके प्रभाव मे केवल थोडी अथवा बहुत मात्रा का अन्तर रहेगा, करुणा, भय, और उत्साह इसी प्रकार के मनोवेग है। किसी प्रकार की उत्तेजना (उत्साह) से आविष्ट होने की दशा कुछ मनुष्यो के लिये विशेषरूप से सभव है। जैसा कि हम स्वय देख सकते है, ऐसे व्यक्ति धार्मिक गीत सुनकर अत्यन्त प्रभावित हो जाते है तथा जब यह लोग ऐसे सगीत के प्रभाव में होते है जो कि आत्मा को धार्मिक आवेश से ओतप्रोत कर देता है तो वे इस प्रकार के शान्त और प्रकृतस्थ (स्वस्थ) हो जाते है मानो उनका औषधोपचार किया गया हो अथवा उनको विरेचन कराया गया हो। इसी प्रकार का प्रभाव उन लोगो पर भी अनिवार्यतया पडेगा जो करुणा और भय के आवेगो के वशीभूत हो जाया करते है, अथवा किसी भी अन्य प्रकार के भावो के वशीभूत हो जाते है, वास्तव मे इस प्रकार का प्रभाव उतनी मात्रा मे तो अन्य शेष व्यक्तियो पर भी पडेगा जितनी मात्रा मे वह इन भावो के वशवर्ती हो जाते है; परिणामत (समुचित सगीत के प्रभाव से) सभी कुछ शोधन का (विरेचन) का अनुभव करेगे तथा आवेगो के शमन से सबको कुछ आनन्द की उपलब्धि होगी। इसी प्रकार जो सगीत विशेषरूप से भाव विरेचन के लिये निर्दिष्ट है उससे समग्र मानव-जाति को निर्दोष आनन्द की प्राप्ति होती है।[2]

अतएव, जो लोग रगशाला मे सगीत-प्रयोग की प्रतिस्पर्द्धा मे भाग लेते है उनसे इसी प्रकार की पद्धति के इसी प्रकार के रागो मे प्रतिस्पर्द्धा करने की अपेक्षा की जानी चाहिये।

क्योकि दर्शक (=सामाजिक) दो प्रकार के होते है—एक तो स्वतत्र नागरिक और शिक्षित लोग, दूसरे गँवारो की भीड, जिसमे श्रमिक, मजदूर इत्यादि प्रकार के लोग होते है, अतएव इस दूसरी प्रकार के सामाजिको के श्रमापनोदनार्थ भी सगीत-प्रतिस्पर्द्धा और उत्सव (तमाशे) इत्यादि की व्यवस्था होनी चाहिये। तथा जिस प्रकार इन लोगो की अन्तरात्मा अपनी वास्तविक प्रकृति से भ्रष्ट होकर विकृत हो (जाती है) उसी प्रकार की विकृत सगीत-पद्धतियाँ भी होती है, तथा वैसी ही अतिसन्तानित और अतिरजित रागरागिनियाँ भी होती है (जो इस प्रकार के श्रोतावर्ग के अनुरूप हुआ करती हैं)। प्रत्येक व्यक्ति उसी वस्तु से आनन्द प्राप्त करता है जो उसकी प्रकृति के अनुरूप होती है। अतएव हमको प्रतिस्पर्द्धा मे भाग लेनेवाले व्यवसायी सगीतज्ञो (गवैयो) को इस कोटि के श्रोताओ के समक्ष घटिया प्रकार के सगीत का प्रदर्शन करने की आज्ञा देनी चाहिये।

पर शिक्षा के लिये, (जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ) जो राग और पद्धति प्रयुक्त की जानी चाहिये, वे आचरण को अभिव्यक्त करनेवाली होनी चाहिये। जैसा कि मैंने पहले भी कहा था, इस प्रकार की एक सगीतपद्धति दौरिकपद्धति है। पर हमको इसी प्रकार की उन अन्य पद्धतियो को भी अंगीकार कर लेना चाहिये जो दार्शनिक अध्ययन और सगीत की शिक्षा मे संलग्न रहनेवाले विद्वानों के द्वारा अनुमोदित हो चुकी हैं। "पालितेइया" नामक रचना मे सॉक्रातेस् ने दौरिक-पद्धति के साथ केवल फ्रीगीयपद्धति का सग्रह करने मे गलती की है (ठीक नही किया है), तथा पहले ही वशी का परित्याग कर देने के पश्चात् तो यह गलती और भी विकट प्रतीत होती है। अन्य पद्धतियो के मध्य मे फ्रीगीयपद्धति वही प्रभाव रखती है जो अन्य वाद्ययत्रों के मध्य वशी का है; दोनों का प्रभाव उत्तेजनात्मक और भावुकतापूर्ण होता है। काव्य से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। दियोनीसियस सबधी भावोद्रेक एव अन्य प्रकार के मन क्षोभ, अन्य किसी यत्र की अपेक्षा वशी-वादन के साहचर्य से अधिक अच्छे ढग से व्यक्त किये जा सकते है। इसी प्रकार पद्धतियों के विषय मे भी यह देखा जाता है कि उपर्युक्त प्रकार की मनोदशाओ को व्यक्त करने के लिये फ्रीगीयपद्धति के राग अधिक उपयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिये हम डीथीराम्ब[1] को ले सकते हैं जो सामान्यतया सभी के द्वारा फ्रीगीयपद्धति से सबद्ध माना जाता है। सगीत-कला-विशारदो के द्वारा डीथीराम्ब के लक्षण का प्रतिपादन करने के लिये बहुत से उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं, अन्य उदाहरणों के साथ वे फिलोक्षेनस् का उदाहरण भी देते है कि उसने 'मीसिन' नामक डीथीराम्ब को दौरिकपद्धति पर रचने का उद्योग किया, पर वह असफल रहा;

प्रत्युत इस (राग) के स्वभाव से विवश और प्रेरित होकर उसे पुन फ्रीगीय पद्धति की शरण लेनी पडी क्योकि यही पद्धति इस प्रकार की रचना के लिये अधिक उपयुक्त (सिद्ध) प्रतीत हुई। दौरिकपद्धति के विषय मे यह बात सर्वसम्मत है कि यह पद्धति अत्यन्त गभीर और पौरुषपूर्ण स्वभाव को सूचित करनेवाली है। इसके अतिरिक्त, क्योकि हमारा कहना यह है कि मध्यमार्ग, जो दो अतिगामी मार्गो के मध्य मे स्थित हो, अनुमोदनीय है और उसका अनुसरण किया जाना चाहिये, और क्योकि दौरिकपद्धति अन्य पद्धतियो के मध्य मे इसी स्वभाव (मध्यमार्गीय स्वभाव) वाली है, अतएव यह स्पष्ट है कि हमारे नवयुवको (बच्चो) की शिक्षा के लिये दौरिकपद्धति के गीत ही सबसे अधिक उपयुक्त है।

दो लक्ष्य है जिनका मनुष्य अनुसरण करते है—एक सभव और दूसरे समुचित। इसके अनुसधान मे, प्रत्येक व्यक्ति को विशेष रूप से यह ध्यान रखना चाहिये कि स्वय उसके अपने प्रसग से क्या सभव और क्या समुचित है। पर यह उसके लिये उसकी आयु द्वारा निर्धारित कर दिया जाता है। उदाहरण के लिये जो लोग वृद्धावस्था के कारण शक्तिहीन होते है उनके लिये तारस्वरवाली पद्धति में गाना सरल नही होता, और प्रकृति स्वयमेव यह सङ्केत करती प्रतीत होती है कि उनकी आयु के लिये नीचे और मृदुल स्वर का ही प्रयोग ठीक है। इसलिए कुछ सगीतविद् जो सॉक्रातेस् की इस कारण निन्दा करते है कि उसने मादकता के सबध के कारण निम्नस्वर की मृदुल सगीतपद्धति को शिक्षा मे से निकाल दिया तो इस निन्दा मे कुछ औचित्य है—पर (सॉक्रातेस् का) यह तर्क मद्य के तात्कालिक प्रभाव पर आश्रित नही है (क्योकि मद्य तो मनुष्य को उत्तेजित ही अधिक करता है) प्रत्युत उसके पीछे के प्रभाव पर निर्भर है जो कि शिथिलता उत्पन्न करनेवाला है (इसी प्रकार यह मृदुल सगीत पद्धति भी शक्तिशून्य है)। अतएव उस आगे आनेवाली अवस्था को दृष्टि मे रखते हुए, जब कि मनुष्य वृद्ध हो जाते है, निम्न और मृदुल स्वरवाली पद्धतियो और रागो का भी अभ्यास किया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि कोई ऐसी सगीतपद्धति हो जो सुव्यवस्था और शिक्षाप्रदता की क्षमता के कारण लड़के की सुकुमार अवस्था के लिये समुचित हो—जैसे कि अन्य सब पद्धतियो की अपेक्षा लीडियनपद्धति इन गुणो से अधिक युक्त है—तो उसको भी (बचचो की शिक्षा मे) सम्मिलित किया जाना चाहिये। अतएव यह स्पष्ट है कि (सगीत) की शिक्षा मे तीन आदर्श होने चाहिये—एक मध्यम, दूसरे शक्य (=सभव) तथा तीसरे समुचित। (२६।६।'४९)

टिप्पणियाँ

१. संगीत की यह उपयोगिता उस उपयोगिता से कुछ पृथक् है जिसका उल्लेख अरिस्तू ने इसी पुस्तक के पाँचवें खण्ड के आरंभ में किया है।

२. जिस प्रकार विरेचक औषधि से उदर का दबाव हलका हो जाता है इसी प्रकार संगीत के सुनने और गम्भीरान्त नाटक को देखने से भावो के दबाव की कमी से मानसिक अथवा आध्यात्मिक स्वास्थ्य और आनन्द की प्राप्ति होती है।

३. वाद्य और नृत्य के साथ चलनेवाला यह एक प्रकार का गीत था जिसका संबंध दियौनीसियस् के जन्म से संबद्ध था।

वि० पौलिटिक्स के अन्य अनेक खंडों की भाँति यह खण्ड भी अपूर्ण ही रह गया है। शिक्षा के एक विषय का भी विवेचन भलीभाँति पूरा नहीं हो पाया है।

परिशिष्ट

अरिस्तू के अथेनाइयोन् पौलितेइया

(अथेन्स के संविधान)

का

हिन्दी अनुवाद

प्रथम भाग

संविधान के विकास का इतिहास

अध्याय १ से ४१ तक

१

(अल्क्मेओनिदी कुल के लोगों का) दंडित होना। ऐपीमैनीदेस् द्वारा नगर की शुद्धि।)

यज्ञ मे जिन्होने शपथ ग्रहण की थी ऐसे चुने हुए कुलीन लोगो के न्यायाधिकरण के समक्ष उनका[1] अभियोग निर्णय के लिये प्रस्तुत हुआ। दोषारोपक का काम मीरॉन ने किया। वे धर्मग्लानि के अपराधी ठहराये गये। उनके मृतशरीर कब्रो मे से निकालकर फेक दिये गये, तथा उनके वशधर आजीवन नगर से निर्वासित कर दिये गये। इस पर क्रीती-निवासी ऐपीमैनीदेस[2] ने (अथेस) नगर की शुद्धि की।

२

(देश का धनिकवर्गीय संविधान, तथा साधारण जनता की दयनीय अवस्था)

इस घटना के पश्चात् बहुत समय तक गण्यमान सभ्रान्त जनो और साधारण जनता के बीच मे कलह चलती रही। उस समय न केवल सविधान पूर्णरूपेण धनिकवर्गीय था, प्रत्युत निर्धन जनता के लोग---पुरुष, बच्चे और स्त्रियाँ---सब के सब धनिकवर्ग के बँधुआ दास थे। उनको पैलात्ताए और (हेक्टीमोरोइ)[1] षष्ठाशी कहा जाता था, क्योकि वे लोग धनवानो की भूमि पर इसी लगान की दर से खेती किया करते थे; सारी भूमि थोडे से व्यक्तियों के अधिकार मे थी, और यदि उस भूमि पर भाडे पर खेती करनेवाले किसान लगान नही चुका पाते थे तो वे स्वय और उनके बालबच्चे बंधक रक्खे जा सकते थे। सारे ऋणो की जमानत अधमर्ण के व्यक्तिगत शरीर पर थी, यह प्रथा सोलॉन के समय तक चालू रही। सोलॉन (दीन और निर्धन) साधारण जनता के पक्ष का समर्थन करनेवाला प्रथम व्यक्ति था। पर सर्वसाधारण के लिये

इस सविधान का सबसे कठोर और कड वा भाग था उनका दासत्व, तिस पर भी वह अपने दुर्भाग्य के प्रत्येक अग से असतुष्ट थे, क्योकि सामान्यतया कहा जा सकता है कि उनको किसी भी अधिकार मे कोई भाग प्राप्त नही था।

३

(द्राको के पूर्ववर्त्ती संविधान का सार। आर्खन पद की उत्पत्ति, उनकी शासनावधि और निवासों का वर्णन। अरियोपागस का संविधान के संरक्षकों में प्रमुख स्थान।)

द्राको (अथवा द्राकोन्तॉस) से पूर्व संविधान की व्यवस्था कुछ इस प्रकार थी। शासनाधिकारी (मजिस्ट्रेट) लोगो की नियुक्ति कुलीनता और धनवत्ता के आधार पर होती थी। आरभ मे तो यह लोग नियुक्ति के पश्चात् आजीवन शासन-कार्य[1] किया करते थे, पर पीछे इनके शासन की अवधि दस वर्ष कर दी गई। शासनाधिकारियो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और अग्रगण्य थे, राजा (बैसीलियस्), सेनापति (पॉले-मार्खस्) तथा शासक (आर्खन्)[2]। इनमे भी सर्वप्रथम स्थान (पद) राजा का था जो अत्यन्त प्राचीन काल से पैत्रिक परम्परा से चला आ रहा था। तदुपरान्त, कुछ राजाओ के युद्ध-कार्य मे अक्षम (मदुल) होने के कारण दूसरा पद सेनापति का और जोड दिया गया, क्योकि इसी कारण तो एक कठिन सेवा के अवसर पर इयौन् को इस पद को ग्रहण करने के लिये आमन्त्रित किया गया था। तीनो[3] मे अन्तिम पद आर्खन् का था, जो कि अधिकाश लोगो के मतानुसार मैदॉन् के समय मे प्रस्थापित हुआ था। कुछ अन्य लोगो का मत है कि ऐसा अकास्तस् के समय मे हुआ। इसका निश्चित प्रमाण वह यह प्रस्तुत करते है कि नौ (९) आर्खन् अपनी शपथो को उसी प्रकार कार्यान्वित करने की सौगध लिया करते थे "जिस प्रकार वह अकास्तस के समय में की जाती थी।" इससे यह भी सूझ पडता है कि उसी (अकास्तस के) समय कौद्रस् के वंशधरो ने भी आर्खनो को विशेषाधिकार दिये जाने पर (अथवा उनके बदले में) अपने राजपद से अवकाश-ग्रहण कर लिया। उपर्युक्त दो प्रकारो में से चाहे जिस प्रकार भी यह (घटना) हुई हो उसके समय में बहुत अधिक अन्तर नही पडता। किन्तु आर्खन् का पद उपर्युक्त तीनो पदोंमे सब से अन्त मे स्थापित हुआ था, यह तो इस बात से भी लक्षित होता है कि जिस प्रकार राजा और सेनापति को पुरातन पैत्रिक यज्ञो में भाग मिलता था उस प्रकार आर्खन् को नही मिलता था, उसको तो केवल उन्ही यज्ञोत्सवो में भाग मिलता था जो पीछे से प्रचलित हुए थे। अतएव, इन पीछे से होनेवाली सम्मान-वृद्धियो के योग से, आर्खन् का पद तो अपेक्षाकृत अधिक देर से इतना महत्त्वपूर्ण हो सका। थेस्मो

थीती (नाम के ६ छोटे) आर्खनो के पदो का निर्माण अथवा उनकी नियुक्ति तो इसके बहुत वर्ष पीछे तब हुई जब कि आर्खनोकी नियुक्ति केवल वर्ष भर के लिये होने लगी थी, उनकी नियुक्ति इसलिये हुई कि वे सब विधि-निर्णयो का सार्वजनिक लेखा रखे तथा विवाद के उभयपक्षो के मध्य मे ठीक ठीक निर्णय कराने की दृष्टि से उस लेखे की रक्षा करे। इसी कारण उपर्युक्त सब उच्चपदाधिकारियो (आर्खनो) मे केवल इन्ही (थेस्मो-थीती) आर्खनो का पद अनेक वर्ष तक स्थायी रहनेवाला नही हो सका। ऐसी है इन पदो की परस्पर तुलनात्मक समयानुपूर्वी।

उस समय नौ आर्खन् एक साथ नही रहते थे। राजा उस भवन मे निवास करता था जो आजकल बूकालियन् कहलाता है और प्रितानियन् के समीप है। यह तथ्य इस बात से स्पष्ट लक्षित होता है कि आज तक भी राजा की पत्नी का दियोनिसस् के साथ (वार्षिक) विवाह[४] वही होता है। आर्खन प्रितानियन् मे रहता था तथा सेनापति ऐपीलीकियन् मे। यह भवन पहले पॉलेमार्खियन् कहलाता था, पर पीछे जब ऐपी-लीकस् ने अपने सेनापति-काल मे इसका फिर से निर्माण करवाया और इसको सुसज्जित किया तब से यह ऐपीलीकियन् कहलाने लगा। थेस्मोथीती नामक आर्खन् थेस्मोथीति-यन् मे रहा करते थे। सोलॉन् के समय मे वे सब थेस्मोथीतियन् मे आकर रहने लगे। उस समय उनको स्वयमेव सब अभियोगो का परम निर्णय करने का अधिकार था, आजकल जो उनको केवल प्रारम्भिक परीक्षण का अधिकार (रह गया) है, ऐसा उस समय नही था। उच्च शासनाधिकार-पदो की व्यवस्था उस समय ऐसी थी। अरियोपागस् की परिषद् का विधि-विहित कार्य तो था विधि-नियमो की अध्यक्षता (और सरक्षण), पर वास्तव मे राष्ट्र के शासन-कार्य के बहुत बडे एव महत्त्वपूर्ण अश का संचा-लन वह किया करती थी, और प्रभुतापूर्वक सभी व्यवस्था-लोप करनेवालो को शारीरिक और आर्थिक दण्ड दिया करती थी। (यह सब इस बात का स्वाभाविक परिणाम था कि) आर्खन् लोगो का निर्वाचन कुलीनता और धनवत्ता के आधार पर होता था, और अरियोपागस् (की परिषद् का) सघटन उन लोगो मे से होता था जो आर्खन् पद पर काम कर चुकते थे। इसी कारण केवल अरियोपागस् की सदस्यता ऐसा शासना-धिकार-पद है जो आज तक आजीवन चलनेवाला बना हुआ है।

४

(द्राकों की व्यवस्था (=संविधान)। सैनिक-सज्जा प्रस्तुत करनेवालो का मताधिकार। आर्खन, कोषाध्यक्ष, सेनानी एवं अश्वाध्यक्ष की योग्यता। ४०१

सदस्यों की परिषद् । सम्पत्ति के आधार पर जनसंख्या का वर्गीकरण । अरियो-पागस की स्थिति को अक्षुण्ण रखना ।)

आरभ के सविधान की रूपरेखा इसी (उपर्युक्त) प्रकार की थी। ऊपर वर्णन किये हुए वृत्तान्तो को घटित हुए अधिक समय नही हुआ था जब कि अरिस्ताइख्मस[1] के शासनकाल मे द्राको[2] ने अपने विधि-नियम निर्धारित किये। उसकी विधि-व्यवस्था निम्न-लिखित प्रकार की थी। उन सब लोगो को (नागरिकता) मतदान का अधिकार दे दिया गया जो अपने को सैनिक-सज्जा से सज्जित कर सकते थे। इन नागरिको के द्वारा नौ आर्खनो और कोशाध्यक्षो का चुनाव ऐसे व्यक्तियों के मध्य मे से किया जाता था जिनके पास ऋण-मुक्त सम्पत्ति की मात्रा दस मिना से कम नही होती थी। अपेक्षाकृत कम महत्त्ववाले अधिकारियो का चुनाव उन व्यक्तियो में से होता था जो अपने लिये सैनिकसज्जा प्रस्तुत करने की क्षमता रखते थे।[3] सेनापति और अश्वारोही सेना के अध्यक्ष उन नागरिको में से चुने जाते थे जो इतनी ऋणमुक्त सम्पत्ति दिखला सकते थे जो १०० मिना से कम न हो, तथा जिनके विधिपूर्वक विवाहिता पत्नी से उत्पन्न हुए दस वर्ष से अधिक अवस्था के बच्चे होते थे। इन अधिकारियो का कर्तव्य यह था कि वे गत वर्ष शासनाध्यक्ष, सेनापति एव अश्वारोही सेनाध्यक्ष को तब तक जमानत पर रक्खे जब तक कि उनके आयव्यय के लेखे का ठीक ठीक परीक्षण न हो जाय, तथा इस जमानत के लिये उसी वर्ग के चार प्रतिभू आवश्यक होते थे जिस वर्ग के सेनापति एव अश्वसेनाध्यक्ष स्वय होते थे। जो लोग मताधिकार-सपन्न थे उन्ही के मध्य में से शलाकाग्रहण-पद्धति से ४०१ सदस्यों की ससद् का चुनाव होता था। इस (संसद्) के लिये तथा अन्य शासनाधिकार-पदो के लिये शलाकाग्रहण उन व्यक्तियो के मध्य मे किया जाता था जो ३० वर्ष से अधिक आयु के होते थे; तथा जब तक मताधिकार-सपन्न प्रत्येक दूसरे व्यक्ति को अवसर नही मिल जाता था तब तक कोई व्यक्ति एकपद को दूसरी बार ग्रहण नही कर सकता था, तथा इसके पश्चात् पुन नये सिरे से चुनाव के लिये शलाकाग्रहण किया जाता था। जब ससद् (बूली) अथवा परिषद् (इक्ली-सिया) का सत्र (बैठक) चालू होता था, तब यदि कोई सदस्य उपस्थित न हो पाता तो यदि सदस्य पचशती[4] होता तो उसको तीन दाख्मा[5], त्रिशती होता तो (अथवा अश्वारोही होता तो) दो दाख्मा और द्विशती होता तो एक दाख्मा दण्ड देना पड़ता था। अरियोपागस की ससद् विधि-नियमो की सरक्षिका थी, तथा वह सब शासनाधि-कारियो पर दृष्टि रखती थी जिससे वे अपने अपने पद के कार्यों को विधि के अनुसार सपादित करें। जिस किसी व्यक्ति को ऐसा लगता था कि मेरे प्रति अन्याय हुआ है

उसको अधिकार था कि वह अरियोपागस की ससद् मे जाकर इसकी घोषणा करे और यह बतलाये कि उसके प्रति अन्याय होने से कौन से विधिनियम का उल्लघन हुआ है। तथापि, जैसा पहले कहा जा चुका है ऋण की जमानत (इस विधान मे भी) अधमर्ण के व्यक्तिगत शरीर पर ही थी, एव पृथ्वी (भूमि) अब भी थोडे से व्यक्तियो की थी।

५

(उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के लोगो की कलह। सोलॉन् की मध्यस्थ और आर्खन् के रूप में नियुक्ति। सोलॉन् द्वारा अपने कार्य का विवरण।)

तो जब सविधान की व्यवस्था इस प्रकार की थी, एव बहुसख्यक जनता अल्पसख्यक धनिको की दासता कर रही थी, तब जन-साधारण ने गण्यमान लोगो के विरुद्ध विद्रोह खडा कर दिया। विद्रोह की अवस्था बडी प्रबल थी, और सुदीर्घ काल तक दोनो दल एक दूसरे के विरोध मे डटे रहे, अन्ततोगत्वा उन्होने एक मत से सोलॉन् को अपना मध्यस्थ और आर्खन नियुक्त कर दिया और सविधान[1] की व्यवस्था उसी के हाथो मे सौप दी। इस नियुक्ति का कारण थी सोलॉन् की ऐलैगी (कविता) जिसका आरभ इस प्रकार था :—

देख रहा हूँ, गहरी पीडा अन्तर मे घर करती जाती,
भूमि पुरातन यवन जाति की आज दृष्टि मे मेरी आती,
आघातो से नष्ट,

इस कविता[2] मे वह बारी बारी से प्रत्येक दल की ओर से अन्य दलो के विरुद्ध कलह और विवाद करता है, और तदुपरान्त उन सब को (अपनी ओर से) यह सम्मति देता है कि वे पारस्परिक कलह को समाप्त करके आपस में सन्धि कर ले। जन्म (स्वभाव) और ख्याति (जनता की सम्मति) से सोलॉन् अपने समय का सर्वोत्तम व्यक्ति था, पर वित्त और (सामाजिक) स्थिति मे मध्यस्थानीय था, उसकी ऐसी स्थिति थी इस विषय मे सबका मत एक है। सच तो यह है कि जब वह इस कविता मे धनी लोगो को अनुचित प्रकार से लोलुप न होने की सलाह देता है तो उसका सामाजिक स्थान स्वत उसी के साक्ष्य से निर्णीत हो जाता है। (वह कहता है)

तुम कुछ शान्त बनो निज उर मे तनिक धैर्य को धारो,
तुम, जो हो परिपूर्ण सुसम्पत् से, यह तनिक विचारो,
बढे मन को सयम सिखलाओ, लो यह जानी।
हम न सहेंगे सदा, तुम्हारी अब न चले मनमानी॥

वह तो वास्तव में इस सामाजिक कलह के कारणो को पूर्णतया धनवानो पर ही अवलबित मानता है. इसी लिये इस कविता के आरभ मे उसने कहा है कि "रजत-लिप्सा और मदमत्तता मे" मुझे भय लगता है, जिससे उसका अभिप्राय यही है कि इन्ही (दुर्गुणो) के कारण घृणा फूट पडी थी।

६

(ऋण-भार-निवारण)

ज्यो ही सोलॉन् शासन-सचालन कार्य का अधिपति बना त्यो ही उसने जनसाधारण के शरीर की जमानत पर ऋण देने के नियम पर प्रतिबन्ध लगाकर सर्वसाधारण को स्वतत्र कर दिया, तथा उसने ऐसे नियम बनाये, जिनसे उसने व्यक्तिगत एव सार्वजनिक सभी ऋणो को समाप्त कर दिया। यह व्यवस्था "सइसा क्थइया" (ऋण-भार-निवारण) कहलाती है, क्योकि इसके द्वारा साधारण जनता का (ऋण--) भार दूर हो गया। इस व्यवस्था के सबध में कुछ लोग स्वय उसके ऊपर भी दोषारोपण करते है। हुआ यह कि जब सोलॉन् इस व्यवस्था का विधान करनेवाला था तो उसने अपने इस विचार में कुछ उच्चवर्ग के गण्यमान व्यक्तियो को पहले ही अवगत कर दिया, इस पर, जैसा कि जनसाधारण-दल के लोगो का कहना है, उसके मित्रो ने अत्यन्त शीघ्रता करके पहले ही अपना कार्य सिद्ध कर लिया, दूसरी ओर जो उसके चरित्र को दूषित ठहराने के इच्छुक थे उनका कहना है कि इस प्रतारणा (से होनेवाले लाभ) में उसका भी भाग था। क्योकि इन लोगो ने ऋण लेकर बहुत अधिक मात्रा मे भूमि खरीद ली, तथा जब इसके थोडे ही समय पश्चात् सब ऋणो का निरसन हो गया तो यह लोग धनसम्पन्न हो गये। कहते है, इस प्रकार से उन कुटुम्बों की उत्पत्ति हुई जो आगे चलकर प्राचीन काल के धनी कुटुम्ब माने गये। यह सब कुछ होते हुए भी जन-साधारण-दल का मत ही अधिक विश्वास के योग्य प्रतीत होता है। वह व्यक्ति (अर्थात् सोलॉन्) जो अपने सब अन्य कार्यों मे इतना मर्यादित एव सर्वहितनिरत था कि, जब सब को पददलित करके अपने को नगर का अधिनायक बना लेना उसके वश की बात थी तब ऐसे समय में भी उसने अपने व्यक्तिगत महत्त्व को प्राप्त करने की अपेक्षा अपने सम्मान और सार्वजनिक भलाई को उच्च स्थान देकर उभय दलो के विद्वेष को ही वरण किया, उसके विषय मे यह उचित नही प्रतीत होता कि वह इतनी तुच्छ एव स्पष्ट दिखलाई देनेवाली प्रवचना से अपने चरित्र को कलकित करने के लिये सहमत हुआ होगा। और यह तथ्य इतनी महान् (सर्वोपरि) सत्ता प्राप्त थी,

प्रथम तो, देश की तत्कालीन दुर्दशा से ही स्पष्ट है, फिर उसने स्वय भी अपनी रचनाओ मे इसका अनेक बार उल्लेख किया है, तथा इस विषय मे सब अन्य व्यक्ति भी एकमत है। अतएव हम इस दोषारोपण को झूठा मानने के लिए विवश है।

७

(सोलॉन् का संविधान। वित्तानुसार जनता का वर्गीकरण)

इसके उपरान्त सोलॉन् ने दूसरा काम यह किया कि (नये) सविधान को स्थापित और नियमो को निर्धारित किया। द्राको के विधिनियमो का प्रयोग बन्द हो गया; पर हत्या सम्बन्धी नियम इसमे अपवाद थे। (अर्थात् द्राको ने जो नियम हत्या के सबध मे बनाये थे वे चालू रहे)। यह विधिनियम काष्ठस्तम्भो[1] पर उत्कीर्ण किये गये और राजा के द्वार-प्रकोष्ठ पर स्थापित कर दिये गये थे, तथा सब ने उनका पालन करने की शपथ ली। नौ प्रमुख शासनाधिकारियो ने शिला[2] के ऊपर शपथ ली थी और यह घोषणा की थी कि यदि वे किसी भी नियम का उल्लघन करेंगे तो स्वर्ण-प्रतिमा समर्पित करेंगे। इसी से अब तक इसी प्रकार की शपथ की जाती है। सोलॉन् ने इन नियमो को सौ वर्ष के लिये प्रमाणित किया था, तथा सविधान की व्यवस्था उसने निम्नलिखित प्रकार से की थी। जैसे कि पहले जनता का विभाजन था, उसी प्रकार उसने भी जन-सख्या को (व्यक्तिगत)—वित्तानुसार चार वर्गो मे विभाजित कर दिया—ये वर्ग थे पचशती[3], अश्वारोही, द्विशती और थीत (=अर्थात् निर्धनवर्ग)। नौ प्रमुख शासको, कोषाध्यक्षो, सार्वजनिक ठेको के आयुक्तो, एकादश (काराध्यक्षो), एव कोषगणको[4] इत्यादि के शासनाधिकार पदो को उसने पचशती, अश्वारोही एव द्विशती लोगो के लिये नियोजित कर दिया, जिसकी परिगणनीय सम्पत्ति का जितना मूल्य होता था उसको उसी के अनुसार पद दिया जाता था। थीतो के वर्ग मे गिने जाने-वाले (निर्धन) लोगो को उसने केवल परिषद् और प्रमाणपुरुषमण्डली (जूरी) मे ही स्थान प्रदान किया। जो व्यक्ति अपनी भूमि से शुष्क अथवा द्रव (पदार्थ) की पाँच सौ मात्राएँ उत्पन्न करता था वह पचशती वर्ग के अन्तर्गत गिना जाता था, (इसका ग्रीक नाम पेन्ताकोसिकमेदिम्नस् था)। अश्वारोही वर्ग के अन्तर्गत उनकी गिनती होती थी जो ३०० मात्राएँ उत्पन्न करते थे, अथवा (जैसा कि कुछ लोगो का कहना है) जो एक घोडे के भरण-पोषण की सामर्थ्य रखते थे। इस (द्वितीय) परिभाषा के समर्थन मे वे इस वर्ग के नाम (हिप्पीस=अश्वारोही) को चिह्न स्वरूप प्रस्तुत करते है, जो इसी तथ्य के कारण पडा होगा। इसके अतिरिक्त इसके समर्थन मे वे कुछ

पुरातन सकल्पानुष्ठित कृतियो का भी साक्ष्य उपस्थित करते है, क्योकि अक्रोपॉलिस-मे डिफिलस[1] की मूर्ति एक इसी प्रकार की कृति है, जिस पर निम्नलिखित कथन उत्कीर्ण है —

डिफिलस का हूँ पुत्र मै, अथैमियन् स्वनाम ।
थीत वर्ग को त्याग पा सादी वर्ग ललाम ।।
(देवकृपा मुझ पर हुई, इसका यह परिणाम ।)
उसका मै इस भाँति से करता हूँ सम्मान ।।

तथा अश्वारोही शब्द का क्या अर्थ होता था इसको लक्षित करने के लिये मनुष्य की मूर्ति के पार्श्व मे घोडा खडा हुआ है । तथापि यह भी समीचीन प्रतीत होता है कि जिस प्रकार पचशती वर्ग एक निश्चित मात्राओ की आय को सूचित करता था उसी प्रकार यह वर्ग भी सुनिश्चित मात्राओ की सख्या का निर्देश करता था । द्विशती वर्ग मे उन लोगो की गणना होती थी जो शुष्क अथवा द्रव पदार्थ की दो सौ मात्राओ का उत्पादन करते थे, अन्य सब लोग थीतकोटि मे आते थे, तथा उनको किसी शासनाधिकार मे भाग नही मिलता था । इसी लिये आज भी जब किसी शासनपद के इच्छुक व्यक्ति से पूछा जाता है कि वह किस वर्ग का है, तो कोई भी यह नही कहता कि मै थीत वर्ग का हूँ ।

८

(शासनाधिकारियों के चुनाव की पद्धति । जातियाँ, तिहाइयाँ, नौक्रारियाँ =बारहवें भाग । चारसौ की संसद । अरियौपागस् की संसद; उसकी अध्यक्षता का अधिकार । नागरिक उपप्लव के समय तटस्थ रहने का दण्ड ।)

विभिन्न पदो के अधिकारियो का चुनाव करने के लिए सोलॉन् ने यह नियम बनाया था कि उनका चुनाव प्रत्येक 'गण'[1] अथवा 'जन' के द्वारा चुने हुए प्रार्थियो में से गुटिकाग्रहण (by lot) द्वारा होना चाहिये । नौ आर्खन-पदों के लिये प्रत्येक 'जन' अपने मध्य मे से १० प्रार्थी चुनता था और इनके मध्य में से गुटिकाग्रहण द्वारा नौ आर्खन् चुने जाते थे । इसी से यह रीति आज तक चली आ रही है कि प्रथम तो प्रत्येक 'जन' अपने मे से गुटिका-ग्रहण द्वारा दस प्रार्थी चुन लेते है और तब पुन इन चुने हुए व्यक्तियो मे से शिबिकाग्रहण द्वारा चुनाव होता है । सोलॉन् ने शासनपदो के चुनाव को सम्पत्तिशाली वर्गों के अनुसार निर्धारित किया था इसका प्रमाण तो उस नियम मे

मिल जाता है जो कोषाध्यक्ष के चुनाव के विषय मे आज तक चला आ रहा है। इस नियम की आज्ञा है कि कोषाध्यक्ष पचशतीवर्ग मे से चुने जाने चाहिये। नौ आर्कनो के संबध मे सोलॉन् का नियम इस प्रकार का था। पर इसके पूर्व प्राचीन काल मे अरियोपागस् की परिषद्[२] अपनी बुद्धि के अनुसार उपयुक्त व्यक्तियो को आमंत्रित करके उनको वर्ष भर के लिये पृथक् पृथक् पदो पर नियुक्त कर देती थी। जैसा पुरातन समय मे था वैसे ही इस समय मे (समग्र नगर मे) चार 'जन' थे और चार 'जनराज' थे। प्रत्येक 'जन' तीन तिहाइयो मे विभक्त था और इन तिहाइयो मे से प्रत्येक मे १२ "नौक्रारियाँ"[३] थी। प्रत्येक नौक्रारिया के अपने नियुक्त किये हुए पदाधिकारी होते थे जो नौक्रारी कहलाते थे, तथा जिनका काम होनेवाले (जायमान) आय और व्यय की व्यवस्था करना था। अतएव सोलॉन् के उन नियमो मे, जिनका चलन अब नही रहा है, अनेक बार ऐसा उल्लेख किया गया है कि "नौक्रारी लोग नौक्रारीनिधि का सचय और व्यय कर सकते है।" उसने चार सौ सदस्यो की एक ससद की भी स्थापना की जिसमे प्रत्येक 'जन' मे से एक सौ सदस्य लिए गये थे, पर अरियोपागस् की परिषद् के लिए उसने नियमो की देखभाल (चौकसी) करने का कार्य नियत किया, अर्थात् जिस प्रकार यह परिषद् आदि काल से पहले भी सविधान की रक्षा का काम करती रही थी, वही कार्य इस समय भी इसको सौपा गया। जो राज्य सबधी अधिक महत्त्वपूर्ण विषय थे उनमे से अधिकाश पर यह परिषद् चौकसी रखती थी, एव उसको अर्थदण्ड एव शरीरदण्ड दोनो ही प्रकार के दण्ड देने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था (और इसी के द्वारा) वह अपराधियो को सुधारा करती थी। दण्ड द्वारा जो धन प्राप्त होता था उसको यह परिषद् अक्रोपोलिस[४] मे एकत्रित करती थी तथा दण्ड के लिए कोई हेतु नही बतलाती थी। यह परिषद् उन लोगो पर मुकदमा चलाती थी जो शासन को लौटाने के लिये षड्यत्र किया करते थे, सोलॉन् ने अपराधियो पर अभियोग चलाने की पद्धति भी निर्धारित कर दी थी। सोलॉन् ने देखा कि राज्य मे आन्तरिक कलह उठ खडी होती है, जब कि कुछ नागरिक आलस्य और अविचार के कारण किसी भी कलह-परिणाम को स्वीकार कर लेते थे, अतएव उसने ऐसे मनुष्यो को ही दृष्टि मे रखकर उनके सबध मे एक विशिष्ट नियम बनाया। यह नियम इस प्रकार का था कि यदि नगर के दो दलो मे कलह होने पर जो व्यक्ति उनमे से किसी एक के पक्ष मे शस्त्रग्रहण करके नही लडेगा, तो उसको अयोग्य ठहराया जायगा और उसको नागरिकता का कोई अधिकार नही रहेगा।

९

(सोलॉन् के संविधान के जनतंत्रात्मक अंग (क) शरीर की (जमानत) सुरक्षा पर ऋण का निषेध; (ख) अन्याय के प्रतिकार-सामान्य अधिकार; (ग) न्यायमण्डल के समक्ष पुनर्विचार की प्रार्थना का अधिकार।)

शासनाधिकारियो के विषय मे उसका नियम-विधान इस प्रकार का था। तीन बाते ऐसी है जो सोलॉन् के सविधान की अत्यन्त जनतत्रात्मक विशेषताएँ प्रतीत होती है। प्रथम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि अधमर्ण (ऋणी) के शरीर की जमानत (सुरक्षा) पर ऋण देने का निषेध हो गया, दूसरे प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार दिया गया कि यदि वह चाहे तो ऐसे किमी भी व्यक्ति के पक्ष मे जिसके प्रति अन्याय किया गया हो, अन्याय के प्रतिकार की माँग कर सकता है, तीसरी बात, (जिससे सर्वसाधारण जनता को सामान्यतया सबसे अधिक शक्ति प्राप्त हुई कही जाती है), थी सार्वजनिक न्यायालयो के समक्ष पुनर्विचार की प्रार्थना का अधिकार। जब सामान्य जनता को गुटिका पर सत्ता प्राप्त हो जाती है तो उसको सविधान पर भी स्वामित्व प्राप्त हो जाता है। और फिर क्योकि नियम न तो सरलता से और न स्पष्टता से लिखे गये थे, प्रत्युत उत्तराधिकार और रक्षितो की सम्पत्ति के नियमो के समान (अस्पष्ट) थे, अतएव अनेक विवाद अनिवार्यतया उत्पन्न होते थे, एव प्रत्येक विवाद का निर्णय सार्वजनिक न्यायालयो को करना पडता था, चाहे तो वे विवाद सार्वजनिक हो और चाहे व्यक्तिगत। कुछ लोग तो वास्तव मे यहाँ तक मानते है कि सोलॉन् ने नियमो को जानबूझकर इसी उद्देश्य से अस्पष्ट बनाया था जिससे अन्तिम निर्णय करने की सत्ता साधारण जनता की मुट्ठी मे रहे। किन्तु यह बात तो सत्य जैसी नही प्रतीत होती, क्योकि सामान्य भाषा मे नियम निर्धारित करने मे आदर्श उत्तमता (परिपूर्णता) को प्राप्त कर लेना शक्य नही है। हमको उसके अभिप्राय का विचार, उसके नियमो के एतत्कालीन परिणामो के द्वारा नही प्रत्युत उसके शेष सविधान के सामान्य दृष्टिकोण से करना चाहिये।

१०

(मुद्रा, भार, एवं माप के मानदण्डों के संबंध में सोलॉन् के सुधार।)

उसके नियमो मे वास्तव मे यही जनतत्रात्मक तत्त्व प्रतीत होते है, पर इसके अतिरिक्त, इन नियमो की स्थापना के पूर्व उसने ऋणोच्छेद कार्य को पूरा किया एवं

इनके उपरान्त उसने भार और माप (नापतौल) के मानदण्ड और मुद्रा मे वृद्धि की। उसके (शासन) काल मे नाप फैइदॉन् के समय की अपेक्षा अधिक कर दी गई, मीना नामक मुद्रा जो इसके पूर्व ७० द्राख्मा का होता था अब पूरे सौ द्राख्मा की हो गयी। प्राचीन समय मे मुद्रित मुद्रा द्विद्राख्मा थी। उसने तौल को भी मुद्रा के ही अनुरूप कर दिया, एक तलान्त[२] मे ६३ मीना होने लगे, यह जो ऊपर के तीन मीना थे यह स्तातीर एव अन्य (छोटी) मुद्राओ के अशो मे भी बाँटे गये।

११

(सोलॉन् के सुधारो के विषय में जनसाधारण की सम्मति)

जब उसने ऊपर वर्णन किये हुए प्रकार से सविधान की व्यवस्था को पूरा कर दिया, तो उसने देखा कि लोग उसके पास आकर उसको उसके द्वारा निर्धारित नियमो के विषय मे तग करने लगे, वे कभी उनकी निन्दा करते और कभी आलोचना। वह न तो अपने द्वारा निश्चित नियमो को बदलना ही चाहता था और न (अथेस मे रहकर) सबकी घृणा का पात्र बनना, अतएव वह व्यापार और देशदर्शन के उद्देश्य से मिस्र की यात्रा को चला गया और यह कह गया कि दस वर्ष तक नही लौटूँगा। उसका विचार यह था कि इन नियमो की स्वय व्याख्या करना उसका काम नही, प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति को उन नियमो को यथालिखित रूप मे पालन करना चाहिये। इससे उसकी स्थिति बहुत अप्रिय हो गयी थी। ऋणो की समाप्ति के कारण धनीमानी गण्यमान लोगो मे से बहुत से उससे असहमत हो गये। सविधान मे उसके परिवर्तन से जो अनोखी स्थिति उत्पन्न हुई उससे असन्तुष्ट होकर दोनो ही दल उससे अप्रसन्न हो गये। जनसाधारण ने उससे यह आशा लगा रक्खी थी कि वह सम्पत्ति का पूर्णतया नये सिरे से विभाजन कर देगा, दूसरी ओर धनीधोरी लोगो ने यह आशा बाँधी थी कि वह सब बातो को पूर्व पुरातन स्थिति पर पहुँचा देगा, अथवा बहुत थोडा-सा परिवर्तन करेगा। पर उसने तो दोनो ही दलो का विरोध किया। (यद्यपि) दोनो दलों मे से, वह जिसको भी चाहता उसके साथ मिलकर अपने को अधिनायक (अथवा तानाशाह) बना लेना उसके वश की बात थी, तथापि उसने दोनो ही दलो के दौर्मनस्य का भाजन बनकर भी अपनी पितृभूमि का त्राता एव श्रेष्ठ सविधाता बनना पसद किया।

१२

(सोलॉन् की नीति के विषय में उसके अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करनेवाले उसकी कविता के उद्धरण ।)

सोलॉन् की नीति के विषय मे इस दृष्टिकोण की तथ्यता एक तो अन्य सब लोगो के मतैक्य से सिद्ध हो जाती है, दूसरे स्वय उसके अपने उस उल्लेख से भी सिद्ध हो जाती है जो उसने इस विषय मे निम्नलिखित कविता मे किया है .—

साधारण जनदल को मैंने पददान दिया समुचित सादर ।
अपहरण किया सम्मान नही, बढने न दिया हद के बाहर ।।
वे जो थे बलशाली समृद्ध सम्पदापूर्ण सब विधि शोभन ।
आदेश किया मैंने उनको हो वे न कभी किञ्चित् शोभन ।।
दोनो के मध्य खडा था मै दृढ ढाल लिये कर मे अपने ।
कोई पूरे कर पा न सका अन्यायपूर्ण जय के सपने ।।

फिर, सर्वसाधारण के विषय मे उसने यह प्रदर्शित किया कि उनके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाना चाहिये,

यूँ अच्छा जनता नेताओ का मानेगी कहना,
अति मृदुता, कठोरता-वर्जित जब हो उसका रहना ।
जन्म दर्प-सुत का होता जब अति सम्पदा बरसती ।
उस मानव पर मन मे जिसके समता नही सरसती ।।

फिर एक दूसरे स्थान पर वह उन मनुष्यो के विषय मे इस प्रकार कहता है जो भूमि का पुनर्विभाजन चाहते थे ।

दृष्टि लूट पर रखते आये आशा करते धन की ।
व्यक्ति व्यक्ति सुख सम्पति पाये यही लालसा मन की ।
मुझको समझे मृदुल-कोष मे छिपा कठिन अन्तस्तल ।
तब जडता-वश ग्रह विचार, अब मेरे द्वेषी प्रतिपल ।
तिरछी आँखो मुझे घूरते वैर झलकता जिनसे—
किन्तु नही औचित्य, किया जो कहा रहे सुर त्राता
सीमा लाँघी नही मूर्ख हो, और न मुझको भाता
अधिनायकपन, बलप्रयोग औ' पितृभूमि जो प्यारी
भले बुरो से एक तुल्य भोगो जाती न निहारी ।

इसके उपरान्त पुन. एक बार वह ऋणभार को दूर करने, तथा जो लोग दासता करते थे उनको ऋण-भार-मोचन द्वारा स्वतत्र करने की चर्चा करता हुआ कहता है —

जो विचार ले मैंने जनता को निज सँग मे जोडा
बिना किये कब रुका, अधूरा किसको मैंने छोडा ?
समय आय, तू साक्ष्य न्याय के प्रकरण मे तब देना
ओलिम्पीय देवताओ की जननी, सुन लेना
श्रेष्ठश्यामवर्णे भुवि, जिसको कभी किया था मैंने—
मुक्त कीलको[1] से जो बहुधा गडे वक्ष मे तेरे ,
तू थी पूर्वबन्दिनी पर अब हुई स्वतत्र धरे हे !
बहुसख्यक अथेन्स के वासी देवनिर्मिता भू से
पितरो की बिछुडे, बिक सागर पार न्याय से झूठे
अथवा नियमो ही से चाहे, और बहुत से जो सब
भाराक्रान्त विवश हो ऋण से, नही बोलते थे अब
वाणी अत्तीका[2] प्रदेश की, दूर दूर थे भागे ,
मै सबको घर लाया फिर से भाग्य सभी के जागे ।
और यही, दासत्व अशोभन मे निमग्न जो जन थे
प्रभु के रोष समक्ष सर्वदा कम्पित जिनके मन थे
मैंने उनको भी स्वतत्र कर दिया, हुआ यह सब कुछ
नियमो के बल से, फिर जोडा शक्ति नीति को सयुत
किया, तथा इस भाँति प्रतिज्ञा अपनी सभी निबाही—
बुरे भलो के लिये एक-सा नियम बनाया मैंने ,
सीधा प्रति-जन हेतु न्याय का मार्ग चलाया मैंने ।
अकुश होता अन्य हाथ मे, यथा हाथ मे मेरे
औ' होता दुर्वृत्त मनुज वह पडा लोभ के फेरे ,
उसने कभी न रोका होता जनता को ।[3] यदि भाता
मुझको कभी एक जनदल की मनमानी का खाता ,
और कभी प्रतिपक्षी-दल के कहे मार्ग पर जाता
तो यह राष्ट्र बहुत से वीरो से वचित हो जाता ।
अत शक्ति निज सभी ठौर पर मैंने सदा चलाई ,
कुक्कुर-दल पर लौट टूट पडते वनवृक की नाई ।

और फिर वह दोनो दलो को पीछे असन्तुष्ट रहने के कारण बुरा-भला कहता है।

दोष योग्य हो यदि कोई तो दोष चाहिये देना
पर जिनको सुख आज प्राप्त है, क्या उस सुख का लेना
देखा था सपने मे भी?
और बडे जो लोग महत् जीवन जिनका है अभिमत
उन्हे चाहिये योग्य बन्धुवत् करना मेरा स्वागत।

क्योकि उसने कहा है कि यदि किसी अन्य व्यक्ति को यह सम्मानपूर्ण पदवी प्राप्त हुई होती तो,

न तो रोकता जनदल को ही, और स्वय कब रुकता
आत्मसात् जब तक न मलाई पूरी वह कर चुकता
मै तो, किन्तु, मध्य में इनके डटा रहा हूँ ऐसे
शत्रुदलो के मध्य पक्ति सीमा की रहती जैसे।

१३

(राजनीतिक कलह का चालू रहना। दामासिया का शासन काल। तीन राजनीतिक दल--(१) समुद्रतट का दल (२) मैदान का दल और (३) पर्वतीय दल।)

अत सोलॉन् के अपने देश को त्यागने और विदेश मे प्रवास करने के कारण उपर्युक्त थे। उसके प्रवास मे चले जाने पर भी नगर की दशा क्षुब्ध ही बनी रही। चार वर्ष तो जनता ने जैसे-तैसे शान्ति से बितायें, पर सोलॉन् के शासन के पश्चात् पाँचवे वर्ष मे वे पारस्परिक कलह के कारण प्रमुख आर्खन को चुनने मे असमर्थ रहे। इसके पश्चात् फिर चार वर्ष व्यतीत हो जाने पर इन्ही कारणो से उन्होने अराजकता को ही बनाये रक्खा। इसके उपरान्त पुन. एक ऐसे ही कालाश के व्यतीत हो जाने पर दामासियास्[१] को आर्खन चुना गया, उसने दो वर्ष और दो महीने शासन किया--अर्थात् जब तक बलपूर्वक अपने पद से हटा न दिया गया। तत्पश्चात् समझौते के रूप में दस आर्खन (शासक) चुनने का निश्चय किया गया; पाँच कुलपुत्रो मे से, तीन कृषक-दल मे से और दो श्रमिक अथवा शिल्पीदल मे से। दामासियास् के शासन की समाप्ति के पश्चात् इन्होने एक वर्ष शासन-कार्य किया। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय आर्खन ही सबसे अधिक शक्तिशाली शासन-पदाधिकारी (मजिस्ट्रेट) था, क्योकि उसी के पद के (चुनाव के) विषय मे सर्वदा कलह होती प्रतीत होती है। सामान्यतया उस समय जनता लगातार आन्तरिक रुग्णावस्था (सामाजिक अव्यवस्था) में निमग्न थी, कुछ लोगो को तो अपने असन्तोष का आरम्भ और मूलभूत-कारण ऋण की

समाप्ति मे प्रतीत हुआ, क्योकि वे इसी के कारण धनहीन हो गये थे, अन्य कुछ लोग सविधान की व्यवस्था से अप्रसन्न थे कि उसमे बहुत अधिक परिवर्तन हो गये थे, और कुछ लोगो की अप्रसन्नता का कारण उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा की भावना थी। इस समय राजनीतिक दल तीन थे, इनमे प्रथम दल समुद्र-तट का दल कहलाता था, जिसका नेतृत्व अल्कमियन् के पुत्र मेगाक्लीस के हाथ मे था, एव ऐसा ख्याल किया जाता था कि इस दल का लक्ष्य मध्यम कोटि (सयत प्रकार) की शासन-व्यवस्था प्रचलित करना था। दूसरा दल था मैदान का दल, जो धनिकतत्र (ऑलिगार्की) स्थापित करने का इच्छुक था, इसका नेता था लिकरगस्। तीसरा दल था पर्वतीय दल जिसका मुखिया पिसिस्त्रातस् था, तथा जिसको घोर जनतत्रवादी माना जाता था। इस तीसरे दल को कुछ तो उन लोगो ने बढाया जो ऋण-निरसन के कारण निर्धनता के हेतु इससे आ मिले, दूसरे उन लोगो ने बढाया जो शुद्ध जाति[२] के न होने के कारण इसके साथ मिल गये क्योकि उनका भय व्यक्तिगत था। इसका प्रमाण यह है कि (पिसिस्त्रातस्की)[३] तानाशाही के पतन के पश्चात् मतदाता नागरिको की सूची का इसलिये सशोधन किया गया कि बहुत से ऐसे लोग मत का प्रयोग कर रहे थे जिनको ऐसा करने का कोई अधिकार नही था। इन दलो के नाम उन प्रदेशो के कारण पडे थे जहाँ उनके द्वारा अधिकृत क्षेत्र (इत्यादि) थे।

१४

(पिसिस्त्रातस् द्वारा बलपूर्वक शासन ग्रहण। उसका प्रथम निष्कासन एवं पुनः संस्थापन)

पिसिस्त्रातस् के विषय मे यह माना जाता था कि वह परले सिरे का जनतत्री है और तिस पर उसने मेगारा के युद्ध मे भी अपने को अत्यन्त विख्यात कर लिया था। इन सब सुविधाओ का लाभ उठाकर, उसने अपने को घायल किया और यह प्रदर्शित किया कि मेरे राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियो ने मुझे आहत किया है, तथा अरिस्तियोन द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव पर जनता को अपने लिए अगरक्षक प्रदान करने के लिए मना लिया। जब उसको यह 'गदाधारी' कहलानेवाले अगरक्षक मिल गये तो उसने इनके साथ जनता पर चढाई कर दी और अक्रोपोलिस पर अधिकार कर लिया। यह घटना (सोलॉन् के) सविधान की स्थापना के ३२ वर्ष[१] पश्चात् कौमियस् के शासन- (= आर्खन्) काल मे घटित हुई। कहते है कि पिसिस्त्रातस् के अगरक्षको की मॉग करने पर सोलॉन् ने उसका विरोध किया और कहा कि इस प्रकार विरोध करके उसने अपने को आधी जनता से अधिक बुद्धिमान् और शेष जनता से अधिक बलवान् (अर्थात् निर्भय)

सिद्ध कर दिया, —जो लोग यह नही जानते कि पिसिस्त्रातस् का लक्ष्य अपने को अधिनायक बनाना है उनसे अधिक बुद्धिमान् और जो यह जानते हुए भी चुप है उनसे अधिक बलवान् (निर्भय)। जब उसके सब कुछ कहने-सुनने का कोई फल नही हुआ तो उसने अपने कवच को ले जाकर अपने द्वार के सामने रख दिया और कहा कि मैंने तो, जब तक मुझमे शक्ति रही, अपनी पितृभूमि की सहायता की (इस समय वह बहुत वृद्ध हो चुका था) अब अन्य सब लोगो को भी ऐसा ही करना चाहिये। पर उसके इस सप्रबोधन का कुछ भी परिणाम नही निकला। पिसिस्त्रातस् ने सर्वोच्च सत्ता को हस्तगत कर लिया, उसका प्रशासन तानाशाही की अपेक्षा विधि-विहित शासन से अधिक मेल खाता था। अभी उसकी शासन-शक्ति की जड भले प्रकार नही जमने पाई थी कि मेगाक्लीस और लिकरगस् के अनुयायियो ने परस्पर मेल करके उस (पिसिस्त्रातस्) को निकाल बाहर किया। यह घटना उसके शासन की प्रथम स्थापना के ६ वर्ष पश्चात् हेगेसियास् के राज्य-(आर्खन) काल मे हुई थी। इसके १२ वर्ष उपरान्त, मेगाक्लीस ने दलबन्दी की कलह से तग आकर पिसिस्त्रातस् के साथ सधि की चर्चा छेडी, और उस (पिसिस्त्रातस्) को अपनी पुत्री ब्याह देने का प्रस्ताव किया, एव इस शर्त पर वह उसको एक बडे पुराने और सरल उपाय से पुन' अथेस मे ले आया। पहले तो उसने यह किवदन्ती फैला दी कि देवी अथेना पिसिस्त्रातस् को पुन. लौटाकर लानेवाली है, और तदुपरान्त उसने एक स्त्री को खोज निकाला जो अत्यन्त विशालकाय और सुन्दर थी, तथा जिसका नाम फूए था (हीरोडोटस के मतानुसार यह स्त्री पेआनिया मुहल्ले की रहनेवाली थी और अन्य लोगो का कहना है कि थ्राक देश की फूल बेचनेवाली (मालिन थी और कौलीटस मुहल्ले मे रहती थी)। मेगाक्लीस ने उसको देवी के सदृश वेशभूषा से सज्जित किया और उसको पिसिस्त्रातस् के साथ नगर में ले आया। पिसिस्त्रातस् ने उस स्त्री को अपने पार्श्व मे रथ मे बैठाकर नगर मे प्रवेश किया, तथा नगर-निवासियो ने आश्चर्य से स्तम्भित हो बडी पूजा और अर्चा के साथ उसका स्वागत किया।

१५

(पिसिस्त्रातस् का पुनः दूसरी बार निष्कासन, एवं अन्तिम स्थापन। जनता का निःशस्त्रीकरण)

इस प्रकार उसका प्रथम प्रत्यागम घटित हुआ। इस प्रत्यावर्तन के लगभग सात बर्ष उपरान्त उसको दूसरी बार निर्वासित कर दिया गया तथा वह अधिक समय तक इस पद पर नही टिक सका, कारण यह था कि मेगाक्लीस की पुत्री के प्रति पत्नी की

भाँति व्यवहार नही करना चाहता था। अतएव उसको यह भय हुआ कि कही दोनो विरोधी दल उसके विरुद्ध मिल न जायँ, और इसी भय के कारण वह स्वय देश को छोड-कर निकल गया। पहले तो उसने थर्मेयी की खाडी मे स्थित रायकेलस् नामक स्थान पर एक उपनिवेश बसाया, वहाँ से वह पागेयस पर्वत के समीपवर्ती देश की ओर चला गया। यहाँ उसने धनोपार्जन किया और वेतनार्थी सिपाहियो को भाडे पर एकत्रित किया, एव जब ११ वर्ष बीत गये तो वह ऐरेट्रिया की ओर लौटा, तथा वहाँ के शासन को बलपूर्वक हस्तगत करने का प्रयत्न किया। इस कार्य मे उसे और बहुत से दूसरे लोगो से सहायता मिली, विशेषकर थीबैस निवासियो से, नाक्सासनिवासी लीग-दामिस से एव उन अश्वारोही सरदारो से जो ऐरेट्रिया की शासन-व्यवस्था मे बहुत सत्ताशाली थे। पल्लेने के युद्ध की विजय के उपरान्त उसने अथेस को भी हस्तगत कर लिया, और जब उसने प्रजाजनो के शस्त्रास्त्रो को अपने अधिकार मे कर लिया तब कही जाकर उसके अधिनायकत्व की सुदृढ स्थापना हो सकी, और तभी वह नाक्षॉस् पर अधिकार करके लीगदामिस को वहाँ का शासक बनाने मे समर्थ हो सका। जनता के हथियारो का अपहरण उसने निम्नलिखित प्रकार से किया। उसने जनता को सब शस्त्रास्त्रो से पूर्णतया सज्जित होकर थेसियन्[1] के पास सैनिक प्रदर्शन करने का आदेश किया, और वहाँ वह एक व्याख्यान देने लगा। वह अभी थोडी देर बोल पाया था कि जनता ने कहा कि हमको सुनाई नही दे रहा है। तब उसने उनको आदेश किया कि अक्रोपोलिस के प्रवेश-द्वार के समीप आ जायँ, जिससे कि वे उसके उद्घोष को भली भाँति सुन सके। जब कि इधर वह उनके समक्ष एक लम्बी वक्तृता दे रहा था, तब दूसरी ओर कुछ मनुष्यो ने, जिनको उसने इसी कार्य के लिये नियुक्त किया था, सब हथियारो को एकत्रित करके समीपवर्ती थेसियन की कोठरियो मे ताले मे बन्द कर दिया, एव पिसिस्त्रातस्के पास आकर सकेत किया कि कार्य हो चुका। अतएव, उसने, जो कुछ और कहना शेष रह गया था उसको कहकर, जनता को यह भी बतला दिया कि उनके हथियारो का क्या हुआ, इसके पश्चात् उसने उनसे कहा कि "तुमको चकित अथवा भयभीत नही होना चाहिये, किन्तु अपने अपने घर जाकर अपना काम देखना चाहिये; भविष्य में सार्वजनिक (राष्ट्रीय) कार्यो की सार-सँभाल (चिन्ता) केवल मै ही करूँगा।"

१६
(पिसिस्त्रातस् के शासन की विशेषताएँ)

पिसिस्त्रातस् की तानाशाही[1] के आरम्भ और स्थापना का प्रकार एव उसमे होने-वाले उतार-चढाव इस (उपर्युक्त) ढग के थे। पिसिस्त्रातस ने नगर की व्यवस्थ.

(जैसा कि कहा जा चुका है) मध्यम (सयत) प्रकार से की, उसका शासन तानाशाह की अपेक्षा, विधि-विहित शासक की पद्धति से अधिक मेल खाता था। वह केवल सर्वथा दयालु एव मृदुल तथा अपराधियो को क्षमा करने के लिये उद्यत रहनेवाला ही नही था, प्रत्युत उसकी एक विशेषता यह थी कि वह निर्धन लोगो को व्यवसाय चलाने के लिये ऋण भी दिया करता था जिससे कि वे कृषिकर्म करते हुए अपनी जीविका उपार्जन कर सके। इस उपाय से दो काम बनते थे—प्रथम तो वे लोग अपना समय बस्ती (नगर) मे नही बिता सकते थे। किन्तु नगर के बाहर खेतो मे बिखरे रहते थे। दूसरे क्योकि वे साधारणतया सम्पन्न थे और अपने अपने व्यक्तिगत कार्यों मे व्यापृत रहते थे, अतएव न तो उनको सार्वजनिक कार्यों मे ध्यान लगाने की इच्छा ही हो सकती थी और न समय ही मिल सकता था। इसके साथ ही यह भी हुआ कि क्षेत्रो के पूर्णतया जोते-बोये जाने के कारण उसके कर की आय मे भी वृद्धि हुई, क्योकि उसने सब प्रकार की उपज पर दशमाश कर लगाया था। इसी लिये उसने स्थानीय जनन्यायालयो की स्थापना की थी एव वह स्वय भी बहुधा देहात में (उन लोगो की दशा का) निरीक्षण करने तथा व्यक्तियो के झगडे सुलझाने के लिये जाया करता था, जिससे वे (कृषक) स्वय नगर मे न आये और अपने खेतो की उपेक्षा न कर सके। इन्ही निरीक्षण-यात्राओ मे एक बार पिसिस्त्रातस् की हीमेत्तस्[1] के कृषक के साथ वह प्रसिद्ध भेंट हुई जो कहानी बन गई है, यह किसान वह भूमि गोड रहा था, जो आगे चलकर 'करमुक्त क्षेत्र' कहलाने लगी। उसने किसी मनुष्य को एक पूर्णतया पथरीले भूखण्ड को खोदते और गोडते देखा, आश्चर्य-चकित होकर उसने अपने सेवक को यह पूछने के लिये उसके पास भेजा कि इस भूमि पर काम करने से उसको क्या (लाभ) मिलता है। उसने उत्तर दिया-"दुख और दर्द (मिलता है) और इन्ही दुख-दर्दों का दशमाश पिसिस्त्रातस् को मिलना चाहिये।" उस मनुष्य ने तो प्रश्नकर्ता को बिना जाने ही उत्तर दे दिया था, किन्तु पिसिस्त्रातस् उसकी स्पष्टवादिता और परिश्रमप्रियता से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने उस (किसान) को सब प्रकार के करो से मुक्त कर दिया। इस प्रकार सामान्यरूपेण सभी बातो में उसने साधारण जनता पर अपने शासन का भार बिलकुल नही डाला, किन्तु सर्वदा शान्ति ही बनाए रक्खी और जनता को भी चुपचाप रहने दिया। और इसी लिये पिसिस्त्रातस् की तानाशाही को सामान्य बातचीत मे क्रौनॉस[2] का युग (=स्वर्णयुग) कहना एक लोकोक्ति-सी हो गई। पीछे ऐसा हुआ कि उसके पुत्रो के उत्तराधिकार प्राप्त करने पर शासन अत्यन्त कठोर और कर्कश हो गया। पर इस प्रकार की बातों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात थी उसकी सार्वजनीन

और दयापूर्ण चित्तवृत्ति। सभी मामलो मे नियमो के अनुसार प्रबन्ध करना उसकी आदत थी, और वह अपने आपको कभी कोई विशेष सुविधा नही देता था। एक बार उस पर मनुष्यहत्या का आरोप लगाया गया और उसको अरियोपागस् के न्यायालय के समक्ष उपस्थित होने का आदेश हुआ, तो वह स्वयमेव अपने पक्ष का बचाव करने के लिये उपस्थित हुआ, पर अभियोक्ता मारे डर के उपस्थित न हो सका और उसने अभियोग छोड दिया। इन्ही कारणो से शासनसूत्र सुदीर्घ काल तक उसके अधीन रहा, और जब कभी भी उसको निर्वासित किया जाता था वह अपनी पूर्व-स्थिति को पुन सुगमता से प्राप्त कर लेता था। उच्च वर्ग के गण्यमान व्यक्तियो और साधारण जनता दोनो का ही अधिकाश उसके अनुकूल था, गण्यमान लोग तो उसके सामाजिक ससर्ग से उसके वशीभूत थे और जनसाधारण उससे व्यक्तिगत सहायता पाने के कारण उसकी मुट्ठी मे रहते थे, एव उसका स्वभाव दोनो ही के लिये सुन्दर था। और फिर उस समय के अथेन्स मे तानाशाहो के सबध मे जो नियम चालू थे वे अत्यन्त मृदुल थे, विशेष कर अन्य नियमो की अपेक्षा वह नियम जिसका प्रयोग तानाशाही की स्थापना के लिये मुख्यतया होता था वह तो बहुत ही मुलायम था। यह नियम इस प्रकार का था, "यह अथेन्सवासियो के पैत्रिक नियम है, यदि कोई व्यक्ति तानाशाही की स्थापना की चेष्टा करेगा, अथवा कोई व्यक्ति तानाशाही की स्थापना मे साथ देगा तो वह और उसका कुटुम्ब (गण) दोनो ही नागरिक अधिकारो से वचित हो जायगा।"

१७

(उसकी मृत्यु और उसका वंश)

इस प्रकार पिसिस्त्रातस् शासन-शक्ति को धारण किये हुए वृद्धावस्था को प्राप्त हुआ, और फिलोनेयस्[1] के आर्खन-काल मे उसकी (शारीरिक) रोग से स्वाभाविक मृत्यु हुई। यह घटना उसके प्रथम बार तानाशाह के रूप मे स्थित होने के ३३ वर्ष पश्चात् घटित हुई, जिनमे से १९ वर्ष वह शासन-सत्ता मे अधिकृत रहा, और शेष वर्षों में निर्वासित। इससे यह स्पष्ट है कि यह जो कहानी कही जाती है कि वह सौलॉन् का नवयुवक प्रेम-पात्र था, तथा उसने सालामिस्[2] की पुन प्राप्ति के लिये युद्ध मे मैगारा के विरुद्ध सेनापति का काम किया था, यह सब कोरी कपोल कल्पना है। यदि कोई उन दोनो के जीवन-कालो की गणना करे और उनकी मृत्यु की तिथियो का हिसाब लगाये तो उनकी अवस्थाओ को दृष्टि मे रखते हुए ऐसा होना सम्भव प्रतीत नही होगा। पिसिस्त्रातस् की समाप्ति के उपरान्त उसके पुत्रो ने शासनकार्य अपने हाथ मे लिया

और उसी प्रकार से कार्य का सचालन किया। उसके दो पुत्र तो विवाहिता पत्नी से थे जिनका नाम हिप्पियास और हिप्पार्कस् था, तथा दो पुत्र आर्गीय भगिनी से थे जिनकेनाम इयो-फोन और हेगेसिस्त्रातस् उपनाम थेत्तालस् थे। पिसिस्त्रातस् ने आर्गस नगर के गौर्गिलस् नामक एक मनुष्य की लडकी तिमोनस्सा को पत्नी के रूप में रख लिया था; वह इसके पूर्व किप्सेलस के वंशधर अम्प्रिया निवासी आर्कीनस् की पत्नी थी। और इसी सबंध मे आर्गीय जनता के साथ उसकी मित्रता का सूत्रपात हुआ जिसके कारण उनमे से एक सहस्र हेगेसिस्त्रातस् के द्वारा अपने साथ ले आये गये और वे पालेनी के युद्ध में उसके पक्ष में लड़े। कुछ लोगो का कहना है कि उसने आर्गीया को प्रथम निर्वास-काल में ब्याहा था और दूसरे लोगो का कहना है कि उसने ऐसा अथेन्स का शासन करते समय किया।

१८

(पिसिस्त्रातस् के पुत्रों का शासन। हार्मोदियस और अरिस्तोगेतान् का काण्ड)

योग्यता (प्रतिष्ठा) और अवस्था दोनो ही के कारण शासन-कार्यों का प्रभुत्व हिप्पार्कस् और हिप्पियास् के ही हाथ में था। तथा हिप्पियास्, जो कि अवस्था में बड़ा था, तथा स्वभाव से ही नागरिक (राजनीतिक) प्रबन्ध में कुशल और बुद्धिमत्तापूर्ण था, वास्तव मे शासन-कार्य में मुखिया था। हिप्पार्कस् के स्वभाव में कुछ लडकपन था, वह कामुक था और साहित्य (और कलाओ) का प्रेमी था। अनाक्रेयॉन्[1] सिमौनीदेस्[2] एवं अन्य कवियो को इसने अथेन्स आने के लिए निमन्त्रित किया था। थेत्तालस् अवस्था में बहुत छोटा था, तथा स्वभाव से बड़ा उद्दण्ड और उद्धत। वे सब आपत्तियाँ जो इस शासक-कुल पर आईं वे सब इसी के आचरण के कारण उत्पन्न हुई थी। वह हार्मोदियस् नामक युवक से प्रेम करने लगा था और क्योंकि वह उसकी प्रीति को प्राप्त करने में असफल रहा, अतएव उसके क्रोध पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रह गया। कटुता के अन्य प्रदर्शनो के अतिरिक्त उसने अन्त में हार्मोदियस की बहन को पानाथेइना उत्सव-प्रयाण में पेटिकावाहिनी का अभिनय करने से रोक दिया, और ऐसा करने का कारण यह बतलाया कि हार्मोदियस शिथिलचरित्र व्यक्ति है। इस (अपमान) से अत्यन्त उत्तेजित होकर हार्मोदियस् और अरिस्तोगैतान्[1] ने अपने अनेक साथियों की सहायता से वह सुविख्यात कर्म (= हिप्पार्कस् की हत्या) कर डाला। जब वे पानाथेइना उत्सव के समय अक्रोपौलिस् में हिप्पियास् की प्रतीक्षा में दृष्टि गड़ाये देख रहे थे (हिप्पियास् उस समय उत्सव-यात्रा के आगमन की प्रतीक्षा में था

और हिप्पार्कस उसके प्रयाण का प्रबध कर रहा था) उस समय उन्होने षड्यत्र मे अन्तर्भुक्त किसी व्यक्ति को हिप्पियास् के साथ अत्यन्त परिचितता से बाते करते देखा। यह मानकर कि यह व्यक्ति हमारे षड्यत्र का भडाफोड कर रहा है, तथा पकडे जाने के पूर्व ही कुछ कर डालने की इच्छा करते हुए, वे अपने अन्य साथियो के (आने के) पूर्व ही झपट पडे, और इस चेष्टा मे वे लेओकोरेयन् के समीप उत्सव-यात्रा के प्रयाण का प्रबन्ध करते हुए हिप्पार्कस की हत्या कर सके, पर इस प्रकार समग्र षड्यत्र-योजना का उन्होने विनाश कर डाला। दोनो नेताओ मे से हार्मोदियस तो भालेधारी अगरक्षको के द्वारा उसी ठौर मार दिया गया, जब कि अरिस्तॉगैतान्[४] पकड लिया गया, एव दीर्घ-काल तक यत्रणाएँ भोगकर पीछे से मृत्यु को प्राप्त हुआ। शारीरिक यत्रणा दिये जाने पर उसने ऐसे बहुत से मनुष्यो पर दोषारोपण किया जिनका जन्म अत्यन्त विख्यात कुलो मे हुआ था तथा जो तानाशाहो के मित्र थे। तत्काल तो (सरकार को) षड्यत्र के रहस्य का कुछ भी पता नही लग सका, क्योकि इस विषय मे जो यह बात कही जाती है कि हिप्पियास् ने सब प्रयाणोत्सव मे भाग लेनेवालो के हथियार धरवा दिये और तदुपरान्त उन लोगो का पता लगाया जो छिपी हुई कटारे धारण किये हुए थे, सो यह बात सत्य नही हो सकती, क्योकि उस समय प्रयाणोत्सव में लोग हथियार लेकर नही चलते थे, इस प्रकार की पद्धति को जनतत्र शासन ने पीछे से प्रचलित (प्रस्थापित) किया था। जैसा कि जनतत्रात्मक दल का कहना है, अरिस्तोगैतान् ने तानाशाहो के मित्रो पर इस लिये जान-बूझकर दोषारोपण किया था कि जिससे वे अपावन कृत्य कर डाले तथा ऐसे मनुष्यो को मारकर, जो कि निरपराध थे और उनके अपने मित्र भी, स्वयं ही अपने को निर्बल बना ले। कुछ अन्य लोगो का कहना है कि उसने झूठी बात नही बनाई, प्रत्युत षड्यत्र मे वास्तव मे भाग लेनेवालो का ही भडाफोड किया। अन्त मे जब सब प्रकार के उपाय करके भी वह मृत्यु के द्वारा छुटकारा नही पा सका तो उसने और बहुत से अन्य लोगो के विषय में सूचना देने का वचन दिया, तथा अपने वचन को परिपुष्ट करने के लिये हिप्पियास् को अपना दाहिना हाथ देने को मना लिया, तथा ज्यो ही उसको उसका दक्षिण-हस्त प्राप्त हुआ त्यो ही हिप्पियास् के मुख पर ही अपने भाई के मारनेवाले को दक्षिण हस्त देने के लिये गाली सुनाई। बात यहाँ तक बढी कि हिप्पियास् आवेश के कारण अपने रोष पर सयम न रख सका और उसने खड्ग खीच उसका काम तमाम कर दिया।

१९

(तानाशाहों के शासन का ह्रास। अल्क्मेयोनीदियो के नेतृत्व में निर्वासितो के आक्रमण; अनेकों असफलताएँ, पर डेल्फी की[१] भविष्यवाणी और स्पार्टावाला की सहायता से अन्त में सफलता। पिसिस्त्रातस् के वंशधरों का देश-निकाला।

इस घटना के पश्चात् तानाशाही शासन अत्यधिक कठोर और कर्कश हो गया। भाई की मृत्यु के प्रतिशोध, बहुत से मनुष्यो के मृत्युदण्ड एव निर्वासन के परिणामस्वरूप, हिप्पियास का जीवन विश्वासशून्य और कटु हो उठा। भाई की मृत्यु के लगभग चार वर्ष पश्चात्, नगर मे अपनी स्थिति बिगडी हुई देखकर उसने मुनिखिया की किलेबन्दी आरभ की, जिससे वह वहाँ अपने को (सुदृढता से) स्थापित कर सके। पर जब वह इस काम मे लगा हुआ था, तब स्पार्टा की जनता के देववाणी[२] द्वारा तानाशाहो को उखाड फेकने के लिये लगातार भडकाये जाने के कारण वह (हिप्पियास्) स्पार्टा के राजा क्लेयोमेनस द्वारा खदेड दिया गया। देववाणी निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त की गई थी। अथेन्स से भागे हुए निर्वासित व्यक्तियो ने अल्क्मेओनीदी कुल के वशधरो के नेतृत्व मे अथेस लौटने का प्रयत्न किया, पर वे केवल अपनी ही शक्ति के सहारे लौटने में सफल नही हो सके, प्रत्युत बारबार अपने प्रयत्न में असफल ही रहे। उनके अन्य अनेको असफल कार्यों मे एक यह भी था कि उन्होने (अत्तिका प्रदेश मे) पार्नास् पर्वत के ऊपर लिप्सीद्रियन नामक स्थान पर किलेबन्दी की, जहाँ कि नगर से कुछ अन्य उनके पक्ष के लोग उनसे आकर मिल गये, पर यहाँ पर भी वे तानाशाहो के द्वारा घेरे जाकर परास्त कर दिये गये, जिससे इस दुर्घटना के पश्चात् भविष्य मे (निम्नलिखित) पक्तियाँ सार्वजनिक आपानक-गीत बन गई —

> हाय लीप्सीद्रियन् प्रवचक निकले तुम अति भारी,
> कैसे कैसे वीर युद्ध मे बलि बन गये तुम्हारी।
> भले सभी थे और उच्च कुल मे जनमे थे सारे,
> दिखला दिया समय पर कैसे उत्तम जनक हमारे॥

अन्य सभी उपायो मे असफल रह कर, (अन्त मे) उन्होने डैल्फ़ी के मन्दिर के पुनर्मिाण का ठेका लिया, जिससे उनको पुष्कल द्रव्य प्राप्त हो गया और इसके द्वारा उन्होने लाकैदायमॉन (स्पार्टा) की सहायता प्राप्त कर ली। इन दिनो जो भी स्पार्टा निवासी डेल्फी के मन्दिर मे देववाणी को पूछने आते थे उनको वहाँ की पुजारिन अथेन्स

स्वतत्र करने का आदेश करती थी, यहाँ तक कि अन्त मे वह उनको इस कार्य के लिये प्रेरित करने मे कृतकार्य हो गयी, यद्यपि स्पार्टानिवासियो और पिसिस्त्रातस् के कुल मे (घनिष्ठ) आतिथ्य का सबध चला आ रहा था। तथापि स्पार्टावालो का युद्ध करने का निर्णय, पिसिस्त्रातस् के कुल और आर्गसवालो की मित्रता के कारण भी कुछ कम मात्रा मे घटित नही हुआ। पहले तो उन्होने अखीमोलस को समुद्र के मार्ग से सेना के सहित भेजा। पर थेसाली के किनियास के १००० घुडसवारों की सेना के साथ पिसिस्त्रातस् के पुत्रो की सहायता के लिये आ जाने के कारण अखीमोलस पराजित हो गया और मार डाला गया। इस विनाशपूर्ण दुर्घटना से क्रुद्ध होकर स्पार्टावालो ने अपने राजा क्लेयोमेनीस को एक बडी सेना के सहित स्थल मार्ग से अथेन्स पर अभियान के लिये भेजा, उसने, अत्तिका प्रदेश मे अपने प्रयाण को रोकनेवाली थेसाली की अश्वारोही सेना को पराजित करने के उपरान्त, हिप्पियास को पैलार्गिक कहलानेवाली दीवार मे अवरुद्ध कर दिया एव अथेन्सवासियो की सहायता से उस पर घेरा डाल दिया। जब कि वह उनका मार्ग अवरुद्ध किये पडा था तब ऐसा हुआ कि पिसिस्त्रातस् के पौत्र छिपकर भागने का प्रयत्न करते हुए पकड लिये गये। इस पर तानाशाहो ने अपने पुत्रो की सुरक्षा की शर्त्त पर सन्धि करना स्वीकार कर लिया, उनको अपनी सम्पत्ति को हटाने के लिये पॉच दिन का समय दिया गया और अक्रोपोलिस को उन्होने अथेसवासियो को सौंप दिया। यह घटना हार्पाक्तिदस्[१] के आर्खनकाल मे घटित हुई, जब कि उनको अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् शासन करते (तानाशाही करते) सत्तरह वर्ष, अथवा उनके पिता के शासनकाल को मिलाकर ४९ वर्ष व्यतीत हो चुके थे।

२०

(क्लैस्थेनीस और इसागोरस का द्वन्द्व; क्लेओमेनीस तथा स्पार्टावालों के द्वारा इसागोरस की सहायता; स्पार्टावालो का निकाला जाना; जनता की विजय।)

तानाशाही की समाप्ति के उपरान्त इसागोरस और क्लैस्थेनीस मे कलह आरभ हो गयी, इसागोरस तीसान्दर का पुत्र एव तानाशाहो का मित्र था एव क्लैस्थेनीस अल्क्मेओनीदी कुल मे उत्पन्न हुआ था। राजनीतिक मित्रमडलियो[१] मे पराजित हो जाने पर क्लैस्थेनीस ने साधारण जनसमुदाय को मतदान का अधिकार प्रदान करके उनका राजनीति क्षेत्र मे प्रवेश करा दिया। इस पर इसागोरस ने अपने को शक्ति मे हीन पाकर क्लेओमेनीस को, जिसके साथ उसका आतिथ्य का नाता था, पुन अथेन्स आने का निमत्रण दिया, और उससे 'कालुष्य' को[२] निकाल बाहर करने के लिये अनुनय

किया, क्योकि अल्क्मेओनीदी कुल के लोग कलुषित और कलकित माने जाते थे। ऐसी स्थिति मे क्लैस्थेनीस देश छोडकर चला गया, एव क्लेओमेनीस ने एक छोटे से दल के साथ अत्तिका मे प्रवेश करके सात सौ परिवारो को (कलुषित होने के कारण) निर्वासित कर दिया। इस कार्य को पूरा करके उसने परिषद् के उच्छेदन एव इसागोरस एव उसके पक्ष के तीन सौ व्यक्तियो को नगर मे सर्वोपरि शक्ति के रूप मे स्थापित करने का प्रयत्न किया। परिषद् ने इसका विरोध किया, सारी जनता एकत्रित हो गयी तथा क्लेओमेनीस्, इसागोरस एव उनके अनुयायियो को अक्रोपोलिस मे शरण लेनी पडी। जनता दो दिन तक यहाँ घेरा डालकर बैठ गयी, तीसरे दिन उन्होने क्लेओमेनीस और उसके सब साथियो को चले जाने देना स्वीकार कर लिया, एव क्लैस्थेनीस एव अन्य निर्वासितो को अथेन्स आने के लिये आह्वान किया। जब इस प्रकार जनता ने सब मामलो पर अधिकार प्राप्त कर लिया तब क्लैस्थेनीस उनका प्रमुख एव सर्वप्रिय नेता बना। (यह उचित ही था), क्योकि अल्क्मेओनीदी कुल के लोग स्यात् तानाशाहो के खदेडे जाने मे सब से बडे कारण थे एव, उनके शासन-काल के अधिकाश भाग मे वे उनसे लगातार लडते रहे थे। पर अल्क्मेओनीदियो से भी पहले एक केदौन नामक व्यक्ति ने तानाशाहो पर वार किया था, इसी कारण उसके सम्मान मे भी निम्नलिखित आपानक-गीत प्रचलित हो गया——

सम्मान मे केदौन के भरना चपक भूलो नही।
यदि वीरजन-सम्मान मे मदिरानिषेचन हो सही॥

२१

(क्लैस्थेनीस के सुधार। दश गण गोत्रो की स्थापना। पाँच सौ सदस्यो की परिषद्। तीस समूहो में विभाजित मुहल्लों में जनता का बाँटा जाना।)

उपर्युक्त कारणो से जनता का क्लैस्थेनीस मे विश्वास था। अतएव, क्योकि अब वह सर्वजनप्रिय नेता था, उसने तानाशाहो के पलायन के तीन वर्ष पश्चात् इसागोरस के आर्खन काल मे, सबसे प्रथम यह काम किया कि समग्र जनता को पूर्वकालीन चार गणो की अपेक्षा दस गणो मे विभाजित कर दिया, जिससे कि विभिन्न गणो के सदस्य परस्पर मिल-जुल सके और पूर्वापेक्षा अधिक संख्या मे जनता को मतदान का अधिकार मिल जाय। इसी से जो लोग जातिगोत्र इत्यादि छानबीन करना चाहते थे उनके प्रति कही जानेवाली यह लोकोक्ति प्रचलित हुई कि (अब) "जातिगोत्र मत देखो।" इसके उपरान्त उसने परिषद् की सदस्यसख्या ५०० स्थिर की, जो पहले ४०० थी,

जिसमें अब प्रत्येक गण मे से ५० सदस्य लिये जाते थे, जब कि पहले प्रत्येक गण मे से १०० लिये जाते थे। उसने गणो को १२ भागो मे इसलिये विभाजित करके व्यवस्थित नही किया कि जिससे उसको पहले से ही विद्यमान "तीसी" विभाजन का उपयोग न करना पडे, क्योकि पुराने चार गण १२ "तीसियों" मे विभक्त थे ही, अतएव यदि वह गणो का पुनर्विभाजन १२ भागो मे करता तो उसका जातियो के पुनर्विभाजन का उद्देश्य सफल न होता। इसके अतिरिक्त उसने समस्त प्रदेश को ३० मुहल्लो[२] के समूहों मे बाँट दिया, इनमे से दस समूह नगर मे थे, दस समुद्रतट के आस पास थे और दस अन्तर्वर्ती प्रदेश मे थे। इनको उसने "तीसी" नाम दिया, तथा इनमे से तीन तीन समूहो को शलाकाग्रहण द्वारा उसने इस प्रकार दसो गणो के लिये निर्धारित कर दिया जिससे प्रत्येक गण को तीनो स्थानो म एक एक समूह मिल जाये। प्रत्येक मुहल्ले मे निवास करनेवाले लोगो को उसने मुहल्लेवाले कहा, ऐसा उसने इसलिये किया कि जिससे नये नागरिक[१] अपने नाम इत्यादि के वर्णन मे पैतृक नाम (गोत्र नाम) का उद्घाटन न करें, प्रत्युत (सरकारी ढग मे) उनका उद्घोष मुहल्ले के नाम से हो। इसी कारण अथेन्सनिवासी परस्पर अपनी चर्चा मुहल्लो के नामो के अनुसार करते हैं। उसने मुहल्ले के मुखिया (दीमार्खं) का पद भी स्थापित किया, जिसका कर्तव्य वही था जो पहले से चले आते नौक्रारी का था, पुराकालीन नौक्रारी का स्थान अब मुहल्ले (दीये) को दे दिया गया। मुहल्लो का नामकरण उसने (नये सिरे से) किया क्योकि सब नामो और स्थानो में सवादिता नही रह गयी थी, उसने कुछ का नाम तो स्थान के नाम पर निर्धारित किया और कुछ का नाम उनको बसानेवाले व्यक्तियो के नाम पर रक्खा। दूसरी ओर उसने प्रत्येक व्यक्ति को अपने कुल, जाति-बिरादरी एव धार्मिक अनुष्ठानो को पुरानी पैतृक विधि के अनुसार बनाये रखने की स्वतत्रता दी। इन दस गणों को जो नाम दिये गये वे वह दस नाम थे जिनको पीथिया (डैल्फ़ी की पुजारिन) ने सौ चुने हुए राष्ट्रीय वीरपुरुषो के नामो मे से नियुक्त किया था।

२२

(राजनीतिक बहिष्कार का नियम; इसका प्रयोग, नीतियो के सार्वजनिक नियंत्रण का विकास। माराथान का युद्ध, मारोनैया की खानो से धन की प्राप्ति तथा थैमिस्टोक्लीस की प्रेरणा से नौसेना का निर्माण। सालामिस की विजय।)

इन सुधारो के हो जाने से यह सविधान सोलॉन् के सविधान की अपेक्षा अधिक जनतत्रात्मक हो गया। तानाशाही शासनकाल मे उपयोग मे न आने के कारण सोलॉन्

के नियम अस्पष्ट (धुँधले) हो उठे थे, क्लैस्थेनीस ने, जनसाधारण की अनुकूलता सपादित करने के लिये उनके स्थान पर नये नियम स्थापित किये । इन्ही नियमो मे एक बहिष्कार का नियम भी था । इस व्यवस्था की स्थापना के पाँच[1] वर्ष पश्चात् हैर्मोक्रेऑन् के राज्य (आर्खन-) काल मे, प्रथम बार पचशती परिषद् पर उस शपथ को ग्रहण करना लागू किया गया, जो उसके सदस्य आज तक करते हैं । इसके पश्चात् उन्होने गणो मे से सेनापतियो का चुनाव करना आरभ कर दिया, प्रत्येक गण मे से एक सेनापति चुना जाता था तथा समग्र सेनाओ का अध्यक्ष सर्वोपरि होता था, उसको पॉलीमार्खं कहा जाता था । इसके १२ वर्ष पीछे अथेन्सवासियो ने मारार्थौन्[2] के युद्ध मे विजय प्राप्त की, यह घटना फाएनिप्पस के आर्खनकाल मे घटित हुई, विजय के उपरान्त दो वर्ष व्यतीत हो जाने पर, जब जनता मे आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न हो गयी तो उन्होने पहली बार बहिष्कार सबधी नियम का प्रयोग किया । यह कानून मूलत तो उच्च पदो पर आरूढ व्यक्तियो के विरुद्ध एक पूर्वविधान के रूप मे बनाया गया था, क्योकि पिसिस्त्रातस् ने अपने लोकनायक एव सेनापतिपद की सुविधा द्वारा ही अपने को तानाशाह (अधि-नायक) बना लिया था । सबसे प्रथम व्यक्ति जो बहिष्कृत किया गया उसी (पिसि-स्त्रातस्) का सबधी, कौलीटस् मुहल्ले का रहनेवाला खार्मस का पुत्र हिप्पार्कस् था, विशेषकर इसी व्यक्ति के निमित्त क्लैस्थेनीस ने यह नियम बनाया था, क्योकि वह इसी को निकाल बाहर करना चाहता था । फिर भी, अथेन्स-वासियो ने, प्रजातत्र की सामान्य मृदुलता का व्यवहार करते हुए, तानाशाहो के उन सब बधु-बाधवो को (जिन्होने उनके दुष्कर्मों मे कोई भाग नही लिया था) नगर में निवास करने दिया था, और हिप्पार्कस इनमें प्रमुख व्यक्ति था और इनका नेता भी था । ठीक इसके दूसरे वर्ष तैलैसिनस् के आर्खनकाल मे जनता ने तानाशाही प्रारभ होने के पश्चात् प्रथम बार मुहल्लों में से छाँटे हुए पाँच सौ पदान्वेषियो में से, एक एक गण मे से चुनकर शलाकाग्रहण द्वारा नौ आर्खनो को निर्वाचित किया, इससे पहले के आर्खन मतदान द्वारा चुने जाते थे, एव इसी वर्ष अलौपेकी मुहल्ले मे रहनेवाला हिप्पोक्रातीस् का पुत्र मेगाक्लीस बहिष्कृत किया गया । इस प्रकार तीन वर्ष तक उन्होने तानाशाहो के मित्रो का बहिष्कार करना चालू रक्खा, जिनके निमित्त यह नियम बनाया गया, इसके पश्चात् चौथे वर्ष मे उन्होने अन्य लोगो को भी निकालना आरम्भ कर दिया; जो भी व्यक्ति सामान्य से कुछ अधिक शक्तिशाली प्रतीत होता वही निकाल दिया जाता । जो लोग तानाशाहो से कुछ सबध न रखते हुए भी निर्वासित कर दिये गये थे उनमे सबसे पहला व्यक्ति अरिफ्रानस् का पुत्र क्षतिप्पस् था । इसके तीन वर्ष पीछे निकोद्दीमस

के आर्खनकाल मे मारोनैइया स्थान पर खानों का पता चला और इन खानो के काम से सरकार को १०० तालान्त[३] का लाभ हुआ। कुछ लोगो ने जनता मे इस धन को सब मनुष्यो मे बाँट देने की सलाह दी, पर थेमिस्तोक्लीस ने उनको ऐसा करने से रोका। उसने यह तो नही कहा कि धन किस कार्य पर व्यय किया जायगा, पर यह आदेश किया कि अथेन्स के सबसे अधिक धनवान सौ व्यक्तियों मे से प्रत्येक को एक एक तालान्त दे दिया जाय, और तब यदि व्यय करने का ढग जनता को अच्छा लगे तो यह व्यय राष्ट्र के खाते मे सम्मिलित कर लिया जाय, और यदि जनता को रुचिकर न हो तो सरकार उन लोगो से इस धन को लौटा ले। इन शर्तों पर धन को लेकर उसने उसके द्वारा सौ धनवानो मे से प्रत्येक से एक एक करके त्रिरेमी[४] नाम के सौ युद्धपोत बनवाये, इन्ही युद्धपोतो की सहायता से अथेन्सवासियो ने बर्बर लोगो से सालामिस्[५] के स्थान पर सामुद्रिक युद्ध लडा। लगभग इसी विकट समय मे लीसीमाखस का पुत्र अरिस्तीदीस निर्वासित किया गया। तथापि तीन वर्ष पीछे हिप्सीखिदीस् के आर्खन-काल मे, खर्यक्षस की सेना के अभियान के समय यह सभी निर्वासित व्यक्ति फिर से नगर मे बुला लिये गये, तथा भविष्य मे निर्वासित जनो के लिये यह नियम बना दिया गया कि यदि वे सर्वदा के लिये अपना नागरिक अधिकार न खोना चाहे तो उनको गेराइस्तॉस[६] और स्किल्लाइयन् के मध्य मे रहना होगा।

२३

(मीदिक युद्ध में कार्यक्षमता के कारण अरियोपागस की संसद का पुनरुत्थान; इसका सुशासन। अरिस्तीदीस और थेमिस्टोक्लीस। इयोनिया के साथ सघात।)

प्रजातन्त्र के साथ शनै शनै समृद्धि को प्राप्त होते हुए नगर इस समय इतनी उन्नति कर चुका था, पर मीदिक[१] युद्ध के उपरान्त अरियोपागस् की ससद् पुन एक बार शक्तिशाली हो उठी और उसने पुन. नगर पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। पर उसने यह सर्वोपरि नेतृत्व किसी प्रस्तावित आदेशमात्र से प्राप्त नही किया किन्तु इसलिये किया क्योकि वह सालामिस् के युद्ध के (सफलतापूर्वक) सचालन मे कारण बनी। जब कि सेनापतियो ने इस विकट परिस्थिति का सामना करने की उलझन मे पडकर कान्दिशीक होकर यह घोषणा करवा दी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रक्षा स्वय करनी चाहिये, तब ससद ने धन का प्रबन्ध करके प्रत्येक नाविक को आठ द्राख्मा देकर उनको युद्धपोतो मे भेजा। इन्ही कारणो से जनता उसकी प्रतिष्ठा के समक्ष

नतमस्तक हुई, एव इस (सकट के) समय मे अथेन्स का शासन भी बहुत अच्छा था। अथेन्सवासी इस समय युद्धसचालन मे सलग्न थे एव ग्रीक जाति मे उनकी ख्याति बहुत अधिक थी, जिससे कि लाकैदायमॉन् (स्पार्टा-) वालो के विरोध करने पर भी सामुद्रिक सेना का नेतृत्व उनको ही प्राप्त हुआ। लीसीमाखस् का पुत्र अरिस्तीदीस् और नेऑक्लीस् का पुत्र थेमिस्टोक्लीस इस समय अथेन्स के जननायक थे, इनमे थेमिस्टोक्लीस युद्ध-कार्य मे सलग्न प्रतीत होता था और अरिस्तीदीस् एक अत्यन्त निपुण राजनीतिज्ञ एव सर्वाधिक न्यायपरायण व्यक्ति होने के नाते विख्यात था। इसी कारण सामान्यतया इनमे एक (थेमिस्टोक्लीस) सेनापति के कार्य मे तथा दूसरा (अरिस्तीदीस्) राजनीतिक परामर्शदाता के कार्य मे नियुक्त किया जाता था। यद्यपि राजनीति मे उनमे परस्पर मतभेद था तथापि नगर की किलेबन्दी का जीर्णोद्धार दोनो ने मिलकर किया, इयोनियावासियो[२] के लाकैदाययॉन् (स्पार्टा) के सघ से अलग होने के समय अरिस्तीदीस् ही वह व्यक्ति था जिसने, पौसानियास् द्वारा हुई स्पार्टावालो की बदनामी पर दृष्टि रखते हुए अपने नगर की नीति का सफल नेतृत्व किया। इसी लिये, सालामिस् के सामुद्रिक युद्ध के तीन वर्ष पश्चात् तिमॉस्थैनीस के शासनकाल (आर्खनकाल) मे विविध सघातभुक्त नगरो के कर का प्रथम बार निर्णय करनेवाला भी वही था, तथा इयोनियावासियो के साथ शत्रुता और मित्रता की सधि के समय (अथेन्स की ओर से) शपथग्रहण करनेवाला भी वही था, कहते है कि इसी समय उन्होने लोहे के पिण्डो को समुद्र मे डाला था।

२४

(अरिस्तीदीस और ग्रीक संघ। सरकार द्वारा पोषित अथेंस की जन-संख्या।)

इसके उपरान्त यह देखकर कि नगर का आत्मविश्वास बढ़ा हुआ है और धन भी बहुत इकट्ठा हो गया है, उस (अरिस्तीदीस्) ने अथेन्स की जनता को यह परामर्श दिया कि वह ग्रीकसघ[१] का नेतृत्व हस्तगत कर ले, एवं देहाती स्थानो में रहना छोडकर नगर मे निवास करे। उसने बतलाया कि सभी मनुष्यो को नगर में जीविका प्राप्त हो सकेगी, कुछ सेना की सेवा से जीविका चला सकेंगे, कुछ चौकीदारी से, एव कुछ सार्वजनिक कार्यों को करके, इस प्रकार सघ का नेतृत्व उनका प्राप्त हो जायगा। इस परामर्श को मानकर, जनता ने सघ पर पूर्णाधिपत्य प्राप्त कर लेने पर, खियौस् लैस्बौस् एव सामौस् की जनता को छोड शेष सब सहयोगियों के प्रति प्रभुता का

व्यवहार करना आरभ कर दिया। इन लोगो की स्वतत्रता उन्होने अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए बनी रहने दी, इनकी "नगर व्यवस्था" यथापूर्व अछूती रहने दी गयी, तथा जो कुछ प्रदेश उनके वशवर्ती था वह उनके ही पास छोड दिया गया। जैसे अरिस्तीदीस ने सुझाया था उन्ही उपायो से अथेन्स[2] के जनसाधारण को प्रचुर जीविका के साधन भी उपलब्ध हुए। कर, चुगी एव युद्ध कर से प्राप्त होनेवाले धन से बीस हजार से भी अधिक मनुष्यो का भरण-पोषण होता था। न्यायाधिकरण के सभ्य (जूरी) ६ हजार थे, धनुर्धारियो की सख्या १६०० थी, अश्वारोही योद्धा १२०० थे, पॉच सौ सख्या थी परिषद् के सदस्यो की, पोतपत्तन के चौकीदार भी ५०० थे, इनके अतिरिक्त ५० सरक्षक अक्रोपोलिस के थे। लगभग ७०० शासनाधिकारी आन्तरिक प्रदेश मे थे और ७०० ही बाहर के लिए भी। फिर, जब वे आगे चलकर युद्ध करने के लिये गये तो इन (उपर्युक्त सैनिको) के अतिरिक्त २५०० भारी कवचधारी सैनिक एव बीस सरक्षक-पोत, तथा कुछ अन्य पोत जो कि कर एकत्रित करते थे (तथा जिनके शलाका-निर्वाचित नाविको की सख्या २००० थी) और बढाये गये। इसके अतिरिक्त पृतानियन् में रहनेवाले चौकीदार, अनाथ (बच्चे इत्यादि) एव बदीगृह के अधिकारी (जेलर) भी थे, क्योकि इन सबका पालन-पोषण राष्ट्र (सरकार) की ओर से ही होता था।

२५

(अरियोपागस की शक्ति का ह्रास। ऐफियाल्तीस और थेमिस्तोक्लीस के कार्य।)

मनुष्यो के लिये जीविका इस प्रकार उपार्जित होती थी। अरियोपागस का राजनीतिक प्राधान्य (यद्यपि शनै शनै घटता जा रहा था) तो भी मीदिक युद्ध के सत्तरह वर्ष पश्चात् तक बना रहा। जनता की शक्ति बढ जाने पर, सोफौनिदीस् के पुत्र एफियाल्तीस ने, (जो उत्कोच ग्रहण न करनेवाला, एव राजनीति के विषय मे न्यायपरायण प्रसिद्ध था), परिषद् पर आक्रमण किया।[1] प्रथम तो उसने अरियोपागस की परिषद् के कई एक सदस्यो को, उन पर उनके शासन-प्रबन्ध के विषय में अभियोग चलाकर, विनष्ट कर दिया। तत्पश्चात् कोनोनस्[2] के आर्खन काल मे उसने इस परिषद् के द्वारा उपलब्ध किये हुए वे सब विशेषाधिकार अपहरण कर लिये जिनके कारण इसको सविधान की सरक्षकता प्राप्त थी, एव उनमे कुछ तो उसने पचशती परिषद् को दे दिये और कुछ जन्-ससद् और न्यायालयो को। इस प्रसग मे, थेमिस्टोक्लीस (जो स्वय अरियोपागस् का सदस्य था, परन्तु जिस पर मीदिको के साथ मिले

होने का अभियोग चलाया जानेवाला था) उसका सहायक बन गया। (अपने स्वार्थवश) थेमिस्टोक्लीस की यह इच्छा थी कि अरियोपागस की परिषद् उच्छिन्न हो जाय, अतएव उसने (एक ओर) तो एफियाल्तीस को यह बतलाया कि यह परिषद् तुम्हे पकडना चाहती है, (दूसरी ओर उसी समय) अरियोपागस के सदस्यो को यह सूचित किया कि मै आप लोगो को कुछ ऐसे लोगो को विज्ञापित करूँगा जो सविधान को उलटने का षड्यन्त्र रच रहे है। इसके पश्चात् वह अरियोपागस के चुने हुए प्रतिनिधियो को वहाँ ले गया जहाँ ऐफियाल्तीस रहता था, जिससे कि वहाँ एकत्रित षडयन्त्रकारियो को उन्हे दिखला सके, तथा वहाँ पहुँचकर वह उनके साथ बडी एकाग्रता के साथ बातचीत करने लगा। यह दृश्य देखकर ऐफियाल्तीस भयभीत हो गया तथा उसने शरणार्थी की भूषा मे वेदी की शरण ली। इस घटना से सभी स्तम्भित हुए, और जब शीघ्र ही पचशती परिषद् की बैठक हुई तो उसके समक्ष ऐफियाल्तीस और थेमिस्टो-क्लीस दोनो ने अरियोपागस की भर्त्सना की। जन-ससद् के समक्ष भी उन्होने इस (भर्त्सना) की इसी प्रकार पुनरावृत्ति की, यहाँ तक कि अन्त मे अरियोपागस को उसकी शक्ति से वचित करने मे सफल हो गये। यह सब हुए अधिक समय नही बीता था कि जब ऐफियाल्तीस तानाग्रानिवासी अरिस्तोदिकम् के द्वारा वचिका देकर मार डाला गया।

२६

(लोकनायको की प्रतिस्पर्धा के कारण शासनप्रबंध में शिथिलता का बढ़ना। उदार एव कुलीन नेताओं की अक्षमता। हलवाही लोगों को आर्खन पद पर चुने जाने का अधिकार। स्थानीय न्यायाधीशों के पद की स्थापना। नागरिक माता-पिता की सन्तान के लिये मतदान का अधिकार।)

इस प्रकार, अरियोपागस की परिषद् राष्ट्र की अध्यक्षता से वञ्चित कर दी गई। इस घटना (अथवा क्रान्ति) के उपरान्त लोकनायको[1] की जनता को प्रसन्न रखने की उत्सुकता के कारण राष्ट्र की व्यवस्था अधिकाधिक शिथिल होती गयी। इस समय ऐसा सयोग हुआ कि विवेकवादी (अथवा अनतिवादी) दल का कोई यथार्थ नेता नही था, मिल्तियादीस का पुत्र किमोन्[2] उनका नेतृत्व करता था, पर वह अपेक्षाकृत नवयुवक था और उसने राजनीतिक जीवन मे बहुत देर से प्रवेश किया था, और इसी से जनसाधारण को युद्ध के कारण घोर विनाश का सामना करना पड रहा था। उस समय युद्धकार्य के लिये सैनिको का चुनाव नागरिको की सूचियो में से होता था, और

सेनापति लोग युद्ध के अनुभव से रहित होते थे, एव उनका पद उनके कुल की प्रतिष्ठा पर (ख्याति पर) आश्रित होता था, अतएव सर्वदा ऐसा होता था कि एक एक अभियान मे लगभग २ या ३ सहस्र तक सैनिक नष्ट हो जाते थे, इससे परिणाम यह हुआ कि निम्न और उच्च दोनो ही वर्गो के योग्य(तम) व्यक्तियो का क्षय हो गया। बस तब तो सभी शासन-व्यवस्थाओ मे कानूनो को उतना ध्यान नही दिया जाने लगा जितना पहले दिया जाता था। नौ आर्खनो के चुनाव की पद्धति मे इसके अतिरिक्त और कोई परिवर्त्तन नही हुआ कि ऐफियाल्तीस की मृत्यु के ६ वर्ष पश्चात् यह निश्चय किया गया कि आर्खन पद के लिये जो व्यक्ति शलाकाग्रहण के लिये प्रस्तुत किये जायँ वे उच्चतर वर्गों के साथ ही हलवाही लोगो मे से भी चुने जा सकते है। इस वर्ग मे से चुना जानेवाला प्रथम आर्खन म्नीसिथैदीस था। इससे पहले सभी आर्खन अश्वारोही और पचशती वर्ग मे से चुने जाते थे, तथा हलवाही[3] लोग, यदि नियमो की अवहेलना की उपेक्षा न की जाती तो सामान्य शासक-पदो तक ही सीमित रहते थे। इसके पाँच वर्ष उपरान्त, लीसिक्रातीस्[4] के आर्खन-काल मे तथाकथित तीस "स्थानीय" न्यायाधीशो का पद पुन स्थापित किया गया। इसके तीन वर्ष पश्चात्, अन्तिदोतस् के आर्खन-काल मे, नागरिको की सख्या मे बहुत अधिक वृद्धि हो जाने के कारण, पैरीक्लीस के प्रस्ताव पर यह निर्णय किया गया कि किसी ऐसे व्यक्ति को राजनीतिक मताधिकार नही दिया जाना चाहिये जिसके माता-पिता दोनो ही नागरिक न हों।

२७

(पैरीक्लीस का उत्थान। पैलोपॉनीशियन युद्ध का छिड़ना। न्यायालय की चाकरी के वेतन का परिणाम अन्त में अनाचार और भ्रष्टाचार होना।)

इसके पश्चात् पैरीक्लीस एक जनप्रिय लोकनायक के रूप मे आगे आया। वह जब युवा ही था तभी उसने किमौन् के सेनानायक-काल के हिसाब की पडताल के आधार पर उसपर अभियोग चलाकर सुख्याति प्राप्त कर ली थी। उसके समय मे सविधान और भी अधिक जनतत्रात्मक हो गया। उसने अरियोपागस के कुछ विशेषाधिकारो का अपहरण कर लिया, पर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जो उसने किया वह था राष्ट्र की नीति को नाविकशक्ति की प्राप्ति की दिशा में मोडना; इसका फल यह हुआ कि साधारण जनता मे आत्मविश्वास उत्पन्न होने से उसने शासन-व्यवस्था को अधिकाधिक अपने अनुकूल बना लिया और शासन-सूत्र अपनी मुट्ठी मे कर लिया। सालामिस् के जलयुद्ध के ४९ वर्ष पश्चात् पीथोदोरस[1] के आर्खन-काल मे पैलोपोनीशियन् युद्ध आरभ हो गया। इस युद्धकाल मे जनता नगर मे अवरुद्ध रही और सामरिक सेवा के फल-स्वरूप

जीविका उपार्जित करने की अभ्यस्त हो गई। अत कुछ स्वेच्छा से और कुछ अनिच्छा से जनता शासन-व्यवस्था को अपने हाथ मे लेने के लिये कृतसकल्प हो गई। न्यायालय मे की गई सेवा के लिये वेतन की प्रथा को आरभ करनेवाला प्रथम व्यक्ति पैरीक्लीस ही था। ऐसा उसने इसलिए किया कि इस प्रकार किमौन् की सम्पन्नता और उदारता के मुकाबले में जनता की अनुकूलता प्राप्त कर सके। क्योकि किमौन् की निजी सम्पत्ति तानाशाहो की सी थी, अतएव वह प्रथम तो सार्वजनिक सेवा-अर्चा बडे ठाटबाट से करता और फिर अपने मुहल्ले के बहुत से लोगो का भरण-पोषण भी करता था। लाकियादे मुहल्ले का जो भी मनुष्य चाहता, प्रतिदन किमौन के घर जा सकता था और वहाँ से समुपयुक्त मात्रा मे (भोजनार्थ) सामग्री पा सकता था, फिर दूसरी ओर उसकी सारी भूमि बाडो से सुरक्षित नही थी, अतएव जो चाहता वह उसके वृक्षो के फल भी ले जाता था। पैरीक्लीस की निजी सम्पत्ति इस प्रकार की ऐश्वर्यशाली उदारता की तुलना मे कही अपर्याप्त थी, अतएव उसने ओइथा के दामोनिदीस के परामर्श को मान लिया; जो यह था कि क्योकि तुम्हारी निजी सपत्ति अपेक्षाकृत कम है अतएव तुम जनता को उसी की सम्पत्ति मे से दान दो। (इस दामोनिदीस के विषय मे ऐसा (कहा जाता था) ख्याल किया जाता था कि वह पैरीक्लीस को बहुत से कार्यों मे उत्तेजित किया करता था एवं इसी लिये आगे चलकर उसको निर्वासित कर दिया गया।) इस प्रकार पैरीक्लीस ने न्यायमडल (जूरी) के लिये वेतन देने की प्रथा चालू की। कुछ आलोचक उस पर यह आरोप लगाते है कि उसने इस प्रथा द्वारा न्यायालयो के कार्य को घटिया कर दिया, क्योकि (वेतन के लोभ से) जो लोग सर्वदा अपने को जूरर चुनवाने के लिये आगे आते थे वे अच्छी साम्पत्तिक स्थिति की अपेक्षा सामान्य व्यक्ति ही अधिक होते थे। इसके अतिरिक्त इस समय के उपरान्त उत्कोच का भी सूत्रपात हुआ, तथा प्रथम व्यक्ति जिसने इस दिशा मे पथप्रदर्शन किया अनीतस्[२] था और उसने पीलस मे सेनापतित्व करने के उपरान्त ऐसा किया। पीलस् की हार के कारण कुछ लोगो ने उसके विरुद्ध अभियोग चलाया था, एव वह जूरियो को उत्कोच देकर साफ छूट गया।

२८

(पैरीक्लीस् की मृत्यु के पश्चात् लोकनायकत्व की वृद्धि। सौलॉन् के समय से लेकर राजनीतिक दलों की स्थिति का सिंहावलोकन। जननायकों का नैतिक अपकर्ष। क्लैयॉन् और क्लैयाफ़ॉन और उनके पीछे आनेवाले जननायक। पश्चात् काल के श्रेष्ठ नेता, निकियास् थूकीदिदीस् और थेरामेनीस्।)

तो भी जब तक पैरीक्लीस[१] लोकनायक रहा, राष्ट्र-व्यवस्था-कार्य अपेक्षाकृत अच्छा

ही चलता रहा, पर पैरीक्लीस् का अवसान हो जाने पर स्थिति बहुत बिगड गयी। तब सबसे प्रथम बार जनता ने ऐसे नेता को वरण किया जो अच्छी स्थितिवाले मनुष्यो मे (अथवा भलेमानसो में) सम्मानित नही था, जब कि इस समय से पहले ऐसे मनुष्य (जिनकी भले आदमियो मे नेकनामी थी) सर्वदा जनता के नेताओ के रूप मे उपलब्ध होते रहे थे। बिलकुल आरभ मे प्रथम लोकनायक[२] सोलॉन् था, दूसरा था पिसिस्त्रा-तस् और यह दोनो ही उच्चकुल में उत्पन्न हुए थे और अच्छी सामाजिक स्थितिवाले थे। तानाशाहो के विनाश के पश्चात् क्लैस्थेनीस् लोकनायक हुआ जो कि अल्क्मेओनोदी कुल मे उत्पन्न हुआ था, एव इसागोरास् के दल के निर्वासन के पश्चात् उसका कोई प्रतिपक्षी नही रह गया था। इसके उपरान्त सामान्य जनता का नेता क्षान्तिप्पस बना और गण्यमान्य (सम्पन्न) लोगो का नेता हुआ मिल्तियादीस्, एव इनके पश्चात आए थेमिस्टोक्लीस् और अरिस्तैदीस्। इनके भी उपरान्त एफियाल्तीस् साधारण लोकवर्ग का नेता हुआ एव मिल्तियादीस का पुत्र किमौन् सुसम्पन्न लोगो का। इसके बाद पैरीक्लीस जनता का नेता बना और थूकीदिदीस्[३] (जिसका किमौन् के परिवार से विवाह का नाता था) विरोधी दल का अग्रणी हुआ। पैरीक्लीस का अवसान हो जाने पर गण्यमान लोगोके नेताके रूपमे निकियास[४] प्रकट हुआ जो, आगे चलकर सिकेलिया (सिसली के युद्ध) में अन्त को प्राप्त हुआ और क्लियैनेतस का पुत्र क्लेयॉन्[५] लोकनायक बना। यह क्लेयॉन् ही अपनी विकट योजनाओ के कारण जनतत्र (अथवा जनता) को सबसे अधिक पथभ्रष्ट करनेवाला प्रतीत होता है। वह सबसे प्रथम व्यक्ति था जिसने पीठिका[६] पर से जनता को भाषण देते समय अशोभन तुमुल नाद और अशिष्ट गालियो का प्रयोग किया तथा अपने प्रावारक को समेट कर कटि से बाँधा, जब कि अन्य सब व्यक्ति शिष्टता और व्यवस्था के साथ भाषण करते थे। इसके उपरान्त हाग्नौन् का पुत्र थैरामैनीस्[७] एक (अर्थात् सपन्न लोगो) के दल का नेता हुआ और वीणाकार क्लेयोफान् साधारण जनता का नायक बना, जिसने सबसे प्रथमबार दो ओबल[८] प्रतिदिन के हिसाब से नाटक देखने के लिये जनता को प्रदान करने की प्रथा चालू की। और कुछ समय तक ऐसा दान प्रति व्यक्ति को दिया जाता रहा। इसके पश्चात् पाइयानिया-निवासी कल्लिक्रातीस ने जनता के समक्ष दो ओबल के साथ एक और ओबल देने की प्रतिज्ञा करके उसको उसके स्थान से हटा दिया। आगे चलकर इन दोनो ही व्यक्तियो को मृत्युदण्ड दिया गया; क्योकि चाहे जनसाधारण कुछ समय के लिये धोखा खा जाय पर अन्ततोगत्वा, जो कोई उनको अशोभन काम करने के लिये बहकाता है वे उसको घृणा करने लगते हैं। क्लेओफोन के पश्चात् सार्वजनिक नेतृत्व पर लगातार ऐसे लोगो का

अधिकार रहा जो बडी डीग मारते थे और बहुमत की रुचि को पूर्ण करना चाहते थे, पर यह सब कुछ करते हुए उनकी दृष्टि क्षणिक स्वार्थो की सिद्धि पर लगी रहती थी। आरभिक काल के नेताओ के पश्चात्, अथेन्स के शासनव्यवस्थापको मे श्रेष्ठ व्यक्ति, निकियास, थूकीदिदीस् और थेरामेनीस् हुए प्रतीत होते है। और निकियास तथा थूकीदिदीस के विषय मे लगभग सभी की सम्मति यह है कि वे केवल उच्च कुल मे उत्पन्न हुए और उदारचरित व्यक्ति ही नही थे प्रत्युत कुशल राजनीतिज्ञ भी थे, एव राजकार्य को पिता के सदृश भावना से चलाते थे। किन्तु थेरामेनीस के विषय मे जनता का निर्णय भिन्न भिन्न प्रकार का है क्योकि उसके समय मे शासनव्यवस्था अत्यन्त गडबडी मे पड गयी थी। पर जो लोग यादृच्छिक विचार नही करते (प्रत्युत गभीरता से सोचते हैं) वे निश्चयमेव उसको, जैसा कि उसके आलोचक झूठमूठ उसको सब प्रकार की व्यवस्था का लोप करनेवाला कहते है, वैसा नही मानते, प्रत्युत जब तक कोई भी व्यवस्था नियमो (कानूनो) का उल्लघन न करे तब तक वे उसको प्रत्येक व्यवस्था का समर्थक मानते हैं। इससे यह सूचित होता है कि जैसा कि प्रत्येक भले नागरिक को होना चाहिये वह किसी भी प्रकार की व्यवस्था के आधिपत्य में रहने की योग्यता (क्षमता) रखता था, पर वह नियमशून्यता के साथ समझौता करने को प्रस्तुत न था, प्रत्युत उसको इससे घृणा थी।

२९

(प्रजातंत्र का पतन। 'चारसौ" का संविधान। इसकी स्थापना की विविध अवस्थाएँ; (१) ३० सदस्यो की समिति के द्वारा ५ सहस्र की संविधान सभा बनाने का सुझाव।)

जब तक युद्ध की व्यवस्था सतुलित ढग से चलती रही तब तक तो अथेन्सवासियों ने प्रजातत्र को सुरक्षित रक्खा, पर सिकैलिया में हुए भीषण विनाश[1] के उपरान्त, जब कि फारस के सम्राट् की मित्रता के कारण लाकैदायमॉन् (स्पार्टा) की शक्ति बढ़ गयी तो अथेन्सवासियो ने विवश होकर जनतत्र को बदल दिया और उसके स्थान पर चारसौ के सविधान को स्थापित किया। मतदान के पूर्व इस प्रस्ताव के पक्ष का समर्थन करते हुए मेलौबियस् ने भाषण किया था, प्रस्ताव की रूपरेखा अनाफ्लीस्तस के पीथोदोरस के द्वारा उपस्थित की गयी, पर वास्तविक युक्ति जिससे बहुमत इस प्रस्ताव को मानने के लिए प्रस्तुत किया जा सका, यह थी कि यदि अथेंस के सविधान को धनिक-

तत्र अथवा अल्पजनतत्र बना दिया जाय तो पारसीक सम्राट् अधिक सभवतया उसी (अथेन्स) के साथ सधि कर लेगा। पीथोदोरस के प्रस्ताव का आशय कुछ निम्नलिखित प्रकार का था। लोकपरिषद् जनरक्षासमिति[२] के पहले से ही विद्यमान १० सदस्यो के साथ बीस और ऐसे मनुष्य को चुनेगी जो ४० वर्ष से अधिक अवस्था के होगे, और यह (३० सदस्य) यह शपथ लेकर कि हम ऐसे नियम रचने की भरसक चेष्टा करेगे जो हमारे विचार मे राष्ट्र के लिये सर्वोत्तम होगे, सार्वजनिक सुरक्षा के प्रस्तावो को लिखकर तैयार करेगे। इसके अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को भी अधिकार होगा कि यदि वह चाहे तो अपने प्रस्ताव उपस्थित करे, जिससे कि सब प्रस्तुत योजनाओ मे से जनता सर्वश्रेष्ठ योजना को चुन सके। क्लैतौफॉन ने भी वही बात कही जो पीथौदोरस् ने कही थी पर उसने इसके साथ यह और कहा कि चुनी हुई समिति को क्लैस्थेनीस् के उन पुरातन पैतृक नियमो की भी जॉच करनी चाहिये जो उसने जन तत्र की स्थापना के समय निर्धारित किये थे, जिससे कि विचार करते समय (सुनते समय) यह नियम भी उनके सामने रहे और वे श्रेष्ठ निर्णय कर सके, उसके सुझाव का आशय यह था कि क्लैस्थेनीस का सविधान जनतत्रात्मक नही था, प्रत्युत सोलॉन् के सविधान से अत्यधिक मिलता जुलता था। समिति के चुने जाने पर, उसका सर्वप्रथम प्रस्ताव यह था कि प्रीतानीस[३] के लिये यह अनिवार्यतया आवश्यक होना चाहिये कि जो भी प्रस्ताव सार्वजनिक सुरक्षा के निमित्त उपस्थित किया जाय उस पर मत लिये जाने चाहिये। इसके उपरान्त उन्होने सब अवैध प्रस्तावो पर चलाये जानेवाले अभियोगो को समाप्त कर दिया, एव सब अभिशसन पर आश्रित मामलो और सार्वजनिक आरोपो की पद्धति का भी अन्त कर दिया जिससे प्रत्येक अथेन्सवासी को इस बात की पूर्ण स्वतत्रता हो कि यदि वह चाहे तो प्रस्तुत परिस्थिति पर (निर्भीकता से) अपना मत प्रकाशित कर सके। उन्होने यह आदेश भी प्रचारित किया कि यदि कोई इस सबध मे किसी व्यक्तिपर धनदण्ड डाले, अभियोग चलाये, अथवा उसको न्यायालय के समक्ष आह्वान करे, तो ऐसा करनेवाले के विषय मे सूचना प्राप्त होने पर, उसको तत्काल पकड़कर सेनापतियो के समक्ष उपस्थित किया जाना चाहिये, जो उसे मृत्युदण्ड देने के लिये ११[४] को सौप दे। इस (आरभिक) तैयारी के उपरान्त उन्होने सविधान को निम्नलिखित प्रकार से व्यवस्थित किया। राष्ट्र का धन युद्ध के अतिरिक्त किसी कार्य पर व्यय न किया जाय। जब तक युद्ध चालू रहे तब तक नौ आर्खेनो और प्रीतानीओं के अतिरिक्त अन्य सब शासनपदाधिकारियो को बिना वेतन राष्ट्रसेवा करनी चाहिये एव आर्खनो और प्रीतानी(ने)ओ को प्रतिदिन तीन ओबल मिलने चाहिये।

शेष सब का सब शासनकार्य, जब तक कि युद्ध चलता रहे, ऐसे अथेन्सवासियो को सौप दिया जाना चाहिये जो कि शरीर से (व्यक्तिगत रूप मे) अथवा धन से राष्ट्र की सेवा के लिये सबसे अधिक सामर्थ्यवान हो, तथा जिनकी सख्या पॉच सहस्र से कम न हो तथा इस परिषद् को सब प्रकार के अधिकार प्राप्त हो, यहॉ तक कि वे जिसके साथ चाहे उसके साथ सधि भी कर सके। इन पाच सहस्र व्यक्तियो की सूची तैयार करने के लिये प्रत्येक गण मे से ४० वर्ष से अधिक अवस्थावाले १० प्रतिनिधि चुने जाने चाहिये जो एक सर्वांगपूर्ण यज्ञ मे शपथ ग्रहण करके यह कार्य आरभ करे।

३०

(पाँच सहस्र के द्वारा सविधान का प्रारम्भिक रूप प्रस्तुत करने के लिये १०० सदस्यों के आयोग की नियुक्ति। उनके द्वारा तीस वर्ष से अधिक अवस्था वाले मनुष्यों की परिषदों से संघटित भावी सविधान की रचना।)

उसी चुनी हुई समिति के यह प्रस्ताव थे। जब इनको स्वीकार कर लिया गया तो ५ सहस्र[1] व्यक्तियो ने अपने मध्य मे से ही एक सौ मनुष्यो को सविधान प्रस्तुत करने के निमित्त एक आयोग के रूप मे चुना। उन्होने अपनी नियुक्ति के उपरान्त निम्न-लिखित प्रस्तावो को सग्रथित करके प्रस्तुत किया। एक वर्ष पर्यन्त चलनेवाली एक ऐसी परिषद् होनी चाहिये जिसके सदस्य ३० वर्ष से अधिक अवस्थावाले हो तथा जो बिना वेतन के राष्ट्र की सेवा करे। सेनापति, नौ आर्खन, धर्मलेखक[2] पदाति दल के अध्यक्ष, अश्वारोहियो के सेनापति, अश्वारोहियो के उपसेनापति, सुरक्षाचौकियो के अधिकारीगण, अथेना एव अन्य देवी देवताओ की सम्पत्ति के कोषाध्यक्ष (जिनकी सख्या दस होती थी) हैलेनीस जाति के कर-कोषाध्यक्ष,[3] धार्मिक सम्पत्ति से भिन्न अन्य धन के कोषाध्यक्ष जिनकी सख्या २० तक हो सकती थी, तथा जो खुले मतदान द्वारा चुने जाते थे, दस यज्ञो के कार्य करनेवाले और दस (रहस्यो के) अध्यक्ष, यह सब अधि-कारी इसी परिषद् के घटक होने चाहिये। यह लोग पूर्णपरिषद् मे से पहले चुने हुई एक बडी जनसख्या मे से छाँटे जाकर परिषद् के द्वारा नियुक्त किये जाने चाहिये। अन्य पदो पर नियुक्तियॉ शलाकाग्रहण-पद्धति से होनी चाहिये और परिषद् मे से नही, उससे बाहर से होनी चाहिये। हैलेनीस जाति के कोषाध्यक्षो को, जो कि वास्तव मे सब कोष का प्रबन्ध करते थे, परिषद् के साथ नही बैठना चाहिये। आगामी (भविष्य) काल के लिये, पूर्व वर्णित अवस्था के ही मनुष्यो की चार परिषदें बनाई जानी चाहिये। तथा इनमे से एक तो शलाकाग्रहण-पद्धति द्वारा तत्काल पदग्रहण करने के लिये चन

। ,

ली जानी चाहिये, तथा शेष को भी शलाकाग्रहण द्वारा प्राप्त हुई बारी के अनुसार पदग्रहण करना चाहिये। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये सौ आयोक्ता एव अन्य सब अपने को यथा-सभव चार बराबर भागो मे विभक्त कर दे और प्राथमिकता के लिये शलाका ग्रहण करे, और इस प्रकार चुना हुआ वर्ग एक वर्ष के लिये शासनपद ग्रहण करे। उनको (विशेषतया) कोष की सुरक्षा एव समुचित व्यय को दृष्टि मे रखते हुए और सामान्य-तया अन्य सब शासन सबधी विषयो को दृष्टि मे रखते हुए अपनी योग्यता की श्रेष्ठ क्षमता के अनुसार जो मार्ग सर्वोत्तम प्रतीत हो उसी के अनुसार शासनकार्य करना चाहिये। यदि परामर्श के लिये वे अधिक व्यक्तियो को परिषद् मे लेना चाहे तो प्रत्येक सदस्य अपनी पसन्द के एक और व्यक्ति को आमन्त्रित कर सकेगा पर आमन्त्रित सदस्य भी उसी अवस्था का होना चाहिये। जब तक कि अधिक शीघ्रतापूर्वक और अधिक सख्यक बैठको की आवश्यकता न पडे तब तक परिषद् की बैठक प्रति पॉच दिन मे एक बार होगी। परिषद के लिये शलाकाग्रहण कार्य नौ आर्खनो के अधिकार मे रहेगा, मतभेद होने पर मतगणना का कार्य पाँच गणको द्वारा किया जायगा जो कि शलाकाग्रहण-पद्धति से नियुक्त किये जायँगे, इनके सभापति-पद के लिये इनमे से ही एक व्यक्ति प्रतिदिन गुटिका द्वारा चुना जायगा। जो भी (व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह) परिषद् के समक्ष उपस्थित होना चाहेगा उनकी उपस्थिति की प्राथ-मिकता का निर्णय भी यही पाँच चुने हुए गणक करेंगे, पर उनको प्रथम स्थान धार्मिक मामलो को देना होगा, दूसरा सदेश-वाहको को, तीसरा राजदूतो को और चौथा अन्य विषयो को। पर युद्धसबधी विषयो का विवेचन तो सेनापतियो के प्रस्ताव पर, ज्यो ही आवश्यकता हो, त्यो ही बिना गुटिका ग्रहण के, कभी भी हो सकता था। यदि परिषद् का कोई सदस्य परिषद् की बैठक के लिये नियत घटे (समय) पर परिषद्-भवन मे प्रवेश नही करेगा तो, यदि वह परिषद् से अनुपस्थिति की छुट्टी पर न हुआ, तो उस पर प्रति दिन एक द्राख्मा दड पड़ेगा।

३१

(पूर्ण शासनिक अधिकारों वाली चारसौ सदस्यो की परिषद् पर आश्रित दूसरी योजना जो तत्काल कार्यान्वित्त की जाने के लिए बनाई गयी थी।)

इस सविधान को तो उन्होने आगे आनेवाले समय के लिये अकित किया था, पर प्रस्तुत कठिन अवसर पर अविलम्ब काम मे लाने के लिये उन्होने निम्नलिखित विधान बनाया था। जैसा कि प्राचीन (पुरखो के)[1] समय मे होता था, तदनुसार

परिषद् चार सौ सदस्यो की होनी चाहिये, जिनमे से ४० सदस्य प्रत्येक गण मे से आने चाहिये, और यह चालीस सदस्य उनतीस वर्ष से अधिक अवस्थावाले प्रार्थियो मे से चुने जाने चाहिये जो कि गण के सदस्यो द्वारा अपने गण मे से छाँटकर प्रस्तुत किये गये हो। शासनपदाधिकारियो की नियुक्ति एव उनके द्वारा ग्रहण की जानेवाली शपथ का रूप निश्चय करना यह इसी परिषद् का काम था, नियमो (कानूनो) से सबध रखने-वाले सब विषयो मे, सरकारी आयव्यय के खातो के निरीक्षण के सबध में तथा सामान्य-तया अन्य विषयो मे भी वे अपनी विवेकबुद्धि के अनुसार उपयोगी समझकर काम कर सकते थे। तो भी सविधान के सबध मे जो भी नियम स्थापित किये जायँ उनको इस परिषद् को अवश्यमेव मानना चाहिये, उन नियमो को बदल देना अथवा अन्य नियमों को स्थापित करना उनके अधिकार मे नही था। सेनापति इस समय समग्र ५००० के समह मे से चुने जाने चाहिये, पर ज्यो ही परिषद् की स्थापना हो त्यो ही उसको सामरिक सज्जा की पडताल करनी चाहिये, एव इस कार्य के निमित्त एक मत्री (लेखक) के सहित १० व्यक्तियो को चुन लेना चाहिये, इन चुने हुए व्यक्तियो को आगामी वर्ष में पदाधिकारी रहना चाहिये, इनको पूर्ण अधिकार प्राप्त होने चाहिये तथा उनको यह अधिकार भी होना चाहिये कि वे जब भी चाहे तब ससद के विचारविमर्श मे सम्मिलित हो सके। पचसाहस्री को ही एक अश्वारोही सेना का अध्यक्ष और दस उपाध्यक्षो को चुनना चाहिये, पर भविष्य मे इन अधिकारियो को पूर्व निर्धारित नियमो के अनुसार परिषद् का कार्य होगा। संसद के सदस्यो एव सेनापतियो के पदो के अतिरिक्त अन्य किसी पद पर, प्रथम पदाधिकारी अथवा उनके उत्तरा-धिकारी, कभी एक बार के पश्चात् दूसरी बार आरूढ नही हो सकते। चारसौ व्यक्तियो के भावी चार भागो मे विभक्त किये जाने के सबध में यह निश्चय हुआ कि जब भी अन्य लोगो के साथ नागरिको का परिषद् मे सम्मिलित होने का समय उपस्थित हो[२] तभी सौ आयोक्ताओं को उनको चार भागों मे बाँट देना चाहिये।

३२

(चार सौ का शासन। लाकैदायमॉन (स्पार्टा) वालों के साथ संधिवार्त्ता असफल।)

पाँच सहस्र के द्वारा नियुक्त सौ व्यक्तियों के आयोग ने इस प्रकार के सविधान को प्रस्तुत किया। अरिस्तौमाकस् की प्रधानता मे साधारण जनता के द्वारा इस सविधान के स्वीकार कर लिये जाने के उपरान्त, कल्लियास् के वर्ष[१] की विद्यमान

परिषद, अपना पूर्ण समय भोगने के पूर्व ही विघटित कर दी गयी। यह थार्गीलियन् मास की चतुर्दशी के दिन विघटित हुई थी, तथा जब थार्गीलियन[2] मास की समाप्ति के नौ दिन थे तो चार सौ की परिषद् पदारूढ हुई। जब कि होना यह चाहिये था कि नियमानुसार गुटिकाग्रहण द्वारा चुनी हुई परिषद् स्किरिफौरियोन्[3] मास की १४वी तिथि को पदारूढ होती। इस प्रकार कल्लियास् के आर्खनकाल मे, तानाशाहो के निष्कासन के ठीक लगभग सौ वर्ष पीछे अल्पजनतत्र की स्थापना हुई। इस क्रान्ति के प्रमुख कारण बने-पिसान्दर, अन्तिफॉन, और थेरामैनीस्, जो सब के सब अच्छे उदार कुलो मे उत्पन्न हुए थे, तथा जिनकी योग्यता एव विवेकपूर्ण होने की ख्याति थी। किन्तु जब यह सविधान स्थापित हो गया तो पॉच सहस्र का चुनाव तो केवल नाम के ही लिये हुआ, एव चार सौ की परिषद् ने दस उच्च पदाधिकारियो[4] के सहित (जिनको पूर्णाधिकार दे दिया गया था) परिषद्भवन पर अधिकार जमा लिया (अथवा प्रवेश करके आधिपत्य कर लिया) और वास्तविक शासन का सचालन करना आरभ कर दिया। उन्होने सबसे प्रथम लाकैदायमॉन (स्पार्टा) के पास यह प्रस्ताव लेकर दूत भेजे कि दोनो पक्षो की जो विद्यमान स्थिति है उसी के आधार पर युद्ध बन्द कर दिया जाय। पर जब स्पार्टावालो ने अथेन्स के सामुद्रिक प्रभुत्व को त्याग करने के पूर्व इनकी बात भी न सुननी चाही तो उन्होने सधिवार्ता को छोड दिया।

३३

(एरेट्रिया के सामुद्रिक युद्ध में अथेंस की पराजय। यूबोइया के विद्रोह पर चार सौ के शासन का पतन। शासन-सूत्र पाँच सहस्र को सौंपा जाना। शुभ परिणाम होना। क्रान्ति के नेता अरिस्तोक्रातीस और थेरामैनीस।)

चार सौ का शासनप्रबध लगभग चार मास तक चालू रहा, और उनके मनोनीत म्नासीलौखस ने, थियोपौम्पस के आर्खन-वर्ष मे दो मास तक आर्खन-पद ग्रहण किया, शेष १० मास थियोपौम्पस आर्खन-पद पर आरूढ रहा। तथापि एरेट्रिया[1] के जलयुद्ध मे (अथेन्स) की पराजय, एव औरेयन् को छोडकर समग्र यूबोइया मे विद्रोह हो जाने के कारण, जनता का रोष पूर्ववर्ती किसी भी क्षति (विनाश) की अपेक्षा बहुत अधिक बढ गया, क्योकि इस समय उनको अत्तिका प्रदेश की अपेक्षा कही अधिक साधन-सामग्री (रसद) यूबोइया से प्राप्त हो रही थी। उन्होने चार सौ की परिषद् को शासकपद से च्युत कर दिया, और शासन का काम, सामरिक सज्जा से युक्त पाँच सहस्र जन की परिषद् को सौप दिया, तथा साथ ही यह भी प्रस्ताव पास कर दिया कि

किसी सार्वजनिक पद के लिये कोई वेतन न दिया जाय। इस क्रान्ति के प्रमुख पुरस्कर्ता थे अरिस्तोक्रातीस और थेरामैनीस,[१] जो कि चार सौ की परिषद् की इस नीति से सतुष्ट एव सहमत नही थे कि उसने सारा कामधाम अपने ही हाथ मे रख लिया था एव किसी कार्य का भार पाँच सहस्र की परिषद् के लिये नही छोडा था। इस समय मे, शासन-व्यवस्था बहुत अच्छी रही प्रतीत होती है क्योकि युद्ध इस समय चालू था और शासन की सत्ता एव मतदान का अधिकार उन लोगो के हाथ मे था जो कि सामरिक सज्जा से युक्त थे।

३४

(पाँच सहस्र का पद से वंचित किया जाना। जनसंसद का पुनः शासनाधिकार पाना आर्गिनुसाए का युद्ध। सेनापतियों को दण्ड। स्पार्टा के सन्धि प्रस्ताव का ठुकाराया जाना। अएगौस्पोतापी का युद्ध। अथेंस का पतन। लीसान्द्रोस् के द्वारा तीस के शासन की स्थापना।)

तथापि जनता ने शीघ्र ही इन (पाँच सहस्र) को शासनव्यवस्था (के एकाधिपत्य) से वचित कर दिया। चार सौ के परिषद् के शासन की समाप्ति से सात वर्ष[१] पीछे अगेले के कल्लियास् के आर्खनकाल मे, अर्गिनूसाई का जलयुद्ध हुआ, जिसका परिणाम प्रथम तो यह हुआ कि वे दस[२] सेनापति जिन्होने इस जलयुद्ध में विजय प्राप्त की थी सब के सब एक बार के मतदान मे दण्डित कर दिये गये; क्योकि क्रोध भडकानेवाले लोगो के द्वारा जनता बहक गयी थी, यद्यपि तथ्य यह था कि कुछ सेनापतियों ने तो जलयुद्ध मे कोई सक्रिय भाग ही नही लिया था, एव दूसरे कुछ स्वय डूबते हुए अन्य नौकाओ के द्वारा बचाये गये थे।[३] दूसरा परिणाम यह हुआ कि जब लाकैदायमॉन (स्पार्टा) वालो ने विद्यमान स्थिति के आधार पर दैकेलेइया को छोड़कर चले जाने का प्रस्ताव किया तो, यद्यपि कुछ एक अथेन्सवासियो ने शान्ति को लाने के लिये इस प्रस्ताव का समर्थन किया, पर अधिकाश जनता ने उसकी बात सुननी भी न चाही। कारण यह था कि जनता को क्लेऔफॉन ने बहकाकर भडका दिया था, वह स्वयं सभा मे मदिरा के नशे मे चूर और वक्षकवच[४] पहने हुए आया था और उसने दोनो पक्षो की शान्ति की स्थापना में यह घोषणा करते हुए बाधा डाली कि जब तक स्पार्टा हमारे साथी नगरो पर से अपना अधिकार नही त्यागेगा तब तक हम सन्धि (शान्ति) को स्वीकार नहीं करेंगे। तब तो उन्होने इस अच्छे अवसर का सदुपयोग नही किया पर फिर पीछे अपनी गलती समझने में उनको अधिक समय नही लगा। अगले वर्ष अलेक्षियास् के आर्खनकाल में अरगोस्पोतामी[५] (अइगौस नदी) के जलयुद्ध मे दारुण विनाश

घटित हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि नगर (अथेन्स) का आधिपत्य लीसाण्डर को प्राप्त हुआ और उसने निम्नलिखित प्रकार से तीस का शासन स्थापित किया। सन्धि की एक शर्त यह थी कि अथेन्स का शासन-कार्य पुरखो की पुरातन पद्धति के अनुसार किया जाना चाहिये। (इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की गई।) जनतत्री दल ने अथेन्स की साधारण जनता का प्रभुत्व अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया। गण्यमान लोगो के दो दलो मे से एक ने, जो कि राजनीतिक मडलियो के सदस्यो[६] और सन्धि के पश्चात् लौटकर आये निर्वासित व्यक्तियो से मिलकर बना था, धनिकतत्र (=अल्पजनतत्र) को स्थापित करने की कामना की, दूसरा दल, जिसके सदस्य किसी राजनीतिक मडली के सदस्य नही थे, पर अन्य बातो मे इतने ही सुविख्यात थे, जितना कोई दूसरा नागरिक हो सकता है,"पैतृक शासन-पद्धति" को (अर्थात् सौलॉन् के ढग की पद्धति को) स्थापित करने के लिये यत्नशील था। इस दल के सदस्य आर्खीनॉस्, अनीतॅस, क्लैतौफॉन् फौर्मीसियस एव बहुत से व्यक्ति थे, पर उनका सबसे अधिक प्रमुख अग्रणी थेरामेनीस् था। लीसाण्डर ने धनिकतत्र के पक्ष का समर्थन किया एव जनता के दल को बलात्कार से भयभीत होकर धनिकतत्र की स्थापना के लिये मत देना पडा। इस उद्देश्य का प्रस्ताव अफिद्नावासी (द्राकौन कुलवाले) द्राकौन्तिदीस् ने उपस्थित किया था।

३५

(तीस का शासन। इसके अतिगामी कार्य। सत्वर ह्रास।)

इस प्रकार मे पीथॉदौरस के आर्खन-काल[१] मे तीस के शासन की स्थापना हुई। ज्यो ही वे नगर के स्वामी बने त्यो ही उन्होने उन सब प्रस्तावो की अवज्ञा कर दी जो सविधान की व्यवस्था के सबध मे स्वीकार किये गये थे, और पॉच सौ सदस्यो की परिषद् एव पहले से ही चुने हुए एक सहस्र व्यक्तियो मे से अन्य शासन-पदाधिकारियो को नियुक्त करके तथा पिरेइयस के दस आर्खनो, बन्दीगृहो के ग्यारह अध्यक्षो एव तीन सौ कशाधारियो को अपने साथ लेकर इनकी सेवा-सहायता से उन्होने नगर को अपने अधिकार मे रखा। आरभ मे तो सचमुच उन्होने नगर-निवासियो के प्रति सयत ढग से व्यवहार किया और पुरातन व्यवस्था के अनुसार नगर का प्रबन्ध करने का दिखावा किया। इस नीति के अनुसरण करने के लिये उन्होने अरियोपागस की पहाडी पर से एफियाल्तीस और आर्खेस्त्रातस् के नियमो को उतारा, एव सोलॉन् के उन कानूनो को उन्होने निरस्त कर दिया जिनका अर्थ विवादग्रस्त था, तथा न्यायालयो की सर्वोपरि सत्ता को उच्छिन्न कर दिया। इन सब बातो के द्वारा वे सविधान को सुधारने और

विवाद (अस्पष्टता)-रहित बनाने का दावा करते थे। उदाहरण के लिये उत्तराधिकार देनेवाले को सर्वदा के लिये अपनी सम्पत्ति को अपने इच्छानुसार छोड जाने की स्वतत्रता प्रदान करने मे एव विक्षिप्तता, वृद्धावस्था एव अनुचित नारियो के प्रभाव के सबध में जो विद्यमान मर्यादाएँ थी उनको निरस्त करने मे उनका उद्देश्य यह था कि व्यवसायी अभियोक्ताओ के लिये कोई छिद्र न रह जाय। अन्य मामलो मे भी इन लोगो का व्यवहार इसी प्रकार का था। आरभ मे उन्होने इसी प्रकार मे कार्य चलाया एव व्यवसायी अभियोक्ताओ एव ऐसे कुटिल तथा दुष्प्रवृत्तिवाले लोगो को नष्ट कर दिया जिन्होने अपना स्वार्थ साधने के लिये जनतत्र के अनुग्रह-सपादनार्थ अपने को उससे सन्नद्ध कर दिया था एव जिनसे जनतत्र की अत्यन्त हानि हो रही थी। उनके इन सब कार्यों से नगर को बहुत प्रसन्नता हुई और नगर-निवासियो ने सोचा कि यह तीस (शासक) सब कार्य श्रेष्ठ मन प्रेरणा से कर रहे है। पर ज्यो ही उनको नगर पर सुदृढ प्रभुत्व प्राप्त हुआ त्यो ही उन्होने किसी नागरिक को नही छोडा,प्रत्युत ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को मरवा डाला जो धन, कुल अथवा ख्याति मे प्रमुखता रखता था। ऐसा करने में उनका उद्देश्य उन मनुष्यो को मिटा देना था जिनसे उन्हे भय लगता था तथा इसके साथ ही साथ उनकी इच्छा उनके धन को अपहरण करने की भी थी , थोडे से ही समय मे उन्होने कोई १५०० मनुष्यो से कम की हत्या नही की।

३६

(थेरामेनीस द्वारा इस शासन का विरोध। तीन-सहस्र की परिषद् की नामावली।)

इस प्रकार नगर की दशा का पतन देखकर थेरामेनीस को इन तीस शासको के कार्यो से बडी खिन्नता (व्यग्रता) हुई। उसने उनको यह परामर्श दिया कि वे इस प्रकार के उच्छृखल कार्यों को बन्द कर दे, और उच्चतर वर्ग के नागरिको को भी शासन-कार्य मे हाथ बँटाने दे। पहले तो उन्होने उसके परामर्श का विरोध किया, पर जब उसके प्रस्तावो की चर्चा जनता में सब ओर फैल गई और बहुत कुछ जनता उसके साथ मिलने लगी तो इनको यह भय लगा कि कही थेरामेनीस जननायक बनकर उनकी इस उच्छृंखल प्रभुता को नष्ट न कर दे। अतएव उन्होने तीन सहस्र नागरिको की एक सूची प्रस्तुत की, और यह घोषणा की कि इन तीस सहस्र व्यक्तियों को शासन-सत्ता में भाग मिलेगा। थेरामेनीस ने इस योजना मे दोष निकाल दिये ; प्रथम तो उसने यह बतलाया कि जब कि इनका प्रस्ताव तो सभी सभ्रान्त नागरिको को शासन-कार्य में भाग देने का है, वास्तव में यह केवल तीन सहस्र को शासन मे हिस्सा दे रहे हैं, मानों

समग्र सद्गुण इन तीन सहस्र मे ही सीमित हो , दूसरे यह कि यह लोग दो परस्पर विरोधी कार्य कर रहे है, क्योकि शासन-पद्धति को बल के आधार पर आश्रित करके ये शासको को शक्ति मे शासितो से हीनतर बना रहे हैं । तथापि, उन्होने इस आलोचना पर बहुत थोडा ध्यान दिया, एव तीन सहस्र की नामावलि के प्रकाशन को बहुत समय तक टालते रहे, तथा उस सूची मे अन्तर्भुक्त नामो को उन्होने अपने तक ही सुरक्षित रक्खा , और जब कभी भी उन्होने इस सूची को प्रकाशित करने का निश्चय किया तभी उन्होने उसमे सम्मिलित कुछ नामो को निकाल दिया, और जो अब तक उससे बाहर थे ऐसे कुछ अन्य नामो को सम्मिलित कर लिया ।

३७

(थ्रासीबुलस का फीले पर अधिकार करना । थेरामेनीस को मृत्युदण्ड । लाकैदाय मान के रक्षादल का अंथेस में प्रवेश ।)

अब जब कि शीतकाल आ पहुँचा तो थ्रासीबुलस्[1] ने निर्वासितो के साथ फीले नामक स्थान पर अधिकार कर लिया, तथा जिस सैन्यबल को लेकर "तीस" उन पर आक्रमण करने के लिये बढे उसको बुरी तरह पराजित होकर पीछे लौटना पडा । इस पर "तीस" ने थेरामेनीस का विनाश करने के लिये, अधिकाश जनता को अस्त्र-शस्त्र से रहित कर दिया और यह कार्य निम्नलिखित प्रकार से किया गया । उन्होने ससद् मे दो नियमो का प्रस्ताव किया और उनको मतदान द्वारा पास कराने का आदेश किया , प्रथम नियम ने तो "तीस" को ऐसे किसी भी नागरिक को मृत्युदण्ड देने का अधिकार दे दिया, जिसका नाम तीन सहस्र की तालिका मे न हो , दूसरे नियम ने किसी भी ऐसे नागरिक को नागरिक-अधिकार से वचित कर दिया (रोक दिया) जिसने इयेतियोनैइया[2] गढ के ढहाने मे हाथ बँटाया हो अथवा जिसने पूर्वकालीन अल्पजनतत्र की प्रस्थापिका चार सौ की परिषद् के विरुद्ध कुछ भी कार्य किया हो । थेरामेनीस ने इन दोनो ही योजनाओ मे सम्मिलित होकर काम किया था, अतएव इन नियमो के स्वीकृत होते ही वह नागरिक अधिकारो से स्वत बहिष्कृत हो गया एव "तीस" को उसको मृत्युदण्ड देने की पूर्ण सत्ता प्राप्त हो गई[3] । थेरामेनीस के इस प्रकार हटा दिये जाने के उपरान्त उन्होने तीन सहस्र को छोडकर शेष जनता को नि शस्त्र कर दिया एव अन्य भी बहुत से प्रकारो से उन्होने निर्दयता और पापो की वृद्धि की । उन्होने थेरामेनीस के चारित्र्य को कलकित करने एव सहायता की याचना करने के लिये लाकैदायमॉन् (स्पार्टा) को अपने प्रणिधि भेजे, उनकी इस प्रार्थना को सुनकर

लाकैदायमॉन निवासियो ने शासक और सेनाध्यक्ष के रूप मे कल्लिबियस् को ७०० सैनिको के साथ भेजा, जिन्होने आकर अक्रोपॉलिस पर अधिकार कर लिया और उसी मे रहने लगे ।

३८

(तीस की पराजय और उनका हटाया जाना । दस की ससद् । जनता का विरॅाग । द्वितीय दस की संसद एवं उसके द्वारा शान्ति की स्थापना ।)

इन घटनाओ के पश्चात् फीले मे स्थित निर्वासितों द्वारा मूनीखिया पर अधिकार करे लिया गया एव युद्ध में "तीसो" और उनके सहायको को परास्त कर दिया गया । इस भयपूर्ण पराजय के उपरान्त नगर का दल युद्धक्षेत्र छोडकर नगर को लौट आया । दूसरे दिन उन्होने बीच बाजार में सभा की और "तीस" को उनके स्थान से हटा दिया एव दस नागरिको को चुनकर उनको युद्ध समाप्त करने के लिये पूर्ण अधिकार प्रदान किया । पर जब दस ने शासन-सत्ता ग्रहण कर ली तो जिस कार्य के लिये उनका चुनाव हुआ था उसके लिये उन्होने कुछ भी नही किया प्रत्युत सहायता भेजने और धन उधार लेने के लिये दूतों को लाकैदायमॉन् (स्पार्टा) भेजा । फिर, यह देखकर कि उनके इन कार्यों से मतदान का अधिकार रखनेवाले नागरिक अप्रसन्न हो गये है, उनको यह भय लगा कि कही यह नागरिक उनको शासनप्रमुख-पद से हटा न दे, अतएव उन्होने जनता को भयाप्लुत करने के लिये देमारैतस् को, जिसके समान दूसरा कोई नागरिक नही था, पकड़कर मरवा डाला ; इससे उनके उद्देश्य की सिद्धि हो गई (अर्थात् जनता सत्रस्त हो गई) । राजकाज पर उनका अधिकार दृढ़तर हो गया । इन सब कार्यों मे उनको कुछ सरदारो के सहित कल्लिबियस और उसके साथी पेलोपॉनीसियनो की भी सहायता प्राप्त थी ; क्योंकि सरदारो के वर्ग के कुछ सदस्य उन नागरिकों मे से थे जो फीले के निर्वासितो को न लौटने देने के विषय मे अत्यन्त उत्सुक एव उत्साहपूर्ण थे । परन्तु जब सब जनता का झुकाव पिरेइयस् और मूनिखिया के दलो की ओर हो जाने से युद्ध में इन दलों का पलडा भारी हो गया तो नगर के दल ने प्रथमत. चुने हुए दस शासकों को उनके स्थान से हटा दिया और उनके स्थान पर दूसरे दस[1] व्यक्तियो को चुना जो सर्वश्रेष्ठ ख्याति वाले थे । इन्ही के शासन-काल में, इनके सक्रिय एवं उत्साहपूर्ण सहयोग से सम्मिलन, संधि घटित हुई एवं (इधर-उधर भागी हुई) जनता नगर को लौट आई । इस शासक-पटल के सबसे प्रमुख सदस्य थे दो—पाएनिया का रिनॉन् और आखर्दस् का फौल्लस, जिन्होने पौसानियास् के आने से पहले ही पिरेइयस के दल से सधि-वार्त्ता आरभ कर दी थी, एव उसके आने के

उपरान्त उन्होने निर्वासितो को लौटाने के उसके प्रयत्नो का उत्साहपूर्ण समर्थन किया । क्योकि, लाकैदायमॉन् का राजा पौसानियास ही वह व्यक्ति था जिसने, दस[२] मेल करानेवाले पचो की सहायता से (जो कि उसकी अभिनिविष्ट प्रार्थना पर बाद को स्पार्टा से आये थे) शान्ति और पुन सम्मिलन को पूर्णता को पहुँचाया था । रिनॉन् (और उसके साथियो) ने जनता के प्रति जो भलमनसाहत प्रकट की उसके लिये उनको धन्यवाद दिया गया अर्थात् उनकी सराहना हुई एक यद्यपि उन्होने अपना पदभार अल्पजनतत्र पद्धति के समय मे ग्रहण किया और अपना लेखा-जोखा जनतत्र के समय सौंपा तो भी न तो नगर में रहनेवाले दल के किसी व्यक्ति ने ही उनकी कोई शिकायत की और न पिरेइयस् से लौटनेवाले निर्वासितो मे से ही किसी ने । इसके विपरीत यह हुआ कि अपने इसी कार्य के लिये रिनॉन् अविलम्ब सेनापति-पद के लिये चुन लिया गया ।

३९

(सम्मिलन अथवा सधि की शर्तें । "तीस" के पक्षवालों का ऐल्यूसिस में बसना ।)

यह सधि युक्लैदीस के आर्खन-काल[१] मे निम्नलिखित शर्तों पर हुई । वे सब व्यक्ति जो कि अशान्तिकाल मे नगरी मे बने रहे थे अब यदि वे अथेन्स को छोडना चाहे तो उनको ऐल्यूसिस[२] मे बसने की स्वतत्रता है, उनके सब अधिकार यथापूर्व रहेगे और उनको आत्मशासन (स्वराज्य) का पूर्ण अधिकार रहेगा एव वे अपनी निजी सम्पत्ति का उपभोग कर सकेगे । ऐल्यूसिस का देवमन्दिर दोनो दलो के लिये समान उपयोग मे आयेगा, एव इसकी अध्यक्षता पुरातन नियम के अनुसार केरीकस और यूमौल्पस के वशधरो[३] द्वारा की जायगी । ऐल्यूसिस मे बसनेवालो को अथेन्स मे प्रवेश करने की आज्ञा नही होनी चाहिये और न अथेन्सवासियो को ऐल्यूसिस मे प्रवेश करने की, पर रहस्य-लीला काल मे दोनो स्थानो के निवासी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकेग और यह प्रतिबन्ध नही रहेगा । पृथक् होनेवाले नागरिको को सार्वजनिक सुरक्षा-कोष मे अपना अश इसी प्रकार अर्पण करना होगा जिस प्रकार अन्य अथेन्स-वासियो को । यदि कोई अपसरण करनेवाला व्यक्ति ऐल्यूसिस मे मकान लेना चाहेगा तो स्वामी की स्वीकृति दिलाने का प्रयत्न किया जायगा । किन्तु यदि वे परस्पर सहमत न हो सके तो उभयपक्ष की ओर से तीन तीन मूल्य-निर्णायक नियुक्त किये जाने चाहिये, तथा वे जो मूल्य निश्चय करे वह मकान के स्वामी को मिलना चाहिये । अपसरण करनेवाले ऐल्यूसिस के जिन निवासियो को रहने देना चाहे उनको वही रहने दिया जाय । जो लोग नगर को छोडकर बाहर बसने जाना चाहते हो, उनमें से ऐसे व्यक्तियो

की तालिका, जो देश मे है, शपथ ग्रहण करने के दस दिन पश्चात् तैयार हो जानी चाहिये एव उनका वास्तविक बहिर्गमन २० दिन मे सम्पादित हो जाना चाहिये , तथा जो लोग इस समय बाहर हो उनके लौट आने पर यही सुविधा उनको भी मिलनी चाहिये । ऐसा कोई भी व्यक्ति जो ऐल्यूसिस मे जाकर बस गया है अथेन्स मे किसी पद को ग्रहण करने के योग्य तब तक नही हो सकता जब तक कि वह पुन अथेन्स नगर के निवासियो की तालिका मे फिर से अपना नाम सम्मिलित न करा ले । हत्या के सब मामलो का और यदि किसी ने स्वय अपने हाथ से किसी अन्य व्यक्ति को मारा अथवा घायल किया हो तो ऐसे सब मामलो का निर्णय पुरातन पुरखो की पद्धति के अनुसार होना चाहिये । "तीस", "दस" और "ग्यारह" की शासक मडलियो एव पिरेइयस के शासन-पदाधिकारियो के अतिरिक्त अन्य सब व्यक्तियो मे परस्पर किसी को किसी के प्रति दौर्मनस्य नही रखना चाहिये, सबको सार्वत्रिक क्षमा प्रदान करना चाहिये, और यदि उपर्युक्त पदाधिकारी भी रीत्यनुसार अपना लेखा जोखा सौप दे तो इनके प्रति भी दुर्भावना नही रहनी चाहिये—इनको भी क्षमा मिल जानी चाहिये । जो लोग पिरेइयस मे शासन-कार्य करते थे उनको पिरेइयस के जन-न्यायालय के समक्ष अपना लेखा प्रस्तुत करना चाहिये एव जो लोग अथेन्स मे पदाधिकारी थे उनको वहाँ के जन-न्यायालय के समक्ष[४]। जो पृथक् होना चाहते थे वह इन शर्तों पर पृथक् हो सकते थे[५] । प्रत्येक दल ने युद्ध-सचालन के लिये जो धन उधार लिया था उसको प्रत्येक दल को स्वयमेव (अन्य दलो से अलग) चुकाना चाहिये ।

४०

(जनतंत्र का पुनरुद्धार । आर्खीनूस का कुशलनीतिपूर्ण कार्य । अथेंस छोड़कर लोगो का ऐल्यूसिस में बसना बन्द ।)

जब उपर्युक्त शर्तों के अनुसार मेल स्थापित हो गया, तो जो लोग "तीस" का पक्ष ग्रहण करके लडे थे उनको बहुत कुछ आशका और भय हुआ और बहुत से अथेन्स को छोडकर चले जाने का विचार करने लगे । पर जैसा सभी का करने का स्वभाव होता है, जब वे अपने नाम लिखाने का कार्य अन्तिम दिन के लिये टालते रहे तो आर्खीनस् ने उनकी इतनी बडी सख्या देखकर उनको अथेन्स के ही नागरिको के रूप मे रोक रखने के लिये नाम-तालिका को चालू रखने के शेष दिनो को काट दिया , इस प्रकार बहुत से व्यक्ति तब तक बडी अनिच्छापूर्वक अथेन्स मे रहने के लिये विवश हो गये जब तक कि उनको पुन विश्वास न जम गया । यह एक ऐसा विषय था जिसमें

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्खीनस ने अत्यन्त कुशल राजनीतिज्ञ के समान काम किया; इसके उपरान्त उसने एक अनियमित कार्य करने के कारण थ्रासीबुलस पर अभियोग चलाया, क्योकि उसने एक प्रस्ताव द्वारा उन सब लोगो को मतदान का अधिकार देना चाहा था जिन्होने पिरेइयस से लौटने मे भाग लिया था यद्यपि उनमे कुछ लोग स्पष्टतया दास थे। और तीसरा इसी प्रकार का कार्य उसने तब किया जब कि एक लौटे हुए निर्वासित व्यक्ति ने क्षमा की शर्त को तोडना चाहा। आर्खीनस ने उसको खीचकर परिषद् के समक्ष उपस्थित किया और परिषद् को समझाकर मनाया कि वह उसको बिना परीक्षण के मृत्युदण्ड दे दे। उसने कहा कि अब आप लोगो को यह दिखलाना होगा कि आप जनतत्र की रक्षा करना और जिन शपथो को आपने ग्रहण किया है उन पर स्थिर रहना चाहते है या नही। यदि आप इस व्यक्ति को छूट जाने देगे तो दूसरो को भी ऐसा ही करने के लिये प्रोत्साहित करेगे, और यदि इसको मृत्युदण्ड दिया तो वह सबको सिखानेवाला एक उदाहरण बन जायगा। परिणाम ठीक ऐसा ही हुआ भी, इस व्यक्ति के मृत्युदण्ड पाने के उपरान्त फिर किसी ने क्षमा की शर्तो को नही तोडा। इसके विपरीत, ऐसा लगता है कि अथेन्सवासियो ने, भूतकाल की दुर्घटनाओ के सबध मे व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन मे अत्यन्त उत्तमता एव राजनीतिक कुशलता के साथ व्यवहार किया। न केवल उन्होने भूतकालीन अपराधो की स्मृति को ही मिटा दिया, प्रत्युत उन्होने लाकैदायमॉन (स्पार्टा) का वह धन भी सार्वजनिक कोष से चुका दिया जो "तीस" ने युद्ध-सचालन के लिये उधार लिया था, यद्यपि सन्धि की निर्धारित शर्त के अनुसार होना यह चाहिये था कि प्रत्येक दल —नगर के दल और पिरेइयस के दल—अपना ऋण पृथक् पृथक् चुकाये। पर उन्होने ऐसा यह सोचकर किया कि सममनस्कता की स्थापना के लिये यही प्रथम आवश्यक कार्य है। पर अन्य नगर-राज्यो मे (विजयी) जनतत्री-दल मे इस प्रकार से अपनी सम्पत्ति मे से दूसरो को दान देने की प्रवृत्ति नही पाई गई, वे तो प्राय भूमि का पुनर्विभाजन ही कर दिया करते है। और इस अपसरण के तीन वर्ष पीछे तो क्षेनैनेतस् के आर्खनकाल मे नगर छोडकर चले जानेवालो के साथ ऐल्यूसिस मे ही अन्तिम सन्धि की गई।[१]

४१

(इयॉन् के समय से लेकर जनतंत्र के पुनरुद्धार के समय तक के सब संविधानों का सिहावलोकन। परिषद् में उपस्थिति के लिए वेतन की प्रथा का विवरण।)

परन्तु यह सब बाते तो कुछ समय पश्चात् घटित हुई। जिस समय की हम चर्चा कर रहे है उस समय तो, जनता ने शासनसत्ता पर प्रभुत्व प्राप्त करके वह

सविधान स्थापित किया जो आज तक विद्यमान है। उस समय पीथोदौरस् आर्खन था। पर ऐसा प्रतीत होता है कि जनतत्र ने सर्वोच्च शासनसत्ता को पूर्णतया न्यायानुमोदित ढग से प्राप्त किया था क्योकि उसने अपना प्रत्यावर्तन अपने ही उद्योग से सिद्ध किया था। अथेन्स के संविधान मे यह ग्यारहवाँ परिवर्तन था। नितान्त आदिम अवस्था मे प्रथम परिवर्तन तब हुआ जब इयॉन् और उसके साथियो ने जनता को एकत्रित करके समाज के रूप मे उसका सघटन किया, क्योकि उसी समय समग्र जनवर्ग चार गणो (जातियो) मे विभक्त किया गया और गणराजाओ की स्थापना हुई। दूसरा,[1] एव इस स्थापना के पश्चात् प्रथम, सविधान की व्यवस्था-सा प्रतीत होनेवाला परिवर्तन वह था जो थीसियस् के शासनकाल मे घटित हुआ, जिसमे एकराट्तत्र में किञ्चिन्मात्र परिवर्तन हुआ। इसके उपरान्त द्राको के समय के सविधान का नम्बर आता है, जिसमे प्रथम नियम-सग्रह सग्रथित किया गया। तीसरा सविधान नगर-विप्लव के पश्चात् सोलॉन् के समय मे बना, जिससे जनतत्र का उदय हुआ। चौथा परिवर्तन था पिसिस्त्रातस् की तानाशाही। पाँचवाँ सविधान वह था जो तानाशाहो के विनिपात के पश्चात् क्लैस्थेनीस के द्वारा स्थापित किया गया एवं जो सोलॉन् के सविधान की अपेक्षा अधिक जनतत्रात्मक था। छठा परिवर्तन मीडिक युद्धो के उपरान्त हुआ जब कि शासनकार्य की अध्यक्षता अरियोपागम् की परिषद् के अधीन थी। सातवाँ परिवर्तन जो इसके पश्चात् हुआ वह था जिसकी रूपरेखा अरिस्तैदीस् ने प्रस्तुत की थी एव जिसको, एफियाल्तीस् ने अरियोपागस की परिषद् को अधिकारच्युत करके, चरम रूप प्रदान किया था। इस (सविधान के) काल में, नगर ने लोकनायको के बहकाने पर अपने सामुद्रिक शासन के लिये सबसे बडी भूल (गलती) की। "चार सौ" की परिषद् की स्थापना आठवाँ और तदुपरान्त जनतत्र का पुनरुद्धार नवाँ परिवर्तन था। दसवाँ परिवर्तन था "तीस" और "दस" की तानाशाही। ग्यारहवाँ परिवर्तन फीले और पिरेइयस् से (जनता के) लौटने के उपरान्त घटित हुआ, एव उस दिन से लेकर आज तक यही पद्धति चालू रही है तथा जनता को निरन्तर अधिकाधिक शक्ति का लाभ होता गया है।

जनता ने सभी विषयो मे अपने को सर्वोपरि सत्ता बना लिया है, एव परिषद् में मतदान के द्वारा एव न्यायालयो के निर्णयों द्वारा (जिनमें कि इसको पूर्णाधिकार प्राप्त है) जनता ही सब बातो की व्यवस्था करती है। परिषद् के निर्णयो का अधिकार भी (अब) साधारण लोकवर्ग के हाथों में चला गया है एवं यह परिवर्तन ठीक ही हुआ प्रतीत होता है, क्योकि बड़े संस्थानों की अपेक्षा छोटे सस्थान, धन अथवा प्रभाव

(दाक्षिण्य) द्वारा सरलता से विकारग्रस्त हो जाते हैं। आरभ मे तो परिषद् मे उपस्थिति के लिये भत्ता देना स्वीकार नही किया गया था, पर इसका परिणाम यह हुआ कि सदस्य एकत्रित नही होते थे। अत जब प्रीतानी लोगो के, जनता को परिषद् मे लाने और मतदान को स्वीकार करने के लिये किये मनुहार के सब उपाय निरर्थक सिद्ध हुए तो अगिर्हियस्[२] ने पहली बार एक ओबल प्रतिदिन की व्यवस्था की जिसको क्लाजीमेनाए के हेराक्लैदीस ने (जिसको राजा भी कहते थे) बढ़ाकर दो ओबल कर दिया, एव अगिर्हियस ने इसके बाद तीन ओबल कर दिया।[३]

द्वितीय भाग ४२-६९

४२

(मताधिकार को प्राप्त करने की विधि। युवकों की शिक्षादीक्षा।)

आजकल अथेन्स के सविधान की स्थिति निम्नलिखित प्रकार की है। नागरिक माता-पिता से जिनका जन्म हुआ हो ऐसे सब व्यक्तियो को सविधान के अनुसार मताधिकार (=नागरिकता का अधिकार अथवा शासन-व्यवस्था मे भाग लेने का अधिकार) प्राप्त होता है। जन्म से १८वे वर्प की अवस्था में उनको मुहल्लेवालो की सूची मे सम्मिलित कर लिया जाता है। सूची मे सम्मिलित किये जाने के अवसर पर मुहल्लेवालो को शपथपूर्वक प्रथम तो इस विषय मे अपना मत देना पड़ता है कि प्रार्थी नियम द्वारा निर्धारित आयु के प्रतीत होते है या नहीं (यदि वे ऐसे प्रतीत नही होते तो लड़को की श्रेणियो में परिगणित होते है), दूसरे इस विषय पर कि वे (प्रार्थी) स्वतत्रजन्मा, एव ऐसे माता-पिताओ की सन्तान हैं या नहीं जैसे कि नियमानुकूल हैं, (अर्थात् उनके माता-पिता दोनो स्वतत्र नागरिक हैं या नहीं।) यदि वे ऐसा मत दें कि प्रार्थी स्वतत्र-जन्मा नही है, तब वह न्यायालय मे अपील करता है और मुहल्ले-वाले अपने मे से पाँच व्यक्तियो को अभियोगियो के रूप मे चुनकर भेजते है। यदि न्यायालय यह निर्णय करता है कि उसका सूची मे सम्मिलित किया जाना उचित नही है तो राष्ट्र उसको दास के रूप मे बेच देता है; पर यदि वह अभियोग में जीत जाता है तो अवश्यमेव मुहल्लेवालो की सूची में सन्निविष्ट कर लिया जाता है। इसके पश्चात् सूची सन्निविष्ट जनोका परीक्षण परिषद् करती है, और यदि परिषद् यह निर्णय करती है कि उनमे से कोई व्यक्ति १८ वर्ष से कम अवस्था का है, तो वह उन मुहल्ले-वालो पर, जिन्होने उसको सूची मे सम्मिलित किया है, अर्थ-दण्ड डालती है; जब युवक इस परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाते हैं तो उनके पिताओं का गणश सम्मेलन होता है और वे अपने गण मे से चालीस वर्ष से अधिक अवस्थावाले तीन ऐसे व्यक्तियो को शपथपूर्वक नियुक्त करते हैं जो उनके मतानुसार इन युवको की सार-सँभाल करने के लिये श्रेष्ठ एव परमोपयोगी होते है; परिषद् इन व्यक्तियों में से प्रत्येक गण से एक

मनुष्य सरक्षक के रूप मे चुन लेती है एव इन सब का नियमन करने के लिये समग्र अथेन्स की जनता मे से एक अनुशासक चुन लेती है। इनकी रक्षावेक्षा मे यह युवक (जो एफेबी कहलाते है) सबसे पहले मन्दिरो की (देवालयो की) प्रदक्षिणा करते है, तदुपरान्त वे पिरेइयस की ओर प्रस्थान करते है और उनमे से कुछ मूनिखिया के रक्षक-मडल में काम करने लगते है और कुछ पिरेइयस के दक्षिण समुद्रतट पर स्थित आक्ते के रक्षा-मडल (गैरीजन) मे। (इसकी युद्धकला की शिक्षा के लिये) परिषद् कुछ उपाध्यायो के सहित दो आचार्यो को भी चुनती है जो इनको भारी कवच धारण करके युद्ध करने की, बाण और भाला चलाने की तथा गोफण से अस्त्र चलाने की शिक्षा देते है। सरकार प्रत्येक अनुशासक को भरण-पोषण के लिये एक द्राख्मा और प्रत्येक नवयुवक को ३ ओबल देती है। प्रत्येक सरक्षक अपने गण के सब नवयुवको के लिये भृति को ग्रहण करता है एव सम्मिलित भडार के लिये आवश्यक सामग्री खरीदता है (एक गण का भोजन एक साथ होता है) एव सामान्यतया अन्य सब बातो की सार-सँभाल करता है। इस प्रकार उनका प्रथम वर्ष व्यतीत हो जाता है। दूसरे वर्ष जब (दियौनीसियस के उत्सव पर)[१] परिषद् का सम्मेलन रगस्थली (थियेतर) मे होता है तब वे अपने युद्ध सबधी कौशल के विकास का सार्वजनिक प्रदर्शन करके सरकार से एक ढाल और भाला पाते है, तदुपरान्त वे सारे देश के रक्षार्थ भ्रमण (गश्त) करते है और अपना समय किलो मे व्यतीत करते है। इन दो वर्षो मे वे (वास्तव मे) रक्षा कार्य मे (गरीजन ड्यूटी) लगे रहते है, सैनिको के प्रावारक को धारण करते है और इतने समय तक सब प्रकार के करो से मुक्त रहते है। वे इस समय न तो दूसरो पर कोई अभियोग चला सकते है और न उन पर ही अभियोग चलाया जा सकता है, जिससे कि उनको अनुपस्थिति के लिये छुट्टी माँगने का बहाना न मिल सके, यद्यपि उत्तराधिकार एव रक्षिताओं[२] से सबध रखनेवाले व्यवहारो मे और कुटुम्ब परिवार[३] मे विशेष यज्ञोत्सव होने पर इस नियम को बाद दिया जा सकता है। जब इस प्रकार दो वर्ष व्यतीत हो जाते है तो वे अन्य नागरिको के मध्य अपना (समुचित) स्थान ग्रहण कर लेते है। नागरिकता-प्राप्ति और युवको की शिक्षा की पद्धति इसी प्रकार की है।

४३

(पाँच सौ की परिषद्। इसके प्रीतानी परिषद् का कार्य-क्रम।)

सैनिक कोषाध्यक्ष, रगनिधि[१] के आयोक्ता एव स्रोतो[२] के अध्यक्षो को छोडकर शेष सब शासन-पदाधिकारी, जो शासन के दैनन्दिन कार्यों की व्यवस्था से सबध रखते

है शलाकाग्रहण की पद्धति से चुने जाते है। उपर्युक्त अधिकारी-वर्ग मतदान द्वारा चुने जाते है और एक पानाथेनिक उत्सव से दूसरे पानाथेनिक[1] उत्सव तक पदारूढ रहते हैं। सब युद्धाधिकारी भी मतदान द्वारा ही चुने जाते थे।

पचशती परिषद् का चुनाव शलाकाग्रहण पद्धति से होता है, प्रत्येक गण मे से ५० सदस्य चुने जाते है। प्रत्येक गण के प्रतिनिधि बारी बारी से प्रधान-समिति बनाते हैं एव कब किसकी बारी हो यह बात पर्ची से निश्चित की जाती है। प्रथम चार प्रधान समितियाँ ३६, ३६ तीन पदासीन रहती है, शेष ६ मे से प्रत्येक ३५ दिन पदारूढ रहती है क्योकि वर्ष की गणना चान्द्र मास[४] के हिसाब से होती है। जिस समय जो प्रधान समति होती है वह प्रथम तो एक साथ थौलस्[५] में भोजन करती है, तथा उसको अपने भरण-पोषण के लिये राष्ट्र (सरकार) से धन मिलता है, दूसरे वही परिषद् और ससद् का सम्मेलन करते है। छुट्टी न होने पर, परिषद् की बैठक तो वे प्रतिदिन बुलाते है और ससद् का सम्मेलन एक प्रधानसमिति के स्थितिकाल मे चार बार होता है। परिषद् के कार्यक्रम को प्रस्तुत करना, तथा यह निश्चय करना कि प्रत्येक दिन कितना काम परिषद् को करना होगा एव बैठक कहाँ होगी, यह सब प्रधान-समिति का ही कर्त्तव्य है। अपने कार्यकाल मे होनेवाली संसद की बैठकों का कार्यक्रम तैयार करना भी इन्ही का काम है। इन एक प्रधान समिति के कार्यकाल में होने-वाले संसद् के चार सम्मेलनो मे से एक सर्वसत्ताक (श्रेष्ठ) सम्मेलन कहलाता है, जिसमे, जनता को शासनाधिकारियों को (यदि उन्होने अपना कार्य सुचारु रूप से किया हो तो) आगे भी पदारूढ रहने की स्वीकृति देनी होती है; अन्न-(सग्रह) एव देशरक्षा की समस्या पर विचार करना होता है। इसी दिन जो कोई व्यक्ति किसी के विरुद्ध अभियोग लाना चाहे तो उसका भी आरभ हो सकता है; सरकार (जनता) द्वारा (ज़ब्त) अपहृत सम्पत्ति की तालिका एव उत्तराधिकार[१] तथा रक्षिता संबधी प्रार्थनापत्र स्पष्टतया पढे जाते है, जिससे कोई भी विषय सबधित व्यक्ति के अनजाने मे बिना आलोचना के निर्णीत न हो सके। छठी प्रधान समिति के कार्यकाल में होने-वाली "श्रेष्ठ" बैठक मे उपर्युक्त कार्य के अतिरिक्त यह प्रश्न भी मतदान के लिये प्रस्तुत किया जाता है कि बहिष्कार के विषय मे मत देना वाछनीय है या नही, अथेन्सनिवासी एव अथेन्स में बसे हुए विदेशी अभियोग-जीवियों के विरुद्ध दोनों वर्गों में से प्रत्येक के विरुद्ध तीन तक शिकायतें सुनी जाती है एवं इसके साथ ही ऐसे मामलो की भी सुनवाई होती है जिनमे किसी व्यक्ति ने जनता के प्रति कोई प्रतिज्ञा करके उसे पूर्ण न किया हो। प्रत्येक प्रधान समिति के कार्यकाल में ससद् की एक दूसरी बैठक प्रार्थनाएँ

सुनने के लिये नियुक्त की होती है। इस बैठक मे, प्रार्थी के जितून की (ऊन से लिपटी) शाखा भेट करने पर किसी भी व्यक्ति को किसी भी व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक विषय मे जनता के प्रति बोलने की स्वतत्रता होती है। शेष दो सम्मेलन अन्य सभी विषयो के निमित्त हो सकते है। नियमो का इनके विषय मे निर्देश यह है कि इनमे तीन धर्म सबधी विषयो का विचार हो, तीन सदेशहरो तथा राजदूत सबधी विषयो का एव तीन लौकिक विषयो का। कभी कभी कुछ ऐसे विषयो पर भी विचार किया जाता है जिनकी विचारणीयता के विषय मे ससद् मे प्राक्मतदान नही हुआ होता।

सदेशहर एव राजदूत सबसे पहले प्रधान समिति के ही समक्ष उपस्थित होते है तथा लेखहारक भी अपने लेखो को प्रथम प्रधान समिति को ही अर्पित करते है।

४४

(प्रितानेइया (प्रधान-सभा) का अध्यक्ष। संरक्षक कार्यवाह। युद्धाध्यक्षों का चुनाव।)

प्रधान समिति का एक अध्यक्ष होता है जो शलाकाग्रहण द्वारा चुना जाता है, तथा जो एक रात और एक दिन के लिये अध्यक्ष का कार्य करता है, वह न तो इतने समय से अधिक पदारूढ रह सकता है और न दो बार अध्यक्ष बन सकता है। वह पवित्र भंडारो की कुजियाँ अपने पास रखता है जिनमे कोष और राष्ट्र का अभिलेख-सग्रह सरक्षित रहता है एव मुद्रा भी रहती है, उसको अपने द्वारा निर्दिष्ट एक तिहाई प्रधान समिति के साथ अवश्यमेव थौलस् मे रहना पडता है। जब कभी प्रधान समिति परिषद् अथवा ससद् का सम्मेलन आयोजित करती है तो प्रधान समिति का अध्यक्ष, उस गण को छोडकर जिसमे से विद्यमान प्रधान समिति का निर्माण हुआ होता है, शेष नौ गणो मे से शलाकाग्रहण द्वारा प्रत्येक से एक एक सरक्षक[१] कार्यवाह चुनता है, और फिर इसी प्रकार इनमे से एक को इनके अध्यक्ष के रूप मे नियुक्त करता है एव सम्मेलन का कार्यक्रम उनको सौप देता है। वे उसको ले लेते है और सम्मेलन मे सुव्यवस्था की देखभाल करते है, जिन समस्याओ (विषयो) पर विचार करना होता है उनको प्रस्तुत करते है, मतदान के परिणाम का निर्णय करते है एव सामान्यतया सभी कार्य-सचालन की व्यवस्था करते है। उनको सम्मेलन को समाप्त करने का अधिकार भी होता है। कोई भी व्यक्ति एक वर्ष मे एक बार से अधिक कार्यवाह-समिति का अध्यक्ष नही हो सकता, किन्तु पत्येक प्रधान समिति के कार्यकाल मे एक बार कार्यवाह हो सकता है।

प्रधान युद्धाध्यक्ष, अश्वसेनाध्यक्ष एव अन्य युद्धाधिकारियो तथा सेनापतियो के पदो के चुनाव जन (-ससद) मे होते है, तथा इन निर्वाचनो का प्रकार जनमत के अनुसार निश्चय किया जाता है। यह निर्वाचन छठी प्रधान-समिति के कार्यकाल के उपरान्त[२] ऐसी प्रधान-समिति के द्वारा किया जाता है जिनके समय लक्षण (शकुन) शुभ हो। पर इस विषय मे भी परिषद् के द्वारा पूर्वमेव विचार कर लेना आवश्यक है।

४५

(परिषद् का दण्ड सबंधी निर्णयक्षेत्र। इसकी मर्यादा प्रारभिक परीक्षण तक है।)

प्राचीन काल मे तो परिषद् को, धनदण्ड देने का, कारावास देने का एव मृत्युदण्ड देने का पूर्ण अधिकार था। पर जब उस (परिषद्) ने लीमिमाखस[१] को घातक को सौप दिया था, एव वह तत्काल वध किये जाने की आशा मे बैठा था, तो अलोपैकी के यूमेलिदीस ने उसको परिषद् से छुडा लिया और यह प्रतिपादित किया कि न्यायालय[२] की जानकारी (अथवा निर्णय) के बिना किसी नागरिक का वध नही होना चाहिये। अतएव उस पर न्यायालय मे अभियोग चला और लीसिमाखस वहाँ से (अपराध-) मक्त कर दिया गया, एव इसके अपरान्त उसको "वध मुगदर से बचा हुआ" यह उपनाम मिला। जनता ने उस समय से परिषद् को मृत्युदण्ड, कारादण्ड एव अर्थदण्ड देने के अधिकार से वचित कर दिया, एव यह नियम निर्धारित किया कि यदि परिषद् किसी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए दण्डनीय निर्णय करे अथवा उस पर अर्थदण्ड डाले तो थैस्मॉथीताए[१] परिषद् के निर्णय अथवा अर्थदण्ड को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करेगे, एव इस विषय मे अन्तिम निर्णय का अधिकार न्यायपुरुषो (जूरर्स) के मतदान को होगा।

परिषद् प्राय अधिकाश शासनाधिकारियो के विषय मे निर्णय किया करती है, विशेषकर उनके विषय मे जिनके हाथ मे धन का प्रबन्ध रहता है। तथापि इसका निर्णय अन्तिम नही होता, न्यायालय मे इस निर्णय का पुनर्विचार (अपील) हो सकता है। सामान्य व्यक्ति भी चाहे तो किसी शासनाधिकारी के विरुद्ध परिषद् मे यह घोषणा करने का अधिकार रखता है कि अमुक अधिकारी नियमो का पालन नही कर रहा है, परन्तु यदि परिषद् इस आरोप को सिद्ध हुआ घोषित करे तो इसका पुनर्विचार (अपील) न्यायालय में हो सकता है। परिषद् उन लोगो का भी परीक्षण (अथवा निकषण) करती है जो आगामी वर्ष में इस (परिषद्) के सदस्य होनेवाले है एवं इसी प्रकार नौ आर्खनो का भी परीक्षण करती है। पहले तो (विविध पदो के) प्रार्थियों को

(अयोग्य होने के कारण) अस्वीकार कर देने का पूर्णाधिकार परिषद् को था, पर अब वे न्यायालय मे पुनर्विचार (अपील) कराने का अधिकार रखते है। अतएव इन सब मामलो मे परिषद् का निर्णयाधिकार सर्वोच्च (अथवा अन्तिम) नही है। तथापि जो भी विषय जनससद् के समक्ष उपस्थित किये जाते है उनका पूर्व प्रारभिक परीक्षण करना परिषद् का काम है। जनससद् तब तक किसी विषय पर मत नही दे सकती जब तक कि परिषद् के द्वारा उस पर विचार करके, प्रधानसमिति के द्वारा उसको कार्यक्रम मे सम्मिलित न कर लिया गया हो। क्योकि कोई भी ऐसा व्यक्ति जो जनससद् मे कोई प्रस्ताव स्वीकार करा ले तो इस नियम के अनुसार उस पर अनियमित प्रस्ताव पास कराने के कारण अभियोग चलाया जा सकता है।

४६

(पोतनिर्माण-योजना का निरीक्षण और संचालन। सार्वजनिक भवनो का निरीक्षण।)

परिषद् उन सब त्रिरीमी[1] पोतो (नौकाओ) की उनकी साजसज्जा एव नावघरो के सहित सारसँभाल करती है जो पहले से विद्यमान होते है। तथा त्रिरीमी अथवा चतुरीमी (जैसा भी जनससद् अपने बहुमत से निर्णय करती है), नये पोतो का तदनुरूप सज्जा और नावघरो के सहित निर्माण भी करती है। इन नौकाओ के निर्माण के लिए प्रमुख निर्माताओ को जनससद् अपने बहुमत से नियुक्त करती है। यदि वे लोग इन नौकाओ को परिपूर्ण रूप मे बनाकर दूसरी परिषद् को नही सौप देते है तो पुरानी परिषद् को वह दान प्राप्त नही हो सकता—जो कि चलन के अनुसार उत्तराधिकारी परिषद् के कार्यकाल मे विगत परिषद् को मिला करता है। त्रिरीमी नौकाओ को बनाने के लिए परिषद् अपने मे से ही १० व्यक्तियो को आयोक्ता के रूप मे चुनती है वे ही इन नौकाओ को बनवाते है। परिषद् सब सार्वजनिक भवनो का भी निरीक्षण करती है, और यदि उसकी सम्मति मे राष्ट्र को धोखा दिया जा रहा हो तो वह धोखा देनेवाले की सूचना जनससद् को दे देती है और दण्डादिष्ट होने पर उसको न्यायालय को सौप देती है।

४७

(अन्य अधिकारियों के साथ परिषद् का सहयोग। कोषाध्यक्ष और सार्वजनिक ठेकों के अध्यक्ष)

परिषद् अन्य शासनाधिकारियो के बहुत से कर्तव्य-कार्यो मे उनके साथ मिलकर प्रबन्ध करती है। सबसे पहले अथेना देवी के कोषाध्यक्षो को ही ले, इनकी सख्या १० होती है एव यह शलाकाग्रहण पद्धति द्वारा प्रत्येक गण मे से एक के हिसाब से चुने जाते

हैं। सोलॉन् के नियम के अनुसार (जो नियम इस समय भी चालू है) यह पचशतियो (पैता कौसियोमेदिम्नस्) मे से होने चाहिये, पर वास्तविकता यह है कि यदि पर्चो से कोई नितान्त निर्धन व्यक्ति भी चुन लिया जाता है तो वह भी इस पद का कार्य करता है। यह पदाधिकारी परिषद् के समक्ष अथीना और विजया की मूर्त्तियो,[1] मन्दिर के अन्य आभूषणो एव अलकारो तथा कोश सब की रक्षा का भार (चार्ज) ग्रहण करतें हैं।

इसके उपरान्त सार्वजनिक ठेको और अभिसमयो के आयोक्ताओं का नम्बर आता है, यह भी दस होते हैं और इनमे से प्रत्येक व्यक्ति एक एक गण मे से गुटिका द्वारा चुना जाता है। यह लोग सब सार्वजनिक ठेको को उठाया करते हैं। सैनिक कोषाध्यक्ष एव रगकोष के आयोक्ताओ के साथ मिलकर यह लोग खानो और करो को परिषद् की उपस्थिति मे ठेके पर उठाया करते है, तथा परिषद् के मतदान द्वारा निर्दिष्ट व्यक्तियो को उन खानो पर अधिकार प्रदान करते है जो सरकार द्वारा ठेके पर दी जाती है, जिनमे वे खाने भी सम्मिलित होती है जो खोदने योग्य होती है तथा जो तीन वर्ष के लिए ठेके पर दी जाती है, तथा वे भी होती है जो विशेष (रियायती) प्रबन्ध के कारण दस वर्ष[2] के लिए उठाई जाती है। परिषद् की उपस्थिति मे वे उन लोगो की सम्पत्ति को बेचते हैं जो अरियोपागस् के न्यायालय से निर्वासित कर दिये गये है अथवा अन्य किसी कारण से, तथा ये सब ठेके नौ आर्खनो द्वारा प्रमाणित किये जाते है। जिन करो (चुगी) का वर्ष के लिए ठेका दिया जाता है उनकी तालिकाओं को, श्वेत पट्टिकाओ पर ठेकेदारो का नाम और दिये हुए दाम लिखकर, वे परिषद् के पास जमा कर देते है। वे विविध प्रकार की सूचियो को पृथक् पृथक् प्रस्तुत करते है, प्रथम सूची उन लोगो की होती है जो अपने अश प्रत्येक प्रधान समिति के कार्यकाल मे चुकाते है, यह अलग दस पट्टिकाओ पर अकित होती है, दूसरी सूची उन लोगों की होती है जो वर्ष मे तीन अश चुकाते है, इसमे भी प्रत्येक अश की एक पट्टिका होती है, तीसरी सूची ऐसे व्यक्तियों की होती है जो अपना द्रव्य वर्ष में केवल एक बार नवी प्रधान-समिति के कार्यकाल में चुकाते हैं। जो खेत और घर न्यायालय के आदेशानुसार (सरकार के द्वारा अपहृत) किये और बेचे गये है उनकी भी वे एक तालिका बनातें हैं, क्योकि यह भी उन्ही का काम है। घरो का मूल्य अवश्य ही पाँच वर्ष मे चुका दिया जाना चाहिये एव खेतो का दस साल में। इनके मूल्य के वार्षिक अश प्रतिवर्ष नवी प्रधान-समिति के कार्यकाल मे दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त राजा-आर्खन आवेष्टित देवभूमियो[3] के श्वेत पट्टिकाओ पर अंकित ठेको को भी परिषद् के समक्ष

प्रस्तुत करता है। यह ठेके भी दस वर्ष के लिए होते है और इनके मूल्य के वार्षिकाश भी नवी प्रधान-समिति के कार्यकाल मे ही जमा किये जाते है। इसलिए इस नवी प्रधान-समिति के कार्यकाल मे सबसे अधिक धन का सग्रह होता है। दातव्य धनाशो की सूचियो से अकित पट्टिकाएँ परिषद् मे लाई जाती है, एव जनलेखक उनकी रक्षावेक्षा (सार-सँभाल) करता है। जब कभी धनाश जमा करता होता है तो वह कोष्ठको मे ठीक उस धन की तालिका को निकालता है जो उस दिन जमा होकर काट दी जानी चाहिये एव उस तालिका को मुख्य प्रतिगृहीता को दे देता है। शेष तालिकाये अलग रखी जाती है जिससे जमा होने के पहले किसी धनराशि की तालिका को काट न दिया जाय।

४८

(मुख्य प्रतिगृहता। आयव्यय निरीक्षक। आयव्यय के लेखे के परीक्षक।)

इस धन को ग्रहण करनेवाले मुख्य प्रतिगृहीता (अपोदेक्ताए) होते है, यह भी प्रत्येक गण मे से एक के हिसाब से गुटिका द्वारा चुने जाते है। ये जन-लेखक से पट्टिकाओ को लेकर परिषद् की उपस्थिति मे जो ठेको के धनाश जमा कर दिये जाते है उनको तालिकाओ मे से काटते जाते है और अन्त मे पट्टिकाओ को जन-लेखक को लौटा देते है। यदि कोई व्यक्ति दातव्य धनांश को जमा नही कर पाता है तो इस बात को पट्टिका पर उल्लिखित कर दिया जाता है, तथा उसको कमी का दुगुना धन देने को बाध्य होना पडता है, और यदि न दे पाये तो काराबद्ध होना पडता है। इस धन को वसूल करने और इस कारादण्ड को देने का पूर्ण अधिकार परिषद् को नियमानुसार प्राप्त है। अतएव वे इन सब धनाशो को पहले तो एक दिन प्राप्त (वसूल) करते है और शासनाधिकारियो मे बॉट देते है, एव दूसरे दिन वे इस विभाजन के विवरण को काष्ठ के सूचना पटल पर लिखकर प्रस्तुत करते है और उसको परिषद्-भवन मे पढकर सुनाते है। इसके उपरान्त वे परिषद् मे सबके सामने खुला प्रश्न रखते है कि क्या किसी को इस विभाजन के विषय मे किसी शासनाधिकारी अथवा अन्य साधारण व्यक्ति के सबध मे किसी अनौचित्य का पता है, और यदि किसी का अनौचित्य समझा जाता है तो उसके विषय मे मत लिया जाता है।

परिषद् अपने ही सदस्यो मे से गुटिका द्वारा दस आयव्यय-निरीक्षक (लौगिस्ताइ) चुनती है जिनका काम प्रत्येक प्रधान-समिति के कार्यकाल के शासन-पदाधिकारियो के आयव्यय के लेखे का परीक्षण करना होता हैं। वे प्रत्येक गण मे से गुटिका द्वारा

एक एक लेख-परीक्षक भी चुनते है एव प्रत्येक परीक्षक के साथ दो सहचरो को नियुक्त करते है, जिनका अनिवार्य कर्तव्य सामान्य हाट-बाजार के समय अपने अपने गण के आदिपुरुष की मूर्ति के समक्ष बैठे रहना है, और यदि कोई व्यक्ति, किसी शासनाधिकारी के विरुद्ध, जिसका लेखा-जोखा न्यायालय के समक्ष जा चुका है, लेखा-न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत होने के तीन दिन के भीतर किसी व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक आधार पर कोई दोषारोपण करना चाहते है तो वह श्वेतवर्ण की छोटी सी पट्टिका पर अपना नाम, आरोप्यमाण शासनाधिकारी का नाम तथा आरोपित न्यायालय को लिख देता है, एव उसको जितना उचित प्रतीत होता है उतने धन का दण्ड भी अपने लिये लिख देता है और इस अभिलेख को परीक्षको को दे देता है। परीक्षक इसको ले लेता है और यदि पढने के उपरान्त वह आरोप को सिद्ध हुआ समझता है तो यदि व्यक्तिगत अभियोग हुआ तो उसको स्थानीय न्यायाधिकारियो को दे देता है जो उस व्यक्ति के गण के अभियोगो की चालना करते है, और यदि सार्वजनिक अभियोग हुआ तो उसको थैस्मौथीतियो[१] (नियम-निर्माताओ) की पजिका मे लिख देता है। तब यदि नियम-निर्माता इसको स्वीकार कर लेते है तो वे उस शासनाधिकारी के हिसाब को एक बार फिर न्यायालय के समक्ष उपस्थित करते है एव (इस बार) न्यायाधिकरण के सभ्यो (जूरियो) का निर्णय अन्तिम (अर्थात् अपरिवर्तनीय) होता है।

४९

(अश्वरोही सेना की तालिका बनाने वाले आयोक्ता। अश्वारोहियो के निरीक्षक। सेना का कोषाध्यक्ष। अनाथ और पंगुओं के परीक्षक और पोषक।

परिषद् (राष्ट्र की सेना के) घोडो की जाँच-पडताल करती है और यदि किसी व्यक्ति के पास अच्छा घोडा हो पर वह उसका पालनपोषण बुरे प्रकार से करता हो तो उसको (दाने चारे के) अन्न मे कमी करके दड दिया जाता है, तथा जो घोडे (युद्ध में) अन्य अच्छे घोडो का साथ नही दे सकते है, जो बिदकते है अथवा स्थिरतापूर्वक खडे नही रह सकते ऐसे घोडो के जबडों पर चक्र का चिह्न दाग दिया जाता है एव इस प्रकार के चिह्नवाला घोडा युद्धसेवा के अयोग्य हो जाता है। परिषद् उन लोगो का भी निरीक्षण करती है जो सेना के अग्रभाग में सचार करने योग्य होते है[१] और यदि वह किसी को अस्वीकार कर देती है तो वह अपने घोडे से वचित कर दिया जाता है। वह अश्वारोहियों के साथ काम करनेवाले पदातियो का भी निरीक्षण करती है और यदि वह उनमें से किसी को अस्वीकार कर देती है तो उसको वेतन मिलना बन्द हो

जाता है । अश्वारोही सेना की तालिका सूची—आयोक्ताओ के द्वारा प्रस्तुत की जाती है जिनकी सख्या १० होती है तथा जो ससद के द्वारा खुले मतदान से चुने जाते है । यह लोग जिनको सूची मे सकलित करते है उनकी तालिका को अश्वसेनापतियो और गण-सेनाध्यक्षो को सौप देते है और यह पदाधिकारी इसको लेकर परिषद् के समक्ष उपस्थित करते ह, और वहाँ अश्वारोही सैनिको की नामावलि[१] से अकित मुद्रित पट्टिकाएँ खोली जाती है। जिन व्यक्तियो के नाम पहले से अश्वारोही सैनिको की तालिका मे होते है उनमे यदि कोई शपथपूर्वक यह कहते है कि वे शारीरिक दुर्बलता के कारण अश्व-सेना मे कार्य करने की सामर्थ्य नही रखते तो उनका नाम काट दिया जाता है। इसके पश्चात् वे नये भरती किये तालिकाभुक्त लोगो को बुलाते है, और यदि कोई शपथपूर्वक यह कहता है कि मै शारीरिक दौर्बल्य अथवा धनाभाव के कारण अश्वसेना का कार्य करने मे असमर्थ हूँ तो वे उसको निकाल देते है, पर यदि ऐसी शपथ न की जाय तो परिषद् मे इस बात पर मत लिया जाता है कि प्रसगगत व्यक्ति अश्वसेना के कार्य के योग्य है या नही। यदि परिषद् का मत अनुकूल होता है तो उसका नाम पट्टिका मे लिख लिया जाता है और यदि प्रतिकूल होता है तो उसको निकाल दिया जाता है।

पहले तो सार्वजनिक भवनो की आयोजनाओ एव अथीना देवी की चादर[२] के विषय मे भी परिषद् ही निर्णय करती थी, पर अब यह कार्य न्यायालयो मे गुटिका के द्वारा चुने हुए न्यायाधिकरण के सभ्यो द्वारा किया जाता है, क्योकि परिषद् के विषय मे ऐसा समझा गया कि उसने अपने निर्णयो मे अनुचित पक्षपात किया था। विजया की मूर्तियो एव पानाथीनी उत्सव मे उपहारो के निर्माण कार्य की अध्यक्षता और देखभाल सेना के कोषाध्यक्ष के साथ मिलकर परिषद् भी किया करती है।

असमर्थ (लूले लँगडे लोगो की) जाँच-पडताल भी परिषद् किया करती है, क्योकि एक नियम (कानून) इस प्रकार का आदेश करता है कि जिन मनुष्यो की सपत्ति तीन मिना तक हो एव शरीर ऐसा विकलाग हो कि वे कुछ काम न कर सकते हो, तो परिषद् के द्वारा परीक्षण किये जाने के पश्चात्, सरकार से उनको भरण-पोषण के लिये प्रतिदिन दो ओबल मिलने चाहिये। इनकी देखभाल के लिये एक कोषाध्यक्ष गुटिका द्वारा चुना जाता है। और जो अन्य अधिकारी लोग होते है उनके भी अधिकाश कार्यों मे परिषद् सहयोग करती है, ऐसा स्थूलरूपेण कहा जा सकता है। इस प्रकार परिषद् के व्यवस्था कार्यों की तालिका समाप्त हुई।

५०

(मन्दिरो के जीर्णोद्धार करने वाले आयोक्ता । नगर-वस्तु आयोक्ता ।)

देवमन्दिरो के जीर्णोद्वार (मरम्मत) के लिये भी दस आयोक्ता होते है जो गुटिका द्वारा चुने जाते है, जो मुख्य आहर्त्ता से तीस मीना लेते हैं और इस धन के द्वारा वे मन्दिरो का परमावश्यक जीर्णोद्धार किया करते है। और इसी प्रकार दस नगराध्यक्ष भी है, इनमे पाँच पिरेइयस मे पदारूढ रहते हैं एव पाँच नगर (अथेन्स) में। उनका काम यह देखभाल करना था कि वशी, विपंची एवं सितार बजानेवाली स्त्रियाँ (सगीत-जीविकाएँ)[1] दो द्राख्मा से अधिक पर उपनियुक्त न की जायँ; एवं यदि एक से अधिक व्यक्ति एक ही सगीताजीविका को उपनियुक्ति करने के लिये उत्सुक हों, तो यह अध्यक्ष लोग पर्ची डालते है तथा जिसके नाम की पर्ची निकले वही उसको उपनियुक्त कर सकता है। इस बात की देखभाल करना भी उनका कर्तव्य है कि कोई भी मल और खाद को इकट्ठा करने वाला व्यक्ति कूडे-कचरे को नगरप्राचीर से १० स्तदिया[2] से कम दूरी पर न फेके। वे (नगरनिवासी) मनुष्यो को भवननिर्माण द्वारा मार्ग रोकने, सडकों पर बाडा बाँधने, खुली वायु मे सडक पर गिरनेवाली परनालों को बनाने, सड़को पर बाहर की ओर खुलनेवाले द्वार (अथवा खिडकियाँ) बनाने से रोकते है। जो लोग नगर की सडको पर मर जाते है उनके मृतक शरीरो को भी वे ही हटवाते है, एव इस कार्य के लिये कुछ सार्वजनिक दास उनको मिले रहते है।

५१

(हट्टाध्यक्ष । नाप-तौल के अध्यक्ष । अन्नाध्यक्ष । हृदनियंत्रक ।)

हाट के (१०) अध्यक्ष (अगोरानोमी) शलाकाग्रहण-पद्धति से चुने जाते हैं, जिनमे से पाँच पिरेइयस के लिये होते है और पाँच (अथेन्स) नगर के लिये। नियम के द्वारा नियोजित उनका कर्तव्य यह है कि बाजार में जो वस्तुएँ विक्रय के लिये लायी जाती है वे उनके विषय मे यह सारसँभाल रखे कि वे शुद्ध और अविमिश्रित (घालमेल से रहित) हैं।

नापतौल के (१०) अध्यक्ष भी गुटिका द्वारा चुने जाते हैं, पाँच (अथेन्स) नगर के लिये और पाँच पिरेइयस के लिये। यह सब नापतौलों की जाँच पडताल रखते हैं जिससे सब बेचनेवाले समुचित नापतौल का ही व्यवहार करें।

पहले गुटिका द्वारा चुने हुए दस अन्नाध्यक्ष हुआ करते थे, पाँच पिरेइयस मे और पाँच (अथेन्स) नगरी मे, अब बीस नगरी मे है और पन्द्रह पत्तन (पिरेइयस) में। प्रथम तो वे इस बात की देखभाल रखते है कि बाजार मे बेचा जानेवाला असिद्धान्न उचित (ठीक) मूल्य पर बेचा जाता है, दूसरे यह देखते रहते है कि पीसनेवाले जौ के आटे को जौ के समानुपातिक मूल्य पर बेचे, तथा रोटी बनानेवाले गेहूँ (अग्निकणान्न) की रोटी को गेहूँ के समानुपातिक मूल्य पर बेचे और ऐसी (इतनी) तौल बनाकर बेचे जैसे (जितनी) अध्यक्षो ने नियत कर दी है। क्योकि तौल को नियत करने का आदेश नियम (कानून) द्वारा किया गया है।

मण्डी (हाट) की देखभाल (व्यवस्था) करनेवाले १० अध्यक्ष (नियत्रक) होते है जो गुटिका द्वारा चुने जाते है, इनको मडी की सारसँभाल करने का आदेश किया होता है एव यह आज्ञा मिली होती है कि जितना अन्न समुद्र के मार्ग से मडी मे आया है उसके २।३ भाग को नगर मे लाने के लिये व्यापारियो को विवश करे।

५२

(ग्यारह काराध्यक्ष। मासिक अभियोग और उनके प्रवर्त्तक।)

सरकारी कारागारो मे बन्दियो की देखभाल करने के लिए ११ काराध्यक्ष गुटिका द्वारा नियुक्त किये जाते है। चोर, मानवापहारी (आदमचोर) और गिरहकट लोग इनके पास लाये जाते है, और यदि वे अपना अपराध स्वीकार कर लेते है तो उनको मृत्युदण्ड दिया जाता है, परन्तु यदि वे अपराध के विषय मे विवाद करते है तो ये काराध्यक्ष उनके मामले को न्यायालय के समक्ष ले जाते है, यदि बन्दी लोग अपराध-मुक्त कर दिये जाते है तो उनको छोड दिया जाता है, यदि ऐसा नही होता तो वे उनको मृत्युदण्ड दे देते है। जिन खेतो और मकानो को सरकारी घोषित किया जाता है उनकी तालिका को भी वे न्यायालयो के समक्ष उपस्थित करते है, यदि यह निर्णय कर दिया जाता है कि वे सरकारी सम्पत्ति है तो वे उनको सरकारी ठेके देनेवाले अधिकारियो को सौप देते है। जो पदाधिकारी अपने पद के अयोग्य समझे जाते है उनके विरुद्ध जो सूचना और प्रमाण होते है उनको भी यही लोग न्यायालय मे उपस्थित करते है, ऐसा करना भी इन्ही का कार्य है, पर इस प्रकार के कुछ मामले थैस्मौ-थीतियो के द्वारा भी प्रस्तुत किये जाते है।

अभियोग प्रवर्त्तक पाँच व्यक्ति भी गुटिका द्वारा चुने जाते है , इनमे से प्रत्येक व्यक्ति दो गणो के लिए चुना जाता है तथा इनका कार्य मासिक अभियोगों को न्यायालयो मे प्रस्तुत करना है । मासिक अभियोग[1] इस प्रकार के होते है—जब किसी को दायज (यौतुक) देना हो और उसको न देना चाहे , १२ प्रतिशत पर ऋण लिये हुए धन पर कोई सूद न देना चाहे, अथवा बाजार मे व्यापार आरभ करने का इच्छुक कोई व्यक्ति आरभ मे किसी दूसरे से ऋण ले , इसी प्रकार अपमान करने के मामले, पत्तीदारी और साझेदारी के मामले, दास सबधी अभियोग,भारवाही पशुओ के मामले, नावो के मुखियो के मामले[2] अथवा बैको के अभियोग । यह अभियोग मासिक अभियोगो के रूप मे इन अधिकारियो द्वारा न्यायालयो मे उपस्थित किये जाते है, किन्तु करसग्राहको के पक्ष अथवा विपक्ष में इसी प्रकार का कार्य मुख्य-आहर्त्ताओ को करना पडता है । जिन अभियोगो मे विवादग्रस्त धन १० द्राख्मा से अधिक नही होता उनको निर्णय करने का अधिकार स्वय उन्हे ही होता है, पर इस अधिक मूल्यवान् अभियोगो को वे निर्णय के लिये न्यायालयो के समक्ष उपस्थित करते है ।

५३

(चालीस स्थानीय न्यायकर्त्ता । मध्यस्थ निर्णेता । सरनाम स्थविर-वर्ग ।)

चालीस स्थानीय न्यायकर्त्ता, प्रत्येक गण में से चार के हिसाब से, शलाकाग्रहण पद्धति से चुने जाते है ; आवेदक लोग अन्य सब प्रकार के अभियोग इनके समक्ष उपस्थित करते हैं । पहले इनकी संख्या तीस थी, और यह लोग अभियोगो को सुनने के लिए मुहल्लों की फेरी किया करते थे पर "तीस" के अल्पजनतन्त्रात्मक शासन के पश्चात् इनकी संख्या बढाकर चालीस कर दी गयी । जिन अभियोगो में विवादग्रस्त धन की मात्रा १० द्राख्मा तक होती है उनको निर्णय करने की पूर्ण शक्ति (अधिकार) इनको प्राप्त है , पर इस मूल्य से अधिकवाले मामलो को वे मध्यस्थनिर्णेताओ के पास भेज देते है । मध्यस्थ लोग इन अभियोगो को ग्रहण कर लेते है और यदि वे दोनो पक्षो मे मेल (सन्धि) नही करा सकते तो वे अपना निर्णय दे देते है । यदि उनका निर्णय दोनो पक्षो को सन्तुष्ट कर दे और वे उनकी शर्तों को मान लें, तो अभियोग की समाप्ति हो जाती है , पर यदि उभय पक्षो मे से कोई भी एक न्यायालय में प्रतिनिवेदन (अपील) करता है तो मध्यस्थ लोग उभय पक्ष द्वारा प्रस्तुत साक्ष्यों, तर्कयुक्तियों एवं नियमो के उद्धरणो को पृथक् पृथक् भाण्डो मे (वादी पक्ष के एक मे और प्रतिवादी पक्ष के दूसरे मे) बन्द कर देते है । इन भाण्डो को वे मुद्रा से अकित एवं हस्ताक्षरो से युक्त कर

देते है, इनके साथ मे वे मध्यस्थ का निर्णय भी पट्टिका पर लिखकर जोड देते है, एवं इन भाण्डो को उन चार न्यायकर्ताओ की सरक्षा मे दे देते है जिनका कर्तव्य प्रतिवादी के गण के अभियोगो को निर्णयार्थ (न्यायालय मे) उपस्थित करना होता है। ये (चार) अधिकारी इन भाण्डो को ले लेते है, और यदि मामला १००० द्राख्मा तक का होता है तो उसको २०१ जूरियो के न्यायालय मे उपस्थित करते है और यदि इससे अधिक मूल्य का हुआ तो ४०१ के। (इस अपील मे) जो नियम, तर्क, युक्तियाँ एव साक्ष्य मध्यस्थ के समक्ष प्रस्तुत किये गये थे तथा जो भाण्डो मे बन्द है, उनके अतिरिक्त और कोई नियम, तर्क और साक्ष्य उपस्थित नही किये जा सकते।

मध्यस्थ लोग ६० वर्ष की अवस्थावाले होते हैं, यह बात आर्खनो एव ख्यातनामा व्यक्तियो की सूची से स्पष्ट हो जाती है। ख्यातनामा[1] (सरनाम) व्यक्तियो के दो वर्ग हैं, एक तो उन दस ख्यातनामा पुरुषो का वर्ग है जिनके नाम पर दस गणो के नाम पडे है, दूसरा वर्ग उन ४२ ख्यातनामा पुरुषो का है जिनके नाम पर (सेवा के) वर्षों के नाम पडे हैं। पहले, जब युवक लोग नागरिको की सूची मे सन्निविष्ट होते थे तो उनका नाम श्वेतवर्ण की पट्टिका पर लिख लिया जाता था, साथ ही उस आर्खन[2] का नाम भी लिखा जाता था जिसके वर्ष मे यह निविष्ट होते एव उस ख्यातनामा पुरुष का नाम भी लिखा जाता था जिसका नाम गत वर्ष मे चालू था, आजकल उनका नाम एक पीतल के स्तम्भ पर लिख दिया जाता है और यह स्तम्भ परिषद् भवन के सामने गणो आदि पुरुषो के समीप स्थित है। तो यह चालीस स्थानीय न्यायकर्त्ता सेवावर्षों के अन्तिम नामदाता पुरुषो को लेते है और मध्यस्थता का कार्य उस वर्ष से सबध रखनेवाले व्यक्तियो को सौप देते हैं, किसको कौन से मध्यस्थता के कार्य करने होगे इसके लिए शलाकाग्रहण-पद्धति का उपयोग किया जाता है, एव शलाकाग्रहण द्वारा जो मध्यस्थता का कार्य जिसके भाग मे आता है वह उसको अनिवार्यतया करना ही पडता है। इस विषय का नियम ऐसा है कि जो व्यक्ति मध्यस्थता के लिए आवश्यक वयस को प्राप्त होकर मध्यस्थ के रूप मे राष्ट्र की सेवा नही करेगा वह (यदि वह उस समय अन्य पद पर आरूढ न हो अथवा विदेश मे न गया हो) नागरिक अधिकारो से वचित कर दिया जायगा। केवल यही व्यक्ति (अर्थात् अन्य पद पर आरूढ और प्रवास मे गये हुए व्यक्ति) इस कार्य से मुक्त रहते है। यदि किसी के प्रति मध्यस्थ द्वारा अन्याय किया गया हो तो वह समग्र मध्यस्थ पटल के समक्ष प्रतिवेदन (अपील) कर सकता है; यदि वे उस (मध्यस्थ) को अपराधी पायेगे तो **वह अपने नागरिकता के अधिकारो से वचित हो जायगा। इस प्रकार दडित हुए**

व्यक्तियो को भी प्रतिवेदन का अधिकार है। सैनिक अभियानो के सबध मे भी ख्यात-नामाओ की समयगणना का उपयोग होता है। जब सैनिक अवस्था को प्राप्त हुए व्यक्ति सैनिक सेवाकार्य के लिए भेजे जाते है तो इस प्रकार की सूचना लिखकर लगा दी जाती है कि अमुक आर्खन और अमुक ख्यातनामा के समय से लेकर अमुक आर्खन और अमुक ख्यातनामा के समय के सैनिको को अभियान पर जाना है।

५४

(सड़कों के अध्यक्ष। आयव्ययनिरीक्षक। संसद के लेखक और पाठक। सार्वजनिक यज्ञादि के अध्यक्ष। उत्सवों के आयोक्ता। सालामिस और पिरेइयस के प्रमुखशासक।)

निम्नलिखित पदाधिकारी भी शलाकाग्रहण-पद्धति से चुने जाते है। पाँच सडको के अधिकारी होते है जो अपने अधिकार मे सार्वजनिक श्रमिको का एक दल रखते है तथा जिनका काम सडको को ठीक रखना है। दस आयव्यय निरीक्षक होते है एव दस उनके सहायक होते हैं, वे सब व्यक्ति जो किसी भी शासन पद पर काम करते रहे हैं अपना अपना हिसाब इनके समक्ष ले जाते है। केवल यही अधिकारी ऐसे हैं जो उन सब पदाधिकारियों के हिसाब का निरीक्षण करते है जिनका नियमानुसार निरीक्षण होना चाहिये[1] और यही इन हिसाबो को परीक्षण के लिये न्यायालयो में उपस्थित करते है। यदि वह किसी पदाधिकारी द्वारा किये गये धनापहरण का उद्घाटन करे, न्यायकर्त्ता उसको चोरी के लिये दडित कर दे तो उसने जितने धन को अनुचित प्रकार से आत्मसात् किया है, उससे दसगुना धन उसको देना पडता है। यदि वे किसी पदाधिकारी के विषय मे यह प्रदर्शित (अथवा आरोप) करें कि उसने उत्कोच ग्रहण की है और न्यायकर्ता उसको अपराधी ठहरा दें तो यह उस पर भ्रष्टाचार के कारण अर्थदण्ड डालते हैं एवं उसको यह धन दसगुना लौटाना पड़ता है। अन्यथा यदि वे किसी अनुचित (अन्याय) व्यवहार का अपराधी ठहराये तो इस दोष के कारण उस पर अर्थदण्ड (जुर्माना) डाला जाता है, और यदि यह धन नवी प्रधान समिति के कार्यकाल के पूर्व ही चुकता कर दिया जाय तो इसमें वृद्धि नही की जाती ; अन्यथा यह द्विगुणित कर दिया जाता है। दसगुना दण्ड द्विगुणित नही किया जाता।

वह अधिकारी जो प्रधान समिति का लेखक कहलाता है गुटिका द्वारा चुना जाता है। सब सार्वजनिक आलेख उसके अधिकार में रहते हैं, जो प्रस्ताव ससद के द्वारा

स्वीकार किये जाते है उनकी रक्षा भी वही करता है। अन्य सब सरकारी पत्रो की प्रतिलिपियो की जाँच करना भी उसी का काम है, तथा वह परिषद् की बैठको मे भी उपस्थित रहता है। पहले वह हाथ उठाकर खुले मतदान के द्वारा चुना जाता था, एव सर्वाधिक प्रतिष्ठाप्राप्त तथा विश्वसनीय व्यक्ति ही इस पद के लिये निर्वाचित होता था, पर उसका नाम उन स्तम्भो पर अधिलिखित पाया जाता है जिन पर सन्धियो, राजदूत की पदवी[२] एव नागरिकता के दानो का अभिलेख है। पर अब वह शलाका-ग्रहण द्वारा चुना जाता है। इसके अतिरिक्त एक नियम (कानून) का लेखक भी होता है, वह भी शलाका-ग्रहण द्वारा चुना जाता है एव वह परिषद् की बैठको मे उपस्थित रहता है, तथा वह भी सब नियमो की प्रतिलिपियो की जाँच करता है। ससद् अपने और परिषद् के लिये अभिलेखो को पढने के लिये एक पाठक को हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा चुनती है। उच्च (एव स्पष्ट) स्वर से अभिलेखो के वाचन के अतिरिक्त इसका अन्य कोई अधिकार (अर्थात् कर्तव्य) नही होता।

सार्वजनिक पूजा-अर्चा के कार्य को सम्पादित करनेवाले दस व्यक्तियो को भी ससद् गुटिका द्वारा निर्वाचित करती है, यह यज्ञयाग के आयोक्ता कहलाते है एव देववाणी द्वारा निर्दिष्ट यज्ञो का अनुष्ठान करते है और अवसर आने पर दृष्टान्तो के साथ शुभ मुहूर्त्त को भी ग्रहण (अथवा अन्वेषण) करते है। ससद् अन्य १० व्यक्तियो को भी शलाकाग्रहण द्वारा निर्वाचित करती है जो (सावत्सरिक) आयोक्ता कहलाते है तथा जो कुछ यज्ञ किया करते है एव जो पानायेनेइया के अतिरिक्त अन्य सब पचवार्षिक[३] उत्सवो का प्रबन्ध किया करते है। पचवार्षिक उत्सव निम्नलिखित है, प्रथम देलॉस का उत्सव (यही एक सप्तवार्षिक उत्सव भी होता है) दूसरे ब्राउरोनिया, तीसरे हेराक्लेइया चौथे ऐल्यूसिनिया और पाँचवे पानाथेनिया, इनमे से कोई भी दो एक ही स्थान (अथवा वर्ष) मे नही हो सकते। केफिस्टोफान के आर्खनकाल मे इनके साथ हेफाएस्तिया नाम के एक और उत्सव को जोड दिया गया।[४]

सालामिस के लिये भी एक आर्खन शलाकाग्रहण पद्धति से चुना जाता है, एवं पिरेइयस के लिये भी एक लोकनाथ (देमार्ख) (इसी प्रकार) निर्वाचित किया जाता है। यह पदाधिकारी इन स्थानो पर दियोनिसिया उत्सव मनाते है और व्यय-वाहकों (खोरेगस्) को नियुक्त करते है। इसके अतिरिक्त सालामिस् मे तो आर्खन का नाम सार्वजनिक रूपेण अभिलिखित होता है।

५५

(आर्खन् और उनके चुनाव का विधिविहित अनुष्ठान ।)

पूर्वोल्लिखित यह सब शासनाधिकारी शलाकाग्रहण पद्धति मे चुने जाते है एव इनके अधिकार भी उपर्युक्त ही है । अब इनके उपरान्त नौ आर्खनों का प्रसग आता है । ये जो अधिकारी नौ आर्खन कहलाते हैं, उनकी नियुक्ति का जो प्रकार आरभ से चला आ रहा है, वर्णन किया जा चुका है ।[1] आजकल ६ थैस्माथीताए (नियमदाता) अपने अभिलेखक (मुशी) के सहित शलाकाग्रहण पद्धति मे चुने जाते है ; इनके अतिरिक्त परमार्खन,[2] राजा और युद्धाध्यक्ष भी चुने जाते हैं । इनमे से एक एक व्यक्ति बारी बारी से प्रत्येक जनगण (फिली) मे से चुना जाता है । अभिलेखक को छोड शेष ९ आर्खनो का सर्वप्रथम परीक्षण (जाँच पडताल) पाँच सौ की परिषद् के द्वारा किया जाता है । लेखक का परीक्षण अन्य (=नव आर्खनो को छोडकर शेप) शासनाधिकारियो की भाँति केवल न्यायालय द्वारा ही किया जाता है (क्योकि चाहे तो कोई पदाधिकारी शलाकाग्रहण द्वारा चुना जाय और चाहे हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा, न्यायालय द्वारा सभी के परीक्षण का विधान है ।) किन्तु नौ आर्खनो का परीक्षण दोनो स्थानों पर होता है ; प्रथम परिषद् मे और फिर न्यायालय मे । पहले ऐसा होता था कि जिस व्यक्ति को परिषद् अस्वीकार कर देती थी वह आर्खन नही हो सकता था, पर आजकल अस्वीकृत व्यक्ति को न्यायालय मे प्रतिवेदन (अपील) करने का अधिकार है, एवं परीक्षण के सबध मे चरमाधिकार न्यायालय को ही प्राप्त है । जब उनका परीक्षण होता है तो सबसे पहले उनसे पूछा जाता है कि तुम्हारे पिता का क्या नाम है, वह कौन दीने (मुहल्ले) का रहनेवाला है ? तुम्हारे पिता का पिता कौन है ? तुम्हारी माता कौन है ? तुम्हारी माता का पिता कौन है ? और कौन से मुहल्ले का रहनेवाला है ? तदुपरान्त उससे यह पूछा जाता है कि तुम्हारे यहाँ पैतृक अपोलो (सूर्यदेव) एवं घर की बाडी में स्थित ज्यूस[3] (सं० द्यौस) है अथवा नही ; यदि है तो उनका देवागार कहाँ है ? तदुपरान्त यह प्रश्न पूछे जाते हैं, क्या तुम्हारे यहाँ काटुम्बिक शवालय है, यदि है तो कहाँ है ? इसके पश्चात् (अन्त मे) यह पूछा जाता है, क्या तुम अपने माता-पिता के प्रति सद्व्यवहार करते हो ? क्या तुम (राजकीय) करों को चुकाते रहते हो, क्या तुमने नियमापेक्षित युद्धाभियानो मे सैनिक सेवा की है ? इन प्रश्नो को पूछ लेने के उपरान्त वह प्रार्थी से कहता है, "इन तथ्यो के साक्षियो को बुलाओ", जब प्रार्थी अपने

पक्ष के साक्षियो को प्रस्तुत कर चुकता है तो परीक्षक पूछता है "क्या कोई व्यक्ति इस प्रार्थी के विरुद्ध कोई दोषारोपण करना चाहता है ?" यदि कोई दोषारोपक होता है तो वह उभय पक्षो को अपना आरोप एव आरोप का प्रत्याख्यान प्रस्तुत करने का अवसर देता है । तत्पश्चात् वह परिषद् मे प्रस्ताव उपस्थित करता है कि वह परीक्षार्थी के विषय मे हाथ उठाकर मतदान से निर्णय कर दे, एव न्यायालय मे भी प्रस्ताव उपस्थित करता है कि वह अपना अन्तिम निर्णय दे दे । यदि कोई भी उस पर आक्षेप न करना चाहे तो सीधे एकदम मतदान होने लगता है । पहले तो (न्यायालय मे) केवल ही व्यक्ति सब न्यायकर्ताओ के लिये मतदान कर देता था, पर आजकल प्रत्येक न्यायकर्ता को प्रार्थी के विषय मे अनिवार्यतया पृथक् पृथक् मत देना पडता है, जिससे यदि कोई अयोग्य (अर्थात् दुश्चरित्र) प्रार्थी आक्षेप करनेवालो से छुटकारा पा भी जाय तो न्यायालय मे उसको अयोग्य सिद्ध करना सभव हो सके ।[४] इस प्रकार से परीक्षण समाप्त हो चुकने पर वे उस शिला की ओर जाते है जिस पर बलिपशु के खड पडे होते है तथा जिसके ऊपर मध्यस्थ अपना निर्णय देने के पूर्व शपथ लिया करते है एव साक्षी लोग शपथपूर्वक अपना साक्ष्य देते है । आर्खन लोग इस शिला पर खडे होते है एव इस बात की शपथ करते है कि हम न्यायपूर्वक तथा नियमानुसार शासन करेगे, शासनकार्य के सबध मे किसी प्रकार की भेट पूजा स्वीकार नही करेगे और यदि स्वीकार की तो स्वर्ण की प्रतिमा का उत्सर्ग करेगे । यहाँ शपथ लेने के उपरान्त वे अक्रोपोलिस की ओर जाते है और वहाँ पर फिर एक बार इसी शपथ को दोहराते है ; इसके उपरान्त वे पदारूढ हो जाते है ।

५६

(मुख्य आर्खन और उसके कर्तव्य तथा अधिकार, व्ययवाहकों की नियुक्ति; उत्सवों के मनाने में उसका सहयोग; उसके समक्ष आने योग्य अभियोग ।)

आर्खन, राजा और युद्धाध्यक्ष इन तीन अधिकारियो मे से प्रत्येक को, जिनको यह स्वयं चाहे ऐसे दो दो सहायक मिलते है । अपने पद का कार्य आरभ करने के पूर्व न्यायालय मे इनका परीक्षण होता है , एव जब भी (अर्थात् जितनी बार) ये लोग इस पद पर कार्य करते है तब ही इनको अपना हिसाब प्रस्तुत करना होता है ।

ज्यो ही आर्खन पदारूढ होता है वह तत्काल पहले पहल यह घोषणा करता है कि जो कुछ (धनधान्य) किसी के पास मेरे पदारूढ होने के पूर्व था वह मेरे कार्यकाल

की समाप्ति तक उसके पास एव उसके अधिकार मे रहेगा । इसके उपरान्त वह अथेन्स के सब मनुष्यो मे जो सबसे अधिक धनवान होते हैं ऐसे तीन व्यक्तियो को त्रागेदी लेखक कवियो की गायकमडली के लिये व्ययवाहक[१] नियुक्त करता है । पहले वह कॉमेदी-कारो के लिये भी पॉच व्ययवाहक (खॉरेगस्) नियुक्त किया करता था, पर अब इनका व्ययभार सब गण वहन करते हैं । इसके पश्चात् वह गणो के द्वारा भरित दियौनीसिया के उत्सव के पुरुषो और लड़को के गायकमडल[२] एवं कामेदीकारो के गायकमडल के व्ययवाहको (अथवा मडल नेताओ) को एव थार्गेलिया के उत्सव के पुरुषों एव लडको के गायनमडल के व्ययवाहको को ग्रहण करता है । (दियौनीसिया के उत्सव में प्रत्येक गण के द्वारा दिया हुआ एक एक गायकमडल (खोरस) होता है पर थार्गेलिया के उत्सव में दो गणो के पीछे एक मडल होता है और प्रत्येक गण गायकमडल के व्यय के अर्द्धांश को वहन करता है ।) वह इनके लिये सम्पत्ति के परिवर्तन का प्रबन्ध करता है[३]और यदि कोई यह हेतु प्रस्तुत करे कि मै तो इस प्रकार के सेवाभार को पहले ही उठा चुका हूँ अथवा मै तो इस प्रकार के सेवाभार से मुक्त हूँ क्योकि मैं इसी के सदृश दूसरा भार उठा चुका हूँ और मेरी छूट का समय अभी समाप्त नही हुआ है, अथवा अभी मैं इसकार्य के लिये वय प्राप्त नही (क्योकि लडकों का गायकमडल का व्ययवाहक (अथवा नेता) ४० वर्ष से अधिक आयु का होना चाहिये) तो वह इस प्रकार के हेतुओ की सूचना देता है। वह देलास्[४] के उत्सव के लिये भी व्ययवाहक को नियुक्त करता है एवं तीस पतवारो की जो नौका नवयुवकों को देलास् की ओर ले जाती हैं उसके लिये प्रतिनिधि मंडल के मुखिया को भी नियुक्त करता है । वह दोनों ही पवित्र प्रयाणोत्सव की देखरेख और सारसँभाल भी करता है, एक उसकी जो कि अस्क्लेपियस[५]के सम्मान में चलता है तथा जिसमे दीक्षित लोग अपने घरो पर ही रहते है, दूसरे महान् दियोनीसिया के प्रयाणोत्सव की—पर दियोनीसिया के उत्सव की देखभाल वह उत्सव के अध्यक्षो के साथ मिल कर करता है । यह अध्यक्ष लोग, जिनकी संख्या दस होती है, पहले तो हाथ उठाकर होनेवाले खुले मतदान से ससद मे चुने जाते थे, एवं जो प्रयाणोत्सव के व्यय को अपने व्यक्तिगत वित्त में से ही भरते थे , पर अब इनमें से प्रत्येक व्यक्ति एक एक गण मे से शलाकाग्रहण द्वारा चुना जाता है, और सरकार की ओर से व्यय के लिये उनको १०० मिना दिये जाते है । थार्गेलिया के उत्सव में जो प्रयाणोत्सव होता है तथा सुत्राणदाता द्यौस देव के सम्मानार्थ जो यात्रोत्सव होता है उसकी देखभाल सारसँभाल भी आर्खन ही करता है । दियोनीसिया और थार्गेलिया के उत्सव में होने-वाली प्रतिस्पर्द्धाओ की व्यवस्था भी वही करता है । बस यही उत्सव हैं जिनकी सार सँभाल उसको करनी पडती है ।

सार्वजनिक अपराधो एव व्यक्तिगत मामलो के जो अभियोग उसके समक्ष आते है तथा जिनको प्रारभिक परीक्षण के पश्चात् वह न्यायालय मे भेज देता है, निम्नलिखित है। माता पिता को चोट पहुँचाना (ऐसे अभियोगो को प्रस्तुत करने पर वादी (अभियोक्ता)पर कोई दण्ड नही पड सकता था)[६], अनाथो को चोट(अथवा हानि)पहुँचाना यह अभियोग अनाथो के सरक्षको के विरुद्ध चलाये जाते थे, राष्ट्र की रक्षिताओ को चोट (अथवा हानि) पहुँचाना (यह अभियोग उनके अभिभावको अथवा पतियो के विरुद्ध होते थे), अनाथ की सम्पत्ति(स्थावर) को हानि पहुँचाना (यह भी उनके सरक्षको के ही विरुद्ध चलाये जा सकते थे), मनोविक्षेप के मामले, जिनमे कि एक पक्ष दूसरे पक्ष पर विक्षिप्तता के कारण अपनी ही सम्पत्ति को विनष्ट करने का अपराध लगाता हो , जब कोई एक पक्ष ऐसी सम्पत्ति को बाँटने से इनकार करे जिसमे दूसरो का भी भाग हो तो ऐसे अवसर पर विभाजक नियुक्त करने के मामले,सरक्षकता की स्थापना के मामले, सरक्षकता के लिये प्रतिस्पर्द्धा होने पर दो पक्षो के मध्य उचित सरक्षक निर्धारित करने के मामले, जिस सम्पत्ति पर कोई दूसरा पक्ष अपने अधिकार का दावा करे उसके निरीक्षण की आज्ञा देना, स्वय अपने को सरक्षक नियुक्त करना, उत्तराधिकार एव राष्ट्र सरक्षिताओ से सबध रखनेवाले विवादो को निर्धारित करना। अनाथो, राष्ट्र सरक्षिताओ एव ऐसी स्त्रियो की (जो अपने पति की मृत्यु के पश्चात् अपने को गर्भवती बतलाती हो) सारसँभाल करना भी आर्खन का ही काम है। अपनी रक्षा मे रहनेवाले व्यक्तियो के प्रति अपराध करनेवालो को (अर्थ-) दड देने का अथवा ऐसे मामलो को न्यायालय मे प्रस्तुत करने का अधिकार आर्खन को प्राप्त होता है। जब तक अनाथ और सरक्षिताएँ १४ वर्ष की नही हो जाती तब तक वह उनके मकानो को किराये पर उठाता है और उनको गिरवी रखता है और यदि सरक्षक लोग अपने सरक्षित बच्चो को भोजन इत्यादि नही देते तो वह उनसे उसको वसूल करता है ? बस आर्खन के कर्त्तव्य यही है।

(५७)

(राजा – उसके द्वारा लीलाओ और छोटे दियोनीसिया उत्सव की अध्यक्षता। मानव-हत्या का अभियोग।)

प्रथम तो राजा (बासीलियस्) रहस्य लीलाओ के अध्यक्षो के साथ लीलाओ की देखभाल करता है। यह अध्यक्ष लोग ससद मे हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा इस प्रकार चुने जाते थे कि इनमे से दो तो अथेन्स की साधारण जनता मे से लिये जाते थे, एक यूमोल्पस के वशधरो मे से तथा एक केरीकॉस[१] के कुल मे से। दूसरे, वह

लेनाइया के दियौनीसिया[२] उत्सव की अध्यक्षता करता है जिसमे एक यात्रोत्सव और एक (नाटको की) प्रतिस्पर्द्धा होती है। यात्रा का प्रबन्ध तो अध्यक्षगण और राजा मिल कर करते है, पर प्रतिस्पर्द्धा की व्यवस्था केवल राजा के द्वारा ही की जाती है। मशालो की दौड की सब प्रतिस्पर्द्धाओ का प्रबन्ध भी वही करता है, एव स्थूलरूप से कहा जा सकता है कि वह पैतृक परम्परा से चले आते हुए सभी यज्ञ यागो की व्यवस्था करता है। देवनिन्दा (अश्रद्धा) सबधी अभियोग उसी के समक्ष प्रस्तुत होते है एव पौरोहित्य अनुष्ठानो से सबध रखनेवाले विवाद भी। पुराने कुलो मे तथा पुरोहितो मे धार्मिक कृत्यो के सबध मे जो विवाद होते है उनको भी वही निर्धारित करता है[३]। मानव हत्या के सभी अभियोग उसके सामने आते है, एव दूषित व्यक्ति को धार्मिक कृत्यो से पृथक् रखने की सार्वजनिक घोषणा करने का अधिकार भी केवल उसी को प्राप्त है। यदि हत्या और आघात जानबूझ कर किये गये हो तो हत्या और आघात के अभियोगो की सुनवाई अरियोपागस् मे होती है, तथा विष देकर हत्या की गयी हो अथवा आग लगाने का अभियोग हो तो यह भी वही (अरियोपागस मे ही) सुने जाते है। बस यही ऐसे अभियोग है जिनका निर्णय परिषद् किया करती है। बिना सकल्प के हुई मानवहत्या के अभियोग, अथवा किसी दास, अथवा अधिवसित विदेशी को मारने की इच्छा करने के अथवा मारने के अभियोग पल्लादियन[४] के न्यायालय में निर्णय किये जाते हैं। ऐसे अभियोग, जिनमे हत्या तो स्वीकार कर ली जाती है पर उसके लिए नियमानुकूल औचित्य की युक्ति उपस्थित की जाती है (जैसे कि परस्त्रीगामी को व्यभिचार करते पकड लेना, अथवा लड़ाई मे भूल से (शत्रु के स्थान मे) दूसरे को मार डालना, अथवा मल्लयुद्ध मे प्रतिपक्षी को मार डालना इत्यादि) दैल्फीनियन् न्यायालय में निर्णीत होते है। यदि कोई ऐसी हत्या के कारण निर्वासित है जिसमे क्षमादान[५] (एव सम्मिलन) सभव है और इसी बीच मे यदि फिर वह किसी को मारने अथवा आघात पहुँचाने का अपराधी बन जाता है तो उस पर फ्रैआतम के न्यायालय मे अभियोग चलाया जाता है और वह किनारे पर बँधी हुई नौका में से अपने मामले की पैरवी (डिफ़ेन्स) करता है[६]। जो अभियोग अरियोपागस के न्यायालय मे निर्णय किये जाते हैं उनको छोडकर शेष सब मामलो का फैसला वे एफेताए[७] करते है जो गुटिका द्वारा चुने जाते है। न्यायालय में इन अभियोगो को प्रविष्ट कराता है राजा और इनकी सुनवाई धर्मस्थान में एव खुली हवा मे होती है, और जब कभी राजा किसी अभियोग का निर्णय करता है तो वह अपना मुकुट उतार देता है। मानव हत्या का अभियुक्त मनुष्य अन्य सब समय धर्मस्थानों से बहिष्कृत रहता है, और नियम के अनुसार उसको बाजार में भी प्रवेश करने का अधिकार

नही होता , पर अपने अभियोग की सुनवाई के समय वह मन्दिर मे प्रवेश करके अपने पक्ष का बचाव कर (सक) ता है। यदि ठीक (वास्तविक) अपराधी विदित नही होता तो लिखित आदेश "काम करनेवाले के विरुद्ध" प्रचारित किया जाता है। राजा और गणराज ऐसे अभियोगो का भी निर्णय करते है जिनमे अपराध निर्जीव पदार्थों अथवा पशुओ द्वारा किया गया होता है[८]।

५८

(युद्धाध्यक्ष। उसके धार्मिक कर्तव्य। नागरिको के अतिरिक्त अन्य मनुष्यो से सबंध रखनेवाले कार्यो मे उसका कर्तव्य।)

युद्धाध्यक्ष आखेटिका देवी आर्त्तेमिस् और ऐन्यालियस्[१] के लिए बलि दिया करता है और युद्ध मे मरे हुए वीरो के मृतोत्सव के समय होनेवाले वीरो के दगल का प्रबन्ध करता है एव हार्मीदियस तथा अरिस्तागैतान[२] की स्मृति मे श्राद्धबलि प्रदान करता है। उसके समक्ष केवल व्यक्तिगत अभियोग ही (निर्णय के लिए) आते है, जिनका सबध साधारण एव विशेष-सुविधा-प्राप्त दोनो प्रकार के परिनिवसित विदेशियो एव विदेशो के दूतो से होता है। उसका कर्त्तव्य इन अभियोगो को लेकर इनको दस भागो मे विभक्त करना है और तदुपरान्त शलाका-ग्रहण पद्धति द्वारा जो भाग जिस गण के हिस्से मे आता है उसको उसी के लिए सौप देना (आयुक्त करना) है, इसके वे शासन-पदाधिकारी जो गणो के लिए अभियोगो को आरंभ करते है इन अभियोगो को मध्यस्थो को दे देते है। ऐसे अभियोगो को तो पॉलीमार्क (सेनाध्यक्ष) स्वयमेव प्रवर्तित करता है जिनमे प्रतिनिवसित विदेशी पर अपने सरक्षक[३] के परित्याग का आरोप किया गया हो, अथवा सरक्षक न बनाने का आरोप लगाया गया हो, अथवा जिनका सबध विदेशियो के उत्तराधिकार अथवा सरक्षितो से हो, सामान्यरूपेण, सच तो यह है कि नागरिको के लिए जो कार्य आर्खन करता है, विदेशियो के लिए वही सब कार्य पॉलीमार्क करता है।

५९

(थैस्मौथीताए = नियमनिर्माता और उनका विधिसबंधी कार्य।)

थैस्मौथीतियो को प्रथम तो यह निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त होता है कि न्यायालय कौन से दिनो मे न्याय-कार्य करेंगे, दूसरे वे उन न्यायालयो को पृथक् पृथक् शासन-पदाधिकारियो के लिए नियत करते है क्योकि जो कार्यविधि थैस्मौथीति निर्धारित करते है पदाधिकारियो को अवश्यमेव उसी का अनुसरण करना पडता है। इसके अति-

रिक्त वे ससद के समक्ष राष्ट्रीय अपराध से सबध रखनेवाले अभियोगो को आरभ करते है, निन्दात्मक मतो को प्रस्तुत करते है, ससद के समक्ष किसी शासनपदाधिकारी के व्यवहार के प्रति चुनौती को प्रस्तुत करते है, अवैध प्रस्तावो की, एव ऐसे विधि-प्रस्तावो की निन्दा करते है जो राष्ट्र के लिए उपयोगी नही होते, शासन-प्रमुखो अथवा उनके सभापति के व्यवहार के विषय मे तथा सेनापतियो के द्वारा प्रस्तुत आयव्यय के लेखे के विषय मे शिकायते प्रस्तुत करते है। ऐसे सब सार्वजनिक अभियोग भी उन्ही के समक्ष आते है जिनमे अभियोक्ता को (आरभ मे) धन जमा करना पडता है, जैसे विदेशीपन को छिपाने का अभियोग, उत्कोच देकर विदेशीपन के छिपाने का अभियोग, धूर्त्तता-पूर्ण अपराध लगाने का अभियोग, उत्कोच ग्रहण करने पर अभियोग, दूसरे को झूठमूठ राष्ट्र का ऋणी अभिलिखित कराने पर अभियोग, आह्वान सूचनाप्राप्ति के झूठे साक्ष्य पर अभियोग, किसी व्यक्ति को राष्ट्र के ऋणियो की सूची मे निबद्ध करने के षड्यत्र पर अभियोग, किसी व्यक्ति को ऋणियो की सूची मे से निकाल देने पर अभियोग, परस्त्रीगमन करने पर अभियोग। सब शासनाधिकारियो के पदग्रहण करने से पूर्व परीक्षण को भी ये ही प्रस्तुत करते है।[1] मुहल्लो की अस्वीकृति एव परिषद् द्वारा अपराध घोषणा को भी उपस्थित करते है। इसके अतिरिक्त वाणिज्य-सामग्री एव खानो से सबध रखनेवाले कुछ व्यक्तिगत मामलो को अथवा ऐसे अभियोगो को जिनमे किसी दास ने स्वतत्र नागरिक के विषय मे बुरा भला कहा हो, ये स्वयमेव प्रस्तुत करते है। फिर कौन सा न्यायालय कौन से शासनाधिकारी को सौपा जायगा, तथा व्यक्तिगत मुकदमो के लिये अथवा सार्वजनिक मामलो के लिए, इसके लिए शलाका ग्रहण करने का कार्य भी वही करते है। वे व्यापारिक सधियो को नगर की ओर से स्वीकार करते है एव इनसे उत्पन्न होनेवाले मुकदमो को प्रवर्तित करते है। अरियौपागस मे होनेवाले झूठे साक्ष्य के मामलो को भी वही चालू करते है।

जूरी लोगो के चुनाव के लिये गुटिका-ग्रहण कार्य नौ आर्खनो एवं दसवे थैस्मॉथीतियो के अभिलेखक (मुशी) द्वारा सपादित किया जाता है, इनमे प्रत्येक अपने गण मे जूरियो के चुनाव का कार्य करता है। नौ आर्खनो के कर्त्तव्य इस प्रकार के हैं।

६०

(राष्ट्रीय क्रीडोत्सवो के आयुक्तगण ; धर्मक्षेत्र के जितून वृक्षो का तैल।)

राष्ट्रीय क्रीडोत्सव के दस आयुक्त पुरुष होते है जो प्रत्येक गण में से एक के हिसाब से गुटिका ग्रहण द्वारा चुने जाते है। यह पदाधिकारी एक परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात्

चार वर्ष राष्ट्र की सेवा करते है। यह लोग पानाथैनी यात्रोत्सव, सगीत की प्रतिस्पर्द्धा, मल्लकार्यो की प्रतिस्पर्द्धा, एव घुडदौड की व्यवस्था करते है। अथीनादेवी के परिधान[1] को भी यही लोग प्रस्तुत करते है, परिषद् के साथ मिलकर (पुरस्कार मे दिये जानेवाले) पात्रादिको[2] को बनवाते हैं तथा (विजयी वीर) मल्लो को तैल का उपहार देते है। यह तैल पवित्र जितून वृक्षो से एकत्रित किया जाता है। आर्खन इस तैल को उन क्षेत्रो के स्वामियो से (जिनमे पवित्र जितून के वृक्ष उगते है) ३ अर्द्धचषक प्रति वृक्ष के हिसाब से वसूल करता है। प्राचीन काल मे तो सरकार ही फलो को बेचा करती थी, और यदि कोई पवित्र जितून के वृक्षो मे से एक को भी खोद कर उखाडता अथवा तोड डालता था तो अरियौपागस् की परिषद् मे उसपर अभियोग चलाया जाता था और यदि अपराध सिद्ध हो जाता था तो उसका दण्ड मृत्यु थी। पर क्योकि अब तैल क्षेत्रो के स्वामियो के द्वारा दे दिया जाता रहा है, अतएव यद्यपि अभी तक कानून वही चला आता है पर उसकी (पुरातन) प्रक्रिया लुप्त हो गयी है। अब तो सरकार इस भसम्पत्ति से तैल वसूल करती हे न कि प्रत्येक वृक्ष की गिनती के आधार पर।[3] जब आर्खन अपने शासन सवत् के तैल को एकत्रित कर लेता है तो वह उसको अक्रोपौलिस मे सुरक्षित रखने के लिये कोषाध्यक्षो को सौप देता है, तथा जब तक वह तैल की पूर्णमात्रा को कोषाध्यक्षो को न सौप दे तब तक वह अरियोपागस मे अपने पद पर आसीन नही हो सकता। कोषाध्यक्ष इस तैल को पानाथैनी उत्सव तक अक्रोपौलिस मे सुरक्षित रखते हैं और उत्सव आने पर वे उसको नाप कर उत्सव के आयुक्त पुरुषो को दे देते है और वे इसको विजयी वीरो को उपहार स्वरूप प्रदान करते है। सगीत की प्रतिस्पर्द्धा मे विजयी होनेवाले वीरो को मिलनेवाले उपहार है रजत और स्वर्ण, पौरुषपूर्ण कार्यों मे विजेताओ को उपहार ढाले (चर्म) होती है और शारीरिक कौशल (जिमनास्टिक) की प्रतिस्पर्द्धा और घुडदौड के विजेताओ का उपहार तैल है।

६१

(सैनिक अधिकारी (क) सेनापति (ख) गणसेनापति (ग) अश्वाध्यक्ष और (घ) अश्वगणाध्यक्ष।)

सैनिक (युद्धसबधी) कार्य के लिये सब पदाधिकारी हाथ उठाकर खुले मतदान के द्वारा चुने जाते हैं। इनम दस सेनाध्यक्ष (स्त्रातीगस्) होते है जो पहले सब गणो मे से प्रत्येक से एक के हिसाब से निर्वाचित होते थे, अब समग्र नागरिक समुदाय मे से चुने जाते हैं। इनमे से किसको क्या कर्त्तव्य पालन करना है यह बात भी हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा निर्धारित की जाती है। एक सेनापति को कवचधारी पदातिदल का अध्यक्ष

बनाया जाता है, एव यदि वे युद्ध मे जाते है तो वही उनका नेतृत्व करता है। एक दूसरा स्वदेश की रक्षा के लिये नियुक्त किया जाता है, जो राष्ट्रभूमि की रक्षा का कार्य करता है एव यदि राष्ट्र की सीमा के भीतर युद्ध छिड जाय तो यह सेनापति युद्ध में जुट जाता है। दो सेनापति पाइरियस (पिरियस) के लिये निर्वाचित किये जाते है, इनमे एक मूनी-खिया के लिये नियोजित किया जाता है एव दूसरा आक्ती (ते) (दक्षिण तट) पर, तथा इन दोनो का कर्त्तव्य पाइ (पि) रियस् की रक्षा करना है और उसकी देखभाल करना है। एक और सेनापति सम्पन्न नागरिको के सैनिक दलो (सिम्मोरियो)[1] की अध्यक्षता करने के लिये चुना जाता है, जो त्रियेरार्कों (पोतनिर्माताओं) का नाम निर्देश किया करता है, उनके लिये सम्पत्ति के विनिमय का प्रबध करता है[2] एव इसी निमित्त पारस्परिक विरोधी दावो का निर्णय करने के लिये मुकद्दमो को चालू करता है। इसमे से शेष सेनाध्यक्ष, निर्वाचन के समय जो भी कार्य प्रस्तुत हो उसके लिये भेज दिये जाते है। प्रत्येक प्रिनेताइया के समय इन सेनाध्यक्षो की नियुक्ति का प्रश्न समर्थन अथवा पुष्टीकरण के लियें प्रस्तुत किया जाता है, जब कि यह पूछा जाता है कि उनको भली प्रकार अपना कार्य करते हुए समझा जाता है अथवा नही। यदि मतदान के द्वारा कोई पदाधिकारी परित्यक्त कर दिया जाता है तो उसका मामला परीक्षण (निर्णय) के लिये न्यायालय मे आता है, यदि वह अपराधी सिद्ध होता है तो जनता यह निर्णय करती है कि उसको क्या दण्ड अथवा शुल्क भरना होगा; पर यदि वह अपराध से मुक्त सिद्ध हो जाता है तो पुन. पदारूढ हो जाता है। जब सेनापति सक्रिय सेवा में सग्लन होते है तो उनको किसी भी व्यक्ति को अविधेयता के कारण बन्दी बनाने का सार्वजनिक घोषणापूर्वक निकाल देने का और जुर्माना करने का पूरा पूरा अधिकार होता है, पर जुर्माना सामान्यतया बहुधा नही किया जाता।

प्रत्येक गण मे से एक के हिसाब से दस गण सेनापति हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा चुन जाते है। इनमें से प्रत्येक अपने गण की सेना की कमान करता है। और छोटी टुकडियों के नायको की नियुक्ति करता है।

दो अश्वाध्यक्ष (=अश्वारोही सेना के अध्यक्ष) होते हैं जो समग्र नागरिक समुदाय में से हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा चुने जाते हैं, एवं प्रत्येक पाँच गणों को अधिकृत करके अश्वारोही सेना की कमान (सचालना) करते हैं। पदातिक सेना के सबध में जो अधिकार सेनाध्यक्षो के होते हैं वही (अश्वारोही के मध्य) इनके होते हैं। इनकी नियुक्ति के भी पुष्टीकरण की आवश्यकता होती है।

प्रत्येक गण मे से एक के हिसाब से दस अश्वगणाध्यक्ष हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा चुने जाते है एव जिस प्रकार गण सेनापति गण की सेना का सचालन करते है उसी प्रकार यह लोग अपने अपने गण की अश्वारोहियो की सेना की कमान करते है।

लैम्नस् द्वीप के लिये भी एक अश्वाध्यक्ष होता है जो हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा चुना जाता है तथा जो लैम्नस् की अश्वारोही सेना की अध्यक्षता किया करता है।

एक पारालस (नामक पवित्र नौका) का कोषाध्यक्ष होता है जो हाथ उठाकर खुले मतदान द्वारा निर्वाचित होता है, दूसरा अम्मोनिया का।

६२

निर्वाचन का ढंग। विविध पदों के वेतन एवं भत्ते।

जो शासन पदाधिकारी शलाकाग्रहण पद्धति द्वारा चुने जाते है वे सब नौ आर्खनो के सहित, प्राचीन काल मे समग्र जाति (समग्र नागरिक समुदाय) मे से चुने जाते थे, जब कि दूसरे अधिकारी लोग, अर्थात् वे अधिकारी जिनका चुनाव थीसियन्[1] नामक मन्दिर में होता था विभक्त होकर मुहल्लो (विशिष्ट क्षेत्रो) मे से पृथक् पृथक् चुने जाते थे। पर क्योकि मुहल्ले निर्वाचन को बेच दिया करते थे अतएव आजकल, परिषद् के सदस्यो और नगर-रक्षको[2] को छोडकर शेष सब अधिकारी समग्र जाति मे से चुने जाते है (परिषद् के सदस्य एव नगर-रक्षक) अब भी मुहल्लों मे से ही चुने जाते है।

(निम्नलिखित सार्वजनिक सेवाओ के लिये वेतन इस प्रकार मिलता है।) प्रथम तो ससद की अन्य (साधारण) बैठको मे सदस्यो को एक द्राख्मा मिलता है, एव मुख्य बैठको के लिये ९ ओबल। फिर न्यायालयो के जूरियो को प्रतिदिन ३ ओबल और परिषद के सदस्यो को ५ ओबल मिलते है। प्रितानी लोगो को अपने भरण पोषण के लिये प्रतिदिन एक ओबल मिलता है। नौ आर्खन अपने भरण-पोषण के लिये प्रति व्यक्ति ४ ओबल पाते है एव इसके अतिरिक्त उनको एक सवाद-वाहक एव एक बीन बजानेवाला भी मिलता है, तथा सालामिस के आर्खन को प्रतिदिन एक द्राख्मा मिलता है। राष्ट्रीय क्रीडोत्सवो के आयुक्तगण, हैकातोम्बेयन् मास मे (जिसमें कि पानाथैनी उत्सव मनाया जाता है) चौदहवे दिन से लेकर मास के अन्त तक प्रितानियन मे ही भोजन किया करते है। अम्फिक्तियौनी सघ के प्रतिनिधि जब देलॉम् मे सघ के सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये जाते है तब देलास के कोष से प्रतिदिन एक द्राख्मा पाते है।[3] वे सब शासनाधिकारी जो कि सामौस, स्कीरौस,

लेम्नस् अथवा इम्ब्रौस्[४] को भेजे जाते है, अपने भरण-पोषण के लिये भत्ता पाते हैं।

युद्ध सबधी पदो को जितनी चाहे उतनी बार प्राप्त किया जा सकता है, पर परिषद् की सदस्यता को छोड कर (जो कि दो बार प्राप्त की जा सकती है) शेष सब पद केवल एक बार ही ग्रहण किये जा सकते हैं।

६३

(न्यायालयों की पद्धति। साधन-सामग्री। जूरियों की योग्यता। जूरियों के टिकट।)

न्यायालयो के न्यायकर्ता (जूरी लोग) अपने अपने गणो के लिये नौ आर्खनो द्वारा वरण किये जाते है एवं दशम गण के लिये थैस्माथीतियो के अभिलेखक के द्वारा। न्यायालयो मे दस प्रवेशमार्ग होते है, जिनमे से प्रत्येक गण के लिये एक मार्ग निश्चित होता है, बीस कक्ष ऐसे होते हैं जिनमे परची निकाली जाती है, इनमें से एक एक गण के लिये दो दो कक्ष नियत होते हैं, प्रत्येक गण के लिये दस के हिसाब से सौ पेटियाँ होती है, अन्य पेटिकाएँ भी होती है जिनमे न्यायकर्त्ताओ के टिकट रखे रहते है जिन पर परची पडती है तथा दो घट होते हैं। और फिर जितने न्यायकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है उतनी ही लकडियो की चिप्पियाँ प्रत्येक प्रवेशमार्ग के पास रखी होती हैं, एव घट मे उतनी ही गणनगुटिकायें (counters) रख दी जाती हैं जितनी लकडियो की चिप्पियाँ प्रवेशमार्गों के पास रखी होती है। इन गणनगुटिकाओ पर वर्णमाला के ग्यारहवे अक्षर (लाम्बडा) से लेकर उतने अक्षर उल्लिखित होते हैं जितने न्यायालयों को जूरियो से भरना अभीष्ट होता है। ऐसे सब व्यक्ति, जिनकी अवस्था ३० वर्ष से ऊपर हो, यदि वे राष्ट्र के ऋणी न हो अथवा नागरिकता के अधिकार से वचित न कर दिये गये हो, जूरी का कार्य करने की योग्यता रखते हैं। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जूरी का कार्य करता है, जो ऐसा करने की योग्यता नही रखता, तो उसके विषय मे सूचना प्राप्त होने पर उसको न्यायालय के समक्ष उपस्थित किया जाता है, यदि उसका अपराध सिद्ध हो जाता है तो जूरी लोग उस दण्ड अथवा अर्थदण्ड को निर्धारित करते हैं जिसके योग्य वे उसको समझते हैं। यदि उसको धन का दण्ड दिया जाता है तो वह अवश्य ही तब तक के लिये बन्दी बना लिया जाता है जब तक कि वह उस प्रथम ऋण को (जिसके कारण उसके विरुद्ध सूचना दी गयी थी) एव न्यायालय द्वारा डाले गये अर्थदण्ड को, दोनो को ही न चुका दे। प्रत्येक जूरी (दिकास्तेस्) का टिकट तुन की

लकडी का होता है, जिस पर उसका, उसके पिता का एव उसके मुहल्ले का नाम लिखा होता है और वर्णमाला के अक्षरो मे से आरभ से लेकर "काप्पा"[१] तक कोई एक अक्षर भी अकित होता है , क्योकि जूरी लोग अपनी अपनी जाति (गण) मे दस भागो मे विभक्त होते है, तथा प्रत्येक अक्षर मे प्राय जूरियो की सख्या लगभग एक समान होती है। थैस्मौथीतियो के द्वारा यह पर्ची द्वारा निश्चय कर देने पर कि कौन से अक्षर न्यायालयो मे उपस्थित होना चाहिये, एक नौकर प्रत्येक न्यायालय के शीर्ष पर वह अक्षर लगा देता है जो पर्ची द्वारा उसके लिये नियुक्त कर दिया गया है।

६४

(जूरियो (=दिकास्तियो) का निर्वाचन एवं न्यायालयो के लिए उनकी नियुक्ति।)

उपर्युक्त दस पेटियाँ पृथक् पृथक् गणो के द्वारा प्रयुक्त प्रवेश मार्गो के सामने रख दी जाती है, एव इनमे से प्रत्येक पर वर्णमाला के आरभ (आल्फा) से लेकर दसवे अक्षर (काप्पा) तक एक एक अक्षर अकित रहता है[१]। जूरी लोगो मे से प्रत्येक अपना टिकट उस पेटिका मे डालता है जिस पर वही अक्षर अकित होता है जो उसके अपने टिकट पर है , तब नौकर उन सब पेटियो को हिलाता है, तदुपरान्त थैस्मौथीती प्रत्येक पेटी मे से एक एक टिकट खीच लेता है। इस प्रकार से चुना हुआ व्यक्ति टिकट लटकाने वाला कहलाता है और उसका काम यह होता है कि वह अपने अक्षर वाली पेटी मे से टिकट निकालकर अपने अक्षर वाली पटरी पर लटकाये[२]। उसको शलाकाग्रहण पद्धति द्वारा चुना जाता है, जिससे कि यदि टिकट लटकानेवाला सर्वदा एक हो तो टिकट लटकाने मे बुराई न करे। जो कमरे पर्ची निकालने के लिये नियत होते है उनमे से प्रत्येक मे टिकट लटकाने की पाँच पटरियाँ होती है। तब आर्खन अक्ष (शलाका) फेकता है उसके द्वारा प्रत्येक कमरे मे से सभी गणो मे से जूरियो को वरण कर लेता है। यह पाशक पीतल के बने होते है और इनको काला या श्वेत रगा जाता है, जितने न्यायकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है, उतने ही के लिये, पाँच टिकटो के लिये एक श्वेत पाँसे के हिसाब से श्वेत पाँसे रख दिये जाते है, और शेष के लिये इसी हिसाब से काले पाँसे रख दिये जाते है। जैसे ही आर्खन शलाका ग्रहण करता जाता है वैसे ही उद्घोषक वरण किये हुए व्यक्तियो के नाम पुकारता जाता है। टिकट लटकानेवाले को वरण किये हुए व्यक्तियो में सम्मिलित कर लिया जाता है। प्रत्येक जूरी, वरण किये जाने और नाम पुकारे जाने पर पुकार का उत्तर देता है और घट मे एक गणन गुटिका निकालकर उस पर अकित अक्षर को ऊपर की ओर प्रदर्शित करते हुए प्रथम

अध्यक्षता करनेवाले आर्खन को समर्पित करता है। आर्खन उसको देखने के पश्चात् जूरी के टिकट को उस पेटी मे डाल देता है जिस पर गणनगुटिका का अक्षर अकित होता है, जिससे कि जूरी को उस न्यायालय मे जाना पडेगा जो उसके लिये शलाका द्वारा, नियत किया जाता है न कि उसमे जिसे वह स्वय चुनता है; तथा इस प्रकार किसी भी व्यक्ति के लिये किसी विशेष न्यायालय के लिंये अपनी पसन्द के जूरियो को एकत्रित कर लेना भी सभव नही हो सकेगा। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये, आर्खन के पास इतनी पेटियाँ रख दी जाती हैं जितने न्यायालयों को उस दिन जूरियो से भरना होता है तथा उन पर शलाका द्वारा चुने हुए न्यायालयो के अक्षर अंकित होते हैं।

६५

(जूरियो के अन्यायपूर्वक एक मत न होने देने के लिए उपाय।)

इसके उपरान्त जूरी अपनी गणनगुटिका को पुन· अनुचर को दिखलाकर बाडे (अथवा बाधा) को पार करके प्रागण मे प्रवेश करता है। अनुचर उसको उसी रग का एक दण्ड देता है, जो कि उस न्यायालय का रंग होता है जिसका अक्षर उस (जूरी) की गणनगुटिका पर है, जिससे वह अनिवार्यतया उसी न्यायालय में जाय जो शलाका द्वारा उसके लिये नियुक्त हुआ है; क्योकि यदि वह किसी अन्य न्यायालय मे जाये तो उसके दण्ड के रंग से उसका भण्डाफोड़ हो जायगा। प्रत्येक न्यायालय के प्रवेशमार्ग के शीर्ष पर एक विशेष रग लगा होता है। जूरी अपने दण्ड को लेकर उस न्यायालय मे प्रवेश करता है जिसका रग उसके दण्ड के रग के तथा जिसका अक्षर उसकी गणन-गुटिका के अक्षर के सदृश होता है। प्रवेश करने के पश्चात् वह एक अधिकारी से अपना चिह्न प्राप्त करता है, इस अधिकारी को यह कार्य भी शलाकाग्रहण पद्धति द्वारा सौपा जाता है। बस, इस प्रकार अपनी गणन-गुटिका और दण्ड को लिये हुए न्यायकर्ता लोग न्यायालय मे अपना आसन ग्रहण करते हैं, एवं उनकी प्रवेश-प्रक्रिया समाप्त हो जाती है, जो लोग वरण नही किये जाते वे लोग टिकट लटकानेवाले से अपने टिकट वापस ले लेते हैं। सार्वजनिक सेवक प्रत्येक गण से पेटियों को लेकर न्याया-लयों को जाते हैं और एक एक पेटी को (जिसमें न्यायालय के काम करनेवाले एक एक गण के सदस्यो के नाम (टिकटो पर) रखे रहते हैं), प्रत्येक कोर्ट में उन अधिकारियो को सौप देते है, जिनका कार्य न्यायालयों मे जूरियो को उनके टिकट लौटाना है जिससे उनको उनके नाम से पुकारकर उनका भत्ता उनको दे सके।

६६

(अधिष्ठाताओं की बाँट। घटिका-नियंत्रक और मतगणकों का चुनाव।)

जब सब न्यायालय भर जाते है तो प्रथम न्यायालय मे दो मतदान की पेटिकाएँ और विभिन्न न्यायालयो के रग मे रगे कुछ पाँसे रख दिये जाते है और कुछ अन्य ऐसी शलाकाएँ भी रख दी जाती है जिन पर न्यायालयो के अधिष्ठाताओ का नाम अकित होता है। गुटिका ग्रहण द्वारा चुने हुए दो थैस्माथीति, पृथक् पृथक् रगी हुई शलाकाओ को एक सदूक मे डालते है और अधिष्ठाता पदाधिकारियो के नाम वाली शलाकाओ को दूसरे मे। तब जिस अधिष्ठाता अधिकारी का नाम पहले निकल आता है वह उद्घोषक के द्वारा उस न्यायालय मे कार्य करने के लिये विनियोजित हुआ घोषित कर दिया जाता है जिसका (नाम, सख्या) पहले निकली हो, इसी प्रकार दूसरा दूसरे के लिये एव अन्य अन्यो के लिये इत्यादि , जिससे किसी अधिष्ठाता को पहले से ही यह ज्ञात न हो सके कि उसको कौन सा न्यायालय कार्य करने को मिलेगा, प्रत्युत प्रत्येक को उसी न्यायालय को स्वीकार करना पडता है जो शलाकाग्रहण द्वारा उसको मिलता है।

जब जूरी लोग प्रवेश कर चुकते है एव पृथक् पृथक् न्यायालयो में बाँट दिये जा चुके होते है, तब प्रत्येक न्यायालय का अधिष्ठाता दस पेटियो मे से प्रत्येक मे से एक एक टिकट निकालता है (अर्थात् १० गणो मे से प्रत्येक के एक एक सदस्य का टिकट निकालता है) और उनको एक अन्य रीति से पेटी मे डाल देता है। इसके उपरान्त वह उनमे से पाच टिकटो को निकाल लेता है। और उनमे से एक को घटिका की अध्यक्षता के लिये नियुक्त कर देता है एव अन्य चार को (मतसूचक) गुटिकाओ को गणना करने के लिये, जिससे कि न तो पहले से घटिका के अध्यक्ष के द्वारा कुछ तैयारी की जा सके और न गुटिका गिननेवालो के द्वारा (अथवा जिससे न तो कोई पहले से घटिका के अध्यक्ष के साथ छेडछाड कर सके और न गुटिका गिननेवालो के साथ) और न इनके विषय में कोई अनाचार हो सके। शेष पाँच व्यक्ति जो इन कार्यो को करने के लिये नही चुने जाते है, उनसे उस व्यवस्था के प्रक्रम (प्रोग्राम) को ग्रहण करते है जिनके अनुसार जूरियो को भत्ता मिलेगा एव उस स्थान की जानकारी भी प्राप्त करते है जहाँ पर पृथक् पृथक् गणो के सदस्य अपने कर्त्तव्य की पूर्ति के पश्चात् न्यायालय मे एकत्रित होगे। ऐसा करने का उद्देश्य यह होता है कि जूरी लोग अपने भत्ते को पाने के लिये छोटे छोटे समूहो मे एक दूसरे गण से कुछ दूरी पर स्थित हो न कि सब के सब एक झुड में एकत्रित होकर परस्पर एक दूसरे को बाधा पहुँचाये।

६७

(व्यवहार-वाद में उभय पक्षों के लिए समय का विभाजन ।)

इन प्रारभिक बातो के समाप्त हो जाने पर मुकदमो को पुकारा जाता है । यदि व्यक्तिगत मुकदमो का दिन हो तो व्यक्तिगत मुकदमो को पुकारा जाता है । विधि अथवा कानून मे निर्दिष्ट कोटियो मे से प्रत्येक के चार मामले ग्रहण किये जाते है, एव दोनो ही प्रतिपक्षी शपथपूर्वक वचन देते है कि वे अपने वक्तव्यो को काम की बात तक सीमित रखेगे । यदि सार्वजनिक मुकदमो का दिन होता है तो सार्वजनिक मुकदमे के प्रतिपक्षी पुकारे जाते है और केवल एक मुकदमे का ही कार्य किया जाता है । (न्यायालय मे) जलघटिकाओ का प्रबध रहता है, जिनमें छोटी छोटी जल डालने की नलियाँ लगी रहती है, इनमे पानी उँडेला जाता है और इसी के अनुसार पक्षो के वक्तव्यो की लबाई का नियमन किया जाता है । यदि मुकदमे मे विवादगत धन ५००० द्राख्मा से ऊपर हो तो प्रत्येक पक्ष के प्रथम वक्तव्य के लिये १० और दूसरे के लिये ३ खूस[1] जल डाला जाता है, यदि विवादगत धन १००० से लेकर ५००० द्राख्मा तक होता है तो प्रथम और द्वितीय वक्तव्य के लिये क्रमश. ७ और २ खूस, और जब मामला १००० द्राख्मा से कम होता है तो क्रमश. ५ और २ खूस जल उँडेला जाता है । उभय पक्षो के बीच मध्यस्थ निर्णय के लिये, जिसमें द्वितीय वक्तव्य होता ही नही, ६ खूस जल उंडेला जाता है । जब न्यायालय का अभिलेखक किसी प्रस्ताव (मत) अथवा, विधि (नियम) अथवा सशपथ साक्ष्य अथवा सन्धि को पढनेवाला होता है तो उस जलघटिका की अध्यक्षता के लिये शलाकाग्रहण द्वारा चुना हुआ अधिकारी नली के मुख को बन्द कर देता है । तथापि जब कोई मुकदमा दिन के विनिश्चित कालमान के अनुसार सचालित होता है तो वह नली को नही रोकता, प्रत्युत वादी (अभियोक्ता) और (अभियुक्त) प्रतिवादी के लिये जल की बराबर मात्रा प्रदान करता है । दिन के समय की मात्रा आदर्श मानदण्ड पौसीदियोन्[2] मास का दिनमान माना जाता है । इस मानदण्ड के अनुसार नपे हुए दिन का उपयोग ऐसे मामलो मे होता है जिनमें बन्दीग्रह सेवन, मृत्यु, निर्वासन, नागरिकता के अधिकार के अपहरण, अथवा सर्वस्वापहरण इत्यादि दण्डस्वरूप विधान किये जाते हैं ।

६८

(जूरियो की संख्या । मतदान की गुटिकाओं की आकृति । मतदान की पद्धति ।)

अधिकाश न्यायालयो में जूरियो की संख्या ५०० होती है । ..... जब सार्वजनिक मामलो को १००० जूरियो के समुदाय के समक्ष उपस्थित करना आवश्यक हो जाता है

तो इस उद्देश्य के लिये दो न्यायालयो के सदस्य उच्च न्यायालय मे एकत्रित होते है। जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मुकदमे होते है वे १५०० जूरियो अथवा तीन एकत्रित न्यायालयो के समक्ष उपस्थित किये जाते है। मत देने की गुटिका पीतल की होती है जिनके मध्य मे एक खोखला छिद्र होता है, इनमे से आधी छिद्रयुक्त होती है और आधी ठोस। जो अधिकारी मतग्रहण करने के कार्य के लिये नियुक्त होते है वे वक्तव्यो के समाप्त हो जाने के पश्चात् प्रत्येक जूरी को दो गुटिकाएँ देते है, एक छिद्रवाली दूसरी ठोस। ऐसा उभय पक्षो की दृष्टि से स्पष्टतया किया जाता है जिससे किसी को दोनो छिद्रवाली अथवा दोनो ठोस ही गुटिकाएँ न मिल जाये। तदुपरान्त एक अधिकारी जो इसी कार्य के लिये नियुक्त होता है, जूरियो के दण्ड को उनसे ले लेता है एव इसके बदले मे प्रत्येक जूरी को मतदान कर देने पर एक ३ सख्या से अकित पीतल का पत्रक मिलता है (क्योकि इसको लौटाने पर उसको ३ ओबल मिलते है।) ऐसा इसलिये किया जाता है कि प्रत्येक जूरी अवश्य मत दे, क्योकि जब तक कोई जूरी मत नही देता तब तक उसको यह पत्रक नही मिलता। दो घट जिनमे से एक पीतल का और दूसरा लकडी का होता है न्यायालय मे रखे होते है, तथा यह ऐसे खुले स्थानो मे रखे होते है, जिससे कोई छिपकर गुटिकाओ को नही डाल सकता, इन्ही घटो मे जूरी अपना मत प्रदान करते है। सक्षम (सार्थक) गुटिका पीतल के एव अक्षम लकडी के घट मे डाली जाती है, पीतल के घट के ढक्कन मे ऐसा छिद्र बना होता है जिसमे एक ही गुटिका एक बार मे डाली जा सकती है, जिससे कोई भी एक साथ दो गुटिकाएँ न डाल दे।

इसके उपरान्त ज्यो ही जूरी लोग अपना मतदान आरभ करने को होते है त्यो ही उद्घोषक पहले यह पूछता है कि क्या उभय पक्ष मे से कोई भी पक्ष (प्रस्तुत हुए) साक्ष्यो के विरुद्ध कुछ कहना चाहता है, क्योकि मतदान आरभ होने के पश्चात् किसी विरोध को स्वीकार नही किया जा सकता। इसके उपरान्त वह फिर से यह घोषणा करता है कि "सछिद्र गुटिकाएँ प्रथम पक्ष (वादी) के लिये है और ठोस दूसरे पक्ष (प्रतिवादी) के लिये।" तत्काल ही जूरी अपनी दोनो मतदान की गुटिकाओ को (दीप) स्तम्भ से उठाकर, एव अपने हाथ मे उनको इस प्रकार दबाकर कि किसी भी पक्ष को सछिद्र और अछिद्र गुटिका न दिखलाई दे, एक को (जिस की सक्षमता के कारण गिनती होनी है) पीतल के घट मे डाल देता है, और दूसरी को लकडी के घट में।

६९

(मतगणना । जूरियों का भत्ता ।)

जब सब (जूरी) लोग मत दे चुकते है तो अनुचर सक्षम मतोवाले घट को लेकर उन गुटिकाओ को एक गणनपटल पर लौट देता है, इस पटल पर इतने गढहे होते है जितनी गुटिकाओ की सख्या होती है, जिससे मत गुटिकाएँ उभयपक्ष के सामने ––चाहे वे सछिद्र हो चाहे ठोस––भली प्रकार स्पष्टतया प्रदर्शित हो सके और गिनी जा सके। तत्पश्चात् वे पदाधिकारी जो मत ग्रहण करने के लिये नियुक्त होते है, गुटिकाओ को गिनते है––ठोस गुटिकाओ को एक ओर, सछिद्र को दूसरी ओर। गणना हो चुकने पर उद्घोषक गुटिकाओ की सख्या को––सछिद्र सख्या को वादी (अभियोक्ता) के पक्ष मे. तथा अछिद्रो की सख्या को प्रतिवादी (अभियुक्त) के पक्ष मे––घोषित करता है। जिस पक्ष की गुटिकाओ की सख्या अधिक होती है, (अर्थात् जिसको बहुमत प्राप्त होता है) वही विजयी होता है, पर यदि उभय पक्ष मे मतो की सख्या बराबर होती है तो न्यायालय का निर्णय प्रतिवादी के पक्ष मे माना जाता है। यदि किसी मुकदमे मे हानि की भरपाई देनी (हर्जाना देना) होती है तो जूरी लोग प्रथम तो अपना भत्ते का पत्रक लौटा देते है और दण्ड ग्रहण कर लेते है और तब पुन मतदान करते है। हानि की मात्रा का विवेचन करने के लिये प्रत्येक पक्ष के लिये आधा खूस जल उँडेला जाता है। अन्त मे जब समग्र प्रक्रिया नियमानुसार विधिपूर्वक समाप्त हो जाती है तब शलाका द्वारा निर्धारित क्रम के अनुसार जूरी लोग अपना भत्ता ग्रहण करते है।

टिप्पणियाँ

१

१. कीलान् नामक एक कुलीन युवक ने लगभग ६३२ ई० पू० में अथेंस पर एकाधिपत्य प्राप्त करने की चेष्टा की। असफल होने पर उसके अनुयायियों ने देवमन्दिर में शरण ली। रक्षा का वचन मिलने पर ही वे वहाँ से निकले। उस समय अल्कमेओनिदी कुल का मेगाक्लीस अथेंस का आर्खन् (शासक) था। उसने उन सब को मरवा डाला। इसके पश्चात् नगर पर जो आपत्तियाँ आईं, एवं जो उसकी पराजय इत्यादि हुई, उनका कारण इस वचन-भंग को मानकर मेगाक्लीस के परिवार पर अभियोग चलाया गया और सारे परिवार को निर्वासित कर दिया गया।

२. ऐपीमैनीदेस् ५९६ ई० पू० में अथेंस आया था।

२

१. हेक्टीमोरोइ उन कृषकों को कहते थे जो अपनी आय का षष्ठांश कर-रूप में देते थे। प्राचीन काल में भारतवर्ष में भी राजा को उपज का षष्ठाश कर-रूप में दिया जाता था; इसी कारण राजा को षष्ठांश-वृत्ति कहा जाता था। देखो मनुस्मृति अध्याय ७, श्लोक १३१–३२, अध्याय ९ श्लोक १६४ इत्यादि। कालिदास ने भी रघुवंश और शाकुन्तल में इस तथ्य की ओर संकेत किया है। पर कुछ विद्वान् हेक्टीमोरोइ का अर्थ यह करते हैं कि कृषको को उपज का एक षष्ठांश मिलता था और ५।६ भाग भूमिपतियो को दिया जाता था।

३

१. आजीवन शासन—अथेंस में एकाधिराजत्व की समाप्ति तो कौद्रस के समय में हो गयी। कौद्रस का समय १०६६ ई० पू० माना जाता है। उसका पुत्र था मैदॉन्, जिसके समय से शासन-प्रणाली में परिवर्त्तन आरंभ हो गये। शासन की अवधि घटाकर दस वर्ष ७५२ ई० पू० में कर दी गयी। इस नियम के अनुसार चार आर्खनो के शासन करने के उपरान्त, यह पद सभी कुलीन (सुपितृ) लोगों के लिये स्वतंत्र कर दिया गया और वे इसके लिये चुने जाने लगे। ८६२ ई० पू० में दस वार्षिक आर्खनों के स्थान पर नौ आर्खनों का वार्षिक मण्डल नियुक्त किया जाने लगा।

२. आर्खन शब्द का अर्थ है, प्रथम स्थानीय, आदिम अतएव पूज्य आदरणीय इत्यादि। ग्रीक लोगो की राजनीति में इस शब्द का प्रयोग बहुधा होता है। अंग्रेजी

भाषा में इसका अनुवाद मैजिस्ट्रेट शब्द द्वारा किया गया है। सामान्य अर्थ शासन करनेवाला अधिकारी प्रतीत होता है। आधुनिक भाषाविज्ञान ने इसका मल रूप ऋघो* ऋघ्मो* शब्दो में कल्पित किया है। पर क्या इस शब्द का संस्कृत, अर्च्, अर्ह् और अर्हन् इत्यादि शब्दों से कोई सबध नहीं हो सकता ?

३. सर्वोच्च तीन आर्खनो में से प्रथम आर्खन राजा होता था जो आरम्भ में तो कुल-परम्परागत होता था पर पीछे चुना जाने लगा था। उसको राष्ट्र के धार्मिक कृत्यों, यज्ञ याग इत्यादि की अध्यक्षता करना होता था। दूसरा आर्खन सर्वोच्च न्याया-धीश होता था। प्राचीन काल में ग्रीक लोग प्रत्येक वर्ष का नामकरण इसी आर्खन के नाम पर करते थे। तीसरा आर्खन पॉलेमार्खस अर्थात् महाबलाधिकृत अथवा युद्धाध्यक्ष कहलाता था। इनके अतिरिक्त ६ और छोटे आर्खन होते थे।

४. अथेंस में अंथीस्तीरियॉन् मास में अथीस्तीरिया नामक उत्सव मनाया जाता था। अथीस्तीरिया का अर्थ पुष्पोत्सव है। यह लगभग उसी समय होता था जिस समय हमारे देश में वसंतोत्सव अर्थात् होली का उत्सव होता है। इस अवसर पर प्रतिवर्ष राजा की पत्नी का विवाह दियोनीसस नामक देवता के साथ प्रतीकात्मक रूप में किया जाता था।

४

१. अरिस्ताइख्यमस् का नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं है।

२. ट्राको का समय ६२१ ई० पू० माना जा सकता है। अनेको अर्वाचीन विद्वानों के मत में द्राको संविधान इतना पुराना नहीं है जितना की अरिस्तू ने बतलाया है।

३. अन्य शासनाधिकारपदों से तात्पर्य उन्हीं पदों से है जिनके लिये शलाका ग्रहण पद्धति द्वारा निर्वाचन किया जाता था। सभी पदों का निर्वाचन नहीं होता था।

४. पंचशती, त्रिशती, द्विशती इत्यादि की व्याख्या के लिये देखो अध्याय ७।

५. द्राख्मा प्राचीन चाँदी का सिक्का था जिसका भार ६६ ग्रेन के लगभग होता था।

५

१. सौलॉन् के संविधान की परम्परागत तिथि ५९४ ई० पू० है।

२. यहाँ जो कविता की पंक्तियाँ दी गई हैं वह अन्यत्र नहीं मिलतीं। संभवतया इसी कविता के अंश का उद्धरण डिमॉस्थिनीस ने भी (De Talsa Legatione) नामक भाषण में प्रस्तुत किया है।

७

१. काष्ठस्तम्भ आरभ में तो त्रिभुजाकृति शंकु होते थे पर सोलॉन् का सविधान चार आयताकार पटलो को सिरों को जोड़कर बनाये हुए चौकोर स्तम्भों पर उत्कीर्ण किया गया था।

२. शिला के लिए देखो अध्याय ५५।

३. पचशती के लिए मूल शब्द पेन्ताकोसियोमेदिम्नी है, त्रिशती के लिये हिप्पी, द्विशती के लिये ज्यूगिति है जिसका अर्थ बैलो की जोड़ी रखनेवाला होता है। सस्कृत के युग शब्द से तुलना कीजिये। इन सब शब्दों का अर्थ ७वें अध्याय में स्पष्ट कर दिया गया है।

४. कोषगणक के लिये मूल शब्द कोलाक्रैती था। यह लोग जनता से कर वसूल करके कोषाध्यक्षो को रखने के लिये देते थे। पीछे इस पद का लोप हो गया।

५. डिफिलस की मूर्त्ति के स्थान पर "डिफिलस के पुत्र अंथैमियन की मूर्त्ति" ऐसा पाठ होना चाहिये। संभवतया यह गल्ती प्रतिलिपि करनेवाले के प्रमाद के कारण हो गयी है।

८

१. 'गण' या 'जन' अथेंस की जनता के सबसे बड़े विभागो का नाम था। सोलॉन् के समय में सम्पूर्ण नगर चार 'जनो' में विभक्त था।

२. अरियोपागस् की परिषद् का स्थान नगर के मध्य में स्थित एक पहाड़ी थी और इसी पहाड़ी के नाम से परिषद् का नामकरण हुआ था।

३. 'नौक्रारिया' प्रत्येक 'जन' का १२ वाँ भाग था।

४. अक्रोपोलिस् ग्रीक नगर के मध्य में स्थित किले को कहते थे। अथेंस का अक्रोपोलिस् एक ऊँची पहाड़ी पर नगर के मध्य में स्थित था। इसके मध्य में अथीना देवी की एक विशालकाय मूर्त्ति थी जिसके भाले की सुनहरी नोक समुद्र से दिखलाई देती थी।

१०

१. सोलॉन्नेईगिना के मीना (या मिना) के स्थान पर यूबोइया के मीना का प्रचलन आरंभ कर दिया। प्रथम में ७० द्राख्मा होते थे, द्वितीय में १००।

२. तलान्त में २० वाँ अंश और बढ़ा दिया गया। यह वृद्धि इसी अनुपात में छोटी मुद्राओं में भी हुई।

१२

१. कीलक से तात्पर्य उन स्तम्भो से है जो बन्धक रक्खी हुई भूमि पर ऋण देने वालो के द्वारा स्थापित किये जाते थे।

२. अत्तीका अथवा अत्तिका यवन भूमि के उस प्रान्त का नाम है जो यूरोप के दक्षिणपूर्व कोण में स्थित है तथा जिसमें अथेंस नगर बसा हुआ है। इस प्रदेश की भाषा ग्रीक साहित्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। देखो जोजेफ़ राइट का कम्पैरैटिव ग्रामर ऑफ़ दी ग्रीक लैंग्वेज पृ० ३ औ ४। जो लोग निर्धनता के कारण अथवा ऋणी होने के कारण विदेश चले जाते थे उनसे उनकी प्रिय मातृभाषा भी छूट जाती थी। सोलॉन् ने इस दयनीय स्थिति को समाप्त कर दिया।

३. "उसने कभी न रोका होता जनता को," अर्थात् उसने प्रतिद्वन्द्वी दलों को परस्पर लड़कर नष्ट होने दिया होता एव अपनी शक्ति बढ़ाकर वह तानाशाह बन गया होता। इस प्रकार राष्ट्र के अनेको वीर पुरुष आपस की लड़ाई में मारे जाते।

४. मलाई अर्थात् सारसत्व।

१३

१. दामासियास् लगभग ५८२ ई० पू० आर्खन चुना गया था। अन्य प्रकार की गणना से अन्य तिथि भी संभव है।

२. शुद्ध जातिवाले लोगो को ही मत देने का अधिकार था। शुद्ध जाति (Purc descent) का अर्थ है स्वतंत्र नागरिक माता-पिता से उत्पन्न होना। कभी-कभी केवल स्वतंत्र नागरिक पिता अथवा माता से उत्पन्न होना भी शुद्ध जाति के लिये पर्याप्त माना जाता था।

३. पिसिस्त्रातस् के समय के विषय में मतभेद है। हिन्दी अनुवाद में सर् एफ़. जी. केन्यॉन् के मूल ग्रीक पाठ का ही अनुसरण किया गया है। स्वयं केन्यॉन् ने अपने अंग्रेजी अनुवाद में मूल का अनुसरण नहीं किया है।

१४

१. बत्तीस के स्थान पर केन्यॉन् ने ३१ लिखा है। यह भी गणना का एक प्रकार है।

१५

१. थेसियन, पुरातन वीर पुरुष थेसियस (अथवा थीसियस्) के समाधि-मन्दिर का नाम है। यह अक्रोपोलिस के समीप उत्तरपश्चिम में स्थित है।

ऐरेट्रिया अथेंस की उत्तर दिशा में और नॉक्षास् दक्षिण पूर्व में है।
थीबेस् नगर बोइओतिआ प्रदेश में मुख्य नगर था।

१६

१. तानाशाही अथवा अधिनायकत्व के लिये ग्रीक भाषा में तिरान्निस् शब्द है। अंग्रेजी टाइरैण्ट, टिरैनी इत्यादि शब्द इसी शब्द से निकले हैं। तिरान्निस ऐसे शासक को कहते थे जो पूर्णतया स्वेच्छा से शासन करता था।

२. हीमेत्तस्, अथेंस के बाहर थोडी दूरी पर एक पहाड़ी।

३. क्रौनॉस्, यूरानस् (संस्कृत वरुण) का पुत्र था। उसने अपने पिता को स्थान-च्युत करके अपने को राजा बनाया। उसका शासनकाल स्वर्णयुग कहलाया है। अन्त में इसके पुत्र ज्यूस (सं. द्यौस) ने इसको स्थानच्युत कर दिया। रोमन लोग क्रोनॉस् को सैटर्न अर्थात् शनि के साथ अभिन्न मानते हैं।

१७

१. तानाशाही से संबंध रखनेवाली घटनाओ के साथ जो आर्खन-काल का सकेत दिया है, उससे तात्पर्य प्रतिवर्ष चुने जानेवाले राजा आर्खन से है, जिसका काम राष्ट्र के धार्मिक कृत्यो की अध्यक्षता करना होता था। किसी वर्ष में होनेवाली घटनाएँ उस वर्ष के आर्खन के नाम के साथ उल्लिखित होती थी।

२. सालामिस्, अत्तिका के दक्षिण-पश्चिमी समुद्र तट के पास एक द्वीप है। इसके आधिपत्य के संबंध में अथेन्स और मैगारा में कलह चली आती थी। सोलॉन् के शासनकाल में इसको अथेन्स ने जीत लिया। इस विजय के पश्चात् मैगारा की शक्ति का ह्रास होने लगा।

१८

१. अनाक्रेयान् का जन्म इयोनिया प्रदेश के तेओस् नगर में हुआ था। इसकी रचनाएँ सब की सब गीतिकाव्य है।

२. सिमौनीदेस का जन्म केओस् नामक द्वीप में हुआ था। इसने अपने जीवन काल में अनेको स्थानो और राजकुलो को सुशोभित किया। इसकी रचनाएँ भी गीति-काव्य ही हैं। इन कवियो के विषय मे अधिक जानकारी के लिए "आदर्श नगर-व्यवस्था" की भूमिका देखनी चाहिये।

३. हार्मोदियस् और अरिस्तौगैतान् आगे चलकर स्वतंत्रता के भक्तो के रूप में पूजे गये। उनके वंशधरों को कर में विशेष सुविधाएँ प्राप्त हुईं। उनकी मूर्तियाँ नगर में स्थापित की गयी।

वि० पुरुषो, युवा लड़को के प्रति प्रेम, (जिसको मजाक़ मे फारसी कहा जाता है, वास्तव में) ग्रीक लोगो में भी प्रचलित था। इसका उल्लेख बहुत से ग्रीक लेखको में पाया जाता है।

वि० पानाथेइना उत्सव अथेन्स नगर में अथेना देवी के सम्मान में मनाया जाता था। यह उत्सव प्रतिवर्ष हेकातोम्बेयन् (लगभग श्रावण) मास में दो दिन २८ और २९ तिथि को हुआ करता था। पर प्रत्येक चौथे वर्ष (आलिम्पियड के तीसरे वर्ष में) बृहत्पानाथेइना उत्सव मनाया जाता था जो २१ से २८ वीं तिथि तक चलता था। यह अथेंस का अत्यन्त प्रसिद्ध उत्सव था। इसमें अनेकों प्रकार की प्रतिस्पर्धाएँ चलती थीं और सफल व्यक्तियों को पारितोषिक दिये जाते थे। अन्तिम दिन प्रयाण-यात्रा हुआ करती थी, जिसमें आगे देवी अथेना की चादर चलती थी और उसके पीछे कुमारिकाएँ बलिशस्त्रों को पेटिकाओं में लेकर चला करती थीं।

४. हार्मोदियस् और अरिस्तोगेतान् संबधी घटनाएँ थूकीदिदीस के इतिहास में कुछ थोड़े भिन्न प्रकार से वर्णित है। संभवतया अरिस्तू का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक सत्य है।

१९

१. डेल्फी का सूर्यदेव (अपोलो) का मन्दिर ग्रीक लोगों में अत्यन्त सम्मानित था। यहाँ वे प्रश्न द्वारा देवता के आदेश को प्राप्त करने आया करते थे। यह मन्दिर ई० पू० ५४८ में भस्म हो गया था। इस मन्दिर की पुजारिन पीथिया कहलाती थी।

२. तानाशाहो के निकाले जाने की घटना ई० पू० ५१० में घटित हुई। हार्पावितदस का नाम अन्य इतिहास ग्रथो में नहीं मिलता।

२०

१. यह मित्र मंडलियाँ अथेन्स के गण्यमान्य लोगों के राजनीतिक क्लब थे और राजनीतिक जीवन पर इनका पर्याप्त प्रभाव था।

२. क्लैस्थेनीस और उसके साथियो को "कालुष्य" इसलिये कहा जाता था कि वे अल्क्मेऑनीदी कुल के थे। इसके लिये देखिये प्रथम पृष्ठ और उस पर टिप्पणी।

२१

१. गण के स्थान पर मूल ग्रीक भाषा में फ़ुले अथवा फ़ीले शब्द है। पहले यह शब्द कुल, गोत्र इत्यादि रक्त के संबंध को सूचित करता था। अंग्रेजी में इसके समानार्थक शब्द caste, tribe, class, clan इत्यादि है। अथेन्स के निवासी

प्राचीन परम्परा से चार गणो मे विभक्त थे। कालान्तर में इनमें कलह रहने लगी। क्लैस्थेनीस के सुधार का महत्त्व यह है कि उसने पुराने रूढ़िगत एवं कुलगत विभाजन के राजनीतिक-कलह उत्पन्न करनेवाले मूल का उच्छेदन कर दिया। उसके दस गणों-वाले विभाजन ने एवं मुहल्लों की नयी व्यवस्था ने पुरानी अनेको बुराइयो को दूर कर दिया। १३वें अनुच्छेद में जिन अन्तःकलहों का वर्णन किया गया है, वे भी इन सुधारों से दूर हो गयीं।

२. मुहल्लो की सख्या क्या थी, यह नही बतलाया गया है। हीरोडोटस् के वर्णन से यह सख्या १०० प्रतीत होती है। बढते बढते यह संख्या ई० पू० तीसरी शताब्दी मे १७६ हो गयी थी।

३. गणो की सख्या बढने के कारण उन लोगो को भी नागरिक-गणो में स्थान दिया जा सका जो पहले स्वतत्र नागरिक नही थे; या तो दास थे अथवा विदेशी। जो लोग परम्परागत चार गणो मे अन्तर्भुक्त थे वे ऐसे नवीन लोगो को अपने गणों में लेने को प्रस्तुत नही होते थे। नवीन गणो की स्थापना से यह समस्या भी हल हो गयी।

२२

१. पाँच वर्ष के स्थान पर केन्यान् ने चार वर्ष अनुवाद किया है। हिन्दी अनुवाद में सर्वत्र मूल में दी हुई संख्या का अनुसरण किया गया है। तथापि यह तिथि ठीक नहीं मालूम होती, क्योकि इसका पूर्वापर संबंध ठीक नही है। हर्मेक्रथौन के आर्खन-पद के अनुसार यह समय ई० पू० ५०४ होना चाहिये और माराथन् के युद्ध से गणना करने पर ५०१ ई० पू०। सभव है लिपि-कार ने कुछ प्रमाद किया हो।

२. माराथौन् का युद्ध फारस और यवन सेनाओ में हुआ था। इसमे यूनानी विजयी हुए। यह युद्ध संसार के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूण स्थान रखता है। यदि फ़ारस की सेना विजयी होती तो पाश्चात्य सभ्यता का आज दूसरा ही रूप हुआ होता।

३. तालान्त रजत की विशिष्ट मात्रा को कहते थे। यह लगभग ५८ पौंड (भार) का होता था।

४. त्रिरेमी शब्द का अर्थ होता है ऐसी नौका जिसमे पतवारों की तीन पक्तियाँ हो। इसके स्वरूप के विषय में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद है। इस युद्धपोत में मल्लाह और सैनिक सब मिलाकर २०० व्यक्ति होते थे।

५. सालामिस् के युद्ध में खर्यक्षस के समुद्री बेड़े को यूनानी लोगों ने ४८० ई० पू० में परास्त किया। सालामिस अत्तिका प्रदेश के दक्षिण-पश्चिम तट के पास स्थित एक छोटा-सा द्वीप है।

६. गेराइस्तॉस्, यूबोइया प्रदेश के धुर दक्षिण में है और स्किल्लाइयन आर्गोलिस के धुरपूर्व में। कुछ विद्वानों के मत में "मध्य" के स्थान पर परे शब्द होना चाहिये।

२३

१. मीदिक---पारसीक

२. इयोनिया, लघुएशिया के पश्चिम तट एवं उसके समीपवर्ती द्वीपों का नाम था। इसी देश के नाम के कारण भारतवर्ष में ग्रीक लोगों को यवन कहा जाता था।

२४

१. पारसीक युद्धों के कारण यूनानियो के छोटे छोटे नगरों ने अपना एक संघ बनाया। अरिस्तीदीस ने अपनी चतुरनीतिमत्ता के कारण अथेंस को इस संघ का नेता बनाया। इसी नेतृत्व के कारण अथेन्स की जनता में साम्राज्य की भावना जागी। पर इस भावना से भावी फूट का सूत्रपात भी हुआ। लोहे के पिंडों को समुद्र में यह सूचित करने के लिये डाला गया था कि जब तक यह लोहा तैर कर जल के ऊपर नहीं आ जायेगा तब तक हमारा संघ नहीं टूटेगा। इस संघ को "डेलियन लीग" Delian League कहा जाता था।

२. ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में अथेंस के नागरिकों की संख्या १५०००० और १७०००० बीच में थी, ऐसा अनुमान किया जाता है। इनमें वयःप्राप्त पुरुषों की संख्या ४००००। नगर की आर्थिक स्थिति संभवतया ऐसी नहीं थी कि वह इतने मनुष्यों को बिना कुछ किये जीविका प्रदान कर सके---हाँ वे शासन-कार्य में अवश्यमेव भाग ले सकते थे।

२५

१. आक्रमण राजनीतिक अर्थ में किया।

२. कोनोनस् का आर्खन काल है ई० पू० ४६२।

वि० थेमिस्तोक्लीस के प्रसंग के विषय में अरिस्तू और थूकीदिदीस के विवरणों में अन्तर है। थूकीदिदीस के मत में थेमिस्टोक्लीस कई वर्ष पूर्व ४६५ ई० पू० में फ़ारस को भाग गया था।

वि० २५ वें अनुच्छेद का अन्तिम वाक्य मूल में खंडित है। सार्थक अंश का अनुवाद दे दिया गया है।

२६

१. लोकनायक के लिये मूल मे दीमागोगस है, जिसका अर्थ साधारण लोगो का अगुआ होता है। आरंभमें यह शब्द अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता था पर पीछे जब जननायक जनता की निम्नप्रवृत्तियो को उत्तेजित कर उनके नेता बनने का प्रयत्न करने लगे तो इसका अर्थ पतन को प्राप्त हो गया। इसी अर्थ में मूल ग्रंथ में एक और वाक्यांश भी आया है। यह वाक्यांश है "प्रोस्तातीस् तू दीम्"।

२. किमोन् का वर्णन पूर्वापर-विरोधी है पर मूल का अनुसरण करते हुए यही अर्थ निकलता है। मूल के जो पाठभेद सुझाए गये हैं उनका अर्थ यह होता है कि उसने राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने में सुस्ती की। पर यह अर्थ भी पूर्णतया संतोषप्रद नहीं है।

३. नियमानुसार हलवाही से निचले वर्गो मे से आर्खन के चुनने का अधिकार कभी नही था; पर वास्तविक व्यवहार में "थीती" वर्ग में से भी अनेको आर्खन चुने गये थे।

४. म्नीसिथैदीस का समय ई० पू० ४५७ है। लीसिक्रातीस् का आर्खन्काल ४५३ ई० पू० है। आन्तिदोतस का समय ई० पू० ४५१ है।

२७

१. पीथोदोरस का वर्ष ई० पू० ४३२–३१ है। युद्ध का आरंभ ई० पू० ४३१ के वसत काल में हुआ था।

२. अनीतस् मध्यमार्गी श्रेष्ठजनदल का नेता था। सॉक्रातेस् के विरुद्ध अभियोग चलानेवालो में यह भी एक था। यह ३० जहाजों के साथ ४११ ई० पू० में पीलस् को पुनः जीतने के लिये भेजा गया था। इसको ई० पू० ४२५ में अथेन्स वासियो ने जीत लिया था। पर प्रतिकूल मौसम के कारण अनीतस् का बेड़ा मलेया अन्तरीप के मोड़ से आगे न बढ सका। अतएव पीलस् पर ४०९ ई० पू० में स्पार्टा का अधिकार हो गया। इसी असफलता के कारण अनीतस् पर अभियोग चलाया गया।

२८

१. पेरीक्ली(क्ले)स् का नाम अथेन्स के इतिहास में अमर है। उसका समय ई० पू० ५०० से ४२९ तक है। वह खान्तिप्पस् का पुत्र था। उसका चरित्र अत्यन्त प्रभावशाली था, कोई उसको भ्रष्ट नही कर सका। वह अत्यन्त मितभाषी था। ई० पू० ४४३ से ४२९ तक वह बराबर सेनापति चुना जाता रहा। उसके मित्रों में

प्रोतागोरास् फिदियास्, सौफोक्लेस्, एवं हेरोदोतस् जैसे चोटी के व्यक्ति थे। उसने अस्पाशिया नामक एक वाराङ्गना को अपनी जीवन-सहचरी बनाया; वह अत्यन्त चतुर और विदुषी थी। इसके समय में अथेन्स की सर्वाङ्गीण उन्नति हुई। पर वह स्पार्टा के साथ होनेवाले युद्ध में सफल नहीं हो सका।

२. लोकनायक-पद इस समय अथेन्स में एक अर्द्ध सरकारी—पद जैसा हो चला था। मूल ग्रीक भाषा में इसके लिये "प्रौस्तातेस् तू देम्" शब्द आये हैं। पर इसका प्रयोग केवल जनतंत्रवादी दल के नेता के लिये ही होता था।

३. यह थूकी दि दे(दी) स् इतिहास लेखक थूकीदिदेस् से भिन्न है। इसका पेरीक्लेस् से विरोध था। ई० पू० ४४३ में इसको निर्वासित कर दिया गया।

४. नीकियास् या निकियास् ने उस सन्धि के लिये प्रयत्न किया जो ई० पू० ४२१ में अथेन्स और स्पार्टा के मध्य में स्थापित हुई थी। यह "नीकियास् की शान्ति" कहलाती है। जब इसको सिसिली के अभियान पर भेजा गया तो यह रुग्ण था। वहाँ यह शत्रुओं के द्वारा मार डाला गया। इसके पश्चात् अथेन्स के भाग्य ने पल्टा नहीं खाया।

५. क्लेयॉन् जाति का मोची था। यह बड़े उग्रस्वभाव का था और पैलोपोनेशियन युद्ध में इसने अत्यन्त उग्र और कठोर नीति का समर्थन किया था। युद्ध के बन्दियों और हारे हुए प्रजाजनों को यह गुलाम बनाना या मार डालना उचित समझता था। एकाध स्थान पर इसकी सफलता ने इसको इतना अभिमानी बना दिया कि अन्त में अम्फीपोलिस के युद्ध में इसको पराजय और मृत्यु प्राप्त हुई। इसकी मृत्यु का समय ई० पू० ४२२ है। इसकी मृत्यु के पश्चात् नीकियास् की शान्ति स्थापित हुई।

६. पीठिका के लिये मूल में "बेमा" शब्द है जिसका अर्थ है वह ऊँची पीठिका जिस पर खड़े होकर परिषद् के वक्ता अथेन्स में भाषण किया करते थे।

७. थेरामैनीस् सम्पन्न लोगों के दल का नेता था। इसको ई० पू० ४११ की क्रान्ति के समय प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसने अतिवादी धनिकतंत्री और अतिवादी प्रजातंत्री दल के मध्य की नीति को अपनाया। इसी प्रकार की व्यवस्था का भी प्रतिपादन इसने किया। आगे चलकर यह तीस तानाशाहों में सम्मिलित हुआ। इसका क्रीतियास से विरोध हो गया और ई० पू० ४०४ में मार डाला गया। अरिस्तू इसका प्रशंसक है।

८. दियौनीसियस् के उत्सव पर नाटक देखने के लिये एक स्थान का (टिकट) २ औबल था। क्लेयोफॉन ने इसको सार्वजनिक कोष से दिलाने का नियम चलाया।

दी। अल्कीबियोदस् लामाकस् (खस्) तथा नीकियास् इस अभियान के नेता थे। पर यह आक्रमण जितनी शीघ्रता और स्फूर्ति के साथ चलाया जाना चाहिये था नीकियास् की ढुलमुल नीति से वैसा न हो सका। इसी बीच में सिराकूज को स्पार्टा से सहायता मिल गई। अथेन्स की ओर से भी देमोस्थिनेस् सहायता लेकर पहुँचा। फिर भी ई० पू० ४१३ में अथेन्स का बेड़ा और सेना पूर्णतया विध्वस्त हो गये। इससे अथेन्स के धन और जन की अपार क्षति हुई।

२. यह संभवतया वह जनरक्षासमिति थी जो उपर्युक्त अभियान की दुर्घटना का समाचार अथेन्स पहुँचने पर तत्काल स्थापित की गई थी।

३. प्रीतानी (ने)स् के लिये ४३ वाँ खण्ड देखिये।

४. ११ के लिये आगे ५२ वाँ खंड देखिये।

३०

१. यह पाँच सहस्र या तो सभी शस्त्रधारण करने योग्य व्यक्तियो की सज्ञा थी अथवा यह लोग औपचारिक प्रकार से १०० की परिषद् द्वारा चुन लिये गये थे।

२. यह व्यक्ति यूनानी लोगो की धर्मसभा (अम्फिक्तियौने) में भेजा जाया करता था। इस धर्म सभा की बैठकें वर्ष में दो बार होती थीं, एक बार दैल्फी में दूसरी बार थैर्मोपीलाए में। इस धर्मलेखक के साथ एक प्रतिनिधि भी और जाता था जो पीलागौरस् कहलाता था।

३. यह पदाधिकारी दैलौस के राष्ट्रमंडल के राष्ट्रो से कर उगाहते और एकत्रित करते थे। कुछ समय उपरान्त यह राष्ट्र अथेन्स के साम्राज्य के अधीन हो गए, तब भी यह पदाधिकारी अपना कार्य करते रहे। साम्राज्य की समाप्ति के पश्चात् इनकी आवश्यकता न रही।

३१

१. सोलौन् के विधान के अनुसार।

२. अर्थात ज्यों ही ५००० की सूची तैयार हो जाय।

३२

१. कल्लिअथास् का वर्ष ई० पू० ४१२ और इसकी समाप्ति में दो मास शेष थे। अतएव चारसौ के पदग्रहण का समय ई० पू० ४११ था।

२. थार्गी (गे) लियन् लगभग मई मास के आसपास पड़ता था।

३. स्किरोफोरियोन् लगभग जून मास में पड़ता था।

४. दस सेनाध्यक्षों से तात्पर्य है।

३३

१. एरेट्रिया भी यूबोइया द्वीप में ही है जो अथेन्स के पूर्व में है।

२. अरिस्तू थेरामेनी(ने)स् का प्रशंसक है क्योंकि वह मध्यम मार्ग का अनुसरण करने का परामर्श देता था।

३४

१. ग्रीक गणित में ६ के लिये ७ का प्रयोग होता है।

२. दस सेनापतियों की संख्या ठीक नहीं है। दो युद्ध स्थल पर नहीं थे, दो अथेन्स लौट कर ही नहीं आये। छः पर अभियोग चलाया गया और उनको प्राण-दण्ड दिया गया।

३. अर्थात् वे स्वयं ऐसी परिस्थिति में नहीं थे जो दूसरे जलसैनिकों को डूबने से बचाते। पर वे इसी आरोप के आधार पर दण्डित किये गये कि उन्होंने सैनिकों को डूबने से नहीं बचाया। वे बेचारे स्वयं ही डूब रहे थे।

४. युद्ध की तैयारी का प्रदर्शन करते हुए।

५. "अएगोस्पोतामि:" का अर्थ "अजा नदी"। इस नदी के युद्ध में अथेंस की पूर्ण पराजय हो गई।

६. अतिवादी अभिजातंत्र दल के सदस्य।

३५

१. ई० पू० ४०४–४०३।

३७

१. थ्रासीबुलस् अथेन्स के जलसेनाध्यक्षों में से एक था। इसके एक साथी का नाम थ्रासीलुलस् था। इन दोनों ने मिलकर ४०० के शासन का विरोध किया और अल्कीबियादी(दे)स् को लौटवाया। इन दोनों ने ई० पू० ४११ में 'कीनोस्सेमा' स्थान पर स्पार्टा के बेड़े को भी परास्त किया। निर्वासितों का नेता बन कर इसने 'तीस' को भी छकाया।

२. यूसगढ़ का निर्माण ४०० के शासनादेश से आरंभ हुआ था। थेरमैनेस् एवं उसके साथियों को इस में अभिजातंत्रवादियों का षड्यंत्र सूझ पड़ा कि स्यात् वे अन्दर-

गाह को स्पार्टा को सौंपना चाहते है। अतएव इन लोगो ने जनता को उत्तेजित करके इस गढ को ढहवा दिया।

३. कुछ लेखक इस घटना का विवरण भिन्न प्रकार से देते है। मुख्य बात यह थी कि उसका क्रितियास् से विरोध हो गया था और क्रितियास् ही ३० के शासन का नेता था। यह घटना ई० पू० ४०४ की है।

३८

१. प्रायः इतिहास लेखको ने प्रथम "दस" के शासन का उल्लेख नहीं किया है क्योकि वह बहुत थोड़े समय रहा।

२. क्षैनोफोन् ने यह संख्या १५ बतलाई है।

३९

१. अर्थात् ई० पू० ४०३ में।

२. ऐल्यूसिस् नगर अथेन्स से १० मील की दूरी पर उत्तर पश्चिम में स्थित है। यहाँ देमेतेर देवी का मन्दिर था। इसको पारसीक सैनिको ने नष्ट कर दिया था पर पैरीक्ली(क्ले)स् के समय में पुनः इसका निर्माण किया गया था।

३. एल्यूसिस् की रहस्य-लीलाओं का प्रबन्ध प्राचीनकाल से इन्हीं दो परिवारों के हाथ में था।

४. यहाँ एक पाठान्तर के अनुसार यह भी अर्थ हो सकता है "उन मनुष्यो के न्याया लय के समक्ष जो कर देने योग्य सम्पत्ति प्रदर्शित कर सकते हो।"

५. एक पाठान्तर के अनुसार यहाँ यह अर्थ भी हो सकता है कि "जो अपना हिसाब न दिखला सकें वह पृथक् हो सकते हैं।"

४०

१. संभवत ई० पू० ४०१ में।

४१

१. प्रथम परिवर्त्तन इसलिये कि इयॉन् की व्यवस्था तो व्यवस्था का आरंभ थी, परिवर्त्तन नही थी।

२. अर्गिहियस् कोई बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं था। इसका समय ई० पू० पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम और चतुर्थ आदि भाग है।

३. अरिस्तोफानेस् के "एक्क्लेसियाज़ुसाए" नामक नाटक के अध्ययन से पता चलता है कि तीन ओबल का भत्ता इस नाटक के ई० पू० ३९२ में प्रथम अभिनय से कुछ थोडे समय पूर्व ही नियत हुआ होगा। भत्ते का आरंभ भी इससे बहुत वर्ष पहले नहीं हुआ होगा।

४२

१. इस उत्सव मे सभी नागरिक और विदेशी अतिथि भी एकत्रित होते थे।

२. अथेन्स के उत्तराधिकार के नियम के अनुसार यदि कोई व्यक्ति केवल पुत्री को छोड़ कर मर जाता था तो यदि वह सम्पत्तिशाली होता था तो कन्या उसकी सम्पत्ति की स्वामिनी नही बन सकती थी। उसका निकटतम संबंधी उसके साथ विवाह करने का अधिकारी होता था और इस विवाह से उत्पन्न पुत्रों को नाना की सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त होता था। ऐसी कन्याएँ रक्षिताएँ कहलाती थीं। यदि रक्षिता निर्धन होती थी तो या तो उसके निकटतम संबंधी को उसके साथ विवाह करना पड़ता था या उसके लिये यौतुक (दहेज) का प्रबन्ध करना पडता था। इस प्रकार की रक्षिताओं की देख-रेख करना आर्खन का विशेष कर्तव्य था।

३. यहाँ कुटुम्ब से तात्पर्य अत्तिका और अथेन्स के पुरातन आदि कुटुम्बों से है। यही "खान्दानी" लोग कहलाते थे। साधारण कुटुम्बों के लिये यह सुविधा नहीं थी।

४३

१. रंगनिधि वह कोष था जिससे नागरिकों को थियेटर देखने के लिये अथवा उत्सवो के लिये पैसा दिया जाता था।

२. अथेंस में ताज़े पानी की कमी थी अतएव स्रोतों के अध्यक्ष का भी कुछ महत्त्व था।

३. पानाथेनिक उत्सव अत्तिका के वर्ष के प्रथम महीने के अन्त में मनाया जाता था। आर्खन इसी मास में अपना पदग्रहण किया करता था; संभवतया अन्य पदाधिकारियों के पद-ग्रहण करने का समय भी यही था। बड़ा पानाथेनिक उत्सव चौथे वर्ष में होता था।

४. अत्तिका का वर्ष सामान्यतया ३५४ दिनों का होता था। यह बारह चान्द्रमासों में विभक्त था जो ३० और २९ दिन के मासो के पर्याय से गिने जाते थे। सौरगणना से मेल मिलाने के लिये पहले प्रत्येक दूसरे वर्ष एक अधिक मास जोड़ा जाता था, कुछ समय पश्चात् प्रत्येक आठ वर्षों में तीन अधिक मास जोड़े जाने लगे और अन्त में १९

वर्षों में ७ मास जोड़े जाते थे। अधिक मासवाले वर्षों में प्रीतानियों की पारी ३६ और ३५ दिन के बदले ३९ और ३८ दिन की हो जाती थी।

५. थौलस् (=गोलघर) प्रीतानियो का सरकारी निवास-स्थान था जो अरेयो-पागस् के उत्तरपूर्व में संसदभवन के समीप स्थित था।

६. यदि किसी का कोई प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी नहीं होता था तो निकटतम संबंधी को उत्तराधिकार के लिये आर्खन के द्वारा राष्ट्र से प्रार्थना करनी पड़ती थी।

७. मूल में शिकायत के लिये 'लेक्सिस्' और प्रार्थनाओ के लिये "हिकेतेरिया" शब्द प्रयुक्त हुए है।

४४

१. संरक्षक के लिये मूल में "प्रोएद्रस्" शब्द प्रयुक्त हुआ है। पाँचवीं शताब्दी में तो प्रीतानी स्वयं अध्यक्ष का कार्य करते थे। पर चौथी शताब्दी में यह कार्य सरक्षको के द्वारा किया जाने लगा।

२. सातवीं अथवा उसके पश्चात् की पारी से अभिप्राय है। वर्षा और मेघगर्जन इत्यादि अशुभ लक्षण माने जाते थे। पर प्नीक्ष नामक स्थान पर होनेवाली बैठको के लिये अच्छे लक्षणों की आवश्यकता भी थी। प्नीक्ष नामक स्थान अक्रोपौलिस से पश्चिम की ओर एक पहाड़ी को काट कर अर्द्धचन्द्राकार थियेटर के रूप में बनाया गया था। इस स्थान पर संसद की बैठक होती थी और यहाँ २०००० मनुष्य बैठ सकते थे। अध्यक्ष के लिये वेदिका भी थी।

४५

१ लीसीमारवस और यूमैलीदी (दे)स् के विषय में यहाँ जो कुछ कहा गया है उसके अतिरिक्त और कुछ भी ज्ञात नही है।

२. न्यायालय से तात्पर्य सार्वजनिक न्यायालय से है जो "दिकास्तेरियौन्" कहलाता था तथा जिसके महत्त्व का वर्णन ९ वे खण्ड में किया जा चुका है।

३. इसके लिये खंड ५९ देखिये।

४६

१. त्रिरीमी और चतुर्रीमी जहाजो अथवा बड़ी नौकाओ के प्रकार है। इनमें क्रमशः पतवारों की ३ और ४ पाड़ें होती है। चारपाडो वाली नौकाएँ अथेन्स में ई० पू० ३३० से कुछ ही वर्ष पूर्व बननी आरंभ हुई थी। ई० पू० ३२५ में पाँच पाड़ोवाली नौकाएँ भी बनने लगी थीं। पर उनका वर्णन इस पुस्तक में नहीं किया गया है। अतएव प्रस्तुत पुस्तक की रचना अथवा पुनरावृत्ति का समय ई० पू० ३२९ और ३२५ के मध्य में निश्चित होता है।

४७

१. यों तो दोनों मन्दिरो के कोष थे पर अथेना के मन्दिर का महत्व बहुत अधिक था। कहते हैं कि विजया की ९ सोने की मूर्त्तियाँ थीं पर पेलौपोनेशियन युद्ध के अन्तिम दिनो इनमें ८ को गला कर उनके सिक्के ढाल दिये गये।

२. यहाँ पर मूलपाठ मिट गया है। पर जो संख्या मिट गई है वह ३ या १० हो सकती है।

३. बाड़ों से घिरी हुई देवभूमियों से तात्पर्य है।

४८

१. सभी अभियोग न्यायालय के समक्ष किसी अधिकारी द्वारा ही ले जाये जाते थे।

४९

१. इनको "प्रोद्रोमॉस्" कहा जाता था।

२. जो पुरानी पहले की नामावलियाँ है वे खोली जाती है।

३. इसको लड़कियाँ काढ़ा करती थीं। इस पर कढ़ाई में पौराणिक कथाओं को अंकित किया जाता था और प्रत्येक महान् पानाथेनिक उत्सव में यह चादर एक जलूस बनाकर ले जाई जाती थी और अथेना देवी को पहनाई जाती थी।

५०

१. वह स्त्रियाँ जिनकी आजीविका संगीत द्वारा चलती थी। इनको लोग उत्सवों इत्यादि पर (भाड़े पर On hire) उपनियुक्त करते थे।

२. स्तादिया शब्द स्तादियॉन् का बहुवचन है। एक स्तादियॉन् ६०६$\frac{3}{4}$ फुट होता था।

५२

१. वह अभियोग जो इतने आवश्यक होते हैं कि उनका निर्णय एक महीने में ही हो जाना चाहिये।

२. यह अभियोग त्रिरीमी नौका का कप्तान अपने उत्तराधिकारी के ऊपर तब चलाता था जब कि उत्तराधिकारी ठीक समय नाव का कार्यभार अपने ऊपर नहीं लेता था।

५३

१. सरनाम के लिये मूल में "ऐपोनीमी" (बहुवचन ऐपोनीमस् एक वचन) आया है। दस ऐसे ख्यातनामा व्यक्तियों के नाम पर अथेन्स की जनता के दस-गणों के नाम पड़े थे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अथेन्सवासी नागरिक से १८ वर्ष की अवस्था से ५९ वर्ष की अवस्था तक ४२ वर्ष सैनिक सेवा का कार्य लिया जा सकता था अतएव ४२ वर्षों की एक नामावली की तालिका भी ४२ ख्यातनामा महापुरुषों के नामो के आधार पर बनी हुई थी। जिस प्रकार भारतीय ज्यौतिष वर्षों के नामो का चक्र ६० तक पहुँचता है, यूनान् में यह संख्या ४२ थी। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सेवा के अन्तिम वर्ष में मध्यस्थ के रूप में कार्य करना पड़ता था।

२. जिस वर्ष में जो व्यक्ति आर्खन होता था उस वर्ष का नाम उसी के नाम पर चलता था।

५४

१. जो व्यक्ति किसी सार्वजनिक पद पर अधिकृत होता था उसको अपने कार्यकाल की समाप्ति पर अपने कार्यों और लेखों (हिसाबों) का परीक्षण कराना पड़ता था। इस अवसर पर कोई भी नागरिक उसके प्रति आरोप लगा सकता था।

२ यह पद उन विदेशियों को सम्मानार्थ दिया जाता था जो अपने नगरराष्ट्र में अथेन्स के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे।

३. मूल ग्रीक में इन उत्सवो को पंच वार्षिक और सप्तवार्षिक कहा गया है पर अनुवादको ने इनका अनुवाद प्रति चार वर्ष में अथवा छः वर्ष में होनेवाले उत्सव का किया है। यहाँ अनुवाद को मूलानुसारी रखा गया है। सम्पादको ने इन वाक्यो के पाठ को भ्रष्ट माना है।

४. इस घटना के उल्लेख से इस पुस्तक की रचना अथवा संशोधन का समय निश्चित हो जाता है।

५५

१. देखो खंड ३, ८, २४ और २६।

२. जिसके नाम पर शासनवर्ष का नाम पड़ता है।

३. यह अथेन्सवासियो के गृह-देवता हैं।

४. प्रारंभ में यदि कोई आरोप लगानेवाला नही होता था अथवा होता भी हो तो मना लिया जाता था तो न्यायालय में एक व्यक्ति सबके लिये औपचारिक मतदान

करके कार्य समाप्त कर देता था। पर पीछे यह अनुभव हुआ कि लोग आरोप लगानेवालों को बहला-फुसला लेते हैं। अतएव न्यायालय में बिलकुल स्वतन्त्र प्रकार से परीक्षण और मतदान की प्रथा स्थापित की गई।

५६

१. यह लोग "खौरेगॉस्" कहलाते थे। राष्ट्रीय उत्सवों में तीन त्रागेदी लेखक कवि और तीन कौमेदी लेखक कवि (ई० पू० चौथी शताब्दी में ५ कौमेदी लेखक कवि) प्रतिस्पर्द्धा में भाग ले सकते थे। कौन से कवि भाग लेंगे, इसका निर्णय आर्खन करता था। खौरेगॉस् का कर्तव्य खोरस् (अथवा कोरस्) के शिक्षण, भरणपोषण, और साज-सज्जा का प्रबन्ध करना था। कोरस् का कार्य सामान्यतया नृत्य और गीत प्रदर्शित करना था। पर नाटक के कोरस का कार्य कभी-कभी नाटक के पात्रों और कार्यों की आलोचना करना भी था। नाटक की मुख्य कथा का अभिनय करने के लिये अभिनेता आरंभ में कवि के द्वारा नियुक्त और शिक्षित किये जाते थे। पर कालान्तर में उनकी नियुक्ति राष्ट्र-द्वारा की जाने लगी। इसके विषय में अधिक विस्तार से अरिस्तु के काव्यशास्त्र के अनुवाद की भूमिका में लिखा जायगा।

२. यह "डिथीराम्ब" नामक कविता-गायन का कोरस (गायकमंडल) होता था। इसमें गणों की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा होती थी। थार्गेलिया का उत्सव मई के मास में होता था एव दियौनीसिया का मार्च के आस-पास।

३. जिस व्यक्ति को आर्खन व्ययवाहक नियुक्त करता यदि वह समझता कि यह व्यय उसपर नहीं पड़ना चाहिये, किसी अन्य व्यक्ति पर (जो उससे अधिक धनवान् है) पड़ना चाहिये तो वह दूसरे व्यक्ति का नाम सुझा सकता था और यदि दूसरा व्यक्ति चाहता तो उसको उसके साथ परस्पर सम्पत्ति का अदल-बदल करना पड़ता था।

४. देलॉस् एगियन् सागर में एक छोटा द्वीप है। यह यवन-पुराण-कथा में अपोलो और अर्तेमिस् (सूर्यदेव और चन्द्रमादेवी) का जन्मस्थान माना जाता था। यहाँ पर वसन्त ऋतु में उत्सव होता था और अथेन्ससे एक तीस पतवारोंवाली नौका नवयुवकों को लेकर इस उत्सव में सम्मिलित होने के लिये जाती थी। जब तक यह नौका लौट कर नहीं आती थी तब तक अथेन्स को पवित्र रखा जाता था। सॉक्रातेस के प्राणवध को इसीलिये विलम्बित किया गया था।

५. अस्क्लेपियस् यूनान के अश्विनीकुमार है। वह अपोलो और कौरोनिस् की सन्तान है। अपोलो कौरोनिस् को प्रेम करता था। एक कौए ने अपोलो को यह बतलाया कि कौरोनिस् व्यभिचारिणी है। इस पर अपोलो ने उसका वध कर दिया। पर पीछे उसको पता चला कि कौआ झूठ बोला था। तब उसने कौओं को श्वेत से काला बना

दिया और कौरोनिस् के पुत्र अस्क्लेपियस् की रक्षा की। अस्क्लेपियस् ने अनेको चमत्कारपूर्ण चिकित्साएँ की। अथेन्स में इसका मन्दिर दियौनीसियस् की रंगभूमि के समीप था। इसके मन्दिर में पवित्र सर्प रखे जाते थे।

६. पर अन्य बहुत से अभियोगो में यदि वादी (अभियोक्ता) को न्यायालय के न्यायकर्ताओ के १।५ मत न मिले तो उसको दण्ड भोगना पड़ता था।

७. रक्षिताओ के विषय में पहले लिखा जा चुका है। यह विवाह के पश्चात् तब तक आर्खन की देख-रेख में रहती थीं जब तक कि इनकी सम्पत्ति की अधिकारिणी सन्तान की उत्पत्ति नही हो जाती थी।

५७

१. यह अथेन्स के प्राचीन पुरोहितों के वंशधर थे।

२. यह छोटा दियौनीसिया उत्सव कहलाता था और जनवरी मास में होता था। इस समय ग्रीकभाषा के जो नाटक उपलब्ध होते है उनमें से बहुतों का अभिनय इसी उत्सव पर हुआ था। यह बड़े उत्सव के समान ठाट-बाट की वस्तु नहीं थी।

३. देखो खंड २० की टिप्पणियाँ।

४. यह स्थान और दैलफ़ीनियन् दोनों अक्रोपौलिस् के दक्षिण पूर्व में थे।

५. जो व्यक्ति अनजाने में बिना संकल्प के किसी की हत्या कर बैठता था वह मृत व्यक्ति के संबंधियो को धन देता था और उसको एक वर्ष के लिये निर्वासित किया जाता था। पर यदि मृत व्यक्ति के संबंधी उसको आज्ञा दे देते तो वह वर्ष की समाप्ति के पूर्व भी लौट सकता था।

६. इसके लिये "राजनीति" देखिये। स्थल पर आ जाने पर अपराधी पर प्रथम अपराध के लिये अभियोग चलाया जाता था।

७. एफेतायें बहुत पुरातन काल से चले आते थे। पर यहाँ पर प्रस्तुत पुस्तक खंडित है कहा नहीं जा सकता कि यहाँ यही पाठ था अथवा नही।

८. यह एक अत्यन्त पुरानी प्रथा है। इस प्रकार के अभियोग तथा ऐसे अभियोग जिनमें अपराधी अज्ञात होता था "प्रीतानियन्" न्यायालय में सुने जाते थे।

५८

१. ऐन्यालियस् देवता युद्ध के देवता आरेस् का ही एक रूप है। वह ज्युस और हेरा का पुत्र है।

२. देखिये खंड १८। यह दोनों मित्र स्वतंत्रता के उपासकों के रूप में पूजित होते थे और इनकी मूर्त्तियाँ बनाई गई थीं। जरक्सीस् (क्षैरक्षैस्) इन मूर्त्तियों को

फ़ारस ले गया था। अलैक्ज़ाण्डर ने इन मूर्तियो को सूसा नगरी में देखा और वहाँ से इनको पुनः अथेन्स ले आया।

२. अथेन्स में रहनेवाले प्रत्येक विदेशी को किसी अथेन्सवासी नागरिक को अपना संरक्षक बनाना पड़ता था।

५९

१. यह पूर्व परीक्षण जो पदग्रहण करने के पूर्व प्रत्येक पदाधिकारी के लिये आवश्यक था। जो लोग या अधिकारी वर्ग इस प्रकार का परीक्षण करते थे, ये लोग उनके समक्ष भावी पदाधिकारियों को प्रस्तुत कर देते थे। थैस्मौथीताए संख्या में ६ होते थे।

६०

१. देखिये खंड ४९।

२. मल्लक्रीडाओं इत्यादि में विशेषता प्रदर्शित करने पर एक तैलपूर्ण पात्र तथा जितून के पत्रों की माला उपहार में दी जाती थी।

३. इसका आशय यह है कि चाहे जितून के वृक्षों की दशा कुछ भी हो क्षेत्रस्वामी को इतनी तैल की मात्रा देना अनिवार्य था।

६१

१. युद्ध के व्यय का भार वहन करने के लिये असाधारण मात्रा में कर वसूल करने के लिये धनिक जनों के जो समूह बनाये जाते थे वे सिम्मौरी कहलाते थे। कुल समूहों की संख्या २० और इनमें १२०० धनिक व्यक्ति बटे हुए थे। सिम्मौरी का अर्थ है कर का भाग देने वाला समूह। प्रत्येक गण में २ सिम्मोरी थीं।

२. यह सम्पत्ति का अदल-बदल उसी प्रकार होता था जिस प्रकार का कौरेगौस के प्रसंग में वर्णन किया जा चुका है। त्रिएरार्क बहुत ही धनवान व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे। इनको एक त्रिरीमी नौका को पूर्णतया अपने व्यय से प्रस्तुत करना पड़ता था।

३. लैम्नस द्वीप हैलेस्पौण्ट के दक्षिण पश्चिम में है। यह अथेन्स के अधिकार में था।

४. पारालस् और सालामिनिया यह दो पवित्र राष्ट्रीय नौकाएँ थी। पर अलैक्ज़ाण्डर के समय में अम्मौनिया ने सालामिनिया का स्थान ले लिया था। यह दूसरी अम्मौनिया नामक नौका ज्यूस अम्मौन् की पूजा के लिये भेजी जाती थी।

६२

१. थीसियस् का मन्दिर अक्रौपौलिस् के उत्तर पश्चिम में था।

२. अथवा डॉकों के रक्षक (Guards of the dock yards)

३. ग्रीक मुद्रा का अनुपात इस प्रकार है (१) ६ ओबल = १ ड्राख्मा (२) १०० ड्राख्मा = १ मिना या म्ना (३) ६० मिना = तालैन्त = ५८ पौण्ड चाँदी।

४. सामौ , स्कीरौस्, लेम्नस और इम्ब्रौस् यह ए.गय सागर के पि हैं।

६३

१. काप्पा ग्रीक वर्णमाला का दसवाँ अक्षर है। समग्र वर्णमाला के २४ वर्णों के नाम इस प्रकार हैं :—(१) अल्फ़ा (२) बेटा (ता) (३) गाम्मा (४) डेल्टा (देल्ता) (५) ऐप्सिलॉन् (६) ज़ेटा (ता) (६) एटा (ता) (८) थेटा (ता) (९) इयोटा (ता) (१०) काप्पा (११) लम्ब्डा (१२) म्यू (१३) न्यू (१४) क्षी (१५) औमिक्रॉन् (१६) पी (१७) र्‌हो (१८) सीग्मा (१९) ताऑ (२०) अप्सिलॉन् (२१) फी (२२) खी (२३) प्सी (२४) ओमैगा। यूनानी लोग बहुत समय तक गिनने का काम इन वर्णों से ही लेते थे। पुस्तकों कें अध्यायों और पृष्ठों की गिनती वर्णों के द्वारा ही की जाती थी। प्रस्तुत प्रसंग में समग्र न्याय-कर्ताओं को दस भागों में बाँट दिया जाता था और यह भाग प्रथम वर्ण से लेकर दसवें वर्ण तक से सूचित किये जाते थे। जितने न्यायालयों के लिये न्यायकर्त्ताओं की आवश्यकता होती थी उनकी संख्या वर्णमाला के ११ वें अक्षर को १ मानकर अगले वर्णों से की जाती थी।

६४

१. न्यायकर्त्ताओं के लिये मल में दिकास्तेस्–(–तीस्) शब्द प्रयक्त आ है। प्राचीन अथेन्स में आज कल के समान न्याय और कानून के विषय में पारंगत न्यायाधीश नहीं होते थे। साधारण नागरिक ही न्यायकर्ता होते थे। दिकास्तेस् शब्द का अनुवाद अंग्रेजी में जूरर किया गया है। अथेन्स में जितने नागरिक नियमानुसार दिकास्तेस हो सकते थे वे दस भागों में विभक्त थे। एक गण में जितने न्यायकर्ता होते थे वे भी उप-र्युक्त दस भागो में विभक्त किये जाते थे। इससे यह परिणाम होता था किसी भी गण के सब अथवा अधिकांश न्यायकर्ता एक विभाग में ही नहीं हो सकते थे। प्रत्येक गण के एक विभाग के अन्तर्गत आनेवाले न्यायकर्ताओ के नामों के टिकट जो "पिनाकिया" कहलाते थे एक बक्स या पेटी में रखे जाते थे। इस कार की सौ पेटियाँ होती थी।

जिस समय जितने न्याय-कर्ताओं की आवश्यकता होती थी उसी के अनुपात से प्रत्येक पेटी से टिकटों की एक समान संख्या बारी-बारी से निकाल ली जाती थी। प्रत्येक टिकट पर जिस न्यायालय में उसको काम करना है उसको गुटिका द्वारा निर्धारित कर दिया जाता है। इसके पश्चात् यह सब टिकट दस ऐसी पेटियो में डाले जाते थे जिन पर न्यायालयो की संख्या सूचित करनेवाला अक्षर अंकित होता था। इस प्रकार सब न्याय कर्ता विभिन्न न्यायालयो मे काम करने के लिये चुन लिये जाते थे।

२. टिकट लटकानेवाला अपने अक्षरवाली पेटी में टिकट निकाल कर अपने अक्षर-वाली पटरी पर लकटाये इससे उनका क्रम निर्धारित हो जाता था। इसके उपरान्त आर्खन शलाका खीचता था। यदि यह श्वेतवर्ण की होती वह पटरी पर से पहले पाँच व्यक्तियो को ग्रहण कर लेता था और यदि काली होती तो पहले पाँच को त्याग देता था। इस प्रकार चुने हुए न्यायकर्ता पेटी से निकली पर्चियों के अनुसार न्यायालयों में बाँट दिये जाते थे। परिणाम यह होता था कि न तो इस बात की सभावना रहती थी कि एक ही गण के न्यायकर्त्ता एक न्यायालय में आ सकें और न पहले से किसी को यह पता चल सकता कि किस न्यायालय में कौन न्यायकर्ता नियुक्त है।

६६

१. घटिका से तात्पर्य "जलघड़ी" से है। यह "क्लेप्स्ह्य्ड्रो" कहलाती थीं। वादी एवं प्रतिवादी को अपना भाषण करने के लिये नियमित समय दिया जाता था अतएव घड़ियों की आवश्यकता होती थी। जब भाषण के मध्य में साक्ष्य देने के लिये भाषण रुक जाता या तो घड़ी के जल को भी रोक दिया जाता था। अगला खंड देखिये।

६७

१. १ खूस लगभग ३।४ गैलन के बराबर होता है।

२. पोसीदियोन् मास दिसम्बर और जनवरी में पड़ता है जब कि दिनमान सबसे कम होता है।

टि० ६६–६८ खंडो का पाठ बहुत खंडित है।

—:o:—

अरिस्तू और राजनीति संबंधी साहित्य

१ वर्त्तमान अनुवाद इत्यादि के लिये प्रयुक्त पुस्तके ।

क मूल पुस्तक

१ आइजक कसौबॉं अरिस्तू की समग्र रचनाएँ लैटिन अनुवाद सहित १६०५ई०
२ न्यूमैन अरिस्तू की राजनीति ४ जिल्द १८८७-१९०२
३ कैन्यॉन् अथेनइयोन् पौलितेइया १९३७
४ रैकहम " " " " १९५२

ख. अंग्रेजी अनुवाद

१. विलियम् एलिस्
२ वैल्डन्
३. जौवेट
४. बार्कर बडी पुस्तक
५. " छोटी पुस्तक
६ कैन्यॉन् अथेन्स के सविधान का अनुवाद
७ रैक्हम् " " " " "

ग. आलोचना इत्यादि

1 **A. E. Taylor** : Aristotle.
2. **W. D. Ross** : Aristotle.
3. **Mure** : Aristotle
4 **Jaeger** : Aristotle
5 **D. J. Allan** : The Philosophy of Aristotle
6. **Barker** : Political thought of Plato and Aristotle
7. **Thomson** : Plato and Aristotle
8. **Bhandari and Sethi** : Studies in Plato and Aristotle.
9. **Leon Robin** : Greek Thought

10. **Stace** : A Critical History of Greek Philosophy.
11. **Joad** : Guide to the Philosophy of Morals and Politics.
12. **Will Durant** : Story of Philosophy.
13 **Will Durant** : The Life of Greece.
14. **Livingstone (Ed.)** : The Legacy of Greece.
15. **Thilly** : History of Philosophy.
16. **Radhakrishnan (Ed.)** : History of Philosophy Eastern and Western.
17. **Bertrand Russel** : History of Philosophy.
18. **Ueberweg** : History of Philosophy.
19. **Windelband** : History of Philosophy.
20. **Lodge** : Great Thinkers.
21. **Thomases** : Living Biographies of Great Philosophers.
22. **Grote** : History of Greece.
23. **Muller and Donaldson** : Greek Literature.
24. **Gilbert Murray** : Ancient Greek Literature.
25. **Norwood** : Writers of Greece.
26. **Paul Harvey** : Oxford Companion to Classical Literature.
27. **Gow** : A companion to School Classics.
28. **Grant** : Aristotle.

अरिस्तू और राजनीति के सम्बन्ध में अन्य प्रसिद्ध पुस्तकें

1. **Grote** : Aristotle.
2. **Gercke** : Aristotle in Pauly's Real-Encyclopedie.
3. **Gomperz** : Greek Thinkers Vol. IV.
4. **Brentano** : Aristotles und seine Weltanschauung.
5. **O. Hamelin** : Le Systeme d'Aristote.
6. **Zeller** : Aristotle and the Earlier Perpatetics.
7. **Rolfes** : Die Philosophie des Aristoteles.
8. **Stocks** : Aristotelianism.
9. **Robin** : Aristote.
10. **Mansion** : Le Jugement d'Chez Aristote.
11, **Cherniss** : Aristotle's Criticism of Presocratic Philosophy.

12. **Cherniss** : Aristotle's Criticism of Plato and the Academy.
13 **Rose** : De Aristotelio Librorum Ordine et Auctoritate.
14. **Rose** : Aristoteles Pseudepigraphies.
15. **Eucken** : Die Methode der Aristotelischeu Forschung.
16 **Von Arnim** : Zur Entstehungsgeschichte der aristotelischeu Politik
17. **Plat** : Aristote.
18. **Werner** : Aristote et l'idealisme platonicien
19. **E. Bignore** : L' Aristotele perduto e la formazione filosofia di Epicuro.
20. **Gilson** : La Philosophie au moyeu âge
21. **Siebeck** : Aristoteles.
22. **Susemihl** : Politics.
23. **Shute** : On the History of . the Aristotelian Writings.
24. **Schwab** : Bibliographie d' Aristote.